संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास

डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी

राधावल्लभ त्रिपाठी का संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास सचमुच में एक अभिनव इतिहास है। यह संस्कृत साहित्य की पाँच सहस्र से अधिक वर्षों की परम्परा का विशद परिचय तो देता ही है, इस साहित्य की सुदीर्घ विकास यात्रा का उद्भवकाल, स्थापना काल, समृद्धिकाल तथा विस्तार काल इन चार कालों के क्रमिक सोपानों में विभाजन के द्वारा विद्वान् लेखक ने हमारी साहित्यिक धरोहर का पुनर्व्यवस्थापन और पुनर्मूल्यांकन भी नये आलोक में यहाँ किया है। संस्कृत के अनेक अज्ञात किन्तु महत्त्वपूर्ण रचनाकारों का परिचय पहली बार इस कृति में समाविष्ट हुआ है, तथा प्रसिद्ध महाकवियों की जो समीक्षा की गई है, वह छात्रों तथा साहित्य के जिज्ञासु पाठकों के लिये तो उपादेय है ही, विद्वज्जनों के लिये भी ग्राह्य है।

पुस्तक के द्वितीय संस्करण में संस्कृत साहित्य से सम्बन्धित अनेक नवीन प्रकरण जोड़े गये हैं, जिससे यह और भी संग्रहणीय बन गया है।
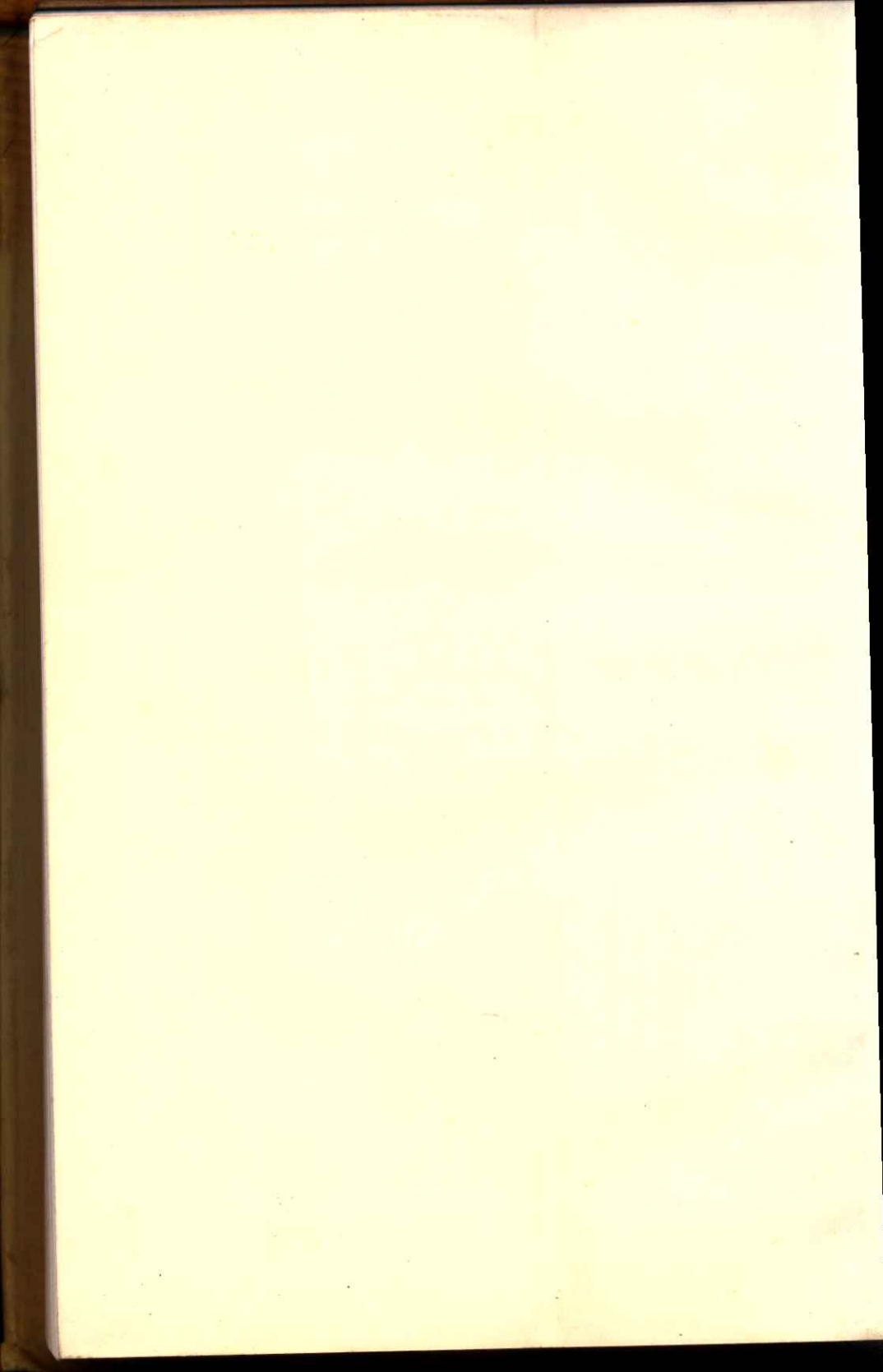
संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास

लेखक
डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रकाशकीय

संस्कृत साहित्य के इतिहास को विषय बनाकर अनेक ग्रन्थ भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में पिछले दो सौ वर्षों में लिखे गये हैं। संस्कृत साहित्य के बहुश्रुत अध्येता प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी का यह ग्रन्थ इस विषय में कतिपय नयी कड़ियाँ जोड़ता है और नये वातायन खोलता है। इसकी एक विशेषता संस्कृत साहित्य की विकास-यात्रा का उद्भवकाल, स्थापनाकाल, समृद्धिकाल और विस्तारकाल—इन चार क्रमिक सोपानों में विभाजन है। इस विभाजन के द्वारा इसमें वास्तव में एक 'अभिनव' इतिहास-दृष्टि उन्मीलित हुई है। यहाँ अनेक ऐसे श्रेष्ठ काव्यों का परिचय जोड़ा गया है, जो अब तक उपेक्षित या अल्पचर्चित रहे हैं। पद्यचूडामणि (बुद्धघोष) चक्रपाणिविजय (भट्ट लक्ष्मीधर, १०वीं शताब्दी) आदि महाकाव्यों की चर्चा संस्कृत साहित्य के इतिहासों में प्राय: नहीं की जाती है। इसी प्रकार संस्कृत में लोकजीवन पर काव्य रचने वाले कवियों में योगेश्वर, अभिनंद, केशट जैसे कवियों की रचनाओं में प्रकट भारतीय जनजीवन की छवि को भी इस पुस्तक में विषय बनाया गया है। नाटकों में कुन्दमाला, प्रबुद्धरौहिणेय आदि की भी पुष्कल चर्चा पहली बार इस पुस्तक के द्वारा सामने आ सकी है। भीमट और अनंगहर्ष जैसे श्रेष्ठ नाटककारों का कृतित्व अभी तक अनदेखा रहा है, उस पर यहाँ दृष्टिपात किया गया है। मुद्राराक्षसकार विशाखदत्त की अल्पज्ञात और विलुप्त कृतियों के परिचय के द्वारा उनके कृतित्व के अछूते पक्ष यहाँ उन्मीलित हुए हैं। वीणावासवदत्तम् जैसी अज्ञात और अज्ञातकर्तृक कृति के विवेचन के द्वारा भारतीय नाट्यपरम्परा की टूटी कड़ियों को यहाँ जोड़ने का प्रयास किया गया है। क्षेमीश्वर के चंडकौशिक की चर्चा ही अब तक होती आयी है, उनके दूसरे नाटक नैषधानंद पर नहीं। इन अज्ञात या उपेक्षित कृतियों व कृती कृतिकारों के साथ अनेक अल्पपरिचित या अज्ञातप्राय कवियों का भी परिचय यहाँ दिया गया है, जो महत्त्वपूर्ण हैं। संस्कृत साहित्य की परम्परा निरन्तर विकसित होती हुई परम्परा है। १०वीं शती के पश्चात् संस्कृत काव्य के इतिहास को पश्चिमी विद्वानों ने ह्रास का युग मान कर उस पर मौन रखा। यह परम्परा भारतीय संस्कृत विद्वानों के रचे गये संस्कृत साहित्य के इतिहासों में भी प्रचलित रही है। इसी प्रकार मध्यकालीन गद्य को अनदेखा किया जाता रहा है। कथा साहित्य की सम्पन्न परम्परा परवर्ती शताब्दियों में विकसित होती रही है। यह पुस्तक संस्कृत साहित्य की अनेक

उपेक्षित परम्पराओं का भी आकलन प्रस्तुत करती है। इस इतिहास के लेखक ने सप्रमाण यह प्रदर्शित किया है कि संस्कृत कवियों ने अपने समय को अपनी रचनाओं में अनेक छवियों में व्यंजित किया है। संस्कृत कवियों के समकालिक बोध पर पहली बार इस कृति में ध्यान आकृष्ट कराया गया है।

संस्कृत कवियों के जनजीवन से सम्पर्क तथा लोकभाषाओं या बोलचाल की प्रचलित रीतियों व मुहावरों आदि की उनकी रचना में अन्तः-संक्रान्ति पर भी इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है।

संस्कृत साहित्य की परम्परा के विषय में बनी हुई अनेक भ्रांतियों को भी यह पुस्तक तोड़ती है, तथा इस साहित्य में प्रतिबिंबित उदात्त जीवन मूल्यों तथा चिंतन परम्पराओं के संदर्भ में भी संस्कृत कवियों के अवदान, उपलब्धि तथा सीमाओं पर तेजस्वी विमर्श प्रस्तुत करती है। संस्कृत काव्यों से सुन्दर उद्धरण यहाँ सरल-सुबोध अनुवाद के साथ प्रस्तुत किये गये हैं, जिससे संस्कृत न जानने वाले पाठक भी मूल के सौन्दर्य का आनन्द ले सकते हैं। वैदिक साहित्य से बीसवीं शताब्दी तक विकसित संस्कृत साहित्य की परम्परा का यह आकलन छात्रों, सामान्य पाठकों तथा अनुसंधाताओं के लिये समान रूप से उपयोगी है।

—प्रकाशक

द्वितीय संस्करण की भूमिका

संस्कृत साहित्य के अभिनव इतिहास का प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया, यह मेरे लिये हर्ष का विषय है। छात्रों और साहित्य के जिज्ञासु पाठकों के लिये यह पुस्तक और भी उपादेय हो सके इस दृष्टि से प्रस्तुत द्वितीय संस्करण में कुछ अभिनव सामग्री जोड़ी गई है। इस पुस्तक की प्रथम संस्करण की भूमिका में संस्कृत साहित्य की पीठिका प्रस्तुत करते हुए उसके समग्र अवबोध के लिये कतिपय मूलाधारों पर चर्चा की गई थी। द्वितीय संस्करण में इस भूमिका में संस्कृत साहित्य के अन्य भाषाओं में रचे गये साहित्य से संवाद पर कुछ तथ्यात्मक सामग्री जोड़ी गई है, इसके साथ ही तीन नवीन प्रकरण भी संक्षेप में संयोजित कर दिये गये हैं—संस्कृत साहित्य में इतिहास की अवधारणा, संस्कृत और वर्तमान विश्व तथा संस्कृत साहित्य : राज्याश्रय और राज्यनिरपेक्षता। यद्यपि इन तीनों विषयों का सम्यक् विवेचन विशाल शोधग्रन्थों में ही हो सकता है, पर सूत्ररूप में इन पर जो संकेत किया गया है, उससे छात्रों को आगे के अध्ययन के लिये आधार प्राप्त होगा। पूरी पुस्तक में यत्र तत्र विषय की स्पष्टता की दृष्टि से परिवर्धन किया गया है। पहले संस्करण में कतिपय अल्पज्ञात किन्तु महत्त्वपूर्ण कृतियों पर जानकारी छूट गई थी, उन्हें इस संस्करण में जोड़ा गया है। इनमें उल्लेख्य हैं—रत्नाकर की वक्रोक्तिपञ्चाशिका, मयूर तथा बाण के स्तोत्र, मानांक कवि का वृन्दावनकाव्य, चन्द्रगोमिन् का लोकानन्द नाटक, त्रैविक्रमम् पटनाट्य, कौमुदीमहोत्सव नाटक तथा राजशेखर का हरविलास महाकाव्य। प्रथम अध्याय में वेद के रचनाकाल के विषय में तिलक आदि के मतों पर अपेक्षित जानकारी बढ़ाई गई है। इसी अध्याय में उपनिषद् दर्शन और ग्रीक दर्शन, वेदों में कला विषयक चिन्तन, वेदों में विज्ञान—ये तीन नवीन प्रकरण जोड़े गये हैं। द्वितीय अध्याय में भी महाभारत—भारतीय काव्यचिन्तन का मूल तथा महाभारत और भारतीय कलापरम्परा ये दो अतिरिक्त विषय इस संस्करण में रखे गये हैं।

इस पुस्तक में ऐसे कतिपय बिन्दु विवेचित किये गये हैं, जो प्राय: पूर्व प्रकाशित संस्कृत साहित्य के इतिहास की पुस्तकों में नहीं मिलते। इनमें से एक है कवियों की पारम्परिक समीक्षा। प्रस्तुत नवीन संस्करण में पारम्परिक समीक्षा की दृष्टि से भी अनेकत्र परिवर्धन किया गया है।

यह संस्करण पहले की अपेक्षा संस्कृत साहित्य के छात्रों और अध्यापकों के लिये अधिक उपकारक होगा, तथा सभी जिज्ञासु साहित्यप्रेमी इसे अपनायेगें ऐसा विश्वास है।

राधावल्लभ त्रिपाठी

विषय-सूची

पृष्ठ

✤

भूमिका

संस्कृत साहित्य इस महादेश की आत्मा का प्रतीक है। पाँच सहस्र वर्षों से अधिक प्राचीन इस साहित्य में इस देश के मनीषियों और रचनाकारों की भावनाओं, कल्पनाओं, संकल्पों और आकांक्षाओं की प्रतिच्छवि हम सजीव रूप में अंकित देखते हैं।

संस्कृत साहित्य की परम्परा वैदिक काल से लगा कर बींसवीं शती तक निरन्तर विकसित होती रही है। अपनी सम्पन्नता तथा विविधता में यह साहित्य विश्ववाङ्मय में अद्वितीय है। सुदीर्घ कालावधि में अनेकानेक विधाओं में अब तक हुए संस्कृत के रचनाविश्व का यथोचित आकलन एक कठिन और महनीय कार्य है।

संस्कृत-साहित्येतिहास—लेखन की समस्याएँ

संस्कृत साहित्य के विषय में एक सुपरिभाषित इतिहास-दृष्टि की स्थापना और ऐतिहासिक कालक्रम में इस विपुल साहित्य-परम्परा का प्रस्तुतीकरण एक दुष्कर कार्य है। संस्कृत साहित्य की प्राचीनता, समृद्धि और विविधता भी इसका एक कारण है। दूसरी कठिनाइयाँ उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी इतिहासकारों व प्राच्यविद्याविदों के द्वारा किये गये कार्य से उत्पन्न हुई हैं। इन इतिहासकारों या विद्वानों के विवेचन से संस्कृत साहित्य के विषय में अनेक भ्रांतियाँ और विसंगतियाँ भी निर्मित हुई हैं। प्रख्यात अमरीकी संस्कृतपंडित इंगाल्स ने उन्नीसवीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य के पश्चिमी इतिहासकारों या प्राच्यविद्या के विद्वानों के द्वारा किये गये कार्य के विषय में कहा है—''यदि ये लोग लैटिन या ग्रीक मानदंडों को चुन कर उनके आधार पर संस्कृत साहित्य की समीक्षा करते, तो भी उनके निष्कर्ष अनुचित ही होते, उन्होंने विक्टोरियन इंग्लैण्ड या उन्नीसवीं शताब्दी के अमेरिका से समीक्षा के मानदंड लिये, उनसे तो उनके निर्णय कई बार अन्यायपूर्ण ही लगते हैं।'' इन पश्चिमी विद्वानों ने संस्कृत को एक कृत्रिम भाषा माना, तथा यह मत प्रतिपादित किया कि संस्कृत काव्य की शैली कालिदासोत्तर काल में अधिकाधिक कृत्रिम और दुरूह होती गयी है। किन्तु माघ और भारवि के पश्चात् रचे गये महाकाव्यों, लघुकाव्यों और रूपकों के अनुशीलन से यह मत ग्राह्य प्रतीत नहीं होता।

प्रचलित इतिहास-दृष्टि में वैदिक साहित्य को संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—इन चार वर्गों में बाँट कर उनमें ऐतिहासिक दृष्टि से क्रमश: कालक्रम बताया गया है। यह प्रतिपादन भी पुनर्विचारणीय है। इसी प्रकार वैदिक और लौकिक साहित्य के विभाजन की रेखा इस प्रकार खींची गयी, जैसे वे दो सर्वथा अलग-अलग भाषाओं और परम्पराओं के साहित्य हों। आगम और निगम, वेद तथा पुराण का भी इसी प्रकार पृथक्करण किया गया। संस्कृत में लोकजीवन या सामान्य जनता के संघर्ष और यथार्थ को लेकर रचा गया प्रचुर साहित्य है। पर पूर्वाग्रहों के कारण इस साहित्य की उपेक्षा की गयी।

हमारी परम्परा अपने इतिहास को ह्रास की दृष्टि से नहीं देखती। वाल्मीकि और कालिदास के पश्चात् संस्कृत का ह्रास हुआ, ऐसा परम्परा में कहीं नहीं माना गया। कवियों का उत्तरोत्तर प्रकर्ष भी यह परम्परा देखती आयी है। इसीलिए 'कवयः कालिदासाद्याः भवभूतिर्महाकविः' तथा

तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।

इस प्रकार की उक्तियाँ प्रचलित हुईं।

संस्कृत-साहित्य की विकास-यात्रा

मेरी दृष्टि से संस्कृत साहित्य की समग्र विकास-यात्रा के निम्नलिखित चार चरण माने जा सकते हैं—

(१) उद्भवकाल—यह प्रागैतिहासिक काल से लगा कर पहली सहस्राब्दी विक्रमपूर्व या ईसापूर्व के आरम्भ होने तक प्रसृत है। कई सहस्राब्दियों में विस्तीर्ण यह काल संस्कृत साहित्य के कल्पवृक्ष के बीजन्यास और अंकुरण का काल है। इसी काल में मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने मंत्रों का साक्षात्कार किया, वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणग्रंथों की रचना हुई, और उपनिषदों की चिंतन की परम्पराएँ विकसित हुईं। गाथाओं और आख्यानों के रूप में लोकसाहित्य की समृद्ध विरासत भी इस काल में संचित होती रही।

(२) स्थापना-काल—यह काल पहली सहस्राब्दी विक्रमपूर्व के एक सहस्र वर्षों का है। इस पूरी एक सहस्राब्दी में संस्कृत भाषा का साहित्य विश्व के महान् साहित्य के रूप में स्थापित हुआ। वाल्मीकि की रामायण, व्यास का महाभारत—ये दो महान् काव्य इस काल में अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हुए, यद्यपि इनकी रचना का उपक्रम इसके पहले हो चुका था। इसी प्रकार उपनिषदों की रचना का उपक्रम भी इस सहस्राब्दी के पहले हो चुका था, पर इस सहस्राब्दी में मुख्य उपनिषद् अपने वर्तमान रूप में अस्तित्व में आये। षड्दर्शनों तथा उनके समानांतर जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शनों का चिंतन भी इसी सहस्राब्दी में परिपक्वता को प्राप्त हुआ, यद्यपि इन सारे दर्शनों की परम्पराएँ और भी प्राचीन हैं। यह सहस्राब्दी भास और कालिदास जैसे उन कालजयी विश्वसाहित्यकारों के उदय की सहस्राब्दी है, जिनसे संस्कृत का ललित वाङ्मय प्रतिष्ठित है।

(३) समृद्धिकाल—यह काल पहली सहस्राब्दी ई० (विक्रम या ईसा के काल से १२०० ई० तक) का है। इस काल में चिंतन परम्पराओं का विस्तार हुआ, विज्ञान की विशेष उन्नति हुई। भारतीय कला और शिल्प ने इस काल में ऊँचाइयों के शिखरों का स्पर्श किया। ज्योतिष, गणित, खगोलविद्या, रसायन, आयुर्वेद तथा दर्शन प्रस्थानों में नये चिंतन और प्रयोग हुए। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, वसुबंधु, जयंत भट्ट, मंडन मिश्र, वाचस्पति मिश्र, शंकराचार्य, उदयनाचार्य जैसे महान् दार्शनिक कवियों पर ज्ञान-विज्ञान की इस उन्नति का प्रभाव पड़ा। संस्कृत महाकाव्यों की बृहत्-त्रयी (किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम् तथा नैषधीयचरितम्) इसी काल में लिखी गयी। कल्हण की राजतरंगिणी जैसा विपुलकाय और वाल्मीकि तथा व्यास की काव्य-शैली का प्रांजल रूप प्रस्तुत करने वाला काव्य इसी काल में सामने आया। ऐतिहासिक महाकाव्य, रागकाव्य, शास्त्रकाव्य आदि नवीन काव्यविधाओं

का सूत्रपात इस काल में हुआ। कल्हण तथा गीतगोविंदकार जयदेव ने साहित्य में नये युग का प्रवर्तन किया। स्तोत्रकाव्य ने भक्ति, दर्शन और कविता की त्रिवेणी का जो अद्भुत समागम प्रस्तुत किया वह विश्व-साहित्य में अभी तक अद्वितीय है।

(४) विस्तारकाल—यह काल १२०० ई० से लगा कर आजतक का है। इस काल में नव्य भारतीय भाषाओं का उदय हुआ। संस्कृत साहित्य लोक साहित्य के सम्पर्क में आया। व्याख्याओं और टीका पद्धतियों में नयी प्रविधियों का विकास हुआ। व्याकरण और न्याय के क्षेत्र में नव्य व्याकरण तथा नव्यन्याय के उदय से नये वातायन खुले। काव्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में मम्मट, रुय्यक, मंख, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ, पर्वतीय विश्वेश्वर पांडेय, रेवाप्रसाद द्विवेदी, गोविंदचंद्र पाण्डेय आदि दिग्गज आचार्य और विचारक इस काल में हुए। बिल्हण, मूक कवि, नीलकंठ दीक्षित, रामपाणिवाद, आदि कवियों ने अछूते भावबोध, नये बिंबविधान और प्रयोगों के द्वारा संस्कृत साहित्य की धरती को पुन: उर्वर बनाया।

उन्नीसवीं और बींसवीं शताब्दियों में पुनर्जागरण, राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन, योरोपीय संस्कृति के सम्पर्क आदि से संस्कृत साहित्य में रचना के नये क्षितिज सामने आये।

संस्कृत देश की सम्पर्क भाषा

संस्कृत के दो रूप हैं—वैदिक तथा लौकिक। प्राचीन काल में इन्हीं को छांदस तथा भाषा कहा जाता था। इस भाषा के लिए 'संस्कृत' इस संज्ञा का प्रयोग व प्रचलन परवर्ती काल में हुआ। पाणिनि ने इसके लौकिक रूप को 'भाषा' ही कहा है। भाषा से पाणिनि का आशय इसके लोक में प्रचलित रूप से था। संस्कृत के लिए यास्क (७०० ई० पू०), पाणिनि (५०० ई० पू०) तथा पतंजलि (दूसरी शती ई० पू०) आदि के द्वारा प्रयुक्त प्राचीन नाम भाषा है। भाषा का अर्थ है जो समाज में बोली जाय। ईसा के पूर्व की तीसरी और दूसरी सहस्राब्दी तक छांदस (वैदिक संस्कृत) का लोक-व्यवहार में प्रचलन रहा होगा। वैदिक संस्कृत के साथ-साथ इसका सुगम और सामान्य जनों के द्वारा व्यवहृत रूप (भाषा) भी प्रचलित था। रामायण में हनुमान् सीता को राम का संदेश देने के पहले विचार करते हैं कि मैं द्विजातियों के द्वारा बोली जाने वाली संस्कृत भाषा में सीता देवी को संदेश सुनाऊँ या सामान्य जनों के द्वारा बोली जाने वाली संस्कृत में? यदि द्विजातियों के द्वारा बोली जाने वाली संस्कृत में इनसे बातचीत करूँगा, तो कहीं ये मुझे छद्मवेषधारी रावण समझ कर डर न जायँ, अत: मैं सामान्य जनों के द्वारा बोली जाने वाली संस्कृत में ही इनसे बातचीत करूँगा—

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥
अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषत:।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्॥

हनुमान् दोनों प्रकार की संस्कृत सहज रूप में बोल सकते थे, क्योंकि उन्होंने व्याकरण का अच्छा अध्ययन किया था। राम के साथ पहली भेंट में उन्होंने जिस परिष्कृत भाषा में राम से बात की, उससे प्रभावित होकर राम ने उनके व्याकरण के

अध्ययन की प्रशंसा करते हुए कहा कि इनका व्याकरण पर अच्छा अधिकार है और इतनी देर तक बोलते रहने पर भी इन्होंने एक भी असाधु शब्द का प्रयोग नहीं किया।

असुर, राक्षस, वानर आदि जनजातियों के लोग अपने देश की भाषा बोलते होंगे, पर आवश्यकता पड़ने पर वे भी संस्कृत भाषा में बात करते थे। रामायण में ही इल्वल नामक दैत्य ब्राह्मणों को धोखा देने के लिए उनसे संस्कृत में बात करता है—

धारयन् ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्।
आमन्त्रयति विप्रान् स श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः॥

ईसा के लगभग एक हजार साल पहले से वेदों में प्रयुक्त भाषा लोकव्यवहार में प्रचलित नहीं रह गयी थी। उसका स्थान उस भाषा ने ले लिया था, जिसे आज हम लौकिक संस्कृत कहते हैं। वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत का विवेक करने के लिए तथा इसका लोकव्यवहार में प्रचलन बताने के लिए ही लौकिक संस्कृत को यास्क आदि ने भाषा कहा। यास्क ने इस भाषा के देश के विभिन्न अंचलों में बोले गये रूपों में कृदंत आदि की दृष्टि से विभिन्नता की चर्चा भी की है। पाणिनि ने भी प्राच्य और उदीच्य लोगों की भाषा में उच्चारण आदि की दृष्टि से अंतर की चर्चा सूत्रों में की है। पतंजलि ने तो देश के विभिन्न प्रांतों में धातुओं और संज्ञाओं की विभिन्नता को रोचक उदाहरणों के द्वारा समझाया है। उन्होंने एक उदाहरण में सूत या सारथि और वैयाकरण के बीच होने वाले विवाद का भी दृष्टांत दिया है, जिसमें सारथि या सूत वैयाकरण को लोकव्यवहार से प्राप्त अपने भाषाज्ञान के आधार पर निरुत्तर कर देता है। ईसापूर्व के काल में ही वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना हुई। कामसूत्र के नागरकवृत्त प्रकरण में काव्यगोष्ठियाँ आयोजित करने का निर्देश दिया गया है। इन गोष्ठियों में संस्कृत तथा देशभाषा दोनों में बातचीत होती थी। वात्स्यायन ने कहा है कि लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए न तो बहुत अधिक संस्कृत का प्रयोग किया जाय, न बहुत अधिक देशभाषा का—

नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं लोकभाषया।
कथां गोष्ठीषु कथयंल्लोके बहुमतो भवेत्॥

(कामसूत्र १/४/३७)

शास्त्रकारों और कवियों ने अपनी रचनाओं में पदे-पदे ऐसे मुहावरों या वाक्यावलियों का समावेश किया है, जो बोलचाल में ही प्रचलित हो सकती हैं। पाणिनि ने ही अपने उदाहरणों में अनेक शब्दों को बोलचाल में प्रचलन से निष्पन्न बताया है; जैसे—दंडादंडि, केशाकेशि, भोजम्भोजं व्रजति, कन्यादर्शं वरयति, मूलकोपदंशं भुङ्क्ते आदि।

वैदिक काल से ही संस्कृत भाषा आसेतु हिमाचल सारे देश में एक सम्पर्क भाषा का कार्य निरन्तर करती रही है। उसकी यह भूमिका आज भी न्यूनाधिक रूप में जारी है। संस्कृत के साथ अनेक क्षेत्रीय भाषाएँ भी देश में प्रचलित रही हैं। कभी किसी क्षेत्र में संस्कृत के स्थान पर उस क्षेत्र की भाषा को अधिक महत्त्व देते हुए राजकार्य की भाषा भी बना दिया गया—ऐसा होता रहा है। पर संस्कृत का स्थान अक्षुण्ण बना रहा। बौद्धों और जैनों का वाङ्मय आरम्भ में पालि तथा मागधी और अर्धमागधी में लिखा गया, जो उन

क्षेत्रों की बोलियाँ रही होगीं, जिनमें ये धर्म उदित हुए। पर सारे देश में संस्कृत के व्यापक प्रचार को देखते हुए बौद्धों और जैनों ने भी शास्त्रार्थ करने तथा साहित्य-रचना के लिए संस्कृत भाषा को ही माध्यम बनाया।

पहली शताब्दी ई० पू० में रची गयी चरककृत चरकसंहिता में बताया गया है कि आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन तथा तत्संबंधी शास्त्रार्थों में संस्कृत भाषा का प्रयोग होता था। वात्स्यायन ने कामसूत्र में रसिक नागरकों को सभ्य समाज में दो भाषाओं में संवाद करने का परामर्श दिया है—संस्कृत तथा देशभाषा। ह्वेनसांग ने अपनी भारत-यात्रा के संस्मरणों में बताया है कि उसने संस्कृत के माध्यम से शास्त्रार्थ होते देखे-सुने थे। जैन आचार्य सिद्धर्षि ने अपनी उपमितिभवप्रपंचकथा में संस्कृत भाषा के प्रयोग का कारण बताते हुए कहा है कि समाज में शिष्टजन इसी भाषा में रचा साहित्य पढ़ना पसंद करते हैं, यद्यपि इस भाषा को केवल ज्ञानी जन समझ पाते हैं—

संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः।
तत्रापि संस्कृता तावद् दुर्विदग्धहृदि स्थिता।
बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला।
तथापि प्राकृता भाषा न तेषामपि भासते॥

अन्य प्रमाणों से सिद्धर्षि का यह कथन सत्य प्रतीत नहीं होता कि संस्कृत भाषा को अशिक्षित या निम्नवर्ग के लोग नहीं समझ पाते थे। जिस प्राकृत का प्रयोग सिद्धर्षि के काल में साहित्य में किया जा रहा है, वह तो संस्कृत की छाया-मात्र है। जिस प्रकार भोजपुरी, अवधी, बुंदेली आदि लोकभाषाओं को बोलने वाले अशिक्षित लोग भी केवल सुन-सुन कर खड़ी बोली या हिन्दी को समझने की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार ईसा के समय से लगा कर अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी तक लोकभाषाओं को बोलने वाले अशिक्षित जन संस्कृत भाषा के सुगम रूप को समझ सकते थे। बिल्हण ने अपने विक्रमांकदेवचरित में बताया है कि उनके प्रदेश कश्मीर में स्त्रियाँ संस्कृत, प्राकृत तथा देशज भाषा को अच्छी तरह समझ सकती थीं। विभिन्न प्रांतों में लोकभाषाएँ बोली जाती थीं, पर विभिन्न प्रांतों के लोग जब किसी एक स्थान पर मिलते थे, तो उनमें संवाद का माध्यम संस्कृत भाषा ही होती थी। शंकराचार्य केरल में उत्पन्न हुए, उन्होंने सारे देश में संस्कृत के माध्यम से अपने संदेश का प्रसार किया तथा शास्त्रार्थों में संस्कृत भाषा के द्वारा ही दिग्विजय की पताका फहरायी। श्रीहर्ष ने अपने नैषधीयचरित में कहा है—दमयंती के स्वयंवर में विभिन्न प्रदेशों से आये हुए राजाओं ने सोचा कि यदि अपने-अपने प्रदेश की भाषा में बोलेंगे तो दूसरे लोग नहीं समझ पायेंगे, इसलिए वे आपस में संस्कृत भाषा में ही परस्पर बातचीत कर रहे थे, इस कारण राजाओं के बीच वेष बदल कर आ मिले देवगण पहचाने न जा सके—

अन्योन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु।
दिग्भ्यः समेतेषु नरेषु वाग्भिः सौवर्गवर्गो न जनैरचिह्नि॥

(नैषधीयचरित, १०/३४)

तेरहवीं शताब्दी में जयल्लभ के द्वारा तैयार किये गये प्राकृत गाथाओं वज्जालग्ग की एक गाथा से भी स्पष्ट संकेत मिलता है कि जब ये गाथाएँ लिखी जा रही थीं, उस समय भी संस्कृत में बातचीत हुआ करती थी। एक गाथा में यहाँ कहा गया है—

छंदेण विना कव्वं लक्खणरहियम्मि सक्कयालावं।
रूवं विणा मरट्टो तिण्मि वि सोहं न पावंति॥

छन्द के बिना काव्य, व्याकरण के बिना संस्कृत भाषण और रूप के बिना गर्व—ये तीनों ही शोक्षित नहीं होते।

विभिन्न प्रान्तों के शिक्षितजन अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी तक परस्पर संस्कृत में बातचीत करके ही संवाद कर सकते थे, शिक्षा का माध्यम भी उन्नीसवीं शताब्दी तक प्रायः संस्कृत भाषा बनी रही। बालकों के सुखबोध के लिए पंचतंत्र, हितोपदेश जैसे ग्रंथ इसमें रचे गए।

किसी भी प्रान्त में प्रचलित क्षेत्रीय बोली को राजभाषा बनाया जाय या संस्कृत को—इस सम्बन्ध में प्रायः राजाओं की रुचि से निर्णय लिया जाता था। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में बताया है कि कुंतल देश के सातवाहन राजा ने अपने रनिवास में प्राकृत भाषा में ही बातचीत करने की पद्धति चलायी थी। जबकि उज्जयिनी में साहसांक ने अपने रनिवास में संस्कृत में ही बातचीत करने का नियम जारी किया था (काव्यमीमांसा, दशम अध्याय)।

इस सम्बन्ध में डॉ० रामविलास शर्मा ने बारहवीं शताब्दी में दामोदर पंडित द्वारा रचित उक्तिव्यक्तिप्रकरण नामक भाषाज्ञान की पुस्तक का रोचक उदाहरण दिया है। इसे जिनविजय मुनि ने १९५३ ई० में प्रकाशित किया। इस पुस्तक में अवधी के शब्दों और रूपों का सम्बन्ध संस्कृत शब्दों और रूपों में दिखाया गया है। इसका मूल उद्देश्य अवधी सिखाना नहीं है, अवधी जानने वालों को संस्कृत सिखाना है। पुस्तक के आरम्भ में ही दूसरी कारिका में कहा गया है—

स्यादि-त्यादि वृत्वा श्रुत्वा लिङ्गानुशासनं किञ्चित्।
उक्तिव्यक्तिं बुद्ध्वा बालैरपि संस्कृतं क्रियते॥

अर्थात् थोड़ा सा व्याकरण-ज्ञान हो जाने पर, उक्तिव्यक्ति को जान लेने पर बालक भी अपनी बोली को संस्कृत कर सकते हैं।

उक्ति का अर्थ है बोली। दामोदर पंडित को मालूम है कि विभिन्न प्रदेशों में लोग अलग-अलग बोलियाँ बोलते हैं और आपस में सम्पर्क के लिए संस्कृत का सहारा लेते हैं। पर अपनी पुस्तक में उन्होंने इन सभी बोलियाँ बोलने वालों को संस्कृत रूपान्तरण कौशल सिखाने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने यह प्रयत्न केवल अवधी बोलने वाले के लिए किया है (भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ, पृ० ११७)।

संस्कृत-कवियों ने अपने समय में बोली जाने वाली भाषा का सुस्पष्ट साक्ष्य दिया है। कालिदास, बाण, भवभूति जैसे कवियों में ऐसे वाक्य पग-पग पर मिलते हैं, जो बोलचाल की संस्कृत का स्वरूप सामने रखते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन कवियों पर विचार करते समय ऐसे स्थलों का निर्देश यथावसर किया गया है। लोक-प्रचलित कथनों

या लोकोक्तियों को प्राचीन कवियों ने लौकिकी श्रुति कहा है। वाल्मीकि रामायण में कौशल्या राम से कहती है—

श्रुतिस्तु खल्वियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मे।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः॥

(वा०रा० २.१०४.१५)

(यह लोकप्रचलित उक्ति मुझे सच्ची प्रतीत होती है कि मनुष्य जैसा अन्न खाता है वैसे ही उसके देवता होते हैं।)

इसी प्रकार सुन्दरकाण्ड में हनुमान् कहते हैं—

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति माम्।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतैरपि॥

यहाँ भी लौकिक गाथा या लोगों के द्वारा कही जाने वाली उक्ति को हनुमान् उद्धृत कर रहे हैं।

संस्कृत कवियों ने ऐसे अनेक आभाणकों, लोकोक्तियों या मुहावरों का भी प्रयोग किया है, जो सामान्यजनों की भाषा में ही संभव थे। उदाहरण के लिए हिन्दी में एक मुहावरा है—ठेंगा दिखाना। वाल्मीकि ने इसी के समतुल्य एक मुहावरा संस्कृत में प्रयुक्त किया है—'देवमार्गं दर्शितः।' सुन्दरकाण्ड के ६२वें तथा ६३वें सर्गों में तीन बार इस मुहावरे का प्रयोग है। यह प्रयोग अशोकवाटिका में सीता के दर्शन पा चुके हनुमान् के साथ लौटे वानरों के द्वारा किष्किंधा के मधुवन में मधु पी-पी कर वनरक्षकों को ठेंगा दिखाने के प्रसंग में है। वानरों की आदत होती है कि वे किसी को चिढ़ाने के लिए अपने नितंब दिखाते हैं। उसी से यहाँ आशय है। गीताप्रेस, गोरखपुर के संस्करण में इसका अनुवाद 'पीठ के बल पटक कर आसमान दिखा देना' किया है। शत्रु के माथे पर बाँयाँ पाँव रख देना—'चक्रे पादं सव्यं हि शत्रूणां स तु मूर्धनि' भी इसी प्रकार का मुहावरा है, जो बोलचाल की भाषा से वाल्मीकि आदि ने लिया है। इसी प्रकार महाभारत (१.६४. ३२) में नलोपाख्यान में 'तां वेद यदि मन्यसे' (यदि आप पसंद करें) इस प्रकार के अनेक कथन हैं, जो लोकभाषा या बोली से संस्कृत के सहज सम्पर्क को व्यक्त करते हैं।

अन्य भाषाओं में विरचित काव्य से संवाद

कई सहस्राब्दियों से इस देश में संस्कृत भाषा के साथ-साथ पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि विभिन्न भाषाएँ प्रचलित रही हैं, तथा इन भाषाओं में काव्यरचना भी होती आयी है। संस्कृत साहित्य की परम्परा में इतर भाषाओं के साहित्य के साथ सम्पर्क और संवाद बराबर बना रहा। इस संवाद के द्वारा संस्कृत साहित्य में नयी चेतना और लोकजीवन की झाँकियाँ संक्रांत होती रहीं। वाल्मीकि और व्यास के पश्चात् जिस रचनाकार ने पूरी संस्कृत साहित्य की परम्परा को सर्वाधिक प्रभावित किया वह पैशाची प्राकृत में बड्ढकहा (बृहत्कथा) की रचना करने वाले गुणाढ्य हैं। इसी प्रकार मुक्तककाव्य की परम्परा पर प्राकृत मुक्तकों की परम्परा ने गहरा प्रभाव डाला। इन प्राकृत मुक्तकों की प्रथम संकलित रचना हाल की गाहासतसई है।

ईसा पूर्व की शताब्दियों में विरचित नाट्यशास्त्र में संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत भाषाओं का भी परिचय दिया गया है। संस्कृत नाटक में उत्तम कोटि के पात्र संस्कृत में संवाद बोलते हैं, निम्न श्रेणी के पात्र, स्त्रियाँ प्राकृत भाषा में संवाद बोलते हैं। प्राकृत की गाथाओं का भी प्रयोग इन संवादों में नाटककारों ने किया है। इस दृष्टि से संस्कृत भाषा में नाटक का प्रणयन करने वाला कवि प्राकृत का भी रचनाकार है, वह प्राकृत में काव्य-रचना करता है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही संस्कृत कविता तथा प्राकृत कविता का अंत:संवाद आरम्भ हो जाता है।

कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीयम् में अपभ्रंश में दोहे और चौपाई छंदों में भी गाथाएँ जोड़ीं। यह संस्कृत की एक महान् रचना में लोकभाषा का अवतरण था। इसके पहले संस्कृत नाटकों में कुछ पात्रों के मुँह से प्राकृत भाषा में संवाद बोलवाये जाते थे, पर कालिदास ने जिस छंद और लय को लेकर विक्रमोर्वशीयम् के चौथे अंक में गाथाओं या ध्रुवाओं का गायन कराया, वह हिन्दी की पदावली और जातीय प्रकृति के बहुत निकट है। उदाहरण के लिए—

चिंतादुम्मिअ माणसिआ।
सहअरि दंसणलालसिआ।
विकसिं कमल मणोहरए।
विहरइ हंसिणि सरवरए।
मइ जाणिअ मिअलोअणि निसिअरु कोइ हरेइ।
जाव णु घनतडिसामलु धाराधरु बरसेइ॥

इस तरह की कुल ३३ गाथाएँ विक्रमोर्वशीयम् नाटक में हैं, जिन्हें हम लोकभाषा और संस्कृत की पारस्परिकता के पहले उत्कृष्ट नमूने कह सकते हैं।

दंडी के समय संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र इन भाषाओं में साहित्य की रचना होती आ रही थी। अपने काव्यादर्श में वे वाड्मय का विभाजन बताते हुए कहते हैं—

तदेतत् वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥

(काव्यादर्श, १/३२)

संस्कृत काव्य-परम्परा का पालि, प्राकृत व अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य से गहरा अंत:सम्बन्ध रहा है। जहाँ संस्कृत कविता की सुदीर्घ परम्परा ने अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को प्रभावित किया, वहीं संस्कृत कवियों ने भी पालि, प्राकृत या अपभ्रंश की कविता से रचना के नये आयाम विकसित किये। हाल की गाहासतसई ने संस्कृत मुक्तक की परम्परा पर अपनी अमिट छाप अंकित की।

संस्कृत के अनेक कवि तथा आचार्य ईसा की पहली तथा दूसरी सहस्राब्दी में संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत भाषा में भी रचनाएँ करते आ रहे थे। काव्यशास्त्र के महान् आचार्य आनंदवर्धन ने तो संस्कृत में देवीशतकस्तोत्र तथा अर्जुनचरित महाकाव्य के साथ प्राकृत में स्वतंत्र रूप से खंडकाव्य या बड़ी रचना भी प्रस्तुत की। प्राकृत में रचनाएँ उनके कम से कम एक हजार साल पहले से होती आ रही थीं। पर ये गाथाएँ या मुक्तक

की रचनाएँ थीं। आनंदवर्धन ने 'विषमबाणलीला' नाम से एक स्वतंत्र प्राकृत काव्य लिखा था, जो लुप्त हो गया। आनंदवर्धन ने इसकी एक गाथा अर्थांतरसंक्रमितवाच्यध्वनि के उदाहरणस्वरूप अपने ग्रंथ में उद्धृत की है। इसी प्रकार राजशेखर ने संस्कृत में अनेक नाट्यरचनाएँ कीं, तो प्राकृत में उन्होंने कर्पूरमंजरी सट्टक का प्रणयन भी किया। इस महादेश की बहुभाषिकता को ध्यान में रखते हुए राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में अनेक भाषाओं में लिखने वाले कविको 'कविराज' की संज्ञा दी है। यह परम्परा परवर्ती काल में बराबर बनी रही। रामपाणिवाद अठारहवीं शताब्दी के श्रेष्ठ साहित्यकार हैं। उन्होंने संस्कृत में अनेक महाकाव्यों, नाटकों आदि के साथ प्राकृत में उषानिरुद्ध तथा रावण वहो नाटक लिखे। इसी प्रकार पर्वतीय विश्वेश्वर पाण्डेय ने भी संस्कृत में अनेक रचनाएँ प्रस्तुत करते हुए प्राकृत में शृंगारमंजरी सट्टक लिखा। इसके साथ ही आनंदवर्धन, मम्मट, राजशेखर, विश्वनाथ आदि अलंकारशास्त्रियों ने अपने काव्यसिद्धान्तों या लक्षणों के उदाहरण प्रचुर मात्रा में प्राकृत कविता से दिये। आनंदवर्धन के ग्रंथ में आद्यंत प्राकृत गाथाओं के उदाहरणों की भरमार है। ध्वन्यालोक में पाँचवीं कारिका में प्रतीयमान या ध्वनित अर्थ के अनोखेपन की चर्चा की गयी है। इस अनोखेपन को साबित करने के लिए आनंदवर्धन ने पाँच पद्य उद्धृत किए हैं। ये पाँचों उदाहरण वाल्मीकि या कालिदास जैसे उनके प्रिय कवियों से न होकर प्राकृत की उन गाथाओं के हैं, जो उस समय लोकप्रिय रही होगीं, जिन्हें आम लोग भी गाते रहे होंगे।

प्रवरसेन तथा वाक्पतिराज प्राकृत कवि के रूप में प्रख्यात हैं, इनका संस्कृत काव्य से अत्यन्त अनिवार्य सम्बन्ध है। यह परम्परा परवर्ती काल में बनी रही। विद्यापति संस्कृत में पुरुषपरीक्षा जैसा कथाओं का श्रेष्ठ ग्रंथ लिखते हैं, तो वे मैथिली और अवहट्ट भाषाओं के भी सरस रचनाकार हैं। आधुनिक संस्कृत साहित्य ने तो समकालीन भारतीय भाषाओं से बहुत प्रभाव ग्रहण किया है।

तेरहवीं शताब्दी में जयल्लभ ने गाहासतसइ के समान ही प्राकृत गाथाओं का संकलन वज्जालग्ग तैयार किया। यह संकलन जब बनाया गया, तब संस्कृत कविता अपने प्रकर्ष पर थी। संस्कृत काव्य ने इन गाथाओं को प्रभावित भी किया है। जयवल्लभ के द्वारा संकलित अनेक गाथाओं पर प्राचीन संस्कृत महाकवियों का असर देखा जा सकता है। गाहासतसई की गाथाओं ने संस्कृत कविता को बहुत प्रभावित किया है, तो परवर्ती प्राकृत और अपभ्रंश की कविता संस्कृत काव्यधारा से किस प्रकार अनुप्रेरित व अनुप्राणित हुई है, इसका साक्ष्य वज्जालग्ग देता है।

प्राकृत साहित्य से इस प्रकार का संवाद परवर्ती काल में भी बना रहा। सत्रहवीं शती में मेघविजय ने प्राकृत भविस्सदत्तकहा का संक्षिप्त रूपान्तर किया।

संस्कृत-साहित्य में भारतीयता की प्रतिच्छवि

राष्ट्र की आत्मा को संस्कृत साहित्य ने अभिव्यक्त किया है। पुराणों ने तो देश के जन-जन में मन में देशप्रेम को जाग्रत करने और सामान्यजनों को राष्ट्र के भूगोल,

इतिहास और सांस्कृतिक वैभव से परिचित कराने के दायित्व का शताब्दियों तक निर्वाह किया। पुराणों ने इस देश की एकता को बनाये रखने में अमूल्य योगदान दिया। कालिदास ने हिमालय के पूर्व से पश्चिम तक विस्तृत विशाल रूप का वर्णन कुमारसंभव महाकाव्य में किया, तो रघुवंश में रघु की दिग्विजय के चित्रण में उन्होंने सारे भारत के विभिन्न अंचलों की नैसर्गिक सुषमा का अभिराम चित्र खींचा। मेघदूत में उन्होंने इस देश के पावन तीर्थों, पर्वतों, नदियों और नगरों को साकार कर दिया है। कालिदास का समग्र साहित्य इस देश की धरती के प्रति अनुराग जाग्रत करता है। अभिज्ञानशाकुंतल में अन्तिम अंक में स्वर्ग से उतरता हुआ दुष्यंत मातलि के साथ रथ पर बैठा नीचे धरती को देखता हुआ कहता है—'अहो, उदाररमणीया पृथिवी!'

संस्कृत साहित्य समग्र भारतीयता का व्यापक और सजीव स्वरूप प्रस्तुत करता है। यह स्वरूप तीन दृष्टियों और त्रिविध स्तर पर हमारे महाकवियों ने उजागर किया है—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। जीवन के इन तीन स्तरों का परिचय इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में वैदिक साहित्य के परिचय के प्रसंग में दिया गया है। आधिभौतिक स्तर पर संस्कृत इस देश के भूगोल, इतिहास तथा भौतिक पर्यावरण की झाँकी देता है। आधिदैविक स्तर पर इस देश में मनीषियों और विचारकों ने जो चिंतन किया, उसकी अभिव्यक्ति हमारे कवियों ने की। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक में प्रथम अध्याय में देवतत्त्व का विवेचन द्रष्टव्य है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—जीवन के ये चार पुरुषार्थ या लक्ष्य हमारी परम्परा में स्वीकार किये गये हैं। साहित्य या काव्य भी इन चारों पुरुषार्थों की प्रतिपूर्ति के लिए हैं। आचार्य भामह कहते हैं—

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥
धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिषेवणम्॥

जीवन का आध्यात्मिक स्तर समग्र ब्रह्माण्ड के स्वरूप का साक्षात्कार तथा आत्मबोध के लिए है। संस्कृत कवियों ने स्वयं आध्यत्मिक अनुभूति को प्रत्यक्षानुभव के द्वारा अपनी रचनाओं में प्रकट किया है।

संस्कृत साहित्य काल की एकरेखीय सीमित अवधारणा के स्थान पर उसकी चक्राकार और पुनरावर्ती गति को चित्रित करता है। अथर्ववेद में काल को सबका मूल और अनादि प्रवाह बताते हुए कालचक्र की कल्पना की गयी है। 'काल इन सारे भुवनों का आधार है और वह इनमें पिरोया हुआ भी है। वह इनका पिता भी है और वह इनका पुत्र भी है। उसके भीतर अतीत, वर्तमान और भविष्यत् समाया हुआ है। वह सबका ईश्वर है और ब्रह्म उसी में समाहित है' (अथर्ववेद, १९/५३)। वैदिक परम्परा काल के दो रूप स्वीकार करती आयी है—अखंड काल और सखंड काल। भारतीय मानस जिस दिक्काल में रहता है, वह इकहरा नहीं है। भारतीय दृष्टि सृष्टि या जीवन की चरितार्थता तीन स्तरों

पर देखती आयी है—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। काल के भी ये तीन स्तर हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के भी आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ये तीनों रूप अपनी-अपनी जगह पर स्वीकार किये गये। श्रीमद्‌भागवत कहता है कि अनंत ब्रह्माण्ड हैं, और हर ब्रह्माण्ड पर सात-सात आवरण चढ़े हुए हैं। विस्तार में उत्तरोत्तर आवरण पूर्व की अपेक्षा दस गुना है। पृथ्वी इनमें से एक ब्रह्माण्ड का स्थूलरूप है, उसके ऊपर पार्थिव कणों या पार्थिव तन्मात्राओं का दस गुना बड़ा आवरण है। इसके ऊपर जलीय तन्मात्राओं का दस गुना बड़ा आवरण है, उसके ऊपर तैजस कणों का, उसके ऊपर आकाशीय कणों का, उसके ऊपर अहंकार के कणों के महत्तत्त्व या बुद्धि के कणों के उत्तरोत्तर दस-दस गुने बड़े आवरण हैं। और इनके ऊपर अव्याकृत प्रकृति का अनंत आवरण है। इन आवरणों के भीतर यह ब्रह्माण्ड अनंत के भीतर मौजूद एक परमाणु की तरह है, और इस तरह के करोड़ों ब्रह्माण्ड और भी हैं (भागवत, ३/११.१०)।

काल एक संकल्प और प्रत्यय भी है, और लोक में व्यवहार में ज्ञेय उसने समय के खण्ड-खण्ड विभाजन को जितनी सूक्ष्मता से परखा, उतना कदाचित् ही अन्य संस्कृतियों में परखा गया हो। हमारे विचारकों और तत्त्वदर्शियों के इस दिक्कालबोध का प्रभाव सारे संस्कृत साहित्य में परिव्याप्त है। इसीलिए संस्कृत के महाकवि काल की बहुआयामी अवधारणा को अपनी कविता में चरितार्थ करते हैं।

देश के प्रति सहज अनुराग के साथ इस राष्ट्र के सांस्कृतिक वैभव और जीवन-मूल्यों को संस्कृतकवियों ने अपनी रचनाओं में सँजोया है। प्रस्तुत पुस्तक में महान् कवियों के जीवनादर्शों का यथावसर परिचय दिया गया है, वे आदर्श परम्पराओं के बोध के द्वारा ही उन्होंने व्यक्त किये हैं।

संस्कृतकवियों ने अपने समय को भी अपने काव्यों में प्रस्तुत किया है। अपने देश-काल की कथा को उन्होंने कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं परोक्ष रूप से प्रस्तुत किया है, तो कहीं आख्यानों, उपाख्यानों के माध्यम से निरूपित किया है। कालिदास में—''सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते'' या—''यस्मिन् महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्''—इत्यादि कथनों में अपने समय के परिचयदृश्य या संदर्भ महाकवि ने उन्मीलित किये हैं।

संस्कृत साहित्य में इतिहास की अवधारणा

पश्चिमी विद्वानों की यह एक मिथ्याधारणा है कि संस्कृत साहित्य में इतिहास से सम्बन्धित सामग्री की कमी है। वास्तव में तो इतिहास की भारतीय परम्परा में एक अलग अवधारणा है, जो आधुनिक हिस्ट्री की अवधारणा से भिन्न है। इसमें स्थूल राजनैतिक स्तर पर घटी हुई घटनाओं का लेखाजोखा ही इतिहास नहीं माना जाता, वरन् जो घटनाएँ, प्रसंग और तत्त्व राष्ट्र के भूत, भविष्य और वर्तमान का निर्धारण करते हैं, उनका निरूपण इतिहास है। इस दृष्टि से इतिहास की प्राचीनतम परम्परा वैदिक वाङ्मय में उल्लिखित आख्यान, गाथा और नाराशंसी इन साहित्यविधाओं में पनपी। पहले गाथाकार भृग्वंगिरस हुए, जिन्हें हम भारत के सर्वप्राचीन इतिहासकार के रूप में भी परिगणित कर सकते हैं।

उपनिषदों में आख्यान और इतिहास के अध्ययन व अध्यापन के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। रामायण और महाभारत इन दो काव्यों को परम्परा ने इतिहास ही माना है। इतिहास-पुराण को पंचम वेद भी कहा गया। पुराणों में राजाओं की वंशावली के साथ भारत के सांस्कृतिक उपक्रमों और प्रगमनों का विवेचन भी होता है। आगे चल कर संस्कृत में ऐतिहासिक महाकाव्यों, चरितकाव्यों तथा गद्य में आख्यायिकाओं की परम्परा कई शताब्दियों तक संवर्धित होती रही, जिसका परिचय इस पुस्तक के विभिन्न अध्यायों में दिया गया है। संस्कृत में अभिलेख या शिलालेखों के साहित्य का भी प्रचुर भण्डार है, जिसका उपयोग आधुनिक दृष्टि से भारतीय इतिहासलेखन में आधारभूत सामग्री के रूप में किया जाता रहा है।

संस्कृत और वर्तमान विश्व

संस्कृत भारत की ही भाषा नहीं, यह एक विश्वभाषा भी है। प्राचीन काल से ही संस्कृत का प्रचार प्रसार भारत के बाहर के अनेक देशों में होता आया है। यही नहीं, अनेक देशों में संस्कृत राजकार्य की भाषा रही, और राजाओं के द्वारा इस भाषा में राजादेश और शिलालेख लिखवाये गये। विशेष रूप से जावा, सुमात्रा, बाली, कम्बोडिया, सियाम तथा ब्रह्मदेश (बर्मा) में संस्कृत का व्यापक प्रचारप्रसार ईसा की शताब्दयों में लगभग सहस्र वर्षों तक रहा। संस्कृत साहित्य का अनुशीलन और साहित्य रचना भी इन देशों में हुई। संस्कृत साहित्य के अनुवाद तो विश्व की प्राचीन भाषाओं में पिछले दो हजार वर्षों में होते ही रहे हैं। पंचतन्त्र का सीरियाई भाषा में पाँचवीं शताब्दी में अनुवाद हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता और उपनिषदों के भी अनुवाद विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित हुए। सत्रहवीं शताब्दी से आधुनिक विश्व ने संस्कृत से विशेष रूप से परिचित होने लगा। मुगल सम्राट् शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह ने उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता के फारसी में अनुवाद कर के विश्व में इन महान् ग्रन्थों के प्रचार में चिरस्मरणीय योगदान दिया। इससे विश्व का बौद्धिक जगत् भारतीय चिन्तनपरम्परा से प्रेरित और प्रभावित हुए। दार्शनिकों में शापेहार, इमर्सन आदि ने उपनिषदों के दर्शन की अर्थवत्ता को पहचाना। धर्म प्रचार के लिये आने वाले ईसाई मिशनरियों ने संस्कृत भाषा और उसके साहित्य का अध्ययन किया। १६५१ ई० में अब्राहम रोजर ने भर्तृहरि के सुभाषितों का पुर्तगाली भाषा में अनुवाद किया। ब्रिटिश शासन ने संस्कृत के पंडितों का सहयोग धर्मशास्त्र के ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद करवाने तथा उनके आधार पर एक प्रामाणिक संहिता तैयार करवाने में किया। इस दृष्टि से वारेन हास्टिंग्स के प्रयास विशेष उल्लेखनीय है। १७८५ ई० में उसने पण्डितों से धर्मशास्त्र का एक संकलन तैयार करवा कर उसका स्वयं अंग्रेजी में अनुवाद किया। इसी वर्ष चार्ल्स विल्किंस का श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद इंग्लैण्ड से छपा। योरोप भारतीय चिन्तन से चमत्कृत हुआ।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संस्कृत के वर्तमान विश्व को आन्दोलित करने वाली एक विशेष घटना हुई। सर विलियम जोंस, जो ग्रीक, लैटिन आदि भाषा के अच्छे जानकार थे, वे कोलकाता में आये और उन्होंने वहाँ एक पण्डित से संस्कृत का अध्ययन

किया। १७८४ ई० में उन्होंने कोलकाता में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना की। इस संस्था का संस्कृत साहित्य पर शोध और संस्कृत की प्राचीन पांडुलिपियों के संरक्षण में अविस्मरणीय योगदान रहा है तथा आज भी यह सक्रिय है। १७८५ ई० में सर विलियम जोंस ने कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक का अंग्रेजी अनुवाद किया। सर विलियम जोंस के इसी अनुवाद का जर्मन भाषा में अनुवाद जार्ज फोस्टर ने १७९१ ई० में किया था, जिसे पढ़ कर महाकवि गोइथे मुग्ध हो उठे थे। मनुस्मृति और ऋतुसंहार का भी अंग्रेजी अनुवाद विलियम जोंस ने किया।

लॉर्ड कार्नवालिस के शासनकाल में १७२१ ई० में वाराणसी में संस्कृत अध्ययन के लिये संस्कृत पाठशाला की स्थापना की गई। उस समय वाराणसी के रेजिडेंट डंकन थे, जिन्होंने इस पाठशाला का प्रस्ताव तैयार किया था। यह पाठशाला बनारस पाठशाला, हिन्दू कॉलेज, बनारस कॉलेज तथा संस्कृत कॉलेज के नाम से भी प्रसिद्ध रही। १८५३ ई० में इसका नाम क्वींस कॉलेज कर दिया गया। क्वींस कॉलेज देश के महान् शास्त्रमर्मज्ञों, आधुनिक विद्वानों और विद्वानों का बड़ा केन्द्र रहा। १९५८ में यह संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में मान्य हुआ। आज यह सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के नाम से जाना जाता है। १८२४ ई० में कोलकाता में स्थापित संस्कृत कॉलेज भी प्राचीन पद्धति से संस्कृत शास्त्रों के अध्ययन का एक प्रशंसनीय केन्द्र बना, तथा आज भी इसमें संस्कृत का अध्ययन अध्यापन और अनुसंधान जारी है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लाहौर भी संस्कृत विद्या का अग्रणी केन्द्र था। १८६९ ई० में यहाँ स्थापित ओरिएण्टल कॉलेज देश में संस्कृत अध्ययन और परीक्षाओं के संचालन के लिये जाना जाता था।

स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड तथा राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान जैसी संस्थाओं की स्थापना के द्वारा संस्कृत के अध्ययन को बढ़ावा देने का प्रयास किया है। राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान एक मानित विश्वविद्यालय है, जिसके द्वारा जम्मू, जयपुर, गरली (हिमाचल प्रदेश), श्रृंगेरी, गुरुवायूर, लखनऊ, भोपाल आदि नगरों में विद्यापीठ संचालित किये जाते हैं। तिरुपति तथा दिल्ली के संस्कृत विद्यापीठ मानित विश्वविद्यालय के रूप में मान्य हैं।

आजादी की लड़ाई में संस्कृत भाषा तथा उसके साहित्यकारों का योगदान अविस्मरणीय है। अनेक संस्कृत पत्रिकाओं को ब्रिटिश सरकार ने जप्त किया। अप्पा शास्त्री राशिवडेकर द्वारा सम्पादित संस्कृतचन्द्रिका तथा सूनृवादिनी इन दो पत्रिकाओं ने विशेष रूप से संस्कृतज्ञ समाज में क्रान्ति का शंखनाद किया। पिछली तीन शताब्दियों में संस्कृत में हर विद्या में विपुल साहित्य की सर्जना हुई है। संस्कृत में लगभग सौ से अधिक पत्रिकाएँ निकल रही हैं।

संस्कृत साहित्य : राज्याश्रय तथा राज्याश्रयनिरपेक्षता

निस्सन्देह संस्कृत साहित्य के संवर्धन और समुन्नय में प्राचीन काल से राजवशों की महती भूमिका रही है। सुबन्धु की वासवदत्ता नाट्यपारा या नाट्यधारा राजा बिम्बिसार की राजभाषा में प्रस्तुत हुई। कालिदास का तीनों नाट्यकृतियाँ महाराज विक्रमादित्य की

राजसभा से सम्बद्ध रंगशाला में खेली गईं। भर्तृमेण्ठ, कुमारदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष— ये संस्कृत महाकाव्यों के शीर्षस्थ रचनाकार हैं। इन्होंने राज्याश्रय में रह कर ही काव्यरचनाएँ की। नन्दवंश, मौर्यवंश, सातवाहनवंश, गुप्त साम्राज्य, कान्यकुब्ज के राजवंश, प्रतीहारवंश, परमारवंश, चालुक्यवंश, पल्लववंश, चोलवंश, विजयनगर साम्राज्य आदि बड़े-बड़े राजवंशों या साम्राज्यों की छत्रछाया में संस्कृत साहित्य फला फूला फला। यह परम्परा पण्डितराज जगन्नाथ तक चली आई है। विक्रमादित्य, हर्षवर्धन, भोज आदि स्वयं श्रेष्ठ साहित्यकार थे, तथा कवियों और आचार्यों का समादर करना जाते थे। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि संस्कृत के कवि केवल राज्याश्रय पर ही निर्भर रह कर रचनाएँ कर सके। अनेक महाकवि ऐसे भी हुए जिन्होंने राज्यसभा से विमुख रह कर ही साहित्यसाधना की। बाणभट्ट राजा हर्ष के निमन्त्रण पर उनकी राजसभा में गये थे, पर राजा हर्ष के द्वारा अपनी अकारण निन्दा किये जाने पर उन्होंने तमक कर राजा को उसके मुँह पर ही करारा उत्तर दिया। यद्यपि हर्ष को बाद में अपनी भूल का बोध हुआ, और उन्होंने बाण को सम्मानित भी किया, तथापि बाण अपने गाँव लौट आये और वहाँ रह कर उन्होंने कादम्बरी और हर्षचरित का प्रणयन किया। चक्रपाणिविजय महाकाव्य के प्रणेता तथा लोकजीवन पर अनेक अत्यन्त मार्मिक पद्यों के रचनाकार भट्ट लक्ष्मीधर तो भोज की राजसभा को आत्मसम्मान के अनुरूप न पा कर उसे छोड़ कर चले गये थे। अठारहवीं शताब्दी में महाकवि वांछानाथ तंजौर की राजसभा में मिले व्यवहार से क्षुब्ध हो कर अपने गाँव में जा कर रहते रहे, और वहाँ उन्होंने महिषशतकम् नामक अत्यन्त मार्मिक खण्डकाव्य का प्रणयन किया। भवभूति, राजशेखर, मुरारि आदि नाटककारों ने अपने नाटक राजसभा के रंगमंच के लिये नहीं, मन्दिर की रंगशाला के लिये लिखे और इनकी नाट्यकृतियाँ मन्दिरों के यत्रामहोत्सवों में बड़े जनसमुदाय के समक्ष खेली गई। जो श्रेष्ठ कवि राजा के आग्रह पर राजसभा में सम्मानपूर्वक रहे भी, उन्होंने राजा की चाटुकारिता नहीं की, न ही वे राजमुखापेक्षी बन कर रहे। बिल्हण एक राजसभा से अन्य राजसभा में जाते रहे और उन्होंने राजाओं को कवियों का अनादर न करने की सलाह देते हुए अत्यन्त ओजस्वी और कठोर चेतावनी से भरे पद्य लिखे हैं। भर्तृहरि ने भी राजाओं को तेजस्वी स्वर में चुनौती दी है।

प्रस्तुत पुस्तक की विशेषताएँ

संस्कृत साहित्य पर वर्तमान में उपलब्ध इतिहास-ग्रंथों में पंडित-प्ररम्परा, आचार्य-परम्परा या सहृदय-परम्परा में की गयी तत्-तत्-कवि की समीक्षा या चर्चा को यथोचित स्थान नहीं दिया गया है। प्रस्तुत पुस्तक में कवियों की पारम्परिक समीक्षा पर भी विचार किया गया है, जिससे उस कवि के विषय में परम्पराप्राप्त दृष्टि का परिचय छात्रों व अध्येताओं को मिल सके।

प्रस्तुत पुस्तक में अनेक ऐसे श्रेष्ठ काव्यों का परिचय भी जोड़ा गया है, जो अब तक उपेक्षित या अल्पचर्चित रहे हैं। बुद्धघोष का पद्यचूडामणि महाकाव्य कालिदास और परवर्ती महाकाव्यों के बीच की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है, जिस पर अपेक्षित विवेचन

यहाँ किया गया है। चक्रपाणिविजय महाकाव्य भोज के समय में लिखा गया एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। इसके रचयिता भट्ट लक्ष्मीधर साहित्यिक प्रकर्ष में माघ, भारवि जैसे श्रेष्ठ महाकवियों से अन्यून हैं। पर इस महाकाव्य की चर्चा संस्कृत साहित्य के इतिहासों में प्रायः नहीं की जाती है। इसी प्रकार संस्कृत में लोकजीवन पर काव्य रचने वाले कवियों में योगेश्वर एक प्रतिभाशाली कवि हैं। नाटकों में कुन्दमाला, प्रबुद्धरौहिणेय आदि की भी पुष्कल चर्चा पहली बार इस पुस्तक के द्वारा सामने आ सकी है। अनेक अल्पपरिचित या अज्ञातप्राय कवियों का भी परिचय यहाँ दिया गया है, जो महत्त्वपूर्ण हैं।

भीमट और अनंगहर्ष जैसे श्रेष्ठ नाटककारों का कृतित्त्व अभी तक अनदेखा रहा है, उस पर यहाँ दृष्टिपात किया गया है। वीणावासवदत्तम् जैसी अज्ञात और अज्ञातकर्तृक कृति के विवेचन के द्वारा भारतीय नाट्यपरम्परा की टूटी कड़ियों को यहाँ जोड़ने का प्रयास किया गया है। मुद्राराक्षसकार विशाखदत्त ने तीन और रूपक लिखे थे, जिन पर चर्चा के बिना विशाखदत्त के कृतित्त्व के अनेक पक्ष अचर्चित रह जाते हैं। इसी प्रकार क्षेमीश्वर के चंडकौशिक की चर्चा ही अब तक होती आयी है, उनके दूसरे नाटक नैषधानंद पर नहीं।

संस्कृत साहित्य पर अब तक हुए अध्ययनों में प्रायः संस्कृत नाटककारों का विवेचन साहित्यिक दृष्टि से किया जाता है। भास, कालिदास, भवभूति आदि सभी श्रेष्ठ नाटककारों ने अपने रूपक वस्तुतः रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिए लिखे थे। और इनके रूपक रंगमंच की विकासयात्रा के महत्त्वपूर्ण पड़ाव हैं। इन रूपकों को रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में भी समझा और परखा जाना चाहिये, तभी उनकी वास्तविक उपलब्धि को जाना जा सकेगा। इस पुस्तक में प्रयास किया गया है कि संस्कृत के महान् नाटककारों की रंगदृष्टि और रंगसृष्टि को भी अध्येताओं और विद्यार्थियों के लिए बोधगम्य बनाया जाये, जिससे उनका अध्ययन समग्रतर हो सके।

संस्कृत साहित्य की परम्परा निरन्तर विकसित होती हुई परम्परा है। १०वीं शती के पश्चात् संस्कृत काव्य के इतिहास को पश्चिमी विद्वानों ने ह्रास का युग मान कर उस पर मौन रखा। यह परम्परा संस्कृत विद्वानों के द्वारा रचे गये संस्कृत साहित्य के इतिहासों में भी प्रचलित रही है। इसी प्रकार मध्यकालीन गद्य को अनदेखा किया जाता रहा है। कथासाहित्य की सम्पन्न परम्परा परवर्ती शताब्दियों में विकसित होती रही है। यह पुस्तक संस्कृत साहित्य की अनेक उपेक्षित परम्पराओं का भी आकलन प्रस्तुत करती है।

संस्कृत साहित्य उदात्त जीवन मूल्यों या महनीय आदर्शों को प्रतिबिम्बित करता है। उपनिषदों के चिंतन का ढाई हजार वर्षों की संस्कृत काव्य परम्परा पर प्रभाव निरन्तर बना रहा। इस चिंतन परम्परा और मूल्यबोध के सन्दर्भ में भी संस्कृतकवियों के अवदान, उपलब्धि, सीमा, और संस्खलन को यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

संस्कृत कवियों के विषय में यह भी भ्रम प्रचलित है कि वे अपने समकालीन संसार या ऐहलौकिक स्थितियों के प्रति उदासीन हैं। प्रत्येक संस्कृत-कवि ने अपने समय को अपनी रचना में अनेक छवियों में व्यंजित किया है। संस्कृत-कवियों के समकालित

बोध पर पहली बार इस कृति में ध्यान आकृष्ट कराया गया है। एक अन्य भ्रम संस्कृत-काव्यों की परम्परा के विषय में यह भी है कि ये काव्य जिस भाषा में लिखे गये हैं, वह जन सामान्य की भाषा से दूर है। संस्कृत-कवियों की भाषा का गहरा अध्ययन इस धारणा को तोड़ता है। भवभूति, माघ, बाण जैसे महाकवियों की भाषा में आम जनता की भाषा और बोलियों से उठाये गये जीवंत मुहावरों का प्रचुर प्रयोग है। ये कवि बोलचाल की अपने समय की संस्कृत का सजीव रूप भी प्रस्तुत करते हैं। इस पुस्तक में इस तथ्य को भी रेखांकित किया गया है कि संस्कृत साहित्य की वैदिक काल से बींसवीं शताब्दी तक की अविच्छिन्न विकास-यात्रा में प्रत्येक शताब्दी और प्रत्येक सहस्राब्दी में नये प्रयोग तथा नयी विधाएँ प्रस्तुत होती रही हैं। विशेषरूप से जिसे पश्चिमी विद्वानों या संस्कृत साहित्य के आधुनिक इतिहासकारों ने संस्कृत कविता के ह्रास की सहस्राब्दी कहा है, वह सहस्राब्दी तो नयी विधाओं के आविष्कार, नवोन्मेष या नये प्रयोगों की दृष्टि से संस्कृत साहित्य की निश्चित रूप से सबसे उर्वर और समृद्ध सहस्राब्दी है।

आभार

प्रस्तुत इतिहास के प्रणयन में संस्कृत साहित्य के मूल ग्रंथों का परिशीलन मुख्य आधार रहा है, साथ ही अनेक शोधग्रंथों, संस्कृतसाहित्य विषयक अध्ययनों या इतिहासों से भी सहायता ली गयी है। इन सब ग्रंथकारों के प्रति नामनिर्देशपूर्वक कृतज्ञता ज्ञापन कथमपि संभव नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दों में उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करता हूँ—

ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती।
फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम्॥

(मनुष्य की बुद्धि बिना थके ऊपर आरोहण करती हुई जिन तत्त्वों को देखती है, वह पहले के लोगों के द्वारा रची गयी विवेक की सीढ़ियों का फल हुआ करता है।)

विश्वविद्यालय प्रकाशन तथा उसके व्यवस्थापक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी साधुवाद के पात्र हैं, जो उन्होंने छात्रों के उपकार के लिए इस ग्रंथ का तत्परता के साथ प्रकाशन किया।

मुझे विश्वास है कि संस्कृत के स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर के छात्रों के लिए यह इतिहासग्रंथ समान रूप से उपादेय होगा।

राधावल्लभ त्रिपाठी

अध्याय १

वैदिक साहित्य

वेद विश्वसाहित्य के सबसे प्राचीन ग्रंथ हैं। प्राचीन काल में ऋषियों ने अपनी प्रातिभ दृष्टि से जिस ज्ञानराशि का साक्षात्कार किया, उसे वेद कहा जाता है। वेद के विषय में मान्यता है कि जिन तत्त्वों का ज्ञान अन्य सांसारिक साधनों से संभव नहीं है, उनका ज्ञान वेद से हो सकता है।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

इसमें कोई संदेह नहीं कि वेद भारत की संस्कृति के प्राचीनतम निदर्शन हैं। वेद को आधार बना कर ही धर्म, दर्शन, अध्यात्म, विज्ञान, कला और साहित्य के क्षेत्र में भारत ने असाधारण उपलब्धि की है।

वेद का अर्थ—व्याकरण की दृष्टि से वेद शब्द चार धातुओं में से किसी एक धातु से निष्पन्न माना जा सकता है—विद्-ज्ञाने, विद्-सत्तायाम्, विद्लृ लाभे तथा विद् विचारणे। इन चारों अर्थों का समन्वय करते हुए महर्षि दयानन्द ने वेद का निर्वचन इस प्रकार किया है—विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, अथवा विन्दन्ते लभन्ते, विन्दन्ति विचारयन्ति सर्वे मनुजा सत्यविद्यां यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः—अर्थात् जिनसे या जिनमें मनुष्य समाज ज्ञान प्राप्त करे, सत्य का साक्षात्कार करे, या उसका विचार करे वे वेद हैं। मुख्य रूप से वेद का अर्थ 'ज्ञान' है। इस दृष्टि से वेद की निरुक्ति करते हुए बताया गया है—वेद्यते ज्ञायते अनेनेति वेदः—अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाय, वह वेद है।

ऐसा परम्पराप्राप्त प्रामाणिक ज्ञान, जिसकी चरितार्थता युग-युग तक बनी रहे, वेद कहा जाता रहा है। प्रत्येक जाति का अपना-अपना वेद होता है, प्रत्येक युग अपना वेद रच सकता है। गोपथब्राह्मण (१/१०) में चार वेदों के अनन्तर प्रत्येक युग व जाति के अपने-अपने वेद रचे जाने की संभावना बताते हुए कहा गया है—

ताभ्यः पञ्चवेदान् निरमयत-सर्ववेदं,
पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदमिति।

तथापि संस्कृत साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में वेद का अर्थ है—ऋग्वेद आदि चार संहिताएँ तथा इन संहिताओं के ब्राह्मण ग्रंथ। सायण ने वेद के लक्षण पर विचार करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में निम्नलिखित लक्षणों पर विचार किया है—(१) वेद शब्दप्रमाण या आगम है। (२) वेद अपौरुषेय है, (३) मंत्र और ब्राह्मण ग्रंथ—ये दोनों वेद हैं। उन्होंने पहले लक्षण की अतिव्याप्ति मनुस्मृति आदि स्मृतियों में होने से उसे

निर्दोष नहीं माना। परब्रह्म की भी पुरुष संज्ञा होने तथा वेदों में ही वेदमंत्रों के अग्नि, वायु आदि देवों के द्वारा रचित होने का उल्लेख होने से दूसरा लक्षण भी दोषयुक्त हो जाता है। अत: सायण तीसरे लक्षण को ही उचित मानते हैं। परम्परा में भी वेद का यही लक्षण मान्य है—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्

अर्थात् मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों की संज्ञा वेद है। ऋषियों ने जिस दिव्य ज्ञान का साक्षात्कार किया, उसे मंत्र कहा जाता है। मंत्र की गद्यात्मक व्याख्या ब्राह्मण है। ब्राह्मण के भी तीन भाग हैं—ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। इस प्रकार वेद या वैदिक वाङ्मय के चार भाग हो जाते हैं—मंत्र या संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्।

संहिता—वेदमंत्रों का संग्रह वैदिक संहिता या संहिता कहा जाता है। संहिता का अर्थ ही होता है संकलन। वेदसंहिताएँ चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। यद्यपि वेद अखंड और एक माना गया है, तथापि मंत्रों के स्वरूप और विनियोग की दृष्टि से संहिताओं के रूप में उनके चार प्रकार हो जाते हैं। मीमांसासूत्र के प्रणेता जैमिनि ने इन चार प्रकारों को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (**मीमांसासूत्र, २/१/३५**) अर्थात् जिन मंत्रों में अर्थ के आधार पर पादों या चरणों की व्यवस्था हो, वे 'ऋक्' कहलाते हैं। 'गीतिषु सामाख्या' (**वही, २/१/३६**) अर्थात् जो मंत्र गाये जायें, वे 'साम' हैं। 'शेषे यजुः शब्दः' (**वही, २/१/३६**)। इन दोनो के अतिरिक्त शेष बचे मंत्र 'यजुष्' कहे जाते हैं। इन तीन प्रकार के मंत्रों से तीन वेद संहिताएँ निर्मित हुई हैं—ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद। इन तीन संहिताओं को 'त्रयी' भी कहा जाता है। आगे चल कर इस त्रयी में एक चौथा वेद—अथर्ववेद—और जुड़ा। इस प्रकार वैदिक संहिताएँ चार हैं।

वेद तथा वाचिक परम्परा—वेदों को सहस्रों वर्षों तक वाचिक परम्परा (कहना और सुनना) में ही संग्रहीत और सुरक्षित किया जाता रहा। बाद में लिपि का आविष्कार हो जाने पर इन्हें लिपिबद्ध किया गया। दस हजार से भी अधिक मंत्र कुछ हजार वर्षों तक केवल मौखिक रूप में स्मरण कर-कर के यथावत् सुरक्षित रखे गये। अन्य किसी देश के इतिहास में प्राचीन वाङ्मय को इतनी निष्ठा से सहस्रों वर्षों तक सुरक्षित रखने का उदाहरण नहीं मिलता। वेद को सहस्रों वर्षों तक गुरु-शिष्य-परम्परा में सुन-सुन कर व स्मरण रख कर सुरक्षित रखा गया, इसलिये इन्हें 'श्रुति' भी कहा जाता है। वाचिक परम्परा में मंत्रों को यथावत् स्मरण और पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखने के लिए पाठ की विशिष्ट विधियाँ अपनायी गयीं।

मंत्र का अर्थ—वेद की भाँति मंत्र का भी त्रिविध आशय है—ज्ञानार्थक, विचारार्थक तथा सत्कारार्थक। जिससे ईश्वर के आदेश का ज्ञान हो वह मंत्र है (मन्यते ज्ञायते ईश्वरादेशो येन)। जिसके द्वारा ईश्वरादेश पर विचार किया जाये, वह भी मंत्र है (मन्यते विचार्यते ईश्वरादेशो येन)। जिसके द्वारा देवता का आवाहन और सत्कार किया

जाये वह भी मंत्र कहा जाता है (मन्यते सत्क्रियते देवताविशेषो येन)। मंत्र तीन प्रकार के हैं—ऋक्, यजुष् तथा साम। देवों की स्तुति में प्रयुक्त मंत्र ऋक् है (ऋच्यते स्तूयते अनया इति ऋक्)। जिससे इज्या (यज्ञ) संपादित किया जाये, वह यजुष् है (यजति यजते वा अनेन)। शांति, सुख व संतोष प्रदान करने वाला मंत्र साम है। (समयति सन्तोषयति देवान्)।

मंत्रों के प्रणेता—क्या मंत्र किसी व्यक्ति के द्वारा रचे गये हैं? वेद की परम्परा में यह मान्यता रूढ़ है कि ऋषि मंत्रों के द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं। फिर भी व्यवहार में इन ऋषियों को वैदिक साहित्य में ही 'मन्त्रकृत्' या मंत्र रचने वाले कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (६/१) पर भाष्य में सायण का कथन है कि 'मन्त्रकृत्' में प्रयुक्त कृ (करना) धातु वास्तव में देखने के लिए ही है। यास्क ने ऋषि को परिभाषित किया है—ऋषिर्दर्शनात्, ऋषयो मन्त्रद्रष्टार:—अर्थात् जो दर्शन कर सकता है, वह ऋषि है, ऋषि मंत्र का दर्शन करता है। ऋषियों ने दिव्यज्ञान रूप मंत्रों का साक्षात्कार किया—इस दृष्टि से उन्हें लक्षणा से मंत्रों का निर्माता भी कह सकते हैं। वेदमंत्र सहस्रों वर्षों तक वाचिक या मौखिक परम्परा में प्रचलित रहे। जिन महर्षियों ने उनका सबसे पहले साक्षात्कार किया, उन्हीं का नहीं, जिन ऋषियों ने उन्हें अपने वंशजों को सौंपा उनका तथा उनके वंशजों का और आगे चल कर जिन ऋषियों ने इन सब मंत्रों का संकलन तथा वर्गीकरण किया, उनका भी नाम मंत्रों के साथ जुड़ा हुआ है। इसलिए जब वैदिक साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन में 'अमुक वेद के अमुक कवि' इस प्रकार का कथन किया जाता है, तो इन चारों आशयों में से प्रसंगानुसार कोई भी आशय हो सकता है।

वेद तथा कर्मकाण्ड—वैदिक काल से ही मंत्रों का उपयोग यज्ञ में किया जाता रहा है। यज्ञ (श्रौतयाग) का अनुष्ठान कराने वाले पुरोहित को ऋत्विक् कहा जाता था। ऋत्विक चार प्रकार के होते थे—होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। होता का कार्य यज्ञ में देवों का आवाहन करना था, उद्गाता का ऋचाओं का गायन कर के देवों को प्रसन्न करना था, अध्वर्यु यज्ञ के अनुष्ठान की विधि संपादित कराता था, तथा ब्रह्मा सारे याज्ञिक अनुष्ठान का निरीक्षण करता था।

शाखा, चरण और परिषद्—वेद की किसी एक परम्परा में पढ़ी, पढ़ायी जाने वाली वेदसंहिता उस संहिता की शाखा कही जाती है। वेदमंत्रों के पाठ की परम्परा में अलग-अलग ऋषियों के परिवारों में अलग-अलग परम्पराएँ बनती गयीं, जिनके कारण वेदों की शाखाएँ बनीं। इन ऋषि-परिवारों में वंशानुक्रम से अपनी-अपनी शाखा का पाठ और अध्ययन किया जाता रहा और इनके वंशज अपना परिचय देते समय भी अपनी शाखा का नाम बताते आये हैं। संध्यावंदन के समय भी अपने नाम के साथ अपनी शाखा बतायी जाती है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारों वेदसंहिताओं की कई-कई शाखाएँ हैं। चारों संहिताओं की कुल मिलाकर ११३० शाखाएँ प्राचीन काल में थीं—ऐसा अनुसंधान से प्रमाणित होता है। एक वेदसंहिता की शाखाओं में परस्पर अधिक भेद नहीं है, मूल ग्रंथ तो पूरा का पूरा वही है। भेद मंत्रों के

उच्चारण की दृष्टि से है, तथा कहीं-कहीं कुछ मंत्र न्यूनाधिक हैं। प्रत्येक शाखा के अपने-अपने ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भी तैयार किये गये।

चरण का लक्षण टीकाकार जगद्धर ने यह दिया है—'चरणशब्दः शाखाविशेषाध्ययनपरैकतापन्नजनसङ्घवाची' अर्थात् किसी विशेष शाखा के अध्ययन में लगे हुए लोगों का संघ चरण है। चरणों से सम्बद्ध विप्रों की सभा परिषद् है। मनु तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार परिषद् में दर्शन, तर्क तथा धर्मशास्त्र में निपुण इक्कीस ब्राह्मण अपेक्षित हैं। यह आज के विश्वविद्यालय या अकादमी के समान है। एक परिषद् से संबद्ध ग्रंथ या निबन्ध पार्षद कहे जाते हैं।

ऋग्वेद

ऋग्वेद विश्वसाहित्य का सबसे प्राचीन ग्रंथ है। वैदिक संहिताओं में भी इसे सर्वप्राचीन वेद के रूप में माना जाता रहा है। ऋग्वेद के ही पुरुषसूक्त में कहा गया है कि ऋचाओं की रचना परम पुरुष के द्वारा सर्वप्रथम हुई, उसके पश्चात् साम तथा छंदस् की—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

संहिताओं में सर्वाधिक महत्त्व भी ऋग्वेद को ही दिया गया है। यज्ञ के संपादन में भी साम और यजुष् के मंत्रों की अपेक्षा ऋग्वेद की ऋचाओं का प्रयोग प्रभावकारी माना गया है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है—

यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते,
शिथिलं तत्, यद् ऋचा तद् दृढम्। (६/५/१०/३)

विभाजन—ऋग्वेद का विभाजन दो प्रकार से हुआ है—अष्टक क्रम और मंडल क्रम। अष्टकक्रम में सम्पूर्ण ऋग्वेद को ६४ अध्यायों में बाँटा गया है। इनमें से आठ-आठ अध्यायों का एक-एक अष्टक माना गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण ऋग्वेद में आठ अष्टक हो जाते हैं। अष्टकों का विभाजन वर्गों में किया गया है। प्रत्येक वर्ग में एक से लेकर नौ तक मंत्र हैं। यह विभाजन अध्ययन के सौकर्य के लिए अपनाया गया है। ऋग्वेद का मंडलों में विभाजन सर्वाधिक प्रचलित व प्रतिष्ठित है। इस विभाजन में सम्पूर्ण ऋग्वेद को दस मंडलों में बाँटा गया है। प्रत्येक मंडल में अनुवाक तथा अनुवाक में कई सूक्त हैं। कात्यायनसर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद में कुल ८५ अनुवाक हैं। इन अनुवाकों में १०२८ सूक्त हैं, तथा इन सूक्तों में कुल मिलाकर १०५२८ मंत्र हैं। दूसरे मंडल से सातवें मंडल तक का अंश सबसे प्राचीन माना जाता है। इन मंडलों में सूक्तों के संयोजन की विशेषता यह है कि जिन ऋषियों के सूक्त अधिक संख्या में हैं, उन्हें प्रायः उत्तरोत्तर बाद में रखा गया है। इस प्रकार इन मंडलों में क्रमशः ४३, ६२, ५८, ८७, ७५, १०४ सूक्त हैं।

इन मंडलों का भाषा और विषयवस्तु की दृष्टि से अध्ययन करने वाले विद्वानों का निष्कर्ष है कि प्रथम, अष्टम, नवम और दशम मंडल बाद में जोड़े गये। इन चारों परवर्ती मंडलों में भी दशम मंडल सबके बाद का है। शेष मंडलों में प्रथम मंडल के

१९१ सूक्तों में से ५१ से लेकर १९१ तक के सूक्त पहले संकलित हुए और प्रारम्भिक सूक्त बाद में। ये सभी १ से ५०वें तक के सूक्त कण्व ऋषि के द्वारा विरचित हैं। इनके पश्चात् नवम मंडल के सूक्त जोड़े गये, ये सभी सूक्त सोमविषयक हैं। इनके कवियों के मंत्र दूसरे से सातवे मंडलों में भी संकलित हैं, पर दूसरे से सातवें मंडलों में सोम विषयक कोई सूक्त स्वतन्त्र रूप से नहीं है।

शाखाएँ—ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं का प्राचीन साहित्य में उल्लेख मिलता है। पतंजलि ने महाभाष्य में कहा है—एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्। आज इन इक्कीस शाखाओं के उपलब्ध होने की बात तो दूर रही, इन सभी के नाम भी विदित नहीं हैं। केवल पाँच शाखाओं के नाम ज्ञात होते हैं। ये इस प्रकार हैं—शाकल, वाष्कल, शांखायन, मंडूकायन तथा आश्वलायन। इनमें से शाकल शाखा ही उपलब्ध है। शांखायन और आश्वलायन शाखाओं के ब्राह्मण तथा उपनिषद् तो प्राप्त होते हैं, पर संहिताएँ नहीं।

कवि—ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टाओं या ऋषियों में मुख्य हैं—वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, भारद्वाज, कण्व, गृत्समद, वामदेव, अंगिरस आदि। सभी सूक्तों के साथ उनके ऋषियों के नाम मिलते हैं। दूसरे से सातवें मंडल के ऋषि हैं—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वसिष्ठ। आठवें मंडल के ऋषि कण्व और अंगिरा हैं। पहले और दसवें मंडल में भिन्न-भिन्न ऋषियों के सूक्त हैं। अनेक स्त्री-ऋषि तथा आर्येतर वर्णों के ऋषियों के भी सूक्त ऋग्वेद में हैं।

विषयवस्तु—ऋग्वेद की विषयवस्तु अत्यंत व्यापक है। धर्म, दर्शन, कर्मकाण्ड, तथा विभिन्न लौकिक विषयों का उसमें समावेश है। इसके सूक्तों को विषयवस्तु की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है—स्तुतिपरक सूक्त, दार्शनिक सूक्त, ऐहिक या लौकिक सूक्त, दानस्तुतियाँ तथा संवादसूक्त।

धार्मिक सूक्त—इन्द्र, अग्नि, सोम, विष्णु, वरुण, उषस्, रुद्र—ये ऋग्वेद में वर्णित या स्तुत प्रमुख देवता है। धार्मिक सूक्तों में इन देवताओं की स्तुतियाँ या इनका वर्णन है। यह वर्णन तीन प्रकार से हैं—परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक। इन तीन प्रकारों में देवता के लिए क्रमशः प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष का प्रयोग करता है। परोक्षकृत में देवता का निदर्शन उसका नाम लेकर, उसके विशेषणों के द्वारा या अन्य पुरुष सर्वनाम के द्वारा होता है। ऋग्वेद का पहला ही सूक्त (अग्निमीळे पुरोहितम्०) इसका उदाहरण है। प्रत्यक्षकृत में कवि देवता को अपने समक्ष उपस्थित मान कर संबोधित करता है। उपर्युक्त अग्निसूक्त का अंतिम मंत्र (अग्ने नय राये सुपथा०) इसका उदाहरण है। आध्यात्मिक सूक्तों में देंवता स्वयं अपने विषय में बताता है। वागाम्भृणी सूक्त (१०/१२५) इसका उदाहरण है।

दार्शनिक सूक्त—ऋग्वेद में अनेक सूक्तों में जीवन, जगत् या सृष्टि के उद्‌भव के विषय में गहन चिंतन प्रस्तुत करते हुए दार्शनिक अवधारणाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। ऐसे सूक्तों में उल्लेखनीय हैं—अस्यवामीय (१/१६४), नासदीय सूक्त (१०/१२९),

हिरण्यगर्भ सूक्त (१०/१२१) तथा पुरुष सूक्त (१०/९०)। कुछ सूक्तों में आध्यात्मिक रहस्यों को अत्यन्त गूढ़ तथा पहेलियों की भाषा में प्रकट किया गया है। आठवें मंडल का उन्तीसवाँ सूक्त तथा अस्यवामीय सूक्त प्रहेलिकात्मक हैं।

लौकिक सूक्त—इन सूक्तों में लोकव्यवहार के विषयों की विवृति के साथ उस समय की सांस्कृतिक व सामाजिक स्थितियों और लोकाचारों का परिचय मिलता है। अनेक सूक्तों में राजशास्त्र के विषयों के साथ ग्राम, नगर तथा राष्ट्र के प्रशासन की पद्धतियाँ वर्णित हैं। दसवें मंडल के १७३ तथा १७४वें सूक्तों में राज्याभिषेक के साथ राजा के दायित्व प्रकाशित किये गये हैं। सभा और समिति इन दो संस्थाओं के स्वरूप पर भी ऐसे सूक्तों से प्रकाश पड़ता है। ये संस्थाएँ राजा के मार्गदर्शन के लिए थीं। दसवें मंडल का ही ८४वाँ सूक्त विवाह की उस समय की पद्धति, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध व पारिवारिक आदर्शों पर प्रेरणाप्रद रूप में ज्ञान कराता है। यह सूक्त सूर्या सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें सूर्या का सोम से विवाह निरूपित है। दसवें मंडल के ही पाँच सूक्त (१४ से १८) मृत्यु संस्कार से संबद्ध हैं। अक्षसूक्त, मंडूकसूक्त आदि में भी लौकिक विषयों का ग्रहण है।

संवाद सूक्त—ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में विभिन्न व्यक्तियों के बीच वार्तालाप या संवाद निबद्ध किये गये हैं। ऐसे सूक्तों में किसी आख्यान की पृष्ठभूमि निहित है। ये सूक्त नाटकीयता से ओतप्रोत हैं। इंद्र-मरुत्-अगस्त्य-संवाद (१/१६५ तथा १/१७०), अगस्त्य और लोपामुद्रा संवाद (१/१७९), विश्वामित्र-नदी-संवाद (३/३३), इंद्र, अदिति और वामदेव का संवाद (४/१८), वसिष्ठ और इंद्र का संवाद (७/३३), इंद्र-नेम-संवाद (८/८९), इंद्र, वसुक्र तथा वसुक्रपत्नी का संवाद (१०/२७,२८), यम-यमी-संवाद (१०/१०), सरमा-पणि-संवाद (१०/१०८), अग्नि तथा देवों का संवाद (१०/५१,५२), इंद्र, इंद्राणी तथा वृषाकपि का संवाद (१०/८६) तथा पुरूरवा और उर्वशी का संवाद (१०/८६) आदि संवाद सूक्त उल्लेखनीय हैं।

दान स्तुतियाँ—इन सूक्तों में राजाओं की उदारता व दानशीलता की प्रशंसा है। ये दान यज्ञ के अवसरों पर ऋत्विजों को दिये जाते थे। इन सूक्तों में दान देने वाले राजाओं की वंशपरम्परा का भी विवरण मिलता है। इसके कारण ऐतिहासिक दृष्टि से इनका बड़ा महत्त्व है।

अभिचारात्मक सूक्त—यद्यपि अभिचार (तंत्र, जादू तथा टोना) मुख्य रूप से अथर्ववेद में वर्णित हैं, परन्तु ऋग्वेद के भी लगभग तीस सूक्तों में अभिचार के विषय गृहीत हैं। इनमें दुःस्वप्ननाश, अपशकुननिवारण, रोगोपचार, पुत्र-प्राप्ति, शत्रुनाश, सपत्नीमर्दन, तथा राक्षसों के प्रभावों को दूर करने के लिए प्रयुक्त होने वाले अभिचारों का निरूपण है। उस समय के लोकविश्वासों तथा लोकाचारों का इनसे ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए अपनी सपत्नी (सौत) के नाश के लिए कोई स्त्री एक बूटी का उपयोग करती थी, जिसके लिए यह मंत्र है—

इमां खनाम्यौषधिं वीरुधं बलवत्तमम्।
यथा सपत्नीं बाधते मया संविदन्ते।

आख्यानात्मक सूक्त—ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में प्राचीन आख्यानों का निरूपण अथवा उल्लेख है। इन आख्यानों की अनेक प्रकार से व्याख्याएँ की जाती रही हैं। इंद्रसम्बन्धी सूक्तों में उसके द्वारा वृत्र, शंबर आदि असुरों को मारने तथा पर्वतों के पंख काटने व नदियों के बहाने की कथाएँ हैं। यास्क ने अपने निरुक्त में इन आख्यानों का संकेत 'इत्यैतिहासिका:', 'तत्रेतिहासमाचक्षते', 'इत्याख्यानम्' आदि कथनों के द्वारा किया है।

काव्यसौन्दर्य—ऋग्वेद की रचनाशैली में अत्यन्त उत्कृष्ट कवित्व का अनुभव होता है। अनेक अलंकार सहज रूप में मंत्रद्रष्टा ऋषियों की अभिव्यक्ति में समाविष्ट होते गये हैं। इन्द्रसम्बन्धी सूक्तों में वीर रस का अव्याहत प्रवाह है, तो उषस् देवी के सम्बद्ध सूक्तों में मनोरम कल्पनाएँ, सौन्दर्य व श्रृंगार का लालित्य है। उषस् देवी को कवि स्नान कर के सरोवर से ऊपर आती रमणी से उपमा देता है—

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्॥ (५/८०/५)

(द्युलोक की कन्या उषा प्रकाश में जगमगाती हुई आ गयी है। वह अंधेरे को हटाती हुई अपने शुभ्र स्वरूप को प्रकट कर रही है, जिस प्रकार कोई सुन्दर रमणी सरोवर से स्नान कर के बाहर निकली है।) कितवसूक्त में जुआरी की मनोव्यथा का चित्रण अत्यंत मार्मिक है। जुआरी के मन के अंतर्द्वंद्व को बहुत ही प्रभावशाली रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है। पाँसे उसे किस प्रकार खींचते हैं तथा वे कितने घातक होते हैं इसका निरूपण करते हुए कवि कहता है—

नीचा वर्तन्ते उपरि स्फुरन्ति अहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ता: शीता: सन्तो हृदि निर्दहन्ति॥

(१०/३४/९)

(ये नीचे फेंके जाने पर भी ऊपर-ऊपर चढ़ते हैं। बिना हाथ के होते हुए भी हाथ वाले को पकड़ लेते हैं। ये पाँसे नहीं अंगारे हैं, जो शीतल होकर भी हृदय को जला देते हैं।)

ऋग्वेद के कवियों की उपमाएँ और कल्पनाएँ अनूठी और मौलिक हैं। व्याधि किस प्रकार शरीर को समाप्त कर रही है इसका चित्रण करते हुए उपमा दी गयी है—

तं मा व्यन्त्याध्योऽ वृको न तृष्णजं मृगम्।

(जैसे पिपासित मृग को भेड़िया खा जाता है, वैसे ही मुझे व्याधि खा रही है।)

भाषा का प्रवाह अबाध है, उसकी बलशालिता और गत्यात्मकता अनन्य ही कही जा सकती है। नदियों के बहाव को प्रत्यक्ष देखता हुआ कवि कहता है—

एता अर्षन्त्यलला भवन्तीर् ऋतावरीरिव सङ्क्रोशमाना:।
एता वि पृच्छ किमिदं भनन्ति कमापो अद्रिं परिधिं रुजन्ति॥

(४/१८/६)

(ये उन्मुक्त होकर बहती नदियाँ आनन्द से उच्छलित होती प्रमदाओं की भाँति परस्पर अठखेलियाँ करती हुई आगे बढ़ रही हैं। ये क्या-क्या कह रही हैं, किन-किन पत्थरों को तोड़ कर आगे बढ़ रही हैं, यह उन्हीं से पूछो।)

भाषा—शब्द-साधना तथा भाषा की सामर्थ्य के प्रति सजगता ऋग्वेद के कवियों में सर्वत्र मिलती है। भाषा के विषय में उन्होंने स्वयं भी संस्कार और परिष्कार का महत्त्व स्वीकार किया है। वे कहते हैं—**सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत** अर्थात् जैसे चलनी से सत्तू छान कर स्वच्छ किया जाता है, उसी प्रकार इस देश के विचारशील पुरुषों ने अपने मन की चलनी से वाणी को छान कर पावन बनाय है। अन्यत्र वाणी की गूढ़ क्षमता के विषय में ऋग्वेद का ऋषि कहता है—कोई व्यक्ति तो वाणी को देखता हुआ भी नहीं देख पाता, कोई उसे सुनता हुआ भी नहीं सुन पात; और किसी विज्ञ के आगे वह अपने रहस्य को उसी प्रकार उन्मीलित कर देती है, जिस प्रकार प्रेम से भरी हुई पत्नी अपने आपको अपने पति के आगे—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उत त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।

(१०/७१/४)

कहीं ओजस्वी और स्फुरित होती हुई पदावली तो कहीं अतिशय कोमल और मसृण शब्दविन्यास—इस प्रकार कुंतक प्रोक्त सुकुमार और विचित्र दोनों काव्यमार्गों पर सहज गति से ऋग्वेद के कवि अग्रसर होते हैं। जीवन में माधुर्य की कामना करते हुए ऋषि अपनी वाणी में माधुर्य का अवतरण कर देते हैं—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।
मधुमान्नो वनस्पतिः मधुमानस्तु सूर्यः
माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ (ऋ० १-९०-६)

छन्द—ऋग्वेद में ग्यारह प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है। इनमें से सात छंद सर्वाधिक प्रयुक्त हैं—त्रिष्टुभ्, गायत्री, जगती, अनुष्टुप्, उष्णिक्, पंक्ति और बृहती। ऋग्वेद का २/५वाँ अंश त्रिष्टुप् में, १/४ अंश गायत्री में, १/८वाँ अंश जगती में और १/१०वाँ अंश अनुष्टुप् में है।

ऋग्वेद के कवियों का स्थान—ऋग्वेद के कवि सप्तसिंधु प्रदेश में रह थे—ऐसा उल्लेख मंत्रों में मिलता है। सप्तसिंधु वह प्रदेश है, जिसमें सात नदियाँ बहती थीं। ये नदियाँ थीं—सिंधु, विपाशा (व्यास), शुतुद्रि या शतद्रु (सतलज), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चिनाब), परुष्णी (रावी) और सरस्वती। पश्चिमी विद्वानों की धारणा है कि मूलतः ये लोग भारत में बाहर से आये। पर यह धारणा विवादास्पद है डॉ० अविनाशचंद्र दास ने अपने अध्ययन के निष्कर्षस्वरूप यह स्थापना दी है कि ऋग्वेद के निर्माणकाल की अवधि में ऋषिगण पंचनद, कश्मीर, बाह्लीक (बिलोचिस्तान) गांधार (अफगानिस्तान) और पश्चिमी हिमालय के प्रदेशों में निवास कर रहे थे। यह प्रदेश ही आर्यों का आदिदेश भी था।

तिलक के शोधकार्य का उल्लेख आगे ऋग्वेद के रचनाकाल के सन्दर्भ में किया गया है। वे उत्तरी ध्रुव को आर्यों का मूल स्थान मानते हैं, किन्तु उनके अनुसार उस काल में उत्तरी ध्रुव वर्तमान भारत की उत्तरी सीमा पर था।

ऋग्वेद का रचनाकाल—ऋग्वेद कब रचा गया यह निर्णय करना असंभव ही है। तथापि इसके रचनाकाल के विषय में विभिन्न प्रकार की अटकलें लगायी जाती रही हैं। इस संबंध में प्रचलित मत निम्नलिखित हैं—

(१) भारतीय मत—भारतीय परम्परा वेद को अनादि (सृष्टि के आरम्भ से ही विद्यमान) और अपौरुषेय (जो किसी मनुष्यता के द्वारा रचा हुआ नहीं हो) मानती है। आज की वैज्ञानिक दृष्टि से यह मत अग्राह्य प्रतीत होता है। परन्तु इसके पीछे निहित दार्शनिक और तार्किक दृष्टि को समझने पर इसका औचित्य जाना जा सकता है। एक तो, हमारी परम्परा ज्ञान को सनातन मानती है। वेद का अर्थ ज्ञान है। इसलिए वेद सदैव रहा है और रहेगा। दूसरे जिन वेदों में ऋषियों के नाम मंत्रों के द्रष्टाओं के रूप में दिये गये हैं, उन्हें ये मंत्र परम्परा से प्राप्त हुए। ये मंत्र जब संकलित किये गये, तो उसके पहले सहस्रों वर्षों से वाचिक परम्परा से चले आ रहे थे।

(२) मैक्समूलर का मत—वैदिक साहित्य पर शोधकार्य करने वाले पश्चिमी विद्वानों में मैक्समूलर का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने वैदिक वाङ्मय के छंद:काल, मंत्रकाल, ब्राह्मणकाल और सूक्तकाल—ये चार चरण मान कर अंतिम चरण से आरम्भ करके वेदों के रचनाकाल का अनुमान करने का प्रयास किया। सूत्रकाल उन्होंने ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० के बीच माना, क्योंकि बुद्ध ६०० ई० पू० में हुए और उनके समय तक समग्र वैदिक साहित्य सामने आ चुका था। फिर ब्राह्मण ग्रंथों को इससे २०० वर्ष पीछे ले जाते हुए उन्होंने ब्राह्मणकाल का समय ८०० ई० पू० से ६०० ई० पू० निर्धारित किया और इससे भी पहले वैदिक संहिताओं के सोपान के लिए २०० वर्ष की अवधि मानकर संहिताओं या मंत्रों के संपादन का काल १००० ई० पू० से ८०० ई० पू० के बीच ठहराया। मंत्रकाल के पहले मैक्समूलर के अनुसार वैदिक मंत्र जन समूहों के बीच प्रार्थना या आराधना के लिए गाये जाते रहे होगें, इसलिए इसके पहले छंद:काल को २०० वर्ष और पीछे ले जाकर १२०० ई० पू० से १००० ई० पू० वेद का समय उन्होंने निश्चित किया।

मैक्समूलर का यह प्रतिपादन सर्वथा अवैज्ञानिक और भ्रांतिपूर्ण था। जिन संहिताओं का वाचिक परम्परा से सहस्रों वर्षों तक प्रचार रहा हो, उनकी रचना के लिए दो सौ वर्ष का समय कैसे दिया जा सकता है? यह मानना भी उचित नहीं कि ब्राह्मण ग्रंथ पूरे रचे जा चुके, उसके पश्चात् आरण्यक और फिर उपनिषदों की रचना हुई, क्योंकि आरण्यक तथा उपनिषद् ब्राह्मण ग्रंथों के ही भाग हैं। बाद में मैक्समूलर ने स्वयं ही अपने मत की निस्सारता स्वीकार करते हुए कहा कि पृथ्वी पर ऐसी कोई शक्ति नहीं जो यह निर्धारित कर सके कि ऋग्वेद ईसा के पहले की दूसरी सहस्राब्दी में रचा गया, या तीसरी अथवा चौथी में।

(३) मैक्डॉनल का मत—वेदों पर कार्य करने वाले दूसरे पश्चिमी विद्वान् मैक्डॉनल हैं। उन्होंने अवेस्ता का प्रमाण देते हुए ऋग्वेद का समय १३०० ई० पू० के लगभग बतलाया। अवेस्ता के प्रणेता पारसियों के धर्मगुरु जरथुस्त्र कहे गये हैं। इनका

समय ८०० ई० पू० है। अवेस्ता की भाषा वेदमंत्रों के अत्यधिक निकट है। उसके अधिकांश मंत्रों में किंचित् संशोधन करने पर वे वैदिक मंत्र बन जाते हैं। मैक्डॉनल ने वेद की भाषा से अवेस्ता की भाषा के विकास के लिए २०० वर्षों का समय मानते हुए वेद का रचना काल अवेस्ता के ५०० वर्ष पहले या १३०० ई० पू० में निर्धारित किया। यह मत भी मैक्समूलर के मत की भाँति ही मनगढ़ंत और अवैज्ञानिक है। अवेस्ता में भी परम्परा से प्राप्त सहस्त्रों वर्ष पुराने मंत्र संकलित हैं। और वेद तथा अवेस्ता के बीच पाँच सौ वर्षों का ही अंतराल माना जाये, इसमें भी कोई प्रामाणिकता नहीं है।

(४) ज्योतिष सम्बन्धी मत—वेदों में उल्लिखित ग्रह-नक्षत्रों की स्थितियों का अध्ययन करके कुछ विद्वानों ने ज्योतिषशास्त्र के प्रमाण से यह गणना की कि ये स्थितियाँ कितने हजार साल पहले की हैं और उनके अनुसार इन विद्वानों ने ऋग्वेद का काल निर्धारित करने का प्रयास किया। इन विद्वानों में उल्लेखनीय हैं—बाल गंगाधर तिलक तथा जर्मनी के विद्वान् जाकोबी। तिलक ने अनेक वर्षों तक अत्यन्त गंभीर अन्वेषण और अध्ययन के पश्चात् अपनी स्थापनाएँ 'ओरायत ऑर रिसर्चेज इण्टु एण्टिक्विटी ऑफ दि वेदज' तथा 'दि आर्कटिक होम इन दि वेदज' नामक दो ग्रंथों में प्रस्तुत की। उन्होंने विभिन्न नक्षत्रों में वसंतसंक्रान्ति के आधार पर वैदिक साहित्य को निम्नलिखित चार चरणों में विभाजित किया—(१) अदितिकाल—इसमें वसंतसंक्रान्ति पुनर्वसु नक्षत्र के समीप थी। यह भारतीय संस्कृति का उषःकाल था। इसकी अवधि ६००० ई० पू० से ४००० ई० पू० है। (२) मृगशिराकाल—इस समय ऋग्वेद के अधिकांश सूक्त रचे गये। इसकी अवधि ४००० ई० पू० से २५०० ई० पू० है। (३) कृत्तिकाकाल—इस काल की अवधि २५०० ई० पू० से १४०० ई० पू० है। इस अवधि में चारों वेदसंहिताओं को संकलित व लिपिबद्ध किया गया। ब्राह्मण ग्रंथों की रचना का भी इस अवधि में उपक्रम हुआ। (४) अंतिमकाल—यह काल १४०० ई० पू० से ५०० ई० पू० के बीच है। इसमें सूत्रग्रंथों तथा षड्दर्शनों के ग्रंथों का निर्माण हुआ। इसी अवधि में बौद्ध धर्म का उदय भी हुआ। दूसरी ओर जर्मनी के वैदिक साहित्य के पंडित जाकोबी ने गृह्यसूत्रों में विवाह के प्रकरण में ध्रुव नक्षत्र की स्थिति के आधार पर वेद का काल ४००० ई० पू० से २५०० ई० पू० निर्धारित किया। तिलक और जाकोबी के मत गणितीय सिद्धान्तों पर आधारित होने से विश्वसनीय हैं। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ-ब्राह्मण का ज्योतिषीय अध्ययन करते हुए इसे ३००० ई० पू० की रचना बताया है। जोगेशचंद्र राय इसका समर्थन करते हैं।

तिलक ने 'दि आर्कटिक होम' की भूमिका में वी०बी० केतकर के शोध का भी उल्लेख किया है। श्री केतकर बृहस्पति और तिष्य के संयोग के उल्लेख के आधार पर तैत्तिरीय संहिता का रचनाकाल ४६५० ई०पू० निर्धारित करते हैं।

(५) वाघाजकोई के लेखों का प्रमाण—१९०७ ई० में ह्यूगो विंकलर नामक विद्वान् को एशिया माइनर में मिट्टी की मुद्राओं पर लिखे लेख मिले, जिनका समय १४०० ई० पू० से १८०० ई० पू० के मध्य बताया गया। इन लेखों में हिट्टाइट तथा मेटनी इन दो जातियों के बीच हुई संधि का वर्णन है। संधि के साक्ष्य के लिए दोनों

राज्यों के पूज्य देवों का उल्लेख किया गया है। मिटनी जाति के देवताओं में इंद्र, वरुण, मित्र और नासत्यौ का नाम लिया गया है। इस लेख से स्पष्ट हो जाता है कि वेदों की परम्परा से मिटनी जाति का सम्बन्ध था। इस लेख के आधार पर यह कहना कठिन है कि इस लेख से कितने पहले वेद लिखे जा चुके थे। फिर भी कुछ विद्वानों ने इसके आधार पर वेद का रचनाकाल १५०० ई० पू०, तो कुछ ने ३००० ई० पू० प्रतिपादित किया।

(६) ऐतिहासिक प्रमाण—सुप्रसिद्ध विद्वान् रामगोपाल भंडारकर ने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर वेदों के कालनिर्णय के विषय में अपना मत रखा है। इनके अनुसार यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में, जिसे ईशावास्योपनिषद् के नाम से भी प्रसिद्धि प्राप्त है, 'असुर्या लोक' शब्द आया है। यह असुर्या वास्तव में असीरिया है। इसे आजकल मैसोपोटामिया कहा जाता है। असीरियन आज से २५०० वर्ष पूर्व भारत आये थे। अत: यजुर्वेद का रचनाकाल आज से २५०० वर्ष पूर्व माना जाये, तो ऋग्वेद का रचनाकाल उससे भी तीन-चार सहस्त्र वर्ष पूर्व मानना होगा। इस प्रकार ऋग्वेद का रचनाकाल भंडारकर ने ६००० वर्ष पूर्व स्वीकार किया है।

(७) भूगर्भशास्त्रीय प्रमाण—कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद में उल्लिखित पृथ्वी पर होने वाले परिवर्तनों, पर्वतों की स्थितियों और भूकंपों के आधार पर काल गणना का प्रयास किया। संपूर्णानन्द का कथन है कि आर्य भारत में बाहर से नहीं आये, ये मूलत: यहाँ के सप्तसिंधु प्रदेश में रहते थे। सप्तसिंधु प्रदेश कश्मीर की घाटी से राजस्थान और उत्तरप्रदेश के कुछ भागों तक विस्तृत था। नारायण राव पारंगी का मत है कि ऋग्वेद (१०/१३६/५) में वर्णित स्थिति के अनुसार यह प्रदेश उस समय दोनों ओर से पूर्वी और पश्चिमी समुद्र से घिरा हुआ था। पश्चिमी समुद्र आज का अरब सागर था। पूर्वी समुद्र उस समय आज के पंजाब के पूर्व में था। ऋग्वेद में अन्यत्र (९/३/३/६ तथा १०/४/७/२) भी सप्तसैंधव प्रदेश के समुद्र से घिरे होने की बात कही गयी है। भूगर्भीय परिवर्तनों से कालांतर में समुद्र सूख गया, और वह आज राजस्थान की खारी झीलों, कृष्ण सागर (कैस्पियन सागर) और बाल्कश झील के रूप में शेष है। वर्तमान राजपूताना दक्षिण समुद्र का स्थान था और सरस्वती नदी इसी में गिरती थी। पारंगी के अनुसार इस प्रकार के भौगोलिक और भूगर्भीय परिवर्तन आज से ९००० वर्ष पूर्व हुए। सरस्वती नदी लुप्त हो गयी। उस काल में भूकम्पों के कारण नये पर्वत भी उठ रहे थे। नदियों के मार्गों में परिवर्तन हो जाता था, या नदियाँ विलीन हो जाती थीं। ऋग्वेद में वर्णित इसी प्रकार की भौगोलिक या भूगर्भीय स्थितियों का आकलन करते हुए वैज्ञानिक अनुसंधान के आधार पर यह कहा गया कि ये स्थितियाँ आज से २५००० वर्ष पूर्व से लेकर ५०,००० वर्ष पूर्व तक की हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों का रचनाकाल इतना अधिक प्राचीन माना जा सकता है।

सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् वेबर का मत है—''वेदों का समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। ये उस काल में निर्मित हुए, जिस तक पहुँचने के लिए हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं है।''

ऋग्वेद का महत्त्व

मैक्समूलर के शब्दों में—"संसार के इतिहास में उस रिक्त स्थान की पूर्ति वेद ने की है, जिसकी पूर्ति किसी भी भाषा की कोई भी साहित्यिक कृति नहीं कर सकती थी। यह हमें उस युग में ले जाता है, जिसका कहीं भी कोई भी साक्ष्य नहीं मिलता, और यह हमें सीधा उन लोगों की पीढ़ी तक पहुँचा देता है, जिसका वेद के बिना अनिश्चित-सा चित्रण हम केवल कल्पना और अनुमान के बल पर कर सकते थे। जब तक मानव अपनी जाति के इतिहास में रुचि लेता रहेगा, और जब तक वह पुस्तकालयों तथा संग्रहालयों में पूर्व युगों के अवशेष एकत्र करता रहेगा तब तक मानव की आर्यशाखा से संबद्ध अभिलेखों से युक्त ग्रंथों की लम्बी पंक्ति में सबसे प्रथम स्थान सदा ऋग्वेद का ही रहेगा।"

ऋग्वेद से परिचय होने पर आधुनिक विश्व में ज्ञान के नये क्षितिज खुले। योरोप के बुद्धिजीवी तथा भाषा वैज्ञानिक ग्रीक और लैटिन को सबसे प्राचीन भाषाएँ मानते आ रहे थे। ऋग्वेद और वैदिक साहित्य का पता चलने पर उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि संस्कृत भाषा ग्रीक और लैटिन भाषाओं से भी प्राचीन है। इसके साथ ही संस्कृत की एशिया और योरोप की भाषाओं से संबंध पर अन्वेषण-कार्य आरम्भ हुआ, जिससे भारोपीय भाषा परिवार की अवधारणा सामने आयी। इस प्रकार तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में ऋग्वेद के द्वारा सर्वथा नये वातायन खुल गये। इसी प्रकार विद्वानों का ध्यान इस तथ्य की ओर भी गया कि ऋग्वेद में वर्णित या पूजित देवों में से अनेक प्रकारान्तर या नामान्तर से एशिया के प्राचीन संस्कृति वाले देशों में पूजित हैं, तथा ग्रीस की परम्परा में मान्य देवों से भी वैदिक देवों का सम्बन्ध है। इससे तुलनात्मक देवशास्त्र नामक एक नवीन अध्ययन का विषय आरम्भ हुआ। इसी तरह वैदिक आख्यानों या पुराकथाओं का साम्य विश्व के कई प्राचीन संस्कृति वाले देशों में प्रचलित आख्यानों से होने के कारण तुलनात्मक पुराकथाशास्त्र (Comparative Mythology) इस नये विषय के अध्ययन का भी समारम्भ हुआ।

यजुर्वेद

यजुर्वेद का मुख्य विषय याज्ञिक विधि या कर्मकाण्ड है। इसमें वे सूक्त संकलित किये गये हैं, जिनके मंत्र अध्वर्यु के द्वारा यज्ञ में उपयुक्त होते थे। यजुर्वेद दो रूपों में मिलता है—शुक्ल यजुर्वेद तथा कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद में पद्यात्मक मंत्र हैं, और कृष्ण यजुर्वेद में मंत्रों के साथ गद्य में व्याख्या भी सम्मिलित है।

शाखाएँ—पतंजलि के समय में यजुर्वेद की १०१ शाखाएँ प्रचलन में थीं। कालान्तर में ये शाखाएँ लुप्त होती गयीं, ऐसा प्रतीत होता है। वर्तमान में यजुर्वेद की पाँच शाखाएँ मिलती हैं—काठक, कपिष्ठल, मैत्रायणी, तैत्तिरीय और वाजसनेयी। इनमें से प्रथम चार कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध हैं तथा पाँचवीं वाजसनेयी शाखा शुक्ल यजुर्वेद की है। वाजसनेयी संहिता या शुक्ल यजुर्वेद में ४० अध्याय हैं। इनमें से अंतिम १५

अध्याय प्रक्षिप्त माने गये हैं। ये चालीस अध्याय ३०३ अनुवाकों में तथा १९७५ कंडिकाओं में विभाजित हैं। प्रथम दो अध्यायों में दर्श और पूर्णमास इन दो यज्ञों से सम्बद्ध मंत्र हैं। इन यज्ञों को पूर्णिमा और शुक्लपक्ष की द्वितीया के दिन किया जाता था। तीसरे अध्याय में अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य से सम्बन्धित मंत्र हैं। अग्निहोत्र प्रतिदिन और चातुर्मास्य चार महीनों में एक बार किया जाता था। चौथे से आठवें अध्याय तक अग्निष्टोम यज्ञ का प्रतिपादन और उसमें विनियुक्त होने वाले सामसम्बन्धी मंत्र हैं। अग्निष्टोम यज्ञ के द्वारा सोम को तैयार किया जाता था, और प्रातः सवन, माध्यंदिन सवन और अंतिम सवन ये तीन सवन किये जाते थे। नवम और दशम अध्यायों में वाजपेय तथा राजसूय यज्ञों से सम्बद्ध मंत्र हैं। ग्यारहवें से अठारहवें अध्याय तक अग्निचयन याग के मंत्र हैं। इन मंत्रों के पाठ के साथ अग्निवेदिका स्थापित की जाती थी। इस वेदिका का आकार उड़ते हुए पक्षी के समान होता था, तथा इसमें १०,८०० इष्टिकाओं (ईंटों) का उपयोग होता था। यजुर्वेद का शतरुद्रिय अंश आज भी बहुत प्रचलित है। उसमें रुद्रविषयक आख्यान मिलता है। उन्नीसवें से इक्कीसवें अध्याय तक सौत्रामणि और बाईसवें से पच्चीसवें अध्याय तक अश्वमेध यज्ञ के मंत्र हैं। इन मंत्रों में सारे राष्ट्र को सुखमय, समृद्धिमय तथा शक्तिशाली बनाने की प्रार्थना है। छब्बीसवें से उन्तीसवें अध्याय तक विविध विषयों से संबद्ध खिल मंत्र हैं। तीसवें में पुरुषमेध के मंत्र हैं। पुरुषमेध में १८४ प्रकार के प्राणियों का आलंभन वर्णित है, इसके मंत्रों में समाज के विभिन्न वर्गों की विशद सूची दी गयी है। इकतीसवें अध्याय में ऋग्वेद का पुरुषसूक्त है जिसमें छह नवीन मंत्र जोड़े गये हैं। बत्तीसवें और तैतीसवें अध्यायों में सर्वमेध विषयक मंत्र हैं। चौतीसवें अध्याय में शिवसंकल्प सूक्त है। पैंतीसवें अध्याय में पितृमेध तथा छत्तीसवें से उनतालीसवें अध्याय तक प्रवर्ग्य यज्ञ प्रतिपादित है। यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। ईशावास्योपनिषद् इसी काण्ड में समाहित है, जो उदात्त विचारों और दार्शनिक चिन्तन के कारण आज भी हमारे लिए प्रेरणाप्रद है।

सामवेद

सामवेद में ऋग्वेद के मंत्र गृहीत हैं। साम का अर्थ गीति है। इन मंत्रों का गायन होता था और गायन की दृष्टि से स्वरचिह्न लगा कर जो मंत्र संकलित किये गये, वे सामवेद कहलाये। सात स्वरों का संकेत सामवेद के मंत्रों में एक से सात तक की संख्या इनके अक्षरों पर लिख कर किया जाता है। गायन के समय अँगुलियों के संचालन से भी स्वरों का बोध कराया जाता है। गान के लिए उपादेय होने के कारण यह वेद अत्यधिक लोकप्रिय हुआ और प्राचीन काल में इसकी अनेक शाखाएँ विकसित हुईं। पतंजलि ने तो यहाँ तक कहा है कि 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' अर्थात् सामवेद की हजारों शाखाएँ हैं। वर्तमान में इसकी तीन शाखाएँ उपलब्ध हैं—कौथुम, जैमिनीय तथा राणायनीय। कौथुम शाखा का गुजरात में, जैमिनीय का कर्नाटक में तथा राणायनीय का महाराष्ट्र में विशेष प्रचार रहा है।

विभाजन—सामवेद के दो भाग हैं—पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। इन दोनों का विभाजन प्रपाठकों में हुआ है। पूर्वार्चिक में छह और उत्तरार्चिक में नौ प्रपाठक हैं। पूर्वार्चिक के प्रत्येक प्रपाठक में दस-दस मंत्रों वाले दस सूक्त हैं, केवल अन्तिम प्रपाठक में नौ सूक्त हैं। पूर्वार्चिक को 'छन्दस्', 'छन्दसी' या 'छन्दसिका' भी कहा गया है। स्तुत देवताओं की दृष्टि से इसमें प्राप्त मंत्र निम्नलिखित कोटियों में बाँटे जा सकते हैं—आग्नेय, ऐंद्र, पवमान, वारुण तथा शुक्रिय। उषःकाल के देवता अरुण तथा असुरगुरु शुक्र के द्वारा जिन मंत्रों का प्रवचन किया गया, उन्हें आरुण तथा शुक्रिय कहा गया है। इस प्रकार पहले प्रपाठक में अग्नि, दूसरे से चौथे प्रपाठक में इंद्र और पाँचवें प्रपाठक में पवमान (सोम) से सम्बन्धित मंत्र हैं। इन मंत्रों को ग्राम गान भी कहा जाता है। छठे प्रपाठक के मंत्रों को अरण्य गान कहा जाता है। इनका गायन अरण्य या वन में किया जाना चाहिये।

सामवेद और संगीत—गायन के क्षेत्र में सामवेद की परम्परा का विकास हुआ। छांदोग्य उपनिषद् में बताया गया है कि महर्षि अंगिरस ने देवकीपुत्र श्रीकृष्ण को जब वेदांत का उपदेश दिया, तो उन्होंने सामवेद के गायन की विधियाँ भी श्रीकृष्ण को समझायी थीं। इन विधियों में से एक आगे चल कर 'छालिक्य' कहलायी। कृष्ण ने इस विधा का विस्तार मुरली के स्वरों में भी किया। दुंदुभि, वेणु और वीणा इन तीन वाद्यों का उपयोग सामगायन के साथ किया जाता था। छांदोग्य उपनिषद् में साम गायन की प्रक्रिया के पाँच अंग बताये गये हैं—हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधान। सामगायन की लय के प्रकार निम्नलिखित हैं—क्रुष्ट, प्रथमा, द्वितीया, चतुर्थी, मंद्र तथा अतिस्वार्य।

अथर्ववेद

अथर्ववेद चौथा वेद है। आरम्भ में तीन ही वेदसंहिताएँ मान्य रही हैं। इनके लिए 'त्रयी' शब्द का प्रयोग होता रहा है। ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक, छांदोग्य, गौतम धर्मसूत्र, बौधायन धर्मसूत्र, मनुस्मृति आदि में तीन वेदों का बार-बार उल्लेख है, जिससे प्रतीत होता है कि अथर्ववेद का पठन-पाठन व यज्ञादि में उपयोग आरम्भ में कम था। पर यह वेद अन्य वैदिक संहिताओं के ही समान प्राचीन है। ऐतरेय ब्राह्मण और गोपथ ब्राह्मणों में इसका उल्लेख है। ज्ञान तथा चिन्तन की दृष्टि से अथर्ववेद को सर्वाधिक प्रामाणिक कहा जा सकता है। इसीलिए प्राचीन काल से ही इसकी एक संज्ञा ब्रह्मवेद भी रही है। गोपथ में कहा गया है—'चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः।' इसका मूल नाम 'अथर्वाङ्गिरस' था। ब्रह्मज्ञान की चर्चा होने से इसे ब्रह्मवेद, क्षत्रियों के कर्तव्यों का उपदेश होने से क्षत्रवेद, आयुर्वेद और चिकित्सा का ज्ञान प्रदान करने के कारण भैषज्यवेद, पृथ्वीसूक्त जैसा महनीय सूक्त इसमें है, इस आधार पर महीवेद, छंदोवेद आदि भी इसके नाम प्रचलित हैं।

शाखाएँ—पतंजलि ने अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख किया है। इनके नाम इस प्रकार हैं—पैप्पलाद, तौद, मौद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवेद, देवदर्श तथा चारणवैद्य। वर्तमान में इनमें शौनकीय शाखा सर्वाधिक प्रचलित है।

विभाजन—अथर्ववेद (शौनकीय शाखा) में २० कांड, ७३१ सूक्त और ५९८७ मंत्र हैं। सूक्तों में मंत्रों की संख्या सुनिश्चित पद्धति से विनियोजित की गयी है। जैसे—पहले पाँच काण्डों में प्रत्येक सूक्त में क्रमशः ४, ५, ६, ७, ८ मंत्र हैं। अथर्ववेद का लगभग चतुर्थांश ऋग्वेद से उद्धृत है। पंद्रहवें तथा सोलहवें काण्डों में गद्य का प्रयोग भी है।

विषयवस्तु—विषयों की विविधता की दृष्टि से अथर्ववेद चारों वेदसंहिताओं में अद्वितीय है। इसमें निम्नलिखित विषयों का समावेश हुआ है—(१) **स्थालीपाक** या **अन्नसिद्धि**, (२) **मेधाजनन** (बुद्धि बढ़ाने के उपाय), (३) **ब्रह्मचर्य**—शिष्य के लिए आदर्श दिनचर्या, (४) **राष्ट्रसंवर्धन**—ग्रामों, नगरों या जनपदों तथा सारे देश की अभिवृद्धि और समृद्धि के लिए चिन्तन, (५) **परिवार का अभ्युदय**—पुत्र-पुत्री, पशु, धन-धान्य, वाहन आदि की प्राप्ति (६) **साम्मनस्य**—समाज में सौहार्द की प्रतिष्ठा, (७) **राजकर्म**—प्रजा के अभ्युदय के लिए राजा के कर्तव्य, (८) **सामरिक**—सेना और युद्ध सम्बन्धी विवेचन, (९) **पापक्षयकर्म**—पापों के निवारण के उपाय, (१०) **भैषज्य**—रोगों का उपचार, (११) **संस्कार**—गर्भाधान, पुंसवन आदि संस्कार। (१२) **अभिचार**—मंत्रों के द्वारा दूसरों को वश में करना, शत्रु का नाश करना। (१३) **दर्शन**—तत्त्वमीमांसा विषयक चिंतन, (१४) **आयुष्य**—स्वास्थ्य तथा आयु बढ़ाने के उपाय, (१५) **याज्ञिक विधि।**

अथर्ववेद में लौकिक विषयों तथा उस समय की जनजातियों के आचारों का समावेश इसकी अपनी विशेषता कही जा सकती है। अभिचार और आयुर्वेद का जितना गहन ज्ञान अथर्ववेद में है, उतना वैदिक साहित्य के अन्य किसी ग्रंथ में नहीं। औषधियों के वर्गीकरण, उसके गुण तथा चिकित्सापद्धतियों के विवेचन की दृष्टि से अथर्ववेद आयुर्वेद के ग्रंथों व वैद्यों का पथप्रदर्शक है। इसके चौथे, छठे और दसवें काण्डों में विशेष रूप से चिकित्साशास्त्र की चर्चा है। इसी प्रकार तांत्रिक परम्परा या आगमों का भी अथर्ववेद स्रोत है।

साम्मनस्य तथा विश्वशांति की उदात्त कामना, चिंतन की परिपक्वता तथा समाज को धारण करने और दिशा-निर्देश देने वाले महान् और उदात्त विचारों के समायोजन की दृष्टि से अथर्ववेद सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में अनन्य है। संसार की प्रत्येक वस्तु को अथर्ववेद का कवि लोकमंगल के लिए विनियोजित करना चाहता है। जल के लिए कहा गया है—

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शं योरभि स्रवन्तु नः। (१/६/१)

राष्ट्र की बलशालिता और शक्ति की कामना अत्यंत ओजस्वी वाणी में अथर्ववेद में बार-बार व्यक्त की गयी है। राष्ट्राभिवर्धन सूक्त में कहा गया है—

राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे
उदसौ सूर्यो अगादिदं मामकं वचः।
यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा
सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च॥

मैं राष्ट्र के कल्याण के लिये शत्रुओं कोपरास्त करूँ। उदित होते सूर्य ने मेरा यह वचन कहा है। मैं शत्रुहन्ता, शत्रुरहित, तथा शत्रुनाशक बन कर राष्ट्र का पोषण करूँ।

विश्वशांति, पारिवारिक सद्भाव और सौहार्द की अभिव्यक्ति की दृष्टि से अथर्ववेद का साम्मनस्यसूक्त (३/३०), सौमनस्यसूक्त (६/५५) तथा राष्ट्रसभासूक्त (७/१२) हृदयग्राही है।

निर्भय होकर कर्तव्यपालन करने की कामना के साथ मनस्विता, शक्ति और संकल्प तथा मंगलभाव का समन्वय इस वेद के प्रणेताओं ने किया है। अभयसूक्त में कहा है—

अभयं न करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु।
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ (१९/१५)

काल-तत्त्व के दार्शनिक स्वरूप का गहन विवेचन अथर्ववेद के दो सूक्तों (१९/५३.५४) में मिलता है। विराट् तत्त्व की अनुभूति, कालचक्र के आवर्तन विवर्तन, मातृभूमि के प्रति अकुंठ भक्ति, कल्याण-कामना, जीवन-मूल्यों की मार्मिक अभिव्यक्ति पृथिवीसूक्त में की गयी है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को ऋषियों की समर्थ वाणी ने यहाँ प्रकट किया है। यहाँ निवास करने वाले मानव, जो तरह-तरह की भाषाएँ बोलते हैं, तथा विभिन्न धर्मों का पालन करते हैं, सब कवि की दृष्टि में एक ही धरती माँ के बेटे हैं—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः—धरती मेरी माँ है, और मैं इसका बेटा हूँ—यह इस सूक्त का केन्द्रीय भाव है। विश्व के साहित्य में इस दृष्टि से यह सूक्त अपूर्व कहा जा सकता है। धरती के प्रति अनुराग तथा समस्त समाज के लिए कल्याणभाव प्रकट करता हुआ कवि कहता है—

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्॥
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥ (१२/१/११)

(हे पृथिवि! तुम्हारे पहाड़, हिमाच्छादित पर्वत और तुम्हारे जंगल हम मानवों के लिए सुखकर हों। मैं भूरी, काली, लाल अनेक रूपों वाली विस्तीर्ण इस धरती पर अविजित और अक्षत रह कर प्रतिष्ठित रहूँ।) धरती के लिए सुकुमार संवेदनाएँ इन मंत्रों में व्यक्त हैं—

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्।

(हे पृथिवि! जो कुछ मैं तुम पर खोदता हूँ, वह शीघ्र उगे। पर हे पवित्र स्थानों वाली, खोदते समय मैं तुम्हे पीड़ा न हो, तुम्हारे मर्म को क्लेश न पहुँचे।)

वेद-संहिताओं की सामान्य विशेषताएँ

लोकमंगल तथा सामरस्य का भाव—सभी वैदिक संहिताओं में सारे समाज के लिए कल्याण की कामना प्रकट की गयी है। इसके साथ ही सारी सृष्टि में समरसता का दर्शन करते हुए ऋषियों ने मनुष्य में भेदबुद्धि को निरस्त करने का भी संदेश दिया है। ऋग्वेद के संज्ञानसूक्त (१०/१९१) में ऋषि समाज के सब मनुष्यों के लिए कहते हैं—"सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्"—तुम सब एकसाथ चलो, एकसाथ बोलो, तथा तुम्हारे मन में एक से विचार हों। मनुष्य और मनुष्य की समानता के विचार को इस सूक्त में हृदयग्राही रूप में प्रकट किया गया है—

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।

(ऋ० १०/१९/३, अथर्व० ६/६४/२)

यजुर्वेद में प्रतिपादित याज्ञिक विधिविधान के पीछे प्रतीकात्मक रूप में विश्व के कल्याण की भावना ही है। मनुष्य अपने मन के संकल्प से सब कुछ पा सकता है—इस तथ्य को हृदयंगम कराते हुए ये विधि-विधान प्रतीकात्मक रूप में संकल्प शक्ति की प्रतिष्ठा करते हैं।

मनुष्य और निसर्ग या प्रकृति का इतना सहज और घनिष्ठ सम्बन्ध अन्य किसी काव्य में नहीं मिलता। गौ के विषय में कवि भरद्वाज कहते हैं—

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥

(ऋ० ६/२८/६)

(हे गायो, तुम कृश को मोटा बना देती हो, श्रीविहीन को सुंदर बना देती हो। हे सुभाषिणी गायो, हमारे घर को मंगलमय बनाओ। सभाओं में तुम्हारी प्रशंसा होती है।)

नदियों, पर्वतों, वनस्पतियों और अरण्यों सबमें ईश्वरतत्त्व की अंतर्व्याप्ति देखते हुए ये कवि समस्त चराचर सृष्टि को सामरस्य से ओतप्रोत देखते हैं। नदियों का यह सुन्दर रूप वैदिक कवियों की आँखों से ही देखा जा सकता है—

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परियन्त्यापः।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो धृतनिर्णिगप्सु॥

(ऋ० २/३५/५)

(उत्तम प्रकार का श्रृंगार करके ये लज्जाशील युवतियों जैसी नदियाँ उस अपांनपात् देव की सेवा में उपस्थित होती हैं। वह देवता अपने तेजस्वी व सामर्थ्यपूर्ण अंगों से जल का कंचुक धारण किये हुए बिना इंधन के इन नदियों के बीच हमारे लिए आभासित हो रहा है।)

(२) देवतत्त्व—वैदिक मनीषियों की दृष्टि में जीवन के तीन स्तर हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। ये तीनों स्तर परस्पर अनुस्यूत हैं। इनमें से कोई भी शेष दो के बिना सम्भव नहीं है। प्रत्येक वस्तु के आधिभौतिक, आधिदैविक

तथा आध्यात्मिक ये तीनों रूप होते हैं। देवों के उक्त तीनों रूप संभाव्य हैं। वैदिक देवों में कुछ का भौतिक स्वरूप प्रत्यक्षगम्य है, आध्यात्मिक व प्रतीकात्मक रूप संवित् से वेद्य हैं। अग्नि, उषस्, सोम, पर्जन्य आदि देवों का भौतिक स्वरूप ज्ञायमान है। अदिति या वरुण जैसे देव अपेक्षाकृत सूक्ष्म स्वरूप में परिकल्पित हैं। पर जो भौतिक रूप में प्रत्यक्ष देव हैं, उनके भी आध्यात्मिक स्वरूप का बोध आर्ष चक्षु से हो सकता है। अग्नि का एक भौतिक रूप है, जो चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय बनता है। एक और अग्नि सब प्राणियों के भीतर है। वैदिक ऋषियों ने इसे वैश्वानर अग्नि कहा है। शतपथब्राह्मण में कहा है—

अयमग्निर्वैश्वानरः। योऽयमन्तःपुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते।

(शतपथ ब्राह्मण, १४.८.१०.१)

यह अग्नि मनुष्य की जीवनीशक्ति या ऊर्जा है। अग्नि का एक तीसरा रूप है। यह ब्रह्माग्नि है। यह हमारे चिन्तन का उत्स है। इस दृष्टि से ऋग्वेद अग्नि को ऋत का स्रोत कहता है (६/४८/५)। वह शाश्वत जीवन का केन्द्र भी है (३/२०/३)। उसका निवास मनुष्यों के हृदय में कहा गया है। वह सनातन होते हुए भी चिर नवीन है (१०/४/१)। वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और सर्वशक्तिमान् भी कहा गया है (१०/१८७/४-५; १०/११/१; १०/९१/३ तथा ३/३/४)। वह विश्वविद् तथा विश्ववेदाः कहा गया है। यहाँ तक कि सारे देवताओं को उसी का रूप माना गया। मैत्रायणी संहिता कहती है—'अग्नि ही ऋषि है।' इस तरह ये आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीनों अग्नियाँ वैदिक ऋषियों की दृष्टि में एक ही तत्त्व के तीन रूप हैं।

यास्क ने वैदिक कवियों की देवदृष्टि के विवेचन में उचित ही कहा है कि महैश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण एक ही देव का आत्मा विविध रूपों में शंसित होता है। सारे देवता एक ही आत्मा के अंश हैं। प्रकृति के सार्वात्म्य के कारण ये सारे देवता एक दूसरे से जन्म लेते हैं, और एक दूसरे को उत्पन्न भी करते रहते हैं। आत्मा ही इनका रथ है, आत्मा ही इनका आयुध है और वही इनका सब कुछ है।

'महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनो अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। प्रकृतिसार्वात्म्याच्च। इतरेतरजन्मानो भवन्ति इतरेतरकृतयः। आत्मा वैषां रथो भवति। आत्मायुधम्। आत्मा सर्वस्य देवस्य।' (निरुक्त, ७/२)

वेदों में ही देवों की ३३ संख्या की चर्चा अनेकत्र आयी है। यह प्रश्न विचारणीय है कि ये ३३ देव कौन-कौन हैं? शतपथ के अनुसार आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य तथा इंद्र और प्रजापति मिलकर ३३ देवता होते हैं। अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्र—ये वसु हैं। पुरुष के भीतर निहित दशविध प्राण और आत्मा मिलकर ग्यारह रुद्र होते हैं। बारह मास तथा संवत्सर आदित्य हैं।

देवता और मनुष्य का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित होता है। देवता के बिना मनुष्य नहीं और मनुष्य के बिना देवता नहीं। कदाचित् अन्य किसी संस्कृति में देवता की ऐसी मानवसापेक्ष परिकल्पना नहीं है। देवता और मनुष्य का यह परस्पर उपकार्योपकारक—

भावसम्बन्ध सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याण के लिए परिकल्पित है। इस दृष्टि से यह कहना भी सही है कि मनुष्य स्वयं देवों का निवासस्थल है। ताण्ड्य ब्राह्मण (६/९/२) कहता है—'नरो वै देवानां ग्रामः।' मैत्रायणी संहिता (३/२/२) भी यही कहती है कि मनुष्य में ही सारे देवता निवास करते हैं—'विश्वे हींदं देवा स्मो यन्मनुष्यः।' इसलिए मानवसृष्टि जब हो चुकती है, तो उसके पश्चात् मनुष्य के द्वारा संपादित यज्ञ या सत्कर्म तथा शिवसंकल्प से उसमें देवताओं का प्रकटीकरण संभव होता है। नासदीय सूक्त इस दृष्टि से स्पष्ट कहता है—देवता इस सृष्टि से अर्वाचीन है—अर्वाक् देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव। (ऋ० १०/१२९/६)। मनुष्य देवों को आविष्कृत और संवर्धित करता है। वे उसके सूक्त से बढ़ते हैं। अग्नि के विषय में ऋग्वेद का कवि कहता है—'स वावृधे काव्येन।' इसी तरह इंद्र के विषय में भी ऋषि कहते हैं—उक्थैः वावृधानः (ऋ० २/११/२), ब्रह्माणि इंद्र तव यानि वर्धना (२/५२/९), यस्येदं ब्रह्म वर्धनम् (२/१२.१४), यः स्तोमेभिर्ववृधे पूर्व्येभिः (२/३२/१२), इंद्र ब्रह्माणि तविषीम् अवर्धन् (५/३१/१०)

इस संस्कृति में देवों के आवाहन, आराधन और ध्यान के द्वारा मनुष्य अपने आप को और अपने पर्यावरण को दिव्य स्वरूप दे देता है। हम भौतिक प्रतीत होने वाले पदार्थों की वास्तविक दिव्यता को भी इसी कारण प्रत्यक्ष कर पाते हैं।

गयाचरण त्रिपाठी कहते हैं—"संसार के अन्य किसी देश में देवों के स्वरूप के विकास का सहस्रों वर्ष लम्बा इतिहास और देव-कथाओं के विकास की इतनी लम्बी परम्परा प्राप्त नहीं होती, जितनी भारत में। सहस्रों वर्षों पूर्व वैदिक ऋषियों की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि, निरीक्षण-क्षमता एवं कल्पनाशक्ति ने जिन देवों की उद्भावना की थी, उनके स्वरूप का आने वाली पीढ़ी के हाथों क्रमशः परिवर्धन एवं परिवर्तन होता चला गया और एक चित्रात्मक वैविध्यपूर्ण तथा सजीव देवशास्त्र का जन्म हुआ।"

वैदिक, पौराणिक व लोक में जन्म लेते नये-नये देवों के मूल तत्त्व एक हैं। देवतत्त्व का आशय विविधता में एकता ही नहीं, एकता में विविधता भी है। सब कुछ एक मूल से निकला है। ऋग्वेद (१/१६४/४६) में कहा गया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋग्वेद के आठवें मंडल में कहा गया है—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध
एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति
एकं वा इदं विबभूव सर्वम्॥

अग्नि ही इन्द्र, वृषभ, उरुगाय, विष्णु, ब्रह्मा और ब्रह्मणस्पति भी है—त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि, त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः। त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते (वही, ८/५८/२)

अथर्ववेद में तो सारे देवों की मूलभूत एकता का विचार और भी सुस्पष्ट तथा सुदृढ़ रूप में अनेकत्र अभिव्यक्त किया गया है।

एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्य
एक एव नमस्यः सुशेवाः। (२/२/१-२)
योऽयमर्यमा स वरुणः स रुद्रः महादेवः।
सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः॥ (१३/४/४-५)
एको ह देवो मनसि प्रविष्टो प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः।
(१०/८/२८)

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः॥ (१०/७/२७)

कठोपनिषद् (५/९) इसी परम्परा में अग्नि को समस्त ब्रह्माण्ड में अनुप्रविष्ट और प्रत्येक रूप के समतुल्य प्रतिरूप की सृष्टि करने वाला बताता है—अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।

कुल मिलाकर सृष्टि देवमय ही है। देवतत्त्व सर्वत्र अनुस्यूत तथा आवर्तमान है। अथर्ववेद इसका सृष्टि के विभिन्न पदार्थों में अनुभव कराते हुए कहता है—

ये देवा दिवि तिष्ठन्ति, ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुषु अप्सु अन्तः।
(१/३०/३)

इस प्रकार एक में सारे देवता हैं, और सारे देवताओं में एक तत्त्व अधिष्ठित है। देवतत्त्व के विषय में विविधता में एकता भी सत्य है और एकता में विविधता भी उतना ही सत्य है। सृष्टि के विषय में भी इस परम्पराकी यह अवधारणा है। उसमें एक तत्त्व समाया हुआ है और एक से ही वह विविध हुई है। यही वैदिक देवतत्त्व का मर्म है।

यज्ञ-भावना—वैदिक संहिताओं में जिस यज्ञ का निरूपण है, वह केवल अनुष्ठान या कर्मकाण्ड नहीं है। वह अपने आपको देवमय या ईश्वरमय बनाने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में मनुष्य अपने सीमित अहं की आहुति देकर विराट् से एकाकार हो जाता है। यज्ञीय आहुति इसी सीमित अहं के विसर्जन और समष्टि से जुड़ने की प्रतीक है। यज्ञ के द्वारा यजमान विश्व को संचालित करने वाली शक्तियों से ऊर्जा की प्राप्ति करता है। निम्नलिखित मंत्रों में शक्ति या तेजस्विता की कामना इसी प्रक्रिया को इंगित करती है—

ओ३म् तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
वीर्यमसि वीर्यं मयि देहि।
बलमसि बलं मयि देहि।
सहोऽसि सहो मयि धेहि।

अग्निचयन की प्रक्रिया में स्थापित की जाने वाली विशाल वेदी तो सृष्टि की प्रतीक ही है।

यजुर्वेद के तीसवें अध्याय के अनुसार अश्वमेध आदि वैदिक यज्ञों में सूत की उपस्थिति आनुष्ठानिक रूप से अनिवार्य थी। सूत, शैलूष आदि की उपस्थिति नृत्त, गीत आदि के अनुष्ठानों के सम्पादन के लिए भी आवश्यक थी। वैदिक वाङ्मय में सूत के लिए रथकार शब्द भी प्रयुक्त है। अहन्ति या अहन्त्य भी सूत के पर्याय कहे गये हैं।

ऋग्वेद में कारु (बढई) शब्द का प्रयोग तो मिलता है, रथकार शब्द का नहीं। अथर्ववेद से संकेत मिलता है कि रथकार और कर्मार को समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। वैदिक यज्ञों में नृत्त, गीत, वादन आदि भी आनुष्ठानिक रूप से अनिवार्य अंग रहे हैं।

(४) लौकिकता तथा श्रम की प्रतिष्ठा—ऋग्वेद में अनेक सूक्त लौकिकता या ऐहलौकिक आस्था की उज्ज्वल रूप में अभिव्यक्ति हैं। उदाहरण के लिए सूर्यासूक्त (१०/८५) में सूर्या के विवाह के वर्णन के द्वारा उस समय के वैवाहिक लोकाचार, वधू की विदाई के समय उसके परिजनों के द्वारा कहे जाने वाले वचनों तथा गृहस्थ जीवन की उदात्तता को सुन्दर तथा मार्मिक रूप में प्रकट किया गया है। अरण्यानी सूक्त (१०/१४६) जंगल के सारे वातावरण, वहाँ लकड़हारों का लकड़ी काटना, चिड़ियों तथा अन्य पशुओं के द्वारा उत्पन्न की जाने वाली ध्वनियों के साथ अरण्यानी का दैवीय ही नहीं, लौकिक स्वरूप में चित्रोपम रूप भी साकार कर देता है। वैदिक काव्य द्रष्टा मनीषियों का ही नहीं, श्रमजीवियों का भी काव्य है। वेद का ऋषि-कवि कहता है—'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना' (ऋग्वेद ९/११२)। अर्थात् मैं कवि हूँ और बढई भी हूँ। मेरा पिता वैद्य है। मेरी माँ चक्की चलाती है। यह कवि आध्यात्मिक स्तर पर मंत्रद्रष्टा तथा ऋषि है, तो आधिभौतिक स्तर पर कृषक या श्रमिक भी है। वह देवों का आवाहन भी करता है और खेत-खलिहान में विचरण भी करता है। आधिभौतिक का आध्यात्मिक और आधिदैविक के साथ यह सहकार ही राष्ट्र के उन्नयन की आधारशिला है। कृष्टि शब्द ऋग्वेद में इसीलिए अर्थविस्तार प्राप्त करता हुआ समग्र समाज और सम्पूर्ण संस्कृति का वाचक भी हो जाता है। कृष्टि या कृषि पर ही सारे जीवन और जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठा करने वाले समाज में ही ऐसा संभव था। ऐसी स्थिति में विंटरनित्स तथा रामजी उपाध्याय जैसे आलोचकों ने ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों को श्रमिक के गीत ही कह दिया—तो यह अनुचित नहीं कहा जा सकता। इसी तरह सीता या हल की फाल को सम्बोधित एक पूरा सूक्त किसानों के द्वारा गाया जाने वाला गीत है (ऋ०, ४.५७)। ऋग्वेद का ही अरण्यानी सूक्त लकड़हारों के श्रम की समाशंसा करता है।

ऋग्वेद के एक सूक्त में सूर्यास्त का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

समाववर्ति विष्ठितो जिगीषुर्विश्वेषां कामश्चरताममाभूत्।
शश्वाँ अपो विकृतं हित्व्यागाद व्रतं सवितुर्दैव्यस्य॥

(ऋ०, २.३८.६)

(अपने-अपने इच्छित विषय की प्राप्ति की अभिलाषा से प्रेरित होकर विभिन्न स्थानों पर दिन भर काम करने वाले लोग संध्या के समय लौट कर घर आ गये हैं। दिन भर इधर-उधर भटकने वाले प्राणियों की अपने-अपने बसेरे की ओर लौटने की इच्छा हो गयी है। सविता के नियम का पालन करते हुए अधूरा काम छोड़ कर भी काम करने वाले लोग घर लौट आये हैं।) इस मंत्र में कवि की दृष्टि श्रमिकों पर लगी हुई है।

वैदिक कवि अपनी काव्यरचनाप्रक्रिया बताते हुए वे उपमान भी श्रमिक लोगों के जीवन से ही उठाते हैं। वे कहते हैं कि जैसे जुलाहा कपड़े बुनता है, ऐसे ही हमने

ये सूक्त या काव्य रचे हैं (**वस्त्रेण भद्रा सुकृता वसूयू**- ऋ० १०.७१.८), या जैसे बढई ठोक पीट कर, तराश कर रथ बनाता है, ऐसे ही हमने कविता रची है—(**रथं न धीराः स्वपा अतक्षम्**—ऋ० ५.१९.१५)। जैसे चलनी से सत्तू छाना जाता है, ऐसे ही वैदिक मनीषियों ने वाणी को मन की चलनी से छान-छान कर मंत्रों में व्यक्त किया है—(**सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनया वाचमक्रत**- ऋ० १०.७१.२)।

वेद के कवियों की कामना है कि हमारी समृद्धि पाँच जनों में प्रकाशित हो (ऋ० २.२.१०)। जन के लिए यहाँ कहा गया है—**पञ्चसु कृष्टिषु**। कृष्टि शब्द ऋग्वेद में मूलतः उस भूमि के लिए आया है, जिस पर कर्षण या कृषि की जाती है। भूमि के साथ उस पर बसने वाले जन भी कृष्टि कहे जाने लगे। कृष्टि या खेती के द्वारा पाई हुई समृद्धि को पाँच जनों में बाँटने की कामना वेद में बार-बार की गई है। इन्द्र कृषि का देवता है। उसके विषय में कहा गया है कि उसकी शक्तियाँ पाँच जनों में व्यक्त हैं (ऋ० ३.३७.९)। सरस्वती पाँच जनों का संवर्धन करती है (ऋ० ६.६१.१२)।

कृष्टि शब्द वेद में केवल कृष्य भूमि तथा कृषिकर्मनिरत जनसमुदाय का ही बोधक नहीं है, वह समग्र संस्कृति का भी पर्याय है। ऋग्वेद के उल्लेखों के आधार पर मैक्डानल यह भी स्वीकार करते हैं कि कृषि इन आर्यों के लिए परम गौरवपूर्ण कार्य था। इन्द्र और अग्नि को ऋग्वेद में कृष्टि कहा गया है (ऋ० १.५९.५; ६.१८.२), जिसका आशय यह है कि ये देव अपने कृषि कर्म के कारण श्रेष्ठ हैं। ऋग्वेद यह भी कहता है—

उत नः सुभगो अरिर्वोचुर्यदस्म कृष्टयः। (ऋ० १.४.५)

अर्थात् हमारे शत्रु भी यह कहते हैं कि हम लोग कृष्टि या खेती-किसानी करने वाले लोग हैं। सायण ने यहाँ कृष्टि का अर्थ मनुष्य किया है। उन्होंने निरुक्त का प्रमाण भी दिया है जिसमें पच्चीस प्रकार के मनुष्य बताये गये हैं, इनमें से कृष्टि भी एक है। मूलतः कृष्टि कर्षण या खेती करने वाले लोग ही हैं।

उषा या भोर की देवी का गुणगान भी इसलिए किया गया है कि वह कर्म में प्रवृत्त करती है। उसके आकाश से अवतरित होने पर पाँवों वाले लोग काम के लिए घर से निकल पड़ते हैं, सागर में मल्लाह नावें तिरा देते हैं, और सारा जगत् जाग्रत् हो जाता है। (ऋ० १.१२४)

इन्द्र वैदिक वाङ्मय में श्रम का देव भी है। वह श्रम करने वालों का सखा है। वृत्रासुर फसल को खराब करने वाला तथा सूखे का राक्षस है। वह फसल नष्ट करने के लिए सूखा बनता है, इन्द्र पृथ्वी को उससे मुक्त करता है। वह जलों के बहने के लिए खोद कर मार्ग बनाता है (ऋ० ७.४७.४)।

ऋग्वेद में क्षेत्रपति को सम्बोधित सूक्त खेत-खलिहान और गाँव-गिराँव से उठी एक आत्मीय पुकार है।

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।
गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे॥

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्च्युतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु॥

(ऋ० ४.५७.१-२)

क्षेत्रपति या खेत के रखवाले देवता के लिए यहाँ कृषक कवि ने गुहार लगाई है। वह खेत से मधुमय अन्न उपजाये तथा गायों को प्रचुर दूध दुहाने वाली बनाये। यह क्षेत्रपति ग्रामीण समाज में पूजा जाने वाला स्थानीय देव है। वैदिक काल से लगा कर आज तक यह कृषि या जमीन से जुड़े कारोबार करने वाले लोगों के समाजों में अलग-अलग रूपों में पूजा जाता रहा है। क्षेत्रपति के साथ ही इन्द्र तथा सीता भी कृषिप्रधान समाज के ही देवता हैं। सीता हल की फाल है।

कृषि एक गौरवमय कर्म है। कितव सूक्त में जुआरी अपने जीवन के अध:पतन और दुरवस्था पर पछताता हुआ अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचता है—**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषत्व**—जुआ मत खेलो, कृषि करो।

ऊपर उद्धृत सूक्त में कवि ने सीता के निगृहण के लिए इन्द्र का आह्वान किया है। वह चाहता है कि लांगल धरती को अच्छी तरह जोते। इस तरह उसने अपने यहाँ की लघु परम्पराओं से जन्मे क्षेत्रपति तथा सीता इन दोनों देवताओं को इन्द्र की महती परम्परा से भी जोड़ दिया है।

अथर्ववेद तो इन लघु परम्पराओं का बृहत् संग्रह है। इसके क्षेत्रियरोगनाशनसूक्त (२.८) में खेत की मिट्टी से गहरा लगाव व्यक्त है। कवि-ऋषि बभ्रु, अर्जुनकाण्ड, पलाली, तिल, तिलपिञ्जी तथा सारी लताओं और वनस्पतियों के रोग दूर होने की प्रार्थना करता है। पशुसंवर्धन सूक्त (२.२६) में कामना है कि गोष्ठ में पशु बढ़ते रहें।

इमं गोष्ठं पशवः संस स्रवन्तु बृहस्पतिरायनतु प्रजानन्।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ॥

(अथर्व०, २.२६.२)

कवि अपने खेत में धान्य की स्फीति होने की कामना करता है (वही, २.२६.३)। **पशुसूक्त** (२.३४), **पशुपोषणसूक्त** (३.२७) तथा **अनड्वान् सूक्त** (४.११) में भी यही भाव है। **गोष्ठ सूक्त** (२.३४) में गायों के बाड़े का सहज सजीव रूप मूर्त है।

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः।
बिभ्रतीः सौम्य अध्वनमीवा उपेतन।
मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम॥

(वही, ३.१४.६)

गायों के लिए अथर्ववेद में ही **ब्रह्मा का सूक्त** (४.२१) ग्वालों के मनोभावों की सजीव अभिव्यक्ति है। यह गायों को ले कर रचा सहज राग का काव्य भी है। कवि गायों को सुखी और स्वस्थ देखना चाहता है।

उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव।
मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत्॥
आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वाच्छावदामसि।
तदुच्छ्रयस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः॥

(अथर्व०, ६.१४२.१-२)

धरती के प्रति गौरव और आदर के भाव के कारण विविध वनस्पतियों, शस्यों और फलों को उपजाने वाली धरती को भी माता या देवी के रूप में उन्होंने देखा। ऋग्वेद में भूमिसूक्त (५.८४) में जहाँ कहा गया—

दृळहा चिद् या वनस्पतीन् क्ष्मया दर्धर्व्योजसेन

तो अथर्ववेद के भूमिसूक्त (अ०, १२) में इसी भाव का पल्लवन करते हुए कवि ने 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' की अनुभूति की।

ब्राह्मण

मंत्रों की रचना के साथ-साथ उनकी व्याख्या की परम्परा भी प्राचीन काल में प्रचलित हुई। इस व्याख्या की परम्परा का विकास ब्राह्मण ग्रंथों के रूप में हुआ। ब्रह्म का अर्थ ज्ञान है। वैदिक संहिताओं के ज्ञान की व्याख्या करने वाले ग्रंथ ब्राह्मण हैं। परम्परा में ब्राह्मण ग्रंथों की व्याख्यापद्धति के प्रमुख अंग निम्नलिखित बतलाये गये हैं—हेतु, निर्वचन, निंदा, प्रशंसा, संशय, विधि, परक्रिया, पुराकल्प, व्यवधारण-कल्पना तथा उपमान। इन दस विधियों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१. **हेतु**—किसी अनुष्ठान विधि के पीछे निहित कारण को स्पष्ट करना।
२. **निर्वचन**—व्युत्पत्ति के द्वारा यज्ञ में प्रयोज्य वस्तु की सार्थकता समझाना।
३. **निन्दा**—याग में अप्रयोज्य अप्रशस्त वस्तु के दुर्गुण का प्रतिपादन।
४. **प्रशंसा**—जिस देवता के लिये याग किया जा रहा है, उस का गुणगान।
५. **संशय**—यजमान के चित्त में अनुष्ठान को लेकर उठे सन्देह की व्याख्या।
६. **विधि**—याज्ञिक अनुष्ठान के विधान का निर्देश।
७. **परकृति**—अन्य के उपकारार्थ किये जाने वाले कार्य का निर्देश।
८. **पुराकल्प**—प्राचीन आख्यान।
९. **व्यवधारणकल्पना**—अनुष्ठान में संख्या आदि बताकर विशेष निर्धारण।
१०. **उपमान**—समानता के आधार पर उदाहरण या दृष्टान्त देना।

इन पद्धतियों को अपना कर ब्राह्मण ग्रंथों में निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है—विधि, अर्थवाद तथा दोनों का मिश्रण। विधि के चार प्रकार कहे गये हैं—उत्पत्ति (देवता के स्वरूप का ज्ञान), अधिकार (कर्म से प्राप्त होने वाले फल का विवेचन), विनियोग (मंत्रों का याज्ञिक प्रक्रिया में उपयोग) और प्रयोग (इन तीनों का सम्मिलित रूप में ग्रहण)।

अर्थवाद ब्राह्मण ग्रंथों में विशेष विषय है। इसके भी तीन प्रकार हैं—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। इसके लक्षण इस प्रकार हैं—

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा तः॥

उपर्युक्त दस प्रकार की पद्धतियों तथा विधि और अर्थवाद के द्वारा ब्राह्मण ग्रंथ वैदिक संहिताओं की आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करते हैं। सभी ब्राह्मण ग्रंथ गद्य में हैं।

प्रत्येक वेदसंहिता के अपने-अपने ब्राह्मण ग्रंथ थे। ब्राह्मण ग्रंथों की विशाल परम्परा प्राचीन काल में विकसित हुई। आज बहुसंख्य ब्राह्मण ग्रंथ लुप्त हो चुके हैं। इनमें से अनेक के तो नाम भी ज्ञात नहीं हैं, जितने ब्राह्मणग्रंथों के नाम विदित हैं, वे सब भी प्राप्त नहीं होते हैं। विभिन्न संहिताओं से संबद्ध ब्राह्मणों के नाम इस प्रकार हैं—

ऋग्वेद के ब्राह्मण—ऐतरेय, शांखायन या कौषीतकि।

शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण—शतपथ।

कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण—तैत्तिरीय

सामवेद के ब्राह्मण—पंचविंश या तांड्य, षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, दैवत, उपनिषद्, संहितोपनिषद्, वंश, जैमिनीय (तलवकार)।

अथर्ववेद का ब्राह्मण—गोपथ।

इनमें से कुछ ब्राह्मण आरण्यक या उपनिषद् के रूप में ही मिलते हैं। प्रमुख ब्राह्मणग्रंथों का परिचय इस प्रकार है—

ऐतरेय ब्राह्मण—यह ऋग्वेद का ब्राह्मण है। इसके रचयिता इतरा दासी के पुत्र ऐतरेय महीदास कहे गये हैं, इसमें चालीस अध्याय तथा आठ पंचिकाएँ (पाँच-पाँच अध्यायों का समूह) तथा २८५ कंडिकाएँ हैं। होता नामक ऋत्विक् के कर्तव्य की विशद व्याख्या इस ब्राह्मण में की गयी है। शुनःशेप, हरिश्चंद्र आदि के महत्त्वपूर्ण आख्यान भी इसमें हैं, तथा संस्कृति, शिल्पकला और अनेक दार्शनिक अवधारणाओं की भी व्याख्या है। इस ब्राह्मण से ईसा के पहले की दो या तीन सहस्र वर्ष पूर्व की सामाजिक स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। इसमें भारत में रहने वाली उस समय की विभिन्न जनजातियों का उल्लेख है। इस ब्राह्मण पर सायण का भाष्य उपलब्ध है।

शांखायन ब्राह्मण—यह ऋग्वेद की बाष्कल शाखा का ब्राह्मण है। इसका दूसरा नाम कौषीतकि ब्राह्मण भी है। इसमें ३० अध्याय तथा २२६ खण्ड हैं। प्रथम छह अध्यायों में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास तथा ऋतुयज्ञों का वर्णन है। शेष अध्यायों में सोम याग के विभिन्न प्रकार वर्णित हैं। रुद्र को देवों में श्रेष्ठ बताते हुए शिवोपासना का स्वरूप इस ब्राह्मण में प्रतिपादित है, जो देवशास्त्र के क्षेत्र में परवर्ती विकास का सूचक है।

शतपथ ब्राह्मण—यह ब्राह्मण यजुर्वेद से संबद्ध है। ब्राह्मण ग्रंथों में आकार की दृष्टि से यह अत्यन्त विपुलकाय है। इसमें सौ अध्याय हैं। याज्ञिक क्रियाओं का इसमें विस्तार से निरूपण है। शुक्ल यजुर्वेद की काण्व तथा माध्यंदिन दोनों शाखाओं के अलग-अलग शतपथ ब्राह्मण उपलब्ध होते हैं। दोनों का विभाजन अलग-अलग है। माध्यंदिन

शतपथ में १४ कांड, सौ अध्याय और ७६२४ कंडिकाएँ हैं। काण्वशाखा के शतपथ में १७ कांड, १०४ अध्याय तथा ६८०६ कंडिकाएँ हैं। इस ब्राह्मण में दर्शपूर्णमास, पितृपिंड, आग्रायण, चातुर्मास्य सोमयाग, राजसूय, अग्निचयन, सौत्रामणि, अश्वमेध आदि यज्ञों का विस्तार से वर्णन है। अनेक आख्यानों व चर्चाओं के द्वारा इसमें वैदिक काल की संस्कृति पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। इसमें मिलने वाले मुख्य आख्यान हैं—उर्वशी का आख्यान, राम की कथा, अश्विनीकुमारों की कथा, जलप्रलय की कथा, मन और वाणी का विवाद आदि। महाभारत के अनेक आख्यानों, उपाख्यानों तथा कालिदास के नाटक विक्रमोर्वशीयम् का मूलस्रोत शतपथ के आख्यानों में मिलता है। शतपथ की एक विशेषता यह है कि वैदिक मंत्रों के समान यह आद्यंत स्वरांकित या स्वरचिह्नों से युक्त है।

तांड्य ब्राह्मण—यह सामवेद का ब्राह्मण है। पंचविंश ब्राह्मण या महाब्राह्मण के नाम से भी यह प्रसिद्ध है। इसकी पंचविंश संज्ञा पच्चीस अध्यायों में विभक्त होने के कारण रूढ़ हुई है। प्रौढ़ ब्राह्मण भी इसका नाम मिलता है। यह संज्ञा इसकी विशालता के कारण प्रचलित हुई है। इसमें एक दिन से लगा कर सहस्र संवत्सर तक चलने वाले यज्ञों का वर्णन है। सोम याग का प्रतिपादन विस्तार से किया गया है। प्राचीन आख्यानों का यह एक समृद्ध संग्रह है।

षड्विंश ब्राह्मण—यह तांड्य ब्राह्मण का परिशिष्ट है, तथा तांड्य के पच्चीसवें अध्याय के अनंतर छब्बीसवाँ अध्याय जोड़ कर फिर इसमें नये अध्याय जोड़े गये हैं। इस ब्राह्मण में दैवी विपत्तियों की शांति का वर्णन है। अनेक लोकविश्वासों तथा अभिचारों का भी वर्णन इसमें किया गया है, जिनके कारण इसकी एक संज्ञा अद्भुतब्राह्मण भी है।

सामविधान—इस ब्राह्मण में व्रतों, प्रायश्चित्तों व काम्य कर्मों का विशेष वर्णन है। अनेक ऐंद्रजालिक तथा आभिचारिक प्रयोग भी इसमें वर्णित हैं तथा गृहप्रवेश, ऐश्वर्यप्राप्ति और उपद्रव शांति का भी वर्णन है। सायण ने इस पर भी भाष्य लिखा था। देवतातत्त्व तथा छंदःशास्त्र का विवेचन होने के कारण इसका अपना महत्त्व है।

उपनिषद् ब्राह्मण—इस ब्राह्मण का ही एक भाग मंत्र ब्राह्मण या छांदोग्य ब्राह्मण है। इसका विभाजन दस प्रपाठकों में हुआ है, जिनमें से प्रथम दो मंत्र छांदोग्य ब्राह्मण के हैं। इसमें गृह्य संस्कारों में प्रयुक्त किये जाने वाले मंत्र निर्दिष्ट हैं। सायण ने इस पर भी भाष्य लिखा था। छांदोग्य उपनिषद् इसी का एक भाग है।

आर्षेय ब्राह्मण—इस ब्राह्मण का विभाजन तीन प्रपाठकों तथा ८२ खण्डों में हुआ है। इसमें सामवेद की अनुक्रमणी या ऋषियों की सूची प्राप्त होती है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

दैवत ब्राह्मण—यह सामवेद के ब्राह्मणों में सबसे लघु आकार का ब्राह्मण है। सायण ने इस पर भी भाष्य लिखा था।

संहितोपनिषद् ब्राह्मण—इस ब्राह्मण में सामगायन के प्रकार व विधि का निरूपण है। यह पाँच खण्डों में विभाजित है। सायण ने इसके प्रथम खण्ड पर भाष्य लिखा था।

वंश ब्राह्मण—यह ब्राह्मण तीन खण्डों में विभाजित है। आर्षेय ब्राह्मण के समान इसमें भी सामवेद के ऋषियों की विवरणिका दी गयी है, तथा उनकी वंशपरम्परा पर भी प्रकाश डाला गया है।

जैमिनीय ब्राह्मण—यह सामवेद की जैमिनीय शाखा का ब्राह्मण है। आकार में यह शतपथ ब्राह्मण के समान विशाल है। इसके प्रथम तीन अध्यायों में याज्ञिक विधान वर्णित है। चतुर्थ तथा पंचम अध्यायों में क्रमशः उपनिषद् ब्राह्मण तथा आर्षेय ब्राह्मण समाविष्ट हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण—यह कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण है। इस वेद का स्वतंत्र रूप से प्राप्त होने वाला यह एकमात्र ब्राह्मण है। शतपथ ब्राह्मण के समान यह भी स्वरांकित है। इसमें तीन कांड हैं। प्रथम और द्वितीय कांड आठ-आठ अध्यायों में विभाजित होने से अष्टक भी कहे जाते हैं। तृतीय कांड में बारह अध्याय या अनुवाक हैं। अनेक यज्ञों का विस्तार से इसमें प्रतिपादन है, तथा इन यज्ञों में विनियोग के लिए ऋग्वेद के मंत्र बहुशः उद्धृत हैं।

मैत्रायणी ब्राह्मण—यह ब्राह्मण यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता का ही अंतिम भाग है। इसमें अनेक प्राचीन आख्यानों का समावेश किया गया है। पंखों से युक्त पर्वत, रात्रि की उत्पत्ति आदि आख्यान महत्त्वपूर्ण हैं।

गोपथ ब्राह्मण—यह अथर्ववेद का एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण है। इसके रचयिता गोपथ ऋषि कहे गये हैं। यह पूर्वगोपथ तथा उत्तर गोपथ दो भागों में विभक्त है। पूर्व गोपथ में पाँच तथा उत्तर गोपथ में छः प्रपाठक हैं।

ब्राह्मणग्रंथों का महत्त्व

ब्राह्मण ग्रंथ वास्तव में वैदिक संस्कृति के विश्वकोश हैं। वे मनुष्य के सामाजिक दायित्वों तथा समाज की नियामक शक्तियों की व्याख्या करते हुए सार्वभौम सिद्धान्तों की गवेषणा के प्रथम गंभीर प्रयास भी कहे जा सकते हैं। वैयाकरणिक, दार्शनिक, भाषाशास्त्रीय तथा नैतिक चिंतन की पीठिका ब्राह्मण ग्रंथों के द्वारा सुदृढ़ रूप से निर्मित की गयी, आगे चल कर इसी पीठिका पर भारतीय चिंतनपरम्पराओं के विभिन्न प्रासाद खड़े किये गये।

ब्राह्मण ग्रंथों की बहुत बड़ी विशेषता समाज को सत्पथ पर अग्रसर करने के संदेश में निहित है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों तथा व्यक्ति के सामाजिक और वैश्विक दायित्वों की पूर्ति के लिए ब्राह्मण ग्रंथों के विचारकों ने तीन ऋणों की परिकल्पना प्रस्तुत की। संसार में जन्म लेने वाले प्रत्येक मनुष्य को ये तीन ऋण चुकाने चाहिये। ये तीन ऋण हैं—पितृऋण, देवऋण तथा ऋषिऋण। पितृऋण से अनृण होने के लिए हमें अपने पूर्वजों से जो उदात्त, महनीय और संवर्धनीय रिक्थ (विरासत) मिला है, उसकी वृद्धि करते हुए पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता की भावना व्यक्त करना चाहिये। देवऋण से अनृण होने के लिए पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों से इस विश्व में जो पर्यावरण बना है, उसकी रक्षा करनी चाहिये। ऋषि-ऋण

से अनृण होने का आशय है अपने से आयु और अनुभव में बड़े व्यक्तियों से जो ज्ञान हमें मिला है, उसका विस्तार करते हुए उसे सुयोग्य शिष्यों को प्रदान करना चाहिये।

संस्कृति को पहली बार ब्राह्मण ग्रंथों के विचारकों ने परिभाषित किया। कला, शिल्प, सौन्दर्य और काव्य के विषय में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये। शिल्प और संस्कृति के विषय में ऐतरेय कहते हैं—'आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि, छन्दोमयं वा। एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते।' (शिल्प कलाएँ मनुष्य के चित्त का संस्कार करती हैं। इनसे वह सुसंस्कृत बनता है।) स्त्री को इन विचारकों ने पुरुष की अर्धांगिनी माना है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—'**अर्धो ह वा आत्मनो यज्जाया। तस्माद् यावज्जायां न विन्दते, नैव तावत् प्रजायते, असर्वो हि तावद् भवति। अथ यदैव जायां विन्दते, अथ प्रजायते, तर्हि सर्वो भवति।**' अर्थात् पत्नी मनुष्य की अर्धांगिनी है। जब तक वह उसे प्राप्त नहीं करता, तब तक वह अपूर्ण रहता है। उसे प्राप्त करके वह पूर्ण बनता है, और उसका नया जन्म होता है। इसी प्रकार सत्य, श्रम और सत्कर्म की प्रतिष्ठा करते हुए इन ग्रंथों में ये सिद्धान्त-वाक्य कहे गये हैं—

सत्यमेव देवाः। (शतपथ ब्रा०, १/१/६)

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति। (ऐतरेय ब्रा०, ६/२/१)

जो श्रम नहीं करता, उसके लिए लक्ष्मी नहीं है।

इन्द्र इच्चरतः सखा। (वही, ७/१५)

जो चल रहा है या श्रम कर रहा है, इंद्र उसी का मित्र है।

न श्वः श्वमुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वो वेद।

(शतपथ ब्रा०, २/१/३/९)

आज का काम कल पर छोड़ने का विचार न करे, कल किसने देखा है?

मधुजिह्वो वै स देवेभ्य आसीद् द्विषज्जिह्व असुरेभ्यः।

(शतपथ ब्रा०, १/४)

(मीठा बोलने वाला देवों के लिये था और कटु बोलने वाला असुरों के लिये।)

सङ्ग्रामो वै क्रूरम्। (वही, २/५)

युद्ध क्रूरतापूर्ण होता है।

श्रमेण ह स्मवै तद्देवा जयन्ति, यदेषां जय्यमास।

(वही, ६/२)

(परिश्रम से ही देवता उसकी विजय करते हैं, जो उनके लिये विजेय है)

आरण्यक

आरण्यक ब्राह्मण ग्रंथों के ही भाग हैं। इनमें उन लोगों के यज्ञों, उपासनाविधियों व उनकी दिनचर्या का निरूपण है, जो तृतीय आश्रम (वानप्रस्थ) स्वीकार कर चुके हैं। इन ग्रंथों का पठन-पाठन अरण्यों में होने से इनकी संज्ञा आरण्यक हुई। ब्रह्मविद्याविषयक चिंतन का पल्लवन भी आरण्यकों के द्वारा हुआ। इस दृष्टि से आरण्यकों व उपनिषदों में अत्यधिक साम्य है। कई आरण्यक तो उपनिषद् के रूप में

ही मान्य हैं—जैसे बृहदारण्यकोपनिषद्। ब्राह्मण ग्रंथों की भाँति आरण्यक भी अपनी-अपनी संहिता से संबद्ध हैं। विभिन्न वैदिकसंहिताओं और ब्राह्मणग्रंथों से संबद्ध कुल ११३० आरण्यक प्राचीन काल में अस्तित्व में थे। पर अब इनमें से कुछ ही मिलते हैं। प्रमुख आरण्यकों का परिचय इस प्रकार है—

ऐतरेय आरण्यक—यह ऋग्वेद का आरण्यक तथा ऐतरेय ब्राह्मण का परिशिष्ट है। इसमें पाँच भाग हैं, जिन्हें आरण्यक ही कहा गया है। इसके द्वितीय आरण्यक में संहितोपनिषद् और ऐतरेय उपनिषद् समाविष्ट हैं। संहितोपनिषद् में शिक्षा तथा व्याकरण का विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके चतुर्थ तथा पंचम आरण्यक महाव्रत याग की विधियों से सम्बन्धित हैं।

शांखायन आरण्यक—यह भी ऋग्वेद का आरण्यक तथा शांखायन ब्राह्मण का परिशिष्ट है। इसमें पंद्रह अध्याय हैं। कौषीतकि उपनिषद् इसी में समाविष्ट है।

बृहदारण्यक—यह यजुर्वेद से सम्बद्ध है। बृहदारण्यक उपनिषद् इसी में समाविष्ट है। आत्मतत्त्व के विवेचन की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

तैत्तिरीय आरण्यक—यह आरण्यक यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता से संबद्ध है। इसमें दस प्रपाठक हैं, इन्हीं प्रपाठकों में से कुछ उपनिषदों के नाम से भी जाने जाते हैं। इनमें से सातवें से नवें तक के प्रपाठक तैत्तिरीयोपनिषद् हैं, तथा दशम प्रपाठक महानारायणीयोपनिषद्।

तलवकार आरण्यक—यह आरण्यक सामवेद की जैमिनीय शाखा से संबद्ध है। 'तलव' का अर्थ है—संगीत। इसे जैमिनोपनिषद् ब्राह्मण भी कहा जाता है। इसमें चार अध्याय हैं। चौथे अध्याय का दसवाँ अनुवाक तलवकार उपनिषद् है, जो केन उपनिषद के नाम से प्रसिद्ध है।

छांदोग्य आरण्यक—यह आरण्यक भी सामवेद से संबद्ध है।

अथर्ववेद के आरण्यक अप्राप्त हैं।

उपनिषद्

विषयवस्तु की दृष्टि से वैदिक साहित्य के तीन मुख्य प्रतिपाद्य हैं—कर्म, उपासना तथा ज्ञान। कर्म का प्रतिपादन मुख्यतया ब्राह्मण ग्रंथों में और उपासना का मुख्यतः आरण्यकों में हुआ है, तो ज्ञान का प्रतिपादन उपनिषदों की प्रमुख विशेषता है। उपनिषद् शब्द उप तथा नि उपसर्ग लगा कर सद् धातु से बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है—पास बैठना। गुरु के निकट बैठ कर प्राप्त किये गये ज्ञान को उपनिषद् कहा जाता है।

ब्राह्मणों और आरण्यकों के चिन्तन का विकास उपनिषदों में मिलता है। उपनिषदों को दर्शन की परम्परा में प्रमाण के रूप में उद्धृत किया जाता रहा है। उपनिषद् कितने हैं, यह निर्णय करना कठिन है। शंकराचार्य ने दस उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। मुक्तिकोपनिषद् में इनकी गणना इस प्रकार की गयी है—

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश॥

किन्तु शंकराचार्य इन दस उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य उपनिषदों से भी परिचित थे और उन्होंने ऐसे उपनिषदों का भी उल्लेख किया है, जिन पर उन्होंने भाष्य नहीं लिखा। कुछ विद्वान् उक्त दस उपनिषदों में श्वेताश्वतर उपनिषद् और जोड़ कर ग्यारह मुख्य उपनिषद् मानते हैं। कौषीतकि उपनिषद् की प्राचीनता को देखते हुए उसे भी इनमें जोड़ लेने पर प्रमुख उपनिषद् बारह कहे जा सकते हैं। अन्य परम्परा में संहिता, मैत्रायणी, महानारायण, वाष्कल तथा शौनक—ये चार और जोड़ कर सोलह उपनिषदों की गणना की गयी है। कहीं १०८ उपनिषद् भी परिगणित हैं।

प्राचीन काल से ही उपनिषद् गहन चिंतन और तत्त्वान्वेषण के पर्याय बन गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जीवन व सृष्टि की गूढ़ समस्याओं पर विचार करने वाले किसी भी ग्रंथ को उपनिषद् कहा जाने लगा। श्रीमद्भगवद्गीता को भी उपनिषद् ही कहा गया है। कभी-कभी यह भी हुआ है कि परवर्ती ग्रंथकारों ने किसी विचारधाराविशेष या संप्रदायविशेष के प्रचार के लिए ग्रंथ लिखा और उसे लोकप्रिय बनाने के लिए उपनिषद् का नाम दे दिया। अकबर के शासनकाल में इस्लाम-दर्शन पर अल्लोपनिषद् लिखा गया। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकों से सीधे सम्बन्ध को देखते हुए ऊपर उल्लिखित बारह उपनिषद् प्राचीन और प्रामाणिक कहे जा सकते हैं। इनमें भी ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकि और केन—ये उपनिषद् प्राचीनतम हैं। इनका वैदिक संहिताओं से सम्बन्ध इस प्रकार हैं—

ऋग्वेद—ऐतरेय और कौषीतकि।

शुक्ल यजुर्वेद—ईशावास्य, बृहदारण्यक।

कृष्ण यजुर्वेद—कठ, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, महानारायण।

सामवेद—छान्दोग्य, केन।

अथर्ववेद—मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य।

इनमें से प्रमुख उपनिषदों का परिचय प्रस्तुत है—

ईशावास्योपविषद्—इसे ईशोपनिषद् भी कहा जाता है। इसमें कुल १८ ही मंत्र हैं। सर्वव्यापक तत्त्व के प्रतिपादन और जीवन-दर्शन की सार्थक अभिव्यक्ति के कारण यह उपनिषद् बहुपठित रहा है।

केनोपनिषद्—इस उपनिषद् में आत्मतत्त्व का विशेष रूप से प्रतिपादन है। इसका आरम्भ 'केन' (किसके द्वारा?) इस प्रश्न से होता है। आत्मा के अधिष्ठान में मनुष्य की ज्ञानेंद्रियाँ तथा कर्मेंद्रियाँ और मन किस प्रकार कार्य करते हैं—यह मीमांसा इसमें वैज्ञानिक दृष्टि से की गयी है। परमतत्त्व का निर्वचन करते हुए बताया गया है कि वह इंद्रियों से गम्य नहीं है। ब्रह्म के स्वरूप को बताने के लिए एक रोचक कथा इस उपनिषद् में आयी है, जिसमें अग्नि, वायु और इंद्र ब्रह्म को जानने का प्रयास करते हैं। ब्रह्म उनके समक्ष एक यक्ष के रूप में प्रकट होता है और उनका अहंकार नष्ट करने के लिए उनसे एक तिनके को जलाने या उड़ाने के लिए कहता है। अग्नि उस तिनके को जला नहीं पाती, वायु उसे उड़ा नहीं पाता। अंत में उमा इन देवों के सम्मुख प्रकट होकर परम तत्त्व का उपदेश देती हैं।

कठोपनिषद्—इस उपनिषद् में नचिकेता की सुप्रसिद्ध कथा है। नचिकेता के पिता उसे क्रुद्ध होकर यम को दे देते हैं। नचिकेता यमलोक पहुँच कर यम से ब्रह्मविद्या के विषय में प्रश्न करता है। आत्मा के स्वरूप को बताते हुए यम ने कहा है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

मोक्षमार्ग की दुर्गमता तथा साधना पद्धति की विशिष्टता को प्रकट करने के लिए छुरे की धार का उपमान देते हुए कहा गया है—

उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥

प्रश्नोपनिषद्—प्रश्नोपनिषद् का आरम्भ ब्रह्म, आत्मा और जीव के विषय में छह प्रश्नों से होता है। पिप्पलाद नामक ऋषि अपने छह शिष्यों के प्रबोध के लिए उनकी शंकाओं का समाधान करते हैं।

मुंडकोपनिषद्—यह उपनिषद् तीन मुंडकों या अध्यायों में विभाजित है। पहले भाग में ब्रह्म और वेदों की व्याख्या है, दूसरे में ब्रह्म का स्वरूप निरूपित करते हुए जगत् से उसका सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। तृतीय भाग में ब्रह्मप्राप्ति के साधनों का प्रतिपादन है। ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् मुमुक्षु की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है—

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विभिन्नः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रंथि खुल जाती है, सारे संशय दूर हो जाते हैं और कर्म क्षीण हो जाते हैं। जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपने नाम और रूप को खोकर समुद्र में लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नाम और रूप से छुटकारा पाकर दिव्य परब्रह्म में लीन हो जाता है।)

मांडूक्योपनिषद्—मांडूक्य में भी ब्रह्म और आत्मा के स्वरूप का विवेचन है। ब्रह्म या आत्मा की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय—इन चार अवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है। ओम् या प्रणव में तीन वर्ण हैं—अकार, उकार और मकार। ये तीनों जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के प्रतीक हैं, तथा पूरा ओंकार तुरीय अवस्था का सूचक है।

तैत्तिरीयोपनिषद्—तैत्तिरीयोपनिषद् में तीन खण्ड हैं—शिक्षावल्ली, ब्रह्मानंदवल्ली और भृगुवल्ली। शिक्षावल्ली में शिक्षा नामक वेदांग के विषयों का प्रतिपादन किया गया है। भाषा और उच्चारण के सिद्धान्तों का विवेचन करने वाला यह सबसे प्राचीन ग्रंथ कहा जा सकता है। वेद के अध्ययन और ओंकार के चिंतन का महत्त्व भी यहाँ बताया गया है। ब्रह्मानंदवल्ली में ब्रह्म के व्यक्त स्वरूप का निरूपण

किया गया है। सृष्टि-प्रक्रिया बताते हुए उपनिषत्कार कहते हैं कि उसी एक ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न होता है। ब्रह्म ही अन्न, प्राणवायु, आत्मा, मन, विज्ञान और आनन्द है। समस्त सृष्टि ब्रह्मरूप ही है। तृतीय भृगुवल्ली में साधना पक्ष का प्रतिपादन है। भार्गवी विद्या का उपदेश दिया गया है।

ऐतरेयोपनिषद्—तैत्तिरीयोपनिषद् के समान इस उपनिषद् में भी तीन अध्यायों में सृष्टिप्रक्रिया पर विचार करते हुए ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया गया है। प्रथम अध्याय में तीन खंड हैं, इनमें परम पुरुष के द्वारा सृष्टि तथा सृष्टि के विभिन्न उपादानों का निरूपण है। द्वितीय अध्याय में आत्मतत्त्व का विवेचन है। तृतीय अध्याय में सृष्टि में व्याप्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व के रूप में प्रज्ञान का प्रतिपादन किया गया है।

श्वेताश्वतरोपनिषद्—इस उपनिषद् में सांख्यदर्शन के सिद्धान्त का निरूपण है तथा वेदांत से उसका समन्वय स्थापित करते हुए कहा गया है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च॥

बृहदारण्यकोपनिषद्—अपने नाम के अनुरूप यह उपनिषद् आकार में सबसे विशाल उपनिषदों में से एक हैं। याज्ञिक प्रक्रिया और ब्रह्मज्ञान के बीच अंतःसंबंध स्थापित करने की दृष्टि से इसका महत्त्व निर्विवाद है। इसमें अश्वमेध की प्रतीकात्मक व्याख्या की गयी है। अश्व में विराट् तत्त्व का उन्मीलन करते हुए उषा को उसका मस्तक, सूर्य को उसका चक्षु, वायु को प्राण, अग्नि को मुख और संवत्सर को उसकी आत्मा माना गया है। इस क्रम में यह उपनिषद् समस्त सृष्टि में ब्रह्म की अंतर्व्याप्ति को प्रदर्शित करता है। यह उपनिषद् ईसा से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व के भारत में चल रहे विचारमंथन और जीवन और जगत् को ले कर हो रही ऊहापोह की जीवंत झलक देता है। यह विचारमंथन तथा उहापोह उस समय के विचारकों के परस्पर संवाद के द्वारा यहाँ प्रस्तुत की गयी है। गार्ग्य और अजातशत्रु का संवाद, गार्गी और याज्ञवल्क्य का संवाद, राजा जनक की सभा में विभिन्न पंडितों और ज्ञानियों का याज्ञवल्क्य से प्रश्नोत्तर रोचक शैली में भारतीय चिंतन परम्परा के विकास सोपानों को परिचय देते हैं। पाँचवें अध्याय में प्रजापति का देवों, मनुष्यों और असुरों के लिए दकार के सूत्र के द्वारा संदेश है। प्रजापति केवल 'द' कहते हैं। देवता इसका अर्थ समझते हैं—'दाम्यत'—अर्थात् अपनी इंद्रियों का दमन करो। मनुष्य इसका अर्थ समझते हैं—'दत्त'—अर्थात् दान करो। असुर इसका अर्थ समझते हैं—'दयध्वम्'—अर्थात् दया करो। छठे अध्याय में प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन के बीच वाद-विवाद की रोचक कथा है। इन सभी में कौन श्रेष्ठ है—इसका निर्णय कराने के लिए ये प्रजापति के पास जाते हैं। वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि बारी-बारी से शरीर छोड़ कर चले जाते हैं, और कुछ समय बाद लौट कर आते हैं, तो देखते हैं कि शरीर का काम पहले की तरह चल रहा है। पर जब प्राण शरीर छोड़ कर जाने लगते हैं, तो इंद्रियाँ कह उठती हैं कि मत जाओ। इससे निर्णय होता है कि प्राण ही सबमें श्रेष्ठ है। श्वेतकेतु

तथा राजा प्रवाहण का संवाद और श्वेतकेतु की अपने पिता उद्दालक से जीवन के गूढ प्रश्नों पर चर्चा भी इस उपनिषद् में महत्त्वपूर्ण प्रसंग है।

छांदोग्य उपनिषद्—यह उपनिषद् भी आकार में विशाल है। इसके प्रथम दो अध्यायों में साम और उद्‌गीथ विद्या का रहस्य प्रतिपादित है। तीसरे अध्याय में ब्रह्मतत्त्व का निरूपण करते हुए बताया गया है कि ब्रह्म इस समग्र सृष्टि का सूर्य है। चौथा अध्याय रैक्व का आख्यान प्रस्तुत करता है। सत्यकाम की कथा में सत्यकाम तपोवन में गुरु के आदेश से गायें चराता हुआ एक वृषभ, अग्नि, और वायु से ज्ञान प्राप्त करता है, पाँचवें अध्याय में बृहदारण्यक के छठे अध्याय की दोनों कथाओं (वाक्, चक्षु आदि में प्राण की श्रेष्ठता की कथा तथा श्वेतकेतु का संवाद) की पुनरावृत्ति है। अंतिम भाग में उस काल के अनेक विचारकों—प्राचीनशाल, सत्यप्रज्ञ, इंद्रद्युम्न, जन तथा बुडिल के ब्रह्मज्ञान- विषयक विचार-विमर्श का विवरण है। ये सब फिर उद्दालक के पास जा कर उनसे अपनी शंकाओं का समाधान पूछते हैं। उद्दालक उन्हें राजा अश्वपति के पास जाने का परामर्श देते हैं। छठे अध्याय में श्वेतकेतु का अपने पिता से संवाद उपनिषदों के तत्त्वज्ञान को विभिन्न दृष्टान्तों के द्वारा रोचक बना कर प्रस्तुत करने की शैली का अच्छा उदाहरण है। सातवें अध्याय में नारद और सनत्कुमार के बीच ज्ञानचर्चा है। सनत्कुमार के अनुसार लौकिक विद्याओं में वाक् श्रेष्ठ है। वाक् से मन, मन से संकल्प, संकल्प से चित्त, चित्त से ध्यान, ध्यान से विज्ञान, विज्ञान से बल, बल से अन्न, अन्न से जल, जल से तेज, तेज से आकाश, आकाश से स्मृति, स्मृति से आशा और आशा से प्राण श्रेष्ठ है। सबकुछ प्राण में लीन होता है। अंत में निष्कर्षस्वरूप सनत्कुमार कहते हैं—

यो वै भूमा तत् सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति। भूमेव सुखं, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः।

(भूमा या असीम में सुख है, सीमित में नहीं। इसलिए भूमा या असीम को जानना चाहिये।)

यही भूमा के रूप में सबके भीतर विद्यमान है।

अंत में इस उपनिषद् में इंद्र और विरोचन की ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रजापति के पास जाने की कथा है। दोनों ३२ वर्षों तक प्रजापति से ज्ञान का उपदेश ग्रहण करते हैं। विरोचन तो ब्रह्म को छाया मान कर वापस आ जाता है, इंद्र ब्रह्म के गूढ रहस्य को समझने के लिए तप करते रहते हैं।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्—इस उपनिषद् में आरम्भ में चित्र नामक राजा के यज्ञ में उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु की परीक्षा का प्रसंग है। चित्र के द्वारा पूछे गये गुह्य प्रश्नों का उत्तर श्वेतकेतु नहीं दे पाता। तब पिता और पुत्र दोनों समिधा लेकर चित्र के पास ज्ञान प्राप्त करने के लिए आते हैं। चित्र उन्हें ब्रह्मलोक और मर्त्यलोक का स्वरूप बतलाते हैं।

उपनिषदों की प्रतिपादन शैली—उपनिषद् बोलचाल की भाषा में जीवन के गूढ़ रहस्यों का निरूपण करते हैं। प्राचीन काल के ऋषि, विचारक और बुद्धिजीवी

जिस शैली में प्रवचन या संवाद करते थे, उसका सजीव स्वरूप हमें इनमें मिलता है। वार्तालाप की शैली में तत्त्वनिरूपण करने के लिए उपनिषदों की परम्परा में कुछ विशिष्ट प्रविधियों का विकास किया गया। ये तीन प्रकार की हैं—(१) **प्रश्न**—किसी जिज्ञासु का ज्ञानी के पास जाकर प्रश्न करना, अथवा ज्ञानी व्यक्ति का ही शास्त्रार्थ के लिए प्रश्न उठाना। प्रश्नोपनिषद् और केनोपनिषद् का प्रारम्भ ही प्रश्नों से होता है। (२) **अनुप्रश्न**—उठाये गये प्रश्नों से जुड़े या उनके उत्तर से पुनः उठने वाले प्रश्नों का प्रतिपादन अनुप्रश्न है। उपनिषदों में अनुप्रश्न बार-बार आते हैं। (३) **अनतिप्रश्न**—प्रश्न यदि इतने अधिक हो जायँ कि उनसे विषय का विवेचन आगे बढ़ने के स्थान पर उलझ जाये, तो प्रश्नों की शृंखला का निवारण अनतिप्रश्न है। छांदोग्य उपनिषद् में याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ करती हुई गार्गी जटिल से जटिल प्रश्न उठाती चली जाती है। याज्ञवल्क्य अनुभव करते हैं कि और आगे प्रश्नों की परम्परा चलती रही, तो विवेचन उलझ जायेगा, और वे गार्गी को प्रश्न करने से रोक देते हैं। (४) **व्याख्या**—किसी सिद्धान्त को समझाना। (५) **अनुव्याख्या**—व्याख्या पर पुनः स्पष्टीकरण। (६) **दृष्टान्त**—सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत उदाहरण। (७) **आख्यायिका**—सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए किसी प्राचीन कथा को उद्धृत करना। (८) **ऊर्ध्वप्रवचन**—ज्ञानी का जिज्ञासु से यह पूछना कि जिस विषय पर वह ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, उस पर पहले से उसे कितनी जानकारी है।

छांदोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय की श्वेतकेतु कथा इन बहुविध शैलियों के समन्वित प्रयोग का सुंदर उदाहरण है। यथा—

तं ह पितोवाच—यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति। यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। (गुरुकुल में बारह वर्ष अध्ययन करके अपने आपको बहुत ज्ञानी और बड़ा मानता हुआ श्वेतकेतु जब पिता के पास लौट कर आया, तो पिता ने उससे पूछा—हे सौम्य, तुम जो अपने को महामना और बहुत ज्ञानी मान रहे हो, तो क्या तुमने उस तत्त्व के विषय में पूछा है, जिसको सुन लेने से सब कुछ सुन लिया जाता है, जिसको मान लेने से सब कुछ मान लिया जाता है और जिसको जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है? श्वेतकेतु ने कहा—'हे भगवन्, वह तत्त्व कैसा होता है?' पिता ने कहा—'हे सोम्य, जिस प्रकार एक मिट्टी के ढेले को जान लेने से मिट्टी से बनी सब वस्तुओं को मनुष्य समझ सकता है कि वे उसी मिट्टी के अलग-अलग नाम हैं, ऐसा ही सब वस्तुओं के पीछे वह एक तत्त्व है।' इस प्रकार श्वेतकेतु से बार-बार प्रश्न करते हुए अनेक रोचक उदाहरण देते हुए परमतत्त्व का प्रतिपादन यहाँ उद्दालक ऋषि ने किया है।

उपनिषदों की विषय-प्रतिपादन शैली और अनुसंधान के लिए विकसित प्रविधियों का उपयोग आगे चल कर समस्त शास्त्र परम्पराएँ करती रहीं। इनसे किसी

भी सिद्धान्त की स्थापना में उसके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष—इन दोनों पक्षों पर विचार को शास्त्रों में आवश्यक माना गया।

उपनिषद् दर्शन तथा ग्रीक दर्शन—उपनिषदों के चिन्तन तथा प्लेटो और अरस्तू के संवादों में प्रतिपाय तथा प्रतिपादन शैली दोनों स्तरों पर पर्याप्त समानताएँ हैं। सुकरात के पूर्व ग्रीस के एक दार्शनिक हेराक्लीटोस ने कहा था—'मैं अपने आप कोजानना चाहता हूँ।' उपनिषदों का भी यही मूल सन्देश है किअपने आप को जानो। सुकरात ने परमसत्य के साक्षात्कारको मनुष्य की ध्येय माना। इसके लिये उसने ज्ञानार्जन, चिन्तन व ध्यान की प्रक्रिया भी बतलाई।

ग्रीक दर्शन में शुचिता, न्याय, श्रद्धा आदि गुणों के विकास से मनुष्य के मुक्त होने की बात कही गई है, तथा सूक्ष्म शरीर व स्थूल शरीर की चर्चा भी की गई है। ये मान्यताएँ उपनिषद् दर्शन से इसका साम्य प्रकट करती हैं।

वेदांग

वेदांग से अर्थ है ऐसी विद्या जो वेद के अध्ययन में उपकारक या सहायक हो। वेदांग छह हैं। इनकी गणना चारों वेदों के साथ मुंडकोपनिषद् में इस प्रकार की गयी है—'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा, कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।' छह वेदांगों में व्याकरण और निरुक्त मंत्रों का अर्थज्ञान कराने के लिए उपादेय हैं, शिक्षा और छंदस् शुद्ध उच्चारण तथा पाठ का ज्ञान कराने के लिए तथा कल्प और ज्योतिष याज्ञिक विधियों के अनुष्ठान की दृष्टि से उपयोगी हैं। पाणिनीयशिक्षा में इन छह वेदांगों को वेदरूपी पुरुष के विभिन्न अंग बता कर उनकी उपयोगिता इस प्रकार सूचित की गयी है—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

मंत्रों के पादों (चरणों) या पदक्रम का ज्ञान कराने के कारण छंदस् को वेद का चरण कहा गया है, याज्ञिकविधि के अनुष्ठान में हाथों की सबसे अधिक उपयोगिता होती है, अतः याज्ञिक विधि का ज्ञान कराने वाले कल्प को वेद का हाथ कहा गया है, ज्योतिष के द्वारा यज्ञानुष्ठान के समय का बोध होता है और समय का नियंत्रण सूर्य और चन्द्रमा की गति से होता है। सूर्य और चन्द्रमा को चक्षुरूप बताया गया है, अतः ज्योतिष को वेद का नेत्र कहा जाना भी उचित है। निरुक्त शब्दों की व्याख्या करता है, जो श्रोत्रेंद्रियगम्य हैं। अतः निरुक्त को वेद का श्रोत्र कहा गया है। घ्राणेंद्रिय या नासिका से किसी वस्तु की दूर से ही पहचान होती है, शिक्षा इसी प्रकार वेद का परिचय कराती है, अतः उसे वेदपुरुष की नासिका कहा गया। वाणी का प्रयोग मुख से होता है, व्याकरण वाणी का प्रयोग बतलाता है, अतः व्याकरण को वेदपुरुष का मुख कहा गया। वैयाकरणों के अनुसार मुख्यता के कारण भी व्याकरण को मुख कहा गया है।

शिक्षा—सायण के अनुसार शिक्षा का लक्षण है—'शिक्ष्यन्ते वेदनायोपदिश्यन्ते स्वरवर्णादयो यत्र' अथवा—वर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा अर्थात् वर्णों, पदों आदि के उच्चारण का प्रकार जिसमें सिखाया जाये, वह शिक्षा है। शिक्षा में वेदमंत्रों की भाषा से सम्बन्धित निम्नलिखित विषयों का ज्ञान कराया जाता है, जिनका निर्देश तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में किया गया है—वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम तथा संतान। स्वरों और व्यंजनों का समुदाय वर्ण है। मंत्रों के पाठ में कंठ का उतार-चढ़ाव स्वर है। इसके मुख्यत: तीन प्रकार हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। उच्चारण में लगने वाला काल मात्रा है। इसके ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत—ये तीन भेद होते हैं। उच्चारण में लगने वाला प्रयत्न बल है। साम पाठ की विधि है। संधि के नियमों के ज्ञान के साथ उच्चारण करना संतान है।

शिक्षा पर अनेक ग्रंथ प्राचीन काल में लिखे गये। परम्परा में जैगीषव्य के पुत्र बाभ्रव्य को शिक्षाग्रंथ का प्राचीन प्रणेता कहा गया है। महाभारत के शांतिपर्व में गालव ऋषि के द्वारा बनायी हुई शिक्षा का उल्लेख है। पाणिनि ने भी गालव के शिक्षाग्रंथ का संकेत किया है। काशिका में शौनकीया शिक्षा का उल्लेख आता है।

मूल रूप से शिक्षाग्रंथ ब्राह्मण ग्रंथों के भाग थे। बाद में इनका प्रातिशाख्य ग्रंथों के नाम से स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ। इस प्रकार प्रातिशाख्य शिक्षा वेदांग के प्राचीनतम ग्रंथ हैं। वेदों की प्रत्येक शाखा का उच्चारण विधान व्यवस्थापित करने के कारण इन्हें प्रातिशाख्य कहा गया। इस समय निम्नलिखित प्रातिशाख्य प्राप्त होते हैं—ऋक्प्रातिशाख्य, तैत्तिरीयप्रातिशाख्य, वाजसनेयी प्रातिशाख्य, सामप्रातिशाख्य तथा अथर्व प्रातिशाख्य।

प्रातिशाख्यों के पश्चात् गौतमशिक्षा, नारदीयशिक्षा, पांडुकीयशिक्षा, भारद्वाजशिक्षा आदि अनेक शिक्षा-ग्रंथ लिखे गये। इनमें पाणिनीयशिक्षा सबसे प्रसिद्ध है, यद्यपि रचनाकाल की दृष्टि से यह परवर्ती है।

कल्प—कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्—यह कल्प का लक्षण है। इस वेदांग के अन्तर्गत लिखे गये ग्रंथ कल्पसूत्र हैं। होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा इन चारों प्रकार के पुरोहितों के लिए अलग-अलग चार प्रकार के कल्पसूत्र मिलते हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्बसूत्र। श्रौतसूत्र ब्राह्मणग्रंथों का अनुसरण करते हुए यज्ञविधि का प्रतिपादन करते हैं। इस समय निम्नलिखित श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं—ऋग्वेद के आश्वलायन तथा शांखायन, युक्लयजुर्वेद का कात्यायन, कृष्णयजुर्वेद के बोधायन, आपस्तंब, हिरण्यकेशी, वैखानस, भरद्वाज तथा मान—ये छह श्रौतसूत्र तथा अथर्ववेद का वैतानश्रौतसूत्र। एक वाधूल श्रौतसूत्र हाल ही में प्राप्त हुआ है। यह यजुर्वेद से संबद्ध है। शांखायन द्वारा प्रणीत कल्पसूत्र होता के लिए, बोधायन तथा आपस्तंब के कल्पसूत्र अध्वर्यु के लिए, लाट्यायन और ग्राह्यायण के कल्पसूत्र उद्गाता के लिए हैं।

गृह्यसूत्रों में गृहस्थाश्रम के कर्तव्य व अनुष्ठान प्रतिपादित हैं। इन्हें स्मार्त सूत्र भी कहा जाता है। ब्रह्मयज्ञ (अध्यापन), देवयज्ञ, पितृयज्ञ (तर्पण आदि), भूतयज्ञ (प्राणियों

के लिए भोजन का अंश देना) तथा नृयज्ञ (अतिथि का सत्कार)--ये पाँच महायज्ञ इन सूत्रों में गृहस्थों के लिए बताये गये हैं। इसके अतिरिक्त अपशकुननिवारण, गृहशांति, कृषि, पशुपालन आदि विषयों का भी निरूपण गृह्यसूत्रों में किया गया है। इस समय निम्नलिखित गृह्यसूत्र प्राप्त होते हैं—ऋग्वेद के दो (आश्वलायन तथा शांखायन), यजुर्वेद का एक (पारस्कर), कृष्णयजुर्वेद के नौ (बोधायन, मानव, भरद्वाज, आपस्तंब, हिरण्यकेशी, वैखानस, वाधूल, काठक तथा वाराह), और अथर्ववेद का एक—कौशिक गृह्यसूत्र। धर्मसूत्रों में सामाजिक स्तर पर मनुष्य के दायित्वों या कर्तव्यों का विवेचन है। इनमें चारों वर्णों के लोगों के धर्म, राजा के कर्तव्य, दाय भाग (उत्तराधिकार), स्त्रियों के कर्तव्य और अधिकार, विधवाओं के लिए निर्देश और उनके उत्तराधिकार, संस्कार, प्रायश्चित्त, भक्ष्याभक्ष्य आदि विभिन्न विषय प्रतिपादित हैं। इन्हीं को धर्मशास्त्र भी कहा गया है। आगे चल कर इनके आधार पर स्मृति-ग्रंथ लिखे गये। इस समय निम्नलिखित धर्मसूत्र ग्रंथ उपलब्ध हैं—बौधायन, गौतम, आपस्तंब, हिरण्यकेशी तथा वशिष्ठ। इनमें गौतम धर्मसूत्र सबसे प्राचीन माना गया है। इसका समय ६०० ई० पू० के आसपास अनुमानित है।

शुल्बसूत्रों में यज्ञवेदिका के निर्माण की विधियाँ बतायी गयी हैं। शुल्ब का अर्थ नापने की डोरी है। शुल्बसूत्रों में किसी भी आकृति की रचना के लिये रेखागणित या ज्यामिति के सिद्धान्तों का पालन किया गया है। इन सूत्रों से विदित होता है कि वैदिक काल में ज्यामिति के अनेक सिद्धान्तों का वैदिक ऋषियों को ज्ञान था। पाइथागोरस से बहुत पहले उसका सिद्धान्त (पाइथागोरस थ्योरम) शुल्ब सूत्रों में प्रतिपादित किया जा चुका था।

कल्पसूत्रों से वैदिक धर्म और भारतीय सामाजिक जीवन में ईसापूर्व की शताब्दियों में हुए नवीन अभ्युत्थान का परिचय भी मिलता है। इनके प्रचार-प्रसार के कारण ही विशालकाय ब्राह्मण ग्रंथ लुप्तप्राय हो गये, क्योंकि इन सूत्र ग्रंथों में ब्राह्मण ग्रंथों के विषयों को सारग्राही रूप में प्रस्तुत कर दिया गया।

व्याकरण—व्याकरण की अत्यंत समृद्ध विवेचन परम्परा वैदिक काल में विकसित हुई। पर व्याकरणविषयक प्राचीन ग्रंथ लुप्त हो चुके हैं। व्याकरण का सबसे पहला सर्वांगपूर्ण ग्रंथ पाणिनि की अष्टाध्यायी है। इसमें ४००० सूत्र हैं, जिनमें से ७०० वैदिक भाषा व वैदिक व्याकरण का प्रतिपादन करते हैं। पाणिनि ने अपने से पहले हो चुके वैयाकरणों का उल्लेख करते हुए उनके सिद्धान्तों की चर्चा की है। ये वैयाकरण हैं—आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक तथा स्फोटायन। पाणिनि का अष्टाध्यायी के पहले अनेक व्याकरण-ग्रंथ लिखे जा चुके थे।

निरुक्त—वैदिक मंत्रों में प्रयुक्त शब्दों का निर्वचन (उनके प्रकृति, प्रत्यय बता कर उनके निर्माण की प्रक्रिया) बताने वाला वेदांग निरुक्त है। निघंटु तथा निरुक्त ये दो प्राचीन ग्रंथ इस वेदांग के मिलते हैं। निघंटु के नाम से कई ग्रंथ प्राचीनकाल में संकलित

किये गये थे, इनमें से एक ही मिलता है। यास्क ने निरुक्त के नाम से इसकी व्याख्या लिखी है। यास्क का समय ८०० ई० पू० से ७०० ई० पू० के बीच माना जाता है।

वर्तमान में निघंटु नाम से उपलब्ध ग्रंथ तीन कांडों तथा पाँच अध्यायों में विभाजित है। इसके प्रथम नैघंटुक कांड में तीन अध्यायों में पर्यायवाची शब्द संकलित हैं। द्वितीय नैगम कांड में वेदों के क्लिष्ट पदों का संग्रह तीन खंडों में किया गया है। दैवतकांड नामक अंतिम अध्याय में देवतावाचक शब्द छह खंडों में संकलित हैं।

यास्क का निरुक्त भाषाशास्त्र का प्राचीनतम तथा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। निघंटु की ही समग्र व्याख्या इसमें की गयी है। इस ग्रंथ के प्रथम से तृतीय अध्याय तक निघंटु के प्रथम कांड की व्याख्या है। चौथे से छठे अध्याय तक नैगमकांड की व्याख्या है। सातवें से बारहवें अध्याय तक दैवतकांड की व्याख्या है।

छंदस्—कात्यायन ने इसका लक्षण किया है—**यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः।** छंदःशास्त्र का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ पिंगल ऋषि का रचा पिंगलसूत्र है। इन ऋषि के नाम से छंदःशास्त्र की ही एक संज्ञा पिंगल चल पड़ी है। छंदःसूत्र में पहले से चौथे अध्याय तक वैदिक छंद बताये गये हैं, तथा शेष अध्यायों में लौकिक छंद।

ज्योतिष—ज्योतिष वेदांग कालगणना के लिए उपादेय है। लगध का वेदांगज्योतिष इसका सर्वप्राचीन ग्रंथ है। इसका समय विद्वानों ने १४०० ई० पू० के आसपास माना है। यह ग्रंथ दो रूपों में मिलता है—आर्च ज्योतिष तथा याजुष ज्योतिष। पहला ऋग्वेद से संबद्ध है तथा दूसरा यजुर्वेद से।

वैदिक वाङ्मय के अन्य ग्रंथ—वेदांगों के अतिरिक्त वेदों के उपस्कार या अध्ययन में सहायता के लिए अन्य अनेक प्रकार के ग्रंथों का प्रणयन प्राचीनकाल में हुआ। इनमें अनुक्रमणी साहित्य के अन्तर्गत वेदों के ऋषियों, छंदों, देवताओं, सूक्तों, अनुवाकों तथा पदों की सूचियाँ तैयार की गयीं।

इसी परम्परा में उपवेदों का निर्माण हुआ। प्रत्येक संहिता का अपना एक उपवेद माना गया। ऋग्वेद का उपवेद अर्थशास्त्र, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का संगीतशास्त्र या गांधर्ववेद और अथर्ववेद का उपवेद आयुर्वेद कहा गया है।

वेदों में कलाविषयक चिन्तन

वेदों में काव्य या कलाओं को लेकर जो तात्त्विक चिन्तन ऋषियों ने व्यक्तकिया है, उससे भारतीय कलाशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र की पीठिका निर्मित हुई। ऋषियों ने काव्य रचना के दो स्तर माने हैं—सूक्ष्म तथा स्थूल। सूक्ष्म स्तर पर काव्य का साक्षात्कार होता है और स्थूल स्तर पर उसका परिष्कार। वाक् का ऋषियों ने देवता के रूप का साक्षात्कार किया, और वाक् की अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तरों की भी उन्होंने चर्चा की है। कविकर्म चेतना के गहरे स्तरों से उन्मिषित होता है, जिसका संकेत ऋषियों ने 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' आदि मन्त्रों में किया है। अरङ्कृति या अलङ्कृति का काव्य के अलंकार के अर्थ में निरूपण भी ऋग्वेद में मिलता है, तथा उपमा शब्द का प्रयोग भी अलंकार के अर्थ में ऋग्वेद ने किया है। आगे चलकर गार्ग्य

नामक ऋषि ने उपमा का लक्षण और उपमा के पाँच प्रकार बताये। गार्ग्य का यह उपमा निरूपण यास्क ने अपने निरुक्त में उद्धृत किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं भारतीय काव्यशास्त्र के मूल तत्त्वों का प्रतिपादन वैदिक काल में उस समय किया जा चुका था, जब ग्रीस में अरस्तू का काव्यशास्त्र रचा नहीं गया था।

संहिताओं तथा ब्राह्मणों में काव्य, छन्दस्, शिल्प, रूप और रस से शब्द पारस्परिकता में प्रयुक्त हुए हैं। पेशस्, चारु, चित्र, श्रीः, शोभा आदि इनके विशेषण के रूप में बार-बार आते हैं, जिससे शिल्प को केन्द्र में रख कर वैदिक सौन्दर्यशास्त्र की एक सर्वाघीण अवधारणा निर्मित होती है। वैदिक विश्वबोध इस जगत् को परमात्मा की रची कविता के रूप में देखता है। (देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति)। सम्पूर्ण जगत् को परमात्मा का काव्य कहना काव्य की एक व्यापक अवधारणा है।

यदि यह जगत् परमात्मा के द्वारा रची कविता है, तो इस कविता को कवि या कलाकार अपनी कृति में नये सिरे से रचता, कहता और प्रस्तुत करता है। ऐतरेय महीदास इस दृष्टि से समस्त कलाओं या शिल्प को दो प्रकार का मानते हैं—देवशिल्प और मानुष शिल्प। देवशिल्प की ही अनुकृति मानुष शिल्प है। इस संसार के नाना पदार्थ देवताओं के शिल्प हैं। उनकी अनुकृति में मनुष्य अपना शिल्प, कला या कविता रचता है। परमात्मा आत्मविस्तृति या अपनी लीला के विस्तार के लिये जगत् रूपी शिल्प को रचता है, तो मनुष्य आत्मसंस्कृति के लिये मानुष शिल्प रचता है। ऐतरेय महीदास पहले भारतीय विचारक हैं, जिन्होंने कला या शिल्प की अवधारणा से जोड़ कर संस्कृति की अवधारणा प्रस्तुत की है।

यहाँ छन्दस् या काव्य को भी शिल्प कहा गया है। इस तरह कविता कवयिता तथा भावक दोनों का संस्कार करती है—यह मन्तव्य यहाँ स्पष्ट है। अन्यत्र भी ऐतरेय ने कहा है कि स्तोता स्तुति के द्वारा अपने को संस्कारित करता है—

स्तोत्रियं शंसति। आत्मा वै स्तोत्रियः। तं मध्यमया वाचा शंसति। आत्मानमेव तत् संस्कुरुते। (ऐतरेय ब्रा० १३/१२, पृ० ५१२)

कौषीतकि ब्राह्मण में नृत्य, गीत तथा वादित्र को भी शिल्प के रूप में परिभाषित किया गया है।

त्रिवृद् वै शिल्पम्—नृत्यं गीतं वादितमिति।

(कौ०ब्रा० २९/५)

छन्द को भी ऐतरेय ने शिल्प कहा है। अत एव कविकर्म भी शिल्प है।

वस्तुतः छन्द में देवता रमते हैं। यही छन्द का अलंकार है। ऋषि इन्द्र से पूछते हैं—

इन्द्र का ते अस्ति अरङ्कृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम? ऋ० ७.२९.३

अथर्ववेद (१४/१/७) में सूर्या के विवाह के प्रसंग में कहा गया है कि गाथाएँ उसे अलंकृत करती हैं। यह शिल्प और काव्य का जीवन से अन्तःसम्बन्ध मात्र नहीं, यह शिल्प का जीवनमय या प्राणमय होना है। गीत का प्रतिपादन करते हुए गीत के भी ये दोनों प्रकार ऐतरेय बतलाते हैं—दैव गीत और मानुष गीत।

छन्दस् या वाक् में रस होता है। छन्दस् के रस का प्रतिपादन भी ऐतरेय ने इतिहास के आख्यान के माध्यम से किया है। छन्दस् में जो रस था, वह विगलित होने लगा, जिससे प्रजापति भयभीत हुए कि इस तरह तो छन्दस् का रस लोक से अतिक्रान्त हो जायेगा। तब उन्होंने छन्दस् के उस रस को नारांशंसी तथा गायत्री के द्वारा बाँध दिया।

वैदिक देवताओं में त्वष्टा, अश्विनीकुमार विश्वकर्मा आदि का सम्बन्ध शिल्पकला और सौन्दर्यतत्त्व से विशेष रूप से हैं।

वेदों में विज्ञान

वैदिक ऋषियों ने अपनी अन्त:प्रज्ञा से जिन तत्त्वों या सत्यों का साक्षात्कार किया, उनमें से अनेक आज के विज्ञान की कसौटी पर भी खरे उतरते हैं। अथर्ववेद के कालयुक्त में काल के दो रूपों का वर्णन किया गया है—अखण्ड काल और सखण्ड काल। अखण्डकाल काल की निरन्तर प्रवहमाण शाश्वत धारा है जिसमें कोई विभाजन नहीं हो सकता। सखण्ड काल व्यावहारिक समय है, जिसमें हम दैनिक जीवन के कार्य सम्पादित करते हैं। कालतत्त्व की यह विवृति आइंस्टीन आदि वैज्ञानिकों के द्वारा प्रतिपादित सापेक्षता सिद्धान्त तथा समय की आधुनिक अवधारणाओं के आधार पर भी सत्य है। उपनिषदों में परम तत्त्व का निर्वचन जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले विशेषणों (सचक्षु:रचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव इत्यादि) के द्वारा किया गया है, उसका भी औचित्य नवीन भौतिक शास्त्र में परमाणु के विश्लेषण के द्वारा वैज्ञानिकों ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, उनसे समझा जा सकता है। वेदों में वास्तुविद्या, कृषि, वस्त्रनिर्माण आदि के उल्लेखों से उस समय की वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति का पता चलता है। यही नहीं, गणित के अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन वैदिक साहित्य में मिलता है। शूल्ब सूत्रों में यज्ञवेदी के निर्माण का जो विधान बताया गया है, उसमें वह प्रमेय भी प्रतिपादित है, जिसे बाद में पाइथागोरस ने बतलाया और जो अभी भी पाइथागोरस के प्रमेय के नाम से ही जाना जाता है।

✤

अध्याय २

रामायण तथा महाभारत

लौकिक वाङ्मय का उदय : इतिहास, गाथा तथा नाराशंसी

वैदिक संहिताओं की रचना के साथ-साथ गाथा, नाराशंसी, इतिहास, पुराण आदि के रूप में लौकिक वाङ्मय की रचना भी होती आ रही थी। वेद-मंत्रों का ऋषियों के द्वारा साक्षात्कार किया गया, और वे परम्परा से इन ऋषियों के वंशजों या शिष्यों के पास ही रहे। दूसरी ओर गाथा, नाराशंसी और इतिहास-पुराण के रूप में जो वाङ्मय विकसित हो रहा था, वह जनसामान्य तक पहुँचा। यह वाङ्मय भी वेद के ही समान प्राचीन है। गाथा शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है (८/३२.१), जहाँ कण्व ऋषि इन्द्र के विषय में स्वरचित गाथा का उल्लेख करते हैं। **ऋग्वेद** (८.२.३८; १.४.३४) में गाथाकार भृग्वंगिरस ऋषि का उल्लेख है। भृग्वंगिरस गोत्र के ऋषियों ने गाथाओं की रचना की थी। इन ऋषियों को गाथाकार कहा गया है। विश्वामित्र को भी गाथिन् (गाथाओं की रचना करने वाला) कहा गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार गाथिन् से ही गाधिन् बना है, जो विश्वामित्र के गोत्र की संज्ञा है। शतपथ ब्राह्मण तथा गोपथ ब्राह्मण के अनुसार गाथाओं का प्रतिदिन पाठ होता था, इनका पाठ उत्सव, विवाह आदि के अवसरों पर भी किया जाता था। सीमंतोन्नयन संस्कार के अवसर पर वीरों की गाथाएँ सुनायी जाती थीं। गाथागायन की परम्परा से ही इतिहासकाव्यों का जन्म हुआ। अथर्ववेद में गाथा, नाराशंसी, इतिहास और पुराण का वैदिक संहिताओं के साथ उल्लेख है। नराशंस शब्द का भी प्रयोग ऋग्वेद में आया है (९.६.४२; १०.६४.३; २.३४.६)। इसी प्रकार आख्यान शब्द तथा आख्यानों का प्रयोग भी ऋग्वेद में मिलता है। निरुक्त तथा बृहद्देवता आदि ग्रंथों ने ऋग्वेद में प्राप्त आख्यानतत्त्व का विवेचन किया है। अथर्ववेद में चारों वेदों के साथ गाथा, नाराशंसी और इतिहास-पुराण का भी उल्लेख करते हुए बताया गया है कि इनका पठन-पाठन आवश्यक है—

स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्। तमितिहासः पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानु-व्यचलन्। इतिहासस्य च वै गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद (अथर्व० १५/६/११)।

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है कि परम पुरुष के निःश्वास से चार वेद, इतिहास-पुराण तथा गाथा-नाराशंसी की उत्पत्ति हुई।

ब्राह्मण ग्रंथों में शतपथ, जैमिनीय तथा बृहदारण्यक में भी इतिहास का उल्लेख है। इतिहास और पुराण इन दोनों को वेद के समकक्ष माना गया है। यही नहीं, कहीं-कहीं तो इन्हें वेद भी कहा गया। शांखायन श्रौतसूत्र में इतिहास और पुराण को पृथक्-

पृथक् वेद की संज्ञा दी गयी है। गोपथ ब्राह्मण में भी इतिहासवेद और पुराणवेद इन संज्ञाओं का प्रयोग है।

गाथा और नाराशंसी ये दोनों प्रकार के काव्य मूलतः प्रशस्तिपरक काव्य रहे हैं। वेदों में देवताओं की स्तुतियों के अतिरिक्त उस समय के उदार और दानी राजाओं की प्रशस्तियाँ भी हैं। इनमें नर या मनुष्य की प्रशंसा रहती थी, इसलिये इन्हें 'नाराशंसी' कहा गया। गाथा और नाराशंसी दोनों की रचना ऋग्वेद के काल में होने लगी थी। गाथा अपने आप में पूर्ण एक स्वतंत्र मुक्तक है। इसमें भी किसी प्राचीन वीर की प्रशंसा मिलती है। ब्राह्मण ग्रंथों में प्राचीन वीर राजाओं के विषय में अनेक गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं। इनमें किसी ऐतिहासिक चरित्र के जीवन की विशेष घटना का भी उल्लेख हुआ है। महाभारत में तो प्राचीन काल के उशना जैसे कवियों की रची हुई उनेक गाथाएँ उद्धृत हैं। ये गाथाएँ सुभाषित या सूक्ति के रूप में हैं, उनका वर्ण्य-विषय कोई वीर पुरुष नहीं है।

रामायण और महाभारत की संज्ञाएँ

इतिहास—भारतीय परम्परा में रामायण तथा महाभारत इन दोनों ग्रंथों को इतिहास कहा जाता है। इतिहास से आशय है—जो होता आया है, और होता रह सकता है। वाल्मीकि की रामायण तथा व्यास के महाभारत से हम वह सब जानते हैं, जो इस देश में होता आया है और होता रह सकता है, इसलिए इन दोनों ग्रंथों को इतिहास कहा गया है। इन दोनों ग्रंथों को आख्यान, विकसनशील महाकाव्य, उपजीव्य काव्य, आर्ष काव्य भी कहा गया है। वात्स्यायन ने अपने न्यायसूत्र में इतिहास और पुराण का विषय लोकवृत्त माना है अर्थात् इतिहास और पुराण इस संसार का वर्णन करते हैं—

यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः। (न्यायभाष्य, ४/१/६१)

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इतिहास दो प्रकार का बताया है—परिक्रिया और पुराकल्प। परिक्रिया में एक नायक होता है, पुराकल्प में अनेक। पहले का उदाहरण राजशेखर के अनुसार रामायण है, दूसरे का महाभारत।

विकसनशील महाकाव्य—आधुनिक अध्येताओं ने रामायण और महाभारत को विकसनशील महाकाव्य (ग्रोइंग एपिक्स) कहा है। विकसनशील महाकाव्य से आशय है ऐसे महाकाव्य जिनका कलेवर लम्बे समय तक वाचिक परम्परा में प्रचलित रहने के कारण बढ़ता गया हो। ये दोनों महाकाव्य कई शताब्दियों तक सूतों, कुशीलवों या ग्रंथिकों के द्वारा वाचिक परम्परा में पाठ अथवा गायन करते हुए जनसमाज के आगे सुनाये जाते रहे। यह संभव है कि इन सूतों या कुशी-लवों ने इनमें बीच-बीच में कुछ लोकप्रिय प्रसंग या आख्यान अपनी ओर से भी जोड़ दिये हों।

वाल्मीकि की रामायण की तुलना में व्यास के महाभारत का कलेवर बहुत बड़ा है। इसे हम विश्वसाहित्य का सबसे बड़ा महाकाव्य भी कह सकते हैं। इसमें मूलकथा में अन्यान्य आख्यान, उपाख्यान व कथाएँ अधिक संख्या में जुड़ी हैं।

उपजीव्य काव्य—रामायण और महाभारत को उपजीव्य काव्य भी कहा गया है। उपजीव्य काव्य से आशय ऐसी कृति से है, जिससे दीर्घकाल का परवर्ती साहित्यकार प्रेरणा पाते रहें। वाल्मीकि रामायण तथा व्यासकृत महाभारत ने केवल संस्कृत साहित्य को ही नहीं, समग्र भारतीय साहित्य को कई शताब्दियों तक अनुप्राणित किया है। संस्कृत ही नहीं, तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालयम आदि दक्षिण की भाषाओं तथा हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि अन्य भाषाओं में लिखे जाने वाले साहित्य पर सुदीर्घ काल तक रचनाशैली या विषयवस्तु की दृष्टि से इन दोनों रचनाओं का प्रभाव पड़ा है।

महाभारत में तो कहा ही गया है कि यह आख्यान (महाभारत) सारे कवियों के लिए उपजीव्य होगा, तथा इसको लोग विभिन्न प्रकार से कहते या लिखते रहेंगे—

इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः॥

आर्ष काव्य—आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में रामायण तथा महाभारत दोनों को आर्ष काव्य के रूप में परिभाषित किया है। ऋषि के द्वारा प्रणीत काव्य आर्ष काव्य है। ऋषि द्रष्टा होता है। वह भूत, भविष्य और वर्तमान की सारी घटनाओं को अपनी प्रतिभा से हस्तामलकवत् देख सकता है।

रामायण और महाभारत की उपजीव्यता

संस्कृत का कोई भी ऐसा महाकवि नहीं है, जिस पर किसी न किसी रूप में रामायण तथा महाभारत का प्रभाव न हो। कालिदास के रघुवंश महाकाव्य पर वाल्मीकि का कृतित्व ही छाया हुआ है। मेघदूत की अनेक मनोहर कल्पनाओं के मूल में वाल्मीकि रामायण है। दूसरी ओर कालिदास का अभिज्ञानशाकुंतल महाभारत के शकुंतलोपाख्यान पर आधारित है। भास के प्रतिमा और अभिषेक, दिङ्नाग की कुंदमाला, भवभूति के महावीरचरित तथा उत्तररामचरित, मुरारि का अनर्घराघव, शक्तिभद्र का आश्चर्यचूडामणि, राजशेखर का बालरामायण, विरूपाक्ष का उन्मत्तराघव, वामनभट्टबाण का रघुनाथचरित, जयदेव का प्रसन्नराघव, राजचूडामणि दीक्षित का आनंदराघव आदि नाटक रामायण की कथा को प्रस्तुत करते हैं। महाकवि प्रवरसेन का प्राकृत भाषा में लिखा महाकाव्य सेतुबंध, कुमारदास का महाकाव्य जानकीहरण, भट्टि का महाकाव्य, आदि अनेक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य या नाटक रामायण से प्रेरित हैं। चंपू काव्यों में भोजका रामायणचंपू, वेकटाध्वरि का उत्तरचंपू आदि चंपूकाव्य के रामायण पर ही आधारित हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में महाकवि क्षेमेंद्र ने अपनी रामायणमंजरी तथा भारतमंजरी में रामायण और महाभारत का सार प्रस्तुत किया। भास के छह रूपक महाभारत की कथा के विभिन्न प्रसंगों को प्रस्तुत करते हैं। भारवि का किरातार्जुनीय, भट्टनारायण का वेणीसंहार तथा राजशेखर का बालभारत आदि अनेकों महाकाव्य और नाटक महाभारत से प्रेरित हैं। महाभारत में स्वयं यह तथ्य बार-बार कहा गया है कि यह ग्रंथ एक ऐसा इतिहास है, जिससे आगे के कवि प्रेरणा लेंगे—

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।

वास्तव में तो रामकथा या महाभारत कथा को लेकर जितना साहित्य भारत में लिखा गया, केवल उसी के लिए मूल स्रोत नहीं, अपितु संस्कृत में जितना भी काव्य साहित्य रचा गयां है, उस सबका ही प्रकारान्तर से मूल स्रोत रामायण और महाभारत ये दो महनीय ग्रंथ रहे हैं, क्योंकि वैदिक छंदों के पश्चात् लौकिक छंदों का स्वरूप इन्हीं दोनों में स्पष्ट सामने आया, महाकाव्य या सर्गबन्ध की अवधारणा भी इन्हीं में प्रकट हुई, तथा रस और अलंकार के मानदंड भी इनसे स्थापित हुए।

रामायण और महाभारत की तुलना

जैसा ऊपर कहा जा चुका है इतिहास, विकसनशील महाकाव्य, उपजीव्य काव्य और आर्ष काव्य की विशेषताएँ रामायण और महाभारत दोनों में समान रूप से मिलती हैं। दोनों का कथानक तथा वर्ण्य विषय की परिधि अत्यंत विस्तीर्ण है। दोनों में राष्ट्र की संस्कृति और आत्मा समाहित है।

पारम्परिक भारतीय मान्यता के अनुसार रामायण की रचना महर्षि वाल्मीकि ने त्रेता युग में की, महाभारत की रचना महर्षि व्यास ने द्वापर युग में की। रामायण और महाभारत दोनों में उनके प्रणेता एक पात्र के रूप में भी उपस्थित हैं, और यही नहीं, वे इन काव्यों कीं कहानी को नयी दिशा भी देते हैं। आदिकवि वाल्मीकि ने ही राम के द्वारा परित्यक्ता सीता को अपने तपोवन में आश्रय दिया और उसके जुड़वा बेटों—कुश तथा लव को शिक्षा भी दी। व्यास महाभारत के पात्रों को सदुपदेश देने या संकट के समय उनके मार्गदर्शन या त्राण के लिए बार-बार महाभारत में उपस्थित होते हैं।

रामायण का मूल स्वर करुणा का है, जब कि महाभारत का मूल स्वर वैराग्य का है। इसलिए रामायण में करुण रस की प्रधानता मानी गयी और महाभारत में शांत रस की। वाल्मीकि की रचना प्रेम, स्नेह, ममता, वात्सल्य और सौहार्द की भावनाओं से ओतप्रोत है। महाभारत समाज में व्याप्त हिंसा, घृणा और कलह का यथार्थ चित्रण करता है, जिसकी परिणति वैराग्य में होती है। वाल्मीकि की रचना आदर्शपरक है, व्यास की यथार्थ परक। एक में भावतत्त्व की प्रधानता है, दूसरे में बुद्धितत्त्व की। रामायण काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से अधिक सुसंबद्ध और सुसंगत रचना है। महाभारत में इसकी अपेक्षा ऐतिहासिक तथ्यों और विवरणों की बहुलता है। भाषा की दृष्टि से भी रामायण की भाषा अधिक लालित्यपूर्ण है और महाभारत की अधिक तथ्यपरक। शैली की दृष्टि से रामायण में आलंकारिता अधिक है। रामायण में आदर्शप्रवणता अधिक है, महाभारत में यथार्थपरकता अधिक है।

रामायण

रामायण के रचयिता वाल्मीकि हैं। संस्कृत काव्यों की परम्परा में इस रचना को आदिकाव्य भी कहा गया है। यद्यपि वेद या वैदिक साहित्य की रचना रामायण से पहले

हो चुकी थी, पर लौकिक संस्कृत या लोकभाषा में रची गयी पहली कृति होने से रामायण को आदिकाव्य कहा गया। वाल्मीकि रामायण की रचना होने के पहले रामकथा के कहने-सुनने या उसके कथागायन की परम्परा चली आ रही थी। हरिवंशपुराण में बताया गया है कि वाल्मीकि ने रामायण लिखी, उसके पहले राम की कहानी सूतों, चारणों या कुशीलवों के द्वारा गायी जाती रही। वाल्मीकि ने लोककथा के रूप में देश के अलग-अलग अंचलों में गायी जाने वाली आख्यान की एक बड़ी धरोहर को इस प्रकार का सुसंबद्ध साहित्यिक रूप दे दिया कि वह अमर हो गयी।

वाल्मीकि—महर्षि वाल्मीकि को संस्कृत साहित्य में आदिकवि कहा गया है। उनके संबन्ध में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, जिनकी सत्यता प्रमाणित नहीं है। विष्णुपुराण के अनुसार वाल्मीकि भृगुवंशी ऋषि थे, तथा वे वैवस्वत मन्वंतर में होने वाले २४वें व्यास थे।

रामायण परम्परा—वाल्मीकि की रचना प्रथम उपलब्ध रामायण है। आगे चलकर इससे प्रेरित होकर संस्कृत, प्राकृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनेक रामायणों की रचना हुई। योगवसिष्ठ, अध्यात्मरामायण, आनंदरामायण, अद्‌भुतरामायण, मंत्ररामायण, भुशुंडिरामायण आदि रामायणकाव्य वाल्मीकि रामायण की प्रत्यक्ष परम्परा में ही हैं। जैन परम्परा में विमलसूरि का पउमचरिउ (प्राकृत में) तथा रविषेण का पद्मचरित भी रामायणकाव्य हैं। तमिल में कंबन का तमिल रामायण, बंगला में कृत्तिवास का कृत्तिवासीय रामायण और हिंदी में गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस प्रसिद्ध हैं।

वाल्मीकि के पहले रामकथा जन समाज में प्रचलित रही होगी। उनके पूर्व अन्य ऋषियों ने भी इस कथा को पद्यबद्ध करने का प्रयास किया था—ऐसे उल्लेख मिलते हैं। महाभारत में भार्गव च्यवन के द्वारा रामायण रचे जाने का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त अन्य मुनियों की रामायणों में नारदकृत संवृतरामायण, अगस्त्यकृत अगस्त्यरामायण, लोमशकृत लोमशरामायण, सुतीक्ष्णकृत मंजुलरामायण, अत्रिकृत सौपद्य रामायण, शरभंगकृत सौहार्दरामायण तथा अनेक अज्ञातनामा प्रणेताओं की रामायणों के उल्लेख मिलते हैं, पर इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

वाल्मीकि ने अपनी रचना को रामायण के अतिरिक्त काव्य, गीत, आख्यान तथा संहिता—इन चार नामों से भी वर्णित किया है।

रामायण का कलेवर—वाल्मीकि की रचना में ही इस काव्य को चतुर्विंशति-साहस्रीसंहिता कहा गया है, अर्थात् इस काव्य में २४००० श्लोक हैं। यह भी कहा गया है कि ये २४००० श्लोक पाँच सौ सर्गों तथा सात कांडों में निबद्ध हैं।

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः।
तथा सर्गशतान् पञ्च षट्काण्डनि तथोत्तरम्॥

(बालकाण्ड, ४/२)

रामायण के सात कांडों के नाम हैं—बालकांड, अयोध्याकांड, अरण्यकांड, किष्किंधाकांड, सुंदरकांड, युद्धकांड तथा उत्तरकांड। प्रत्येक कांड कई सर्गों में

विभाजित है। बालकांड में राम के जन्म से विवाह तक की कथा है। अयोध्याकांड में राम के वनवास का वृत्तांत है। अरण्यकांड में दंडकारण्य में राम, सीता और लक्ष्मण का निवास, शूर्पणखाप्रसंग, खर-दूषण आदि का वध, सीता का अपहरण तथा राम का विलाप—ये सारी घटनाएँ चित्रित हैं। किष्किंधाकांड में राम-सुग्रीव का मिलन, बालिवध तथा हनूमान् आदि का सीता की खोज में जाना वर्णित है। सुंदरकांड में हनूमान का लंका में पहुँचना और सीता से उनकी भेंट तथा लंकादहन का वर्णन है। युद्धकांड में राम और रावण की सेनाओं के बीच युद्ध का विस्तृत वर्णन है, जो रावण के वध के साथ समाप्त होता है। उत्तरकांड में रामराज्य के वर्णन के साथ अनेक आख्यान संग्रहीत हैं।

पाठभेद, संस्करण तथा प्रक्षिप्त अंश—रामायण का प्रचार कई शताब्दियों तक वाचिक तथा मौखिक परम्परा में रहा है। अतः अलग-अलग प्रांतों में इसके अलग-अलग पाठों की परम्पराएँ बन गयीं। मूलतः तो सारी रचना महर्षि वाल्मीकि की ही है, पर जनसमाज के बीच अलग-अलग स्थानों पर इसे जो सूत, कुशीलव आदि गा-गा कर या पाठ करके सुनाते थे, वे इसमें यत्किंचित् परिवर्तन करते रहे। मुख्य रूप से रामायण के चार संस्करण प्रचलित हैं—(१) **बंबई संस्करण**—इसे देवनागरी संस्करण भी कहा जाता है। इसका प्रचार विशेष रूप से उत्तर भारत में है। इस पर तिलक, शिरोमणि एवं भूषण ये तीन संस्कृत टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। (२) **बंगाली संस्करण**—इसको गौडीय संस्करण भी कहा जाता है। इस पर लोकनाथ टीका मिलती है। (३) **कश्मीर संस्करण**—इसको पश्चिमोत्तरीय संस्करण भी कहा जाता है। (४) **दक्षिण संस्करण**—पाठ की दृष्टि से यह बंबई संस्करण के बहुत निकट है।

इन संस्करणों में किसको सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाय—यह निर्णय करना कठिन है। ये सभी अपने-अपने अंचल की प्राचीन परम्परा में प्रचलित हैं। पाश्चात्त्य विद्वानों में यकोबी, वेबर और विंटरनित्स आदि ने रामायण में बालकांड और उत्तरकांड को प्रक्षेप माना है। इसके समर्थन में वे निम्नलिखित प्रमाण देते हैं—(१) इन कांडों में कथानक की पुनरावृत्ति है, (२) कांडों में ऐसे अनेक आख्यानों की बहुलता है, जो मूल कथा से संबधित नहीं हैं। (३) इन दोनों कांडों में राम विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित हैं, जब कि शेषकांडों में वे आदर्श मानव ही हैं, अवतार नहीं। (४) मध्यवर्ती कांडों में इंद्र का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता के रूप में चित्रण प्राचीन वैदिक परम्परा से साम्य रखता है। बालकांड और उत्तरकांड में देवताओं का चित्रण परवर्ती पौराणिक स्थिति से प्रभावित हैं। (५) इन दो कांडों की भाषा-शैली शेष कांडों से कुछ भिन्न है। भाषा-शैली की दृष्टि से शेष कांड अधिक उत्कृष्ट हैं। (६) रामायण के कुछ संस्करणों में फलश्रुति या रामायण के पाठ का फल बताते हुए युद्धकांड की समाप्ति पर ही ग्रंथसमाप्ति की सूचना दे दी गयी है।

पारम्परिक भारतीय मत में रामायण के सातों कांड वाल्मीकिविरचित मूल काव्य के ही अंग माने गये। इसके मत के समर्थन में निम्नलिखित प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) रामायण के अलग-अलग प्रांतों में प्रचलित सभी पारम्परिक संस्करणों में सातों कांड हैं। (२) सभी प्राचीन टीकाकारों ने सातों कांडों पर टीका की है।

टीकाएँ—रामायण की लोकप्रियता के कारण काल से ही अनेक टीकाएँ इस काव्य पर लिखी जाती रहीं। डॉ० ऑफ्रेष्ट ने संस्कृत पांडुलिपियों की अपनी सूची में रामायण की तीस प्राचीन टीकाओं का उल्लेख किया है। इनमें महत्त्वपूर्ण टीकाएँ ये हैं—(१) रामानुजीय (१४०० ई०), (२) वेंकटेशकृत सर्वार्थसार (१४७५ ई०), (३) ईश्वरतीर्थ द्वारा लिखी गयी रामायणतत्त्वदीपिका, (४) माधवयोगी का अमृतकटक (१६५० ई०), (५) वैद्यनाथ द्वारा विरचित रामायणदीपिका (१५०० ई०) (६) ईश्वरदीक्षित द्वारा लिखी विवरण (१५२५ ई०), (७) गोविंदराजकृत रामायणभूषण (१५५० ई०), (८) अहोबल का वाल्मीकिहृदय (१५७५ ई०), (९) महेश्वर की रामायणतत्त्वदीपिका (१६०० ई०); (१०) राजारामवर्मा का रामायणतिलक (१७०० ई०) (इसके वास्तविक प्रणेता नागेश हैं), (११) वंशीधर एवं शिवसहाय द्वारा लिखित रामायणशिरोमणि (१८६५ ई०)। इनमें तिलक, भूषण आदि टीकाएँ ऐसी हैं, जिनका उपयोग अभी तक विद्वत्समाज बराबर करता आया है।

रचनाकाल—रामायण के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों के मत इस प्रकार हैं—

श्लेगल—११०० ई० पू०

याकोबी—८०० ई० पू०

कामिल बुल्के—६०० ई० पू०

मैक्डॉनल, काशीप्रसाद जायसवाल, जयचंद्रविद्यालंकार तथा अन्य—५०० ई० पू०

विंटरनित्स—३०० ई० पू०

वेबर—३२६ ई० पू० —सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात्।

इस संबन्ध में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं—

(१) वैदिक साहित्य से सम्बन्ध—ऋग्वेद के एक सूक्त में सीता का कृषि देवी के रूप में स्तवन है। परन्तु रामायण की सीता से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार उपनिषदों में एक विचारक के रूप में राजा वैदेह जनक का अनेकत्र उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर राम का उल्लेख आता है। चिंतामणि विनायक वैद्य के अनुसार यह उल्लेख दशरथनंदन राम का ही है।

(२) पारम्परिक मत—इस मत के अनुसार वाल्मीकि राम के समय में हुए। उन्होंने अपनी ऋषि-दृष्टि से राम के जन्म के पूर्व ही रामायण की घटनाओं को जान लिया था और उन्हें काव्यात्मक रूप में निबद्ध कर दिया था।

(३) सांस्कृतिक व सामाजिक स्थिति—रामायण में चित्रित सांस्कृतिक तथा सामाजिक दशा ५०० ई० पू० के पहले के भारत की प्रतीक होती है। अत: रामायण का रचनाकाल इसके पहले माना जाना चाहिये। मूर्ति-पूजा का कहीं उल्लेख रामायण में नही है।

(४) भौगोलिक स्थिति—रामायण में प्रतिपादित भौगोलिक स्थिति तथा नगरों की अवस्थिति से संकेत मिलता है कि इसकी रचना बौद्धकाल (६०० ई० पू०) के पहले हो चुकी थी। इसमें कौशांबी, कान्यकुब्ज, कांपिल्य आदि नगरों का उल्लेख है, पर पाटलिपुत्र (पटना) का नहीं, जबकि बालकांड के पैंतीसवें सर्ग में राम उसी स्थान से गंगा पार करते हैं, जहाँ आगे चल कर पाटलिपुत्र नगर बसाया गया। वाल्मीकि भौगोलिक स्थितियों का इतना सूक्ष्म तथा प्रामाणिक चित्रण करते हैं कि यदि गंगा किनारे उनके समय पालटिपुत्र नगर रहा होता, तो वे उसका विवरण अवश्य देते। पाटलिपुत्र नगर की स्थापना ३८० ई० पू० के पहले हो चुकी थी। इसी प्रकार रामायणकार ने मिथिला तथा विशाला—इन दो स्वतंत्र राजधानियों का उल्लेख किया है, जो बुद्ध के समय एक हो गयी थीं। अयोध्या के लिए बौद्धकाल में साकेत शब्द प्रचलित हो गया, जिसका रामायण में कहीं नाम नहीं है। बौद्धयुग की सुप्रसिद्ध नगरी श्रावस्ती का भी उल्लेख रामायण में नहीं हुआ। उत्तरकाण्ड में अवश्य एक स्थान पर कहा गया है—श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य ह—इससे सिद्ध होता है कि रामायण की रचना के अंतिम चरण में श्रावस्ती नगरी की स्थापना हो रही थी। अत: रामायण की रचना बौद्धयुग के पूर्व मानना सर्वथा उचित है। जैन तथा बौद्ध धर्मों का कहीं उल्लेख रामायण में नहीं है, न इनका कोई प्रभाव परिलक्षित होता है। एक स्थान पर बुद्ध का नामोल्लेख है, पर इस स्थल को प्रक्षिप्त माना गया है।

(५) व्याकरण तथा भाषा की दृष्टि से परीक्षण करने पर रामायण की भाषा तथा उसमें मिलने वाले अनेक अपाणिनीय (पाणिनि-व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करने वाले) प्रयोगों के आधार पर अनेक विद्वानों का मानना है कि रामायण की रचना पाणिनि (५०० ई० पू०) के पहले हो चुकी थी।

(६) दूसरी शताब्दी ई० में रचित कुमारलात की कल्पनामंडितिका में रामायण के सार्वजनिक गायन का उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि ईसा के आसपास रामायण का समाज में व्यापक प्रसार हो चुका था। प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में विमलसूरि ने रामायण पर आधारित अपने प्राकृत महाकाव्य पउमचरिउ की रचना की।

निष्कर्षत: रामायण के मूल भाग का रचनाकाल वैदिक साहित्य के अंतिम चरण तथा बौद्धयुग के पूर्व ७०० ई० पू० के लगभग मानना उचित है।

रामायण और महाभारत का पौर्वापर्य—भारतीय परम्परा रामायण को महाभारत का पूर्ववर्ती मानती है। इस सम्बन्ध में ये सुस्पष्ट प्रमाण भी हैं—(१) महाभारत में रामायण पर आधारित रामोपाख्यान का होना, (२) महाभारत में वाल्मीकि का पूज्य और प्राचीन महर्षि के रूप में स्मरण तथा द्रोणपर्व में वाल्मीकि का एक श्लोक उद्धृत होना, (३) रामायण में वर्णित श्रृंगवेर तथा गोप्रतार आदि स्थानों का महाभारत में प्राचीन तीर्थों के रूप में वर्णन।

तथापि कुछ विद्वानों ने इन प्रमाणों पर विचार न करते हुए महाभारत को रामायण से पूर्ववर्ती सिद्ध करने का प्रयास किया है। इन विद्वानों में वेबर, विंटरनित्स,

रमेशचंद्र दत्त, डॉ० रामजी उपाध्याय आदि प्रमुख हैं। चिंतामणि विनायक वैद्य रामायण के दो रूप मानते हैं। उनके अनुसार रामायण के प्राचीन रूप की रचना १२०० ई० के आसपास भारत की रचना के पश्चात् तथा महाभारत के पूर्ण होने के पहले हुई, जबकि रामायण के वर्तमान रूप की पूर्ति ५०० ई० पू० के आसपास हुई। महाभारत को रामायण से पूर्ववर्ती मानने में निम्नलिखित प्रमाण दिये जाते हैं—(१) महाभारत का विकास जय, भारत तथा महाभारत—इन तीन कड़ियो में हुआ। उसका प्रथम संस्करण जय १००० ई० पू० के पहले का हो सकता है। रामायण के रचनाकाल की पूर्वसीमा इसके पहले नहीं मानी जा सकती। (२) रामायण भाषाशैली और काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से अधिक विकसित कृति है, जो परवर्तित्व का बोधक है। (३) रामायण के छंदोविधान पर पालिकाव्य का प्रभाव है, अत: यह बौद्धयुग की कृति है, और महाभारत उसके पहले की। (४) महाभारत में प्रतिपादित संस्कृति अल्पविकसित तथा बर्बर है। जबंकि रामायणीय संस्कृति अधिक विकसित तथा समुन्नत है।

ये सभी प्रमाण असंगति और अंतर्विरोध से ग्रस्त हैं। महाभारत के प्रथम संस्करण का रचनाकाल १००० ई० पू० अनुमान के आधार पर ही बताया गया है। किसी भी कृति का काव्योत्कर्ष में अधिक उत्कृष्ट होना उसके परवर्तित्व का प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यही बात रामायण की संस्कृति को अधिक विकसित बताकर उसका परवर्तित्व सिद्ध करने के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वस्तुत: सांस्कृतिक स्थिति की दृष्टि से तो महाभारत ही रामायण से सर्वथा परवर्ती सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण दिये जा सकते हैं—(१) रामायण में युद्ध प्राय: पत्थरों, वृक्षों या इस प्रकार के आयुधों से किया गया है। महाभारत में नाराच, तोमर, शक्ति आदि विविध प्रकार के अस्त्रों का वर्णन है। (२) रामायण में दानव, राक्षस, वानर, ऋक्ष आदि आर्येतर जातियों की आर्यों से पृथक् सत्ता है। महाभारत में ये जातियाँ प्राय: लुप्त हो गयी हैं या आर्य समाज में घुलमिल गयी हैं। (३) महाभारत की धार्मिक तथा दार्शनिक स्थिति बहुत बाद की है। उसमें पौराणिक धर्म के उदय तथा षड्दर्शनों के विकास होने की सूचना मिलती है। (५) महाभारत में वाल्मीकि को एक प्राचीन कवि तथा महर्षि के रूप में अनेक स्थानों पर उल्लिखित या उद्धृत किया गया है।

रामायण के आख्यान—रामायण के बालकांड तथा उत्तरकांड में विशेष रूप से कतिपय प्राचीन कथाएँ संग्रहीत हैं। बालकांड में ऋष्यशृंग, वसिष्ठ, विश्वामित्र, मेनका, रम्भा, वामनावतार, गंगावतार तथा समुद्रमंथन के आख्यान हैं। उत्तरकांड में ययाति, नहुष, वृत्रासुरवध, अगस्त्य तथा बुध और इला की कथाएँ दी गयी हैं। रामायण में मुख्य रूप से तीन प्रकार के आख्यान मिलते हैं—(१) रामायण के पात्रों या कथावस्तु से जुड़े आख्यान जैसे—श्रवणकुमार कथा, विश्वामित्र-वसिष्ठ के आख्यान, अगस्त्य की कथा या शरभंग ऋषि की कथा। (२) मुख्य कथा से असंबद्ध पर किसी पात्र द्वारा वार्तालाप में सुनाये गये आख्यान। विश्वामित्र राम को मिथिला ले जाते समय बातचीत के क्रम में इस प्रकार के अनेक आख्यान सुनाते हैं। (३) स्वतंत्र पौराणिक आख्यान।

चरित्र-चित्रण (पात्रपरिशीलन)—राम को मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में भारतीय परम्परा में पहली बार वाल्मीकि की रचना ने ही स्थापित किया। वाल्मीकि के ही शब्दों में राम के चरित्र में 'समुद्र के समान गांभीर्य और हिमालय के समान धैर्य' है। सहिष्णुता, परदुःखकातरता, स्नेह, त्याग और शौर्य के गुणों का अनूठा प्रतिमान राम के चरित्र के द्वारा आदिकवि ने रच दिया है। ऐसे गुणों के कारण ही मनुष्य का व्यक्तित्व दुर्लभ भव्यता से सम्पन्न बनता है। राम के लिए सत्य ही कहा है—

नहि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात्।
नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तोऽपि राघवे॥

(२/१५/१०)

(राम सामने से गुजर जायें, तो कोई भी व्यक्ति उनके ऊपर से आँखें और मन को हटा नहीं पाता था, यहाँ तक कि वे निकल जाते तब भी लोगों की आँखें और मन उन्हीं पर लगे रह जाते।) संकट के क्षणों में अटूट धैर्य और विवेक का प्रदर्शन राम करते हैं। राज्याभिषेक का समाचार सुन कर उनके चित्त में कोई विकार नहीं आया। थोड़ी देर बाद ही उन्हें पता चला कि उन्हें राजपद नहीं, वनवास दिया गया है, तो इससे उन्हें रंच मात्र भी क्लेश नहीं हुआ—

न चास्य महती लक्ष्मींराज्यनाशोऽपकर्षति।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षपा॥

(२/१६/५८)

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया॥

(२/१६/५८,५९)

राम के मानवीय गुण संवेदनशीलता और करुणा उस समय उजागर होते हैं, जब वे वन के लिए प्रस्थान करते समय अपनी माता कौशल्या के लिए चिंता से कातर बन जाते हैं। वनवास के दिनों में भी उन्हें बार-बार अपनी माँ की चिंता सताती है। राम देशकालज्ञ हैं, वे बिगड़ी हुई बात को सँभालना जानते हैं। वनवास का समाचार सुनाने वाली कैकेयी से वे जिस शिष्टता, मृदुलता और विनय के साथ बात करते हैं, उसमें परिस्थिति का तत्कालबोध और व्यावहारिक बुद्धि भी देखते ही बनती है। उनकी तुलना में लक्ष्मण अधीर और जल्दी आवेश में आ जाते हैं। वे सरल स्वभाव के हैं, राम की तरह वाक्चातुर्य भी उनमें नहीं है। पर जितनी जल्दी वे रोषाविष्ट हो जाते हैं, उतनी ही जल्दी उनका उफनता क्रोध शांत भी किया जा सकता है। वे संकोची और स्त्रीभीरु स्वभाव के हैं। बालि के वध के बाद रागरंग में डूबे सुग्रीव को चेताने के लिए वे बहुत उत्तेजित और कुपित हो कर उसके अंतःपुर में प्रवेश करते हैं, पर वहाँ स्त्रियों को सामने देख कर सकुचा जाते हैं—'अवाङ्मुखोऽभुन्मनुजेन्द्रपुत्रः स्त्रीसन्निकर्षाद्विनिवृत्तकोपः।' अपने सामने तारा को देख कर राजकुमार लक्ष्मण ने सिर झुका लिया और स्त्री के सामने आ जाने से उनका क्रोध उड़ गया।

राम यदि पुरुष के दिव्य गुणों के उज्ज्वल प्रतीक हैं, तो हनुमान् मनुष्य की समग्र मानसिक और भौतिक क्षमता के। मात्र बल और पराक्रम का ही नहीं, मनुष्य के संपूर्ण विवेक का भी उनमें परिपाक हुआ है। सुग्रीव ने उनकी प्रशंसा में ठीक ही कहा है—

त्वय्येव हनुमन्नस्ति बलं बुद्धिः पराक्रमः।
देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित॥ (४/४३/६)

मानवस्वभाव की दुर्बलता का भी चित्रण आदिकवि करते हैं, पर यह दिखाने के लिए कि आदर्श मनुष्य अपनी दुर्बलताओं से किस प्रकार संघर्ष करते हैं, और उन पर विजय पाते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दों में—

''यदि कवि वाल्मीकि मनुष्य के चरित्र का वर्णन न कर देवचरित्र का वर्णन करते, तो अवश्य ही रामायण का गौरव कम हो जाता, उसे काव्य की दृष्टि से क्षतिग्रस्त होना पड़ता। राम के मनुष्य होने से ही रामचरित्र की इतनी महिमा है। रामायण में देवता ने पदच्युत होकर अपने को मनुष्य नहीं बनाया, मनुष्य ही अपने गुणों के कारण देवता बन गया है।''

जीवन के सारे यथार्थ के बीच आदर्श का निर्वाह वाल्मीकि के चरित्रचित्रण की विशेषता है। मानव-स्वभाव की सूक्ष्मताएँ और जटिलताएँ उनके काव्य में विशद रूप से अंकित हैं। वनवास के समय सीता राम के साथ चलना चाहती हैं, राम उन्हें वन की भीषणता से डरा कर रोकना चाहते हैं। सीता उत्साह के साथ कहती हैं—त्वया सह गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्। (२/२४/५)। मैं तुम्हारे रास्ते के कुश-काँटे रौंदती हुई तुम्हारे साथ चलूँगी। अंतिम अस्त्र के रूप में वे राम के पौरुष पर प्रहार करती हैं—प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप राघवम्—अपने प्रेम और स्वाभिमान के कारण सीता राम को डपटने लगीं। उन्होंने कहा—मेरे पिता ने क्या समझ कर तुम्हारे साथ मेरा पल्ला बाँध दिया, तुम तो पुरुष के विग्रह में एक स्त्री हो (जो मुझे वन में साथ ले जाने में भी डर रहे हो)! पति के प्रति अनन्य विश्वास, आस्था और निष्ठा सीता के चरित्र में कूट-कूट कर भरी हुई है। भारतीय नारी की तेजस्विता और तपोवृत्ति का अनुपम उदाहरण सीता के चरित्र के द्वारा वाल्मीकि ने स्थापित किया है। सीता की एक झलक देख कर ही हनुमान् कह उठते हैं—

इमामपि विशालाक्षीं रक्षितां स्वेन तेजसा।
रावणो नातिवर्तेत वेलामिव महोदधेः॥
न हि शक्यः स दुष्टात्मा मनसापि हिमैथिलीम्।
प्रधर्षयितुमप्राप्तां दीप्तामग्निशिखामिव॥

(६/१०६.१५,१६)

(यह विशाल नयनों वाली सीता अपने ही तेज से रक्षित है। जिस तरह सागर अपने तट को नहीं लाँघ सकता, उसी तरह रावण इसकी मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकता। जैसे जलती अग्निशिखा को छूने की कल्पना कोई नहीं कर सकता, उसी तरह वह दुष्ट मन से भी इसे स्पर्श नहीं कर सकता।)

पर उनकी नारी सुलभ चंचलता भी बहुत सुन्दर रूप में वाल्मीकि ने चित्रित की है। स्वर्णमृग को देख कर वे किस प्रकार राम से उसको मार कर लाने के लिए निहोरा करती हैं, वन में किस प्रकार एक-एक पेड़, लता या पादप का नाम कौतूहल के साथ-साथ पूछती चलती हैं यह पूरी सुकुमारता के साथ रामायणकार चित्रित करते हैं। कैकेयी गंभीर और मनस्विनी नारी है, पर हर नारी के भीतर अपने बेटे को आगे बढ़ाने की कामना छिपी रहती है, मंथरा उसकी कामना को आग की तरह सुलगा देती है। जो कैकेयी राम के राज्याभिषेक का समाचार मंथरा के मुख से सुन कर प्रसन्नता से खिल उठती है, और मंथरा जब इस बात पर चिढ़ जाती है, तो उसे बुरा-भला सुना कर उसकी बहुत निंदा करती है; वही कैकेयी कुछ ही क्षणों में मंथरा के ही बहकावे में इस तरह आ जाती है कि वही मंथरा उसे परम बुद्धिमान्, सुंदर और प्रिय लगने लगती है, तथा वह जी भर कर मंथरा की प्रशंसा करती है। इस प्रशंसा को अतिरंजित और हास्यास्पद बना कर वाल्मीकि ने मानव-मन की विचित्र गति पर सूक्ष्म व्यंग्य किया है। परिस्थितियों के बीच प्रतिक्षण परिवर्तित होती मानवमन की दशाओं के बहुत सूक्ष्म चित्र वाल्मीकि ने उकेरे हैं। कामी और वृद्ध दशरथ अपनी तरुणी भार्या को मनाने और रिझाने की चेष्टाएँ कर रहे हैं, वे अपने मन में यह भी समझते हैं कि वे अनुचित मार्ग पर चल रहे हैं। अपने आपको मोह से रोक न पाने की परिणति को भी वो जान रहे हैं। अपने आपसे हार कर वे राम से कहते हैं—"राम, मैं कैकेयी के वरदान से मोहित हूँ। तुम मुझे कारागार में डाल दो, और स्वयं राजा बन जाओ।" इससे विचित्र बात क्या हो सकती है कि एक सम्राट् अपने पुत्र से स्वयं को कारावास में डाल कर राजा बन जाने का अनुरोध करे! फिर अंततः कोई गति न देख कर दशरथ क्षणिक आश्वासन से मन को भरमाया रखना चाहते हैं—

अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा।
एकाहदर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम्॥ (२/३१.२७)

(हे पुत्र, आज की इस रात में मत जाओ। एक दिन तुम्हें और देख लूँ, तो मेरा मन लगा रहेगा।)

भरत के चरित्र को तो वाल्मीकि ने अपनी लेखनी से अमर बना ही दिया है। भरत त्याग, विनय और स्नेह के मूर्तिमान् रूप हैं।

वाल्मीकि ने अपने चरित्रों के उपस्थापन में मनुष्य की गरिमा की रक्षा की है। उनका प्रत्येक चरित्र मानवीय गुणों से युक्त है। रावण का चरित्र तो उसके पांडित्य, शूरता, कुलीनता, बुद्धिमत्ता और उग्रता में अप्रतिम है। वाल्मीकि ने उसके चरित्र के कृष्णपक्ष को भी चित्रित किया है और उज्ज्वल पक्ष को भी। रावण की मनस्विता और तेज अदम्य हैं।

रस—रामायण का अंगी (प्रधान) रस करुण है। इस महाकाव्य का उद्भव ही करुणा की वृत्ति से हुआ है। वाल्मीकि स्वयं कहते हैं कि उनके भीतर का श्लोक, श्लोक के रूप में परिणत हो गया है—

सोऽनुव्याहरमाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः
तथा—**शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतुनान्यथा।**

रामायण में आद्यंत करुणा की स्रोतस्विनी प्रवहमाण है। इस करुण रस की विशेषता मनुष्य जीवन के अटूट संघर्ष और संकट के क्षणों की अनुभूति में है। मनुष्य अपने जीवन के घात-प्रतिघात, नियति के थपेड़ों और दूसरों के द्वारा किये जाने वाले उत्पीडन से किस प्रकार जूझता और अंत में अपने संघर्ष के द्वारा उबरता है, यह कवि की सच्ची मानवीय संवेदना के साथ रामायण में पदे-पदे हम अनुभव करते हैं। छोटी-छोटी घटनाओं या कथा-प्रसंगों के माध्यम से वाल्मीकि जीवन में निहित करुणा को उजागर कर देते हैं। राम वनवास के लिए प्रस्थान कर रहे हैं। कैकेयी सीता को भी पहनने के लिए वल्कल वस्त्र दे देती है। इस प्रसंग का चित्रण करते हुए कवि कहता है—''अपने परिधान के लिए लाये गये उस वल्कल को देख कर सीता भयभीत हरिणी की भाँति घबरा उठी। उसने काँपते हाथों से कैकेयी से कुशचीर ले लिये। पता नहीं था कि वल्कल कैसे पहना जाता है। अश्रुपूर्ण नयनों से उस धर्मज्ञा ने पति से पूछा—वनवासी मुनि लोग इन चीरों को कैसे बाँधते हैं ? फिर उसने एक चीर को गले में डाल लिया। आगे क्या करना है—यह न समझ कर वह लज्जा से मुँह झुकाये खड़ी रह गयी। तब राम ने फुर्ती से उसके हाथों से वल्कल ले कर उसके वस्त्र के ऊपर बाँध दिया। राजकुमार राम को अपने हाथ से सीता के लिए चीर बाँधते देख कर अंत:पुर की स्त्रियों की आँखों से आँसू बह निकले।'' वनवास के समय पुरवासियों का विषाद, दशरथ और कौशल्या का विलाप, वन में विराध राक्षस के द्वारा सीता को पकड़ कर ले जाना, कबंध राक्षस का लक्ष्मण को पकड़ लेना, सीताहरण, सीता का अशोकवाटिका में निवास—इन सब प्रसंगों के चित्रण में शोक, चिंता, अवसाद के भाव करुणा के महासागर पर ऊर्मियों की भाँति उठते-गिरते हैं। रावण का वध हो जाने के बाद राम के रावण के विषय में कथन अपने आप में अत्यन्त मार्मिक हैं। और सीता का राम से पुनर्मिलन का जैसा दारुण और हृदयद्रावक प्रसंग तो हमारे साहित्य में अन्यत्र रावणवध के पश्चात् कदाचित् नहीं मिलेगा।

करुण रस के अतिरिक्त शृंगार के संयोग और विप्रलंभ इन दोनों रूपों का सुन्दर चित्रण वाल्मीकि ने किया है। शृंगार निरूपण में राम और सीता के पारस्परिक प्रेम की अनन्यता और शुचिता का प्रत्यय हमें आदिकाव्य में होता है। राम के वियोग की पीड़ा का निरूपण करते हुए वाल्मीकि ने मनोभावों का आलोडन-विलोडन करते हुए राम के हृदय के स्पंदन और उच्छलन को पूरे वेग से प्रकट किया है। राम कहते हैं—

शोकश्च किल कालेन गच्छता ह्यपगच्छति।
मम चापश्यतः कान्तामहन्यहनि वर्धते॥ (रामा० ६/५.४)

(लोगों का शोक समय बीतने के साथ धीरे-धीरे कम होता चला जाता है। मेरा शोक सीता को न पाकर प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।)

वाहि वात यतः कान्ता स्पृष्ट्वा तां मामपि स्पृश।
त्वयि मे गात्रसंस्पर्शश्चन्द्रे दृष्टिसमागमः॥ (रामा० ६/५/६)

(हे वायु, तुम उसी स्थान पर जा कर बहो जहाँ सीता है, और उसे छू कर मुझे छुओ। तब मेरे देह में तुम्हारा स्पर्श चन्द्रमा में दृष्टि मिल जाने जैसा होगा।)

इसी प्रकार वाल्मीकि के युद्ध के वर्णन अपनी गत्यात्मकता, बलशालिता और ओजस्विता में अनुपम हैं। युद्ध के उत्साह और उन्माद, भय और आतंक, जिजीविषा और मुमूर्षा का भावसंधि और भावशबलता से समन्वित चित्रण उन्होंने विस्तार से किया है। करुण प्रसंगों में उनकी भाषा जितना सुकुमार रूप प्रकट करती है, युद्ध के उपक्रम में उतना ही तेजस्वी रूप भी वह उजागर करती है। राम क्रुद्ध हो कर समुद्र को सुखाने के लिए धनुष पर बाण खींचते हैं—

तस्मिन् विकृष्टे सहसा राघवेण शरासने।
रोदसी सम्पफालेव पर्वताश्च चकम्पिरे॥
तमश्च लोकमावव्रे दिशश्च न चकाशिरे॥ (६.२२/६,७)

(काम ने धनुष पर जैसे ही बाण खींचा, पृथिवी और आकाश गिर-से पड़े, पहाड़ काँप उठे, अँधेरे ने संसार को घेर लिया, दिशाएँ मंद पड़ गयीं।)

संग्राम की विभीषिका और उससे उत्पन्न सम्मर्द (भगदड़) का उनका चित्रण अपूर्व ही है।

राक्षसोऽसीति हरयो हरिश्चासीति राक्षसाः।
अन्योन्यं समरे जघ्नुस्तस्मिंस्तमसि दारुणे॥
जहि दारय चेहीति कथं विद्रवसीति च।
एवं स तुमुलः शब्दस्तस्मिंस्तमसि शुश्रुवे॥

आलंबन में भय और आश्रय में क्रोध का चित्रण कर के वाल्मीकि रौद्र रस की प्रभविष्णु सृष्टि युद्ध के प्रसंगों में की है। एक पक्ष में उत्साह, अमर्ष आदि भाव जाग्रत् होते हैं, तो दूसरे पक्ष में शंका, त्रास, ग्लानि, निर्वेद, असूया आदि भाव घर करने लगते हैं। समूह के भीतर संक्रामक रोग की तरह फैलते इन भावों का प्रसार दिखाने में वाल्मीकि की दृष्टि बड़ी पैनी है। राक्षसों से संत्रस्त वानरों के चित्रण में वे कहते हैं—

वीक्षमाणा दिशः सर्वास्तिर्यगूर्ध्वं च वानराः।
तृणेष्वपि च चेष्टत्सु राक्षसा इति मेनिरे॥ (६/३७/४)

(सब दिशाओं में आगे-पीछे देखते हुए वे वानरगण तनके के हिलने पर भी राक्षस आ गया—इस डर से घबरा उठते थे।)

अलंकारों का अत्यन्त स्वाभाविक विन्यास रामायण में निरन्तर हुआ है। ये अलंकार भाव और रस के परिपोष में सहायक हैं। राम के विरह के प्रसंग में हेमंत ऋतु के तुषार के घिरे चन्द्रमा का वर्णन है—

रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥

(सूर्य में अपना सौभाग्य संक्रान्त कर चुका तथा तुषार से घिरे मंडल वाला चन्द्रमा निःश्वास से अंधे दर्पण के समान चमक नहीं रहा है)। यहाँ निःश्वास से अंधे बने दर्पण का उपमान राम की विषादग्रस्त मनोदशा के सर्वथा अनुकूल है, तथा वह

उनके मन की ऊहापोह और सीता का पता न चल पाने की अनिश्चित स्थिति को व्यक्त करता है। 'अंध' शब्द का दर्पण के लिए प्रयोग लाक्षणिक सौन्दर्य तथा लक्षणामूल ध्वनि के अर्थांतरसंक्रमितवाच्य नामक भेद का भी उत्कृष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार संध्या के वर्णन में कहा है—

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका।
अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम्॥

(चंचल चन्द्रमा के कर (किरण, हाथ) के स्पर्श के हर्ष के कारण खिल उठे तारक (तारे, आँखों की पुतलियाँ) वाली, रागवती (लालिमा से युक्त, अनुराग से युक्त) संध्या स्वयं अंबर (आकाश, वस्त्र) छोड़ रही है। यहाँ एकसाथ अनायास ही चार शब्दों में श्लेष कवि ने रच दिया है, उसके कारण चन्द्रमा और संध्या का मानवीकरण और श्रृंगार की सुन्दर अभिव्यक्ति यहाँ हो गयी है।

वाल्मीकि के उपमानों में कवि कल्पना की निस्सीमता का बोध होता है। वे अपने उपमानों में अंत:प्रकृति और बाह्य प्रकृति का समन्वय करते हैं, अत: वे कभी स्थूल दृश्य के लिए अमूर्त उपमान का प्रयोग करते हैं, तो कभी अमूर्त वस्तु के लिए स्थूल पदार्थ को उपमान बनाते हैं। अमूर्त उपमानों का नितान्त विशिष्ट प्रयोग उन्होंने अशोकवाटिका में स्थित सीता के वर्णन में किया है। सीता उन्हें संदिग्ध हुई स्मृति के समान, विनष्ट होती समृद्धि के समान, आहत हुई श्रद्धा के समान, प्रतिहत हुई आशा के समान, विघ्नों से रोकी गयी सिद्धि के समान, कलुषित हुई बुद्धि के समान, अपकीर्ति से ग्रस्त कीर्ति के समान प्रतीत होती हैं। स्वाध्याय के अभाव में प्रशिथिल विद्या के समान उस सीता को देख कर हनुमान् की बुद्धि संदेह में पड़ गयी (कि क्या ये ही सीता हैं), वे उसे कठिनाई से पहचान सके, जैसे संस्काररहित तथा अन्य अर्थ को प्राप्त वाणी कठिनाई से समझी जाती है।

तस्य सन्दिदिहे बुद्धिस्तथा सीतां निरीक्ष्य च।
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव॥
दु:खेन बुबुधे सीतां हनूमाननलङ्कृताम्॥
संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम्॥

इसी प्रकार एक कारक के लिए अनेक क्रियाओं या एक क्रिया में अनेक कारक गूँथते हुए दीपक अलंकार का या कई कारकों और कई क्रियाओं को समन्वित करते हुए यथासंख्य अलंकार का प्रयोग भी निपुणता के साथ वाल्मीकि की रचना में हुआ है। किष्किंधाकांड में वर्षा-वर्णन में वाल्मीकि कहते हैं—

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ता: प्रियाविहीना: शिखिन: प्लवङ्गा:॥

वर्णनकला—वाल्मीकि अपने वर्णनों में किसी भी दृश्य या वस्तु को मूर्त करके उसका मानस बिम्ब उपस्थित कर देते हैं। अतीत और अनागत भी उनकी लेखनी से मूर्त होकर हस्तामलकवत् प्रतीत होने लगती हैं। उनकी शैली चिरनिर्वृत्त घटनाओं को

भी प्रत्यक्ष-सा घटित दिखा देती है। इसलिए ब्रह्मा वाल्मीकि के कवित्व की प्रशंसा करते हुए रामायण में भी कहते हैं—

चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्॥ (रामा० १/४.१६)

अपने वर्णनों में किसी भी दृश्य को मूर्त करने के लिए वाल्मीकि सटीक उपमाओं के साथ रमणीय उत्प्रेक्षाओं का भी प्रयोग करते हैं और नैसर्गिक पदार्थों का मानवीकरण कर देते हैं। समुद्र के वर्णन में वे कहते हैं—

चण्डनक्रग्राहघोरं क्षपादौ दिवसक्षये।
हसन्तमिव फेनोघैर्नृत्यन्तमिव चोर्मिभिः॥

(प्रचंड मगरों और घड़ियालों से भरा हुआ वह सागर दिन के ढल जाने पर और रात के आते समय फेन की राशि के कारण हँसता हुआ-सा प्रतीत होता था, और लहरों के कारण नाचता-सा लगता था।)

दो वस्तुओं को आमने-सामने रख कर उनकी तुलना एक दूसरे की विशेषताओं को स्पष्ट झलका देती है—यह आकाश और सागर को आमने-सामने रखकर वाल्मीकि ने प्रदर्शित किया है। वे कहते हैं—आकाश सागर के सदृश था और सागर आकाश के सदृश। दोनों में कोई अन्तर न था। सागर के ऊपर फैला आकाश क्षितिज पर सागर से सट गया था, इसलिए आकाश और सागर एक दूसरे में तदाकार हो गये लगते थे।

सागरं चाम्बरप्रख्यमाकाशं सागरोपमम्।
सागरं चाम्बरं चेति निर्विशेषमदृश्यत॥
सम्पृक्तं नभसाप्यम्भः सम्पृक्तं च नभोम्भसा।
तादृग्रूपे स्म दृश्येते ते तारारत्नसमाकुले॥
समुत्पतितमेघस्य वीचिमालाकुलस्य च।
विशेषो न द्वयोरासीत् सागरस्याम्बरस्य च॥

इसी प्रकार आगे चलकर अनन्वय अलंकार का सुन्दर प्रयोग करते हुए राम और रावण के युद्ध के लिए वे ही उपमान प्रयुक्त करते हैं—

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव॥

(आकाश, आकाश के ही जैसा है, और सागर, सागर के ही जैसा। राम और रावण का युद्ध राम और रावण के युद्ध जैसा ही है।)

उनकी कविता की इस विशेषता के आधार पर ही काव्यशास्त्रियों ने भाविक अलंकार की परिकल्पना की।

प्रकृतिचित्रण में वाल्मीकि ने विराट् के सौन्दर्य और गति को रूपायित किया है। जंगल, पर्वत, नदी, सागर और वनस्पतियों के भीतर के जीवन-स्पंदन का वे अनुभव हमें कराते हैं। प्रकृति के प्रतिक्षण परिवर्तमान रूप और नवोन्मेष को वे बारीकी से रेखांकित करते हैं। भागीरथी के वर्णन में कहा है—

जलाघाताट्टहासोग्रां फेननिर्मलहासिनीम्।
क्वचिद्वेणीकृतजलां क्वचिदावर्तशोभिताम्॥

क्वचित् स्तिमितगम्भीरां क्वचिदावर्तशोभिताम्।
क्वचिद् गम्भीरनिर्घोषां क्वचिद् भैरवनिःस्वनाम्॥

(पानी की लहरों के परस्पर टकराने से वह अट्टहास करती लगती थी, फेन से निर्मल हँसी हँसती दिखती थी, कहीं पर पानी की पतली धाराएँ इसकी वेणी की तरह थीं, कहीं पर भँवर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। कहीं पर वह ठहरी पर गहरी हो गयी थी, कहीं पर गंभीर निर्घोष कर रही थी, तो कहीं डरावना शोर।)

वाल्मीकि ने प्रकृति वर्णनों में उत्प्रेक्षा अलंकार का रमणीयविन्यास करते हुए प्रकृति को सजीव और मानवीय बना कर साकार कर दिया है। घाम में अब तक तप रही धरती वर्षा की पहली बौछार के बाद जब भभका छोड़ती है, तो वह विरही राम को दुःखिनी सीता की तरह निःश्वास छोड़ती लगती है। काले बादल के ऊपर कौंधती बिजली ऐसी लगती है जैसी रावण के द्वारा हरी जाते समय सीता उसके अंक में तड़प रही हो—

एषा घर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरप्लुता।
सीतेव शोकसन्तप्ता मही वाष्पं विमुञ्चति॥
नीलमेघाश्रिता विद्युत् स्फुरन्ती प्रतिभाति मे।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी॥

(रामा० ४/२७/७-१२)

इसी प्रकार सीता के वर्णन में वाल्मीकि कहते हैं—

समीपं राजसिंहस्य रामस्य विदितात्मनः।
सङ्कल्पहयसंयुक्तैर्यान्तीमिव मनोरथैः॥ (५/१७/६)

(विदित अंतःकरण वाले राजसिंह राम के पास वे सीता संकल्पों के अश्व जिसमें जुते हुए हैं—ऐसे मनोरथ (इच्छा, मन का रथ) में बैठ कर जाती हुई-सी लगती थीं।) यहाँ मनोरथ शब्द के श्लिष्ट प्रयोग के द्वारा कविता में अपूर्व चमत्कार आ गया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, अनन्वय, काव्यलिंग आदि अलंकारों की छटाएँ रामायण की रचना में सहज अन्वित होती चली गयी हैं। सुंदरकाण्ड में शब्दालंकारों की झड़ी कवि ने लगा दी है।

छंदोयोजना—यद्यपि रामायण में आद्यंत अनुष्टुप् छंद की प्रधानता है, पर बीच-बीच में अन्य छंदों का भी यथावसर प्रयोग हुआ है। वर्तमान में प्रकाशित रामायण के संस्करणों में अनुष्टुप् के अतिरिक्त निम्नलिखित छंद भी मिलते हैं—उपजाति, वंशस्थ, इंद्रवज्रा, उपेंद्रवज्रा, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, वैश्वदेवी, अपरवक्त्र, रुचिरा, वसंततिलका, मालिनी, वियोगिनी तथा भुजंगप्रयात।

रामायण का आदर्श तथा संदेश—वाल्मीकि ने समाज में व्याप्त विकृतियों और दुर्बलताओं को गहराई से पहचाना तथा उनका चित्रण भी किया है। पर वे हमें राम, हनुमान्, भरत जैसे महान् चरित्रों के द्वारा यह बताते हैं कि इन बुराइयों से कैसे बचा जाय। राजाओं और क्षत्रिय समाज की विलासिता का यथार्थ चित्रण उन्होंने दशरथ,

सुग्रीव और रावण के अंत:पुर के वर्णन में किया है। वृद्ध राजा दशरथ की अपनी युवती रानी कैकेयी को रिझाने की चेष्टाएँ विडंबनापूर्ण लगती हैं। दशरथ की कामुकता के प्रति वाल्मीकि ने अपनी अरुचि प्रकट की है। किष्किंधाकांड में सुग्रीव की विलासिता के चित्रण के साथ शासकवर्ग की आत्मरति और आत्मविस्मृति की तीखी भर्त्सना है। रावण का तो चरित्र ही शासक की निरंकुशता और ऐश्वर्य के मद का साकार रूप है। सामंतीय समाज के इस प्रकार के अध:पतन की प्रतिक्रिया में वाल्मीकि ने राम के जैसे महान् मर्यादापुरुषोत्तम का चरित्र उपस्थित किया। रामायण जीवन में सतत सत्कर्म की प्रेरणा देता है। मनुष्यों को अपने ऊपर आने वाले संकट और दु:ख को सहज भाव से स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि ये संकट और दु:ख सदा रहने वाले नहीं हैं। उनके कारण कर्म से विरत होकर संसार का त्याग करने का विचार नहीं करना चाहिये। राम ने अपने जीवन में कितने दु:ख सहे! रामायण के सारे पात्र जीवन में हताशा और अनास्था के क्षणों से उबर कर सत्संकल्प और कर्म का वरण करते हैं। हनुमान् सीता को खोजते-खोजते थक कर चूर हो जाते हैं। सीता नहीं मिलती, तो वे विरक्त होकर संन्यासी हो जाने का विचार करने लगते हैं। पर अंत में वे यही सोचते हैं कि अपने कर्तव्य में उत्साह के साथ लगे रहना ही उचित होगा, अंत में कभी न कभी सफलता मिलेगी ही।

अनिर्वेदः श्रियो मूलमनिर्वेदः परं सुखम्।
अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः॥ (५/१०/१०)

अपने क्षणिक मोह तथा आत्मघात के तामसिक विचार को परास्त करके हनुमान् सोचते हैं—

विनाशे बहवो दोषाः जीवन् प्राप्स्यामि भद्रकम्।
तस्मात् प्राणान् धरिष्यामि ध्रुवो जीवति सङ्गम॥ (५/११/४७)

(अपने आपको कष्ट दे कर अपना नाश करने में बहुत दोष हैं। जीवित रहूँगा, तो अवश्य ही कल्याण की प्राप्ति होगी ही। इसलिए प्राणों को धारण किये रहूँगा, जीवित रहा तो सीता का दर्शन अवश्य होगा।) इस प्रकार रामायण के सारे पात्र अस्तित्व के गहरे संकट और अवसाद के क्षणों में आस्था की खोज करते हैं। चिरसंचित अनुभव के रूप में उनका निष्कर्ष यही है—

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति माम्।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि॥ (५/३२/६)

(लोक में प्रचलित यह गाथा ही मुझे कल्याणपरक प्रतीत होती है कि मनुष्य जीवित रहे, तो सौ वर्षों की प्रतीक्षा के बाद भी उसे अंतत: आनंद मिलेगा ही।) जीवन मनुष्य के लिए वरदान है, अभिशाप नहीं। अत: अपने आपमें विश्वास रख कर कर्म करना जीवन है।

रामायण में सुभाषित आभाणक (कहावतें) तथा लौकिक न्याय (मुहावरे)—जिस भाषा में रामायण की रचना हुई, वह लोकजीवन में सम्पृक्त थी।

इसलिए इसमें पदे पदे लोकप्रचलित कहावतों और मुहावरों का सुन्दर गुँथाव हुआ है। वाल्मीकि ने अपनी ऋषि-दृष्टि से जीवन के मर्म का उद्घाटन किया है, अतः उनकी कविता में ऐसे सुभाषित या सुन्दर उक्तियाँ प्राप्त होती हैं, जो आज भी हमारे लिए मार्गदर्शक हैं। ऐसी उक्तियाँ शताब्दियों तक भारतीय मानस में घर किये रही हैं। उदाहरण के लिए—

नहि निम्बात् स्रवेत् क्षौद्रं लोके निगदितं वचः। (२/३/१७)

(यह सत्य ही कहा गया है कि नीम से शहद नहीं टपक सकता)।

आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसङ्ग्रहवर्तिनाम्।

(विवाहित लोगों के लिए पत्नी उनकी आत्मा के समान होती है।)

आम्रं छित्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत्तु कः। (२/३/१३)

(कौन समझदार होगा जो आम को तो कुल्हाड़ी से काट डाले और नीम को सींचता रहे?)

अप्रियस्य च पश्यस्य वक्ता श्रा ता च दुर्लभः (३/३५/२)

(अप्रिय और हितकर बात को कहने वाला और सुनने वाला दोनों कठिनाई से मिलते हैं)

पतिव्रतानां नाश्रूणि वृथा पतन्ति भूतले। (६/११/६७)

(पतिव्रताओं के आँसू धरती पर व्यर्थ नहीं गिरते।)

न स सङ्कुचितः पन्था येनबाली हतो गतः

(जिससे बाली मर कर गया, वह रास्ता सिकुड़ा नहीं है।)

(क्रुद्ध लक्ष्मण का सुग्रीव से कथन)

पारम्परिक समीक्षा में वाल्मीकि—भारतीय साहित्य की परम्परा में वाल्मीकि आदिकवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। कवयित्री विज्जिका ने कहा है कि वाल्मीकि के होने पर ही कविः यह पद एकवचन में अस्तित्व में आया, अर्थात् पहले एकमात्र कवि केवल वाल्मीकि ही थे—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।

क्षेमेंद्र के अनुसार वाल्मीकि कवियों में उसी तरह प्रथम हैं, जिस प्रकार वर्णों में ओंकार—'ओङ्कार इव वर्णानां कवीनां प्रथमो मुनिः।' आचार्य आनंदवर्धन ने वाल्मीकि की कविता को काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के लिए प्रेरक माना है। उनके अनुसार उन्होंने अपने समस्त सिद्धान्तों की परिकल्पना वाल्मीकि और व्यास जैसे प्रख्यात महाकवियों के काव्यों को कसौटी मान कर ही की—

वाल्मीकिव्यासमुख्याश्य ये प्रख्याताः कवीश्वराः।
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः॥

प्रबंध या महाकाव्य आदि में एक रस अंगी (प्रधान) होना चाहिये—शेष रस अंग के रूप में निबद्ध होने चाहिये—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए आचार्य

आनन्दवर्धन ने वाल्मीकि का उदाहरण देते हुए कहा है कि रामायण में आदिकवि ने करुण रस का आद्यंत निर्वाह किया है।

रामायणे हि करुणरसः स्वयमादिकविना सूत्रितः 'श्लोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तप्रबन्धमुपरचयता। इसी प्रकार आचार्य कुंतक भी रामायण में करुण रस अंगी मानते हैं।

उन्हें कवियों का मार्गदर्शक भी माना जाता है। भोज ने अपने चम्पूरामायण में उनके लिए कहा है—

मधुमयभणितीनां मार्गदर्शी महर्षिः।

(महर्षि वाल्मीकि मधुर उक्तियों के मार्गदर्शक हैं।)

कवि-परम्परा में वाल्मीकि को ब्रह्मा के समान माना गया है। ब्रह्मा ने लोक का निर्माण किया, तो आदिकवि ने श्लोक का—

आदिकवी चतुरास्यौ कमलजवल्मीकजौ वन्दे।
लोकश्लोकविधात्रोर्ययोर्भिदा लेशमात्रेण॥

महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार रामायण में भारतवर्ष की आत्मा झलकती है। उनके अनुसार रामायण के द्वारा भारतवर्ष का सच्चा स्वरूप हम जान सकते हैं। वे कहते हैं—''रामायण में केवल कवि का ही परिचय नहीं है, भारतवर्ष का परिचय प्राप्त होता है। इस रामायण की कथा से भारतवर्ष के क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या स्त्रियाँ सबको केवल शिक्षा ही नहीं मिलती है, शिक्षा के साथ-साथ उन्हें आनन्द भी मिला है। भारतवासियों ने रामायण को शिरोधार्य ही नहीं माना है, उन्होंने उसको अपने हृदय-सिंहासन पर स्थापित किया है।''

महाभारत

रामायण तथा महाभारत ये दोनों ग्रंथ भारत की संस्कृति और साहित्य के सर्वस्व कहे जा सकते हैं। महाभारत तो अपने विशाल कलेवर के कारण विश्वसाहित्य में सबसे बड़ा महाकाव्य भी है। महाभारत यह संज्ञा इसकी महत्ता तथा दीर्घ कलेवर के कारण प्रसिद्ध हुई होगी। स्वयं महाभारत में 'महाभारत' इस नामकरण का कारण बताया है—

महत्त्वाद् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते।

(महत्त्व और भार (आकार की विशालता) के कारण यह ग्रंथ महाभारत कहा गया है।)

महाभारत के प्रणेता—भारतीय परम्परा महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास को मानती है, एक द्वीप में जन्म लेने के कारण ये द्वैपायन व्यास भी कहे जाते हैं, तथा कृष्णवर्ण का होने के कारण इनका पूरा नाम कृष्णद्वैपायन व्यास है। वेदों का विभाजन करने के कारण इन्हीं को वेदव्यास भी कहा जाता है। भारतीय परम्परा व्यास मुनि को ही महाभारत के साथ अठारह पुराणों का भी कर्ता मानती है। ये पराशर ऋषि तथा सत्यवती के पुत्र थे। सत्यवती चेदि राजा वसु की पुत्री थी, जिसे मल्लाहों के स्वामी दासराज ने

पाला था। महाभारत की कथावस्तु में ये ही व्यास एक पात्र भी हैं। धृतराष्ट्र, पांडु तथा विदुर इन्हीं की नियोगजन्य संतानें हैं। महाभारत में महामति व्यास की महिमामय मेधा सर्वत्र प्रतिबिंबित है। इस कृति की सम्पूर्ण परिकल्पना उन्हीं की है, यह संभव है कि इसमें क्षेपक या प्रक्षिप्त अंश बाद के कवियों के द्वारा जोड़े जाते रहे हों और इससे इसका आकार बढ़ता गया हो। पाश्चात्त्य विद्वानों का मत है कि महाभारत किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकती। मैक्समूलर, विंटरनित्स, मैक्डॉनल, वेबर आदि का यही विचार है तथा कतिपय भारतीय विद्वानों ने भी इसका समर्थन किया है। दूसरी ओर महाभारत में ही यह कहा गया है कि कृष्णद्वैपायन मुनि ने तीन वर्षों तक निरन्तर जागते रह कर महाभारत नामक इस आख्यान का प्रणयन किया—

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थाय कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्॥

इसके साथ ही व्यास एक उपाधि भी रही है। प्रत्येक युग में व्यास होते रहे हैं। वेदों का विभाजन तथा पुराणों का संग्रह करने वाले किसी भी ऋषि को व्यास की पदवी दी जा सकती थी।

महाभारत के संस्करण तथा नाम—ऊपर बताया गया है कि महाभारत एक विकसनशील महाकाव्य है। आधुनिक विद्वानों का मत है कि इसकी रचना किसी एक व्यक्ति के द्वारा एक समय में नहीं हुई, अलग-अलग व्यक्तियों का इसकी रचना में योगदान रहा है और यही इसके कलेवर के विशाल होने का कारण भी है। आधुनिक विद्वान् इसका विकास तीन संस्करणों में मानते हैं। सबसे पहला संस्करण जय नामक था। यही मूल महाभारत है, जिसे व्यास ने लिखा। वस्तुतः महाभारत का एक नाम **जयसंहिता** महाभारत में ही बताया गया है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्।

अन्यत्र महाभारत को जय नामक इतिहास कहा है—

जय नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यं विजिगीषुणा।

विद्वानों की धारणा है कि जयसंहिता की रचना महर्षि व्यास ने ८८०० श्लोकों में की। इसका प्रमाण भी महाभारत में ही स्वयं व्यास के इस कथन के रूप में दिया जाता है—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेत्ति शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा॥

वैशंपायन व्यास के शिष्य थे। व्यास ने अपने ग्रंथ की रचना करके उसे वैशंपायन को सुनाया था। वैशंपायन ने अपने गुरु के आदेश से इस जय महाकाव्य का प्रवचन राजा जनमेजय के नागयज्ञ के अवसर पर सुनाया। जनमेजय ने कथा सुनते हुए बीच-बीच में जो शंकाएँ या प्रश्न किये, वे भी जय महाकाव्य में जुड़ गये। इस प्रकार जय संहिता को विस्तृत रूप दिया गया, तो यह भारत बन गयी। इसमें २४,००० श्लोक

थे। इसमें विविध उपाख्यान का समावेश नहीं था। इसकी पुष्टि में निम्नलिखित श्लोक महाभारत में प्राप्त होता है—

चतुर्विंशतिसाहस्त्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥

महाभारत का अंतिम संस्करण तब बना, जब सूत ने नैमिषारण्य (वर्तमान में उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले के आस-पास) में शौनक आदि ऋषियों को इसे सुनाया। तब यह एक लाख श्लोकों का महाभारत बन गया।

चिंतामणि विनायक वैद्य तथा कुछ अन्य विद्वान् जय तथा भारत को पर्याय मानते हुए उनका एक संस्करण तथा महाभारत के रूप में दूसरा संस्करण इस प्रकार महाभारत के दो संस्करण मानते हैं।

महाभारत के विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग पाठ-परम्पराएँ हैं। मुख्य रूप से उत्तरी तथा दक्षिणी ये दो महाभारत की पाठ-परम्पराएँ हैं। महाभारत के तीन प्रकाशित मुख्य संस्करणों में कलकत्ता संस्करण तथा बम्बई संस्करण में उत्तरी पाठ-परम्परा तथा मद्रास संस्करण में दक्षिणी पाठ-परम्परा का अनुवर्तन किया गया है।

महाभारत की टीकाएँ—महाभारत पर लिखी गयी प्राचीन ३६ टीकाओं का पता लगा है। इनमें से मुख्य टीकाएँ हैं—देवबोधकृत ज्ञानदीपिका, वैशंपायनकृत टीका, विमलबोधकृत विषमश्लोकी (१०५० ई०), नारायण सर्वज्ञकृत भारतार्थप्रकाशिका (१२५० ई०), चतुर्भुजमिश्रकृत भारतोपायप्रकाश (१३०० ई०), अर्जुनमिश्र (१३५०-१४०० ई०) की अर्थदीपिका तथा नीलकंठ की भारतभावदीप (१६५० ई०)। प्रथम दोनों टीकाएँ प्राचीनतम कही जा सकती हैं। इन टीकाओं में नीलकंठ की टीका सर्वाधिक उपयोगी मानी गयी हैं।

रचनाकाल—महाभारत के रचनाकाल के सम्बन्ध में निम्नलिखित साक्ष्य विचारणीय है—

(१) शिलालेखों के प्रमाण—पाँचवीं शताब्दी के दानपत्रों में महाभारत को धर्मशास्त्र के रूप में उद्धृत किया गया है, जिससे प्रतीत होता है कि इस काल तक महाभारत की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इन दानपत्रों में महाभारत का नाम शतसाहस्त्री संहिता भी उल्लिखित है। इसी प्रकार ४४५ ई० के गुप्त राजाओं के एक शिलालेख में महाभारत को 'शतसाहस्त्री संहिता' कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि चौथी-पाँचवीं शताब्दी में महाभारत का एक लाख श्लोकों वाला रूप प्रचलित हो चुका था।

(२) ऐतिहासिक प्रमाण—ग्रीक यात्री दियो क्रिसोस्तोम ५० ई० में भारत आया था। उसने अपने यात्रावर्णन में इस बात का उल्लेख किया है कि भारत के लोगों के पास एक लाख श्लोकों का 'इलियड' है। एक लाख श्लोकों से इस ग्रीक यात्री का आशय महाभारत से ही है। अतएव प्रथम शताब्दी ई० में महाभारत का वर्तमान स्वरूप प्रचार में आ चुका था।

(३) वैदिक साहित्य से सम्बन्ध—महाभारत नाम का सर्वप्रथम उल्लेख आश्वलायन गृह्यसूत्र में मिलता है। इस गृह्यसूत्र में भारत तथा महाभारत ये दोनों शब्द

उल्लिखित हैं। (सुमन्तजैमिनिवैशम्पायनपैलसूत्रभाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्या:)। बोधायनधर्मसूत्र में श्रीमद्भगवद्गीता का एक श्लोक उद्धृत है। श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का ही एक अंश है।

आश्वलायन तथा बोधायन धर्मसूत्रों का रचनाकाल ४०० ई० पू० के आसपास माना जाता है। अत: महाभारत ४०० ई० पू० के पूर्व अस्तित्व में आ चुका था। पं० बलदेव उपाध्याय इस आधार पर महाभारत का काल ६०० ई० पू० के आसपास मानने के पक्ष में हैं।

(४) महाभारत के युद्ध का समय—पारम्परिक मान्यता के अनुसार महाभारत का युद्ध द्वापर युग के अंत में लड़ा गया। अत: इसका समय ३००० ई० पू० के कुछ पहले है। महाभारत के युद्ध के पश्चात् ही इन महान् काव्य की रचना का उपक्रम हुआ। अत: महाभारत की रचना की पूर्वसीमा यही मानी जानी चाहिये। महाभारत का युद्ध तीन वैदिक संहिताओं (ऋक्०, यजु:०, साम०) की रचना के बाद की घटना प्रतीत होती हैं। इन संहिताओं में इस महायुद्ध का कोई संकेत नहीं है। ब्राह्मण ग्रंथों में कुरुक्षेत्र का एक यज्ञस्थली के रूप में वर्णन तो है, पर एक महायुद्ध की स्थली होने का कोई संकेत नहीं है। कुरुक्षेत्र में हुए महायुद्ध का वैदिक साहित्य के अंतर्गत सर्वप्रथम उल्लेख शांख्यायन श्रौतसूत्र (४/१६) में मिलता है, जिसमें कौरवों के इस युद्ध में सर्वनाश होने की सूचना भी दी गयी है। काठक संहिता में कुरुपांचालों के यज्ञभोज का वर्णन करते हुए विचित्रवीर्य के पुत्र धृतराष्ट्र की चर्चा है। साथ ही अथर्ववेद में तो कुरुओं को आश्रय देने वाले शांतिप्रिय राजा के रूप में परीक्षित का भी वर्णन है।

(५) साहित्यिक उल्लेख—संस्कृत के साहित्यकारों में सुबंधु तथा बाण ने महाभारत का उल्लेख किया है। महाकवि अश्वघोष ने अपने वज्रसूची नामक ग्रंथ में महाभारत के शांतिपर्व तथा हरिवंश से उद्धरण दिये हैं। हरिवंश महाभारत का ही परिशिष्ट है। अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी के लगभग है। अत: इस समय तक महाभारत के पूर्ण विकसित संस्करण का प्रचार-प्रसार हो चुका था—यह इन उल्लेखों से सिद्ध होता है।

(६) पाणिनि ने महाभारत का उल्लेख किया है। पाणिनि का समय ५०० ई० पू० है। अत: महाभारत का रचनाकाल ५०० ई० पू० के पहले माना जाना चाहिये।

(७) महाभारत में अनेक अपाणिनीय प्रयोग हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि पाणिनि व्याकरण के प्रचलन के पहले इसकी रचना हो चुकी थी।

विषय-वस्तु

महाभारत में १८ पर्व हैं, जिनके नाम तथा विषय वस्तु इस प्रकार हैं—

(१) आदिपर्व—इसमें महाभारत की भूमिका, जनमेजय का नागयज्ञ, आस्तीक की कथा, समुद्रमंथन, कद्रूविनता की कथा तथा दुष्यंत-शकुंतला और कचदेवयानी के उपाख्यान हैं। इसी प्रसंग में कौरववंश के राजा प्रतीप की चर्चा आती है, जिसका पुत्र शांतनु हुआ। शांतनु के दो पुत्र हुए—भीष्म और विचित्रवीर्य। विचित्रवीर्य की निस्संतान

मृत्यु हो गयी। उनकी पत्नी अंबा और अंबालिका से धृतराष्ट्र और पांडु का जन्म हुआ। धृतराष्ट्र का विवाह गांधार की राजकुमारी गांधारी से हुआ तथा पांडु का विवाह कुंती और माद्री से हुआ। गांधारी के दुर्योधन, दु:शासन आदि सौ पुत्र हुए। कुंती के तीन पुत्र हुए—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा माद्री के नकुल और सहदेव ये जुड़वाँ बेटे हुए। इन सब रोचक घटनाओं के साथ कौरव-पांडव राजकुमारों की शिक्षा, दुर्योधन का पांडवों को सताने या समाप्त करने के लिए षडयंत्र-रचना, लाक्षागृह में उन्हें जला कर मारने के प्रयास का वर्णन इस पर्व में है।

(२) **सभापर्व**—सभापर्व में पांडवों को इंद्रप्रस्थ का आधा राज्य मिलने के पश्चात् युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का वर्णन है, जिसके अन्तर्गत शिशुपाल का कृष्ण के द्वारा वध किये जाने का प्रसंग भी आता है। तत्पश्चात् युधिष्ठिर का जुए में हारना, द्रौपदी का चीरहरण तथा पांडवों के वनवास पर प्रस्थान की घटनाएँ वर्णित हैं।

(३) **अरण्यपर्व**—विदुर के परामर्श से अर्जुन हिमालय पर तप करने जाता है। उसका किरातरूपधारी शिव से युद्ध होता है। फिर शिव प्रसन्न होकर उसे पाशुपत अस्त्र देते हैं। इसके बाद अर्जुन की दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के लिए इंद्रलोक की यात्रा व प्रवास का वर्णन है। यहीं अर्जुन को अप्सरा का शाप मिलता है। नलोपाख्यान, जटासुर का वध, अर्जुन के द्वारा निवातकवच दैत्यों का संहार, जयद्रथ के द्वारा द्रौपदी के अपहरण की चेष्टा, रामोपाख्यान, सावित्र्युपाख्यान तथा इंद्र द्वारा कर्ण के कवचकुंडल के हरण के प्रसंग इस पर्व में हैं।

(४) **विराटपर्व**—इस पर्व में पांडवों का छद्‌म वेष में विराटनगर में रहना, कीचकवध तथा अभिमन्यु और उत्तरा के विवाह का वर्णन है।

(५) **उद्योगपर्व**—इस पर्व में महाभारत के युद्ध की तैयारी वर्णित है। शिखंडी के जन्म की कथा इसी पर्व में आयी है।

(६) **भीष्मपर्व**—इस पर्व में महाभारत का संग्राम प्रारम्भ होने के पूर्व अर्जुन का विषाद और श्रीकृष्ण का उसको श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का उपदेश तथा दस दिन के युद्ध के पश्चात् भीष्म के शरशायी होने का वर्णन है।

(७) **द्रोणपर्व**—इस पर्व में संशप्तकवीरों, अभिमन्यु, जयद्रथ, घटोत्कच तथा अंत में द्रोण के मारे जाने की घटनाएँ चित्रित हैं।

(८) **कर्णपर्व** तथा (९) **शल्यपर्व**—नाम के अनुरूप इन पर्वों में कर्ण और शल्य के वध की कथा है।

(१०) **सौप्तिक पर्व**—इस पर्व में अश्वत्थामा पांडवों के शिविर में रात को सोये पांडव-पुत्रों की छल से हत्या कर देता है और समझता है कि उसने पाँचों पांडवों को मार दिया है। वह अपना पराक्रम मरणासन्न दुर्योधन को जा कर बताता है, जिसकी जंघाएँ गदायुद्ध में भीम ने तोड़ दी हैं। अश्वत्थामा के पराक्रम की प्रशंसा करते हुए दुर्योधन की जीवनलीला समाप्त हो जाती है।

(११) स्त्रीपर्व—इसमें धृतराष्ट्र द्वारा भीम की लोहे की प्रतिमा को भीम समझ कर उसका आलिंगन करके उसे चूर-चूर कर देना, युधिष्ठिर का निर्वेद तथा विधवा स्त्रियों के विलाप का चित्रण है।

(१२) शांतिपर्व—युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के बाद इस पर्व में शरशैया पर लेटे भीष्म पांडवों को राजनीति के उपदेश देते हैं।

(१३) अनुशासनपर्व—इसमें भीष्म के द्वारा दान, धर्म और दर्शन की चर्चा की गयी है। अंत में भीष्म का स्वर्गगमन वर्णित है।

(१४) आश्वमेधिकपर्व—इसमें युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है।

(१५) आश्रमवासिकपर्व—इस पर्व में आश्रम में स्थित धृतराष्ट्र के पास जा कर युधिष्ठिर राजनीति सीखते हैं।

(१६) मौसलपर्व—इसमें बलराम तथा कृष्ण का महाप्रयाण और मूसलयुद्ध में यादवों का विनाश वर्णित है।

(१७) महाप्रस्थानिकपर्व—इसमें पांडव हिमालय की ओर प्रस्थान करते हैं।

(१८) स्वर्गारोहणपर्व—इसमें स्वर्ग में नारद और युधिष्ठिर का वार्तालाप तथा वहीं सारे कौरव-पांडवों के मिलन का वर्णन है।

महाभारत : भारतीय संस्कृति का विश्वकोश—महाभारत अपने विशाल कलेवर में हमारी परम्पराओं और सांस्कृतिक उपलब्धियों का विशद इतिहास भी प्रस्तुत करता है। महाभारत की विषयवस्तु की इस विविधता तथा विपुलता के कारण ही यह कहावत प्रचलित हो गयी—यन्न भारते तन्न भारते—अर्थात् जो भारत (महाभारत) में नहीं है, वह इस भारत (देश) में भी नहीं है। महाभारत में भी कहा गया है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

(धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—जीवन के इन चारों पुरुषार्थों के विषय में महाभारत में जो कहा गया है, वही अन्यत्र भी मिलेगा, पर जो महाभारत में नहीं है, वह अन्यत्र भी कहीं नहीं मिलेगा।)

धर्म, राजनीति और आचार पर विशद चिंतन भीष्म और विदुर के वचनों में बहुत विस्तार से महाभारत में उपलब्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता जैसा धर्म, अध्यात्म और दर्शन का महान् ग्रंथ महाभारत का ही एक भाग है। यही नहीं, भगवद्गीता के अतिरिक्त पराशरगीता, हंसगीता, विदुरगीता, ब्राह्मणगीता तथा अनुगीता जैसे ग्रंथ भी महाभारत में ही समाये हुए हैं। इन ग्रंथों में भारतीय तत्त्वचिंतन का उज्ज्वल रूप में दर्शन होता है। भीष्म ने शांतिपर्व में पांडवों को जो उपदेश दिये हैं, उनमें नीति और जीवनानुभवों का निचोड़ है।

महाभारत के उपाख्यान—महाभारत में अनेक प्राचीन उपाख्यान संगृहीत हैं, जो भारतीय कथापरम्परा की अमूल्य धरोहर हैं। महाभारत के महत्त्वपूर्ण उपाख्यान ये हैं—ययात्युपाख्यान, शकुंतलोपाख्यान, मत्स्योपाख्यान, रामोपाख्यान, शिव्युपाख्यान,

सावित्र्युपाख्यान तथा नलोपाख्यान। इनके अतिरिक्त समुद्रमंथन और देवासुर-संग्राम, कद्रूविनता, ऋष्यशृंग, अगस्त्य, वसिष्ठ और विश्वामित्र, आरुणि, नचिकेता आदि से सम्बन्धित रोचक कथाएँ महाभारत में हैं। महाभारत में वर्णित ये आख्यान तथा कथाएँ हमारे कथा-साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। पश्चिम के विद्वानों ने इन उपाख्यानों का विस्तार देख कर यह माना है कि जिनमें से एक-एक उपाख्यान एक-एक महाकाव्य के समान है। ये उपाख्यान महाभारत के प्रधान पात्रों के प्रवास पर, भ्रमण या देशाटन पर निकलने पर उन्हें ऋषियों या महापुरुषों के द्वारा सुनाये गये हैं, अथवा महाभारत के नायक जब किसी तीर्थस्थान या विशिष्ट स्थल पर पहुँचते हैं, तो महाभारतकार स्वयं प्रसंगवश उस स्थान से जुड़े उपाख्यानों व ऐतिहासिक वृत्तांतों का कथन करते हैं। अथवा दो पात्र आपस में वार्तालाप करते हुए अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए एक दूसरे को प्राचीन आख्यान उदाहरण के रूप में सुनाते हैं।

स्तोत्र—हमारे स्तोत्र-साहित्य में गजेंद्रमोक्ष, विष्णुसहस्रनाम तथा भीष्मस्तवराज का बहुत महत्त्व है। ये सभी स्तोत्र मूलतः महाभारत के अंग रहे हैं।

वास्तव में तो सारे भारतवर्ष में ही नहीं, भारतवर्ष के बाहर कंबोडिया, बाली, जावा, सुमात्रा आदि में भारतीय संस्कृति के व्यापक प्रचार और प्रसार में महाभारत का अमूल्य योग रहा है।

चरित्र-चित्रण—महाभारत के सभी पात्र अपने आपमें विलक्षण और विशिष्ट हैं। उनके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि ऐसे अद्‌भुत चरित्र दुर्लभ ही हैं। दृढ़प्रतिज्ञा और शौर्य में अप्रतिम भीष्म, अपनी सत्यनिष्ठा और धर्मज्ञता में युधिष्ठिर, बल और साहस में भीम, तो धनुर्वेद में अर्जुन अप्रतिम ही हैं। राज्यलिप्सा में धृतराष्ट्र, अहंकार और द्वेष में दुर्योधन, छल में शकुनि भी बढ़-चढ़ कर हैं। नारीपात्रों में गंभीरता और उदारता में कुंती, पति के प्रति भक्ति में गांधारी, स्वाभिमानी वीरांगना के रूप में द्रौपदी भी प्रभावशाली चरित्र हैं। इन सब चरित्रों में कृष्ण का पात्र अनोखा ही है। युधिष्ठिर अपनी मानवीयता तथा करुणा में अप्रतिम हैं। इसलिए उन्हें नायक बनाया जाना उचित ही है।

रस—महाभारत में शांतरस की प्रधानता मानी गयी है। आनंदवर्धन ने कहा है—शास्त्ररूप और काव्य की छाया से युक्त महाभारत में वृष्णियों और यादवों के रसहीन अवसान में वैमनस्य या निर्वेद के भाव को उत्पन्न कर देने वाली समाप्ति है, और महामुनि व्यास ने वैराग्य को इसमें मुख्य अभिप्राय के रूप में प्रदर्शित किया है तथा मोक्ष रूप पुरुषार्थ के साथ शांत रस को प्रधान विवक्षा का विषय बनाया है। मोह में पड़े हुए संसार के उद्धार की इच्छा करते हुए अनन्त निर्मल ज्ञान को प्रकाशित करते हुए उन्होंने यह भी कहा है—

यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥

(इस विश्वप्रपंच के विपर्यय का बोध जैसे-जैसे होता है वैसे-वैसे इससे वैराग्य होता जाता है।) आनंदवर्धन के अनुसार शांत रस यहाँ अन्य रसों की अपेक्षा अंगी है

और मोक्षरूप पुरुषार्थ भी इसी प्रकार अन्य पुरुषार्थों की अपेक्षा प्रधान है। आनंदवर्धन कहते हैं कि यदि यह शंका की जाय कि महाभारत में इस ग्रंथ के सारे वर्ण्य-विषय आरम्भ में अनुक्रमणी में ही बता दिये गये हैं, वहाँ तो यह कहीं नहीं कहा गया कि इस ग्रंथ में मोक्ष-पुरुषार्थ तथा शांत रस का प्रधान रूप में निरूपण है, वहाँ तो सारे पुरुषार्थों और सारे रसों का निरूपण इस ग्रंथ में होने की बात कही गयी है। उत्तर में मुनि व्यास कहते हैं—भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः। इससे स्पष्ट है कि पांडवों का जो चरित्र यहाँ बताया गया है, वह अविद्या रूप है, परमार्थ सत्य रूप तो भगवान् वासुदेव का चरित्र ही है।

महाभारत में धर्म और अधर्म के दो पक्ष हैं। एक पक्ष में युधिष्ठिर हैं, दूसरे पक्ष में दुर्योधन। आदिपर्व में युधिष्ठिर को धर्मद्रुम कह कर इस धर्मरूपी वृक्ष का मूल श्रीकृष्ण, तत्त्वज्ञान तथा तत्त्वज्ञानियों को बताया गया है—

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च॥ (आदिपर्व, १/१११)

युधिष्ठिर को इसीलिए धर्मराज भी कहा गया है। उनकी यह प्रतिज्ञा है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥
(वनपर्व, ३१३/१२८)

दूसरी ओर दुर्योधन है, जो अर्थलिप्सा और सत्ता के मद में विवेक को भुला देता है। धर्म को वह समझता तो है, पर उस पर आचरण नहीं कर सकता। वह कहता है—'जानामि धर्मं न च न मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः'—मैं धर्म क्या है यह भी जानता हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं हो पाती, और अधर्म क्या है यह भी जानता हूँ, पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं हो पा रही। दुर्योधन के चरित्र की यह विडंबना अंततः शांत रस का परिपोष ही करती है। दुर्योधन क्षुब्ध चित्त का प्रतीक है। इस प्रतीक को भी महर्षि व्यास ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः।

काव्यसौन्दर्य—महाभारत में विभिन्न प्रकार की शैलियों का प्रयोग मिलता है। अत्यन्त प्रौढ और परिष्कृत रसभावसमन्वित शैली भी इसमें है, तथा पौराणिक सरल भाषा में श्लोक भी हैं। इसी प्रकार आदिपर्व में प्राचीन गद्य का भव्य रूप मिलता है।

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने महाभारत के अनेक श्लोक रस, भाव या काव्यकोटियों के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये हैं। अर्जुन के द्वारा भूरिश्रवा के कटे हुए हाथ को देख कर उसकी विधवा पत्नी के विलाप के प्रसंग का यह श्लोक मम्मट ने गुणीभूतव्यंग्य के निरूपण में उद्धृत किया है—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरूजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥

इसी प्रकार चन्द्रमा का यह सुन्दर वर्णन भी काव्यशास्त्र में सराहनीय माना गया—

ततः कुमुदिनीनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता॥

(सुंदरी के कपोल के समान पीले कुमुदिनीनाथ नेत्रों को आनन्द देने वाले चन्द्रमा ने पूर्वदिशा को अलंकृत किया।)

किसी भी गंभीर से गंभीर विषय को अत्यन्त सरस और सहज बनाकर किस प्रकार प्रतिपादित किया जा सकता है—यह श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, विदुरगीता आदि महाभारत में देखा जा सकता है।

महाभारत भारतीय काव्यचिन्तन का मूल—काव्य के विषय में महाभारत में मिलने वाले चिन्तन के सूत्र अलंकारशास्त्र के लिये आधार बने। विदुर कहते हैं—दुर्योधनस्य रूपेण शृणु काव्यां गिरं मम (सभापर्व ४६/३) दुर्योधन के उदाहरण के द्वारा मेरी काव्य-वाणी को सुनो। काव्य का स्वरूप बताते हुए महाभारतकार कहते हैं—

अलङ्कृतं शुभै शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्॥

यहाँ शुभ शब्दों से अलंकृत होना, दिव्य और मानुष समयों (अभिप्रायों) से युक्त होना, विविध छन्दों और वृत्तों से गुँथा होना तथा विद्वानों को प्रिय होना—ये काव्य का वैशिष्ट्य और स्वरूप प्रकाशित करने वाले तत्त्व विवृत हैं।

'महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते'—महाभारतकार के इस कथन में महाकाव्य का लक्षण भी इंगित किया गया है। आगे चल कर आचार्य भामह ने महाकाव्य के लक्षण में कहा—महतां च महच्च यत्—जो महान् लोगों का निरूपण करे, तथा स्वयं भी महत् आकार का हो—भामह के लक्षण में प्रकारान्तर से महाभारत का कथन अनुगुंजित हुआ है। इसके लाथ ही विचित्रार्थपदाख्यानम्, अर्थ्यं कथ्यं हितं युक्तमुत्तरम् हेतुमद् वचः, श्लक्ष्णमर्थवन्मघुरम्—इत्यादि वाणी के विशेषणों में महाभारतकार ने काव्य के माधुर्य, श्लेष आदि गुणों तथा कतिपय अलंकारों के स्वरूप को भी सूचित किया है। महाभारत काव्य के सिद्धान्तों तथा कवियों के लिये किस प्रकार मानदण्ड बना इसे बताते हुए महाभारतकार स्वयं कहते हैं—

इदं कविवरै सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः। (आदिपर्व २/१४१)
सर्वेशां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः॥
आचख्युः कवयः केचित् सम्प्रत्याक्षते परे।
आख्यास्यन्ति तथैवान्ये इतिहाससमिमं भुवि॥ (वही, १/९३, ९४)

महाभारत और भारतीय कलापरम्परा—महाभारत से प्राचीन भारतीय कला परम्परा के विषय में दुर्लभ जानकारी प्राप्त होती है। भरतमुनि के पहले नाटक और रंगमंच का जो स्वरूप था, उस पर भी इससे प्रकाश पड़ता है। रंगमंच के निम्नलिखित

विषय महाभारत में उल्लिखित या वर्णित हैं—सूत्रधार, प्रेक्षागृह,नटनर्तक, समाज (नाटक नृत्य आदि देखने वालों का समूह), समाजवाट (नाटक, नृत्य आदि के प्रदर्शन के लिये निर्मित खुला प्रेक्षागार), संगीतशाला (राजमहल में नृत्य व संगीत की शिक्षा या प्रदर्शन के लिये निर्मित छोटी रंगशाला), ग्रन्थिक (ग्रन्थ से नाटक या काव्य का पाठ करने वाला), जवनिका (पर्दा), इन्द्रमह (इन्द्रपूजा का उत्सव जिस पर नाटक,नृत्य आदि होते थे), यज्ञ के अवसर पर नाट्य का प्रयोग, अभिनय, संगीत पुत्तलिका नृत्य, छायानाट्य तथा नाट्य का इस धरती पर अवतरण। अर्जुन चित्रसेन नामक गन्धर्व से नृत्य, संगीत आदि की शिक्षा लेते हैं, तथा अज्ञातवास के काल में बृहन्नला के रूप में वे विराट की राजकुमारी को शिक्षा देते हैं। इस सन्दर्भ में नृत्य तथा संगीत से सम्बन्धित कई पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार वास्तुशास्त्र या स्थापत्य, मूर्ति तथा चित्र की तकनीक से जुड़ी पदावली तथा अवधारणाएँ भी महाभारत में अनेक स्थानों पर व्यक्त हुई है। ईसा पूर्व की शताब्दियों में हमारे देश में कला की परम्परा के विषयमें न केवल अनेक अज्ञात पक्षों का उद्घाटन यह महाग्रन्थ करता है, उनकी विकास में एक सुदृढ़ पीठिका भी इससे निर्मित हुई है।

महाभारत का संदेश—महाभारत को मूलत: आध्यात्मिक महाकाव्य माना गया है। महाभारततात्पर्यनिर्णय नामक इसकी टीका में सुप्रसिद्ध तत्त्वचिंतक अनंततीर्थ माध्वाचार्य ने कहा है—

एवमाध्यात्मनिष्ठं हि भारतं सर्वमुच्यते।
दुर्विज्ञेयमतः सर्वैर्भारतं तु सुरैरपि॥

अर्जुन को महाभारत में अपने युग के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर के रूप में चित्रित किया गया है। यही अर्जुन वृद्धावस्था में द्वारका की स्त्रियों को बचाने के लिए द्वारका से उन्हें ले कर हस्तिनापुर आता है, और मार्ग में आभीर आक्रमण करके स्त्रियों का अपहरण कर लेते हैं, अर्जुन के बाण काम नहीं कर पाते। महाभारत का संग्राम एक प्रकार का विश्वयुद्ध था। पृथ्वी पर जितने राजा उस समय शासन कर रहे थे, वे सब इसमें सम्मिलित हुए। सबका विनाश हो गया। युधिष्ठिर ने विजय पायी, उन्हें राज्य भी मिला, पर सारे बंधु-बांधवों, अपनी सारी संतानों और अभिमन्यु जैसे महान् योद्धा को गँवा कर। ऐसे में राज्य करना उनके लिए श्मशान में निवास की तरह भयावह ही था। इस प्रकार जीवन और जगत् की नश्वरता का संदेश दे कर महाभारत मनुष्य को सत्पथ पर प्रवृत्त करता है। धर्म को इस महान् ग्रंथ में परम कर्तव्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। धर्म की रक्षा यदि मनुष्य करे, तो वह मनुष्य की रक्षा करता है। अत: धर्म की हत्या नहीं होने देना चाहिये—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥

महाभारत का संदेश आनृशंस्य का है। 'आनृशंस्यं परो धर्मः' यह वाक्य महाभारत में बार-बार आता है। महामना व्यास कहते हैं कि मनुष्य सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ

तत्त्व है। मनुष्यत्व उसका धर्म है। इस मनुष्यत्व की रक्षा सबसे बड़ा धर्म है। यही आनृशंस्य है। यह आनृशंस्य युधिष्ठिर के चरित्र में सर्वाधिक प्रतिफलित हुआ है—इसीलिए वे इस महाकाव्य के नायक हैं।

सूक्तियाँ—महाभारत हमारे साहित्य की सर्वाधिक अनुकरणीय और प्रेरक सूक्तियों से परिपूर्ण है। सहस्रों सूक्तियाँ इसमें समाहित हैं। इनमें से कतिपय दी जा रही हैं—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।

(घर अपने आप में घर नहीं होता, गृहिणी वास्तव में घर कही गयी है।)

नास्ति भार्यासमं मित्रं नरस्यार्तस्य भेषजम्।

(पत्नी जैसा मित्र और कोई नहीं होता, वह रोगी के लिए औषधि के समान है।)

वृत्तेनैव भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया।

(मनुष्य अपने चरित्र से आर्य (श्रेष्ठ) बनता है, धन या विद्या से नहीं।)

सुलभा पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

(हे राजन्, सदाप्रिय बोलने वाले व्यक्ति तो सुलभ हैं, पर अप्रिय और हितकारक बात को कहने वाले और सुनने वाले दुर्लभ हैं।)

यथा बीजं बिना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम्।
तथा पुरुषकारेण बिना दैवं न सिद्ध्यति॥

(जिस तरह खेत जोत तो दिया जाय, पर उसमें बीज न डाला जाय, तो जोतना बेकार हो जाता है, उसी तरह पुरुषार्थ के बिना भाग्य निष्फल ही रहता है।)

✤

अध्याय ३

पुराण-साहित्य

पुराण का सामान्य अर्थ प्राचीन है। प्राचीनता तथा महत्त्व में पुराण वैदिक संहिताओं के समान माने गये हैं। अथर्ववेद में कहा गया है कि पुराणों का उद्‌भव ऋक्, यजुः तथा साम इन तीन वैदिक संहिताओं के साथ ही हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में तो पुराण को भी वेद ही बताया गया है। अथर्ववेद में भी कहा गया है कि तीन वैदिक संहिताओं के साथ ही पुराण की भी अनादिकाल से ही उत्पत्ति हो चुकी थी—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥

बृहदारण्यक उपनिषद् में वेद के साथ इतिहास और पुराण को परमात्मा के निःश्वास से निर्गत बताया गया है—

(अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः पुराणम्।)

पुराण का लक्षण—पुराण का निरुक्तकार यास्क ने यह लक्षण दिया है—पुरा नवं भवति—अर्थात् जो प्राचीन काल में नया था। प्राचीन होते हुए भी जो परम्पराएँ नये युग में सार्थक बनी रहें, उनका संग्रह पुराण है। इस दृष्टि से वायुपुराण में पुराण की रोचक व्युत्पत्ति दी गयी है—यस्मात् पुरा ह्यनति—जिसे अतीत साँस लेता हुआ या सजीव हो जाय वह पुराण है। सायण ने सृष्टि की उत्पत्ति व विकास का प्रतिपादन करने वाले साहित्य को पुराण कहा है। मधुसूदन सरस्वती भी सृष्टि के इतिहास को पुराण मानते हैं। पुराणों में विषयवस्तु की दृष्टि से पुराण के पाँच लक्षण प्रसिद्ध माने गये हैं। अमरकोश में भी कहा गया है—'पुराणं पञ्चलक्षणम्।' ये पाँच लक्षण वायुपुराण तथा कूर्मपुराण में इस प्रकार बताये गये हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

(अर्थात् सर्ग या सृष्टिप्रक्रिया, प्रतिसर्ग या पुनःसृष्टि अथवा प्रलय, देवता या ऋषियों के वंश का वर्णन, मन्वन्तर या मनुओं के शासन का काल, वंशानुचरित या क्षत्रिय राजाओं का जीवन—ये पाँच पुराण के लक्षण हैं। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सृष्टि, प्रवृत्ति, संहार, धर्म तथा मोक्ष—इन पाँच विषयों के प्रतिपादन के आधार पर पुराण को पंचलक्षणात्मक माना है। कुछ विद्वान् पुरातन से पुराण शब्द को निष्पन्न मानते हैं। पुरातन से प्राकृत में 'पुराअन' और उसका पुनः संस्कृतीकरण करके 'पुराण' शब्द बना—यह उनका मत है।

पुराण का वेद से सम्बन्ध—पुराण को वेद का उपबृंहण करने वाला बताया गया है। महाभारत में कहा गया है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

उपबृंहण का अर्थ है व्याख्या करते हुए विस्तार देना। महाभारत में पुराणों को वेदों के प्रकाशक भी कहा गया है। पुराण उस पूर्णचंद्र के समान है, जो श्रुतिरूपी ज्योत्स्ना को प्रकाशित करता है—पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना प्रकाशिता।

कूर्मपुराण में कहा गया है—'पुराणं धर्मशास्त्रं च वेदानामुपबृंहणम्।'

पुराणों में वेदों के आख्यानों का अनेकत्र विस्तृत रूप में प्रयोग किया गया है। इनमें वैदिक मंत्रों को भी प्रकारांतर से या यत्किंचित् परिवर्तन के साथ दोहराया गया है। उदाहरण के लिए, वायुपुराण में शिवस्तुति में रुद्राष्टाध्यायी के मंत्रों के पद गुंफित हैं। इसी प्रकार भागवत के द्वितीय स्कंध में ऋग्वेद के पुरुषसूक्त की पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं। पुरुषसूक्त की ही 'स भूमिं सर्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' को विष्णुपुराण में कुछ परिवर्तन के साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

सर्वव्यापी भुवः स्पर्शादत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।

पद्मपुराण में गायत्री मंत्र को इस प्रकार 'प्रचोदयात्' के स्थान पर प्रभाति क्रिया का प्रयोग करके कृष्ण के लिए प्रयुक्त किया गया है। यजुर्वेद के वेदाऽहमेतम्० इत्यादि मंत्र को स्कंदपुराण में शिव के लिये प्रयुक्त किया गया है।

पुराणों ने वेदों की व्याख्या दार्शनिक धरातल पर भी की। ऋग्वेद के द्वासुपर्णा मंत्र को भागवत में इसी दृष्टि से मनोहर रूप में पुनर्विन्यस्त करके कहा गया है—

सुपर्णावेतौ सयुजौ सखायौ यदृच्छयेतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्यन्यमन्यो निरपेक्षोऽपि बलेन भूयान्॥

(भाग०, ११.२.१६)

कहीं-कहीं पुराणों ने वैदिक मंत्रों की धार्मिक या संप्रदाय की दृष्टि से भी व्याख्या की है। उदाहरण के लिए, पद्मपुराण में हिरण्यगर्भ सूक्त की कृष्णपरक व्याख्या की गयी है। हिरण्यगर्भ को यहाँ विष्णु का ही विशिष्ट रूप माना गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद के ही 'चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा०' इत्यादि मंत्र की भागवत में अष्टम स्कंध में यज्ञपरक व्याख्या की गयी है। स्कंदपुराण के काशीखंड में इसी मंत्र का शिवपरक अर्थ किया गया है। वस्तुतः पुराणों में वेदों के अनेक अज्ञात, अनुन्मीलित पक्षों को प्रकट किया गया है। अतः यह पारम्परिक मान्यता सर्वथा सटीक है कि वेदों को समझने के लिए पुराणों का अध्ययन परम आवश्यक है।

पुराणों की संख्या—मूलतः पुराण एक ही था। इसका विकास विभिन्न क्षेत्रों, विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में होते-होते संख्या में वृद्धि होती गयी। पुराण अठारह हुए, उसके बाद भी उनकी संख्या ब्रढ़ती रही, अठारह उपपुराण माने गये और उसके पश्चात् अठारह औपपुराण भी रचे गये। अठारह पुराणों को महापुराण भी कहा जाता है। महापुराण कौन-कौन से हैं, इस विषय में अलग-अलग मत हैं। एक पारम्परिक श्लोक में अठारह पुराण इस प्रकार गिनाये गये हैं—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक्॥

(अर्थात् दो पुराणों के नाम मकार से आरम्भ होते हैं—मत्स्य और मार्कण्डेय; दो के भकार से आरम्भ होते हैं—भविष्य तथा भागवत, तीन के नाम ब्र से आरम्भ होते हैं—ब्रह्मांड, ब्रह्म तथा ब्रह्मवैवर्त, चार के वाम में आद्याक्षर व है—वामन, विष्णु, वराह तथा वायु। अ से अग्नि, ना से नारद, प से पद्म, लिङ् से लिङ्ग, ग से गरुड, कू से कूर्म और स्क से स्कंद—इस प्रकार अठारह पुराण होते हैं।

पुराणों का रचनाकाल—मूल रूप में पुराण वेद के समान ही प्राचीन है। पर अलग-अलग पुराणों की रचना अलग-अलग समयों में हुई। इन विभिन्न पुराणों का रचनाकाल ६०० ई० पू० से लेकर ५०० ई० तक निर्धारित किया जाता रहा है। कुछ पुराणों में प्रक्षिप्त अंश बाद में भी जुड़ते रहे। पुराणों के रचना-काल के विषय में सामान्यतः निम्नलिखित प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) धर्मसूत्रों में उल्लेख—कुछ पुराणों का विभिन्न धर्मसूत्रकारों ने नामतः उल्लेख किया है। गौतम (छठी शताब्दी ई० पू०), बोधायन (पाँचवीं शताब्दी ई० पू०) तथा कौटिल्य (चौथी शताब्दी ई० पू०) ने विभिन्न पुराणों से उद्धरण दिये हैं।

(२) पुराणों में ऐतिहासिक उल्लेख—भागवत तथा विष्णु आदि पुराणों में मौर्यवंशीय राजाओं (३२६ ई० पू० से १८० ई० पू०), मत्स्यपुराण में आंध्रवंशीय राजाओं (२२५ ई०) तथा वायुपुराण में गुप्तवंशीय राजाओं के वर्णन हैं। पर पुराणों में हर्षवर्धन तथा ६०० ई० के पश्चात् के भारतीय इतिहास का वर्णन प्रायः नहीं मिलता, भविष्यपुराण जैसे इक्के-दुक्के पुराण इसके अपवाद हैं।

(३) धर्मशास्त्रों में पुराण का उल्लेख—मनुस्मृति से सुस्पष्ट विदित होता है कि इस स्मृति के रचनाकाल के समय पुराण घर-घर में पढ़े और सुनाये जाते थे। मनु ने निर्देश दिया है—

पुराणानि श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च॥ (मनु० ३.२३२)

पं० बालगंगाधार तिलक पुराणों की रचना का समापन काल दूसरी शताब्दी के लगभग मानने के पक्ष में हैं। आर० सी० हाजरा ने पुराणों पर महत्त्वपूर्ण शोधकार्य किया है। उन्होंने पुराणों की रचना के कालक्रम से विभिन्न स्तरों का परिगणन करते हुए अलग-अलग पुराणों का रचनाकाल इस प्रकार बतलाया है—

विष्णपुराण—तीसरी-चौथी शताब्दी।
मार्कंडेय तथा **ब्रह्मांड**—तीसरी पाँचवीं शताब्दी के बीच।
वायुपुराण—पाँचवीं शताब्दी।
भागवतपुराण—६०० ई० के लगभग।
ब्रह्मवैवर्त तथा **कूर्मपुराण**—७०० ई० के लगभग।
अग्निपुराण—८०० ई० के लगभग।
स्कंद, गरुड तथा **ब्रह्मपुराण**—आठवीं शताब्दी के आसपास।

नारदीयपुराण—दसवीं शताब्दी के आसपास।

पुराणों के प्रवक्ता सूत—पुराणों के कर्ता मूलतः महर्षि व्यास माने गये हैं। पर अठारहों पुराणों का प्रवचन नैमिषारण्य में सूत ऋषि, शौनक आदि महर्षियों के समक्ष करते रहे—यह पुराणों में ही सूचित है। स्मृतियों के अनुसार क्षत्रिय पिता तथा ब्राह्मण माता का पुत्र सूत है। प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न होने के कारण इसे प्रतिलोमज भी कहा गया है। श्रीमद्भागवत तथा बृहन्नारदीय पुराणों में सूत ने स्वयं अपने आप को विलोमज कहा है। वे इस बात पर गद्गद हैं कि उनके जैसे एक विलोमज से शौनक जैसे ऋषिगण पुराण को लेकर जिज्ञासा कर रहे हैं। जन्म की दृष्टि से महाभारतकार कृष्णद्वैपायन व्यास, पराशर ऋषि तथा धीवरकन्या के पुत्र होने से सूत से भी निचले स्थान पर रखे जा सकते हैं। पुराणों के प्रवक्ता या व्याख्याकार सूत इन्हीं की शिष्यपरम्परा में हुए। महाभारत में सूत का परिगणन नट, नर्तक, मागध, बंदी आदि के साथ भी किया गया है। पर पौराणिक या पुराणवेत्ता सूत विलोमज होते हुए भी अपनी विद्वत्ता के कारण इनमें पूज्य या श्रेष्ठ मान लिये गये थे। इसीलिए कौटिल्य मागध और पौराणिक सूत को अलग-अलग बताते हैं। यही नहीं, वे तो पौराणिक सूत को वर्णसंकर होते हुए भी ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों से विशिष्ट भी घोषित करते हैं।

पद्म तथा वायुपुराणों में पुरातन काल से ही मान्य सूतों के धर्म प्रतिपादित किये गये हैं। तदनुसार देवताओं, ऋषियों या राजाओं के चरित या वंशावलियों को स्मरण रखना और उनका प्रवचन करना तथा इतिहास और पुराण का कथन सूत का धर्म है। सूत का यह धर्म वैदिक साहित्य में पहले बताया जा चुका था। इसीका अनुवर्तन पुराण करते हैं। पद्मपुराण सूतों को वेदाध्ययन का भी अधिकारी मानता है। महाभारत के अनुसार रोमहर्षण अपने पुत्र उग्रश्रवा के साथ युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित हुए थे। शर-शैया पर पड़े भीष्म से मिलने के लिए आने वालों में भी ये एक थे। देवीभागवतपुराण के अनुसार लोमहर्षण या रोमहर्षण व्यास के शिष्य तथा शुकदेव के सहाध्यायी थे। भागवत में वर्णित एक कथा में कहा गया है कि नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियों को जब ये पुराण सुना रहे थे, उस समय बलराम ने इनकी हत्या कर दी। अनंतर बलराम ने पश्चात्ताप करते हुए ब्रह्महत्या के पाप का प्रायश्चित्त किया।

स्कंदपुराण के अनुसार रोमहर्षण सूत ने सूतसंहिता तथा ब्रह्मगीता की रचना की। सूतसंहिता स्कंदपुराण में ही समाविष्ट है।

सूत आरम्भ से ही वर्णसंकर होते हुए भी वैदिक यज्ञ के अनुष्ठान में अनिवार्य भूमिका निभाते थे। यह परम्परा इतिहास और पुराणों के काल में भी जारी रही। महाभारत के उल्लेख के अनुसार जनमेजय के नागयज्ञ में यज्ञसंपादन के लिए सूत को बुलाया गया था। इस सूत को स्थपति, परम बुद्धिमान, वास्तुविद्याविशारद, सूत्रधार तथा पौराणिक भी कहा गया है—

स्थपतिर्बुद्धिसम्पन्नो वास्तुविद्याविशारदः।
इत्यब्रवीत् सूत्रधारः सूतः पौराणिकस्तथा॥　　(आदिपर्व)

नीलकंठ ने महाभारत के इस पद्य की टीका में सूत को 'शिल्पग्रामवेत्ता' कहा है। वस्तुतः साहित्य, कला और शिल्प की परम्परा को सम्पन्न बनाने में सूतसमाज का वैदिक काल से ही अपूर्व योगदान रहा।

भागवत, विष्णु, वायु, पद्म, अग्नि, ब्रह्माण्ड आदि पुराणों में सूत पुराणज्ञ के रूप में प्रशंसित हैं। उग्रश्रवा सूत को महामति तथा जगद्गुरु कहा गया है (विष्णु० ३/४/१०, पद्मपु० २/२१९/१४,२१)।

ब्रह्माण्ड (२/३५/६३-७०) तथा वायु (६१/५५-६२) का कथन है कि रोमहर्षण सूत के निम्नलिखित छह शिष्य हुए—आत्रेय सुमति, काश्यप अकृतवर्ण, भारद्वाज अंगिरस, वासिष्ठ मित्रयु, सावर्णि सोमदत्ति तथा शांशपायन सुशर्मन्। इनमें से काश्यप अकृतवर्ण, सावर्णि सोमदत्ति तथा शांशपायन ने अपनी-अपनी पुराण संहिताओं की रचना की। रोमहर्षण द्वारा प्रणीत पुराणसंहिता को मिलाकर इस तरह कुल चार मूल पुराण संहिताएँ हुईं।

पुराणों का विभाजन—उपास्य देव के अनुसार पुराणों का शैव, वैष्णव तथा ब्राह्म ये तीन प्रकार माने गये हैं। कहीं सात्त्विक, राजस तथा तामस के रूप में पुराणों का त्रिविध विभाजन भी प्रतिपादित है।

पुराणों की विषयवस्तु—पुराणों में प्रतिपादित विषयों का परिचय उपर्युक्त पंचलक्षण से मिल जाता है। इसके अतिरिक्त स्वर्ग-नरक-वर्णन, अनुष्ठान, व्रत, धर्मशास्त्र के नियम, प्रायश्चित्त, भूगोल, तीर्थस्थान, लोकाचार, विभिन्न शास्त्र—आयुर्वेद, गांधर्व, काव्यशास्त्र, आदि का भी निरूपण पुराणों में किया गया है।

अठारह पुराणों का परिचय

(१) मत्स्यपुराण—इस पुराण में लगभग १४,००० श्लोक हैं। इस पुराण का महत्त्व आंध्रवंशीय राजाओं की वंशावली के कारण है। यह दक्षिण भारत से विशेष सम्बद्ध प्रतीत होता है तथा दक्षिण के वास्तु, मूर्ति व स्थापत्य का प्रामाणिक विवरण इसमें दिया गया है। विभिन्न मन्वंतरों तथा सृष्टि के उद्भव की कथाओं के साथ निम्नलिखित प्राचीन आख्यान भी इसमें है—मनुमत्स्यकथा, ययाति, दक्ष आदि प्रजापतियों के द्वारा सृष्टि, मरुतों की उत्पत्ति, चन्द्रमा तथा बुध का आख्यान, मनु और श्रद्धा की कथा, त्रिपुरासुर और तारक के वध की कथाएँ आदि। विभिन्न व्रतों और उपवासों तथा तीर्थों और द्वीपों का विवरण भी इसमें दिया गया है।

(२) मार्कंडेयपुराण—इस पुराण में लगभग ९००० श्लोक हैं। इस पुराण का देवीमाहात्म्य विशेष महत्त्वपूर्ण है, जिसमें आद्या शक्ति के रूप में दुर्गा की सुंदर स्तुति है।

(३) भविष्यपुराण—इस पुराण में लगभग १४,५०० श्लोक हैं। इस पुराण में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य और प्रतिसर्ग नाम से पाँच पर्व हैं। विभिन्न व्रतों से संबद्ध कथाएँ तथा सूर्य आदि देवों की पूजा की पद्धति भी इसमें बतलायी गयी है। अंतिम प्रतिसर्ग पर्व में उन्नीसवीं शताब्दी तक प्रक्षिप्त अंश जुड़ते रहे हैं। महारानी विक्टोरिया को यहाँ

विकटावती कहा गया है। इस पुराण में भारतवर्ष का इतिहास भविष्यवाणियों के द्वारा निरूपित है। मध्यकालीन भारतीय इतिहास का यह एक अच्छा स्रोत है। इसमें वर्णित पृथ्वीराज, मोहम्मद गोरी तथा आल्हा का वृत्तांत पृथ्वीराजरासो, परमालरासो आदि काव्यों की अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक है। आल्हा के लिए आह्लाद, लाखन के लिए लक्षण आदि संस्कृत नाम इसमें प्रयुक्त हैं। सिरसा को शिरीषपुर तथा महोबा को महावती कहा गया है। इसके प्रतिसर्ग पर्व में बाइबिल में वर्णित नोह की कथा, यीशुमसीह का चरित्र, राजा विक्रम की कथा, बाबर का भारत-आगमन, भट्टोजी दीक्षित, रामानुज, चैतन्य, माध्वाचार्य, सूर, कबीर, तुलसी, मीरा आदि संतों का जीवन, अकबर का शासनकाल तथा उसके आगे अंग्रेजों का भारत-आगमन और महारानी विक्टोरिया का शासनकाल वर्णित है।

(४) भागवतपुराण—इस पुराण में बारह स्कंध, ३३५ अध्याय तथा १८,००० श्लोक हैं। पंचम स्कंध का गद्य अत्यन्त प्रांजल और प्रौढ़ है तथा इस स्कंध में भारत देश की मनोहारी छवि का सरस चित्रण है। यह वैष्णव पुराण है। वैष्णव धर्म के अनुयायी इसे पाँचवाँ वेद ही मानते हैं। कविता और दर्शन का दुर्लभ मणिकांचनयोग इस पुराण में हुआ है। यह चिंतन, पांडित्य और काव्य की कसौटी माना गया है। कहा भी है—'विद्यावतां भागवते परीक्षा'—अर्थात् विद्वानों की परीक्षा भागवत में ही है। विष्णु के अवतारों का वर्णन करते हुए भागवतकार ने सांख्य के प्रवर्तक कपिल मुनि तथा गौतम बुद्ध को भी उनके अवतारों में निरूपित करके धर्म के सम्बन्ध में समन्वय की दृष्टि का परिचय दिया है। पंचम स्कंध में ऋषभदेव और जडभरत का चरित्र अत्यन्त प्रेरणास्पद है। भागवत के दसवें और ग्यारहवें स्कंध श्रीकृष्ण की लीलाओं के वर्णन के लिए प्रसिद्ध तथा अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं।

(५) ब्रह्माण्डपुराण—इस पुराण में लगभग १२,२०० श्लोक हैं। ब्रह्माण्डपुराण अनेक स्तोत्रों, उपाख्यानों तथा देवी-देवताओं के माहात्म्य-वर्णनों के कारण महत्त्वपूर्ण है। अध्यात्म रामायण इसी का एक अंश माना जाता है। रामोपासना का भी प्रतिपादन इस पुराण में है।

(६) ब्रह्मवैवर्त—इस पुराण में लगभग १८,००० श्लोक हैं। कृष्णभक्ति और कृष्णोपासना के विवेचन के कारण यह पुराण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। कृष्ण की आद्या-शक्ति के रूप में राधा का निरूपण पुराणों में सर्वप्रथम इसी पुराण में मिलता है। इस पुराण में ब्रह्मखंड, प्रकृतिखंड, गणेशखंड तथा कृष्णखंड—ये चार खंड हैं। ब्रह्मखंड में सृष्टि के उद्‌भव और विकास का वर्णन है। प्रकृतिखंड में आद्याशक्ति का निरूपण है तथा गणेशखंड में गणेश का वर्णन श्रीकृष्ण के अवतार के रूप में किया गया है। गणेश की अनेक दुर्लभ कथाएँ भी यहाँ दी गयी हैं। कृष्णखंड में कृष्ण की सभी लीलाएँ वर्णित हैं।

(७) ब्रह्मपुराण—इस पुराण का आदिपुराण नाम भी मिलता है, जिससे इसकी प्राचीनता प्रमाणित होती है। अनेक अन्य प्राचीन पुराणों में भी इसका उल्लेख मिलता

है। कुछ पुराणों में इसकी श्लोक संख्या दस हजार कही गयी है, कुछ में तेरह हजार। प्रकाशित संस्करण में १३७८७ श्लोक मिलते हैं। इसमें उत्कल (आधुनिक उड़ीसा) के तीर्थस्थानों तथा इतिहास का विवरण प्रामाणिक है। शिव और पार्वती के विवाह की कथा इस पुराण में अत्यन्त सरस काव्यात्मक विन्यास के साथ प्रस्तुत की गयी है, जो कालिदास के कुमारसंभव से साम्य रखती है। इसके अध्याय १८० से २१२ तक कृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन भी बड़ा मनोहर है। विष्णु के अवतारों व विष्णुपूजाविधान के साथ ही इस पुराण में शिवोपासना तथा सूर्योपासना दोनों का वर्णन है। इसी का एक परिशिष्ट सौर पुराण कहा गया है।

(८) वामनपुराण—इस पुराण में ९५ अध्याय तथा १०,००० श्लोक हैं। इसमें वामन अवतार के वर्णन के साथ शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन और लिंग-पूजा का प्रतिपादन भी है।

(९) वराहपुराण—इस पुराण में वराह अवतार का निरूपण है। इसमें कहा गया है कि पृथ्वी का उद्धार करने के पश्चात् भगवान् वराह ने इस पुराण का उपदेश दिया। पुराणों में इसकी श्लोक संख्या २४००० श्लोक कही गयी है, पर वर्तमान में इसमें २१७ अध्यायों में लगभग ११,००० श्लोक ही मिलते हैं। इसमें शिव तथा दुर्गा से सम्बद्ध आख्यान हैं। अन्य उपाख्यानों में नचिकेतोपाख्यान तथा श्राद्ध और प्रायश्चित्त के विधानों का भी निरूपण इस पुराण में किया गया है।

(१०) विष्णुपुराण—इस पुराण में छह खंड (अंश), १२६ अध्याय तथा कुछ पुराणों के अनुसार २३,००० तो अन्य पुराणों के अनुसार २४,००० श्लोक हैं। किन्तु प्रकाशित संस्करणों में लगभग ६००० श्लोक ही प्राप्त होते हैं, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इसका एक बड़ा भाग लुप्त हो गया है। पुराणों में प्राचीनता और धर्म तथा दर्शन के निरूपण की प्रामाणिकता के कारण विष्णुपुराण का निर्विवाद महत्त्व है। 'पुराणं पञ्चलक्षणम्' की कसौटी पर यह पुराण सर्वाधिक खरा उतरता है। इसमें विष्णु के प्रमुख अवतारों का वर्णन व उनकी उपासना की पद्धति निर्दिष्ट है। इसके प्रथम अंश में समुद्रमंथन, ध्रुव और प्रह्लाद की कथाएँ हैं। द्वितीय अंश में ब्रह्माण्ड तथा भारतवर्ष और राजा भरत का वर्णन है। तृतीय अंश में मनु और मन्वंतर तथा जैन और बौद्ध संप्रदायों का विवरण है। चतुर्थ अंश में सूर्य और चन्द्र वंश के राजाओं के साथ अनेक महत्त्वपूर्ण आख्यान हैं। इसी अंश में मगध के वर्णन से लगा कर नंद और मौर्य राजाओं का भी विवरण है तथा कलियुग के निरूपण के साथ कल्कि अवतार की भविष्यवाणी की गयी है। पंचम अंश में कृष्ण कथा है, जो हरिवंशपुराण से साम्य रखती है। छठे अंश में वैष्णव धर्म और दर्शन का विशेष निरूपण है। प्राचीन इतिहास के विवेचन की दृष्टि से भी यह पुराण बहुत उपादेय है, विशेष रूप से मौर्य राजाओं की वंशावली इसमें दी गयी है।

(११) वायुपुराण—इस पुराण में लगभग २४,००० श्लोक हैं। यह शैव पुराण है। कहीं-कहीं इसी को शिवपुराण माना गया है, जबकि शिवपुराण इससे सर्वथा भिन्न

है। इसमें गुप्त राजाओं का वर्णन है। शिव की स्तुति दी गयी है। दो अध्यायों में विष्णु के चरित का भी निरूपण है। गया तीर्थ के निरूपण तथा पितरों के श्राद्ध के वर्णन की दृष्टि से भी यह पुराण उल्लेखनीय है। इसमें नृत्य तथा संगीत की कला पर भी कुछ अध्याय हैं।

(१२) **अग्निपुराण**—विभिन्न पुराणों में इसकी श्लोक संख्या १५,४०० दी गयी है। किंतु वर्तमान में इसमें लगभग ११,५०० श्लोक मिलते हैं। इसमें अग्निदेवता वसिष्ठ ऋषि को उपदेश देते हैं। अग्निपुराण को भारतीय संस्कृति का विश्वकोश भी कहा गया है। इसमें अनेक विद्याओं, कलाओं और शास्त्रों का निचोड़ पुराणकार ने प्रस्तुत किया है। इस पुराण में विभिन्न देवों की प्रतिमाएँ बनाने की विधि का बहुत उपादेय निरूपण है। रामोपाख्यान और महाभारतोपाख्यान में रामायण तथा महाभारत इन दोनों ग्रंथों का सार प्रामाणिक रूप में दिया गया है। शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से इस पुराण में काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, गणित, भूगोल, आयुर्वेद, धनुर्वेद, संगीतशास्त्र, कर्मकांड, विभिन्न संस्कार, वास्तु, शकुन आदि का क्रमबद्ध और व्यवस्थित प्रतिपादन है।

(१३) **नारदपुराण**—पुराणों के अनुसार इस पुराण की श्लोक संख्या २५,००० है, पर प्रकाशित संस्करण में १८,००० के लगभग श्लोक हैं। इस पुराण का दूसरा नाम बृहन्नारदीयपुराण भी प्रचलित है। यह वैष्णवपुराण है। इसमें विष्णु की उपासना का विशेष प्रतिपादन है। धर्म और दर्शन तथा धर्मशास्त्र के भी अनेक विषय इसमें निरूपित हैं। इसमें सारे पुराणों के विषयों की सूची भी दी गयी है, जो पुराणों के अनुशीलन व संदर्भ के लिए बहुत उपादेय है। इसके अतिरिक्त यह पुराण वेदांगों, तंत्र-मंत्र, श्राद्ध, प्रायश्चित्त, पापकर्म व नरक-वर्णन आदि का भी निरूपण करता है। व्रत विषयक कथाओं की दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण है।

(१४) **पद्मपुराण**—इस पुराण में लगभग ५५,००० श्लोक हैं। यह सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल और उत्तर—नाम के पाँच खंडों में विभाजित है। सृष्टिखंड के प्रमुख विषय हैं—ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि की रचना, सूर्यवंशीय और चंद्रवंशीय तथा अन्य क्षत्रिय राजाओं का इतिहास, देवासुरयुद्ध, तीर्थ, रामायणकथा तथा कार्तिकेय का चरित। भूमिखंड में प्रह्लाद व च्यवन ऋषि की कथाओं तथा विष्णुभक्ति का प्रतिपादन है। स्वर्गखंड में विभिन्न लोकों के विवरणों के साथ शकुन्तला और उर्वशी की कथाएँ हैं। पातालखंड के विषयों में राम का अश्वमेध और राधाकृष्ण की कथाएँ उल्लेखनीय हैं। पद्मपुराण का उत्तरखंड आकार में सर्वाधिक विशाल है। इसमें विभिन्न व्रतों, उपासनाओं, विष्णुभक्ति, राम तथा कृष्ण की कथाएँ, भगवद्गीता की महिमा आदि विषय प्रतिपादित हैं। भारत के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के निरूपण की दृष्टि से यह पुराण विशेष महत्त्व का है। वैष्णव धर्म तथा दर्शन का इसमें विशेष विचार है और इस प्रसंग में शालिग्राम की पूजा तथा तुलसी के माहात्म्य को भी बताया गया है। यद्यपि यह वैष्णव पुराण है, पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों देवों की एकता और तीनों के प्रति समान श्रद्धा रखने पर इसमें बल दिया गया है। इसमें विभिन्न तीर्थस्थलों, व्रतों व

अनुष्ठानों का भी विशद वर्णन है। रामोपाख्यान, शकुंतलोपाख्यान आदि आख्यान भी इसमें हैं, पर रामायण और महाभारत की अपेक्षा इनका निरूपण कालिदास के रघुवंश और शाकुंतल से प्रभावित प्रतीत होता है।

(१५) लिंगपुराण—इस पुराण में लगभग ११,००० श्लोक हैं। यह शैवपुराण है। इसमें शिवविषयक बहुविध आख्यान हैं। शिव के २८ अवतारों की कथाएँ इसमें वर्णित हैं। शिवपूजन की विधि शैवतंत्र और शैवदर्शन का भी यहाँ सविस्तार प्रतिपादन किया गया है। इस पुराण में भी भागवत के समान कुछ अंश गद्य में है।

(१६) गरुडपुराण—इस पुराण में लगभग १८,००० श्लोक हैं। यह वैष्णवपुराण है। इसका स्वरूप विश्वकोशात्मक है। जीव की उत्पत्ति व मृत्यु के बाद उसकी स्थिति का वर्णन इसमें किया गया है। अपने स्वजन की मृत्यु होने पर परिवार में इसका पाठ कराया जाता है। विष्णुभक्ति, प्रायश्चित्त, ज्योतिष, व्याकरण, आयुर्वेद आदि विषय भी वर्णित हैं।

(१७) कूर्मपुराण—यह पुराण अपूर्ण प्राप्त होता है। नारदपुराण के अनुसार इसकी श्लोक संख्या १७,००० है, जबकि वर्तमान में इसका लगभग ६००० श्लोकों का अपूर्ण भाग ही मिला है। इसकी ब्राह्मी, भागवती, सौरी तथा वैष्णवी इन चार संहिताओं का उल्लेख मिलता है। इनमें से ब्राह्मी संहिता उपलब्ध है। इसमें विष्णु के अवतारों का—विशेषतः कूर्मावतार का वर्णन है। ईश्वरगीता तथा व्यासगीता ये दो गीताएँ भी इसी पुराण में संगृहीत हैं।

(१८) स्कंदपुराण—स्कंदपुराण आकार में सबसे विशाल पुराण है। इसकी संज्ञा शिव के पुत्र स्कंद (कार्तिकेय) के नाम पर है। इसका विभाजन दो प्रकार से हुआ है—संहिताओं तथा खंडों में। इसमें छह संहिताएँ तथा ८१,००० श्लोक हैं। इसकी संहिताओं के नाम हैं—सनत्कुमार, सूत, शंकर, वैष्णव, ब्राह्म और सौर। खंडों की संज्ञाएँ इस प्रकार हैं—माहेश्वर, वैष्णव, ब्रह्म, काशी, अवन्ती, नागर, तथा प्रभास। इनमें अवंती खंड रेवाखंड के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। इसमें देश के सारे तीर्थों का विस्तार से वर्णन है। प्राचीन भारत के भूगोल के अध्ययन के लिए इसमें अपार सामग्री है। काशीखंड में वाराणसी तथा उसके आसपास के स्थलों का वर्णन तथा रेवाखंड में नर्मदा सम्बन्धी कथाएँ और उसके तटवर्ती प्रदेशों का प्रामाणिक वर्णन है।

उपपुराण

गरुडपुराण में १८ उपपुराणों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—सनत्कुमार, नारसिंह, स्कांद (शिवपुराण), शिवधर्म, आश्चर्य, नारदीय, कापिल, वामन, औशनस, ब्रह्मांड, वारुण, कालिका, माहेश्वर, सांब, सौर, पाराशर, मारीच तथा भार्गव। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण पुराणों को छोड़ दिया गया है, जबकि वामन, ब्रह्मांड जैसे पुराणों को सम्मिलित कर लिया गया है। अन्य उल्लेखों में चंडीपुराण, मानवपुराण, गणेशपुराण, नंदपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, दुर्वासापुराण, माहेश्वरपुराण, भार्गवपुराण, कल्किपुराण आदि को जोड़ कर पुराणों की संख्या तीस या इससे भी अधिक कर दी गयी है।

उपपुराणों में सर्वाधिक प्रचलित पुराण शिवपुराण है। इसमें सात खंड तथा २४,००० श्लोक हैं। शिव की उपासना, शैवधर्म तथा दर्शन और शिवविषयक कथाओं का यह प्रामाणिक और विस्तृत संग्रह है। दूसरा अत्यधिक प्रचलित उपपुराण देवीभागवत है। भ्रमवश कहीं-कहीं भागवतपुराण को भी देवीभागवत समझ लिया जाता है, जब कि देवीभागवत भागवत महापुराण से सर्वथा पृथक् स्वतंत्र पुराण है। यह शाक्तपुराण है तथा देवी या शक्ति की पूजा, उनके अवतारों और तद्विषयक कथाओं का विपुल संग्रह इसमें हुआ है। इसका रचनाकाल नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी ई० के मध्य माना गया है। देवी के विभिन्न रूप इस पुराण में वर्णित हैं, जिनमें राधा के चरित्र को महिमान्वित किया गया है।

जैनपुराण—जैन परम्परा में पुराणों का निर्विवाद महत्त्व है। इन पुराणों में ६३ महापुरुषों के जीवनचरित निरूपित हैं। कुछ पुराण किसी एक महापुरुष की चरित-गाथा ही प्रस्तुत करते हैं। महापुरुषों के जीवनचरित होने से इन्हें महापुराण कहा गया है। इन पुराणों में विमलसूरि का पउमचरिउ सर्वप्रथम परिगणित होता है। यह अर्धमागधी प्राकृत में लिखा गया है तथा इसमें ११८ उद्देश्य और १०,००० श्लोक हैं। ६७७ ई० में रचा गया रविषेण का पद्मचरित या पद्मपुराण पउमचरिउ पर ही आधारित है। स्वयंभू द्वारा अपभ्रंश में विरचित पद्मचरित और अरिष्टनेमिचरित भी इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। पुष्पदंत का यशोधरचरित महापुराण माना गया है। इसमें ६३ महापुरुषों का चरित वर्णित है।

पुराणों का महत्त्व—पुराण धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा दार्शनिक दृष्टि से भारतीय साहित्य की अनमोल निधि हैं। इनमें तीर्थों, प्राचीन उत्सवों, अनुष्ठानों, व्रतों आदि का जो विवरण मिलता है, परम्पराओं के विकास के ज्ञान के लिए उसका महत्त्व निर्विवाद है। पुराणों का भारतीय समाज के नवजागरण और जन-जन को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाये रखने में महान् योगदान रहा है। धर्म, दर्शन, संस्कृति और विभिन्न कलाओं, शास्त्रों, विद्याओं के ज्ञान को पुराणों ने सरल और सुबोध बना कर इस रूप में प्रस्तुत किया कि वह सामान्य लोगों के लिए ग्राह्य हो सके। पुराणकार इस देश के भूगोल और इतिहास के विषय में लोगों को जानकारी देने का काम भी युग-युग तक करते रहे। भारतवर्ष का स्वरूप बताते हुए पुराणों ने जन-जन के मन में देश के प्रति अनुराग जगाने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक अनेक पुराणों में दोहराया गया है—

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती तत्र सन्ततिः॥

इसके साथ ही इस भारत देश की सार जंबू द्वीप में श्रेष्ठता बताते हुए कहा गया है—'अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।'

विष्णुपुराण में कहा गया है कि देवता भी भारतभूमि के गौरव की गाथा गाते रहते हैं, और वे यह कहते हैं कि भारत भूमि में रह कर स्वर्ग और अपवर्ग (मुक्ति) दोनों पाये जा सकते हैं।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

श्रीमद्भागवत्पुराण के अनुसार इस पवित्र भारतभूमि पर एक क्षण के लिए निवास अन्य किसी स्थान पर कई कल्प निवास से भी बढ़कर है—

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥

पद्मपुराण कहता है—'सर्वेषामेव भूतानां प्रियं भारतमुत्तमम्।' इस प्रकार पुराणों ने देश-प्रेम का संदेश दिया।

पर्यावरण की रक्षा के लिए पुराण आज हमारे लिए प्रेरणा के अमिट स्रोत हैं। पुराणों में निरन्तर वृक्षों और वनों के संवर्धन का संदेश दिया जाता रहा है। भविष्यपुराण में कहा गया है—

दशकूपसमा वापी दशवापीसमो ह्रदः।
दशह्रदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः॥

(एक बावड़ी दस कुओं के बराबर है और तालाब दस बावड़ियों के बराबर। एक पुत्र दस तालाबों के बराबर है तथा एक पेड़ दस पुत्रों के बराबर।)

वैज्ञानिक और दार्शनिक चिंतन को पुराणों ने अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। श्रीमद्भागवत में सारे ब्रह्माण्ड का स्वरूप और उसमें विभिन्न ग्रहों, नक्षत्रों की गति को समझाने के लिए कुम्हार के घूमते हुए चाक का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार कुम्हार का चाक घूम रहा हो और उस पर कुछ चीटियाँ चल रही हों, तो वे चीटियाँ अपनी गति से भी चलती हैं, और उस चाक के साथ भी घूमती हैं, उसी प्रकार यह सारा ब्रह्मांड एक कुम्हार के एक चाक की तरह घूम रहा है, और इसके साथ इसके अंतर्गत सारे ग्रह, नक्षत्र भी घूम रहे हैं, और वे ग्रह आदि इसकी गति के साथ घूमने के अतिरिक्त अपनी-अपनी गतियों से भी भ्रमण कर रहे हैं—**'यथा कुलालचक्रेण सह भ्रमतां तदाश्रयाणां पिपीलिकादीनां गतिरन्यैव प्रदेशान्तरेष्वप्युपलभ्यमानत्वादेवं नक्षत्रराशिभिरुपलक्षितेन कालचक्रेण ध्रुवं मेरुं च प्रदक्षिणेन परिधावता सह परिधावमानानां तदाश्रयाणां सूर्यादीनां ग्रहाणां गतिरन्यैव नक्षत्रान्तरे राश्यन्तरे चोपलभ्यमानत्वात्'** (भागवत, पंचम स्कंध, २२/२)।

पुराणों ने धर्म के नाम पर होने वाले आडंबर और निरर्थक कर्मकाण्ड का निराकरण करके धर्म के मानवीय स्वरूप को प्रतिष्ठित किया। वे मानवतावादी धर्म के सबसे प्राचीन प्रतिपादक महाग्रंथ कहे जा सकते हैं। समाज में व्याप्त शोषण व अन्याय का प्रतिरोध पुराणकारों ने किया। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् सत्त्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(जितने से अपना पेट भर सके, उतने पर ही प्राणी का अधिकार है। उससे अधिक जो संचय करता है, वह चोर है, और उसे दंड दिया जाना चाहिये।)

भागवत में कपिल मुनि कहते हैं—

अत्रैव स्वर्गो नरक इति मातः प्रचक्षते।
या यातना वै नारक्यस्ता इहाप्युपलक्षिताः॥

पुराणों ने धर्म के मानवीय रूप की प्रतिष्ठा की। उन्होंने कर्मकांड की रूढ़ियों को तोड़ कर तत्त्व का बोध कराया। हरिवंश में श्रीकृष्ण यज्ञ के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं—

मन्त्रयज्ञपरा विप्रा सीतायज्ञाश्च कर्षुकाः।
गिरियज्ञास्तथा गोपा इज्योऽस्माभिर्गिरिर्वने॥

(ब्राह्मण मंत्र से यज्ञ करते हैं, किसान सीता (हल की फाल) से और गोप पर्वत से यज्ञ करते हैं।) इस प्रकार पुराणों ने नदीमहः, सागरमहः, वृक्षमहः जैसे उत्सवों की परम्परा का प्रवर्तन करके समाज को पर्यावरण से जोड़ा।

भारतीय समाज को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने में कई शताब्दियों तक पुराणों ने जिस महती भूमिका का निर्वाह किया उसे दृष्टि में रख कर कहीं-कहीं तो पुराणों को वेदों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया—वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने। (नारदीयपुराण)।

✤

अध्याय ४

महाकाव्य परम्परा का उद्भव तथा स्थापना-काल

पिछले अध्याय में रामायण और महाभारत की उपजीव्य काव्य के रूप में चर्चा की गयी है। उपजीव्य काव्य का आशय है ऐसे काव्य जिन्होंने संस्कृत में रचे जाने वाले साहित्य को व्यापक रूप से प्रेरित, प्रभावित या अनुप्राणित किया। अनेक महाकाव्यों और नाटकों पर प्रत्यक्ष रूप से रामायण या महाभारत का प्रभाव है। साथ ही महाकाव्य के मानदंड और संरचना की अवधारणाएँ भी इन्हीं दोनों उपजीव्य काव्यों के आधार पर निर्मित हुईं। परवर्ती काव्य-रचना के विभिन्न तत्त्व रामायण तथा महाभारत से ही पल्लवित हुए। उदाहरण के लिए—

(१) महाकाव्य संज्ञा का आधार—महाकाव्य इस संज्ञा का आधार रामायण व महाभारत में ही है। महाभारत में तो महत् विशेषण जुड़ा हुआ है ही, रामायण को भी स्वयं कवि ने महत्-काव्य की संज्ञा दी है—'कर्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुङ्गवः ?'

(२) छंदोविधान—यद्यपि विविध छंदों का प्रयोग वैदिक संहिताओं में किया गया था, पर लौकिक साहित्य के छंदों का सर्वप्रथम अवतरण रामायण तथा उसके अनन्तर महाभारत में ही हुआ। रामायण और महाभारत में अनुष्टुप् छंद का ही अधिक प्रयोग हुआ है, पर इसके अतिरिक्त इंद्रवज्रा, उपजाति आदि छंद भी इन दोनों में अनेकत्र प्रयुक्त हैं।

(३) सर्गों में विभाजन—महाकाव्य का एक नाम सर्गबंध मिलता है, क्योंकि इसका विभाजन सर्गों में होना चाहिये। सर्गों में विभाजन की अवधारणा भी रामायण से प्रेरित है। रामायण के प्रत्येक कांड का विभाजन अनेक सर्गों में हुआ है।

(४) रस की अवधारणा—रामायण की रचना के साथ ही काव्य में रस की अवधारणा भी प्रतिष्ठित हुई। रामायण के आरम्भ में कहा गया है कि क्रौंच के वध से विलाप करती क्रौंची को देखकर वाल्मीकि के भीतर जो शोक उद्गत हुआ, वही श्लोक के रूप में ढल गया। शोक करुण रस का स्थायी भाव है। रामायण में इसीलिए करुण रस को प्रधान माना गया है। इसके मूल में करुणा का सार्वजनीन अनुभव है। पर करुणा के साथ-साथ अन्य रस भी रामायण में अभिव्यक्त हुए। जब इस काव्य का प्राचीन काल में गायन होता था, तो इन रसों का श्रोतृसमाज अनुभव करता था। कुश और लव के द्वारा रामायण के गायन का वर्णन करते हुए रामायण में ही कहा गया है—

रसैः शृङ्गारकरुणहासरौद्रभयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम्॥

यहाँ काव्य में रस की अनुभूति का विचार तो है ही, रसों के अलग-अलग नाम भी सूचित किये गये हैं। इसी प्रकार काव्य में गुण, रीति, वक्रोक्ति, अलंकार आदि का

विचार भी रामायण और महाभारत के उत्कृष्ट काव्य-सौन्दर्य की समाशंसा के साथ आरम्भ हुआ। कवियों को नवीन कल्पनाओं और काव्यात्मकता के निर्वाह की प्रेरणा इन दोनों महाकाव्यों से मिली।

स्वरूप—महाकाव्य श्रव्य काव्य की विधाओं में सबसे प्रमुख माना गया है। महाकाव्य शब्द महत् और काव्य—इन दो शब्दों को मिलाकर बना है। महत् का अर्थ महान् या बड़ा है। इस विशेषण से ही इस काव्यप्रकार की प्रधानता प्रकट होती है। 'महत्-काव्य'—इस संज्ञा का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण में मिलता है। वहाँ वाल्मीकि रामायण को महत्-काव्य कहा गया है।

महाकाव्य का अन्य नाम भी मिलता है—सर्गबंध। यह नाम भी वाल्मीकि रामायण के प्रभाव से प्रचलन में आया हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि वाल्मीकि रामायण पहला काव्य है, जिसका विभाजन कांडों के अंतर्गत सर्गों में हुआ है। संस्कृत कवियों में माघ ने सर्वप्रथम महाकाव्य का विशिष्ट काव्यप्रकार के अर्थ में उल्लेख किया है—

विषमं सर्वतोभद्रचक्रगोमूत्रिकादिभिः।
श्लोकैरिव महाकाव्यं व्यूहैस्तदभवद् बलम्॥ (शिशुपाल वध, १९/४१)

महाराष्ट्री, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में रचे गये महाकाव्यों को आश्वासबंध तथा संधिबंध कहा गया है। इनका विभाजन आश्वासों तथा संधियों में हुआ है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—'महाकाव्य में एक नायक का चरित होता है। नायक के साथ प्रतिनायक का वर्णन भी इसमें रहता है। नायक धर्मपरायण तथा सज्जनों के मार्ग पर चलने वाला हो, तथा प्रतिनायक भी पराक्रमी होना चाहिये। प्रतिनायक का अंत में वध दिखाया जा सकता है, अन्य किसी का वध नहीं दिखाना चाहिये। नायक की मृत्यु का वर्णन महाकाव्य में नहीं करना चाहिये, यदि नायक सशरीर स्वर्ग गया हो, तो उसका वर्णन किया जा सकता है।' नवरसों का प्रयोग भी महाकाव्य में पुराणकार ने अपेक्षित माना है। वर्ण्य-विषयों में युद्ध के लिए प्रयाण, युद्धोद्योग तथा युद्ध का निरूपण होना चाहिये और अंत में नायक का अभ्युदय दिखाना चाहिये। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों, नगरों व राजाओं, ऋतुओं, पर्वतों, नदियों और स्त्रियों का वर्णन इसमें किया जाना चाहिये।

काव्यशास्त्र के आचार्यों की परम्परा में सर्वप्रथम गण्य भामह ने महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्।
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ॥

(काव्यालंकार, १/१९-२१)

अर्थात् सर्गबन्ध महाकाव्य कहलाता है। यह आकार में बड़ा (महत्) तथा महान् लोगों के चरित्र का निरूपण करने वाला वाक्य है। इसमें मंत्र (परामर्श, मंत्रणा),

दूत, युद्ध का वर्णन होता है तथा नायक का अभ्युदय दिखाया जाता है। महाकाव्य ग्राम्य शब्दों से रहित, अर्थसौष्ठव से युक्त, अलंकार से युक्त तथा सत्पुरुषों के चरित्र को प्रस्तुत करने वाला होना चाहिये। इसमें चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) का प्रतिपादन होना चाहिये। लोकस्वभाव तथा सभी रसों का इसमें निरूपण होना चाहिये।

महाकाव्य का लक्षण दंडी, रुद्रट, विश्वनाथ आदि अनेक आचार्यों ने किया है। भामह ने महाकाव्य में अधिक से अधिक या कम से कम कुल कितने सर्ग रखे जा सकते हैं—इस पर कोई निर्देश नहीं दिया है। परवर्ती आचार्यों विश्वनाथ आदि ने महाकाव्य में कम से कम आठ सर्ग होना आवश्यक माना है तथा ईशानसंहिता में महाकाव्य की अधिकतम सर्ग संख्या तीस बतायी गयी है। दंडी ने महाकाव्य के लक्षण में निम्नलिखित तत्त्व और जोड़े हैं—महाकाव्य के आरम्भ में आशीः, नमस्क्रिया या वस्तुनिर्देशात्मक मंगल होना चाहिये। इसकी कथा इतिहास (रामायण, महाभारत) से निकली हुई होनी चाहिये, या अन्य कोई उदात्त कथा इसमें रह सकती है। महाकाव्य में नगर, जलाशय, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, चंद्रोदय, उपवनविहार, जलक्रीड़ा, मधुपान, रतोत्सव, विप्रलंभ, विवाह तथा युद्ध का वर्णन होना चाहिये। इसके सर्ग न अधिक बड़े हों, न अधिक छोटे। महाकाव्य लोकरंजन में समर्थ तथा विभिन्न प्रकार के वृत्तांतों से युक्त होना चाहिये। विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने महाकाव्य के निम्नलिखित ९ वर्ण्य-विषय माने हैं—देश, नगर, राजा, ऋतु, पर्वत, नदी, नारी-प्रयाण तथा युद्ध। रुद्रट ने वर्ण्य-विषयों की विस्तृत सूची दी है, जिसमें उन्होंने अटवी, वन, सरसी, मरुस्थल, द्वीप, समाज (मेला, उत्सव), पड़ाव, संगीत आदि वर्णनीय विषय भी जोड़ दिये हैं।

अग्निपुराण में महाकाव्य के लक्षण में कुछ और नयी परिकल्पनाओं का समावेश किया गया है। तदनुसार—महाकाव्य में शक्वरी, अतिजगती अतिशक्वरी तथा त्रिष्टुप् या पुष्पिताग्रा आदि छंदों का प्रयोग अपेक्षित है। महाकाव्य इतिहास (रामायण, महाभारत) की कथा पर आधारित हो सकता है अथवा अन्य किसी सज्जन के चरित्र पर भी। विश्वनाथ ने रस के विषय में मत दिया है कि महाकाव्य में शृंगार, वीर या शांत—इन तीन रसों में से एक अंगी (प्रधान) होना चाहिये, शेष अंग के रूप में अभिव्यक्त होने चाहिये। विश्वनाथ ने महाकाव्य के लक्षण का विस्तार करते हुए कहा है कि इसमें नायक के रूप में किसी देवता या उत्तम कुल में उत्पन्न धीरोदात्त क्षत्रिय का चरित निरूपित हो सकता है। अथवा एक ही वंश के अनेक कुलीन राजाओं को भी नायक बना कर महाकाव्य की रचना हो सकती है। विश्वनाथ ने नायक के विषय में यह विकल्प कालिदास के रघुवंश से प्रभावित होकर दिया है। उन्होंने महाकाव्य के आरम्भ में दुष्टों की निन्दा तथा सज्जनों की प्रशंसा भी अपेक्षित मानी है, तथा वर्णनीय विषयों में मृगया तथा यज्ञ का भी समावेश कर दिया है। सर्ग के अंत में आगे आने वाली कथा का संकेत होना चाहिये। महाकाव्य का नामकरण कवि, विषयवस्तु, नायक या किसी अन्य प्रमुख प्रसंग के आधार पर किया जाना चाहिये। प्रत्येक सर्ग का भी अलग-अलग नाम उस सर्ग में वर्णित कथा के आधार पर रखा जा सकता है।

महाकाव्य श्रव्य काव्य की सभी विधाओं में अन्यतम माना गया है। इसमें कवि सम्पूर्ण युग और नायक के समग्र जीवन को चित्रित करता है। पुरुषार्थ की निष्पत्ति दिखाते हुए पाठक को सन्मार्ग पर प्रवृत्त करना तथा उदात्त मूल्यबोध के द्वारा पाठक की चेतना का परिष्कार के द्वारा महाकाव्य का सभी काव्यविधाओं के बीच असाधारण महत्त्व स्वीकार्य है।

महाकाव्यों का विभाजन—संस्कृत महाकाव्य साहित्य अत्यंत समृद्ध तथा वैविध्यपूर्ण है। कई प्रकार के महाकाव्य तीन हजार वर्षों की इसकी सुदीर्घ परम्परा में रचे गये। मुख्य रूप से इन्हें निम्नलिखित कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) आर्ष महाकाव्य—आर्ष का अर्थ है—ऋषि के द्वारा रचा हुआ। रामायण और महाभारत—इन दो महाकाव्यों को आर्ष महाकाव्य कहा गया है। इन दोनों महाकाव्यों के प्रणेता वाल्मीकि और व्यास ऋषि हैं।

(२) अलंकृत महाकाव्य या विदग्ध महाकाव्य—अलंकृत या विदग्ध महाकाव्यों का युग आर्ष महाकाव्यों के पश्चात् आरम्भ होता है। अलंकृत महाकाव्य आर्ष महाकाव्यों से प्रभावित हैं, और उनका अनुकरण भी करते हैं, पर इनमें अभिव्यक्ति—प्रकारों या शैली के चमत्कार पर कवियों ने विशेष ध्यान दिया है। अलंकार का अर्थ है परिपूर्ण बनाना तथा सजाना। अभिव्यक्ति की परिपूर्णता के आधार पर महाकाव्यों को अलंकृत महाकाव्य कहा जा सकता है। विदग्ध का व्याकरण की दृष्टि से अर्थ है—सिका हुआ या भुना हुआ। इसका लाक्षणिक अर्थ चतुर, सुसंस्कृत, नागर या पंडित है। जैसे किसी खाद्य वस्तु को और अधिक स्वादिष्ट बनाने के लिए सेका या भूना जाता है, उसी प्रकार विदग्ध महाकाव्यों में आर्ष महाकाव्यों की अपेक्षा शैली का परिष्कार या निखार विषयवस्तु को अधिक आकर्षक तथा आस्वाद्य बनाने के लिए लाया जाता है। विदग्ध महाकाव्य—इस संज्ञा का प्रयोग मराठी के समीक्षक डॉ० केशवनारायण वाटवे ने संस्कृत महाकाव्यों के अपने विश्लेषण में सर्वप्रथम किया है। विदग्ध महाकाव्य का आशय बताते हुए वे कहते हैं—'विदग्ध महाकाव्य से आशय है उत्तरकालीन संस्कृति की बदलती हुई धारा में तथा भिन्न परिस्थितियों में पूर्वकालीन काव्यों का आधार विशेष अभिप्राय से लेकर पांडित्य तथा चातुर्य और विद्वत्ता से सजाया गया कलामंडित तंत्रबद्ध महाकाव्य।' विदग्ध या अलंकृत महाकाव्यों के स्रोत हैं— रामायण, महाभारत, पुराण तथा गुणाढ्य के द्वारा प्राकृत भाषा में विरचित बड्ढकहा (बृहत्कथा)। संस्कृत साहित्य में रघुवंश, कुमारसंभव, किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध, नैषधचरित, धर्मशर्माभ्युदय आदि विदग्ध महाकाव्य कहे जा सकते हैं।

(३) पौराणिक महाकाव्य—यद्यपि अलंकृत या विदग्ध महाकाव्यों में भी पुराणों व पौराणिक कथानकों का आश्रय लिया गया है, पर कतिपय महाकाव्यों में पौराणिक विषय-वस्तु को पौराणिक शैली में ही प्रस्तुत किया गया। क्षेमेंद्र की रामायणमंजरी, भारतमंजरी, दशावतारचरित तथा जयरथ का हरचरितचिंतामणि इसी प्रकार के महाकाव्य हैं।

(४) ऐतिहासिक तथा चरित्र-प्रधान महाकाव्य—ये महाकाव्य ऐतिहासिक प्रसंगों या चरित्रों (राजाओं, ऋषियों, संतों आदि) को आधार पर बना कर रचे गये हैं। नवसाहसांकचरित, राजतरंगिणी, विक्रमांकदेवचरित आदि इनके उदाहरण हैं।

(५) शास्त्रकाव्य—ये काव्य किसी शास्त्रविशेष का ज्ञान कराने के लिए लिखे गये हैं। भट्टिकाव्य के द्वारा व्याकरण का ज्ञान कराने के लिए लिखे गये काव्यों या महाकाव्यों की परम्परा प्रचलित हुई। इसी प्रकार दामोदर का कुट्टनीमत कुट्टनियों के चरित्र का ज्ञान कराने के प्रयोजन से लिखा गया है।

यह वर्गीकरण साहित्यिक दृष्टि से प्रधान गुणों के आधार पर किया गया है। ऐसा नहीं है कि आर्ष महाकाव्यों में शैली या विदग्धता के दर्शन न होते हों। अपितु अलंकृत शैली का विकास ही इन महाकाव्यों ने किया है। इसी प्रकार अलंकृत या विदग्ध महाकाव्यों में आर्ष महाकाव्यों के गुण-जीवन दर्शन, शैली की प्रासादिकता या सहजता आदि मिलते हैं। क्षेमेंद्र के महाकाव्य विषय-वस्तु की दृष्टि से पौराणिक महाकाव्यों की श्रेणी में परिगणित किये गये हैं, पर उनमें अलंकृत शैली का वैभव उसके पूरे उत्कृष्ट रूप में प्रकट हुआ है। ऐतिहासिक महाकाव्यों में कल्हण की राजतरंगिणी में तो प्राय: सर्वत्र आर्ष महाकाव्यों की शैली और विशेषता प्रकट हुई है। भट्टिकाव्य में व्याकरण के विषयों या नियमों के उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयोजन कवि के सम्मुख रहा है, पर उसमें अलंकृत शैली या काव्यसौन्दर्य का भी अच्छा परिपाक है। इसलिए उपरिलिखित विभाजन व्यावहारिक स्तर पर महाकाव्यों के वैशिष्ट्य को समझने के लिये किया गया मानना चाहिये, परमार्थत: तो महाकाव्य की विकास-यात्रा में विभिन्न धाराएँ एक दूसरे से संगम बनाती रही हैं।

विषय-वस्तु या धार्मिक दृष्टि से वैदिक परम्परा के महाकाव्य तथा जैन महाकाव्य और बौद्ध महाकाव्य—ये तीन श्रेणियाँ भी संस्कृत महाकाव्यों में कही जा सकती हैं।

महाकाव्य की प्राचीन परम्परा

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शिशुक्रंदीय, यमसभीय तथा इंद्रजननीय—इन काव्यों का प्रसंगवश सूत्रों में उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि प्रबंधकाव्य की परम्परा में पाणिनि के पूर्व वाल्मीकि की रामायण या महाभारत के अतिरिक्त अन्य अनेक काव्य रचे गये थे। पर ये काव्य प्राप्त नहीं होते।

कालिदास के पूर्व महाकाव्य की रचना करने वाले दो महाकवियों के नाम प्राप्त होते हैं—पाणिनि तथा वररुचि या कात्यायन। इन दोनों के रचे महाकाव्य लुप्त हो चुके हैं। ये दोनों व्याकरणशास्त्र के महान् आचार्य के रूप में ख्यात हैं। जल्हण ने अपनी सूक्ति-मुक्तावली में राजशेखर के कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें से एक में बताया गया है कि पाणिनि ने व्याकरण के ग्रंथ के साथ जांबवतीजय महाकाव्य की भी रचना की थी—

स्वस्ति पाणिनये तस्मै यस्य रुद्रप्रसादतः।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम्॥

इसके आगे राजशेखर ने पाणिनि की उपजाति की प्रशंसा करते हुए कहा है कि जैसे उद्यान की शोभा जाति (चमेली) के फूलों से होती है, उसी प्रकार पाणिनि के काव्य की शोभा उनकी उपजातियों से बढ़ी है—

स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः॥

सदुक्तिकर्णामृत में उद्धृत एक पद्य में दाक्षीपुत्र पाणिनि का नाम सुबंधु, कालिदास, भवभूति आदि कवियों के साथ लिया गया है।

जांबवतीजय महाकाव्य का नाम कहीं-कहीं पातालविजय भी मिलता है। अमरकोश के टीकाकार रायमुकुट ने पाणिनि के जांबवतीजय का यह श्लोकार्ध भी उद्धृत किया है—

पयः पृषन्तिभिः स्पृष्टा वान्ति वाताः शनैः शनैः।

नमिसाधु ने रुद्रट के काव्यालंकार की टीका में पातालविजय से एक श्लोक उद्धृत किया है। पुरुषोत्तम की भाषावृत्ति तथा शरणदेव की दुर्घटवृत्ति में भी इस महाकाव्य का उल्लेख मिलता है। पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार आर्षकाव्यों के पश्चात् जांबवतीजय या पातालविजय संस्कृत का प्रथम महाकाव्य है। पाणिनि के नाम से लगभग १७ पद्य प्राचीन सुभाषित संग्रहों में प्राप्त होते हैं, जिनसे विदित होता है कि पाणिनि एक उत्तम कवि थे। इन श्लोकों में सर्वाधिक संख्या उपजाति छंद में निबद्ध श्लोकों की है। क्षेमेंद्र ने पाणिनि की उपजाति को विशेष सराहनीय माना है। यह महाकाव्य श्रीकृष्ण द्वारा पाताल में पहुँच कर स्यमंतक मणि का पता लगाना और जांबवती से उनके विवाह-कथा पर आधारित रहा होगा—यह अनुमान किया जा सकता है।

कात्यायन या वररुचि के महाकाव्य का उल्लेख महाभाष्यकार पतंजलि ने 'वाररुचं काव्यम्' के नाम से किया है। वररुचि के नाम से भी अनेक पद्य सुभाषित संग्रहों में प्राप्त होते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि वररुचि के द्वारा विरचित महाकाव्य का नाम 'स्वर्गारोहण' था।

कालिदास के महाकाव्य

परिचय

कालिदास के सम्बन्ध में विभिन्न किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। एक पारम्परिक मान्यता के अनुसार कालिदास उज्जयिनी (उज्जैन) के राजा विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे। बल्लालसेन के भोजप्रबंध, मेरुतुंगाचार्य के प्रबंधचिंतामणि आदि ग्रंथों में भी कालिदास के विषय में अनेक कथाएँ दी गयी हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं कही जा सकतीं। उनके सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध कथा है कि बचपन में वे मूर्ख थे और पंडितों ने विक्रमादित्य राजा की पुत्री राजकुमारी विद्योत्तमा से बदला लेने के लिए उसका विवाह छल से कालिदास से करा दिया। विवाह के पहले ही दिन विद्योत्तमा के द्वारा दुत्कारे जाने पर उन्होंने काली की आराधना की और काली के वरदान से उनकी

कवित्व-प्रतिभा जागरित हुई। कालिदास के सम्बन्ध में एक किंवदंती विशेष रूप में लंका में प्रचलित है। उसके अनुसार कालिदास सिंहल (लंका) के राजा कुमारदास के मित्र थे। एक बार कुमारदास ने कालिदास की खोज के लिए एक समस्यापूर्ति घोषित करायी, जिसकी पूर्ति कालिदास ही कर सकते थे। उस समस्यापूर्ति के लालच में सिंहल की एक गणिका ने कालिदास की हत्या कर दी।

कालिदास के जन्म-स्थान और रचनाकाल के विषय में विभिन्न मत हैं। अलग-अलग विद्वानों ने कालिदास का जन्म-स्थान अलग-अलग स्थानों पर माना है। बंगाल, विदर्भ, विदिशा, कश्मीर, गढ़वाल आदि स्थानों को कालिदास की जन्मभूमि या लीलाभूमि मानने के पक्ष में अपने-अपने प्रमाण विद्वानों के द्वारा दिये जाते रहे हैं। कालिदास का जन्म-स्थान कौन-सा था, यह कहना असंभव ही है। पर यह निर्विवाद है कि कालिदास उज्जयिनी में अवश्य रहे थे। मेघदूत में उन्होंने उज्जयिनी का जो चित्रण किया है, उसमें इस नगरी के प्रति उनका गहरा लगाव और इससे अंतरंग परिचय भी प्रकट होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कालिदास जिस समय में हुए वह भारतीय कला, साहित्य, संस्कृति, धर्म और दर्शन के अभूतपूर्व उन्मेष का काल था। कालिदास ने अपने समय की श्रेष्ठ और उदात्त उपलब्धियों को अपने काव्यों में समुज्ज्वल रूप में प्रस्तुत किया।

कालिदास के काव्यों के अध्ययन से यह भी प्रमाणित होता है कि उन्होंने इस देश के कोने-कोने को छाना था। इस धरती के चप्पे-चप्पे पर वे घूमे। यहाँ की वनस्पतियों, विभिन्न प्रांतों में रहने वाले लोगों के रहन-सहन और जीवन से उन्होंने गहरा परिचय प्राप्त किया था। ऋतुसंहार की रचना के समय वे कदाचित् विंध्याचल के वनों में घूम रहे थे, क्योंकि इस काव्य में उन्होंने विंध्य के बीहड़ वनों के सौन्दर्य को बार-बार उकेरा है।

कालिदास शिव के उपासक थे। कुमारसंभव महाकाव्य में तो शिव का अत्यंत भव्य गरिमामय रूप उन्होंने चित्रित किया ही है, रघुवंश में आरम्भ में ही शिव और पार्वती की वंदना करते हुए कहा है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

(वाणी और अर्थ के बोध के लिए मैं जगत् के माता और पिता उन पार्वती-परमेश्वर की वंदना करता हूँ, जो वाणी और अर्थ की भाँति एक दूसरे से संपृक्त हैं।) अपने तीनों नाटकों में उन्होंने शिव की ही वंदना आरम्भ में की है। इसके साथ ही उन्होंने अन्य देवों के प्रति भी समान आस्था का भाव व्यक्त किया है। रघुवंश में विष्णु की स्तुति देवों के मुख से करायी गयी है, और कुमारसंभव में ब्रह्मा की स्तुति है। वास्तव में कालिदास ब्रह्मा, विष्णु और महेश को एक ही परम सत्ता के तीन रूप मानते हैं—

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद् वेधास्ततस्तावपि धातुराद्यौ॥ (कुमारसंभव)

रचनाकाल—कालिदास के रचनाकाल का निर्णय करना कठिन है। इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे १५० ई० पू० के पश्चात् तथा ६०० ई० के पहले हुए, क्योंकि १५० ई० पू० के आसपास शासन करने वाले विदिशा के राजा अग्निमित्र को नायक बना कर उन्होंने मालविकाग्निमित्र नाटक की रचना की है, तथा ६०० ई० के आसपास हुए बाण ने उनका उल्लेख किया है। कालिदास के रचनाकाल के विषय में दो मत विशेष रूप से प्रचलित हैं। एक के अनुसार वे उज्जयिनी में राजा विक्रमादित्य की सभा में रहे। यह वही विक्रमादित्य है, जिसने विक्रमसंवत् का प्रवर्तन किया। विक्रमसंवत् ईसा से ५७ वर्ष पूर्व प्रवर्तित किया गया। अतः कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० माना जाना चाहिये। इस मत के समर्थन में निम्नलिखित प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) भारतीय परम्परा कालिदास को राजा विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक मानती आयी है। इस सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कु-
वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य॥

इस श्लोक में वर्णित विक्रमादित्य उक्त संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य ही हैं।

(२) यह मानना भी उचित नहीं है कि प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य की पदवी धारण करने वाला कोई राजा नहीं हुआ। प्रथम शताब्दी के आसपास संकलित हाल की गाहासतसई में विक्रमादित्य राजा का उल्लेख है। इतिहासकारों में हरप्रसाद शास्त्री, गौरीशंकर ओझा तथा श्रीधर विष्णु वाकणकर प्रथम शती ई० पू० में राजा विक्रमादित्य का अस्तित्व मानते हैं।

जैन साहित्य के उल्लेखों के अनुसार प्रथम शताब्दी ई० पू० के पहले उज्जयिनी में राजा विक्रमादित्य राज्य करता था, जिसने शकों को मार कर भगाया। मेरुतुंगाचार्य के प्रबंधचिंतामणि, प्रबंधकोश तथा धनेश्वर सूरि के शत्रुंजयमाहात्म्य में विक्रमादित्य के द्वारा शकों को परास्त करने की घटना का समय महावीर स्वामी के निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् अर्थात् ७५ ई० पू० बतलाया है। कथासरित्सागर में भी उज्जयिनी में इसी समय राज्य करने वाले विक्रमादित्य का उल्लेख है।

अभिज्ञानशाकुंतल की प्रस्तावना तथा भरतवाक्य में साहसांक विक्रमादित्य का उल्लेख है। इससे भी प्रमाणित होता है अभिज्ञानशाकुंतल के रचयिता कालिदास प्रथम शताब्दी ई० पू० में राज्य करने वाले राजा विक्रमादित्य के समकालीन हैं।

(३) कालिदास का मालविकाग्निमित्र शुंगकालीन इतिहास पर आधारित है। शुंगवंश के संस्थापक सम्राट् पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र इसका नायक है। पुष्यमित्र का शासनकाल १८५ ई० में प्रारम्भ हुआ। पुष्यमित्र को उसके पिता ने विदिशा का शासक नियुक्त किया था। पुष्यमित्र तो इतिहास में प्रसिद्ध है, पर उसका पुत्र अग्निमित्र इतना

प्रसिद्ध नहीं है। उसको नायक बना कर नाटक वही कवि रच सकता है, जो समय की दृष्टि से उसके निकट हो। अत: कालिदास को प्रथम शताब्दी ई० पू० में रखना उचित है।

(४) प्रयाग के पास एक प्राचीन मृण्मय पदक मिला है, जिस पर हरिण का पीछा करता हुआ एक शिकारी चित्रित है। विद्वानों का अनुमान है कि यह कालिदास के अभिज्ञानशाकुंतल का दृश्य है और यह मृण्मय पदक कालिदास से प्रभावित है। इस पदक का काल प्रथम शताब्दी ई० पू० है। अत: कालिदास इस समय तक हो चुके थे।

(५) रघुवंश में रघु की दिग्विजय के प्रसंग में पांड्य नरेश पर उनकी विजय का चित्रण है। इसके आगे इंदुमती के स्वयंवर में पांड्यनरेश को उपस्थित दिखाया गया है, और उसके प्रताप का वर्णन किया गया है। गुप्त काल में पांड्य साम्राज्य अस्त हो चुका था, जब कि प्रथम शताब्दी ई० पू० में उसका वर्चस्व था।

(६) कालिदास ने अनेकत्र बौद्ध प्रभाव के निराकरण के लिए प्रतिक्रिया व्यक्त की है। यह स्थिति प्रथम शताब्दी ई० पू० से ही मेल खाती है। गुप्त काल में बौद्धों का प्रभाव नहीं रह गया था।

दूसरा मत कालिदास को गुप्तकाल में मानने वाले विद्वानों का है। इसके अनुसार कालिदास ४०० ई० के आसपास हुए और वे गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन थे। कीथ आदि इस मत के समर्थक हैं। इस समर्थन में निम्नलिखित प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) कालिदास की प्राकृत अश्वघोष और भास के बाद की है। (२) कालिदास ने जिस वैभवशाली युग का चित्रण किया है वह गुप्तकाल ही हो सकता है। (३) ४७३ ई० की वत्सभट्टि की प्रशस्ति के दो श्लोकों में कालिदास का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। अत: कालिदास इसके कुछ पहले हुए। (४) कालिदास के आश्रयदाता राजा को शकाराति कहा गया है। चंद्रगुप्त द्वितीय ने ३९५ ई० के लगभग काठियावाड़ में शकवंशीय क्षत्रपों का उच्छेद किया था। (५) कालिदास ने ग्रीक भाषा के कतिपय शब्दों का प्रयोग किया है—जैसे जामित्र, उञ्छ आदि। जैकोबी, कीथ आदि पश्चिमी विद्वानों की धारणा है कि ग्रीक भाषा के ये शब्द गुप्तकाल में भारत में प्रचलन में आये। (६) रघुवंश में कालिदास ने रघु के द्वारा हूणों को पराजित करने का वर्णन किया है। इतिहासकारों का कहना है कि हूणों का कोई आक्रमण गुप्तकाल के पहले नहीं हुआ। गुप्त राजा समुद्रगुप्त ने आक्रमणकारी हूणों को हरा कर भारत से बाहर खदेड़ा था। कालिदास के द्वारा रघु की दिग्विजय के चित्रण में समुद्रगुप्त की दिग्विजय की छाया है। (७) क्षेमेंद्र ने कुंतलेश्वरदौत्य नामक नाटक का उल्लेख किया है। वासुदेव विष्णु मिराशी का मत है कि वाकाटक राजा प्रवरसेन द्वितीय ही कुंतलेश्वर है, जिसकी राजसभा में गुप्त राजा विक्रमादित्य ने कालिदास को दूत बना कर भेजा था।

इस मत के खंडन में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं—(१) परम्परा कालिदास को विक्रमादित्य नाम वाले तथा संवत् प्रवर्तक राजा के नवरत्नों में स्वीकार करती आयी है, जब कि किसी गुप्त सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नहीं रहा, न किसी गुप्त राजा ने संवत् का

प्रवर्तन किया। चन्द्रगुप्त ने अपने से पूर्व हुए सम्राट् विक्रमादित्य की कीर्ति से प्रभावित होकर उसका नाम उपाधि के रूप में अपने नाम के आगे जोड़ लिया। ऐसी स्थिति में कालिदास को चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानना उचित नहीं है। (२) कालिदास ने मेघदूत में विदिशा नगरी का वर्णन किया है, विदिशा में मेघ के प्रवेश के पहले वे मेघ को यक्ष के मुँह से नीचैः पर्वत या नीचगिरि पर विश्राम करने का परामर्श दिलवाते हैं। इस पर्वत पर बने हुए प्राचीन शिलावेश्मों का उन्होंने यहाँ वर्णन किया है, पर इसी पर्वत के नीचे गुप्त काल में निर्मित वराहमंदिर और अत्यंत प्रसिद्ध और सुन्दर मूर्तियों का वर्णन नहीं किया। यदि कालिदास गुप्तकाल में हुए होते, तो इतने महत्त्वपूर्ण मूर्तिशिल्पों का वर्णन वे अवश्य करते। (३) कालिदास को उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य का नवरत्न माना गया। गुप्त राजाओं की राजधानी उज्जयिनी कभी नहीं रही। उनकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। (४) कालिदास ने हूणों के आक्रमण का वर्णन नहीं किया। रघु के द्वारा उत्तरपश्चिमी सीमा पर पहुँच कर हूणों को पराजित करने का वर्णन किया है। दिग्विजय के लिए उत्तरपश्चिमी सीमा पर पहुँच कर वहाँ रहने वाली जनजातियों को परास्त करने का वर्णन रामायण, महाभारत में भी है। (५) भारत का ग्रीस देश से सम्बन्ध ईसा के पहले की शताब्दियों में भी था। सिकंदर के आक्रमण के समय अनेक ग्रीसदेशवासी भारत आये, और उनकी भाषा के शब्द उस समय संस्कृत या भारत में बोली जाने वाली भाषा में मिल गये हों, यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। यहीं नहीं, महाभारत में तो विदुर, दुर्योधन के षड्यंत्र से युधिष्ठिर को अवगत कराने के लिए यवन-भाषा का आश्रय लेते हैं, जो युधिष्ठिर और विदुर ही जानते थे, अन्य लोग नहीं। यह यवन-भाषा ग्रीक ही हो सकती है। ऐसी स्थिति में ग्रीक भाषा के एक-दो शब्दों का प्रयोग कालिदास की रचनाओं में होना उनके गुप्तकाल में होने का प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

रचनाएँ—कालिदास के रचे सात काव्य प्रसिद्ध हैं। इनमें से दो महाकाव्य हैं—रघुवंश और कुमारसंभव। दो खंडकाव्य या गीतिकाव्य हैं—मेघदूत तथा ऋतुसंहार। तीन रूपक हैं—अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक, विक्रमोर्वशीय त्रोटक तथा मालविकाग्निमित्र नाटक। इसके अतिरिक्त कालिदास के नाम से अन्य अनेक काव्य मिलते हैं, पर ये परवर्ती कवियों ने कालिदास के नाम से लिखे अथवा कालिदास नाम के बाद में होने वाले अन्य किन्हीं कवियों ने। ऐसे काव्यों या ग्रंथों में श्रुतबोध, शृंगारतिलक काव्य, नलोदय काव्य आदि उल्लेखनीय हैं।

कुमारसंभव

कुमारसंभव का अर्थ है—कुमार का जन्म। कुमार से आशय स्कंद या कार्तिकेय से है। इस महाकाव्य में १७ सर्ग मिलते हैं, पर इनमें से प्रथम आठ सर्ग तक ही कालिदासविरचित माने जाते हैं। मल्लिनाथ की टीका इन आठ सर्गों तक ही है। विवरण-टीका के प्रणेता नारायण पंडित के अनुसार कालिदास का लक्ष्य इस महाकाव्य में पार्वती के द्वारा शिव के चित्त का आकर्षण दिखाना था, जो कुमार कार्तिकेय के जन्म का कारण बना। अतः आठवें सर्ग में शिव और पार्वती के विवाह के वर्णन के बाद

उनके समागम के वर्णन के साथ ही महाकाव्य की समाप्ति मान लेना उचित है। अवशिष्ट ९ सर्ग किसी परवर्ती महाकवि ने जोड़े हैं। इन सर्गों में कालिदास की लेखनी का चमत्कार नहीं है, इनकी भाषा-शैली प्रथम आठ सर्गों की तुलना में निकृष्ट है, वस्तुनिरूपण में कालिदास जैसे महाकवि के अनुरूप सामंजस्य नहीं है तथा पुनरुक्तियाँ व अश्लीलता भी इनमें मिलती हैं।

वस्तुयोजना—कुमारसंभव महाकाव्य में शिव पार्वती के विवाह की कथा है। इसके प्रथम सर्ग में हिमालय की भव्यता, पावन सौन्दर्य और नैसर्गिक रमणीयता का १५ पद्यों में मनोहारी चित्रण है। उसके पश्चात् हिमालय का मैना से विवाह, उनके मैनाक नामक पर्वत की उत्पत्ति और फिर पार्वती के जन्म, बाल्यावस्था तथा यौवन और सौन्दर्य का वर्णन है। इसी सर्ग में नारद हिमालय से मिलने आते हैं। वे भविष्यवाणी करते हैं कि पार्वती का विवाह शिव से होगा। तबसे पार्वती कैलास पर्वत पर तपस्या कर रहे शिव की पूजा करने के लिए प्रतिदिन जाने लगती है। दूसरे सर्ग में ब्रह्मा के वरदान से अजेय बन चुके तारकासुर से संत्रस्त देवता ब्रह्मा के पास उससे त्राण पाने के लिए जाते हैं। ब्रह्मा उन्हें बतलाते हैं कि शिव का विवाह पार्वती से होने पर उनकी जो संतान होगी, वही तारकासुर का वध करेगी। तब शिव की समाधि भंग करने के लिए इंद्र कामदेव को भेजते हैं। तीसरे सर्ग में कामदेव की लीलाओं के विस्तार और वसंत ऋतु के अवतरण का सरस वर्णन है। कामदेव जब शिव के आगे पहुँचता है, तो उनके प्रभाव के आगे वह हतप्रभ और किंकर्तव्यविमूढ़ होकर रह जाता है। तभी पार्वती प्रतिदिन की भाँति शिव की पूजा करने वहाँ आती हैं। पार्वती के अपूर्व लावण्य को देख कर कामदेव का साहस लौट आता है, और वह सोचता है कि ऐसी अनिंद्य सुन्दरी के सामने होने पर तो अवश्य ही वह शिव का तपोभंग कर सकेगा। शिव प्रतिदिन की भाँति पार्वती की पूजा स्वीकार करते हैं, और इसी समय उचित अवसर समझ कर पास ही आम के वृक्ष की शाखा पर छिपा हुआ कामदेव अपने फूलों के धनुष पर बाण खींचता है। शिव को अपने चित्त में कुछ हलचल का अनुभव होता है और तभी उनकी दृष्टि कामदेव पर पड़ जाती है। जब तक आकाश में देवता लोग चिल्ला कर यह कह पाते कि प्रभु, अपने क्रोध को रोकिये, शिव के तीसरे नेत्र से निकली अग्नि से भस्म होकर कामदेव राख हो चुकता है। चतुर्थ सर्ग में कामदेव की राख के सम्मुख उसकी पत्नी रति के विलाप का वर्णन है। पाँचवें सर्ग में पार्वती तपस्या करने का निश्चय करती है, क्योंकि अपने देखते-देखते कामदेव को भस्म में परिवर्तित पा कर वह समझ गयी है कि शिव को रूप से नहीं रिझाया जा सकता। माता मैना उससे तपस्या के लिए घर का त्याग न करने का अनुरोध करती है। पर पार्वती पिता की आज्ञा लेकर वन में चली जाती है, और कठोर तप करना आरम्भ कर देती है। पार्वती की घनघोर तपस्या से प्रभावित होकर शंकर एक ब्रह्मचारी का वेष बनाकर उसकी परीक्षा लेने के लिए आते हैं। वे पार्वती के सामने शंकर की निन्दा करते हैं। पार्वती उन्हें झिड़क देती है। तब शंकर अपने वास्तविक रूप में प्रकट होकर उसका हाथ पकड़ लेते हैं और कहते हैं आज से मैं तुम्हारे तप से खरीदा गया तुम्हारा दास हूँ। तब पार्वती उन्हें विवाह के लिए पिता से

बात करने का अनुरोध करती हैं। षष्ठ सर्ग में सप्तर्षियों का हिमालय जाकर राजा हिमालय से शिव के साथ पार्वती के विवाह की चर्चा करने का प्रसंग है और सप्तम सर्ग में विवाह का अत्यंत चित्ताकर्षक वर्णन है। अष्टम सर्ग में शिव और पार्वती की प्रणयक्रीड़ाओं के वर्णन के साथ महाकाव्य समाप्त होता है।

कथा के स्रोत—कुमारसंभव की कथा का मूल स्रोत पौराणिक परम्परा में है। एक अंश तक कालिदास इस कथा के लिए रामायण तथा महाभारत के भी ऋणी प्रतीत होते हैं। जिस रूप में कुमारसंभव में शिवपार्वती के परिणय का कथानक प्रस्तुत किया गया है, वह पद्मपुराण तथा शिवपुराण में उसी रूप में मिलता है। पर ये दोनों पुराण कालिदास के पहले के हैं, या बाद के—इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। यह सत्य है कि कालिदास ने परम्परा से प्राप्त कथानक को नयी परिकल्पनाओं या उद्भावनाओं के साथ अपने जीवनदर्शन व मानव-मनोविज्ञान के अध्ययन से संवलित करके अत्यन्त सुन्दर स्वरूप दे दिया है।

पात्र—कुमारसंभव के नायक शिव दिव्य कोटि के हैं। उनका चरित्र अलौकिक है। कवि ने उनकी मर्यादा का पूरा निर्वाह करते हुए उनमें मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा की है। वे 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः'—कवि की इस उक्ति को पूरी तरह चरितार्थ करते हैं। कुमारसंभव नायिकाप्रधान महाकाव्य है। इसमें आद्यंत पार्वती का कर्तृत्व छाया हुआ है। वे ही शिव को पाने के लिए उनकी आराधना करती हैं, और अपने रूप से उन्हें रिझाना भी चाहती हैं। जब उन्हें अनुभव होता है कि शिव बाहरी सौन्दर्य पर नहीं रीझते, वे चित्त की निष्ठा और साधना देखते हैं, तो वे शिव को पाने के लिए घोर तप करती हैं। पार्वती के चरित्र की महनीयता कवि के द्वारा उनके लिए कहलाये गये निम्नलिखित कथनों से जानी जा सकती है—

यदुच्यते पार्वती पापवृत्तये, न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।

(रूप पापाचरण के लिए नहीं, पुण्य के आचरण के लिए होता है, यह जो बात कही जाती है, हे पार्वती, तुम्हें देख कर उसकी चरितार्थता समझ में आ जाती है।)

ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं, मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च।

(उसका तन जैसे सोने के कमल का बना था, देखने में जितना ही कोमल, उतना सार या प्राण से युक्त।)

वस्तुवैशिष्ट्य, वर्णन-कला तथा भाषा-शैली—कवि की वर्णन कला में घटनाओं की आकस्मिकता तथा आख्यान की प्रभावशालिता देखते ही बनती है। वस्तुवृत्त के निरूपण में कहाँ विस्तार करना है, कहाँ सर्वथा संकेत करके घटना को बहुत प्रभावशाली बना देना है—यह कालिदास अच्छी तरह जानते हैं। कामदेव की लीलाओं और वसंत का वर्णन बहुत रुचिकर रूप में उन्होंने किया है। यही कामदेव जब शिव को सामने देखता है, तो उसकी स्थिति का वर्णन वे इन नपे-तुले शब्दों में करते हैं—'नालक्षयत् साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात्'—कामदेव को पता ही नहीं चला कि (घबराहट के कारण) उसके हाथ से धनुष और बाण कब

खिसक कर नीचे जा गिरे। शिव के असाधारण प्रभाव तथा उनके क्रोध की लोकोत्तरता के वर्णन के लिए भी मम्मट आदि आचार्यों ने कालिदास की सराहना की है—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥ (३/७२)

(जब तक देवतागण आकाश से चिल्लाते कि भगवन्, रोकिये रोकिये अपने क्रोध को, तब तक शिव के तृतीय नेत्र से फूटी वह ज्वाला कामदेव को राख बना चुकी थी।)

व्यंजनाप्रवणता कालिदास की भाषाशैली की अनूठी विशेषता है। बहुत थोड़े से शब्दों में बात कह कर वे बहुत कुछ सहृदय के समझने के लिए अनकहा छोड़ देते हैं। इस अनकहे में से ही भावों और विचारों का अनंत प्रवाह निःसृत होता है। प्रथम सर्ग में नवयौवना पार्वती के सम्मुख उसके माता-पिता नारद से उसी के विवाह के विषय में पूछ रहे हैं, और नारद शंकर से उसका विवाह होने की भविष्यवाणी कर रहे हैं। इस समय पार्वती की स्थिति का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥ (२.८४)

(जब देवर्षि नारद इस प्रकार कह रहे थे, तो पार्वती पिता के पार्श्व में बैठी हुई अपने हाथ में लिये लीलाकमल की पंखुड़ियाँ गिन रही थी।) लीलाकमल की पंखुड़ियाँ गिनती पार्वती या यह चित्र उसकी लज्जा, अपने विवाह की बात सुनने की उत्सुकता आदि अनेक भावों को व्यंजित करता है।

कालिदास के अलंकार तथा बिंबविधान वस्तु का सही चित्र ही उपस्थित नहीं करते, वे उसकी सारी छिपी हुई विशेषताओं को भी उजागर कर देते हैं। शिव के आदेश से सप्तर्षि पार्वती के साथ उनके विवाह की चर्चा के लिए हिमालय के पास जाते हैं। आकाश-मार्ग से उनके उतरने का वर्णन करते हुए कालिदास कहते हैं—

ते सद्मनि गिरेर्वेगादुन्मुखद्वास्थवीक्षिताः।
अवतेरुर्जटाभारैर्लिखितानलनिश्चलैः ॥ (६.४८)

(वेग से आकाश से वे सप्तर्षि हिमाचल की धरती पर उतरे, तो द्वारपाल ऊपर मुख करके उन्हें देखते रह गये। उतरते समय उनकी पिंगल वर्ण की जटाएँ आग की ऊपर उठती निश्चल लपटों की तरह दिखती थीं।) यहाँ ऊपर से तेजी से नीचे उतरते समय जटाओं का ऊपर निश्चल खड़ा रह जाने का चित्र कवि के पर्यवेक्षण और सूझबूझ का परिचायक है।

कुमारसंभव में संवादों की भाषा अत्यन्त हृदयावर्जक है। विशेषरूप से पंचम सर्ग में ब्रह्मचारी बटु (छद्मवेषधारी शिव) तथा पार्वती का संवाद तो उक्ति, प्रत्युक्ति के पैनेपन के कारण अत्यन्त मनोरंजक है, तो तीसरे सर्ग में इंद्र और कामदेव के संवाद में काम निकालने के लिए स्वामी अपने सेवक से भी किन शब्दों में वार्तालाप करता है और सेवक उसकी प्रशंसा से फूल कर कुप्पा हो कर क्या-क्या कह जाता है, इसकी

रोचक बानगी कवि ने दी है। समाधिस्थ शिव का यह चित्र कवि की अध्यात्मदृष्टि उदात्तबोध का उज्ज्वल उदाहरण है—

पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात् प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये॥

(शंकर पालथी लगा कर बैठे हुए थे। उनका शरीर एकदम स्थिर, सीधा था। गोद में उन्होंने अपनी दोनों हथेलियाँ एक के ऊपर दूसरी उल्टा कर रख ली थीं, जिससे ऐसा लगता था जैसे उनकी गोद में कमल खिला हुआ हो।) यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग शंकर की गरिमा के अनुरूप हुआ है।

अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरङ्गम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्॥

(जैसे बादल वर्षा के थमने पर स्थिर रह गये हों, जैसे हवा के रुक जाने पर सरोवर में कोई लहर न उठ रही हो, उसी तरह भीतर के मरुद्गणों के निरोध के कारण शंकर निवात (जहाँ हवा न बह रही हो ऐसे) स्थान में रखे दीपक की तरह थे। यहाँ भी शंकर के लिए कवि ने तीन उपमाओ का प्रयोग किया है, जो शिव की समाधिस्थ दशा के वर्णन में सर्वथा उपयुक्त हैं।

कुमारसंभव के प्रकृति-वर्णन सृष्टि की अनुपम कमनीयता और अपार वैभव को सामने लाते हैं। पहले सर्ग में हिमालय का वर्णन इस क्षेत्र के सारे पर्यावरण को साकार कर देता है। हिमालय की कंदराओं में रात्रि को जलती औषधियाँ (जड़ीबूटियाँ), सरल, भोज और देवदारु के उन्नत वृक्ष, भागीरथी के झरते हुए झरने, आसपास घूमते किरात—इन सबके चित्र कवि ने शब्दों की तूलिका से रमणीय रूप में अंकित कर दिये हैं। आठवाँ सर्ग तो प्रकृतिनिरूपण की दृष्टि से संस्कृतसाहित्य की अनमोल निधि ही है। यहाँ प्रकृति को कवि ने अनन्त सौन्दर्य से मंडित कर दिया है। हिमालय के झरनों के विषय में शंकर के मुख से कहलवाया गया है—

सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचापपरिवेशशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥ (८/३१)

(सूर्य अस्त होने के लिए नीचे झुक गया है। उसने अपनी किरणें झरने की फुहारों पर से हटा ली हैं। उन किरणों के बिछलने से झरनों के ऊपर जो इंद्रधनुष तन गये थे, वे भी अब गायब हो रहे हैं।)

पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता।
दीर्घया प्रतिमया सरोम्भसां तापनीयमिवसेतुबन्धनम्॥ (८/३५)

(हे मितभाषिणी पार्वती देखो, पश्चिम दिशा में लंबित सूर्य की लंबी परछाईं सरोवर में पड़ रही है। उससे सरोवर में सोने का एक पुल जैसा बन गया है।)

उपमा—कालिदास की उपमाएँ नई सूझबूझ के साथ वर्ण्यविषय को प्रस्तुत करती हैं। वर्ण्य के अनुरूप उपमान लाने में कवि की प्रतिभा अनोखा चमत्कार दिखाती है। पार्वती की शिक्षा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—जिस तरह शरद ऋतु में हंसों की पाँतें गंगा के किनारे आती हैं, जिस तरह औषधियाँ रात के समय स्वयं चमक उठती

हैं, उसी तरह उपदेश (शिक्षा) में स्थिर मन वाली उस पार्वती के पास पिछले जन्म में सीखी हुई विद्याएँ स्वयं चली आयीं—

तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिंनक्तमिवात्मभासः।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः॥ (१/३०)

यहाँ दोनों उपमाएँ हिमालय के पवित्र वातावरण और पार्वती के उदात्त व्यक्तित्व के अनुरूप हैं। इसके साथ ही कवि का भौगोलिक ज्ञान भी उनमें विलक्षण रूप से प्रतिफलित हुआ है। शरद ऋतु में हंसों का गंगा के किनारे आना और हिमालय के परिवेश में रात के समय जड़ी-बूटियों का चमकना—इन तथ्यों का उपमा की लड़ी गूँथने में उसने सुन्दर उपयोग किया है।

पार्वती के नवयौवन का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥ (१/३२)

(उस चित्र के समान जिसमें तूलिका से रंग भर दिये गये हों, उस कमल के समान जो सूर्य की किरणों का स्पर्श पाकर खिल उठा हो, पार्वती का तन नवयौवन के आने पर चतुरस्र शोभा से समन्वित हो गया।) इस प्रकार कवि अपनी उपमाओं के द्वारा वर्ण्य-विषय की अनुपमता का विशेष रूप में अनुभव करा देते हैं। कभी-कभी वे वर्ण्य की विशिष्टता को सामने लाने के लिए उपमा से आगे बढ़ कर अतिशयोक्ति का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए पार्वती के स्मित (मुस्कान) का यह वर्णन किया जा सकता है—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥ (१/४४)

(यदि सफेद फूल को प्रवाल मणि (मूँगे) के ऊपर रख दिया जाय, मुक्ता (सफेद मोती) को विद्रुम मणि के ऊपर रख दें, तो यह दृश्य कदाचित् उस पार्वती के लाल ओठों पर उभरी मुस्कान का अनुकरण कर सकता है।) साहित्यशास्त्र के अनुसार यहाँ यद्यर्थातिशयोक्ति अलंकार है। कवियों की मान्यता में मुस्कान का रंग सफेद माना गया है। लाल ओठों पर फैली सफेद मुस्कान के लिए कोई उपमा न पाकर कवि उसके लिए श्वेत और रक्त के मिश्रण वाले दृश्यबंध की मनोहर कल्पना रच देता है।

कहीं-कहीं पारम्परिक उपमाओं में कालिदास अपनी ओर से कुछ जोड़ कर उपमा को और चमका देते हैं। स्त्री के देह की कमनीयता और लचक बताने के लिए उसे लता से उपमित किया जाता रहा है। कालिदास ने पार्वती के सौन्दर्य को बताने के लिए लता का उपमान तो दिया है, पर उसे संचारिणी (चलती-फिरती) और पल्लविनी (कोपलों से भरी) लता कह दिया है, जिससे उपमा में सोने में सुहागा हो गया है—

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव॥ (१/५४)

उपमेय की विशेषता बताने के लिए कालिदास अनेक उपमाएँ एकसाथ देकर मालोपमा की लड़ी गूँथते हैं। वधू के रूप में सजायी जाती पार्वती के वर्णन में वे कहते हैं—

सा सम्भवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्यौतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा।
सरिद्विहङ्गैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे॥ (७.२१)

(शृंगार के पहले आभूषण उतार लिये जाने पर पार्वती जिसमें फूल निकल रहे हों, ऐसी लता के समान, जिसमें तारे उग रहे हों, ऐसी रात के समान, जिसमें पक्षी लीन हों रहे हो ऐसी नदी के समान लग रही थी।)

छन्दोयोजना—कालिदास के छन्द विषय-वस्तु के अनुरूप हैं। कुमारसंभव के पहले, तीसरे तथा सातवें सर्गों में उपजाति छंद है, जो कथा के प्रवाह और वर्णनों के लिए बहुत उपयुक्त है। दूसरे सर्ग में अनुष्टुप् का प्रयोग भी विषय-वस्तु के अनुरूप है। रतिविलाप के प्रसंग में वियोगिनी छंद का प्रयोग कवि ने किया है, जिसकी विशिष्ट लय करुणरस का पोषण करती है।

रस—कुमारसंभव का अंगीरस शृंगार है। पर यह धर्म पुरुषार्थ से संवलित होने के कारण धर्मशृंगार माना जाना चाहिये। शिव और पार्वती के असाधारण प्रेम और प्रणयलीलाओं का चित्रण इस काव्य में अपूर्व है। चतुर्थ सर्ग में रति के विलाप में आद्यंत करुण रस छाया हुआ है। कामदेव के सखा वसंत को सामने पाकर रति और अधिक रो पड़ती है, क्योंकि अपने लोगों के सामने दुःख के द्वार खुल जाते हैं—'स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते।' रति वसंत से कहती है—

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः।
अहमस्य दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनप्रधूमिताम्॥ (४/३०)

(तुम्हारे मित्र चले गये। अब वे हवा से बुझा दी गयी दिये की लौ की तरह लौट कर नहीं आयेंगे। मुझे देखो। मैं उस दिये की बुझी बाती की तरह हूँ—असह्य विपत् के धुएँ से घिरी हुई।) यहाँ करुणरस के अंग के रूप में उपमा का प्रयोग भी अत्यंत मार्मिक रूप में हुआ है। कामदेव को हवा से बुझ गये दिये से उपमा दी गयी है, और रति के लिए दिये की बुझी बाती से। व्यसन या विपत्ति को धुआँ कहा गया है।

समाधिस्थ शिव की भव्य प्रशांत मूर्ति के चित्रण तथा पार्वती की तपस्या के वर्णन में शांतरस का उत्कृष्ट परिपाक हुआ है। अंग के रूप में हास्यरस भी इस महाकाव्य में विन्यस्त है। पंचम सर्ग में ब्रह्मचारी के द्वारा शिव की हँसी उड़ाने में या सप्तम सर्ग में शिव की बरात में दूल्हे को देखने के लिए दौड़ पड़ी स्त्रियों की हड़बड़ी के चित्रण में हास्यरस ने बड़ी मोहक छटाएँ बिखेरी हैं।

चिंतन, जीवनदर्शन तथा संदेश—जीवनदर्शन तथा जीवनादर्श की सांकेतिक अभिव्यक्ति के कारण कुमारसंभव एक प्रतीकात्मक महाकाव्य भी कहा जा सकता है। शिव जीवन के परम लक्ष्य के प्रतीक हैं। शिव को बाहरी सुंदरता से नहीं पाया जा सकता। उसके लिए मनुष्य को तप और साधना से अंतःकरण पावन बनाना पड़ता है। पार्वती के चरित्र के द्वारा कवि ने यही संदेश दिया है। पार्वती सोचती थी कि वह अपने रूप से शिव को रिझा लेगी। पर उसके देखते-देखते शिव ने कामदेव या रूप के देवता को भस्म कर दिया, तो पार्वती का रूप का अभिमान टूट गया।

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥

कुमारसंभव में महाकवि ने प्रेम के उज्ज्वल और पावन रूप को प्रतिष्ठित किया है। बाहरी सौन्दर्य से शिव को नहीं पाया जा सकता। सच्चा प्रेम तप की अग्नि में ही निखरता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कुमारसंभव में कालिदास के संदेश को स्पष्ट करते हुए कहा है—'कुमारसंभव में कवि ने जीवनदर्शन को बहुत बड़ी पटभूमिका पर रख कर व्यक्त करने का प्रयास किया है। त्याग के साथ तपस्या का और ऐश्वर्य के साथ प्रेम का मिलन होने पर ही स्त्री-पुरुष का प्रेम धन्य होता है। त्याग और भोग के सामंजस्य से ही जीवन चरितार्थ होता है।'

कालिदास ने इस महाकाव्य में यह भी बतलाया है कि शक्ति के बिना शिव अपूर्ण हैं। संक्षेप में उन्होंने शिव और पार्वती इन दोनों पुराकथा के पात्रों का प्रतीकात्मक रूप भी उन्मीलित किया है।

द्वितीय सर्ग में देवताओं के द्वारा ब्रह्मा की स्तुति तथा षष्ठ सर्ग में सप्तर्षियों के द्वारा शिव की स्तुति में परम तत्त्व और धर्म के स्वरूप के विषय में कवि ने गहरे विचार प्रकट किये हैं। सप्तर्षि कहते हैं—

यस्य चेतसि वर्तेथाः स तावत् कृतिनां वरः।
किं पुनर्ब्रह्मयोनेर्यस्तव चेतसि वर्तते॥

(आप जिसके चित्त में बस गये हैं, उसका जीवन सफल है। फिर आपके चित्त में कोई बस जाय, तो उसका तो कहना ही क्या?)

सूक्तियाँ

कुमारसंभव की माला में कालिदास ने जो सूक्ति-सुमन गूँथे हैं, वे उनके जीवन-दर्शन के सौरभ से सुवासित हैं। वे मनुष्य की गरिमा, तपस्या और साधना के जीवन-मूल्यों को रेखांकित करते हैं। स्थालीपुलाकन्याय से कालिदास की सूक्तियों के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं।

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।

(मनुष्य में अनेक गुण हों, तो उसका एक कोई छोटा-सा दोष उसी तरह छिप जाता है, जैसे चन्द्रमा में कलंक।)

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

(विकार का कारण सामने होने पर भी जिनके चित्त में विकार न आये, धीर वे ही हैं।)

क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव।

(क्षुद्र व्यक्ति भी शरण में आ जाये, तो महात्मा लोग उसे ममता के साथ अपनाते हैं।)

विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।

(जहरीला पेड़ भी स्वयं लगाया हुआ हो, तो उसे अपने ही हाथों से काटना अच्छा नहीं।)

स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम्।

(यह स्त्री है और यह पुरुष—इस तरह के भेद में सज्जन लोग आस्था नहीं रखते, वे चरित्र को महत्त्व देते हैं।)

प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः।

(उत्तम जनों का किसी के गुणों का आदर करना उसमें आत्मविश्वास जगाता है।)

प्रयोजनापेक्षया प्रभूणां प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु।

(स्वामी अपने मतलब से सेवक को आदर या अनादर देता है।)

स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते।

(अपनों के सामने अपने मन का दुःख द्वार खोल लेता है।)

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।

(सौन्दर्य वही है जो प्रिय के मन को भाये।)

स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः।

(स्त्रियाँ साज-सज्जा इसीलिए करती हैं कि प्रिय उसे देखकर प्रसन्न हों।)

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।

(फल मिलने पर उसके लिए उठाया हुआ क्लेश भी मनुष्य को स्फूर्ति से भर देता है।)

क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्॥

(इच्छित लक्ष्य के लिए दृढ़ मन तथा नीचे की ओर बहते पानी को भला कौन पलटा सकता है?)

न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्।

(रत्न स्वयं खोजने नहीं जाता, उसका पारखी उसे खोजता है।)

प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः।

(अपनी कन्या के विषय में कुटुंबी जन प्रायः अपनी गृहिणी की आँखों से ही आँखों वाले बनते हैं, अर्थात् लड़की के बारे में वे पत्नी की सलाह से ही कोई धारणा बनाते हैं।)

क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्।

(सभी धार्मिक क्रियाओं का मूल कारण अच्छी पत्नियाँ हुआ करती हैं।)

अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे।

(कहीं प्रार्थना ठुकरा न दी जाये—इस भय से साधु व्यक्ति अभीष्ट विषय में भी मध्यस्थ बना रहता है—किसी के आगे हाथ नहीं फैलाता।)

न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते।

(जो धर्म के कारण बड़े हैं, उनकी आयु नहीं देखी जाती।)

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

(शरीर ही धर्म का पहला साधन है।)

रघुवंश

रघुवंश महाकाव्य में उन्नीस सर्ग हैं। इसमें दिलीप से आरम्भ करके अग्निवर्ण तक रघुकुल के राजाओं का चरित्र वर्णित है। राजा रघु का चरित्र इसमें अत्यन्त प्रभावशाली है। इन्हीं रघु के नाम पर वंश का नाम भी रघुवंश या रघुकुल पड़ा। महाकाव्य का रघुवंश नामकरण भी सार्थक है। क्योंकि दूसरे सर्ग में राजा दिलीप नंदिनी गौ से ऐसा पुत्र माँगते हैं, जिससे वंश को आगे ले जाने वाला या वंश का नाम बढ़ाने वाला हो। रघुवंश महाकाव्य का मूल स्रोत वाल्मीकि रामायण को माना जा सकता है। पर अनुश्रुतियों, पौराणिक कथाओं तथा अन्य अनेक स्रोतों का उपयोग करते हुए कवि ने मूल कथा में परिवर्तन भी किये हैं। रघुवंश के राजाओं की वंशावली भी यहाँ वाल्मीकि की रामायण से भिन्न है।

कथावस्तु—पहले सर्ग में दिलीप संतान-प्राप्ति का उपाय पूछने अपने गुरु वसिष्ठ के आश्रम जाते हैं। वसिष्ठ उन्हें नंदिनी गाय की सेवा करने का परामर्श देते हैं। द्वितीय सर्ग में दिलीप की गो-सेवा, दिलीप की परीक्षा तथा नंदिनी के प्रसन्न होने का वर्णन है। तृतीय सर्ग में रघु का जन्म और चतुर्थ में रघु के राज्याभिषेक के पश्चात् उसकी दिग्विजय का वर्णन है, जिसमें कवि ने सारे भारत के विभिन्न प्रदेशों की मनोरम झाँकी भी दी है। पाँचवें सर्ग में विश्वजित् यज्ञ करके अपना सर्वस्व दान करने वाले महाराज रघु के त्याग का अत्यंत प्रभावशाली और प्रेरणाप्रद चित्रण हुआ है। इसी सर्ग के अन्त में विदर्भ के राजा भोज अपनी पुत्री इंदुमती के स्वयंवर के लिए रघु के पास दूत भेजते हैं और रघुपुत्र राजकुमार अज स्वयंवर में भाग लेने के लिए प्रस्थान कर देता है। षष्ठ सर्ग में स्वयंवर का चित्ताकर्षक वर्णन है। इंदुमती अज के कंठ में वरमाला डालती है। सप्तम सर्ग में अज का इंदुमती से विवाह होता है। स्वयंवर में आये अन्य राजा अज से युद्ध छेड़ देते हैं, और परास्त होते हैं। अष्टम सर्ग में रघु अज को राज्य सौंप कर वानप्रस्थ हो जाते हैं। इसके आगे नारद की वीणा से गिरी माला के स्पर्श से इंदुमती का निधन तथा अज का अत्यंत कारुणिक विलाप वर्णित है। नवम सर्ग दशरथ के शासन के वर्णन के साथ आरम्भ होता है। दशरथ भूल से वन्यगज के भ्रम में श्रवणकुमार की हत्या कर देते हैं और उन्हें पुत्र-वियोग में मरने का शाप मिलता है। दशम सर्ग में दशरथ का पुत्रेष्टियज्ञ, रावण से त्रस्त देवताओं का सहायता केलिए विष्णु के पास जाना, विष्णु का दशरथ-पुत्र के रूप में अवतार लेकर रावण का नाश करने की घोषणा तथा राम आदि का जन्म वर्णित हैं। ग्यारहवें सर्ग में विश्वामित्र का राम और लक्ष्मण को अपने यज्ञ की रक्षा के लिए आश्रम ले जाना, ताटका-खर-दूषणादि का वध, विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण का मिथिला जाना, राम के द्वारा शिवधनुष का भंग, राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का विवाह तथा परशुराम का पराभव आदि घटनाएँ वर्णित हैं। बारहवें सर्ग में दशरथ राम के राज्याभिषेक का विचार करते हैं, तभी कैकेयी उनसे वरदान माँगती है। इस सर्ग में राम के वनवास से लेकर शूर्पणखावृत्तांत, सीताहरण, बालिवध, सीतान्वेषण, राम-रावणयुद्ध, रावणवध तक का प्रसंग निरूपित है। तेरहवें सर्ग में पुष्पकविमान से अयोध्या लौटते हुए

राम सीता को धरती के सुन्दर दृश्य दिखाते हैं। भौगोलिक स्थलों के प्रामाणिक वर्णन, सीतावियोग की करुणस्मृतियों के चित्रण और भारतीय वसुंधरा की सुषमा के निरूपण की दृष्टि से यह सर्ग विशेष रमणीय है। चौदहवें सर्ग में रामराज्याभिषेक के पश्चात् रामराज्य का वर्णन है। इसी सर्ग में राम के द्वारा लोकापवाद के कारण सीता का परित्याग वर्णित है। पंद्रहवें सर्ग में लवणासुर के द्वारा सताये गये यमुनातीरवासी मुनि लोग राम से रक्षा का अनुरोध करते हैं। राम के आदेश पर शत्रुघ्न लवणासुर से युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं। मार्ग में वाल्मीकि के आश्रम में रात्रि-विश्राम के लिए ठहरते हैं। उसी रात्रि में सीता दो पुत्रों को जन्म देती हैं। शत्रुघ्न का लवणासुर से घोर युद्ध होता है। लवणासुर मारा जाता है। शत्रुघ्न यमुनातीर पर मथुरा नगरी की स्थापना करते हैं। इधर वाल्मीकि के आश्रम में कुश और लव रामायण के गायन की शिक्षा भी प्राप्त करते हैं। मथुरा और विदिशा नगरियों के शासन का भार अपने पुत्रों पर छोड़ कर एक बार शत्रुघ्न अपने अग्रज से मिलने के लिए अयोध्या जाते हैं और मार्ग में एक बार फिर वाल्मीकि के आश्रम में रुकते हैं। वहाँ वे कुश और लव के मुख से रामायण का गान सुनते हैं। इसके पश्चात् राम के द्वारा शंबूक के वध तथा अश्वमेधयज्ञ के अनुष्ठान का वर्णन है। इसी समय कुश और लव अयोध्या में आते हैं, तथा राम अपने पुत्रों के मुख से रामायण गान सुनते हैं। वाल्मीकि सीता की निर्दोषता बताते हुए राम से उसे फिर स्वीकार करने का अनुरोध करते हैं। सीता धरती से प्रार्थना करती हैं कि वे उन्हें अपने अंग में समेट लें। धरती प्रकट होकर सीता को अपने अंक में लेकर पाताल चली जाती हैं। इस सर्ग के अंत में भरत को सिंधुदेश का राजा बनाया जाना और भरत का अपने पुत्रों तक्ष और पुष्कल को वहाँ का शासन सौंप कर अयोध्या लौटना, लक्ष्मण के पुत्रों को कारापथ का शासन सौंपा जाना तथा अंत में राम, लक्ष्मण आदि का महाप्रयाण वर्णित है। सोलहवें सर्ग का आरम्भ कुश सहित आठ राघव राजाओं का सारे भारत की वसुंधरा पर शासन के वर्णन से होता है। इस सर्ग में अयोध्या एक रमणी के रूप में कुश को स्वप्न में दर्शन देती है तथा अपना उद्धार करने का आह्वान करती है। कुश अपनी नयी राजधानी कुशावती को छोड़ कर राजधानी अयोध्या लौट आते हैं। अयोध्या में निवास करते हुए कुश एक दिन सरयू नदी में जलविहार करते हैं। उनका एक आभूषण जल में गिर जाता है। उसकी खोज करते हुए उनकी भेंट नागराज कुमुद से होती है, और नागराज कुमद उन्हें अपनी पुत्री कुमद्वती वधू के रूप में सौंप देते हैं। सत्रहवें सर्ग में कुश के पुत्र अतिथि के अत्यन्त महनीय व्यक्तित्व और राजकार्यकौशल का प्रभावशाली वर्णन है। अठारहवें सर्ग में अतिथि के पुत्र निषध से लेकर सुदर्शन तक अनेक राजाओं के शासन का वर्णन किया गया है। उन्नीसवें सर्ग में अग्निवर्ण राजा का वृत्तान्त है। अग्निवर्ण अत्यधिक विलासिता के कारण क्षय रोग से कालकवलित हो जाता है और मंत्रीगण उसकी गर्भवती रानी को राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर देते हैं।

स्रोत—दशरथ, राम तथा लव-कुश के चरित्र के निरूपण में कवि कालिदास वाल्मीकि से प्रभावित हैं। वाल्मीकि की शैली और अभिव्यक्ति ने उन्हें अनुप्राणित किया

है इसमें कोई सन्देह नहीं। फिर भी दिलीप, रघु, अज तथा अतिथि से लगा कर परवर्ती रघुवंशी राजाओं के वर्णन में वाल्मीकि रामायण के प्रतिपादन से अंतर को देखते हुए विद्वानों का अनुमान है कि कालिदास ने अपनी कथा के लिए वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त वायुपुराण या विष्णुपुराण के प्राचीन रूपों को भी आधार बनाया होगा।

वस्तुवैशिष्ट्य—रघुवंश एक महान् और गौरवशाली राजवंश के उत्थान, पतन और उसके माध्यम से भारत राष्ट्र के ऐतिह्य और भवितव्य को चित्रित करने वाला अद्वितीय महाकाव्य है। भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के बहुविध आयाम रघुवंश की विषयवस्तुमालिका में उज्ज्वल मुक्तामणियों की भाँति गुँथ गये हैं। दशम सर्ग में देवों के द्वारा विष्णु की स्तुति में दार्शनिक तत्त्वों की काव्यात्मक शैली में सहज अभिव्यक्ति हो गयी है। अग्निवर्ण जैसे कामुक और विलासी राजा का चित्रण करके कवि ने यह दिखाया है कि ऐसे महान् वंश में भी अध:पतन और स्खलन हो सकता है। पर अग्निवर्ण के साथ रघुवंश समाप्त नहीं हो जाता। कालिदास ने नवोत्थान और आशावाद के भाव के साथ अपने महाकाव्य की प्रतीकात्मकरूप में अत्यन्त महिमामय परिणति प्रस्तुत की है। अंतिम पंक्ति है—राज्ञी राज्यं विधिवददशिषद् भर्तुरव्याहताज्ञा—राजा अग्निवर्ण की रानी अपने पति के राज्य पर अव्याहत (न टाली जा सकने वाली) आज्ञा वाली होकर विधिवत् शासन करती रही। इस महाकाव्य में पहले छह राजाओं का चरित्र अत्यन्त विशद रूप से निरूपित है। बाद में कथा के प्रवाह को तीव्र गति देते हुए कवि ने रामायण की सारी कथा चार सर्गों में ही समेट ली है। अठारहवें सर्ग में तो अनेक राजाओं का चरित्र एक-एक या दो-दो श्लोकों में बताकर वंशपरम्परा का इतिहास काव्यात्मक रूप में निबद्ध कर दिया है। डॉ० चंद्रबली पांडेय के अनुसार रघुवंश महाकाव्य के वस्तुनिरूपण की दृष्टि से तीन खंड किये जा सकते हैं—प्रथम रघुखंड पहले से आठवें सर्ग तक है। इसमें दिलीप, रघु तथा अज इन तीन राजाओं का चरित्र बताया गया है। दूसरा खंड रामखंड कहा जा सकता है, दशरथ के जन्म के वर्णन से लेकर पंद्रहवें सर्ग तक है। तीसरा खंड खिलखंड या अन्वयखंड कहा जा सकता है, जिसमें कवि कथा को पर्यवासन की ओर ले जाता है। टीकाकार अरुणगिरिनाथ ने रघुवंश की सम्पूर्ण विषयवस्तुयोजना में महावाक्यता अर्थात् अन्विति प्रदर्शित की है। अनेक राजाओं के अलग-अलग चरित्र होने पर भी सम्पूर्ण महाकाव्य में एक केन्द्रीय भाव निरन्तर बना हुआ है।

वर्णनकला तथा काव्यसौन्दर्य—कालिदास के प्रकृतिवर्णन में हमें सहज सौन्दर्य की अनुत्तमता तथा मानव और प्रकृति के आंतरिक सम्बन्ध का प्रत्यय होता है। पहले सर्ग में आश्रम का वर्णन बड़ा ही प्रेरणाप्रद है, जो प्राचीन भारत के ऋषियों के तपोवनों का जाती-जागता चित्र उपस्थित कर देता है। कालिदास का मन आश्रमों के वर्णन में विशेष रमा है। आश्रम में वे हमारे सांस्कृतिक वैभव और जीवन के आदर्शों को साकार कर देते हैं। आश्रम की इस संस्कृति के आगे उन्होंने राजसत्ता को बार-बार नतमस्तक करवाया है। दूसरे सर्ग में दिलीप की गो-सेवा तथा हिमालय के आसपास के

वन की सुषमा का हृदयग्राही वर्णन है। चतुर्थ सर्ग में रघु की दिग्विजय के ब्याज से कवि ने सारे भारत की सुषमा का अत्यन्त मनोहारी चित्रण कर दिया है। छठे और बारहवें सर्गों में युद्ध के वर्णन बड़े ओजस्वी हैं। नवम सर्ग में मृगया का वर्णन अतिशय रोचक है। इसी प्रकार षष्ठ सर्ग में स्वयंवर और सप्तम में अज और इंदुमती के विवाह का वर्णन वैवाहिक विधान का प्रामाणिक चित्रण प्रस्तुत करता है। विवाह के पश्चात् वर-रूप में अज को देखने के लिए विदर्भ की स्त्रियों की हड़बड़ी का चित्रण हास्य की अपूर्व सृष्टि करता है, तथा यह कवि के सूक्ष्म पर्यवेक्षण और शब्दचित्र अंकित करने की निपुणता का भी परिचायक है। कवि कहता है कि राजमार्ग पर अज निकला तो अपने घर के वातायन से उसको देखने के लिए कोई स्त्री जो जूड़ा बाँध रही थी, जूड़े में लटकती माला को एक हाथ से रोके हुए वैसी ही दौड़ पड़ी, कोई महावर लगा रही थी, वह गीले पाँवों से भागी, तो फर्श पर उसके लाल चरण अंकित होते गये, कोई अंजन लगा रही थी, वह एक आँख में अंजन लगाये हुए शलाका हाथ में लिये हुए वातायन की ओर दौड़ी। घर-घर की खिड़की से झाँकते उन सुंदरियो के मुखों के कारण खिड़कियाँ कमलों से सजी-सी लगने लगीं—

विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्। (७.११)

नवम सर्ग में द्रुतविलम्बित छंद की सुंदर लय में वसंत का वर्णन यमक अलंकार की लड़ियाँ सजाते हुए कवि ने किया है। नैसर्गिक सौन्दर्य के चित्रण का यह मनोहर उदाहरण है—

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनुषट्फजकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुद्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्॥ (९/२६)

कालिदास अपने वर्णनों में पग-पग पर अत्यन्त सटीक उपमाएँ गूँथते चलते हैं। उपमाओं में नवीन कल्पना से वे हमें चमत्कृत कर देते हैं और वर्ण्य-विषय को आँखों के आगे साकार भी कर देते हैं। अज के स्वयंवर के प्रसंग में वरमाला हाथ में लिये स्वयंवरा इंदुमती एक-एक राजा के आगे से निकलती है। राजा का मुख स्वयंवरा को सामने देखकर आशा से चमक उठता है, और जब इंदुमती उसके कंठ में वरमाला डाले बिना आगे से निकल जाती है, तो वही मुख निराशा से बुझा-बुझा हो जाता है। इस स्थिति का वर्णन करते हुए कवि ने चलती हुई दीपशिखा से इंदुमती को उपमित किया है। जैसे संचारिणी दीपशिखा रात्रि के समय राजपथ पर चल रही हो, और उसके सामने आने पर तो मार्ग के अट्ट उद्भासित हो उठे और उसके निकल जाने पर फिर अँधेरे में डूब जायँ—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥ (६/६७)

अज का विवाह होने के पश्चात् स्वयंवर में आये ईर्ष्यालु राजा विदर्भराज से चुपचाप विदा लेते हैं, तो कवि उनके लिए उपमा देता है—'ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः' वे राजा ऐसे स्वच्छ तालाबों की भाँति थे, जिनमें भीतर मगर छिपे हुए हों। राजाओं के

मन के पाप को व्यक्त करने के लिए यह बड़ी उपयुक्त उपमा है। इन राजाओं का आगे चल कर अज के साथ संग्राम छिड़ जाता है। संग्रामभूमि की भयावहता का वर्णन करते हुए कवि कहता है—बाणों के द्वारा काटे गये माथे उस भूमि में ऐसे पड़े थे, जैसे फल गिर-गिर कर टपकते हों, उन माथों के ऊपर पहने गये शिरस्त्राण प्यालों की तरह बिखरे हुए थे, खून उस रणभूमि में ऐसे बह रहा था जैसे मदिरा की नहरें बह रही हों, इस प्रकार वह रणभूमि मृत्यु की मदिराशाला बन गयी थी—

शिलीमुखोत्कृत्तशिरःफलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः॥ (७/४९)

अज के मन में इंदुमती के न रहने का दुःख ऐसा बस गया है कि वह उसमें घुलघुल कर समाप्त हो जाता है। इसके लिए कालिदास की उपमा है—

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशङ्कुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद।
(८/९३)

(शोक के शंकु ने अज के हृदय को उसी प्रकार तोड़ दिया जैसे भवन की छत पर उग आया पाकड़ का पेड़ छत में दरार उत्पन्न कर देता है।) अभिशप्त दशरथ की उक्ति है—

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति॥
(९/८०)

(जिसने पुत्र के मुखकमल की शोभा नहीं देखी ऐसे (निपूते) मुझ दशरथ आपने जो शाप गिराया, वह कृपामय ही है। ईंधन से भड़की आग धरती को जला कर भी बीज के अंकुर की जननी बना देती है।) यहाँ निदर्शना अलंकार प्रयोग कल्पनाशीलता और धरती से जुड़ाव को प्रकट करता है।

कालिदास की एक विशेषता वर्ण्य के अनुरूप पदावली, भाषा और वर्णों का विन्यास है। अज बंदियों के प्राभातिक मंगल-पाठ से जाग पड़ते हैं। इसका वर्णन करते हुए कवि कहता है—'सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार' (५/७५)—झट से नींद टूटते ही राजकुमार उठ पड़ा—क्रिया की शीघ्रता दिखाने के लिये 'उज्झाञ्चकार' इस तिङंत पद का प्रयोग उसके नादसौन्दर्य और अनुरणनात्मकता के कारण बड़ा सटीक हुआ है।

संवादों की रोचकता और उक्तिप्रत्युक्ति के विन्यास का सौन्दर्य कालिदास की वस्तुयोजना में नया चमत्कार ला देता है। रघुवंश के निम्नलिखित संवादों में हम वक्ताओं की विदग्धता, वाङ्माधुरी, संस्कार और भाषण-कौशल तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व का विशेष अनुभव करते हैं—दिलीप-वसिष्ठ-संवाद (प्रथम सर्ग), दिलीप-सिंह-संवाद (द्वितीय सर्ग), इंद्र-रघु-संवाद (तृतीय सर्ग), कौत्स-रघु-संवाद (पंचम सर्ग) तथा राम-परशुराम-संवाद (एकादश सर्ग)। सीता तथा अयोध्या के संवादों में करुणा की अजस्र धारा मन को आप्लावित कर देती है।

चरित्र-चित्रण—कालिदास मनुष्य को उसकी समग्र गरिमा और परिपूर्णता के साथ प्रस्तुत करते हैं। रघुवंश के सारे पात्र अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हैं। दिलीप अपनी उदारता, त्याग और सहज मनोविनोदी स्वभाव के कारण हमारे हृदय में घर कर लेते हैं, तो रघु अपनी शूरता तथा राष्ट्र को एकच्छत्र सबल आधार देने वाले महान् पराक्रम के कारण प्रभावित करते हैं। राम का चरित्र सारे महाकाव्य में केन्द्रीय तथा सर्वातिशायी है। अतिथि की नीतिनिपुणता का चित्रण भी प्रेरणाप्रद है।

रस—रघुवंश का अंगी रस वीर है। वीर रस के दान, दया, धर्म तथा युद्ध ये चारों रूप रघुवंश में प्रतिफलित हुए हैं। इन चारों प्रकारों में भी वस्तुतः धर्मवीर का अत्यन्त उज्ज्वल व प्रभावशाली रूप पूरे महाकाव्य में व्यक्त हुआ है। रघुवंश के राजाओं के विषय में कवि ने आरम्भ में ही कहा है—

त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ (१/७.८)

(वे राजा त्याग के लिए ही अर्थका संचय करते थे, सत्य कहने के लिए ही स्वल्प भाषण करते थे, यश के लिए ही जीतने की इच्छा रखते थे तथा संतान के लिए विवाह करते थे। वे शैशव में विद्या का अभ्यास करते थे, यौवन में सांसारिक विषयों की अभिलाषा करते थे, वृद्धावस्था में मुनियों की भाँति रहते थे, तथा योग से अंत में अपने देह त्यागते थे।)

कवि ने दिलीप, रघु, राम, अतिथि आदि अनेक राजाओं को चरित्र और कृतित्व के ऊर्जस्वी चित्रण में इन आदर्शों को साकार करके धर्मवीर को अपने काव्य में सर्वोपरि प्रतिष्ठा दी है। दिलीप के लिए उसका यह कथन प्रभावशाली है—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्त्रगुणमुत्स्त्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥

(वह राजा प्रजाओं के कल्याण के लिए ही उनसे शुल्क लेता था, जिस प्रकार सूर्य हजार गुना विसर्जित करने के लिए ही धरती से जल सोखता है।)

राजा दिलीप के नंदिनी गाय की रक्षा के लिए अपने शरीर को अर्पित करने के उद्यम में दयावीर की प्रभावशाली प्रस्तुति है। रघु का विश्वजित् यज्ञ में निःशेष संपदा दान करना और कौत्स नामक ब्रह्मचारी को कुबेर से प्राप्त सारी स्वर्णराशि देने का आग्रह दानवीर का अप्रतिम रूप सामने रखता है, जिसमें—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतावभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥

(साकेत या अयोध्या के लोगों के लिए उन दोनों की ही क्षमता अभिनंदनीय बन गयी थी—अर्थी ब्रह्मचारी अपने गुरु को दक्षिणा में जितनी राशि देनी थी, उससे अधिक नहीं लेना चाहता था और राजा याचक की कामना से अधिक देने का आग्रह कर रहा था।)

रघु की दिग्विजय, राम-परशुराम का संघर्ष तथा रावणविजय के प्रसंगों में युद्धवीर का अच्छा परिपाक हुआ है। कालिदास वीर रस के प्रसंगो में चित्त को दीप्त करने वाली तथा उत्साह की संचार करने वाली सटीक पदावली का प्रयोग करते हैं।

अन्य रसों में करुण, अद्‌भुत, शांत, रौद्र, भयानक, हास्य आदि की भी यथावसर निष्पत्ति रघुवंश महाकाव्य में हुई है।

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥ (८/६७)

इसी प्रकार चौदहवें सर्ग में भी राम के द्वारा परित्यक्त सीता के विलाप में सारी प्रकृति की उसके दुःख में सहभागिता का मर्मस्पर्शी चित्रण कवि ने किया है—

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः।
तस्या पपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि॥ (१४/६९)

जीवनादर्श

रघुवंश एक महान् राष्ट्रीय महाकाव्य है। इस देश ने सांस्कृतिक और नैतिक आदर्शों की जो ऊँचाइयाँ अधिगत कीं, उन पर आरोहण के लिए रघुवंश एक उत्कृष्ट सोपानपरम्परा प्रस्तुत करता है। कालिदास की दृष्टि में राजा को अपने राज्य को एक तपोवन समझ कर उसमें रह कर प्रजापालन रूप तप करना चाहिये। इसलिए जब दिलीप वसिष्ठ के आश्रम में जाते हैं, तो वे कहते हैं—

पपृच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः। (१/५८)

(मुनि वसिष्ठ ने राज्यरूपी आश्रम के मुनि दिलीप से कुशल पूछी।)

रघुवंश सामंतीय समाज की भोगलिप्सा और राज्यलिप्सा के विरुद्ध एक प्रभावशाली काव्यात्मक प्रतिक्रिया है, जिसमें आर्ष संस्कार स्पंदित हैं। इस संस्कार के कारण कालिदास इस देश में ऐसे राजकुमारों की उत्पत्ति चाहते हैं, जो राजपद को भोग की भावना से स्वीकार नहीं करते, बल्कि पिता की आज्ञा के अधीन रह कर कर्तव्यपालन के लिए उसे अंगीकार करते हैं। इसीलिए कवि ने अज के विषय में कहा है—

दुरितैरपि कर्तुमात्मसात् प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत्।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया॥ (८/२)

ऐसे अज के लिए कवि ने यह सत्य कहा है कि उसके यौवन की शोभा विनय से और बढ़ गयी थी (८/६)।

सूक्तियाँ—कालिदास की सूक्तिमंजरी जीवनानुभव के सौरभ से सुवासित है। रघुवंश में चिंतन और अनुभव की परिपक्वता इन सूक्तियों से प्रमाणित होती है। कतिपय सूक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं—

हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा। (१/१०)

(सोना खरा है या खोटा इसकी परीक्षा उसे आग में डालने पर होती है।)

प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः। (१/७९)

(पूज्य व्यक्ति की पूजा में व्यतिक्रम किया जाय, तो वह कल्याण का बाधक बन जाता है।)

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः। (२/५८)
(दो व्यक्तियों में बातचीत आरम्भ हो जाय, तो उसी से उनका रिश्ता जुड़ जाता है।)
पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते। (३/६२)
(गुण सर्वत्र स्थान बना लेते हैं।)
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव (४/८६)
(सज्जनों का आदान विसर्जन या त्याग के लिए होता है जैसे बादलों का धरती से जल सोखना वर्षा करने के लिए होता है।)
भिन्नरुचिर्हि लोकः। (६/३०)
(लोगों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं।)
तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते। (११/१)
(तेजस्वियों की आयु नहीं देखी जाती।)
मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम्। (७/१५)
(मन पिछले जन्मों की संगति का जानकार होता है।
मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
(मरण देहधारियों की प्रकृति है। जीवन विकृति या विशिष्ट कृति है।)

अश्वघोष : सौदरनंद तथा बुद्धचरित

महाकवि अश्वघोष कुषाण राजा कनिष्क के समकालीन थे। इस समय बौद्धधर्म भारत ही नहीं, भारत के बाहर भी प्रतिष्ठित होता जा रहा था। सिकन्दर के पश्चात् यूनानी सेनानायक इवदिस के पुत्र दिमेत्र ने भारत पर आक्रमण किया। उसने उत्तरी भारत के कुछ भागों पर अधिकार करके सागल (आधुनिक स्यालकोट) को अपनी राजधानी बनाया। दिमेत्र की मृत्यु के पश्चात् उसके दामाद मिनांडर (मिलिंद) ने शासन सँभाला। उसने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया था। उसके पश्चात् शकों तथा कुषाणों के आक्रमणों से भारत में ग्रीक राज्य ध्वस्त हो गया। कुषाण सत्ता का संस्थापक कुजुल कैफिसेस था। उसने कुषाण कबीलों को संगठित करके भारत की उत्तरी सीमा पर अपने साम्राज्य की स्थापना की। राजा कनिष्क (७८ ई०-१०२ ई०) इसी का पौत्र था। उसने पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर वहाँ के प्रसिद्ध पंडित अश्वघोष को अपनी राजसभा में बुलवा लिया, ऐसी अनुश्रुति है। अन्य विद्वानों का मत है कि कनिष्क ने चतुर्थ पंडितपरिषद् में सम्मिलित होकर बुद्ध के उपदेशों के संपादन-कार्य में सहायता करने के लिए साकेत से पंडित अश्वघोष को आमंत्रित किया था और अश्वघोष इस पंडित परिषद् के सभापति थे। इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की किंवदंतियाँ चीनी परम्परा में प्रचलित हैं। पर यह सत्य माना जा सकता है कि कनिष्क के सम्पर्क के कारण अश्वघोष साकेत छोड़ कर पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) आये।

सम्राट् कनिष्क प्रतापी राजा तो था ही, वह भारतीय संस्कृति और धार्मिक

वातावरण में घुलमिल भी गया था। उसके शासनकाल में सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया अपने प्रकर्ष पर पहुँची। वह स्वयं बौद्ध था, पर अन्य धर्मों के प्रति उदार था। प्रख्यात दार्शनिक वसुमित्र उसकी राजसभा के सम्मानित विद्वानों में से एक था। पार्श्व और संघरक्ष उसके समय के अन्य विद्वान् थे। इसी समय बौद्धधर्म के अंतर्गत भी महायान लोकप्रिय हो रहा था। महाकवि अश्वघोष के जीवन और कृतित्व में इन स्थितियों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

अश्वघोष का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में साकेत (अयोध्या) में हुआ था। चीनी साहित्य तथा अनुश्रुतियों में अश्वघोष के विषय में प्राप्त विवरण भी इस मान्यता की पुष्टि करते हैं। उन्होंने द्विजों के संस्कार पाये और वेद आदि शास्त्रों का विधिवत् अनुशीलन किया। कालांतर में पार्श्व के शिष्य पूर्णयशस् ने इन्हें बौद्धधर्म में दीक्षित किया। अपने दोनों महाकाव्यों की पुष्पिकाओं में उन्होंने अपनी माता का नाम सुवर्णाक्षी बताया है तथा अपने को साकेत का निवासी कहा है। डॉ० बी० सी० लाहा ने अश्वघोष के विषय में प्राप्त चीनी स्रोतों का अध्ययन करके बताया है कि वे किसी मठ में रहते थे तथा उनके प्रवचन की पद्धति इतनी प्रभावशाली थी कि लोग उसे सुन कर रोने लगते थे।

संस्कृत महाकवियों में अश्वघोष का व्यक्तित्व विरल व विशिष्ट है। उन्होंने भगवान् बुद्ध के संदेश को जन-जन तक पहुँचाने के उद्देश्य से महाकाव्यों की रचना की। अपनी काव्यरचना का प्रयोजन बताते हुए वे कहते हैं—

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः
श्रोतृणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।
यन्मोक्षात् कृतमन्यदत्र हि मया तत् काव्यधर्मात् कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति॥

(मोक्ष के प्रयोजन वाली यह कृति मैंने सांसारिक विषयों में आसक्त श्रोताओं को काव्य के बहाने से शांति का संदेश देने के लिए लिखी है, रति जगाने के लिए नहीं। मोक्ष पर मैंने अन्य शास्त्रग्रंथ लिखे हैं, यहाँ उन्हीं में कही बातों को काव्य की शैली में प्रस्तुत किया है, क्योंकि कड़वी औषध में शहद मिला दिया जाये, तो वह पीने में मधुर हो जाती है।)

इस प्रकार अश्वघोष के लिए काव्य एक बहाना या मिशन है। कविता के द्वारा रससृष्टि करना उनका प्रयोजन नहीं है। वे धर्म-प्रचार के लिए कविता को विनियोजित करना चाहते हैं।

रचनाएँ—अश्वघोष के रचे दो महाकाव्य—बुद्धचरित तथा सौंदरनंद—और अपूर्ण या खंडित अवस्था में दो नाटक मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उनके अनेक शास्त्रीय ग्रंथ भी हैं। वज्रसूची, महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र, सूत्रालङ्कार अथवा कल्पनामण्डितिका अश्वघोष के धर्म और दर्शन से सम्बद्ध ग्रन्थ हैं। उनके द्वारा रचित एक रूपक का नाम 'शारिपुत्रप्रकरण' था।

कालिदास और अश्वघोष का सम्बन्ध—कालिदास और अश्वघोष के महाकाव्यों में अनेकत्र पदावली और भावों की समानता मिलती है, जिससे यह सिद्ध

होता है कि दोनों में एक अवश्य ही दूसरे का ऋणी है। जो विद्वान् कालिदास को गुप्तकाल में मानते हैं, उनकी धारणा है कि कालिदास ने अश्वघोष से भावों और अभिप्रायों को ग्रहण कर उन्हें और परिष्कृत और सुन्दर बना कर प्रस्तुत किया। किन्तु जो विद्वान् कालिदास की स्थिति प्रथम शताब्दी ई० पू० में स्वीकार करते हैं, उनकी दृष्टि में अश्वघोष ही कालिदास के ऋणी हैं।

बुद्धचरित

इस महाकाव्य में भगवान् बुद्ध के जन्म से लेकर निर्वाण तक उनका सम्पूर्ण चरित और उनके महान् संदेश का २८ सर्गों में उदात्त निरूपण किया गया है। पाँचवीं शताब्दी में इस महाकाव्य के चीनी और तिब्बती भाषाओं में अनुवाद किये गये। इन भाषाओं में अनूदित रूप में यह पूरा प्राप्त होता है, पर संस्कृत में इसके २८ सर्गों में से केवल १४ सर्ग ही प्राप्त हैं, उनमें से भी पहला तथा चौदहवाँ सर्ग अपूर्ण मिलते हैं। १४वें से १७वें सर्ग तक की पूर्ति १८३० ई० में अमृतानन्द नामक एक नेपाली पंडित के द्वारा की गयी।

वस्तु—बुद्धचरित के प्रथम सर्ग में बुद्ध का जन्म और उनके विषय में असित मुनि के द्वारा की गयी भविष्यवाणी का वर्णन है। दूसरे सर्ग में राजा शुद्धोदन के अपने पुत्र को अंत:पुर में रमाये रखने के प्रयास का चित्रण किया गया है। तीसरे सर्ग में रोगी, वृद्ध तथा मृत व्यक्तियों को देखकर सिद्धार्थ के मन में उत्पन्न हुए संवेग का निरूपण है। चतुर्थ सर्ग में सुन्दर युवतियाँ सिद्धार्थ को रिझाने और भोगों में रमाने का निष्फल प्रयास करती हैं। पाँचवें सर्ग में सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण का अत्यन्त उदात्त तथा प्रभावशाली चित्रण है। उनका सारथि छंदक उनके आदेश से अवश होकर उनके साथ जाता है। छठे सर्ग में वापस लौटते हुए छंदक की व्याकुलता और व्यथा का करुण चित्रण किया गया है। सातवें सर्ग में सिद्धार्थ तपोवन में प्रवेश करते हैं। आठवें सर्ग में सिद्धार्थ के चले जाने से दु:खी अंत:पुर की स्त्रियों का कातर विलाप है। नवम में शुद्धोदन के द्वारा कुमार के अन्वेषण का प्रयास तथा दशम में उनके मगध पहुँचने का वृत्तांत है। एकादश में सिद्धार्थ के विचार-विमर्श के प्रसंग में कामनिन्दा, द्वादश में उनका अराड ऋषि के आश्रम में पहुँचना तथा अराड के द्वारा उनको दिये गये धर्मोपदेश का वर्णन है। सिद्धार्थ अराड के विचारों की समीक्षा करते हैं, और उनके पास से चल देते हैं। इसके पश्चात् वे तपस्या आरम्भ करते हैं। तेरहवें सर्ग में मार (काम) उनकी तपस्या में विघ्न डालने के विभिन्न प्रयास करता है। वह सिद्धार्थ को बहकाना चाहता है तथा अपनी सारी सेना के साथ उनके ऊपर टूट पड़ता है, पर अंतत: उसे परास्त होना पड़ता है। चौदहवें सर्ग में सिद्धार्थ की बुद्धत्वप्राप्ति चित्रित है। इसके आगे के जो अंश संप्रति संस्कृत में प्राप्त नहीं हैं, उनमें बुद्ध का धर्मचक्रप्रवर्तन, विभिन्न व्यक्तियों का उनकी शिष्यता ग्रहण करना, उनकी अपने पिता से भेंट, बुद्ध के उपदेशों तथा निर्वाण प्रशंसा आदि का वर्णन है।

रस—बुद्धचरित का अंगी रस शांत है। तृतीय, चतुर्थ और पंचम सर्गों में शृंगार रस की धारा बहाने का अवसर कवि को मिला है। यह धारा निरर्गल बहती है, पर सिद्धार्थ इससे अस्पृष्ट रहते हैं। शृंगार के प्रसंगों में नायक की अलिप्तता का ऐसा चित्रण दुर्लभ है। कवि और नायक के साथ-साथ पाठक भी शृंगार के इस प्रवाह को तटस्थ होकर देखने लगता है। चौथे सर्ग में कामिनियों के हाव-भाव और विभिन्न कार्यव्यापार तथा पाँचवें सर्ग में अस्तव्यस्त सोयी रमणियों के चित्र अत्यन्त स्वाभाविक हैं, पर अंततः वे महाकाव्य के अंगीरस के अनुरूप लौकिक सुख की तुच्छता के अनुभव में ही पर्यवसित होते हैं। करुण रस के निरूपण में अश्वघोष को विशेष सिद्धि मिली है। सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् छंदक उनके अश्व के साथ कपिलवस्तु लौटता है। अश्व को आता देख कर स्त्रियाँ समझती हैं कि कुमार लौट आये हैं, पर उसकी खाली पीठ देखकर वे रो उठती हैं।

शोकातुर स्त्रियाँ अपने कर-कमलों से अपनी छाती उसी तरह पीटने लगती हैं, जैसे वायु से हिलने वाली लताएँ अपने पल्लवों से अपने को पीटती हैं—

सुवृत्तपीनाङ्गुलिभिर्निरन्तरैर्विभूषणैर्गूढसिरैर्वराङ्गनाः।
उरांसि जघ्नुः कमलोपमैः करैः स्वपल्लवैर्वातचला लता इव॥ (८/२८)

बुद्ध के अश्व कंथक में भी कवि ने मानवीय संवेदना और स्वामीभक्ति का सजीव रूप दिखा कर करुणा की तरंगिणी को अजस्र बना दिया है। कुमार फिर लौट आये हैं—यह सोच कर खिड़कियों के सामने आकर और फिर घोड़े की खाली पीठ देखकर खिड़कियों को बंद कर रोती पौरांगनाओं के चित्र भी कम करुण नहीं हैं, तथा सिद्धार्थ के चले जाने के बाद अंतःपुर की स्त्रियों के महा हाहाकार को कवि ने अपनी कविता में बहुत प्रभावशाली रूप में ध्वनित कराया है।

तेरहवें सर्ग में मार की सेना का वर्णन करते हुए कवि ने भयानक रस की भी सफल निष्पत्ति करायी है—

आजानुसक्था घटजानवश्च दंष्ट्रायुधाश्चैव नखायुधाश्च।
करङ्कवस्त्रा बहुमूर्तयश्च भग्नार्धवक्त्राश्च महामुखाश्च॥
भस्मारुणा लोहितबिन्दुचित्राः खट्वाङ्गहस्ता हरिधूम्रकेशाः।
लम्बस्रजो वारणलम्बकर्णाश्चर्माम्बराश्चैव निरम्बराश्च॥ (१३/२०.२१)

रसोद्रेक में रससांकर्य या रसमिश्रण महाकवि अश्वघोष की दुर्लभ विशेषता है। भयानक रस के उपयुक्त निरूपण में बुद्ध का शांत विग्रह निरन्तर उनकी दृष्टि में है, अतः शांत का प्रवाह भयानक के साथ-साथ बहता चला आता है। इसी प्रकार पाँचवें सर्ग में अंतःपुर में बेसुध सोयी स्त्रियों के चित्रण में शृंगार के साथ-साथ बीभत्स का सन्निवेश अद्भुत प्रभाव उत्पन्न करता है और इस सांकर्य में महाकाव्य में शांतरस का परिपोष होता है। शृंगार के चित्रण में भोगतृष्णा की अनर्गलता दिखाते हुए महाकवि उससे निस्संग बने रहते हैं। सुन्दर वस्त्रों तथा कोमल चमड़ी के आवरण में छिपी बीभत्स वास्तविकता का बोध जिस तरह अश्वघोष कराते हैं, वह संस्कृत महाकाव्य साहित्य में दुर्लभ है।

वर्णन—द्वितीय सर्ग में कुमार सिद्धार्थ के अंत:पुर-विहार का वर्णन तथा चौथे सर्ग में रथयात्रा, उद्यान और रात्रि के वर्णन सुन्दर हैं। तीसरे सर्ग में विहार के लिए निकले कुमार को देखने के लिए हड़बड़ा कर खिड़कियों या द्वारों की ओर दौड़ पड़ी महिलाओं की उत्सुकता का चित्रण बहुत रोचक है। यह प्रसंग कालिदास के रघुवंश और कुमारसंभव में इस प्रकार के वर्णनों की छाया प्रतीत होता है। इसमें शिष्ट हास्य भी समन्वित है। अश्वघोष के वर्णनों में उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ तथा अन्य अलंकार स्वत: विनिबद्ध होते चलते हैं और सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं। उदाहरणार्थ, सोती हुई रमणी का यह वर्णन—

विबभौ करलग्नवेणुरन्या स्तनविस्रस्तसितांशुकाशयाना।
ऋजुषट्पदपङ्क्तिजुष्टपद्मा जलफेनप्रहसत्तटा नदीव॥

(हाथ में वंशी लिये हुए, जिसके वक्ष से वस्त्र सरक गया है ऐसी वह सोती हुई स्त्री उस नदी की तरह लगती थी, जिसमें खिले कमलों पर भौंरों की कतार मँडरा रही हो, तथा जो जल के फेन से हँस रही हो।)

अश्वघोष की भाषा में बुद्ध के व्यक्तित्व और उनके असाधारण प्रभाव का निरूपण करते हुए तदनुरूप गरिमा और उदात्तता का सहज संचार हो जाता है। बुद्ध के प्रति उनकी अकृत्रिम आस्था के कारण ही यह संभव हुआ है। शिशु सिद्धार्थ के वर्णन में वे एक ही पद्य में एकसाथ बालरवि तथा शशांक के उपमान प्रस्तुत करके सिद्धार्थ के व्यक्तित्व की तेजस्विता और कोमलता दोनों को व्यक्त कर देते हैं—

दीप्त्या च धैर्येण च यो रराज बालो कविर्भूमिमिवावतीर्णः।
तथातिदीप्तोऽपि निरीक्ष्यमाणो जहार चक्षूँषि यथा शशाङ्कः॥

इसी प्रकार सिद्धार्थ के जन्म के समय सूतिकागृह के दियों का नवशिशु की तेजस्विता के आगे प्रभाहीन हो जाने का यह कथन भी उदात्त और भव्य तत्त्व की स्फूर्ति अभिव्यक्ति करता है—

स हि स्वगात्रप्रभया ज्वलन्त्या दीपप्रभां भास्करवन्मुमोष।
महार्हजाम्बूनदचारुवर्णो विद्योतयामास दिशश्च सर्वाः॥

(बुद्धचरित, १/१२,१३)

बुद्ध के प्रत्येक कार्यकलाप में महाकवि ने एक महापुरुष की असाधारण भव्यता और अलौकिक प्रभाव का प्रत्यक्ष-सा अनुभव करा दिया है। महाभिनिष्क्रमण के समय तो सिद्धार्थ का अडिग धैर्य और संकल्प अश्वघोष के शब्दों में साकार हो उठते हैं। छंदक से विदा लेते समय सिद्धार्थ का यह चित्र है—

मुकुटाद् दीपकर्माणं मणिमादाय भास्वरम्।
ब्रुवन् वाक्यमिदं तस्थौ सादित्य इव मन्दरः॥ (६/१३)

अपने मुकुट से मणि उतार कर छंदक को सौंपते सिद्धार्थ के लिए आदित्य से युक्त मंदर पर्वत की उपमा परिस्थिति और प्रसंग के सर्वथा अनुरूप है।

वर्णनों में अपने सौन्दर्यबोध तथा कल्पनाशीलता का भी प्रत्यय अश्वघोष देते हैं। सिद्धार्थ जब विहार के लिए निकलते हैं, तो उन्हें देखने के लिए नगर की स्त्रियाँ किस

प्रकार अपने-अपने भवनों की खिड़कियों के आगे आ जुटती हैं, इस दृश्य का सुन्दर वर्णन करते हुए वे कहते हैं—स्त्रियों के मुख वातायनों से झाँकते हुए एक दूसरे से सटे हुए थे, इस कारण उनके कुंडल परस्पर टकरा रहे थे। ऐसा लगता था जैसे खिड़कियों में कई कमल लग गये हों—

वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परायासितकुण्डलानि।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पङ्कजानि॥ (३/१९)

अश्वघोष की भाषा-शैली वाल्मीकि और व्यास के सहज काव्यपथ पर चलती है। उनकी वाणी में संतों या ऋषियों की अभिव्यक्ति के समान सरलता और जीवन के तथ्यों को निर्विकार रूप में प्रकट करने की क्षमता है। उदाहरण के लिए—

वासवृक्षे समागम्य विगच्छन्ति यथाऽण्डजाः।
नियतं विप्रयोगान्तस्तथा भूतसमागमः॥ (६/४६)

सौंदरनंद

सौंदरनंद अश्घोष का दूसरा महाकाव्य है। यह मूल में संपूर्ण प्राप्त होता है।

वस्तु—बुद्ध का सौतेला भाई नंद बड़ा सुंदर था। इस कारण उसे सुंदर भी कहा जाता था। वह अत्यन्त विलासी और भोगों में आसक्त था। बुद्ध के उपदेश से वह धर्म के मार्ग पर प्रवृत्त हुआ और अंत में उसने निर्वाण पाया—यह कथा इस महाकाव्य में अठारह सर्गों में निबद्ध है। पहले सर्ग में कपिलवस्तु नगरी का वर्णन है। दूसरे सर्ग में कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के गुणों के वर्णन के साथ सिद्धार्थ तथा नंद के जन्म का प्रसंग है। तीसरे सर्ग में सिद्धार्थ को बुद्धत्व की प्राप्ति तथा उनके उपदेशों के प्रभाव से जनता में सद्धर्म की प्रवृत्ति का निरूपण किया गया है। चौथे सर्ग में कामासक्त नंद की अपनी पत्नी सुंदरी के साथ प्रेमक्रीड़ाओं का चित्रण किया गया है। वे दोनों प्रेमलीला में इस तरह खोये रहते हैं कि गौतम बुद्ध उनके द्वार पर भिक्षा माँगने के लिए आते हैं, और उनकी पुकार जब कोई नहीं सुनता, तो वे बिना भिक्षा पाये खाली हाथ चल देते हैं। थोड़ी देर बाद ही नंद और सुंदरी को इस घटना का पता चलता है। नंद, पत्नी से अनुमति लेकर बुद्ध से क्षमा माँगने के लिए चल पड़ता है। सुंदरी उससे कहती है—"मेरे पाँवों में लगा महावर गीला है, यह सूखे इसके पहले ही लौट आना।" पंचम सर्ग में नंद, बुद्ध के विहार में पहुँच कर उनसे मिलता है। वे उसे धर्म के मार्ग पर प्रवृत्त होने के लिए उपदेश देते हैं। नंद भिक्षु बन जाता है। छठे सर्ग में अपने प्रिय के न लौटने पर प्रतीक्षा करती सुंदरी के करुण विलाप का मार्मिक चित्रण है। सातवें सर्ग में प्रिया के विरह में नंद के क्लेश का भी इसी प्रकार चित्रण किया गया है। आठवें सर्ग में नंद अपने अंतर्द्वन्द्व और दुःख का कारण एक भिक्षु को बताता है। वह भिक्षु स्त्रियों की निन्दा करता हुआ उसे संयम के मार्ग पर चलने का उपदेश देता है। दसवें सर्ग में स्वर्ग-दर्शन का प्रसंग है। बुद्ध को विदित होता है कि नंद संसार में वापस लौट जाना चाहता है, तो वे उसके चित्त को प्रबोध देने के लिए स्वर्ग ले जाते हैं। मार्ग में एक कानी बँदरिया को दिखा कर वे उससे पूछते हैं—"यह एक आँख वाली वानरी अधिक सुंदर है या तुम्हारी पत्नी?" नंद मुस्कुरा कर उत्तर देता है—"भगवन्, कहाँ आपकी बहू और

कहाँ पेड़ को कष्ट पहुँचाने वाली यह बँदरिया?'' फिर बुद्ध स्वर्ग में देवांगनाओं को दिखा कर उससे पूछते हैं—''ये स्त्रियाँ सुंदर हैं या तुम्हारी पत्नी?'' नंद कह उठता है—''हे नाथ, एक आँख वाली उस वानरी तथा आपकी बहू में जितना अंतर है, उतना ही अंतर आपकी बहू और इन अप्सराओं में है।'' बुद्ध उसे तपस्या करने का उपदेश देते हैं। नंद तपस्या आरम्भ कर देता है। ग्यारहवें सर्ग में भिक्षु आनंद का नंद के साथ संवाद है। भिक्षु आनंद को पता चलता है कि नंद स्वर्ग की कामना तथा अप्सराओं के आकर्षण से तप कर रहा है, तो वे उसे क्षणिक स्वर्ग का मोह त्यागने का संदेश देते हैं। बारहवें सर्ग में नंद तथागत से परमपदप्राप्ति का उपाय पूछता है। तेरहवें सर्ग में शीलाचरण और संयम के महत्त्व का प्रतिपादन है। चौदहवें सर्ग में कर्तव्योपदेश, पंद्रहवें में मानसिक शुद्धि की विधि, सोलहवें में बुद्धसम्मत चार आर्यसत्यों की व्याख्या, सत्रहवें में अमृतपद की प्राप्ति तथा अठारहवें में उत्तम ज्ञान का उपदेश है।

पात्र—सौंदरनंद महाकाव्य का नायक नंद है। वह उच्चकुलोत्पन्न क्षत्रिय है। नायक के सांसारिक सुख तथा स्त्रियों के प्रति आकर्षण और प्रव्रज्या लेने पर संसार में उसके लौटने की तीव्र कामना के विरागभाव के साथ संघर्ष का मनोवैज्ञानिक तथा प्रभावशाली चित्रण कवि ने किया है। सौंदरनंद संस्कृत की उन विरल रचनाओं में से एक है, जिनमें नायक के चरित्र का रूपान्तरण प्रदर्शित किया गया है। नंद आरम्भ में धीरललित कोटि का नायक कहा जा सकता है, पर धर्म-साधना में प्रवृत्त होकर वह धीरशांत नायक बन जाता है। बुद्ध के व्यक्तित्व की उदात्तता सारे महाकाव्य में सर्वातिशायी रूप में प्रभावी है। नायिका सुंदरी एक प्रेमाकुल स्त्री के रूप में चित्रित है।

रस—इस महाकाव्य में भी बुद्धचरित के समान शांत रस अंगी है। परन्तु नंद के सांसारिक आकर्षण और विकर्षण तथा सुंदरी की व्यथा के चित्रण में करुण रस का परिपाक मर्म को छू लेता है। सुंदरी और नंद के भावाकुल हृदयों के हाहाकार को कवि ने जैसे स्वयं अनुभव करते हुए लेखनी से उतारा है। नंद के अंतर्द्वंद्व का चित्रण इस महाकाव्य की असाधारण विशेषता है। नंद संसार और वैराग्य, त्याग और भोग के बीच संकल्प-विकल्पों के झूले में झूल रहा है। महाकवि अश्वघोष उसकी इस संशयग्रस्त मन:स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं कि एक ओर से बुद्ध का गौरव उसे खींच रहा था, दूसरी ओर से पत्नी का प्रेम फिर बरबस खींच रहा था। वह इन दोनों के बीच अनिश्चय के कारण न इधर जा पा रहा था, न उधर; वह तरंगों में तैरते राजहंस की तरह इधर-उधर डोल रहा था।

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः॥ (४/४२)

यहाँ उपमा अलंकार का प्रयोग नायक के संशय और द्वैध भाव का परिपोष करता है। सुंदरी और नंद की प्रणय लीलाओं में संभोग शृंगार तथा सुंदरी के विलास में विप्रलंभ का उत्तम परिपाक हुआ है। बुद्ध, नंद को हिमालय की वानरी को दिखा कर उसकी सुंदरता के विषय में प्रश्न करते हैं—यह प्रसंग किंचित् हास्य की छटा बिखेरता है। रौद्र, वीर, बीभत्स और भयानक रसों का इस महाकाव्य में अभाव है।

वर्णन—आरम्भ में राजा शुद्धोदन तथा कपिलवस्तु नगरी के वर्णन में कवि ने अपने समय के रीतिरिवाजों और परम्पराओं को मूर्त किया है। सुंदरी के रूप का वर्णन भी आकर्षक है। कवि स्वाभाविक रूप की सराहना करता हुआ कहता है—स्वेनैव रूपेण विभूषिता सा विभूषणानामपि भूषणं सा (४/१२) अर्थात् वह अपने रूप से ही विभूषित थी, आभूषण या गहनों के लिए वह आभूषण बन गयी थी।

बुद्ध के उपदेशों को अश्वघोष अत्यन्त सरल प्रांजल भाषा में हृदयंगम बना देते हैं। अलंकार उनकी भाषा में अपने-आप अवतरित होते चले जाते हैं। उदाहरण के लिए—

आकाशयोनिः पवनो यथा हि यथा शमी गर्भशयो हुताशः।
आपो यथान्तर्वसुधाशयाश्च दुःखं तथा चित्तशरीरगामि॥

(सौंदरनंद, १६/११)

(शरीर के भीतर दुःख उसी प्रकार रहता है जैसे आकाश में पवन, शमी वृक्ष के भीतर अग्नि और धरती के भीतर जल।)

भाषा-शैली की दृष्टि से अश्वघोष वाल्मीकि की प्रसन्न प्रांजल रीति का अनुगमन करते हैं। वाल्मीकि की भाँति मालोपमा का वे बार-बार प्रयोग करते हैं। कपिलवस्तु के वर्णन में तो अमूर्त उपमानों का प्रयोग करते हुए उन्होंने चमत्कार को पराकाष्ठा पर पहुँचाया है। उदाहरणार्थ—

सन्निधानमिवार्थानामाधानमिव सम्पदाम्।
निकेतमिव विद्यानां सङ्केतमिव सम्पदाम्॥

(वह नगर पदार्थों का संचय था, समृद्धि का खजाना था, विद्याओं का निकेतन था तथा सम्पदाओं का संकेत था।)

सूक्तियाँ—अश्वघोष के दोनों महाकाव्य सूक्तियों के भण्डार हैं। जीवनदर्शन दर्शन की सहज अभिव्यक्ति के कारण वे संस्कृत महाकाव्य साहित्य में अनुत्तम स्थान रखते हैं। उनकी सूक्तियाँ हृदय में उतरती चली जाती हैं। जैसे—

उद्यमो मित्रवद् मान्यः प्रमादं शत्रुवत् त्यजेत्।
उद्यमेन परा सिद्धिः प्रमादेन क्षयो भवेत्॥ (बुद्धचरित, २६.७३)

(उद्यम को मित्र की तरह मानना चाहिये तथा प्रमाद को शत्रु मान कर त्याग देना चाहिये। उद्यम से परम सिद्धि मिलती है और प्रमाद से क्षय होता है।)

ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु सन्निवर्तते जलं चलं नदीनां च नृणां च यौवनम्॥

(सौंदरनंद, ९/२८)

(गई हुई ऋतु फ़िर लौट कर आती है। घटा हुआ चन्द्रमा फिर बढ़ जाता है। पर नदियों का पानी और पुरुषों का यौवन गया तो गया, फिर लौट कर नहीं आता।)

तुलना—अश्वघोष के दोनों महाकाव्य नायक-प्रधान हैं तथा नायक की आत्मसाधना पर केंद्रित हैं। दोनों के नायक धीरशांत कहे जा सकते हैं। दोनों का लक्ष्य पाठकों को धर्म के प्रति उन्मुख करना है। दोनों में प्रतिनायक के चरित्र अनुपस्थित हैं।

नायिकाओं को दोनों में पृष्ठभूमि में रखा गया है, वे प्रायः विलाप करने के अतिरिक्त अन्य कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका कथा में नहीं निभातीं। धर्मविषयक गंभीर विमर्श दोनों महाकाव्यों को संस्कृत महाकाव्य साहित्य में अलग पहचान देता है।

बुद्धघोष : पद्यचूडामणि

महाकवि बुद्धघोष का समय पाँचवीं-छठीं शताब्दी है। ललितविस्तर तथा बुद्धचरित महाकाव्य में निरूपित भगवान् बुद्ध के जीवन का चित्रण उन्होंने बुद्धत्व की प्राप्तिपर्यंत इस महाकाव्य में किया है। कुप्पू स्वामी शास्त्री के अनुसार पद्यचूडामणिकार बुद्धघोष अट्ठकथाओं के लेखक तथा प्रख्यात दार्शनिक बुद्धघोष से भिन्न हैं, और वे भारवि, भामह तथा दंडी के पूर्व और कालिदास के पश्चात् हुए।

पद्यचूडामणि में दस सर्ग तथा ६४१ पद्य हैं। इसके नायक बुद्ध हैं, तथा नायिका के चरित्र का इसमें प्रायः अभाव है। मार को प्रतिनायक के रूप में कवि ने चित्रित किया है।

वस्तु—इस महाकाव्य के प्रथम सर्ग में बुद्ध की वंदना के पश्चात् कपिलानगरी, राजा शुद्धोदन तथा उसकी रानी मायादेवी का वर्णन है। शुद्धोदन पुत्र-प्राप्ति के लिए विभिन्न अनुष्ठान करते हैं। द्वितीय सर्ग में देवता तुषिता नगरी में जाकर तुषिताधिप की स्तुति करते हैं। तुषिता नगरी तथा तुषिताधिप का वर्णन भी कवि ने इस सर्ग में किया है। तीसरे सर्ग में मायादेवी के दोहद तथा सिद्धार्थ के जन्म का वर्णन है। चौथे सर्ग में कुमार के विवाह की चर्चा, कुमारी गोपा के सौंदर्य, वरयात्रा, वर के रूप में सिद्धार्थ की शोभा तथा कपिला नगरी की रमणियों की उन्हें देखने के लिए हड़बड़ी—आदि प्रसंग हैं। पाँचवें सर्ग में ऋतूत्सव तथा कुमार के अस्त्रकौशल के प्रदर्शन का वर्णन है। षष्ठ सर्ग में कुमार की उद्यान-यात्रा तथा उनके द्वारा वृद्ध, रोगी और शव का दर्शन, सप्तम में उद्यान तथा जलक्रीड़ा, आठवें में सूर्यास्त, अंधकार, चंद्रोदय आदि के प्रसंग हैं। नवम सर्ग में महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् सिद्धार्थ की तपश्चर्या का चित्रण है। इसी सर्ग में उनके बिंबिसार की नगरी में गमन तथा भिक्षाटन का भी चित्रण है। इसके पश्चात् बुद्ध पुनः तपश्चर्या में लीन हो जाते हैं और बुद्धत्व-प्राप्ति के पश्चात् पायस ग्रहण करते हैं। दसवें सर्ग में उनके साथ युद्ध के लिए मार अवतरित होता है और युद्ध का आरम्भ हो जाता है। बुद्ध के प्रति मार के वचन, मार के साथ आयी सुंदरियों की विविध क्रीड़ाओं तथा मार-विजय के साथ महाकाव्य समाप्त होता है।

वर्ण्यविषय—कथानक में निम्नलिखित वर्णनों को महाकवि बुद्धघोष ने इस महाकाव्य में बड़ी निपुणता से गूँथा है—नगर, शैल, चंद्र, सूर्य, ऋतु, उद्यान, जलक्रीड़ा, विरह, विवाह, प्रयाण तथा युद्ध। सौंदर्यबोध तथा कल्पनाओं की अभिरामता की दृष्टि से पद्यचूडामणि अश्वघोष के महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और आकर्षक है। वर्णविच्छित्ति की रम्यता तथा किसी भी दृश्य के चित्रण में सुंदर उत्प्रेक्षाएँ बुद्धघोष के कवित्व को स्पृहणीय बनाती हैं। कपिलवस्तु के प्रासादो के सौंदर्य का यह निरूपण द्रष्टव्य है—

यदिन्द्रनीलोपलकुट्टिमेषु प्रविष्टबिम्बां प्रथमेन्दुलेखाम्।
मृणालखण्डस्पृहया मरालाश्चञ्चूपुटैश्चुम्बितुमुत्सहन्ते॥ (१/१५)

(जब उन प्रासादों के इंद्रनील मणि से बने फर्श पर चंद्रमा की पहली किरण पड़ती है, तो हंस उसे कमलनाल का टुकड़ा समझ कर अपनी चोंच से चूमने को उद्यत हो जाते हैं।)

विभिन्न ऋतुओं में दिशा-नायिकाओं का पद्यचूड़ामणिकार ने रूपक तथा अपह्नुति के द्वारा यह रमणीय चित्र प्रस्तुत किया है—

कृताभिषेकाः प्रथमं घनाम्बुभिर्धृतोत्तरीयाः शरदभ्रसञ्चयैः।
विलिप्तगात्र्यः शशिरश्मिचन्दनैर्दिशो दधुस्तारकहारयष्टिकाम्॥ (५/४७)

(पहले मेघों के जल से अभिषेक करायी गयीं, फिर शरद् के बादलों का उत्तरीय पहने हुए, चंद्रमा की किरणो का चंदन लगाये हुए दिशाओ ने तारों की बनी माला पहन ली।)

रस—महाकाव्य में शांत रस की प्रधानता है। इसके साथ संभोग शृंगार, अद्भुत, वीर, रौद्र तथा भयानक रसों का भी समावेश है। मार-विजय के युद्ध का रूपक देकर युद्ध का वातावरण निपुणता से निर्मित किया गया है। विप्रलंभ, शृंगार, हास्य तथा बीभत्स रसों का ग्रहण इस महाकाव्य में नहीं किया गया। वीररस के निरूपण में कवि ने ओजस्वी पदावली और गौडी रीति का भी आश्रय लेकर वैविध्य और चमत्कार ला दिया है। उदाहरणार्थ—

वैतण्डमण्डलविडम्बितचण्डवायुवेगावखण्डितकुलाचलगण्डशैलम्।
संवर्तसागरसमुद्गतभङ्गतुङ्गत्वङ्गत्तुरङ्गमतरङ्गितसर्वदिक्कम्॥ (१०/५)

भाषा-शैली—बुद्धघोष पर कालिदास का गहरा प्रभाव है। उनकी शैली भी तदनुरूप समस्तगुणोपेता सरस वैदर्भी है।

छन्द—महाकवि बुद्धघोष ने इस महाकाव्य में निम्नलिखित छंदों का प्रयोग किया है—अनुष्टुप्, इंद्रवज्रा, मालिनी, वसंततिलका, वियोगिनी, उपजाति, शालिनी, मंदाक्रांता तथा शार्दूलविक्रीडित।

पद्यचूडामणि महाकाव्य उपजीव्य महाकाव्यों तथा अलंकृत शैली के महाकाव्यों के बीच की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

उपसंहार

इस प्रकार संस्कृत महाकाव्य का उदय रामायण और महाभारत इन दो आर्ष काव्यों की परम्परा में हुआ और कालिदास, अश्वघोष तथा बुद्धघोष जैसे महाकवियों की श्रेष्ठ रचनाओं में उसका स्वरूप और भी परिष्कृत रूप में प्रकट हुआ। ईसा पूर्व की पाँचवीं शताब्दी से आरम्भ करके ईसा की पाँचवीं शती तक के लगभग एक सहस्र वर्ष के समय को हम इस दृष्टि से संस्कृत महाकाव्य का स्थापना-काल कह सकते हैं। इस काल में महाकाव्य की भावी समृद्धि की दिशाएँ उन्मीलित हुईं।

✤

अध्याय ५

संस्कृत नाटक का उद्‌भव तथा स्थापना-काल

संस्कृत नाटक का उद्‌भव

संस्कृत नाटक की उत्पत्ति के विषय में अलग-अलग मत प्रकट किये जाते रहे हैं। इसमें कुछ उल्लेखनीय मत हैं—

(१) वीरपूजा का सिद्धान्त—इसका प्रतिपादन रिजवे नामक विद्वान् ने किया। उन्होंने भारत और ग्रीक देश की परम्पराओं के अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष दिया कि इन देशों की संस्कृति में प्राचीन काल के या पिछली पीढ़ी के वीर पुरुषों के प्रति पूजा या सम्मान प्रकट करने की परम्परा रही है। इसकी अभिव्यक्ति नाट्याभिनय के रूप में हुई और इस तरह नाटक का उद्‌भव हुआ।

(२) ऋतुचक्र या प्राकृतिक परिवर्तन का सिद्धान्त—कीथ का यह मत था कि प्राकृतिक परिवर्तनों को मूर्त रूप में प्रदर्शित करने की इच्छा के कारण नाटक का प्रादुर्भाव हुआ। भारतवर्ष प्रकृति के सौन्दर्य की दृष्टि से अत्यन्त रमणीय है। यहाँ होने वाले ऋतुचक्र के आवर्तन-विवर्त व नैसर्गिक सुषमा ने यहाँ के मूल निवासियों को नृत्य, संगीत व नाट्य के लिए प्रेरित किया।

(३) नृत्य से नाटक की उत्पत्ति—मैक्डॉनल प्राचीनकाल में प्रचलित नृत्य से इसका उद्‌भव मानते हैं।

(४) पुत्तलिका नाट्य से नाटक की उत्पत्ति—प्रसिद्ध विद्वान् शंकर पांडुरंग पंडित ने पुत्तलिका नाट्य से संस्कृत नाटक की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। उसके बाद जर्मन विद्वान् पिशेल ने भी इस सिद्धान्त को फिर से प्रतिपादित किया। पिशेल ने छायानाट्य से भी संस्कृत नाटक के उद्‌भव की संभावना पर भी विचार किया। इसमें प्रमाण सूत्रधार शब्द के प्रयोग को दिया जाता है। सूत्रधार का अर्थ है सूत्र या डोरी पकड़ने वाला। पुत्तलिका नाट्य में पुतलियाँ नचाने वाला भी इनकी डोरी हाथ में लिये रहता है। यही सूत्रधार है और इसके द्वारा नाट्य का प्रवर्तन किया गया।

(५) छाया नाटक का सिद्धान्त—पिशेल ने वैकल्पिक रूप से छाया नाटक से भी नाट्य की उत्पत्ति की संभावना का प्रतिपादन किया। पुतलियों की छाया के द्वारा नाटक के प्रदर्शन की परम्परा भारत, इण्डोनेशिया, जावा, सुमात्रा, बालि द्वीप, थाईलैंड (सियाम या श्याम देश आदि देशों में रही है, पर भारत में यह परम्परा नाटक के उद्‌भव से प्राचीन है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। छाया नाटक का प्राचीनतम उल्लेख महाभारत में आता है।

(६) इतिहास काव्यों से नाटक की उत्पत्ति का सिद्धान्त—कीथ तथा मनमोहन घोष इतिहास काव्यों (रामायण तथा महाभारत) के कथा-गायन की परम्परा से संस्कृत नाटक का विकास मानते हैं। प्राचीनकाल में लोकगायकों के द्वारा रामकथा का पाठ या गायन लोगों के मनोरंजन या शिक्षा के लिए समाज में किया जाता था। इन लोकगायकों को कुशीलव कहा जाता था। इस कथा-गायन में संवाद और अभिनय जुड़ गये, तो उससे नाटक के प्रयोग की परम्परा विकसित हुई।

(७) उत्सव से नाट्योत्पत्ति का सिद्धान्त—यह सिद्धान्त भी पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, जिसके अनुसार आदिम जातियों में प्रचलित उत्सवों से नाट्य का जन्म हुआ। योरोप में मे-पोल इसी प्रकार का उत्सव रहा है, जिसमें मई के महीने में एक स्तंभ स्थापित करके लोग उसके आस-पास नृत्य करते रहे हैं।

वस्तुतः इन सभी मतों में कोई भी नाट्य की उत्पत्ति की व्याख्या पूरी तरह से प्रस्तुत नहीं करता, इनमें से प्रत्येक में अंशतः कुछ-कुछ सच्चाई अवश्य हो सकती है।

वेद तथा नाट्य

वेद भारतीय साहित्य के सबसे प्राचीन ग्रंथ हैं। यही नहीं, ऋग्वेद तो अपने लिखित रूप में निर्विवाद रूप से विश्व की सबसे पुरानी पुस्तक है, और लिखित रूप में अस्तित्व में आने के कुछ सहस्र वर्ष पूर्व तक यह मौखिक परम्परा में अस्तित्व में रहा है। वेदों में नाट्य के उद्‌भव के विषय में अनेक संकेत मिलते हैं।

१८९६ ई० में मैक्समूलर ने ऋग्वेद के एक सूक्त (१/१६५) का अनुवाद करते हुए यह अनुमान व्यक्त किया कि इस सूक्त का यज्ञ के अनुष्ठान के अवसर पर दो दलों के द्वारा अभिनय किया जाता होगा। इनमें से एक दल इंद्र का और दूसरा मरुद्‌गणों का प्रतिनिधि बनता था। आगे चल कर सिल्वाँ लेव्ही ने इस अनुमान का समर्थन किया तथा मैक्डॉनल ने इस दृष्टि से वैदिक संवादसूक्तों से भी नाटक के उद्‌भव की संभावना स्वीकार की।

वस्तुतः वैदिक साहित्य में नाटक के उद्‌भव के सुस्पष्ट संकेत मिलते हैं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य अवधेय हैं—

(१) वैदिक यज्ञ तथा नाटक की पारस्परिकता—नाटक वैदिक यज्ञ की संरचना में समाया हुआ है। महाभारत के अनुशासन पर्व में राजा दिलीप के यज्ञ का विवरण मिलता है, जिसमें बताया गया है कि यज्ञ में बनाये गये यूप (स्तंभ) के चारों ओर इंद्र आदि देवों तथा गंधर्वों ने नृत्य किया था और विश्वावसु ने वीणा बजायी थी। यज्ञ मात्र एक कर्मकाण्ड ही नहीं था, वह वैदिक काल के लोगों की समस्त रचनात्मक गतिविधियों के विकास के लिए एक माध्यम भी था। यज्ञ में हमारी सारी कलापरम्परा—विशेष रूप में नाट्यपरम्परा के उद्‌भव के लिए बीजवपन हुआ था—इसमें कोई सन्देह नहीं। यजुर्वेद के तीसरे अध्याय में बताया गया है कि यज्ञ में गायन के लिए शैलूष तथा नर्तन के लिए सूत को आमंत्रित किया जाना चाहिये। यहाँ सूत, शैलूष आदि के साथ वैणिक (वीणावादक), मार्दंगिक (मृदंगवादक), वांशिक (बाँसुरी बजाने वाला) आदि के उल्लेख से नटमंडली

का स्वरूप उपस्थित हो जाता है। श्रौत सूत्रों के उल्लेखों से भी प्रमाणित होता है कि पितृमेध यज्ञ में नृत्त, गीत तथा वादन का आयोजन होता था। इन यज्ञों में बजाये जाने वाले वाद्य तथा गायन की विधियों के भी विवरण श्रौतसूत्रों में मिलते हैं। वीणावादन का अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञों में अनिवार्य स्थान था। वीणावादन के साथ-साथ गाथाएँ भी इनमें गायी जाती थीं। इस तरह नाट्य, संगीत तथा नृत्त या नृत्य वैदिक यज्ञ के अनिवार्य अंग रहे हैं। वाजपेय यज्ञ में रथों की दौड़ की स्पर्धा होती थी, जिसका स्वरूप नाटकीय ही था। वैदिक यज्ञ के संपादन के समय मंत्रपाठ के साथ हाथों के लयबद्ध संचालन का जो निर्देश दिया गया है, उसमें नाट्यप्रयोग के आंगिक अभिनय के सूत्र मिलते हैं। यज्ञ-वेदी की प्रदक्षिणा के विधान में भी नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट प्रदक्षिण प्रवेश तथा अप्रदक्षिण प्रवेश की व्यवस्था का मूल समाहित है।

(२) सूत या सूत्रधार का उदय—वैदिक यज्ञ की संस्था से ही सूत या सूत्रधार का उदय हुआ, जिसकी नाट्य के विकास में अग्रणी भूमिका रही। सूत जाति के लोग वास्तुवेत्ता होने के कारण यज्ञवेदी तथा यत्रमंडप के निर्माण में भी सहयोग देते थे। यज्ञ में कहे जाने वाले आख्यानों के प्रस्तुतीकरण में भी इनकी भूमिका रहती होगी—ऐसा अनुमान किया जा सकता है। आख्यान या पुराण को प्रस्तुत करने के कारण ही इनका एक नाम पौराणिक प्रचलित हुआ। महाभारत में जनमेजय के नागयज्ञ में यज्ञवेदी के निर्माण के लिए जिस सूत को बुलाया गया है, उसी को महर्षि व्यास ने स्थपति (स्थापत्य विद्या का जानकार), वास्तुविद्याविशारद, सूत्रधार तथा पौराणिक—इन चार विशेषणों से वर्णित किया है और उसकी बुद्धिमत्ता की सराहना भी की है—

स्थपतिर्बुद्धिसम्पन्नो वास्तुविद्याविशारदः।
इत्यब्रवीत् सूत्रधारः सूतः पौराणिकस्तथा॥

(महाभारत, आदिपर्व, ५१/१५)

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने नाट्य को यज्ञरूप ही माना है। इससे यज्ञ तथा नाट्य की समरूपता सिद्ध होती है। यज्ञ में नाट्य और नाट्य में यज्ञ समाविष्ट है। दोनों के भीतर मूल भावना भी एक ही है। यह मूल भावना समष्टि या अनंत में व्यष्टि या सीमित व्यक्तित्व के विसर्जन की है।

(३) आख्यानों का विकास—यज्ञ की संस्था से आख्यानों का विकास भी संभव हुआ। नाटक के विकास में आख्यान परम्परा का योगदान निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है। अश्वमेध यज्ञ एक वर्ष तक चलता था। इसमें दिग्विजय के लिए अश्व को छोड़ देने के बाद यज्ञ जहाँ प्रारम्भ किया जाता था, उस स्थान पर एक वर्ष तक आख्यान कहे व सुनाये जाते थे। इन आख्यानों को 'पारिप्लव आख्यान' कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण के निर्देश के अनुसार अश्वमेध यज्ञ ३६० दिनों में दस-दस दिन के ३६ आख्यानचक्र पूरे कर लिये जाते थे।

(४) यज्ञविधि व संवादपरक अनुष्ठान—यज्ञ-विधि में कुछ ऐसे अनुष्ठानों का समावेश भी मिलता है, जिनमें यजमान, पुरोहित या अन्य लोग पूर्व-निर्धारित वाक्यों

में परस्पर संवाद करते हैं। संवाद की यह विधि अपने आपमें नाटक का स्वरूप उपस्थित कर देती है। कात्यायन श्रौतसूत्र में महाव्रत याग की विधि का वर्णन मिलता है। उसमें अध्वर्यु और सोमविक्रयी के संवाद की प्रस्तुति बतलायी गयी है। अध्वर्यु सोमविक्रयीसंवाद अपने आपमें एक नाटक ही है। यज्ञ-संपादन करने वाले लोगों में से ही एक अध्वर्यु बन जाता है, एक सोमविक्रयी या सोम की लता बेचने वाला बन जाता है। फिर उन दोनों में सोमलता के क्रय-विक्रय (ख़रीद-फ़रोख्त) का रोचक संवादात्मक अभिनय होता है। इसी प्रकार सोमयाग की महाव्रतविधि में ब्रह्मचारी-पुंश्चलीसंवाद इस यज्ञ के अनुष्ठान का एक अंग है। ऐतरेय तथा शांखायन ब्राह्मणों में महाव्रतयाग की विधि का वर्णन है, तथा कात्यायन श्रौतसूत्र में इस यज्ञ के अंतर्गत ब्रह्मचारी और पुंश्चली एक दूसरे से किन-किन वाक्यों में किस तरह संवाद बोलेंगे—इसका भी विवरण दिया गया है।

(५) संवादसूक्त तथा नाटक—यदि कतिपय यज्ञों में नाटकीय संवादों की प्रस्तुति कर्मकांड का अनिवार्य अंग थी, तो दूसरी ओर वैदिक संहिताओं में—विशेषत: ऋग्वेद में अनेक ऐसे सूक्त मिलते हैं, जो संवादात्मक होने के कारण नाटकीय हैं। इस प्रकार के कुछ सूक्त हैं—पुरूरवा और उर्वशी का संवाद, सरमा और पणि का संवाद, यम-यमी-संवाद, इंद्र-वृषाकपि-संवाद, विश्वामित्र-नदी-संवाद, अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद तथा नेमि और इंद्र का संवाद आदि। इन सभी संवाद-सूक्तों के पीछे कोई न कोई प्राचीन आख्यान या कथा-प्रसंग है। इन सभी में दो पात्रों के बीच उक्ति-प्रत्युक्ति या सवाल-जवाब चलते हैं। संवादों में भावनात्मक आवेग तथा विभिन्न मनोदशाएँ सामने आती हैं। इस प्रकार ये सूक्त अपने आपमें छोटे-छोटे नाटक कहे जा सकते हैं।

(६) वैदिक-साहित्य तथा कला-परम्परा—ऋग्वेद में काव्य, नाटक के अतिरिक्त अन्य आनुषंगिक कलाओं के विकास के भी प्रमाण मिलते हैं, संगीत, नृत्य, चित्र आदि ऐसी कलाएँ हैं, जिनकी नाटक या रंगमंच के विकास में अनिवार्य भूमिका रहती है। वैदिक देवताओं में उषस् तथा इंद्र का नर्तन से गहरा सम्बन्ध है। वैदिक कवि भी संगीत और नृत्य के जानकार प्रतीत होते हैं। उन्होंने श्रेष्ठ नर्तक होने की कामना प्रकट की है। परिजन की मृत्यु पर शवसंस्कार करके वापस आते हुए वे कहते हैं—अब हम नृत्य और आनंद के लिए संसार में वापस लौटते हैं।

वैदिक संहिताओं के बाद ब्राह्मण ग्रंथो में संगीत, नृत्य, चित्र और मूर्ति कलाओं से सम्बन्धित सामग्री मिलती है। ऐतरेय, कौषीतकि और गोपथ ब्राह्मणों में तो शिल्प और कला के सिद्धान्तों का भी विवेचन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि ये कलाएँ वैदिक काल में विकसित हो चुकी थीं।

(७) नाट्यशास्त्र का प्रमाण—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति के विषय में एक प्रतीकात्मक कथा दी गयी है। इसमें बताया गया है कि देवताओं के अनुरोध पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद इन चारों वेदों से क्रमश: चार तत्त्व (पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस) निकाल कर नाट्यरूपी पाँचवें वेद की सृष्टि की। इस

कथा का आशय यही है कि हमारी परम्परा नाटक के उद्भव में चारों वेदों को मूल मानती है।

इस प्रकार नाटक के उद्भव में वैदिक साहित्य, वैदिक अनुष्ठान या यज्ञ की निश्चित रूप से मुख्य भूमिका रही है। नायक के उद्भव और विकास की यात्रा को निम्नलिखित चार चरणों में बाँधा जा सकता है—

(१) अंकुरण काल—प्रागैतिहासिक युग
(२) उद्भव काल—वैदिक युग
(३) विकास काल—इतिहास युग
(४) समृद्धि काल—बौद्ध काल से लगा कर आज तक।

(१) अंकुरण-काल—नाट्य एक शाश्वत तत्त्व के रूप में सृष्टि के आरम्भ से ही मनुष्य जाति के साथ रहा है। अपने भीतर के उल्लास को व्यक्त करने की इच्छा प्रत्येक मनुष्य में रहती है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए नृत्य और नाट्य को भी वह माध्यम बनाता आया है। इसीलिए भारत जैसे प्राचीन संस्कृति से सम्पन्न देश में प्रागैतिहासिक काल में ही किसी न किसी रूप में नाट्य का बीज अंकुरित हो गया था। इसके प्रमाण ईसा से कई हजार वर्ष पहले बनाये गये शैलगुफाओं के चित्रों में मिलते हैं। भीमबैठका या बादामी की प्रागैतिहासिक काल की गुफाओं में ऐसे चित्र अंकित हैं, जिनमें हमारे पूर्वजों को नृत्य, समूहनृत्य आदि के द्वारा कलात्मक अभिव्यक्ति करते हुए चित्रित किया गया है।

(२) उद्भव-काल—संस्कृत नाटक का उद्भव-काल वैदिक युग है। इस काल में नाटक और रंगमंच के उद्भव और विकास के लिए निम्नलिखित आधार प्रस्तुत हुए—(१) वैदिक सूक्तों की रचना के द्वारा नाटक के पाठ्य की उपलब्धि, (२) यज्ञ के अनुष्ठानों में संवादों की प्रस्तुतियों तथा संगीत व नृत्य के आयोजनों के द्वारा नाट्यपरम्परा का उन्मीलन, तथा (३) सूत जाति का उदय, जिसने नाट्य के विकास में अग्रणी भूमिका का निर्वाह किया। (४) कलाशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र की पृष्ठभूमि का निर्माण।

(३) विकास-काल—इतिहास युग को नाटक का विकास-काल कहा जा सकता है। इतिहास से आशय रामायण तथा महाभारत इन दोनों काव्यों से है। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में संस्कृत नाटक तथा रंगमंच की परम्परा के समृद्ध रूप का सुस्पष्ट प्रमाण मिलता है। इस काल में वैदिक यज्ञ से जुड़ा सूत नाटक का सूत्रधार बन कर अवतरित हुआ। समाजों और उत्सवों में नाटकों की प्रस्तुतियाँ की जाने लगीं। ग्रंथिक आख्यानों को पढ़ कर सुनाते थे, कुशीलव उनका गायन करते थे। वास्तुकला, चित्रकला तथा अन्य शिल्पों का भी विकास इतिहास-काल में हुआ जिसने नाटक और रंगमंच को सम्पन्न बनाया। रामायण तथा महाभारत में प्रेक्षागारों का अनेक स्थानों पर वर्णन है। इन प्रेक्षागारों में धनुर्वेद का प्रदर्शन तथा नटों और नर्तकों के आयोजन होते थे। इसके साथ ही कला और सौंदर्यशास्त्र से सम्बद्ध शब्दावली का भी इस युग में विकास हुआ। रामायण में रस, नट, नर्तक, नाटक जैसे शब्दों का प्रयोग है, तथा रसों के

नाम भी गिनाये गये हैं, तो महाभारत में प्रेक्षा, लय, स्थान, ताल आदि शब्द अनेक बार आते हैं।

(४) समृद्धि-काल—६०० ई० पू० के पश्चात् रचे गये बौद्धों और जैनों के साहित्य से नाटक की विकसित स्थिति का पता चलता है। जैनागम रायपसेणिय (राजप्रश्नीय) में महावीर के समक्ष देवकुमार और देवकुमारियों के द्वारा प्रस्तुत नृत्यनाट्य का वर्णन है। बौद्ध साहित्य—विशेषत: जातक कथाओं में नाटकों के अभिनय के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। इस काल में नाटक मंडलियों का गठन होने लग गया था, जो जन समाज में विभिन्न प्रकार के नाटक, नृत्य या नृत्य नाट्य प्रस्तुत करती थीं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और वात्स्यायन के कामसूत्र में तो ऐसी मंडलियों का स्पष्ट विवरण दिया गया है। स्त्रियों के लिए स्त्रियों की मंडलियों के द्वारा होने वाली नाट्यप्रस्तुतियों का भी उल्लेख कौटिल्य ने किया है। इसके साथ ही इस काल में विभिन्न विषयों पर लिखे जाने वाले नाटकों की रचना कवियों के द्वारा की जाने लगी और नटों के प्रशिक्षण के लिए शास्त्रग्रंथों की रचना भी हुई। पाणिनि ने नटसूत्र नामक ग्रंथ का उल्लेख किया है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में समुद्रमंथन समवकार तथा त्रिपुरदाह डिम—इन दो प्राचीन रूपकों का उल्लेख किया है। पतंजलि ने शौभनिक तथा ग्रंथिक नामक नटों की प्रस्तुतियों का वर्णन किया है और कंसवध तथा बलिबंध नाटकों के खेले जाने का भी उल्लेख किया है।

आगे जाकर हरिवंशपुराण में रामायण नाटक तथा कौवेररम्भाभिसार नामक नाटक खेले जाने का रोचक विवरण है।

इस पृष्ठभूमि में यह स्वाभाविक ही था कि संस्कृत नाटक की प्राचीन परम्परा में भास, कालिदास, अश्वघोष आदि नाटककारों ने जन्म लिया।

रूपक, नाट्य, नाटक—नाट्य शब्द नट धातु से बना है। जो रंगमंच पर अभिनय के द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला वाङ्मय का प्रकार नाट्य है। भरत मुनि ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते॥

अर्थात् लोक का सुख, दु:ख आदि से समन्वित स्वभाव (उसकी अपनी स्थितियाँ) आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य इन चारों प्रकार के अभिनयों के द्वारा जब रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाय तो वह नाट्य कहलाता है। आंगिक आदि अभिनयों के द्वारा लोकजीवन के प्रस्तुतीकरण की यह प्रक्रिया अनुकृति (अनुकरण या अनुकीर्तन) कही गयी है। इसलिए भरत मुनि के नाट्य का यह लक्षण भी दिया है कि वह त्रिलोकी के भावों का अनुकीर्तन है अथवा सात द्वीपों के लोगों के जीवन का अनुकरण है। आगे चल कर दसवीं शताब्दी में आचार्य धनंजय ने इसी आधार पर नाट्य की परिभाषा की—**अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्**—अर्थात् मनुष्यजीवन की विचित्र अवस्थाओं की अनुकृति नाट्य है। इस नाट्य का मंच पर प्रकट होने वाला स्वरूप रूप

भी कहा गया है, दृश्य होने के कारण इसे रूप कहा जाता है और जिस काव्य-विधा में रूप अर्थात् रंगमंच पर प्रदर्शित किये जा सकने की योग्यता है, वह रूपक है।

रूपक की प्रस्तुति या नाट्याभिनय में भरत मुनि के अनुसार ग्यारह तत्त्वों का उपयोग होता है—रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रंग।

काव्य, रूपक तथा उपरूपक—काव्य के दो प्रकार हैं—दृश्य तथा श्रव्य। दृश्य काव्य रंगमंच पर अभिनय के लिए होता है। श्रव्य काव्य पढ़े या सुने जाने के लिए होता है। दृश्य काव्य के मुख्य रूप से दो प्रकार हैं—रूपक तथा उपरूपक। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में रूपक के दस भेद बताये हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी तथा प्रहसन। रूपक के इन भेदों में नाटक सबसे प्रमुख है। इसकी स्थापना के कारण रूपक के सारे प्रकारों के लिए भी 'नाटक' शब्द चल पड़ा है। रूपक नाट्य की अभिजात या शास्त्रीय परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपरूपकों को गेयरूपक या नृत्तप्रबंध भी कहा जाता रहा है। इनमें गीत और संगीत की प्रधानता रहती है और ये लोकनाट्यपरम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। साहित्यदर्पण में उपरूपकों की संख्या १८ बतायी गयी है, पर परवर्ती ग्रंथों में अनेक प्रकार के अन्य उपरूपकों का वर्णन मिलता है और यह संख्या बढ़ती गयी है।

रूपक का इतिवृत्त—रूपक का इतिवृत्त या कथावस्तु दो प्रकार का है—आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक मुख्य इतिवृत्त है, जो नायक से सीधे सम्बन्धित है। प्रासंगिक इतिवृत्त उसका अंग है। उदाहरण के लिए रामायण की कथा पर लिखे गये नाटक में राम का वृत्तान्त आधिकारिक है और सुग्रीव आदि का वृत्तांत प्रासंगिक। प्रासंगिक भी दो प्रकार का होता है—पताका तथा प्रकरी। जो नायक के मुख्य वृत्त के साथ-साथ दूर तक चलता है, वह पताका है। उपर्युक्त सुग्रीव का वृत्तांत पताका कहलायेगा। जो घटना या प्रसंग नाटक के वृत्त में आगे तक जारी नहीं रहते, वे प्रकरी हैं, जैसे रामायण पर आधारित नाटक में जटायु का वृत्त, जो उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता है।

अर्थप्रकृतियाँ—इतिवृत्त के पाँच प्रकार किये गये हैं—जिन्हें अर्थप्रकृतियाँ कहा गया है। ये हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य। इतिवृत्त की आरम्भिक अवस्था बीज है। उसका विस्तार होना बिन्दु है। पताका और प्रकरी ऊपर बतायी गयी हैं। इतिवृत्त का अपनी परिणति पर पहुँचना कार्य है।

अवस्थाएँ—इसी प्रकार नायक के कथानक से सम्बन्ध की दृष्टि से आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, प्राप्तिसंभव और फलागम—ये पाँच इतिवृत्त की अवस्थाएँ कही गयी हैं। नाटक का नाटक के फल के लिए प्रवृत्त या उत्सुक होना आरम्भ है। उस फल की प्राप्ति के लिए उसका प्रयत्नशील हो जाना यत्न नामक अवस्था है। विघ्नों और उपायों के बीच उस फल के मिलने की आशा का उदय होना प्राप्त्याशा है। फिर उस प्राप्ति की संभावना सुदृढ़ हो जाना नियताप्ति और अंत में फल की प्राप्ति हो जाना फलागम है।

संधियाँ—कथानक के विकास की दृष्टि से उसका विभाजन पाँच संधियों में किया गया है—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहार। ये पाँच संधियाँ उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं से क्रमशः सम्बद्ध भी बतायी गयी हैं।

भास

भास का एक महान् नाटककार के रूप में प्राचीन कवियों में कालिदास, बाण, वाक्पतिराज, राजशेखर तथा पीयूषवर्ष जयदेव ने स्मरण किया है। भास संस्कृत के नाटककारों में सर्वप्रथम स्मरणीय हैं। वे संस्कृत साहित्य की एक पहेली भी हैं। १९१२ ई० तक विश्वभर में संस्कृत के विद्वान् केवल भास के नाम से ही परिचित थे, उनकी रचनाएँ अप्राप्य थीं। १९१२ ई० में केरल के प्रख्यात संस्कृत पंडित श्री टी० गणपति शास्त्री ने घोषणा की कि उन्हें प्रख्यात नाटककार भास के रूपकों की अब तक अप्राप्त पांडुलिपियाँ मिल गयी हैं, और अगले वर्ष उन्होंने १३ नाटकों की पांडुलिपियों को भासनाटकचक्र के नाम से प्रकाशित कराया।

भास का काल—भास का समय-निर्धारण कठिन समस्या है। इस सम्बन्ध में मुख्य मत निम्नलिखित हैं—

(१) ए० बी० कीथ का मत—इस मत के अनुसार भास का समय ३०० ई० के लगभग है। इसके लिए कीथ आदि ने ये प्रमाण दिये हैं—(१) कालिदास भास से परिचित थे। कालिदास के समय तक भास एक महान् साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठा पा चुके थे। कीथ कालिदास का समय ४०० ई० के लगभग मानते हैं। अतः भास उनके अनुसार ३०० ई० के आसपास रहे। (२) भास के नाटकों की प्राकृत अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत से परवर्ती है। प्रो० रामजी उपाध्याय इस मत का समर्थन करते हैं। वे इसकी पुष्टि में भास के प्रतिमा नाटक में मंदिर में दिवंगत राजाओं की मूर्ति लगाने की प्रथा के उल्लेख का भी प्रमाण देते हैं। यह प्रथा कुषाण काल के पश्चात् विशेष प्रचलन में आयी।

वस्तुतः यह मत इस पूर्वाग्रह पर आधारित है कि कालिदास गुप्तकाल में चौथी-पाँचवीं शताब्दी में हुए। अब अधिकांश विद्वान् कालिदास का काल प्रथम शताब्दी ई० पू० मानने के पक्ष में हैं। इसके साथ ही दूसरी शताब्दी के तमिल महाकवि इलंकोवाडिगल ने भास का उल्लेख किया है, ऐसी स्थिति में उनका समय ३०० ई० कैसे माना जा सकता है?

(२) टी० गणपति शास्त्री का मत—भास के नाटकों के उद्धारकर्ता टी० गणपति शास्त्री उन्हें छठी शताब्दी ई० पू० से चौथी शताब्दी ई० पू० के बीच में रखते हैं। म० म० हरप्रसाद शास्त्री तथा ए० डी० पुसालकर इस मत के समर्थक हैं। इस मत के समर्थन में ये प्रमाण दिये जाते हैं—(१) भास राजा के लिए आर्यपुत्र शब्द का प्रयोग करते हैं। आर्यपुत्र शब्द राजा के लिए अशोक के समय या उसके पहले प्रचलित था। बाद में यह केवल पति का वाचक हो गया। (२) भास के नाटकों में चित्रित सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियाँ चौथी-पाँचवीं शताब्दी के आस-पास की हैं। (३) भास के

नाटकों में अपाणिनीय प्रयोगों की भरमार है। अत: वे ऐसे समय में हुए जब पाणिनि व्याकरण की प्रसिद्धि पूर्णत: नहीं हो पायी थी। (४) भास ने मंदिर की परिधि में बालू छींटने की प्रथा का उल्लेख किया है, जो पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में प्रचलित थी। (५) भास जैन और बौद्ध परम्पराओं का उपहासास्पद रूप में चित्रण करते हैं। अत: वे इन दोनों धर्मों के आरम्भ होने के कुछ समय पश्चात् ही हुए होंगे। (६) भास के प्रतिज्ञायौगंधरायण का एक श्लोक कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उद्धृत है। अत: भास मौर्यकाल के पूर्व हो चुके थे। (७) भास ने मगध की राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) के स्थान पर राजगृह (आधुनिक राजगिर) को बताया है। पाटलिपुत्र का वे एक बड़े नगर के रूप में उल्लेख नहीं करते। मौर्य काल में पाटलिपुत्र एक महानगर तथा मगध की राजधानी के रूप में विकसित हुआ। अत: भास इसके पहले हो चुके थे। (८) प्रतिमा नाटक में भास ने संन्यासी के छद्म वेष में रावण के मुख से उसके द्वारा पढ़ी हुई विद्याओं का उल्लेख कराया है। रावण कहता है—"साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वर योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च।" इसमें पतंजलिकृत योगशास्त्र के स्थान पर महेश्वरकृत योगशास्त्र का उल्लेख है और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के स्थान पर बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का। अत: यह सिद्ध होता है कि भास को पतंजलि और कौटिल्य के शास्त्रों की जानकारी नहीं थी और वे पतंजलि और कौटिल्य के पहले हो चुके थे। बृहस्पति का अर्थशास्त्र के एक प्राचीन महान् आचार्य के रूप में स्वयं कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उल्लेख किया है। (९) पुसालकर के अनुसार भास कामसूत्रप्रणेता वात्स्यायन से भी अपरिचित हैं। (१०) मंदिरों की परिधि में बालू छींटने का विधान आपस्तंभ धर्मसूत्र में निर्दिष्ट है, जो ३०० ई० पू० के पहले का है। भास ने प्रतिमा नाटक में इस विधान का पालन दिखाया है, अत: उनका काल भी ३०० ई० पू० के पहले का माना जाना चाहिये।

उक्त मतों में भास को ईसा से चार या पाँच शताब्दी पूर्व स्थापित करने वाला मत ही ग्राह्य प्रतीत होता है।

भास के रूपक

इसमें कोई संदेह नहीं कि भास ने कई रूपक लिखे थे। राजशेखर ने भासनाटकचक्र—इस संज्ञा का प्रयोग भास की रचनाओं के लिए किया है। यह संज्ञा तभी संभव है, जब भास के कई नाटक मिलते हों। भास के नाम से टी० गणपति शास्त्री ने तेरह रूपक प्रकाशित किये। विषयवस्तु की दृष्टि से इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) इनमें से चार रूपक लोककथा पर आधारित हैं—स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायम्, अविमारकम् तथा दरिद्रचारुदत्तम्।

(२) छह रूपक महाभारत की कथा को विषय बना कर लिखे गये हैं—मध्यमव्यायोग:, पञ्चरात्रम्, दूतवाक्यम्, दूतघटोत्कचम्, कर्णभारम् तथा ऊरूभङ्गम्।

(३) दो रूपक रामायणाश्रित हैं—प्रतिभा तथा अभिषेकम्।

(४) एक रूपक श्रीकृष्ण कथा को प्रस्तुत करने वाला है—बालचरितम्।

वास्तव में इन रूपकों के कर्तृत्व को लेकर विद्वानों में मतभेद है। मुख्य रूप में इस विषय में चार मत प्रचलित हैं। पहले मत के अनुसार ये तेरहों रूपक भास के रचे हुए ही हैं। टी० गणपति शास्त्री, कीथ, लक्ष्मण स्वरूप, देवधर आदि अनेक विद्वान् सभी तेरहों रूपकों का प्रणेता महाकवि भास को ही सिद्ध करते हैं। पुसालकर ने इन सभी रूपकों को भासकृत मानते हुए अपनी मान्यता के लिए ये प्रमाण प्रस्तुत किये हैं—(१) इन रूपकों में संरचना, नाट्यशिल्प, मान्यताओं, नाट्ययुक्तियों के प्रयोग, छंदोविधान, वर्णन कला, शब्दावली और शैली की दृष्टि से समानता है। (२) इनमें चित्रित समाज और सांस्कृतिक स्थितियाँ भी इनके रचनाकार का एक ही व्यक्ति होना प्रमाणित करती हैं। दूसरे मत के अनुसार ये तेरहों रूपक भास के रचे हुए नहीं हैं; इनका प्रणेता या तो **मत्तविलासप्रहसन** का लेखक महेन्द्रविक्रमवर्मन् या आश्चर्यचूडामणि नाटक का कर्ता शक्तिभद्र हो सकते हैं। अथवा ये सातवीं-आठवीं शताब्दी के आसपास किसी दाक्षिणात्य कवि के द्वारा रचे गये हैं। बार्नेट, सिल्वाँ लेव्ही, विंटरनित्स और सी० आर० देवधर इसी मत में विश्वास रखते हैं। तीसरा मत यह है कि इन तेरह रूपकों में से कुछ तो भास के हैं, शेष अन्य परवर्ती कवि के। जागीरदार का मत है कि इनमें से स्वप्नवासवदत्तम, प्रतिज्ञायौगन्धरायम् तथा पञ्चरात्रम्—ये तीन ही रूपक भास के रचे हुए हैं। सुक्थनकर केवल उदयनकथाश्रित दो रूपकों को भास रचित मानते हैं। चौथे मत के अनुसार ये रूपक भास के रचित रूपकों के संक्षिप्त रूपान्तर हैं। चाक्यारो ने अभिनय की दृष्टि से इनमें संक्षेप तथा फेरबदल किया है।

उपलब्ध साक्ष्यों से द्वितीय मत तो सर्वथा निस्सार ठहरता है। भास ने स्वप्नवासवदत्तम् तथा प्रतिज्ञायौगंधरायण नामक दो रूपक तो अवश्य ही लिखे थे, क्योंकि प्राचीन कवियों और आचार्यों की परम्परा उनका इन रूपको के रचयिता के रूप में उल्लेख करती है।

प्राचीन कवियों व आचार्यों द्वारा भास के उल्लेख—संस्कृत के अनेक कवियों तथा आचार्यों ने भास से परिचय प्रकट किया है। कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र में पारिपार्श्विक के मुख से प्रश्न कराया है—"प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य, वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः?"—अर्थात् भास, सौमिल्ल और कविपुत्र जैसे प्रख्यात यश वाले नाटककारों ने नाटकों को अनदेखा करके आज के कवि कालिदास की रचना में परिषद् (नाटक देखने वाले रसिक प्रेक्षकों) का इतना मान कैसे? यदि कालिदास प्रथम शताब्दी ई० पू० में हुए, तो भास उनके कुछ शताब्दियों पहले अवश्य हो चुके थे। इससे स्पष्ट है कि कालिदास के समय तक भास एक महान् नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित थे और उनके नाटकों का अभिनय होता रहता था। कालिदास के पश्चात् बाण ने अपने हर्षचरित में भास की प्रशंसा में कहा है—

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव॥

(भास ने देवकुल या देवालय के समान सूत्रधार से आरम्भ किये जाने वाले, बड़ी भूमिका वाले, तथा पताका वाले अपने नाटकों से यश पाया।) दंडी ने अपने काव्यादर्श (२/२२६) में भास के दरिद्रचारुदत्त का 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' यह श्लोकार्ध उद्धृत किया है, यद्यपि यह स्पष्ट नहीं होता कि यह श्लोकार्ध वे भास के नाटक से उद्धृत कर रहे हैं या मृच्छकटिक से। दंडी के नाम से अवंतिसुंदरीकथा नामक एक गद्य-रचना प्राप्त होती है, इसमें भास का उल्लेख किया गया है।

सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री भामह ने अपने काव्यालंकार में नामोल्लेख के बिना भास के प्रतिज्ञायौगंधरायण का संदर्भ दिया है। प्राकृत महाकाव्य गौडवहो के कर्ता वाक्पति राज ने भास को 'ज्लवनमित्र' (अग्नि का मित्र) कहा है। काव्यालंकारसूत्र के प्रणेता आचार्य वामन भास के 'शरच्छशांक गौरेण०'-, 'यासां बलिर्भवति'०- 'यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्'०- ये तीन पद्य उद्धृत करते हैं, पर न तो उन्होंने भास का नाम लिया है, न भास के किसी रूपक का। पहला पद्य स्वप्नवासदत्तम् में कुछ परिवर्तन के साथ मिलता है, दूसरा दरिद्रचारुदत्तम् तथा मृच्छकटिकम् में समान है और तीसरा प्रतिज्ञायौगंधरायण में मिलता है। राजशेखर ने भास के विषय में लिखा है कि भासनाटकचक्र की अग्निपरीक्षा की गयी, उसमें स्वप्नवासवदत्तम् नाटक को अग्नि भी नहीं जला सकी—

भासनायकचक्रेऽपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥

यह पद्य राजशेखर की किसी रचना में नहीं मिलता, अपितु जल्हण ने अपनी सूक्तिमुक्तावली में इसे राजशेखरकृत बताकर उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त ने स्वप्नवासवदत्तम् नाटक का नामोल्लेख करते हुए इसके पद्मावती द्वारा कंदुकक्रीडा के प्रसंग का संदर्भ दिया है। भोज ने अपने श्रृंगारप्रकाश के बारहवें प्रकाश में स्वप्नवासवदत्त नाटक का नामोल्लेख करते हुए इसके पाँचवें अंक की घटना का विस्तार से वर्णन किया है, जो यथावत् स्वप्नवासवदत्तम् में चित्रित है। रामचंद्र-गुणचंद्र ने नाट्यदर्पण में कहा है—

यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकातलमवलोक्य वत्सराजः—

पादाक्रान्ताणि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम्।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता॥

यह श्लोक टी० गणपति शास्त्री को प्राप्त हुई पांडुलिपियों में नहीं मिलता। पर यह श्लोक भासकृत 'स्वप्नवासवदत्तम्' में रहा होगा और लिपिकार के प्रमाद से अथवा चाक्यारों के द्वारा संक्षिप्त आलेख तैयार करने के कारण छूट गया ऐसा अनुमान किया जा सकता है। चतुर्थ अंक में उदयन को देखकर शिलातल पर बैठी पद्मावती और

वासवदत्ता उनसे छिपने के लिए पीछे के लताकुंज में चली जाती हैं, तब उदयन ने शिलातल के विषय में यह कथन किया होगा। 'स्वप्नवासवदत्तम्' के वर्तमान में उपलब्ध मुद्रित संस्करणों में यह श्लोक यथास्थान जोड़ दिया गया है। दसवीं शताब्दी में धार के राजा भोज ने अपने काव्यशास्त्रविषयक ग्रंथ 'सरस्वतीकंठाभरण' में 'स्वप्नवासवदत्तम्' के नामोल्लेख के साथ उसके पाँचवें अंक के स्वप्नदृश्य का इस प्रकार विवेचन किया है—

स्वप्नवासवदत्ते पद्मावतीमस्वस्थां द्रष्टुं राजा समुद्रगृहकं गतः। पद्मावतीरहितं च तदवलोक्य तस्या एव शयने सुष्वाप, वासवदत्तां च स्वप्नवदस्वप्ने ददर्श। स्वप्नायमानश्च वासवदत्तामाबभाषे। स्वप्नशब्देन चेह स्वापो वा स्वप्नं वा स्वप्नदर्शनं वा स्वप्नायितं वा विवक्षितम्।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भोज को भास का स्वप्नवासवदत्तम् उपलब्ध था और उन्होंने उसका अध्ययन किया था।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने ध्वन्यालोकलोचन में स्वप्नवासवदत्तम् से निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

सञ्चितपक्ष्मकवाटं नयनद्वारं स्वरूपताडेन।
उद्घाट्य सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा॥

पर यह पद्य स्वप्नवासवदत्तम् की उपलब्ध प्रतियों में नहीं मिलता।

नाटकलक्षणरत्नकोश में सागरनंदी ने स्वप्नवासवदत्तम् की प्रस्तावना से यह गद्यांश उद्धृत किया है—

नेपथ्ये सूत्रधारः—(उत्सारणं श्रुत्वा पठति)—अये कथं तपोवनेऽप्युत्सारणा? (विलोक्य) कथं मन्त्री यौगन्धरायणः वत्सराजस्य राज्यप्राप्त्यानयनं कर्तुकामः पद्मावतीयजनेनोत्सार्यते इति।

यह गद्यांश भी उपलब्ध स्वप्नवासवदत्तम् की प्रस्तावना या स्थापना में नहीं मिलता। पर यह मूल स्वप्नवासवदत्तम् में अवश्य रहा होगा, क्योंकि इसका पूरा प्रसंग स्वप्नवासवदत्तम् की प्रस्तावना का ही है।

तेरहवीं शताब्दी के शारदातनय ने स्वप्नवासवदत्तम् को प्रशांत कोटि के नाटक का उदाहरण मान कर इसमें पाँच संधियों का विवेचन विस्तार से किया है। अमरकोश के टीकाकार सर्वानंद (बारहवीं शताब्दी) ने स्वप्नवासवदत्तम् में राजा उदयन के पद्मावती के साथ विवाह को अर्थशृंगार का उदाहरण माना है, तथा इसके पूर्व वासवदत्ता के साथ हो चुके उसके परिणय को कामशृंगार का।

भास का उल्लेख करने वाले अन्य कवि हैं—सोड्ढल (ग्यारहवीं शताब्दी) तथा सोमप्रभसूरि (बारहवीं शताब्दी)। दूसरी शताब्दी के तमिल महाकवि इलंकोवाडिगल ने भी उनका उल्लेख किया है।

इन उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि भास ने कई रूपक लिखे थे, क्योंकि भासनाटकचक्र यह संज्ञा तभी संभव हो सकती है, जब उन्होंने अनेक रूपक लिखे हों। स्वप्नवासवदत्तम् तथा प्रतिज्ञायौगंधरायण ये दो रूपक तो उन्होंने निश्चित रूप से लिखे थे।

घटकर्पर, धावक तथा भास की अभिन्नता—धावक राजा हर्ष की राजसभा में एक कवि थे, जिनका उल्लेख मम्मट आदि आचार्यों ने किया है। जल्हण ने **सूक्तिमुक्तावली** में राजशेखर के कविविमर्श से कतिपय पद्य उद्धृत किये हैं, जिनमें राजशेखर ने बताया है कि भास जाति से धावक (धोबी) थे। इन्होंने प्रियदर्शिका, **रत्नावली** तथा **नागानंद**—इन तीन रूपकों की रचना की थी, और इनकी रचनाओं से प्रसन्न होकर राजा हर्ष ने इन्हें अपनी राजसभा में सम्मानित किया था। राजशेखर ने इनके उदात्तराघव नाटक की प्रशंसा में कहा है कि यह नाटक सचमुच उदात्तरस से गुंफित है। इन्होंने शोकांत नाटक **किरणावली** की नौ अंकों में रचना भी की थी। हेमचंद्र ने अपने काव्यानुशासन में घटकर्पर और भास को अभिन्न बताया है। इन्होंने कहा है—''सम्प्रति परां काष्ठामारूढेनापि भासेन भूतपूर्वा स्वकीया दशा न विस्मृता। यतोऽनेन पूर्वचरितं घटकर्परेणोदकवहनमेव प्रतिज्ञातम्। प्रतिज्ञां चेमामसहमानाः परे कवयः परिहसितुमनसो विक्रमार्कसभ्यमेनं भासं तज्जातिस्मारकघटकर्परनाम्ना व्यवजह्रुः। क्रमेण स एव व्यपदेशो भासमहाकवेः सुप्रसिद्धः सम्पन्नः।'' राजशेखर और हेमचंद्र के उल्लेखों की प्रामाणिकता विचारणीय है।

स्वप्नवासवदत्तम्

'स्वप्नवासवदत्तम्' निस्संदेह विश्व साहित्य में सर्वश्रेष्ठ नाटकों में से एक है। इस नाटक में छह अंक हैं। यह नाटक राजा उदयन की कथा पर आधारित है। कालिदास ने मेघदूत में बताया है कि उदयन की कहानी अवंती प्रदेश में गाँव-गाँव में कही-सुनायी जाती थी। मूल कथानक इस प्रकार है—उदयन के राज्य का एक हिस्सा पड़ोसी शत्रु राजा आरुणि ने हड़प लिया है। उदयन के मंत्री यौगंधरायण आरुणि को परास्त करने के लिए रानी वासवदत्ता को विश्वास में लेकर एक कूटयोजना बनाते हैं। इस योजना का लक्ष्य है—राजा उदयन का दूसरा विवाह मगध की राजकुमारी से करा कर मगध की सैनिक सहायता प्राप्त करना। उदयन रानी वासवदत्ता पर इतना अनुराग रखते हैं कि वे दूसरा विवाह करने को तैयार हो ही नहीं सकते। इसलिए इस कूट योजना के अनुसार उदयन के मृगया प्रयाण के अवसर पर उस शिविर में आग लगा दी जाती है जिसमें उनके साथ वासवदत्ता रह रही थी। यौगंधरायण और वासवदत्ता वेष बदल कर उदयन के राज्य से चल देते हैं और इधर इन दोनों के अग्निदाह में जल कर मर जाने का मिथ्या प्रवाद फैला दिया जाता है। संन्यासी के वेष में यौगंधरायण तथा आवंतिका नाम वाली साधारण स्त्री के वेष में रानी वासवदत्ता चलते-चलते मगध की सीमा पर आते हैं। यहाँ उन्हें अपनी माता से भेंट कर राजधानी राजगृह को जाती हुई राजकुमारी पद्मावती मिलती है। यौगंधरायण वासवदत्ता को प्रोषितभर्तृका (जिसका पति बाहर गया हो) तथा अपनी बहिन बता कर धरोहर के रूप में पद्मावती को सौंप देते हैं। इसके पश्चात् कूटयोजना के अनुसार उदयन का पद्मावती से विवाह हो जाता है। वासवदत्ता छद्म वेष में पद्मावती के साथ रहती हुई अपने ही पति का दूसरा विवाह अपने सामने होते देखती है। विवाह के पश्चात् उदयन कुछ दिन राजगृह में ही रहते हैं।

एक दिन विदूषक उनसे हँसी-हँसी में पूछता है कि दोनों रानियों में उन्हें कौन अधिक प्रिय है—दिवंगत रानी वासवदत्ता या वर्तमान रानी पद्मावती ? उदयन बहुत आनाकानी करते हुए विदूषक के द्वारा शपथ दिलाये जाने पर बताते हैं कि पद्मावती अपने रूप, शील और माधुर्य के कारण बहुत आदरणीय है, पर वासवदत्ता में अटके उनके मन को वह नहीं खींच पाती। इस बातचीत को पीछे लताकुंज में छिपी पद्मावती, वासवदत्ता (छद्मवेष में आवंतिका) तथा चेटी सुन रही हैं। वासवदत्ता के मन में उदयन की यह स्वीकारोक्ति बहुत बड़ा चिन्ता का बोझ हटा देती है। पद्मावती अपनी विशाल हृदयता का परिचय देते हुए कहती है कि आर्यपुत्र बड़े कोमल हृदय के हैं जो अभी तक आर्या वासवदत्ता का स्मरण करते हैं। वासवदत्ता की स्मृति में उदयन की आँखें डबडबा जाती हैं। विदूषक उनके मुँह धोने के लिए पानी लेने जाता है। इसी समय वासवदत्ता पद्मावती से कहती है कि तुम अपने पति के पास चली जाओ। विदूषक पानी लेकर आता है और दूसरी ओर से पद्मावती आ जाती है। विदूषक बात छिपा कर पद्मावती से कहता है कि कास के फूल का पराग गिर जाने से महाराज की आँखें आँसुओं से भर गयीं थीं इसलिए मैं मुखप्रक्षालन के लिए जल लेकर आया हूँ। पद्मावती मन ही मन हँसती हुई सोचती है कि उदार मन वाले व्यक्ति के सेवक भी उदार ही हैं। वह विदूषक के हाथ से पानी का दोना ले लेती है और स्वयं राजा के पास उसे ले जाती है। राजा पद्मावती को देखकर घबरा जाते हैं, फिर विदूषक के संकेत पर वे भी कास के फूल का पराग आँखों में गिर जाने का बहाना कर देते हैं। यहाँ चौथा अंक समाप्त हो जाता है। पाँचवें अंक में उदयन तथा वासवदत्ता को बताया जाता है कि पद्मावती शिरोवेदना के कारण रुग्ण है और उसकी शैया समुद्रगृह में लगायी गयी है। संयोग से पद्मावती समुद्रगृह में गयी ही नहीं, पर इस सूचना पर पहले उदयन और कुछ समय बाद आवंतिकावेशधारिणी वासवदत्ता उस महल में पहुँचते हैं। रात हो चुकी है। उदयन को विदूषक के मुख से एक कहानी सुनते-सुनते झपकी लग गयी है और विदूषक भी अपने ओढ़ने के लिए शाल लाने बाहर चला गया है। इसी समय वासवदत्ता समुद्रगृह में आती है। वह दीपक के मद्धिम प्रकाश में सोये उदयन को पद्मावती समझ बैठती है और स्नेह के कारण आधी खाली शैया पर लेट जाती है। इसी समय उदयन स्वप्न में वासवदत्ता को पुकारते हैं। वासवदत्ता पहले तो यह समझ कर घबरा जाती है कि उसके पति ने उसे पहचान लिया और यौगंधरायण की सारी योजना चौपट हो गयी। फिर वह देखती है कि उदयन सपना देख रहे हैं, तो वह पास खड़ी होकर उनका बड़बड़ाना सुनती है। सपने में उदयन वासवदत्ता से बातचीत करते हैं, और सचमुच की वासवदत्ता पास में खड़ी उनकी बातों का उत्तर देती है। उदयन का हाथ शैया से नीचे लटक गया है, वासवदत्ता उसे शैया पर रख कर जाने को होती है, तभी उदयन चौंक कर उठ बैठते हैं, और तेजी से जाती वासवदत्ता की झलक देखते हैं। इसी समय विदूषक लौट आता है। उदयन प्रसन्न होकर उसे बताते हैं कि वासवदत्ता जीवित है। विदूषक उन्हें विश्वास दिलाता है कि उन्होंने सपना देखा होगा। युद्ध की तैयारी की सूचना के साथ ही यहाँ पाँचवाँ अंक समाप्त हो जाता है। छठे अंक में उदयन आरुणि पर विजय प्राप्त करके अपनी राजधानी कौशांबी आ गये हैं।

अचानक एक दिन उनकी घोषवती नामक वीणा कहीं झाड़ियों में पड़ी मिल जाती है, जिससे उन्होंने वासवदत्ता को विवाह के पहले वीणा बजाना सिखाया था। वीणा को लेकर उदयन वासवदत्ता को याद करके विलाप करने लगते हैं। इसी समय वासवदत्ता के माता-पिता के द्वारा भेजे गये कंचुकी और धात्री वहाँ आते हैं और महाराज महासेन तथा उनकी रानी का संदेश सुनते हैं। वे वासवदत्ता और उदयन के चित्र भी देते हैं, जिनके द्वारा महासेन ने उज्जयिनी में दोनों का विवाह करा दिया था। पद्मावती वासवदत्ता के चित्र को देख कर चकित रह जाती है। वह उदयन को बताती है कि इस चित्र से बहुत साम्य रखने वाली एक स्त्री उसके साथ रहती है। इसी समय संन्यासी के वेष में यौगंधरायण प्रकट होता है और धरोहर के रूप में सौंपी गयी अपनी बहिन को वापस माँगता है। आवंतिकावेषधारिणी वासवदत्ता जो मगध से पद्मावती के ही साथ कौशांबी आ गयी थी, उसे लाया जाता है। धात्री वसुंधरा उसे पहचान लेती है और कह उठती है कि यह तो वासवदत्ता है। उदयन कहते हैं कि इन्हें भीतर ले जाओ। यौगंधरायण विवाद करने लगते हैं कि मेरी बहिन आप बलपूर्वक अपने रनिवास में कैसे रख सकते हैं। उदयन कहते हैं—जवनिका हटायी जाये। तब यौगंधरायण अपने वास्तविक रूप में प्रकट होकर सारी बात का स्पष्टीकरण देता है। और नाटक समाप्त होता है।

स्वप्नवासवदत्तम् का कथा संविधान कौतुक और नाटकीयता से भरपूर है। नाटकीय विडंबनाओं और विसंगति के अभिप्राय का अत्यंत मार्मिक उपयोग नाटक में भास ने यहाँ किया है। दर्शक तो प्रारम्भ में ही यौगंधरायण की सारी कूट योजना से अवगत हो जाते हैं, और वे आवंतिका के वेष में नाटक की नायिका वासवदत्ता को आद्यंत पहचानते रहते हैं। पर पद्मावती नहीं जानती कि जिसे साधारण स्त्री बताकर धरोहर के रूप में उसे सौंपा जा रहा है, वह कौशांबी की महारानी वासवदत्ता है और यही नहीं, आगे चल कर वह उसकी सौत बनने जा रही है। नाटक के चौथे और पाँचवें अंक तो नाट्यकला और भावजगत् की रचना में अद्वितीय ही हैं।

प्रतिज्ञायौगंधरायण

यह चार अंकों का रूपक है। कथानक की दृष्टि से इसे स्वप्नवासवदत्तम् का पूर्वार्ध भी कहा जा सकता है। इसकी कथा इस प्रकार है—राज उदयन मृगया के लिए जाते हैं। वन में एक आगंतुक उन्हें बताता है कि एक कोस दूर नील हस्ती है। राजा अपने मंत्री रुमण्वान् के रोकते रहने पर भी नील हस्ती को पकड़ने के लिए चल पड़ते हैं। उदयन वीणा के श्रेष्ठ आचार्य हैं और वे हाथियों को वीणा के राग से ही वश में कर लेते हैं। पर जिसे नील हस्ती बताया गया था, वह वास्तविक हाथी नहीं था। वह लोहे का बना हुआ यांत्रिक हाथी था। वह आगे बढ़ता गया और उदयन वीणा बजाते हुए पीछे चलते गये। एकांत होने पर कृत्रिम हाथी का पेट खोलकर सैनिक निकले और उन्होंने राजा से युद्ध करते हुए उसे पकड़ लिया। ये सैनिक उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के थे। प्रद्योत का दूसरा नाम महासेन या चंडप्रद्योत भी था। वह बड़ा प्रतापी राजा था। वह अपनी बेटी वासवदत्ता का विवाह राजा उदयन के साथ करना चाहता था, पर उदयन को अपने उच्च कुल का बड़ा अभिमान था, और महासेन को भय था कि वे उसकी पुत्री से

विवाह के प्रस्ताव को ठुकरा देंगे। इसलिए उसने उदयन को छल से पकड़वा लिया था। महासेन ने उदयन को अपने प्रासाद में बंदी बना लिया और राजकुमारी वासवदत्ता उदयन से वीणा सीखने के लिए प्रतिदिन उनके पास आने लगी। दोनों में प्रेम हो गया। इधर उदयन के मंत्री यौगंधरायण ने प्रतिज्ञा की कि वह अपने राजा को महासेन के कारागार से छुड़ा कर लायेगा। इसके लिए उसने कूट योजना बनायी और वह वेष बदल कर मंत्री रुमण्वान् और विदूषक के साथ उज्जयिनी पहुँच गया। यौगंधरायण स्वयं उन्मत्तक (पागल) व रुमण्वान् द्वारपाल का वेष धरता है। उज्जयिनी में ये कारागार तक एक सुरंग खोदकर उदयन से संपर्क करते हैं और उन्हें कारागार से छुड़ाने का प्रयास करते हैं। उदयन कहते हैं कि वे वासवदत्ता से प्रेम करते हैं, और उसे साथ लेकर ही कारागार से भागेंगे, अकेले नहीं। तब यौगंधरायण दूसरी प्रतिज्ञा करता है कि वह राजकुमारी वासवदत्ता के साथ अपने राजा को कारागार से बाहर निकालेगा। इसके लिए महासेन के नलागिरि हाथी को सुरा पिला कर मदमत्त कर दिया जाता है। हाथी पागल होकर सड़क पर भाग निकलता है। उदयन हाथी को वश में करने वाला राग बजाना जानते हैं। इसलिए विवश होकर महासेन उन्हें कारागर से बाहर निकालता है। यौगंधरायण की कूट योजना के अनुसार उदयन और वासवदत्ता भाग निकलते हैं, महासेन की सेना यौगंधरायण के पक्ष के लोगों को घेर लेती है और युद्ध छिड़ जाता है। यौगंधरायण पकड़ा जाता है, पर महासेन दंड के स्थान पर उसे उल्टे पुरस्कार देते हैं।

नाटकीय संविधान की दृष्टि से 'प्रतिज्ञायौगंधरायणम्' विश्वनाट्यसाहित्य में अपने ढंग का अनोखा रूपक है। यह ऐसा नाटक है जिसमें नायक और नायिका का मंच पर कहीं भी प्रवेश होता ही नहीं, फिर भी वे दोनों पूरे नाटक में छाये हुए हैं, क्योंकि सारा कार्य व्यापार उनके लिए और लगातार उन्हीं की चर्चा के साथ चलता है। नाटक पढ़ते हुए या देखते हुए हम निरन्तर उनकी उपस्थिति का अनुभव करते हैं। इस प्रकार का अन्य कोई रूपक नहीं मिलता जो मुख्य पात्रों की सशरीर उपस्थिति के बिना उनकी उपस्थिति का गहरा बोध दे सके। प्रतिज्ञायौगंधरायण की दूसरी विशेषता उसकी अत्यन्त सुगठित व सुसंबद्ध वस्तुयोजना है। पहले अंक के आरम्भ में ही राजा उदयन को छल से पकड़ लिये जाने की सूचना मंत्री यौगंधरायण को मिलती है, और यौगंधरायण अपने राजा को छुड़ाने की प्रतिज्ञा करता है। इसके आगे पूरे नाटक के घटनाचक्र का सूत्रधार यौगंधरायण बना रहता है, और यौगंधरायण जो कुछ करता है, उदयन को कारागार से छुड़ाने के लिए करता है। अपने सांकेतिक या गूढ़ अभिप्रायगर्भित छोटे-छोटे संवादों, उन्मत्तक के वेश में द्व्यर्थक एकालाप की योजना व हास्य की अनूठी सृष्टि के कारण भी प्रतिज्ञायौगंधरायण एक सफल रूपक है। वीर रस की भी इस नाटक में विशिष्ट रूप में ही अवतारणा की गयी है। एक समीक्षक के मत में वीर रस का यदि एक भेद प्रतिज्ञावीर मान लिया जाये, तो इस नाटक में यौगंधरायण की चरितगाथा वीररस की इसी नयी कोटि का निदर्शन है। घटनाक्रम का बार-बार अप्रत्याशित रूप में नयी दिशा में मुड़ जाना दर्शकों में कौतूहल बनाये रखता है।

अभिनेयता—रंगमंच की दृष्टि से प्रतिज्ञायौगंधरायण संस्कृत के सर्वाधिक लोकप्रिय रूपकों में एक कहा जा सकता है। केरल में कूडियाट्यम् शैली में चाक्यारों के द्वारा इसके अभिनय की परम्परा प्राचीन है।

प्रतिज्ञायौगंधरायण किस कोटि का रूपक है—यह प्रश्न नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर असमाधेय ठहरता है। इसे नाटिका, नाटक, ईहामृग या प्रकरण इन चार रूपक विधाओं में रखा जाता रहा है, पर किसी के भी लक्षण इसमें पूरे नहीं उतरते।

दरिद्रचारुदत्त

यह चार अंकों का अपूर्ण रूपक है। शूद्रक-कृत मृच्छकटिक के प्रथम चार अंकों के लगभग सभी संवादों और कथायोजना का इस रूपक से साम्य है। या तो किसी परवर्ती कवि ने मृच्छकटिक के प्रथम चार अंकों को सरल बना कर उनमें राजनीति से संबद्ध कथांश निकाल कर अभिनये आलेख तैयार किया अथवा मृच्छकटिककार ने इस रूपक को आधार बनाकर एक बड़ा प्रकरण लिखा—यह भी संभव है। प्रथम अंक में नायक चारुदत्त अपनी दरिद्रता पर खेद प्रकट कर रहा है। बाहर सड़क पर वसंतसेना गणिका का शकार और विट पीछा कर रहे हैं। इसी समय चारुदत्त के घर से दासी रदनिका तथा विदूषक बाहर निकलते हैं। खुले द्वार से वसंतसेना चारुदत्त के घर में प्रवेश कर जाती है। शकार दासी रदनिका को वसंतसेना समझ कर पकड़ लेता है। वसंतसेना अपने आभूषण धरोहर के रूप में चारुदत्त के पास छोड़ कर विदूषक के साथ अपने घर चली जाती है। यहाँ पहला अंक समाप्त हो जाता है, दूसरे अंक का आरम्भ जुआरियों के दृश्य से होता है। वसंतसेना जुआरियों के द्वारा प्रताड़ित किये जा रहे संवाहक को अपने पास से धन दे कर बचाती है क्योंकि वह चारुदत्त की सेवा कर चुका है। यह संवाहक बौद्ध भिक्षु हो जाता है, और उसे वसंतसेना का ही एक चेट पागल हाथी के आक्रमण से बचाता है। तीसरे अंक में सज्जलक, जिसका नाम मृच्छकटिक में शर्विलक है, चारुदत्त के घर में चोरी करने घुसता है और वसंतसेना के द्वारा धरोहर के रूप में दिये गये आभूषण चुरा लेता है। अन्तिम अंक में वसंतसेना चारुदत्त के पास अभिसार के लिए जाने को तैयार होती है।

अविमारक

यह छह अंकों का नाटक है। इसका नायक राजकुमार अविमारक है, जो ऋषि के शाप से अंत्यज बन गया है। अविमारक का वास्तविक नाम विष्णुसेन है। वह काशीराज की रानी सुदर्शना का पुत्र है, जिसे शैशव में ही माता ने अपनी बड़ी बहिन तथा सौवीरराज की पत्नी सुचेतना को सौंप दिया था। चंडभार्गव ऋषि के शाप से सौवीरराज सपरिवार एक वर्ष के लिए चांडाल हो जाते हैं। और वे कुंतिभोज की नगरी में प्रच्छन्न होकर निवास करने लगते हैं। एक बार कुंतिभोज की कन्या कुरंगी को अविमारक मतवाले हाथी के हमले से बचाता है। दोनों एक दूसरे के प्रणयपाश में बँध जाते हैं। अविमारक छिप-छिप कर राजकुमारी से मिलने लगता है। दोनों गांधर्व विवाह कर लेते हैं। सौवीरराज को इस बात की सूचना मिलती है, तो वे अविमारक को

पकड़वाने का प्रयास करते हैं। अविमारक भाग निकलता है और दुखी होकर प्राण त्यागने का निश्चय कर लेता है। तभी एक विद्याधर कृपा करके उसे एक ऐसी अँगूठी देता है, जिसे बायें हाथ में पहनने पर तो पहनने वाला दिखायी पड़ता है, पर दाहिने हाथ में उसे पहनते ही वह अदृश्य हो जाता है। विद्याधर अविमारक को एक जादुई तलवार भी देता है। अविमारक इन दोनों वस्तुओं के प्रभाव से अपनी प्रिया के पास पहुँच जाता है और उसे आत्महत्या से बचाता है। अंत में अविमारक की वास्तविकता का पता चलने पर सौवीरराज उसके द्वारा अपनी पुत्री के साथ किये गये गांधर्व विवाह को मान्य कर देते हैं।

यह रूपक आद्यंत विचित्र घटनाओं के ताने-बाने में बुना हुआ है। लोककथाओं के बहुविध अभिप्राय इसमें संक्रान्त हुए हैं। अविमारक कौन है, यह प्रथम अंक में रहस्य बना रहता है, दूसरे अंक में विदूषक के कथनों से अविमारक की वास्तविकता का आभास तो होता है, पर उसका इतिहास चौथे अंक में विद्याधर के संवाद से ही दर्शकों को विदित हो पाता है। इसमें शृंगार रस की प्रधानता है, जिसके साथ अद्भुत रस ने कथा में चमत्कार ला दिया है।

महाभारताश्रित रूपक

मध्यमव्यायोग, दूतवाक्यम्, कर्णभार, दूतघटोत्कच, ऊरुभंग एक-एक अंक के रूपक हैं। इनमें से उरूभंग तो उत्सृष्टिकांक है और मध्यमव्यायोग व्यायोग कोटि का रूपक है। शेष दूतवाक्य तथा दूतघटोत्कच पर आंशिक रूप से व्यायोग के ही लक्षण चरितार्थ होते हैं और कर्णभार की रूपक कोटि अनिर्धारित है। पंचरात्रम् तीन अंकों का समवकार है।

मध्यमव्यायोग अभिनेयता, कथानक की नयी परिकल्पना, कौतुकी वृत्ति की सफल निष्पत्ति और वीर के साथ हास्य रस का विलक्षण संयोग प्रस्तुत करता है। इसमें मुख्य पात्र तो महाभारत के हैं, पर जो प्रसंग इसमें चित्रित है, वह महाभारत में प्राप्त नहीं होता। केशवदास नामक ब्राह्मण अपने परिवार के साथ वन में जा रहा है। घटोत्कच मार्ग में इस परिवार को रोक लेता है और अपनी माँ हिडिंबा के व्रत की पारणा के लिए एक व्यक्ति को सौंप देने के लिए कहता है। केशवदास स्वयं उसके साथ चलने को तैयार हो जाता है, पर घटोत्कच कहता है कि बूढ़ा व्यक्ति नहीं चाहिये। उसकी पत्नी के लिए भी वह स्त्री होने के कारण मना कर देता है। तब उसके तीन पुत्रों में प्रत्येक अपने आप को बलि के लिए अर्पित करने का प्रस्ताव करता है। केशवदास ज्येष्ठ पुत्र को नहीं सौंपना चाहता, और माता अपने कनिष्ठ पुत्र को रोकती है, तब मध्यम (मँझला) पुत्र घटोत्कच के साथ चलने को तैयार होता है। जाने के पहले वह पानी पीने के लिए सरोवर जाता है, और उसके देर लगाने पर घटोत्कच ब्राह्मण से उसका नाम पूछ कर 'मध्यम, मध्यम' कह कर उसे पुकारता है। भीमसेन जो पांडवों में मध्यम हैं, और पास ही व्यायाम कर रहे होते हैं, इस पुकार को अपने लिए समझ कर वहाँ आ जाते हैं। केशवदास भीमसेन को पहचानकर उनसे अपने परिवार की रक्षा करने की प्रार्थना करता है। भीमसेन उसे अभय देते हैं। वे घटोत्कच को पहचान लेते हैं। पर घटोत्कच अपने पिता को नहीं पहचान पाता।

भीमसेन उसके साथ विनोद करते हुए ब्राह्मणकुमार को छोड़ देने का अनुरोध करते हैं। घटोत्कच कहता है कि ब्राह्मणकुमार की रक्षा ही करना चाहते हो, तो तुम उसके स्थान पर चले चलो। भीमसेन उसे हँसी-हँसी में चुनौती देते हुए कहते हैं कि मुझसे युद्ध करके मुझे पकड़ कर ले चलो, घटोत्कच उनसे भिड़ जाता है, पर उसके सारे प्रहार निष्फल होते हैं। अंत में हार कर वह भीमसेन को उनके वचन का स्मरण दिला कर साथ चलने के लिए कहता है। दोनों हिडिंबा के सामने पहुँचते हैं। भीमसेन को देखकर हिडिंबा चकित रह जाती है और घटोत्कच को इसकी भूल का बोध करा कर क्षमा माँगने को कहती है।

पंचरात्र समवकार का आरम्भ दुर्योधन के यज्ञानुष्ठान के प्रसंग से होता है। यज्ञ की समाप्ति पर दुर्योधन गुरुजनों को प्रणाम करता हुआ उन्हें दक्षिणा देना चाहता है। द्रोणाचार्य दक्षिणा नहीं लेते, जबकि दुर्योधन गुरुभक्ति से भावित होकर अपना सर्वस्व उन्हें दान देने को तत्पर है। द्रोणाचार्य की आँखों में आँसू आ जाते हैं, और वे अपने लिए कुछ न माँग कर पांडवों के लिए आधा राज्य माँगते हैं—"त्वं पाण्डवानां कुरु संविभागमेषा च भिक्षा मम दक्षिणा च!" भीष्म द्रोण के अनुरोध का समर्थन करते हैं, पर शकुनि दुर्योधन को अपना पाठ पढ़ाता हुआ द्रोण और भीष्म की बात न मानने की सलाह देता है। कर्ण पांडवों को आधा राज्य देने की बात का समर्थन करता है। तब शकुनि सुझाता है कि दुर्योधन द्रोण से यह कहे कि अज्ञातवास पर रहने वाले पांडवों का पता यदि पाँच रात्रियों के भीतर लगा दें, तो वह पांडवों को आधा राज्य सौंप देगा। भीष्म के परामर्श से द्रोणाचार्य पाँच दिन और पाँच रात के भीतर पांडवों का पता लगाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लेते हैं। उसी समय विराट का दूत आता है। वह विराट का संदेश देता है, जिसमें विराट ने कीचक का वध हो जाने के कारण दुर्योधन के यज्ञ में न आ पाने की अपनी विवशता प्रकट की है। भीष्म कहते हैं कि विराट बहाना बना रहा है, वह कौरवों के प्रति शत्रुता के कारण यज्ञ में सम्मिलित नहीं हुआ। पांडव छद्मवेश में विराट के नगर में रह रहे हैं—इस बात का कौरवों में से किसी को भी अनुमान नहीं है। कौरव विराट की गायों का हरण करने की योजना बनाते हैं।

इसके पश्चात् कौरवों का विराट के पक्ष से युद्ध छिड़ जाता है। इस युद्ध में बृहन्नला वेशधारी अर्जुन विराट की ओर से युद्ध करता है। कौरव पक्ष की पराजय होती है, केवल अभिमन्यु उनकी ओर से अंत तक युद्ध करता रहता है, जिसे निहत्था भीम रथ से उतार कर विराट की सभा में ले आता है। अंत में पांडव अपना छद्म वेश उतार कर वास्तविक परिचय देते हैं। विराट अपनी बेटी उत्तरा का विवाह अर्जुन के साथ करने का प्रस्ताव रखते हैं, अर्जुन कहते हैं कि शिष्या होने के कारण वे उत्तरा को पुत्री के रूप में देखते रहे हैं, और वे अभिमन्यु के हाथ में उत्तरा का हाथ देने का प्रस्ताव करते हैं। उधर कौरव पक्ष में विवाद छिड़ जाता है कि अभिमन्यु को उठा कर ले जाने वाला हो न हो भीम ही है, तभी दुर्योधन के रथ की ध्वजा काटने वाले तीर पर अर्जुन का नाम अंकित है यह बात पता चलने पर द्रोण कहते हैं कि उन्होंने पाँच रातों में पांडवों का पता लगा लिया है। फिर भी दुर्योधन और शकुनि उनकी बात नहीं मानते।

तभी अभिमन्यु के विवाह में सम्मिलित होने के लिए युधिष्ठिर का निमंत्रण लेकर एक दूत उनके पास आता है। द्रोण दुर्योधन को उसके वचन का स्मरण दिलाते हैं। दुर्योधन अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार पांडवों को उनका आधा राज्य लौटाने पर सहमत हो जाता है।

'पञ्चरात्रम्' में वर्णित कौरवों का विराट की गायों का अपहरण और युद्ध की घटना महाभारत में मिलती है। पर दुर्योधन की पांडवों को आधा राज्य लौटा देने की प्रतिज्ञा और आधा राज्य सचमुच में लौटा देने को तत्पर हो जाना यह प्रसंग सर्वथा नया ही है।

'दूतवाक्यम्' में महाभारत युद्ध के पूर्व श्रीकृष्ण पांडवों की ओर से संधि का प्रस्ताव लेकर दुर्योधन के पास जाते हैं। दुर्योधन उन्हें हर प्रकार से अपमानित करना चाहता है। वह इसके लिए द्रौपदी के वस्त्रापहरण का चित्र अपने सामने और भरी सभा के बीच रखवा लेता है, और कहता है कि कृष्ण के प्रवेश करने पर कोई खड़ा नहीं होगा। पर कृष्ण के आते ही सारे सभासद हड़बड़ा कर खड़े हो जाते हैं, दुर्योधन स्वयं संरम्भ में पड़ कर आसन से नीचे गिर जाता है। इसके पश्चात् दुर्योधन तथा कृष्ण के बीच आक्षेप और उपालंभ से भरे ओजस्वी संवाद होते हैं। दुर्योधन कृष्ण के द्वारा प्रस्तुत संधि का प्रस्ताव अस्वीकार कर देता है और कृष्ण जाने लगते हैं, तो वह उन्हें बंदी बनाने का आदेश दे देता है, जब कृष्ण के तेज के कारण कोई उन्हें बाँधने को आगे नहीं बढ़ता, तो दुर्योधन स्वयं उन्हें बाँधने का प्रयास करता है। कृष्ण अपना विश्वरूप प्रकट करते हैं और इसी समय उनके आयुध सुदर्शन चक्र, शार्ङ्ग धनुष, कौमोदकी गदा, पांचजन्य शंख, नंदक असि और गरुड वहाँ मानव-रूप में उपस्थित हो जाते हैं। अंत में धृतराष्ट्र और गांधारी आकर कृष्ण से क्षमा माँगते हैं।

कर्णभार का नायक कर्ण है। अर्जुन के संग्राम के लिए जाते हुए कर्ण अपने सारथि शल्य को परशुराम से मिले शाप का वृत्तांत बताता है। इसी समय इंद्र ब्राह्मण का वेश धर कर उसे ठगने आ पहुँचते हैं। कर्ण अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए अपने कवच और कुंडल उन्हें दे देता है।

दूतघटोत्कच में महाभारतीय संग्राम के समय अभिमन्यु के वध के पश्चात् कृष्ण के आदेश से घटोत्कच के धृतराष्ट्र के पास दूत बन कर जाने की घटना का चित्रण है। घटोत्कच शांति और संधि का आह्वान करता है, पर कौरवपक्षीय लोग उसका उपहास करते हैं।

उरुभंग में महाभारत के युद्ध के अवसान का प्रसंग है। दुर्योधन कौरव पक्ष में अकेला बचा है। भीम के साथ उसका गदायुद्ध हो रहा है। दुर्योधन भीम पर भारी पड़ता है और भीम को गिरा देता है। इसी समय कृष्ण भीम को उसकी ऊरु (जाँघ) पर प्रहार करने का संकेत करते हैं। ऊरु का भंग हो जाने पर दुर्योधन गिर पड़ता है। भीम के द्वारा गदायुद्ध के नियम तोड़ कर छल से दुर्योधन को गिरा देने से बलराम क्रुद्ध हो जाते हैं और वे भीम को मार डालना चाहते हैं। दुर्योधन अपना अंतिम समय निकट जान कर घिसटता हुआ उनके पास आता है और प्रणाम करके कहता है कि पांडवों को मत मारिये—"जीवन्तु ते कुरुकुलस्य निवापमेघा:"—कुरुकुल को तिलांजलि देने के लिए पांडव ही

बचे हैं, तो ये जीवित रहें! बलराम कहते हैं कि मैं पांडवों को मारकर पृथ्वी का राज्य तुम्हें दे दूँगा। दुर्योधन कहता है—भीम ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली। मेरे सारे भाई मारे गये और मैं भी मरने वाला हूँ। मैं अब पृथ्वी के राज्य का क्या करूँगा? बलराम कहते हैं कि तुम्हें छल से पराजित किया गया है। यह सुन दुर्योधन आनंदित हो जाता है और कहता है—यदि आप ऐसा मानते हैं तब तो मैं हार कर भी नहीं हारा। तभी धृतराष्ट्र और गांधारी दुर्योधन की पत्नियों और उसके बेटे दुर्जय को लेकर वहाँ आते हैं। शिशु दुर्जय अपने पिता की गोद में चढ़ना चाहता है। दुर्योधन की स्थिति देखकर धृतराष्ट्र, गांधारी उसकी पत्नियाँ विलाप करने लगते हैं। दुर्योधन सब को संदेश देता है कि अब वैर भुला दें। इसी समय अश्वत्थामा वहाँ आता है। वह वाणी मात्र से दुर्जय का अभिषेक करके पांडवों का वध करने की प्रतिज्ञा करके चल देता है और दुर्योधन की मृत्यु हो जाती है।

उरुभंग में करुण रस प्रधान है। दुर्योधन के चरित्र का अत्यंत उज्ज्वल और प्रभावशाली रूप यहाँ अंकित है, जो अपनी मृत्यु के समय अपनी उदात्तता और मनुष्य की गरिमा को जिस मार्मिक रूप में प्रस्तुत करता है, वह भारतीय साहित्य में अप्रतिम ही है।

रामायणाश्रित नाटक

प्रतिमा तथा अभिषेक इन दोनों नाटकों के द्वारा भास ने रामायण की सम्पूर्ण कथा को नाटकीय स्वरूप में विन्यस्त किया है।

प्रतिमा नाटक में सात अंक हैं। इसका आरम्भ राम के राज्याभिषेक की तैयारी से होता है। दशरथ की राजसभा के नाट्यदल को आदेश दिया जाता है कि वे राज्याभिषेक के उत्सव में किसी अवसरोचित नाटक की प्रस्तुति के लिए तैयार रहें। अवदातिका नामक एक चेटी कौतुकवश नाट्यदल की वेशभूषा के संग्रह से एक वल्कल वस्त्र उठा लाती है। सीता चेटी के हाथ में वल्कल देखती हैं, तो हँसी-हँसी में उसे पहन लेती हैं। इसी समय उन्हें बताया जाता है कि राम का अभिषेक होने ही वाला है। मंगल वाद्यों की ध्वनि आती है। अचानक मंगल वाद्य बंद हो जाते हैं। राम को सूचित किया जाता है कि कैकेयी ने शुल्क में भरत के लिए सारा राज्य माँग लिया है। इसी समय लक्ष्मण क्रुद्ध होकर वहाँ आते हैं, और दशरथ को बुरा-भला कहते हुए धनुष उठाकर युद्ध करने को तत्पर हो जाते हैं। राम उन्हें समझाते हैं। राम सीता के हाथ से वल्कल लेकर उसे पहन कर वन को प्रस्थान करते हैं। लक्ष्मण और सीता भी उनके साथ चल पड़ते हैं। दशरथ विलाप करते हुए कहते हैं—

सूर्य इव गतो रामः सूर्य दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः।
सूर्यदिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता॥

(राम सूर्य की तरह चले गये, सूर्य के पीछे जैसे दिन चला जाता है, उसी तरह लक्ष्मण भी चले गये। सूर्य और दिन के चले जाने पर जैसे छाया भी नहीं दिखती ऐसे ही सीता भी नहीं दिख रही है।)

विलाप करते हुए दशरथ की मृत्यु हो जाती है। उनकी प्रतिमा उस मंदिर में लगा दी जाती है, जहाँ रघुकुल के दिवंगत राजाओं की मूर्तियाँ लगी हुई हैं। भरत चिरकाल तक अपने मामा के घर रह कर लौट रहे हैं। वे अयोध्या में प्रवेश करने के पहले इस मंदिर में रुकते हैं। देवकुलिक (पुजारी) उन्हें बताता है कि मंदिर में रघुकुल के दिवंगत राजाओं—दिलीप, रघु, अज और दशरथ की प्रतिमाएँ हैं। इसी से भरत को अपने पिता के निधन का पता चलता है। उनकी तीन माताएँ भी इसी समय वहाँ आ जाती हैं। भरत कैकेयी को बुरा-भला कह कर अभिषेक की सामग्री साथ लेकर राम को लौटाने के लिए वन की ओर प्रस्थान कर देते हैं। राम वन से वापस आने को तैयार नहीं होते, और भरत भारी मन से उनकी चरण पादुका लेकर लौट आते हैं।

राम को अपने पिता का श्राद्ध करना है। उसी समय सीता का हरण करने के लिए संन्यासी के वेष में रावण वहाँ आता है। वह राम को परामर्श देता है कि हिमालय पर रहने वाले कांचनपार्श्व नामक मृग से श्राद्ध में पितृतर्पण करना उत्तम होता है। राम हिमालय जाने को तैयार होते हैं, उसी समय मारीच स्वर्ण मृग बन कर वहीं आ जाता है। रावण कहता है—हिमालय ने आपके लिए कांचनपार्श्व मृग स्वयं भेज दिया। इसके पश्चात् सीता-हरण तथा जटायु से युद्ध का दृश्य है। छठे अंक में सुमंत्र राम का वृत्तांत पता लगा कर अयोध्या लौट कर भरत को राम का जनस्थान से किष्किंधा जाना, सुग्रीव से भेंट और बालिवध की घटनाएँ सूचित करते हैं। भरत कैकेयी के पास जाकर कहते हैं—तुम्हारे आदेश से मेरे जो अग्रज अपना राज्य छोड़ कर वन चले गये, उनकी पत्नी सीता का हरण हो गया—अब तो तुम्हारा मनोरथ पूरा हुआ। तब कैकेयी अपने को निरपराध सिद्ध करती हुई कहती है कि तुम्हारे पिता को शाप मिला था कि पुत्र-शोक से उनकी मृत्यु होगी, इसलिए ऋषि-वचन मिथ्या न हो इसके लिए मैंने राम को वन में भेजा। भरत पूछते हैं कि चौदह वर्ष के लिए वनवास क्यों दिलवाया, तो वह कहती है कि मैं केवल चौदह दिन का वनवास कहना चाहती थी, पर भूल से मुँह से चौदह वर्ष निकल गया। भरत को विश्वास हो जाता है कि उनकी माता निरपराध है। फिर वे राम की सहायता के लिए सैना तैयार करके रावण से युद्ध करने को निकल पड़ते हैं। सातवें अंक में जनस्थान में राम का भरत से पुनः मिलन हो जाता है।

नियति के घात-प्रत्याघात, भावों की सम्मिश्र स्थितियों और राम तथा भरत के चरित्रों की महनीय प्रस्तुति के कारण प्रतिमा एक प्रभावशाली नाटक है। प्रतिमा नाटक में भास ने अपनी कल्पना से रामायण की कथा में अनेक मनोहर प्रसंग जोड़े हैं। सीता के द्वारा खेल-खेल में वल्कल पहन लेना और उसके कुछ क्षण बाद ही सचमुच में उनका राम के साथ वल्कल पहन कर वन-प्रस्थान का प्रसंग आकस्मिकता और नाटकीयता में अत्यंत हृदयावर्जक है। भास के अनुसार भरत अपने जन्म के बाद से मामा के यहाँ ही रहे हैं, अतः वे अपने भाइयों को नहीं पहचानते। मंदिर में दशरथ की प्रतिमा देख कर उन्हें अयोध्या में हुई घटनाओं का पता चलने का प्रसंग इस नाटक में अत्यंत मार्मिक है।

देवकुलिक भरत को नहीं पहचानता। भरत अपने पिता की मूर्ति देखकर उनके निधन की बात जानते हैं और मूर्च्छित हो जाते हैं, उसी समय कौसल्या आदि वहाँ आती हैं, और वे मूर्च्छित राजकुमार को देखती हैं, पर वे नहीं जानतीं कि ये भरत हैं।

अभिषेक नाटक को प्रतिमा का पूरक कहा जा सकता है। प्रतिमा में रामकथा के जो प्रसंग छूट गये हैं उन्हें लेकर सीताहरण के बाद से राम-राज्याभिषेक तक की कथा इस नाटक में प्रस्तुत की गयी है। पहले अंक में सुग्रीव और बालि का युद्ध तथा राम के द्वारा बालिवध का प्रसंग है। इसके पश्चात् हनुमान् के द्वारा सीतान्वेषण, लंका पहुँचना, अशोकवाटिका में रावण और सीता का वार्तालाप सुनना तथा सीता से उनकी भेंट का प्रसंग चित्रित है।

छठे अंक में सीता की अग्निपरीक्षा का प्रसंग है। यह नाटक वीर रस से परिपूर्ण है। पहले, पाँचवें तथा छठे अंकों में युद्ध के वर्णन हैं।

बालचरित

यह रूपक श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं को प्रस्तुत करता है। प्रथम अंक में कारागार में कृष्ण का जन्म तथा वसुदेव का यमुना को पार करके उन्हें नंद गोप के घर लेकर जाना चित्रित है। गरुड, सुदर्शन चक्र आदि प्रकट हो कर बालरूपधारी विष्णु के समक्ष संवाद करते हैं। दूसरे अंक में आततायी कंस के समक्ष चांडाल युवतियाँ प्रवेश करके कहती हैं कि हमारी कन्याओं से तुम्हारा विवाह हो। फिर चांडालरूपधारी शाप कंस के घर में प्रवेश करता है। इसके पश्चात् कंस को देवकी की आठवीं संतान कन्या के रूप में उत्पन्न होने की सूचना मिलती है, जिसे वह शिला पर पटक कर मारना चाहता है। कन्या कात्यायनी बन कर सपरिवार कंस के सामने प्रकट हो जाती है। उसके सहायक भी कंस को मारने की प्रतिज्ञा करते हुए वृंदावन में ग्वाले बन कर जन्म लेने का निश्चय करके चले जाते हैं। तीसरे अंक में कृष्ण के द्वारा अनेक असुरों का वध करने की चर्चा के पश्चात् गोपियों के साथ हल्लीसक नृत्य का आयोजन प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् कालियमर्दन तथा कंस के द्वारा निमंत्रण का दृश्य है। अंत में कंसवध के पश्चात् उग्रसेन के राज्याभिषेक के साथ नाटक समाप्त होता है।

चांडाल कन्याओं के रूप में अतिप्राकृत तत्त्व का प्रयोग तथा सुदर्शन चक्र आदि आयुधों का मानव-रूप में प्रवेश इस रूपक के संविधान की अनोखी विशेषताएँ हैं। वीर और अद्भुत रसों की निरन्तर व्याप्ति तथा असाधारण पराक्रम के चित्रण के कारण भी यह नाटक उल्लेख्य है।

भास की नाट्यकला

कथासंविधान में घटनाओ की आकस्मिकता के द्वारा भास सदैव अपने प्रेक्षकों की कौतुकी वृत्ति को जगाये रखते हैं। स्वप्नवासवदत्तम् का आरम्भ संन्यासी के छद्म वेश में यौगंधरायण और साधारण स्त्री के वेश में वासवदत्ता के प्रवेश से होता है। दर्शक इन दोनों की बातचीत से यह तो जान जाता है कि संन्यासी बना हुआ पात्र वास्तव में

एक मंत्री है, और साधारण स्त्री के वेष में वन में भटक रही स्त्री वस्तुतः नाटक की नायिका महारानी वासवदत्ता है। पर ये क्यों इस स्थिति में भटक रहे हैं, यह कौतुक बना रहता है। अचानक घटनाचक्र नया मोड़ ले लेता है, जब संन्यासी बना यौगंधरायण देखता है कि जिस राजकुमारी पद्मावती से मिलने के लिए निकले थे, वह तो यहीं तपोवन में आ रही है। पद्मावती घोषणा कराती है कि तपोवन के मुनियों को यदि कुछ वस्तु चाहिये हो तो निस्संकोच बतायें। यौगंधरायण को तत्काल उपाय सूझ जाता है। वह पद्मावती से वासवदत्ता को अपनी दुखियारी बहन बता कर धरोहर के रूप में रखने की याचना कर बैठता है। वासवदत्ता भी इस आकस्मिक प्रसंग से चकरा जाती है और दर्शक तो यहाँ साँस बाँधे रह ही जाते हैं, कि अब क्या होगा? इसके बाद ब्रह्मचारी का प्रवेश करा कर भास ने पहले घट चुकी घटनाओं की एक झलक उसके संवादों के द्वारा दे दी है। दूसरे अंक में वासवदत्ता और पद्मावती कंदुक-क्रीड़ा कर रही हैं इसी समय धात्री के द्वारा सूचना मिलती है कि पद्मावती का राजा उदयन के साथ वाग्दान कर दिया गया है। तीसरे अंक में पद्मावती और उदयन का विवाह हो जाता है।

भास की नाट्यकला की दूसरी दुर्लभ विशेषता नाट्यविडंबना (Dramatic Irony) का उत्कृष्ट प्रयोग है। भास रंगमंच पर कुछ ऐसे पात्रों का समूह उपस्थित करते हैं, जिनमें से कोई पात्र दूसरे पात्र को नहीं पहचानता, जब कि दूसरा पात्र पहले वाले पात्र को पहचानता है। 'स्वप्नवासवदत्तम्' के पहले अंक में ब्रह्मचारी बता रहा है कि लावाणक गाँव में किस तरह आग लग जाने से रानी वासवदत्ता जल कर मर गयी और उसे बचाने के लिए आग में कूद पड़ने वाला मंत्री यौगंधरायण भी जल कर मर गया, जब कि छद्मवेष में यौगंधरायण और वासवदत्ता उसी के सामने खड़े यह सब सुन रहे हैं। ब्रह्मचारी जब बताता है कि लावाणक ग्राम में शिविर में आग लग गयी और महाराज उदयन की प्रिय रानी वासवदत्ता उसमें जल गयी, तो आवंतिका के वेश में वहीं खड़ी वासवदत्ता मन ही मन कह उठती है—'मैं अभागिनी तो जीवित हूँ!' इसी प्रकार, जब वह आगे कहता है कि उस रानी को बचाने के लिए राजा का मंत्री यौगंधरायण भी उस आग में कूद पड़ा, तो उसकी कथा सुनते हुए संन्यासी के वेष में यौगंधरायण कहता है—"सचमुच कूद पड़ा!" दर्शक जो यौगंधरायण और वासवदत्ता के भेद को जानते हैं, वे वार्तालाप में अलग ही रस लेते हैं। पात्रों में से एक तो दूसरे को पहचानता है, पर दूसरा पहले को नहीं पहचानता, जब दर्शक दोनों की वास्तविकता से अवगत हैं—यह स्थिति भास के नाटकों में बार-बार आती है और इसके कारण अत्यंत रोचक संवादों की मनोहारी लड़ियाँ भास गूँथते हैं। प्रत्यभिज्ञा (पहचान) के अभिप्राय का कुशल उपयोग करते हुए कहीं अत्यन्त मधुर शिष्ट हास्य तो कहीं वेदना और व्यथा का विलक्षण अनुभव देने में भास सिद्धहस्त हैं। मध्यमव्यायोग में भीम की अपने बेटे घटोत्कच से मुठभेड़ हो जाती है। भीम उसका परिचय प्राप्त करके उसे पहचान लेते हैं, और घटोत्कच अपने पिता को न पहचानता हुआ इनसे उलझ पड़ता है, और द्वंद्वयुद्ध भी करता है। पंचरात्र समवकार में अभिमन्यु परिवर्तित वेष में होने से अपने पिता अर्जुन

और चाचा भीम को नहीं पहचानता और उनसे झगड़ता रहता है, जब कि वे दोनों उसकी बातों का आनन्द लेते हैं।

किसी पात्र की अपने विषय में हो रही बातचीत को बात करने वालों से अदृश्य रह कर सुनना—इस स्थिति का भी बड़ा नाटकीय और सधा हुआ उपयोग भास ने अपने रूपकों में किया है। विशेषरूप से वासवदत्ता जिसने अपने पति के कल्याण के लिए अनेक दु:ख झेले और अपनी ही होने वाली सौत के यहाँ सामान्य स्त्री के वेष में रही, वह जब पति उदयन को यह कहते सुनती है कि पद्मावती का मैं उसके रूप, शील और माधुर्य के कारण सम्मान करता हूँ, पर मेरा मन तो वासवदत्ता में ही लगा हुआ है, तो उसका जी भर आता है।

भास अपने सभी बड़े नाटकों में अपने समय को मूर्त करते हैं। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक स्थितियों का विशद चित्र उनके रूपकों में मिलता है।

संवादों में त्वरितप्रत्युक्ति (हाजिरजवाबी) तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व, परिहास, उपालंभ और शिष्ट विनोद की रुचिरता भास की संवादयोजना के दुर्लभ गुण हैं। एक-एक, दो-दो शब्दों के वाक्यों में पात्र के व्यक्तित्व को उजागर कर देने की कला में भास अद्वितीय ही हैं। उन्हें उचित ही कविता कामिनी का हास कहा गया है। बालचरित में कृष्ण और बलराम कंस के सभामंडप में पहुँचते हैं, और ध्रुवसेन उनसे कहता है—एष महाराज:। उपसर्पेतां भवन्तौ। तो वे दोनों तत्काल कह उठते हैं—आ: कस्य महाराज? (अरे, किसका महाराज?)। यही संवादयोजना पंचरात्र में बृहन्नला अभिमन्यु को विराट के पास जाने के लिए कहती है, तब भी दोहरायी गयी है।

भास अपने पात्रों के चरित्रचित्रण में मनुष्य को अपनी सम्पूर्ण गरिमा, स्वाभिमान तथा तेजस्विता में प्रस्तुत करते हैं। अभिषेक नाटक में राम के बाण से मारा गया बालि हो या ऊरुभंग में भीम की गदा की चोट से मरणासन्न दुर्योधन, मृत्यु के समय मनुष्य का ऐसा उदात्त रूप अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

भास की काव्यकला

भाषा पर भास का असाधारण अधिकार है। पात्रोचित और रसोचित भाषा में वे दक्ष हैं। उदयन कथाविषयक रूपकों में यौगंधरायण का एक-एक वाक्य नपा-तुला और सुविचारित है, वासवदत्ता की भाषा में भावुकता और त्वराजन्य प्रतिक्रिया मिलती है। उदयन के सारे संवाद एक अत्यन्त संवेदनशील कलाप्रेमी राजा की शैली के द्योतक हैं। भास की भाषा-शैली में कहीं भी आयास या चमत्कार दिखाने की प्रवृत्ति हावी नहीं हुई है। शृंगार के प्रसंगों में माधुर्य और प्रासाद का सुंदर समन्वय है, तो वीर और रौद्र के प्रसंगों में उनकी भाषा तदनुसार ओजस्विता की बानगी देती है। जो उदयन वासवदत्ता के वियोग में अत्यन्त करुणामय उद्‌गार प्रकट कर रहे हैं, वे ही अपने शत्रु के साथ युद्ध छिड़ने का प्रसंग आने पर कह उठते हैं—

उपेत्य नागेन्द्रतुरङ्गतीर्णे तमारुणिं दारुणकर्मदक्षम्।
विकीर्णबाणोग्रतरङ्गभङ्गे महार्णवाभे युधिनाशयामि॥

(स्वप्नवासवदत्तम्, ५/१३)

भास अपने वर्ण्य-विषय को सजीव और साकार रूप में उपस्थित कर देते हैं। स्वप्नवासवदत्तम् के पहले अंक में तपोवन का उन्होंने जो चित्र अंकित किया है, वह सूक्ष्म पर्यवेक्षण और बिंबविधान में उनकी कुशलता का प्रमाण है।

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च सङ्क्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥ (१/१६)

(पक्षी अपने डेरों पर लौट आये हैं। मुनि सरोवर में डुबकी लगा रहे हैं। अच्छी सुलगी हुई (हवन की) अग्नि चमक रही है। उसका धुआँ तपोवन में घूम रहा है। दूर से नीचे टपका हुआ सूर्य किरणें समेटे हुए अपना रथ लौटा कर धीरे-धीरे अस्तशिखर पर प्रवेश कर रहा है।)

सहजता और पारदर्शिता भास की भाषा-शैली का दुर्लभ गुण है। वे सरल पर दृश्य को साकार करने वाली और हृदयंगम बना देने वाली भाषा का उपयोग करते हैं। इसके साथ ही सूक्ष्म पर्यवेक्षण के द्वारा वे वर्ण्य के सारे स्वरूप और वैशिष्ट्य का भी अनुभव करा देते हैं। 'स्वप्नवासवदत्तम्' के ही पहले अंक में तपोवन का वर्णन उदाहरणीय है—

विश्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निस्सन्दिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः॥ (१/१२)

(अपने देश में होने के भरोसे वाले हरिण बेखटके निश्‍चित विचर रहे हैं। पेड़-पुष्पों और फलों से समृद्ध शाखाओं वाले हैं। सभी की दया के साथ रक्षा की गयी है। कपिला गायों के झुंड बहुत अधिक हैं, दिशाएँ खेतों से रहित हैं। निश्चय ही यह तपोवन है—यह हवन का धुआँ भी अनेक स्थानों से उठ रहा है।)

मनोभावों के निरूपण में भास की अभिव्यक्ति पारदर्शी और हृदय को छूने वाली है। विशेष रूप से मनुष्य की कोमल संवेदनाओं और प्रेम की व्यथा के अंतरंग चित्र उकेरने में वे सूक्ष्म दृष्टि तथा असाधारण क्षमता का परिचय देते हैं। उदयन वासवदत्ता को भूल नहीं पाते। वे विदूषक को अपनी पीड़ा बताते हुए कहते हैं—

दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः
स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम्।
यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह वाष्पं
प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः प्रसादम्॥ (४/६)

(जिसकी जड़ें गहरी हैं ऐसा प्रेम छोड़ना कठिन होता है। स्मरण कर-कर के दुःख नया होता चला जाता है। यह तो संसार की रीति है कि किसी के निधन पर आँसू बहा कर लोगों की बुद्धि अनृण होकर प्रसन्न हो जाती है।)

भास की सूक्तियों में लोकजीवन के संचित अनुभवों की पकड़ तथा जीवन-मर्म को स्पर्श करने की प्रवृत्ति है। वासवदत्ता की कथित मृत्यु के प्रसंग में नायक उदयन को समझाता हुआ उज्जयिनी से आया कंचुकी कहता है—

कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले
रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति।
एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां
काले काले छिद्यते रुह्यते च॥ (६/१०)

(मृत्यु आने पर कौन किसको बचा सकता है? रस्सी टूट जाने पर घड़े को कौन पकड़े रह सकता हैं? यह संसार इसी तरह जंगल के समान धर्म वाला है, जो समय-समय पर काटा जाता रहता है और उगता रहता है।)

कुछ अन्य सूक्तियाँ भी उदाहरणीय हैं—

कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना,
चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्तिः। (स्वप्नवासवदत्त, १/४)

(समय के क्रम से घूमती हुई चक्र के अरों की भाँति भाग्य की पंक्ति ऊपर और नीचे आती-जाती रहती है।)

शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात् सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति॥
(कर्णभार, १/२२)

(समय के फेर से शिक्षा भी क्षीण हो जाती है। अच्छी तरह बँधी जड़ों वाले पेड़ भी गिर पड़ते हैं। पानी के स्थानों में भरा पानी सूख जाता है। पर यज्ञ में दी गयी आहुतियाँ और दिया गया दान उसी तरह टिका रहता है।)

मृतेऽपि हि नराः सर्वे सत्ये तिष्ठन्ति तिष्ठति। (पंचरात्र, ३/२५)

(मृत्यु के पश्चात् भी मनुष्य अपने सत्य के रहने से बचे रहते हैं।)

भास और नाट्यशास्त्र—भास ने अपने रूपकों का प्रणयन उस काल में किया, जब भरत मुनि का नाट्यशास्त्र सामने नहीं आया था या लोकप्रिय नहीं हुआ था। इसलिए नाट्यशास्त्र के अनेक विधानों का भास के रूपकों में उल्लंघन मिलता है। उदाहरण के लिए नाट्यशास्त्र नाटक में नायक आदि की मृत्यु के प्रदर्शन का निषेध करता है, भास के अभिषेक में बालि, प्रतिमा में दशरथ तथा ऊरुभंग में दुर्योधन रंगमंच पर ही मरते हुए निरूपित किये गये हैं। इसी प्रकार रंगमंच पर युद्ध, पलायन या भगदड़ के दृश्यों को दिखाने का भी नाट्यशास्त्र में निषेध है। भास के अनेक रूपकों में द्वंद्वयुद्ध के दृश्य हैं, जैसे मध्यमव्यायोग में भीम और घटोत्कच का युद्ध। इसी प्रकार शयन, आलिंगन आदि को भी नाट्यशास्त्र में वर्जित बताया गया है। स्वप्नवासवदत्त में राजा उदयन निद्रामग्न चित्रित हैं। दूतवाक्य में दुर्योधन आचार्य द्रोण को कूर्मासन और अपने मामा शकुनि को चर्मासन पर बैठने के लिए कहता है। नाट्यशास्त्र में अलग-अलग पात्रों के लिये आसन बताये गये हैं, पर कूर्मासन और चर्मासन का निर्देश नहीं है। इसी प्रकार भास के कतिपय रूपकों में नाट्यशास्त्र-प्रोक्त दशरूपक-विधान लागू नहीं होता।

प्रतिज्ञायौगंधरायण, कर्णभार आदि किस कोटि के रूपक हैं, यह निर्णय करना ही संभव नहीं हो पाता। तथापि भास ने अविमारक नाटक में प्रकारांतर से विदूषक के मुख से नाट्यशास्त्र का उल्लेख करा दिया है। इससे प्रतीत होता है कि वे भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से नहीं तो अन्य किसी नाट्यशास्त्र की परम्परा से परिचित थे। नाट्यशास्त्र में युद्ध, शयन आदि दिखाने के लिए वैकल्पिक विधान या कहीं-कहीं छूट दिये जाने के निर्देश भी मिलते हैं, जो भास के रूपकों के आधार पर दिये गये हों—यह संभव है।

कालिदास के रूपक

कालिदास महाकाव्यकार, नाटककार तथा मुक्तककार इन तीनों रूपों में संस्कृत-साहित्य के इतिहास में अनन्य स्थान रखते हैं। इनका परिचय पिछले अध्याय में दिया गया है। इनके तीन नाटक सुविदित हैं—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुंतल।

मालविकाग्निमित्र

मालविकाग्निमित्र पाँच अंकों का नाटक है। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। पुष्यमित्र का पुत्र शुंगवंशी अग्निमित्र इसका नायक है। विदर्भ की राजकुमारी मालविका से उसके प्रेम और अंत में परिणय की कथा को कवि ने इसमें रमणीय नाट्यात्मक विन्यास दिया है।

कथावस्तु—विपत्ति में पड़ी मालविका अग्निमित्र की रानी धारणी के भाई वीरसेन को एक वन में मिलती है। वीरसेन उसे अपनी बहन को सौंप देता है। इस तरह मालविका अग्निमित्र के अंतपुर में दासी के रूप में रहने लगती है। धारणी उसे राजा अग्निमित्र की दृष्टि से बचा कर रखती है, क्योंकि उसे भय है कि उसके अप्रतिम सौंदर्य को देख कर अग्निमित्र उस पर रीझ जायेंगे। एक दिन अग्निमित्र अंतपुर की रानियों का एक चित्र देखता है, जिसमें दासियाँ भी चित्रित हैं। उनके बीच में मालविका का चित्र देख कर वह मालविका की ओर आकर्षित हो जाता है। उसका सहायक विदूषक उसे मालविका से मिलाने का उपाय रचता है।

मालविका को नृत्य-कला का अभ्यास कराने के लिए नृत्याचार्य गणदास की नियुक्ति की गयी है। गणदास का दूसरे नृत्याचार्य हरदत्त से विवाद छिड़ जाता है कि दोनों में कौन श्रेष्ठ है। पारिव्राजिका कौशिकी के कहने पर निर्णय होता है कि दोनों अपनी-अपनी शिष्याओं के नृत्य द्वारा अपनी कला का प्रदर्शन करेंगे।

नाटक के द्वितीय अंक में मालविका का नृत्य प्रस्तुत होता है। अग्निमित्र मालविका को प्रत्यक्ष देख कर उस पर मुग्ध हो जाता है। तीसरे अंक में प्रमदवन में राजा की मालविका से भेंट होती है, पर इसी समय छोटी रानी इरावती वहाँ आ जाती है, और राजा को मालविका के प्रति प्रणय निवेदन करते हुए देख कर कुपित होती है। चौथे अंक में सूचना मिलती है कि इस प्रसंग से क्रुद्ध होकर रानी धारणी ने मालविका को कारागार में बंद करा दिया है। तब विदूषक साँप से काट लिये जाने का झूठा

दिखावा करता है, और सर्पदंशचिकित्सा के बहाने रानी धारणी की सर्पमुद्रायुक्त अँगूठी प्राप्त कर लेता है। इस अँगूठी को दिखा कर वह मालविका को कारागार से छुड़ा ले आता है। राजा और मालविका फिर एकांत में मिल रहे हैं, पर वे फिर एक बार रँगे हाथों पकड़ लिये जाते हैं। अंतिम अंक में विदर्भ राज्य से आयी दो सेविकाओं के द्वारा मालविका का सच्चा परिचय मिलने से और मालविका के चरण के आघात से अशोक के फूल उठने की सूचना से प्रसन्न रानी धारणी उसे राजा के वधू के रूप में सौंपने का निर्णय लेती है।

इस नाटक की कथा-वस्तु में निम्नलिखित तथ्य इतिहास से प्रमाणित हैं—पुष्यमित्र का अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान तथा अग्निमित्र के बेटे वसुमित्र की यवनों पर विजय। पुष्यमित्र का राज्याभिषेक १८५ ई० पू० में हुआ था।

उपजीव्यता—संस्कृत नाट्यसाहित्य में मालविकाग्निमित्र एक प्रवर्तक कृति भी कही जा सकती है। प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त नायक या राजा का एक या एकाधिक रानियों के रहते हुए भी अपने से आयु में बहुत छोटी मुग्धा नायिका से प्रेम, रानियों का इस प्रणय व्यापार से चिढ़ना और खिन्न होना, इस विषय-वस्तु का कालिदास ने पहली बार संस्कृत नाटक में अवतरण कराया। उनका यह प्रयोग इतना लोकप्रिय हुआ कि इसका अनुकरण करके अनेक नाटिकाएँ रची गयीं। इन सभी नाटिकाओं का मूल प्रेरणास्रोत मालविकाग्मित्र कहा जा सकता है। ऐसा लगता है कि नाटिका जैसी रूपकविधा की परिकल्पना भी कालिदास के मालविकाग्निमित्र की प्रस्तुति के द्वारा आचार्यों ने की होगी। मालविकाग्निमित्रम् नाटिका के लक्षणों पर भी खरा उतरता है, अंतर यही है कि आचार्यों के अनुसार नाटिका में चार अंक होने चाहिये और इसमें पाँच हैं।

विचारदृष्टि—मालविकाग्निमित्र की एक दुर्लभ विशेषता उसमें अनुस्यूत एक द्रष्टा कवि का व्यक्तित्व है, जो उसे परवर्ती नाटिकाओं के उथलेपन के स्थान पर उदात्तता और वैचारिक गंभीरता से मंडित करता है। नाटक के आरम्भ में ही कवि ने अपने तेजस्वी और प्रखर व्यक्तित्व का परिचय दिया है। प्रस्तावना में पारिपार्श्विक के मुख से प्रश्न कराया गया है कि जब भास, सौमिल्ल और कविपुत्र जैसे बड़े नाटककारों की कृतियाँ हैं तो एक नये अल्पज्ञात नाटककार का रूपक क्यों खेला जा रहा है। इसके उत्तर में सूत्रधार कवि का यह मन्तव्य प्रस्तुत करता है—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

(जो कुछ पुराना है, वही सारा का सारा अच्छा हो, ऐसी बात नहीं है। जो कुछ नया है, वह सब बुरा ही है, ऐसी बात भी नहीं है। समझदार लोग परख कर इनमें से जो श्रेष्ठ है, उसे अपनाते हैं। मूढ़ लोगों की मति दूसरे की मान्यता से बहक जाती है।)

यथार्थदृष्टि, सामाजिक दृष्टि और व्यंग्य—मालविकाग्निमित्र की एक अन्य विशेषता उसकी यथार्थदृष्टि या भूतार्थवादिता है। रानी धारणी अग्निमित्र और मालविका के प्रेम में प्रत्यवाय है। वह समझ जाती है कि नृत्याचार्य के नृत्य प्रदर्शन के बहाने राजा

मालविका को देखना चाहता है, और टिप्पणी करती है—"इस तरह की उपायनिपुणता यदि आपकी राजकार्य में भी होती तो अच्छा होता!" आशय है कि राजा प्रेम-प्रसंगों में जितना उपायनिपुण है, उतना राजकार्य में नहीं। तीसरे अंक में राजा को एकांत में मालविका दिख जाती है। विदूषक कहता है—"अरे, यह तो छक कर मदिरा पीने के बाद तुम्हें मछली का चिखौना मिल गया!" यहाँ नायिका एक स्त्री नहीं, राजा के लिए स्वाद बदलने के लिए मछली है यह अंतर्निहित भाव कितनी विडंबना का बोध देता है। राजा छिप-छिप कर मालविका से मिलता है। धारणी के द्वारा मालविका को बंदी बना लिये जाने पर छल से उसे कारागार से छुड़ा कर विदूषक राजा के साथ उसके मिलने की व्यवस्था करता है। वहाँ फिर दूसरी रानी इरावती के आ जाने पर राजा की गति साँप-छछूँदर के जैसी हो जाती है। इसी समय समाचार मिलता है कि राजकुमारी वसुलक्ष्मी गेंद खेलती हुई एक वानर के द्वारा डरा दी गयी है, और उसका डर कम नहीं हो रहा है। राजकुमारी का डर जाना एक ऐसी बात है जिससे के आगे रानी इरावती राजा से लड़ना-झगड़ना भूल कर उसे राजकुमारी के पास जाने को कहती है। इस पर विदूषक टिप्पणी करता है—बहुत अच्छे, पिंगल वानर, तुमने तो अपने पक्ष के लोगों को बचा ही लिया। आगे चलकर विदूषक राजा से कहता है—तुम वह गीध हो, जो कच्चे मांस के लालच में कसाईखाने पर मँडराता भी है और डरता भी है। विदूषक के इस प्रकार के कथनों में कालिदास ने अपने समय के क्षत्रियों की विलासिता पर करारा व्यंग्य प्रहार किया है।

नाट्यकला—नाट्यकला की दृष्टि से मालविकाग्निमित्र एक सुसंबद्ध और सुसंयोजित रचना है। राजा अग्निमित्र का मालविका का चित्र देखना दोनों के प्रेम का बीज-वपन है। विदूषक दो नाट्याचार्यों में झगड़ा कर राजा को मालविका से मिलवाने का यत्न करता है। तीसरे अंक में राजा को मालविका से मिलने की आशा दृढ़ होती है। और आगे चल कर मालविका के द्वारा चरण से स्पर्श किये गये अशोक के फूल उठने से मालविका की प्राप्ति निश्चित होने लगती है। अंत में पाँचवें अंक में रानी धारणी के द्वारा मालविका उसे सौंप दिये जाने से फलागम हो जाता है। इस प्रकार आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम—ये पाँचों अवस्थाएँ मालविकाग्निमित्र में सम्यक् चरितार्थ हैं।

विक्रमोर्वशीयम्

कालिदास की दूसरी नाट्य-रचना विक्रमोर्वशीयम् है। यह त्रोटक कोटि का उपरूपक है। इसका कथानक पुरूरवा तथा उर्वशी की प्रेम-कथा पर आधारित है। इसमें पाँच अंक हैं।

कथावस्तु—हिमालयप्रदेश में अप्सराएँ शिव की सेवा से लौट रही हैं। केशी दानव उनके बीच से उर्वशी नामक अप्सरा को हर लेता है। उसकी सखियाँ सहायता के लिए पुकारती हैं। इसी समय राजा पुरूरवा वहाँ से निकलता है, और चित्रलेखा आदि अप्सराओं की पुकार सुन कर केशी दानव से लड़ने के लिए चल देता है। फिर वह

केशी को परास्त कर मूर्च्छित उर्वशी को लेकर आता है। उर्वशी और पुरूरवा एक दूसरे का प्रथम दर्शन करते हैं, और परस्पर आसक्त हो जाते हैं। यहाँ पहला अंक समाप्त होता है। राजधानी लौट कर राजा पुरूरवा उर्वशी की स्मृति में खिन्न रहने लगता है। उसकी रानी औशीनरी उसकी यह स्थिति देखकर सच्ची बात का पता लगाना चाहती है। राजा अपने मन का हाल विदूषक को बता देता है। विदूषक के पेट में बात पचती नहीं, और रानी की एक विश्वस्त दासी छल से उसके मुँह से राजा के उर्वशी से प्रेम होने की बात उगलवा लेती है। दूसरे अंक के आरम्भ में पुरूरवा से मिलने के लिए उर्वशी उसके राजप्रासाद में उतरती है। वे पहले छिप कर राजा और विदूषक का वार्तालाप सुनती हैं, जिसमें राजा उर्वशी की चर्चा करता है। उर्वशी तिरस्करिणी विद्या से अंतर्धान रहते हुए अपना संदेश भोजपत्र पर लिख कर राजा के पास पहुँचाती है। इसके पश्चात् पहले उर्वशी की सखी चित्रलेखा और फिर स्वयं उर्वशी अपनी तिरस्करिणी हटा कर राजा से मिलती है। तभी स्वर्ग से उर्वशी के लिए बुलावा आ जाता है कि भरत मुनि के द्वारा देवताओं के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए एक नाटक कराया जा रहा है, उसमें नायिका की भूमिका के लिए वह तत्काल आ जाये। पुरूरवा और उर्वशी अपूर्ण मिलन की कचोट के साथ बिछुड़ जाते हैं। इसी समय रानी औशीनरी वहाँ आ जाती है, और विदूषक की मूर्खता से भोजपत्र हवा में उड़ कर रानी औशीनरी के पाँवों में उलझ जाता है। पत्र देखकर रानी क्रुद्ध होती है। वह राजा के पास जा कर उससे झगड़ती है। राजा उसे मनाने का प्रयास करता है। तीसरे अंक में सूचना मिलती है कि उर्वशी लक्ष्मीस्वयंवर नाटक में लक्ष्मी का अभिनय करते समय पुरूरवा के ध्यान में इस तरह डूबी हुई थी कि एक संवाद में पुरुषोत्तम के स्थान पर उसके मुँह से पुरूरवा का नाम निकल गया। इससे क्रुद्ध होकर भरत मुनि ने उसे शाप दे दिया कि वह पुत्रप्राप्ति तक भूलोक में रहे। इंद्र उर्वशी को पुरूरवा के साथ रहने की अनुमति दे देते हैं और कहते हैं कि पुरूरवा जब अपने पुत्र का मुख देख लेगा, तो तुम्हें वापस स्वर्ग आना होगा। इसी बीच पुरूरवा की रानी औशीनरी प्रियप्रसादन व्रत करती है, जिसमें वह राजा को वह जिस स्त्री के साथ चाहे रहने की अनुमति दे देती है। यहाँ तीसरा अंक समाप्त हो जाता है। चौथे अंक में पुरूरवा तथा उर्वशी विहार के लिए गंधमादन पर्वत गये हुए हैं। वहाँ पुरूरवा एक सुंदर विद्याधर कन्या को ताकने लगता है, जिससे कुपित होकर उर्वशी उसे छोड़ कर चल देती है और वह कुमारवन में चली जाती है। कुमारवन एक अभिशप्त वन है, जिसमें प्रवेश करने से कोई भी स्त्री लता बन जाती है। उर्वशी भी लता बन कर रह जाती है। पुरूरवा बावला होकर उसे ढूँढ़ता रहता है। भटकते हुए उसे संगमनीय मणि मिल जाती है, जिसके प्रभाव से वह उस उपवन में पहुँचता है जहां उर्वशी लता के रूप में परिणत हो गयी है। उस लता को देखकर पुरूरवा उसे छूता है, और पुरूरवा के स्पर्श करते ही उर्वशी फिर से अपने वास्तविक रूप में आ जाती है। अंतिम पाँचवें अंक में एक गीध लाल रंग के कारण संगमनीय मणि को मांस का टुकड़ा समझ कर उठा कर उड़ जाता है। राजा को संगमनीय मणि बहुत प्रिय थी। इसलिए वह उसे

छुड़ाने के लिए गीध पर बाण छोड़ने को होता है, तभी किसी अन्य के बाण से घायल होकर गीध गिर पड़ता है और मणि मिल जाती है। गीध को जो बाण लगा है, वह भी राजा के सामने लाया जाता है। बाण के ऊपर जो लिपि खुदी हुई है, उस पर लिखा है—यह उर्वशी और पुरूरवा के पुत्र आयुष् का बाण है। राजा उस लिखावट से चमत्कृत और आह्लादित हो जाते हैं, और उर्वशी से पूछते हैं कि उसे पुत्र कब हुआ। उर्वशी उदास हो जाती है। वह पुत्र को जन्म देने और उसे च्यवन ऋषि के आश्रम में छिपा कर रखने की घटना बताती है, और राजा से इस बात को छिपाने का कारण भी स्पष्ट करती है कि पुत्र के दर्शन होते ही उसे राजा का साथ छोड़ कर स्वर्ग जाना होगा। इसी समय नारद मुनि इंद्र का संदेश लेकर वहाँ आते हैं। इंद्र को असुरों से संग्राम के लिए फिर से राजा की आवश्यकता पड़ गयी है और वे इस सहायता के पुरस्कारस्वरूप पुरूरवा को सदा के लिए उर्वशी देने का प्रस्ताव भी करते हैं, इस प्रकार पुरूरवा और उर्वशी के आसन्न वियोग की दुःखद संभावना सुखद परिणति बन जाती है।

कथावस्तु की विशेषताएँ—विक्रमोर्वशीयम् के कथानक का मूल स्रोत ऋग्वेद का पुरूरवोर्वशीसंवादसूक्त (१०/९५) कहा जा सकता है। इस सूक्त में उर्वशी के द्वारा परित्यक्त पुरूरवा उसे खोजता हुआ एक सरोवर के तट पर आता है और उर्वशी को हंसिनी के रूप में विहार करती देख कर उसे पुकारता है तथा वापस आने का अनुरोध करता है। पुरूरवा के भावाकुल उद्‌गार तथा उर्वशी के द्वारा अपनी असमर्थता की अभिव्यक्ति—यह इस सूक्त की मुख्य वस्तु है। इसकी व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण में पुरूरवा और उर्वशी की कथा विस्तार से बतायी गयी है। अनेक पुराणों में भी यह कथा प्राप्त होती है। पर महाकवि कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् में इसे अपनी विलक्षण प्रतिभा से सर्वथा सार्थक और नया रूप दे कर प्रस्तुत किया है। केशी दानव का उर्वशी को हर कर ले जाना, पुरूरवा और उर्वशी का आकाश-मार्ग में प्रथम मिलन, उर्वशी के द्वारा भोजपत्र पर संदेश लिख कर पुरूरवा को भेजना, रानी उर्वशी का अभिसार, औशीनरी का प्रियप्रसादनव्रत, भरतमुनि के द्वारा लक्ष्मीस्वयंवर नाटक में पुरुषोत्तम के स्थान पर पुरूरवा कह देने पर उर्वशी को शाप देना तथा नाटक को एक सुखद और सार्थक परिणति पर पहुँचाने के लिए अंतिम अंक में प्रस्तुत सारा संविधान—कुमार आयुष् को आश्रम में छोड़ा जाना, गीध का संगमनीय मणि लेकर उड़ जाना, आयुष् के द्वारा उसका वध और आयुष् का राजा से मिलन—यह सारा वृत्तांत कालिदास की कल्पना का चमत्कार है।

काव्यसौन्दर्य—विक्रमोर्वशीयम् मालविकाग्निमित्रम् की अपेक्षा कमनीय कल्पनाओं और सुकुमार भावों के साथ ओजस्विता और पराक्रम का सार्थक योग प्रस्तुत करता है। सौंदर्यवर्णन में कालिदास की लेखनी अनूठी कल्पनाओं का संसार रच देती है। उर्वशी केशी दानव के द्वारा हर लिये जाने के पश्चात् मूर्च्छित है। उसे छुड़ा कर लाने वाला पुरूरवा देखता है कि उसकी मूर्च्छा टूट रही है। इस स्थिति को कवि ने नायक के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इवच्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मोहकल्पा
गङ्गारोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम्॥ (१/९)

(मूर्च्छा के धीरे-धीरे हटने से यह सुंदरी ऐसी दिखाई पड़ रही है जैसे चंद्रोदय के समय अंधेरे से मुक्त होती जाती रात हो, अथवा रात में सुलगायी हुई आग की लपट, जो पहले घने धुएँ से घिरी हो और धुएँ के छँटते जाने से जिसकी लौ चमकती जाती हो, या तटबंध गिर जाने के कारण पहले कलुष से भरी और फिर धीरे-धीरे स्वच्छ होती गंगा नदी हो।) प्रेम और रागात्मकता के सुकुमार भावों को प्रकट करने के लिए कवि ने उतने ही सुकुमार उपमानों की सृष्टि की है। पुरूरवा का मन उर्वशी में अटक गया है और उर्वशी स्वर्ग जा रही है। नायक अपने मन की स्थिति बताते हुए यहाँ कहता है—

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात् सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥ (१/२०)

(आकाश में उड़ान भरती यह अप्सरा मेरे मन को मेरे तन से ऐसे ही खींच रही है, जैसे उड़ान भरती हुई कोई हंसिनी कमलनाल के तोड़े गये टुकड़े के साथ उसके भीतर के झीने धागों को खींच कर ले जाती है।)

विक्रमोर्वशीयम् अपनी भावसान्द्रता तथा मानवीय सम्बन्धों की रागात्मकता में भी अनन्य है। लय, लालित्य और लोकधर्मी का अनोखा लास्य और उल्लास इस रचना में हुआ है। आकाश, पर्वत और धरती ये तीनों हर अंक में किसी न किसी रूप में यहाँ उपस्थित हैं, हर अंक में निसर्ग और मनुष्य के अन्त:सम्बन्धों को कवि ने अभिव्यंजित किया है। देवता और मनुष्य के गहरे सम्बन्धों का जो प्रत्यय यह नाटक देता है, वह भारतीय विश्वदृष्टि का उन्मीलन है। चौथा अंक इसका प्राण है। नदियों, पर्वतों, ऋतुओं, पहाड़ों, पशुपक्षियों के मनुष्य हो जाने और मनुष्य के उनमें तदाकारित हो जाने का अनूठा भावबोध कालिदास के त्रोटक को गहरी समकालीन अर्थवत्ता में प्रतिष्ठित करता है।

रंगमंच—रंगमंच की दृष्टि से विक्रमोर्वशीयम् संस्कृत नाट्य साहित्य में विशिष्ट स्थान रखता है। यह उपरूपक कोटि की रचना है। उपरूपक लोकपरम्पराओं और लोकनाट्यों के सम्पर्क से विकसित होने वाली रूपकविधा है। कालिदास ने इसमें संगीत और नृत्य का विशिष्ट विन्यास प्रस्तुत किया है, अनेक प्रकार की गीतियाँ चौथे अंक में पुरूरवा के विरहोन्माद की स्थिति में गायी जाती हैं।

अभिज्ञानशाकुंतल

अभिज्ञानशाकुंतल संस्कृत नाट्य साहित्य की सर्वोत्कृष्ट कृति के रूप में समादृत है। कहा गया है—"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।" इसे कालिदास का सर्वस्व भी कहा गया है—"कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशकुन्तलम्।" इसकी कथा का मूल स्रोत महाभारत का शकुंतलोपाख्यान है। पद्मपुराण में भी शकुंतला की कथा मिलती है।

कथावस्तु—हस्तिनापुर का पुरुवंशी राजा दुष्यंत मृगया के लिए वन में निकलता है। एक हरिण का पीछा करते हुए वह कण्व ऋषि के आश्रम के पास पहुँच जाता है। वह हरिण को मारने के लिए उस पर बाण छोड़ने को ही है कि अचानक तीन तपस्वी वहाँ पहुचते हैं, और आश्रम में हिरण का वध न करने का अनुरोध करते हैं। राजा उनकी बात मान कर बाण वापस ले लेता है। तपस्वी प्रसन्न होकर उसे चकवर्ती पुत्र प्राप्त करने का आशीर्वाद देते हैं और आश्रम में प्रवेश करके आतिथ्य स्वीकार करने का अनुरोध भी करते हैं। दुष्यंत आश्रम में प्रवेश करता है, तो उसे शकुंतला अपनी दो सखियों प्रियंवदा और अनसूया के साथ पौधों में पानी देती हुई दिख जाती है। राजा वृक्षवाटिका के पीछे छिप कर इन तीनों की बातचीत सुनता है। इसी समय एक भौंरा शकुंतला के ऊपर बार-बार मँडरा कर उसे सताने लगता है। शकुंतला उससे बचने के लिए यहाँ-वहाँ भागती है, और सखियों से कहती है कि मुझे इस दुष्ट भौंरे से बचाओ। सखियाँ ठिठोली करती हुए कहती हैं कि हम लोग बचाने वाले कौन हैं, तपोवनों की रक्षा करने का काम राजा का है, दुष्यंत को पुकारो। राजा को लगता है कि तापस कन्याओं के सामने पहुँचने का यही अवसर है और वह उनके सामने प्रकट होता है तथा शकुंतला की सखियों से बातचीत करता हुआ शकुंतला का परिचय प्राप्त करता है। इसी बीच राजा के अनुयायी उसे ढूँढ़ते हुए आश्रम के निकट आ गये हैं, और उनकी भीड़भाड़ से एक जंगली हाथी भड़क उठा है, जो आश्रम की सीमा में घुस आाता है। शकुंतला और उसकी सखियाँ हड़बड़ी में राजा से विदा लेती हैं। यहीं पहला अंक समाप्त होता है। दूसरे अंक में मृगया की भागदौड़ से उद्विग्न विदूषक राजा से विश्राम की अनुमति माँगता है, और राजा भी मृगया से उदासीन होकर सेनापति को आदेश देता है कि मृगया बंद रखी जाय। फिर वह एकांत में विदूषक को अपने मन की बात बताता हुआ शकुंतला के प्रति अपने आकर्षण और उसके अनिंद्य सौन्दर्य का वर्णन करता है। इसी बीच दो तपस्वी वहाँ आकर राजा से कुछ समय आश्रम में रुकने का अनुरोध करते हैं, जिससे राक्षसों के विघ्नों से यज्ञ की रक्षा हो सके। इसी बीच राजधानी से राजा की माताजी का संदेश लेकर दूत आता है, जिसमें उन्होंने अपने व्रत के समापन के समय पुत्र को उपस्थित रहने का आदेश दिया है। राजा विदूषक से कहता है कि माताजी तुम्हें भी पुत्र ही मानती हैं, अतः मेरे स्थान पर तुम उपस्थित हो जाओ। विदूषक प्रसन्न होकर राजधानी प्रस्थित होता है। यहाँ दूसरा अंक समाप्त हो जाता है। तीसरे अंक में शकुंतला दुष्यंत के विरह में खिन्न है। मालिनी के तट पर एक लताकुंज में सखियाँ उसका उपचार कर रही हैं, और दुष्यंत लताकुंज के बाहर छिप कर उनकी बातचीत सुनता है। शकुंतला सखियों को अपनी मनोव्यथा बता देती है। सखियाँ उससे कमलपत्र पर दुष्यंत के नाम संदेश लिखने का अनुरोध करती हैं, जिसे छिपा कर दुष्यंत के पास पहुँचाया जा सके। शकुंतला अपना प्रेमपत्र लिख कर उन्हें सुनाती है, तभी दुष्यंत उनके सामने प्रकट हो जाता है। सखियाँ दोनों को एकान्तमिलन का अवसर देती हैं, पर इसी समय वृद्धा तापसी गौतमी के आ जाने से शकुंतला दुष्यंत को लताकुंज में अकेला छोड़

कर चल पड़ती है। यहाँ तीसरा अंक समाप्त हो जाता है। चौथे अंक में सूचना मिलती है कि दुष्यंत शकुंतला के साथ गांधर्व विवाह करके और शीघ्र ही उसे राजधानी बुलवाने का वचन देकर जा चुका है। शकुंतला गर्भवती है। इसी बीच एक दिन दुर्वासा ऋषि आश्रम में आते हैं, और वे कुटिया में बैठी शकुंतला को पुकारते हैं। दुष्यंत की स्मृति में खोयी शकुंतला उनकी पुकार नहीं सुन पाती और दुर्वासा ऋषि क्रुद्ध होकर उसे शाप दे देते हैं कि जिसका चिंतन करती हुई तुम मेरा अनादर कर रही हो, वह तुम्हें भूल जायेगा। पास में ही फूल चुनती अनसूया और प्रियंवदा को इस घटना की भनक लग जाती है और अनसूया दुर्वासा ऋषि को मनाने के लिए दौड़ती है। दुर्वासा यह कह कर चले जाते हैं कि अभिज्ञान (पहचान) का आभरण दिखाने से शाप की निवृत्ति हो जायेगी। इसी समय शकुंतला के अनिष्ट का निवारण करने के लिए सोमतीर्थ गये हुए कण्व ऋषि लौट आते हैं, और वे दिव्य वाणी के द्वारा सारी घटना को जान कर तत्काल शकुंतला को दुष्यंत के पास भेजने का निर्णय लेते हैं। इस अंक में शकुंतला की विदाई का अत्यंत मार्मिक दृश्य है। पाँचवें अंक में शकुंतला शार्ंगरव तथा शारद्वत इन दो ब्रह्मचारियों तथा तापसी गौतमी के साथ राजधानी पहुँचती है। शाप के कारण दुष्यंत उसे नहीं पहचान पाता और अपमानित करता है। शकुंतला उसके द्वारा पहनाई हुई अँगूठी उसे दिखा कर स्मरण करना चाहती है, तब उसे पता चलता है कि अँगूठी भी मार्ग में पानी में गिर चुकी है। शार्ंगरव और शारद्वत के द्वारा कहासुनी करने पर दुष्यंत इस बात के लिए तैयार हो जाता है कि पुत्र जन्म होने तक शकुंतला उसके पुरोहित के घर में रहे। पुरोहित शकुंतला को अपने घर ले जाने लगता है, तभी आकाश से उतर कर एक दिव्य ज्योति उसे उठा ले जाती है और सब चकित रह जाते हैं। शकुंतला को दी गयी अँगूठी एक मछली के पेट से धीवर को मिली है। छठे अंक में वह उसे बेचने के लिए राजधानी लेकर आता है और राजपुरुषों के द्वारा पकड़ लिया जाता है। अँगूठी दुष्यंत के पास पहुँचायी जाती है। उसे देखते ही दुष्यंत को शकुंतला के साथ अपने प्रणय और गांधर्व विवाह की घटनाओं की सारी स्मृति हो जाती है। वह पश्चात्ताप करने लगता है। इसी समय इंद्र का सारथि मातलि उसे इंद्र के संदेश के अनुसार दानवों के साथ युद्ध में सहायता के लिए लेने को आता है। दुष्यंत स्वर्ग की ओर प्रस्थान करता है। इसके साथ षष्ठ अंक समाप्त हो जाता है। सप्तम अंक में स्वर्ग से लौटता हुआ दुष्यंत मार्ग में कश्यप ऋषि के आश्रम में रुकता है, जहाँ वह अपने पुत्र भरत को सिंह शावक से खेलते देखता है। शकुंतला के साथ पुनर्मिलन हो जाता है और नाटक समाप्त होता है।

कथावस्तु की विशेषताएँ—महाभारत के शकुंतलोपाख्यान की कथा के ढाँचे में कवि ने प्रातिभ नवोन्मेष तथा रससृष्टि के द्वारा प्राण फूँक दिये हैं। प्रथम अंक में दुष्यंत का आश्रम में तीनों सखियों की हँसी-ठिठोली छिप कर सुनना, दुर्वासा का शाप, दुष्यंत के द्वारा शकुंतला को पहनायी गयी अँगूठी का मार्ग में गिर जाना, मारीच के आश्रम में दुष्यंत और शकुंतला का पुनर्मिलन, भरत की चंचलता और नटखटपन, उसका सिंहशावक को सिंहिनी के आँचल से खींच कर उसके दाँत गिनने की चेष्टा

आदि अनेक प्रसंग और घटनाओं के विन्यास से महाभारतीय शकुंतलोपाख्यान की रेखाओं में रंगों की निराली छटा उभर आयी है। कालिदास के ही शब्दों में—"उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम्।" मारीच और दुर्वासा जैसे ऋषि, अनसूया और प्रियंवदा जैसी स्नेहमयी सखियाँ, शार्ंगरव और शारद्वत जैसे ऋषिकुमार—इत्यादि अनेक चरित्र शाकुंतल के इस चित्र की विविधता और रसप्रवणता में अभिवृद्धि करते हैं, जो मूल महाभारतीय कथा में अनुपस्थित हैं।

रस तथा भाव—अभिज्ञानशाकुंतल में शृंगार रस की प्रधानता है। रसानुरूप अप्रस्तुतविधान तथा कल्पनाओं का विन्यास करने में कालिदास अप्रतिम हैं। शकुंतला के रूप का वर्णन करता हुआ दुष्यंत कहता है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधुनवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥ (२/११)

(उसका रूप ऐसा फूल है,जो अभी तक सूँघा नहीं गया, ऐसी कोंपल है, जिसे नखों से खुरचा नहीं गया, ऐसा रत्न है, जिसे बींधा नहीं गया, ऐसी मधु है, जिसका रस अभी तक चखा नहीं गया। वह रूप पुण्यों का अखण्ड फल है, पता नहीं उसका भोक्ता विधाता किसको बनायेंगे।)

यहाँ कवि ने शकुंतला के लिए पाँच उपमानों का एकसाथ प्रयोग करके क्रमशः उसकी परिभोगयोग्यता, मुग्धता, कांतिमत्ता, हृद्यता तथा उत्तम व्यक्ति से अभिलषणीयता को ध्वनित किया है। पाँचों उपमान शकुंतला की घ्राण, त्वक्, नेत्र, जिह्वा तथा कर्ण इन पाँचों इंद्रियों को तृप्ति दे सकने की क्षमता को भी इंगित करते हैं। केवल पुष्प न कह कर 'अनाघ्रातं पुष्पम्' के द्वारा शकुंतला अब तक संसार में सबके लिए अलभ्य ही रही है, यह नायक कहना चाहता है। पर पुष्प सूँघा भले न गया हो, वह किसी का छुआ हुआ तो हो सकता है, अतः शकुंतला किसी के द्वारा छुई भी नहीं गयी, यह बताने के लिए 'किसलयमलूनं कररुहैः'—यह उपमान दिया। किंतु कोपल एक ऐसी वस्तु है, जिसे सभी जानते और देखते रहते हैं। अतः शकुंतला जैसी सुंदरी को किसी ने देखा भी न होगा—यह आशय प्रकट करने के लिए उसे अनाविद्ध रत्न कहा। रत्न भी कर्कश और कठोर होता है, अतः नायिका का मार्दव और माधुर्य सूचित करने के लिए उसे अनास्वादित नये मधु से उपमा दी। इन सब उपमानों में भी शकुंतला की एक-एक विशेषता ही व्यक्त हो पायी है, अतः उसके समग्र रूप को बताने के लिए अंत में कवि ने अमूर्त उपमान का आश्रय लेकर उसे पुण्यों के अखण्ड फल से उपमा दी। इसके साथ ही उपमानों की यह लड़ी नायक की नायिका के प्रति अभिलाषा को भी सूचित करती है। दुष्यंत कहना चाहता है कि अब इस फूल को सूँघने का, इस कोंपल को स्पर्श करने का, इस रत्न को धारण करने का या इस अनास्वादित मधु को चखने का समय आ गया है।

वस्तुतः कालिदास ने शाकुंतल में उस सिद्ध कवि की ऊँचाई प्राप्त कर ली है, जिसके एक-एक पद में असंख्य अर्थों की शृंखलाएँ खुलती हैं।

प्रथम अंक से चतुर्थ अंक तक शकुंतला और दुष्यंत के प्रणय के चित्रण में औत्सुक्य, हर्ष, ग्लानि, विषाद, लज्जा, असूया, आदि व्यभिचारी भावों की कई धाराएँ अबाध रूप से रस के प्रवाह को पुष्ट करती हैं। चतुर्थ अंक में तो भावनाओं व मनुष्य के मन की कोमल अनुभूतियों का जो संसार रचा गया है, वह संस्कृत-साहित्य में अनुपम है। सखियों की चिंता और कातरता, पिता के हृदय की वेदना तथा सारे पर्यावरण का मनुष्य के साथ एकात्म्य का अद्वितीय अनुभव कवि ने इस अंक में उपस्थित कर दिया है। कण्व की गरिमामयी उपस्थिति और उदात्त कथनों तथा पुत्री के आसन्न वियोग और पिता के हृदय की वेदना के चित्रण ने इस अंग को साहित्य-जगत् के शिखर पर पहुँचाया है। कण्व कहते हैं—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥ (४/६)

(आज शकुंतला चली जायेगी—इस कारण से हृदय उत्कंठा से छू लिया गया है। गला रोके गये आँसुओं की धार के कारण भर्राया हुआ है और मुख चिंता के कारण जड़ है। मुझ वन में रहने वाले की स्नेह के कारण जब ऐसी विकलता है, तो गृहस्थ लोग बेटियों के बिछड़ने के दुःख से क्यों न दुखी होते होंगे?) शकुंतला को कण्व के द्वारा दिया गया आशीर्वाद अर्थ की गंभीरता में अप्रतिम ही है। कण्व कहते हैं—"तू पति की ऐसे ही प्यारी बन जैसे ययाति की शर्मिष्ठा बनी थी। और जिस तरह उस शर्मिष्ठा ने पुरु को पाया ऐसे ही तू भी सम्राट् पुत्र को पाये।" यहाँ ऋषि-वाणी में यह गंभीर अर्थ भी छिपा हुआ है कि शर्मिष्ठा को जिस तरह कुछ वर्ष तिरस्कृत होकर एकाकी जीवन बिताना पड़ा था, उसी तरह शकुंतला को भी कुछ वर्ष एकाकी जीवन बिताने के पश्चात् ही प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। आश्रम के वृक्षों और लताओं को संबोधित करते हुए कण्व कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥ (४/९)

(जो तुम्हारे जल पिये बिना स्वयं पहले जल पीने को तैयार नहीं होती थी, अलंकारप्रिया होने पर भी जो तुम लोगों के प्रति स्नेह के कारण तुम्हारी कोंपल तक नहीं तोड़ती थी, तुम लोगों में पहले पहल फूल आने पर जिसके लिए उत्सव हो जाता था, वही यह शकुंतला पति के घर जा रही है, तुम सब इसे अनुमति दो।)

करुणा और वात्सल्य की अटूट धारा महाकवि ने इस अंक में प्रवाहित की है। प्रकृति के साथ संवेदना के स्तर पर हृदय की ऐसी एकतानता या लगाव का दुर्लभ

अनुभव भी अन्यत्र प्रायः नहीं मिलता। शकुंतला के प्रस्थान के समय "मृगियों ने घास के कौर उगल दिये हैं। मयूरों ने नृत्य करना छोड़ दिया है। पीले पत्ते गिराने वाली लताएँ मानो आँसू बहा रही हैं।" शकुंतला का पाला हुआ हरिणशावक अपने मुँह में उसके वस्त्र का छोर पकड़ कर खड़ा हो जाता है।

चरित्रचित्रण—अभिज्ञानशाकुंतल संस्कृत के उन विरले नाटको में से हैं, जिनमें नायक और नायिका का चारित्रिक विकास प्रदर्शित किया गया है। यह कालिदास की चरित्रचित्रण कला का उत्कृष्ट निदर्शन है। प्रथम अंक में हम शकुंतला को एक भोलीभाली किशोरी के रूप में देखते हैं। निश्छलता और पावनता से उसका चित्त ओतप्रोत है। रवींद्रनाथ ठाकुर ने उसे उचित ही निसर्गकन्या कहा है। पुरुष के सम्पर्क का उसे अनुभव नहीं है। वह दुष्यंत को देखकर उसकी ओर आकर्षित होती है, इस आकर्षण के साथ उसके मन में उथल-पुथल मच जाती है। वयःसंधि के समय पुरुष के सम्पर्क में आने से नायिका के भीतर होते रूपांतरण या परिवर्तन का सूक्ष्म चित्रण कालिदास ने किया है। चतुर्थ और पंचम अंकों में शकुंतला एक भिन्न रूप में हमारे सामने आती है। वह एक स्त्री बन चुकी है। पंचम अंक में दुष्यंत के द्वारा ठुकरा दिये जाने पर वह अप्रत्याशित रूप में अपनी तेजस्विता का परिचय देती है। सप्तम अंक में हम शुकंतला का और भी भिन्न रूप देखते हैं। दुष्यंत के शब्दों में—

वसने परिधूसरे वसाना, नियमक्षाममुखीधृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥ (७/२१)

यह शकुंतला का तपस्वी रूप है। आश्रम की मर्यादा को तोड़कर दुष्यंत के साथ एकांत में जो प्रणय किया, उसके अपराध को वह तप की आग में भस्म करके साधना और पवित्रता की साकार प्रतिमा बन चुकी है।

इसी प्रकार दुष्यंत को हम आरम्भ में एक रसिक नागर के रूप में देखते हैं। मृगया की वृत्ति उसे प्राणियों का ही नहीं, आश्रम की एक भोलीभाली किशोरी का भी शिकार करने के लिए प्रेरित करती है। शकुंतला को वह बहका कर उससे गांधर्व विवाह कर लेता है। दुर्वासा के शाप के कारण स्मृति का भ्रंश होने से वह उसे ठुकरा देता है, और स्मृति लौट आने पर गहन यंत्रणा और अपराधबोध की कचोट से पीड़ित होता है। पश्चात्ताप के द्वारा दुष्यंत का चित्त भी अकलुष बन जाता है। इस प्रकार षष्ठ और सप्तम अंकों में हम दुष्यंत को परिवर्तित रूप में देखते हैं।

द्वंद्वात्मकता कालिदास की चरित्रचित्रण कला की दूसरी बड़ी विशेषता है। उन्होंने कई पात्रों को एक दूसरे के साथ इस प्रकार रखा है कि उनकी तुलना में उनके चरित्र की विशेषताएँ स्पष्ट झलकने लगती हैं। उदाहरण के लिए प्रियंवदा तथा अनसूया दोनों शकुंतला की सखियाँ हैं, पर उनके स्वभाव और बोलचाल की शैली में अंतर है। दोनों के परस्पर वार्तालाप या शकुंतला के साथ इनकी बातचीत में पाठक या दर्शक इस अंतर को स्पष्ट अनुभव करता है। इसी प्रकार शार्ंगरव तथा शारद्वत परस्पर तथा दुष्यंत के साथ हुए संवादों में शार्ंगरव की तेजस्विता, विरोध की प्रवृत्ति तथा शारद्वत का संयम और धैर्य परिलक्षित होता है।

शाकुंतल का वैशिष्ट्य—अभिज्ञानशाकुंतल का किसी भी योरोपीय भाषा (अंग्रेजी) में पहला अनुवाद सर विलियम जोंस ने किया था, जो सन् १७८७ ई० में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद के प्रकाशन से योरोप के साहित्यप्रेमियों का ध्यान संस्कृत-साहित्य की इस महान् रचना की ओर गया। इस अंग्रेजी अनुवाद का भी जर्मन भाषा में अनुवाद जर्मनी के साहित्यकार फोर्स्टर ने किया और यह जर्मन रूपान्तर जब उस समय के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार महाकवि गोइथे ने पढ़ा, तो उन्होंने अभिभूत होकर उस पर जर्मन भाषा में एक सुंदर कविता लिखी। इस कविता का संस्कृत में अनुवाद इस प्रकार है—

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमहो सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम्॥

वसन्त ऋतु के पुष्पों और ग्रीष्म के फलों का सारा माधुर्य और जो कुछ भी मन के लिये रसायन, तृप्तिकर व मोहक है, अथवा स्वर्ग और पृथ्वी के ऐश्वर्य को अभूतपूर्व रूप में एक स्थान पर देखना चाहते हो, शाकुन्तल पढ़ो।

अभिज्ञानशाकुंतल की व्याख्या अनेक दृष्टियों और कोणों से की जा सकती है। यह भारतीय जीवन दृष्टि और आदर्शों को निरूपित करने वाली एक महान् रचना है। राजा का आदर्श, ऋषि कण्व और मारीच के वचनों में प्रतिफलित उदात्त मूल्यबोध सांस्कृतिक वैभव के परिचायक हैं। नागर संस्कृति के समानान्तर यह आश्रमों की संस्कृति की प्रतिष्ठा करते हुए द्वंद्व और विरोध के तेजस्वी स्वर की अभिव्यक्ति भी है। प्रथम अंक में जब राजा हरिण पर बाण छोड़ने को होता है, तो आश्रम के तपस्वी उसके बाण के आगे हरिण को छेंक कर खड़े हो जाते हैं और कहते हैं कि—''राजाओं के हथियार दुखियों की रक्षा करने के लिए होते हैं, निरपराधों पर प्रहार करने के लिए नहीं।'' राजा उसकी बात मान कर बाण वापस ले लेता है और आश्रम के भीतर जाता है, वहाँ शकुंतला को देखकर उसके भीतर का शिकारी फिर जाग उठता है। अब शकुंतला उसके लिए एक हरिण बन जाती है। राजा रक्षक न होकर एक शिकारी हो गया है। इस विरोध को कालिदास की यह कृति व्यक्त करती है। राजा को आश्रम के लोगों की रक्षा करनी चाहिये थी, वह उल्टे वहाँ असुरक्षा पैदा कर रहा है। तपस्वी राजा से अनुरोध करते हैं कि वह कुछ दिन आश्रम के पास रुका रहे जिससे वे राक्षसों की ओर से निश्चिंत होकर अपना यज्ञ निर्विघ्न समाप्त कर सकें। राजा यज्ञ की रक्षा के बहाने रुक जाता है, पर शकुंतला से चोरी-छिपे प्रेम करके आश्रम की मर्यादा को भंग करता है।

पाँचवें अंक में राजा शकुंतला को नहीं पहचान पाता और ठुकरा देता है। शकुंतला के साथ आया तापस कुमार शांर्गरव चिढ़ कर राजा को चुनौती देता हुआ कहता है—''जैसे अपने चोरी किये धन को उसका स्वामी चोर को ही सौंप दे इस

तरह तुमने महर्षि की बेटी के साथ अनाचार किया और उन्होंने उदार होकर अपनी बेटी तुम्हीं को सौंपना स्वीकार कर लिया, और तुम हो कि उनका फिर अपमान कर रहे हो!'' यहाँ राजा राजा न रहकर चोर हो गया है। शकुंतला उसे डपटती हुई कहती है— ''जैसे तुम हो, वैसा ही गिरा हुआ दूसरों को समझ रहे हो। धर्म का लबादा ओढ़े हुए और फूस से ढके कुँए की तरह हो तुम, तुम्हारे जैसा आचरण कोई और क्यों करेगा?''

एक ऋषि के व्यक्तित्व की महनीयता का अनुभव हमें इस नाटक में मिलता है, जो अत्यन्त प्रेरणाप्रद है।

शाकुंतल का समग्र संविधान मानवीय मनोविज्ञान के गहन चित्रण और प्रेमसम्बन्धों की अंतरंग परीक्षा की दृष्टि से भी सर्वथा समीचीन है। कालिदास ने इसमें नायक और नायिका के अंतर्द्वंद्व तथा अपराधबोध को उसकी वास्तविकता में निरूपित किया है। केवल सचेत मन ही नहीं, अवचेतन मन के बोध को भी महाकवि ने मानव मनोविज्ञान की अच्छी समझ के साथ यहाँ पकड़ा है। हंसपदिका का गीत दुष्यंत के अवचेतन में प्रसुप्त स्मृतियों के तार झंकृत कर देता है, और वह कहता है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥ (५/२)

(रमणीय दृश्य देख कर या मधुर शब्द सुन कर सुखी प्राणी भी जो बड़ा बैचेन हो उठता है, तो वह अपने चित्त में अनजाने ही पिछले जन्मों के उन स्नेह सम्बन्धों का स्मरण कर रहा होता है, जो स्थिर भाव वाले होते हैं।

कालिदास के रूपकों की विशेषताएँ

भाषा-शैली—कालिदास के रूपकों की एक स्पृहणीय विशेषता संवादों में पात्रानुरूप भाषा और शैली का संयोजन है। उनके संवादों में पात्र का व्यक्तित्व सजीव होकर व्यक्त हो जाता है। शाकुंतल में कण्व के प्रत्येक संवाद में एक ऋषि का उदात्त और महनीय व्यक्तित्व प्रतिबिंबित है। प्रियंवदा का चुलबुलापन और अनसूया की शालीनता उनके एक-एक शब्द से टपकती है। उक्ति प्रत्युक्ति के सधे विन्यास तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व के कारण भी कालिदास के संवाद चमत्कार उत्पन्न करते हैं। शाकुंतल में जब दुष्यंत अत्यन्त तन्मय होकर गंभीर भाव से शकुंतला के रूप का वर्णन कर रहा है, विदूषक अपने मुँहफट ढंग से कह उठता है—''तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान्। मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति।'' (तब तो आप शीघ्र उसका उद्धार कीजिये, नहीं तो इंगुदी के तेल से चिकनी खोपड़ी वाले किसी तपस्वी के हाथ पड़ जायेगी)। इसी नाटक के छठे अंक में मातलि अदृश्य रूप में हँसी के लिए विदूषक को दबोच लेता है, तब प्राणों के संकट में पड़ा हुआ भी विदूषक अपनी शब्दावली के द्वारा दर्शकों को गुदगुदा देता है। वह कहता है—एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिक्षुमिव त्रिभङ्गं करोति। (यह मुझे कोई गरदन मरोड़ कर ईख की

तरह तीन टुकड़ों में मोड़े दे रहा है)। मृत्यु के मुख में पड़े विदूषक के द्वारा अपने लिए गन्ने की उपमा कितनी उपयुक्त है। गन्ने को इक्षुयंत्र (घानी) में पेरने के पहले तीन टुकड़ों में मोड़ दिया जाता है। आगे विदूषक कहता है—"विडालगृहीत मूषक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः।" बिलार के द्वारा पकड़ लिये गये चूहे की तरह मैं अपने जीवन को लेकर निराश हो चुका हूँ। यहाँ विदूषक की उक्तियाँ लोकजीवन की छटा लेकर आती हैं और दर्शकों को रसविभोर कर देती हैं। बच्चों, किशोरियों और युवतियों तथा वृद्ध लोगों के बोलने का ढंग और उनकी विशिष्ट पदावली को कालिदास ने बहुत बारीकी से पकड़ा है। शाकुंतल के पहले अंक में अनसूया, प्रियंवदा और शकुंतला का हास-परिहास, ताने और ठिठोलियाँ संस्कृत नाट्यसाहित्य में अपूर्व ही हैं। वे जितने ही सहज स्वाभाविक हैं, उतने ही रोचक भी। कालिदास वक्रोक्तियों, छेकापह्नुतियों और भ्रांतापह्नुतियों के भी स्मरणीय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। मालविकाग्निमित्र में मालविका की संगिनी चेटी वकुलावलिका के संवाद इस दृष्टि से अत्यंत रोचक हैं। उदाहरण के लिए वकुलावलिका ठिठोली करने के लिए मालविका से कहती है—"एष उपारूढरागः उपभोगक्षमः पुरतस्ते वर्तते" [यह उपारूढ राग (बढ़े हुए लाल वर्ण वाला, बढ़े हुए प्रेम वाला) तथा उपभोग के योग्य तुम्हारे सामने स्थित है।] मालविका जो अग्निमित्र पर अनुरक्त है, यहाँ अग्निमित्र सामने है ऐसा समझ कर उत्सुक हो कर पूछती है—"किं भर्ता?" तब बकुलावलिका उत्तर देती है—"न तावद् भर्ता। एषोऽशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छः।" विक्रमोर्वशीयम् की नायिका उर्वशी तो अप्सरा होने के कारण इस प्रकार की वक्रोक्तियों में निपुण है। चित्रलेखा के साथ अपने प्रिय से मिलने के लिए जाती हुई उर्वशी के ये संवाद शिष्ट हास्य और प्रणय के रोमांच का अच्छा अनुभव देते हैं—

चित्र०—कः पुनः सख्या तत्र प्रथमं प्रेषितः ?
उर्वशी—ननु हृदयम्।
चित्र०—को नु त्वां नियोजयति ?
उर्वशी—मदनः खलु मां नियोजयति।

संवादों में प्रतीक या उपमाओं का विन्यास कालिदास ने रोचकता और सौंदर्य की वृद्धि के साथ-साथ स्थिति को हृदयंगम बनाने के लिए किया है। धारिणी के कोप के कारण कारागार में बंद की गयी मालविका के लिए विदूषक कहता है कि उसका हाल ऐसा ही है, जैसा बिल्ले के द्वारा पकड़ ली गयी कोयल का होता है—"यो विडालगृहीतायाः परभृतिकायाः।" फिर उसके द्वारा कपट से छुड़ा कर लायी मालविका जब इरावती के द्वारा देख ली जाती है, तो इस स्थिति को परिलक्षित करके विदूषक सोचता है—"अहो अनर्थः सम्पतितः बन्धनभ्रष्टो गृहकपोतो विडालिकाया आलोके पतितः।" (अरे, कैसा अनर्थ हुआ, बंधन से छूटा घर का कबूतर बिल्ली की दृष्टि में पड़ गया।) इस नाटक के अंतिम अंक में रानी धारणी स्वयं राजा की प्रिया मालविका का हाथ उसके हाथ में सौंपने लगती है, और राजा लजा जाता है, तब रानी के मुस्कुरा

कर यह कहने पर कि आर्यपुत्र, आप अपनी प्रिया की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं, विदूषक तत्काल कहता है—"भवति, एष लोकव्यवहार:; सर्वो नववरो लज्जातुरो भवतीति" (रानी जी, यह तो लोकव्यवहार है कि हर नया दूल्हा लाज से भरा रहता है।) विक्रमोर्वशीयम् में रानी औशीनरी प्रियप्रसादनव्रत के बहाने राजा पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम पर अपनी सहमति दे देती है, इस पर विदूषक राजा से कहता है—"छिन्नहस्ते मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति—गच्छ धर्मो मे भविष्यतीति।"—जैसे मछुआरे के जाल से मछली फिसल कर भाग जाय और वह कहे कि जा मैंने तुझे छोड़ा, मुझे पुण्य मिलेगा—उसी तरह रानी ने आपको यह छूट दी है।

इसी तरह शाकुंतल में शकुंतला और उसकी सखियों की भाषा में आरम्भ में किशोरसुलभ चपलता झलकती है, तो बाद में अंकों में क्रमश: परिपक्वता। ऋषियों की वाणी में कालिदास की भाषा की गम्भीरता तथा उदात्तता विशेष रूप से परिलक्षित होती है और उसमें अलग-अलग ऋषियों के संवादों में उस ऋषि के अपने व्यक्तित्व की झलक कवि ने दिखा दी है। कण्व के सारे संवादों में उनकी तप:पूत दृष्टि के साथ वात्सल्य और स्नेह छलक रहा है, तो दुर्वासा के संवाद में एक-एक शब्द उद्दीप्त और अग्निगर्भित लगता है। अंतिम अंक में मारीच ऋषि का प्रत्येक कथन ऋषि के वचनों की गुरुता और वास्तविकता का बोध देता है।

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चैव त्रितयं चात्र सङ्गतम्॥ (७/२९)

तीनों ही नाटकों में विविध दृश्यों के वर्णन गतिशीलता और नाटकीयता लिये हुए हैं, वे शब्दचित्रों के द्वारा अभिनय की संभावनाएँ भी उन्मीलित करते हैं। शाकुंतल के पहले अंक में ही रथ से भागता दुष्यंत गति और पीछे छूटते जाते दृश्यों का जो अनुभव करता है, वह वर्णनकला और नाटकीयता का सुंदर उदाहरण है—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद् विपुलतां
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत्।
प्रकृत्या यद् वक्रं, तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किञ्चित् क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात्॥ (१/९)

दूर से दिखती सूक्ष्म वस्तु सहसा विपुल बन जाती है, जो आधी कटी हुई थी, वह सहसा जुड़ जाती है, जो स्वभाव से टेढ़ा है वह भी आँखों को समरेख दिखायी देता है, रथ के वेग के कारण क्षणभर में कुछ भी न मुझसे दूर रह जाता है, न मेरे पास रह जाता है।

कालिदास किसी भी दृश्य को अपने शब्दों के द्वारा चित्र की तरह अंकित कर देते हैं। स्वर्ग से धरती की ओर लौटता दुष्यंत आकाश से सारी पृथ्वी का अवलोकन करता है। आकाश से नीचे उतरते समय धरती के दृश्य जिस तरह उभरते हैं, उनका चित्रण अद्भुत कल्पनाशक्ति के द्वारा किया गया है—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात् पादपा:।

सन्धानं तनुभागनष्टसलिलव्यक्त्या व्रजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते॥

(अभिज्ञान०, ७/८)

(पर्वतों के ऊपर उठते शिखरों से धरती नीचे उतरती लग रही है, तने प्रकट होने से जैसे पत्तों के भीतर छिपे वे पेड़ जैसे सामने आ रहे हैं, पतली रेखा भर दिखने के कारण जो नदियाँ बिना जल के दिख रही थीं, उनका प्रवाह दिखायी दे रहा है तो वे प्रकट होती लगती हैं। लगता है सारा संसार जैसे कोई उछाल कर मेरे पास में लाये दे रहा हो।)

काव्यों की भाँति कालिदास के नाटकों में भी उपमाओं ने काव्यात्मकता और सौंदर्य में मणिकांचनयोग प्रस्तुत कर दिया है। उपमाएँ यहाँ नाटक की विषय-वस्तु तथा संप्रेषणीय भाव को परिपुष्ट करती चलती हैं। शाकुंतल में प्रथम अंक के अंत में शकुंतला और उसकी सखियों के विदा लेकर चले जाने के पश्चात् दुष्यन्त कहता है—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥ (१/३१)

(शरीर आगे सरक रहा है अपरिचित मन पीछे भाग रहा है। जैसे हवा के विरुद्ध ले जायी जा रही पताका में बँधा रेशमी वस्त्र।) यहाँ देह के लिए शरीर शब्द का प्रयोग सारगर्भित है। "शीर्यते इति शरीरम्"—जो शीर्ण हो रहा है वह शरीर है। शरीर शब्द नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार दुष्यंत शरीर कह कर देह के प्रति अरुचि और अनास्था प्रकट करता है। 'गच्छति' क्रिया में संयुक्ताक्षर का प्रयोग अटक-अटक कर आगे चलने का भाव व्यक्त करता है। जबकि मन के लिए चेतनायुक्त होने का भाव बताने के लिए 'चेतः' शब्द का प्रयोग और धावति क्रिया का प्रयोग किया है। ऐसे शरीर और मन के लिए आगे ले जाये जाते झंडे के बाँस और उसमें बँधी पीछे फहराती पताका की उपमा कवि की सूझबूझ और स्थिति को उपमान के द्वारा हृदयंगम बनाने की क्षमता का सजीव उदाहरण है।

इसी प्रकार शकुंतला के विषय में दुष्यंत कहता है—

सुरयुवतिसम्भवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम्॥ (२/९)

(वह अप्सरा से जन्मी मुनि विश्वामित्र की संतान है, जो उस अप्सरा के द्वारा छोड़ दिये जाने से आश्रम में ऐसे ही प्राप्त हुई जैसे नवमालिका का फूल ढीला होकर लता से गिरता हुआ आक के ऊपर जा अटका हो।)

यहाँ अर्क या मंदार का फूल शिव के माथे पर चढ़ाया जाता है, अतः वह पवित्र है, उससे आश्रम के लिए उपमा दी गयी है तथा शकुंतला को नवमालिका के फूल से।

जब राजा दुष्यंत शकुंतला की सखियों के साथ रसमय वार्तालाप में लीन है, उसके अनुयायियों के आने से आश्रम में होने वाली बाधा के वर्णन में कवि ने कहा है—घोड़ों के टापों से उड़ती धूल डूबते सूरज की आभा में लाल होकर पेड़ों की

शाखाओं पर लटकाए वल्कलों पर गिर रही है, जैसे उन पर पतिंगे टूट पड़े हों। यहाँ नगर के लोगों के आने से आश्रम के शांत और पावन परिवेश में जो प्रदूषण आ रहा है, उसके लिए सटीक उपमा का प्रयोग किया गया है। यह उपमा सारे नाटक के अंतःस्वर को मुखरित करती है। इस भगदड़ से भड़का एक जंगली हाथी आश्रम की ओर बढ़ा चला आ रहा है। इसके लिए तपस्वी के संवाद में कवि ने उपमा दी है—वह हम तपस्वियों की तपस्या का मूर्तिमान् विघ्न है। यह उपमा भी सारे नाटक के कथ्य को उद्‌भासित कर देती है।

सौंदर्यदृष्टि तथा सौंदर्यचित्रण

कालिदास सहज और स्वाभाविक सौंदर्य को ही वरेण्य मानते हैं। शकुंतला इस स्वाभाविक सौंदर्य की साकार मूर्ति है। शकुंतला को देख कर दुष्यंत को भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि कृत्रिम अलंकारों से वास्तव में शोभा नहीं बढ़ती। जो स्वभाव से सुंदर है, उन्हें बाहरी सजावट की क्या आवश्यकता—

सरसिजमनुवद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म सक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥ (अभि०, १/१७)

(कमल सिवार से घिर कर भी सुंदर लगता है, चन्द्रमा का मैला धब्बा भी उसकी शोभा को बढ़ाता है, यह तन्वी वल्कल में भी सुन्दर लग रही है, जो मधुर आकृतियाँ हैं, उनके लिए क्या अलंकार नहीं बन जाता?) निसर्गकन्या शकुंतला के लिए कवि ने नैसर्गिक उपमानों का ही प्रयोग किया है। दुष्यन्त उसके रूप की सराहना करता हुआ कहता है—उसके अधर कोंपल की तरह लाल हैं, बाहें कोमल डगाल का अनुकरण कर रही हैं। फूल के जैसा लुभावना यौवन इसके अंगों में सन्नद्ध है। यह सौन्दर्य कला में सारा नहीं समा सकता। नायिका के चित्र के लिए दुष्यंत कहता है—

यद् यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत् तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्॥ (६/१४)

चित्र में जो कुछ भी अच्छा नहीं बना है, उसे मिटा-मिटा कर फिर से बना दिया है, फिर भी शकुन्तला का सौंदर्य रेखाओं में थोड़ा-सा ही अँट सका है। निस्सीम सौंदर्य का अनुभव मनुष्य चराचर जगत् के साथ एकाकार होकर कर सकता है। इसी चित्र को समग्र बनाने के लिए दुष्यंत की परिकल्पना है—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्त्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः॥
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥ (६/१७)

(अभी इसमें वह मालिनी नदी बनानी है, जिसके रेतीले तट पर हंसों के जोड़े दुबके हों। उसके आसपास पार्वती के पिता हिमालय की पावन ढलानें बनानी हैं। एक

ऐसा पेड़ जिसकी डालों पर मुनियों के वल्कल सूखने को लटकाये गये हैं, उसके नीचे मैं अपने सींग से कृष्णमृग की बायीं आँख खुजाती हरिणी को बनाना चाहता हूँ।) प्रेम की इस तल्लीनता और सृष्टि के कण-कण के साथ एकाकार होने में ही सच्चे सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। ऐसे सौंदर्य को महाकवि ने अपनी रचनाओं में सजीव बना दिया है।

जीवनदृष्टि तथा आदर्श—तीनों नाटकों में हम कालिदास की जीवनदृष्टि तथा आदर्शप्रवणता का विकास देखते हैं। मालविकाग्निमित्र में कवि यह कहना चाहता है कि राजा को विलासिता और रागरंग छोड़ कर प्रजा के हित में संलग्न होना चाहिये। इसके भरतवाक्य में अग्निमित्र कहता है—

आशास्यमीतिविगमप्रभृतिप्रजानां
सम्पत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे।

(अग्निमित्र के शासन करते होने पर प्रजाओं की ईति, भीति आदि बाधाएँ दूर न हों, ऐसा तो हो ही नहीं सकता।)

विक्रमोर्वशीयम् में कवि सर्वांगीण विकास की कामना करता है, जिसमें लक्ष्मी और सरस्वती का समागम हो—"सङ्गतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयोऽस्तु सदा सताम्।" अभिज्ञानशाकुंतल में मुनिकुमार के मुख से राजा की प्रशंसा में कहलाया गया है—आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः। (विपत् में पड़े लोगों को अभय देने के यज्ञ की तो पुरुवंशी राजाओं ने दीक्षा ले रखी है।) कालिदास की दृष्टि में यही राजा का आदर्श है। दूसरे अंक में भी मुनिकुमार राजा में राजर्षि का रूप देखते हैं। राजपद कवि की दृष्टि में एक तपस्या है। पाँचवें अंक में कंचुकी के मुख से राजा के कर्तव्य को लेकर यह टिप्पणी बड़ी उपयुक्त है—"अविश्रमो ह्ययं लोकतन्त्राधिकारः।" (लोकतंत्र या प्रजा के पालन में लगे राजा को विश्राम करने का अवकाश नहीं होता।) कालिदास की दृष्टि में राजा होने का अर्थ भोग-विलास में लिप्त होना नहीं है, वास्तव में तो राज्य करना सुख के उपभोग के लिए नहीं, कष्ट झेलने के लिए होता है—

नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्॥ (शाकु० ५/६)

(राज्य करना थकान मिटाने के लिए नहीं, बल्कि थकान के लिए होता है, जैसे धूप से बचने के लिए अपना छत्र स्वयं उठाकर चलना।)

कालिदास ने भोगवाद की सामंतीय मनोवृत्ति का दृढ़ खंडन किया है, पर उन्होंने शरीर को निरर्थक कष्ट देने वाले तप का भी पक्ष नहीं लिया है। उनके आदर्श ऋषि कण्व और कश्यप हैं, न कि दुर्वासा। ऐसे आदर्श मुनियों के लिए कवि ने कहा है—

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमः
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया
यत् काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी॥ (अभि०, ७/१२)

(कल्पवृक्ष के वन में भी प्राणों की वृत्ति ये केवल हवा से चला रहे हैं, स्वर्णकमल के पराग के पिंगल वर्ण वाले जल में ये धर्मपूर्वक अभिषेक की क्रिया ही

करते हैं, रत्न की शिलाओं पर ध्यान करते हैं, अप्सराओं के सान्निध्य में संयम रखते हैं। अन्य मुनि तपस्या के द्वारा जो चाहते हैं, ये उसके बीच रह कर तप कर रहे हैं।)

अपने काव्यों की भाँति नाटकों में भी कालिदास ने आश्रमों की संस्कृति का यशोगान किया है। नगरो की भौतिकता, विलासिता व सामंतीय समाज की स्त्रैणता के प्रतिरोध में उन्होंने आश्रमों के अपरिग्रह, स्वावलंबन, तेजस्विता और निःस्पृहता को महत्त्व दिया है। जब विदूषक हँसी-हँसी में दुष्यंत से आश्रम के मुनियों से कर वसूलने की बात कहता है, तो राजा तुरन्त उसे झिड़क कर कहते हैं—"राजा को अन्य लोगों से जो धन के रूप में शुल्क मिलता है, वह तो नष्ट हो जाता है, मुनिजन अपनी तपस्या के द्वारा उसे जो पुण्य प्रदान करते हैं, वह अक्षय हो जाता है।" दुष्यंत आश्रम में प्रवेश करने के पहले अपना राजसी वेश व अस्त्र त्याग देता है। अपने सेनापति से भी वह कहता है कि सैनिक आश्रम में विघ्न न करें, क्योंकि तपोवन में भले ही शांति छायी रहती हो, पर इसके भीतर ऐसा तेज छिपा हुआ है, जो जला सकता है।

लोकहित की भावना तथा राजा के कर्तव्य को कालिदास ने अपने तीनों नाटकों में बड़े मार्मिक रूप में अभिव्यक्त किया है। शाकुंतल ऋषिकुमार राजा को देख कर कहते हैं कि यह राजा भी मुनि ही है, मुनि आश्रम में निवास करते हैं, तो यह गृहस्थाश्रम में प्रतिष्ठित है, मुनि तप करते हैं, यह प्रजा की रक्षा का तप करता है, मुनियों का यश स्वर्ग तक फैला हुआ है, तो इसका यश भी। केवल अंतर यही है कि यह केवल ऋषि नहीं, राजर्षि है।

तीनों ही नाटकों में कालिदास ने भारतीय गृहिणी के आदर्श और माहात्म्य को स्थापित किया है। शाकुंतल के अंतिम अंक में ऋषि शकुंतला क़ो समझाते हुए कहते हैं—बेटी, अपने सहधर्मचारी के लिए रोष मत करना, क्योंकि शाप के कारण इसकी स्मृति रुँध गयी थी उससे इसने तुझे ठुकरा दिया। अब तो अपने भरतार पर तेरा ही पूरा स्वामित्व है—"भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव।" पति और पति को एक दूसरे के अधीन, एक दूसरे के वश में रहना चाहिये—कालिदास दाम्पत्य के इस स्पृहणीय आदर्श को प्रतिष्ठित कर रहे हैं। इसके साथ ही कालिदास नारी की तेजस्विता के प्रशंसक हैं। शकुंतला के कैशोर्यसुलभ भोलेपन और निष्पाप मन का उन्होंने शाकुंतल के पहले तीन अंकों में अंतरंग चित्रण किया है। वही शकुंतला दुष्यंत के द्वारा तिरस्कृत होने पर उसका अत्यन्त तेजस्वी शब्दों में प्रत्याख्यान करती है। इसी प्रकार धारिणी का वीरपत्नी तथा वीरमाता का यह रूप भी मालविकाग्निमित्र में प्रेरणाप्रद है—

भर्त्रासि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात् त्वामुपस्थितः॥

शिक्षण-पद्धति और आदर्श गुरु और शिष्य के विषय में 'मालविकाग्निमित्रम्' में कालिदास के विचार मनन के योग्य हैं। वे कहते हैं कि गुरु जितना उपदेश देता है उसमें कुछ और अच्छा जोड़ कर शिष्य उसे ग्रहण करता है। इस प्रकार शिष्य गुरु के लिए प्रत्युपदेश करने वाला बन जाता है। प्रतिभाशाली शिष्य को दिया गया ज्ञान और भी

गुणवाला हो जाता है, जैसे किसी-किसी सीपी में पानी की बूँद मोती बन जाती है। अपने शास्त्रज्ञान की वृद्धि न करता हुआ जो गुरु केवल जीविका के लिए ज्ञान देता है, वह ज्ञान को बेचने वाले वणिक् के समान है। किसी गुरु का ज्ञान तो बहुत अधिक होता है, पर अभिव्यक्ति अच्छी नहीं होती। किसी के ज्ञान में न्यूनता होती है, पर वह उसे शिष्यों को समझाता बहुत अच्छी तरह है—''श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था, सङ्क्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।'' जिस गुरु में ज्ञान की पूर्णता भी हो और अभिव्यक्ति भी प्रशस्य हो, वह श्रेष्ठ शिक्षक है—''यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।''

तीनों नाटकों में कालिदास की जीवनदृष्टि का क्रमिक विकास तथा अपने समय के जीवन और समाज की व्याख्या देखी जा सकती है। मालविकाग्निमित्र आधिभौतिक स्तर पर अधिक स्थित है। वह अंत:पुर के यथार्थ का सटीक चित्रण है। विदूषक राजा अग्निमित्र के मुँह पर कह देता है—तुम उस गीध की तरह हो, जो कसाईखाने पर कच्चे मांस की लालच में मँडराता भी है और डरता भी है। सामंतीय समाज की लंपटता और आंतरिक भीरुता पर यह बड़ी साहसिक टिप्पणी है। विदूषक के मुख से कालिदास ने इस तरह तीनों ही नाटको में सामाजिक व्यवस्था पर पैनी टिप्पणियाँ की हैं। विक्रमोर्वशीयम् में प्रेम स्थूल दैहिक धरातल से ऊपर उठ कर मनोदैहिक धरातल पर प्रतिष्ठित रहता है। उर्वशी पुरूरवा के केवल बाहरी रूप पर नहीं रीझती, वह उसके साहस और पराक्रम के कारण उसे चाहती है। अभिज्ञानशाकुंतल में प्रेम शारीरिक आकर्षण से आरम्भ होकर भी तप और जीवन मूल्यों से जुड़ कर महनीय बन जाता है। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में—''जिस प्रेम में कोई बंधन नहीं, जो सहसा स्त्रीपुरुष को अपने वश में करके उनके संयमरूपी किले को तोड़ कर उस पर अपनी विजयपताका गाड़ देता है, उस प्रेम की शक्ति को कालिदास ने स्वीकार किया है, पर उसके निकट आत्मसमर्पण नहीं कर दिया। कालिदास ने दिखा दिया है कि जो अंध प्रेम हमें अपने कर्तव्य से विमुख करता है, वह प्रभु के शाप से खंडित हो जाता है, और देवता की क्रोधाग्नि में जल जाता है। शकुंतला ने जब आतिथ्य धर्म को कुछ नहीं समझा, उसके लिए दुष्यंत ही सब कुछ हो गये, तब उस प्रेम में शकुंतला का कल्याण नहीं रहा। जो पागल प्रेम प्रियजन को छोड़ कर सबकुछ भूल जाता है, सबके विरुद्ध वह अपनी स्थिति को बनाये नहीं रख सकता। .....जो प्रेम तपस्वी की तपस्या भंग करने के लिए, गृहस्थ के घर में उसके सांसारिक धर्म को परास्त करने के लिए उत्पन्न होता है, वह आँधी के समान अन्य को नष्ट करता है, तो अपने विनाश को भी अपने साथ ही लिये आता है।''

कालिदास का रंगमंच और नाट्यशास्त्रीय ज्ञान—कालिदास भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का अंतरंग परिचय रखते हैं, तथा इस शास्त्र की पूरी जानकारी रखते हुए वे उसके सारे विधि-विधानों का पालन भी करते हैं। यदि वे नाट्यशास्त्रीय विधि-विधानों का कहीं उल्लंघन भी करते हैं, तो यह उल्लंघन नाटक को और अधिक रमणीय बना देता है। कालिदास ने भरत मुनि का उल्लेख भी विक्रमोर्वशीयम् में किया है, जहाँ उनके द्वारा आठ रसों वाले ललित अभिनय वाले लक्ष्मीस्वयंवर नामक नाटक का

अभिनय कराये जाने की चर्चा है। मालविकाग्निमित्रम् में नाट्य की विशेषता बताते हुए कालिदास ने रंगमंच और नाटक का जो स्वरूप स्पष्ट किया है, वह भरतमुनि के सिद्धान्तों के अनुरूप है—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥ (१/४)

मालविका के द्वारा मालविकाग्निमित्रम् में छलित नाट्य की प्रस्तुति की जाती है। कालिदास ने परिव्राजिका के मुख से मालविका के नाट्य-प्रदर्शन की जो सराहना करायी है, उसमें विशेष रूप से उनके नाट्यशास्त्र का ज्ञान परिलक्षित होता है।

भरत मुनि ने प्रदर्शन की शैली की दृष्टि से नाट्यप्रयोग के दो मार्ग बताये हैं—आविद्ध मार्ग और सुकुमार मार्ग। आविद्ध मार्ग में गति और वेग अधिक रहते हैं, तो सुकुमार मार्ग में कोमलता तथा लालित्य अधिक रहता है। कालिदास स्वयं सुकुमार मार्ग के नाटककार हैं, इस दृष्टि से उन्होंने भरत मुनि के नाट्यप्रयोग को ललित अभिनय वाला कहा है, क्योंकि भरत मुनि की मंडली में अप्सराएँ भी हैं। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि अप्सराओं का समावेश हो जाने से नाट्यप्रयोग में लालित्य आ गया।

नायक-नायिका के सम्बन्ध को भरतमुनि ने उपचार कहा है। कालिदास भी अपने नाटको में उपचारविधि का उल्लेख भी करते हैं तथा भरत मुनि के प्रतिपादन के अनुसार ही उपचार का चित्रण करते हैं। उपचार तीन प्रकार का है—बाह्य, आभ्यंतर तथा बाह्याभ्यंतर। मालविकाग्निमित्र आभ्यंतर उपचार की कृति है, तो विक्रमोर्वशीयम् बाह्याभ्यंतर उपचार की। मालविकाग्निमित्र में इरावती का अग्निमित्र के प्रति क्रोध भरत मुनि के द्वारा बतायी गयी आभ्यंतर उपचार की विधि का अच्छा उदाहरण है, तो विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी का आचरण बाह्याभ्यंतर विधि का। इसी उपचार विधि के प्रसंग में भरत मुनि ने राजा या नायक की प्रच्छन्नकामिता को अंतःपुर से सम्बद्ध नाटकों की कथावस्तु का एकसूत्र बताया है। भरत मुनि कहते हैं कि जिस नायिका के प्रति मन में आकर्षण हो, और जिसकी ओर से दूसरों के द्वारा रोका जाये तथा जो दुर्लभ भी हो, उसके साथ प्रेम में रति पराकाष्ठा को पहुँचती है। कालिदास ने भरत के प्रच्छन्नकामिता के सिद्धान्त को शाकुंतल में सत्यापित करते हुए उसे अपूर्व मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक व आध्यात्मिक गहराई तथा ऊँचाई दी है।

कालिदास के रंगसंकेतों से स्पष्ट है कि उनके रूपकों का अभिनय भरतसम्मत पद्धति से ही सर्वोत्कृष्टतया किया जा सकता है। पहले अंक का आरम्भ ही तेजी से भागते रथ पर सवार तथा हरिण का पीछा करते दुष्यंत के प्रवेश के साथ होता है। इस दृश्य का प्रदर्शन भरत मुनि द्वारा प्रदर्शित भावात्मक पद्धति से होगा। अभिनेता अपने देह से ही रथ, रथ के भागने आदि के सारे कार्यव्यापार को प्रदर्शित करेगा। स्थूल उपकरणों के आग्रह के स्थान पर इस प्रकार की अभिव्यंजनापूर्ण तथा नाट्यधर्मी पद्धति ही नाट्यशास्त्र में आदर्श मानी गयी है।

विक्रमोर्वशीयम् के प्रारम्भ में आकाश-मार्ग से उर्वशी अप्सरा को हर कर ले जाते केशी दानव को परास्त करके नायक पुरूरवा उर्वशी को छुड़ा कर लाता है। इस दृश्य में अप्सराएँ आकाश-मार्ग पर उड़ती या विचरण करती प्रदर्शित की जाती हैं। वह आकाश से हेमकूट पर्वत के शिखर पर उतरती हैं। पुरूरवा भी रथ पर उर्वशी तथा चित्रलेखा को लेकर आता हुआ दिखाया गया है। शाकुंतल के षष्ठ अंक में सानुमती अप्सरा आकाश-मार्ग से उतरती है और आकाश-मार्ग पर उड़ जाती है। इसी अंक में मातलि भी रथ के साथ स्वर्ग से उतरता है। वस्तुतः कालिदास को धरती से आकाश और आकाश से धरती की यात्रा का प्रदर्शन बहुत प्रिय है।

कालिदास के रूपकों में अंतर्वस्तु, कथासंरचना तथा रंगदृष्टि इन तीनों की दृष्टि से भरतकृत नाट्यशास्त्र का संस्कार सूक्ष्म रूप से अनुस्यूत है। संधियों तथा संध्यंगों की आनुपूर्वी के यथावत् निर्वाह के स्थान पर संध्यंगों की सम्मिश्रता तथा पुनरावृत्ति कालिदास में अधिक मिलती है। यह भी भरतमुनि के निर्देश के अनुसार ही है। नाट्यशास्त्र के एक आचार्य सुबंधु ने नाटक के पाँच प्रकार बताये हैं, इनमें से एक प्रकार समग्र नाटक है। कालिदास के नाटक समग्र नाटक की परिभाषा पर खरे उतरते हैं। समग्र नाटक का स्वरूप भरत मुनि ने भी इस प्रकार बताया है—

पञ्चसन्धि चतुर्वृत्ति चतुःष्ट्यङ्गसंयुतम्।
षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतं गुणालङ्कारभूषितम्॥
महारसं महाभोगमुदात्तवचनान्वितम्।
सुष्लिष्टसन्धिसंयोगं सुप्रयोगं सुखाश्रयम्।
मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम्॥

(नाट्यशास्त्र, १९/१३९-४१)

उपसंहार

महाकाव्य की विकास-यात्रा के समान ही नाटक की भी संस्कृत-साहित्य में विकास-यात्रा समझी जा सकती है। पूर्ववत् ईसापूर्व की पाँचवीं शती से नाटक और रंगमंच की परम्परा का अंकुरण मान कर हम तब से लगा कर ईसा की पाँचवीं शती तक की लगभग एक सहस्त्र वर्ष की अवधि को संस्कृत नाटक का स्थापनाकाल मान सकते हैं। इस काल में भास और कालिदास जैसे महान् नाटककार हुए तथा नाटक की विविधता और रंगमंच से उसके अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की दिशा निर्धारित हुई।

✣

अध्याय ६

मुक्तक तथा लघुकाव्य की परम्परा का उद्‌भव, स्थापना और विकास

संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने श्रव्यकाव्य के दो प्रमुख प्रकार माने—निबद्ध तथा अनिबद्ध। निबद्ध को ही प्रबंधकाव्य भी कहा गया है। महाकाव्य इसका मुख्य प्रकार है। अनिबद्ध काव्य में काव्य के ऐसे अन्य भेद आते हैं, जो महाकाव्य या निबद्ध काव्य के समान विस्तीर्ण नहीं होते। आचार्य रुद्रट ने ऐसे काव्यों को लघुकाव्य भी कहा है। लघुकाव्य में महाकाव्य के समान सारे रस न हो कर एक रस तथा एक पुरुषार्थ होता है। महाकाव्य में जीवन का सर्वांगीण रूप रहता है, लघुकाव्य में उसका एक पक्ष, कोई एक भाव, कोई एक मन:स्थिति रह सकती है। लघुकाव्य को क्षुद्रकाव्य तथा खंडकाव्य भी कहीं-कहीं कहा गया है। आचार्यों ने मुक्तक (अपने आपमें संपूर्ण एक पद्य) को इसी का एक प्रकार माना।

वास्तव में तो मुक्तक विश्व साहित्य की सबसे प्राचीन विधा तथा सभी काव्य विधाओं की जननी कही जा सकती है। वाचिक परम्परा में सृष्टि के आदि काल में जब मनुष्य ने अपने भाव को काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी, तो उसने गाथा, मुक्तक या गीत इस प्रकार की काव्यकोटियों की ही सर्वप्रथम रचना की। वेद के मंत्र अपने आपमें मुक्तकों के उदाहरण हैं। लौकिक काव्य की सृष्टि का उपक्रम भी वाल्मीकि के मुख से अनायास निकल पड़े एक मुक्तक के द्वारा ही हुआ।

वैदिक काल से ही गाथा जन समाज में अत्यन्त लोकप्रिय रही है। गाथा मूलत: एक प्रकार का लोकगीत है। काठक संहिता (२४/१) में प्राप्त एक कथा के अनुसार स्त्री-रूप में अवतरित वाणी को आकृष्ट करने के लिए देवों ने गाथाओं का गायन किया। मैत्रायणी संहिता (३/७/३) में बताया गया है कि विवाह में गाथाएँ गाई जाती हैं और गाथाओ का गायन करने वाले स्त्रियों को प्रिय होते हैं।

महाभारत के समय विभिन्न प्रकार के मुक्तककाव्य राजसभा या जनसमाज में सुनाये जाते थे, जिनका संकेत सभापर्व (११/३५) में "सामानि स्तुतिगीतानि गाथाश्च विविधास्तथा" के द्वारा किया गया है। आचार्य भामह ने काव्य की पाँच विधाएँ बतायीं थीं, जिनमें उन्होंने अनिबद्ध या मुक्तक को अंतिम स्थान दिया। गाथा या केवल श्लोक मात्र अनिबद्ध काव्य है। दंडी ने भी प्रबंध के अतिरिक्त मुक्तक, कुलक, कोश, संघात आदि विधाओं का उल्लेख किया है, और इन्हें सर्गबंध या महाकाव्य का अंशरूप माना। वामन के अनुसार अनिबद्ध काव्य तेज के परमाणु की तरह पूर्ण प्रकाशित नहीं होता।

आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त इन दो आचार्यों ने मुक्तक काव्य को भी अपने काव्यचिंतन में वरेण्य माना। आनन्दवर्धन के अनुसार एक-एक मुक्तक में भी प्रबन्ध की भाँति रसपरिपाक संभव है। अभिनवगुप्त के मत में मुक्तक पूर्वापर-निरपेक्ष या अपने आपमें पूर्ण रह कर भी रसास्वाद करा देता है।

आचार्यों के द्वारा परिगणित लघुकाव्य की श्रेणी में निम्नलिखित काव्य प्रकार समाविष्ट हो जाते हैं—

मुक्तक—अपने आपमें सम्पूर्ण किसी भी विषय, प्रसंग, भाव को व्यक्त करने वाला एक सरस पद्य। प्राकृत या लोकभाषा में रचित होने पर इसी को गाथा कहा गया है। गाथा आर्या की कोटि के एक छंद का नाम भी है। गाथाएँ इसी छंद में रची जाती रही हैं।

संदानितक—परस्पर संबद्ध दो मुक्तकों का युग्म या जोड़ा।

विशेषक—परस्पर संबद्ध तीन मुक्तकों का संग्रह।

कुलक—परस्पर संबद्ध चार मुक्तकों का संग्रह। अग्निपुराण के मत से समान वृत्त के निर्वाह से युक्त; कैशिकी वृत्ति वाला; प्रवास, या पूर्वानुराग से संपन्न शृंगाररस प्रधान काव्य। इसी को कहीं-कहीं संदानितक भी कहा गया है।

संघात—एक कवि के द्वारा रचित एक प्रसंग या वर्ण्य विषय पर केंद्रित सूक्ति समुदाय।

शतक—किसी भी विषय पर रचे गये लगभग सौ श्लोकों का संग्रह।

खंडकाव्य—महाकाव्य के एक अंश के समान होता है। इसमें नाटक, प्रतिनायक, ऋतुवर्णन आदि रहते हैं, पर महाकाव्यवत् विस्तार या जीवन का सर्वांगीण रूप चित्रित नहीं होता।

विषय-वस्तु की दृष्टि से संस्कृत साहित्य की परम्परा में खंडकाव्य के दो मुख्य प्रकार व्यवहृत हुए हैं—संदेशकाव्य या दूतकाव्य तथा स्तोत्रकाव्य।

कोश—एक कवि के या कई कवियों के परस्पर निरपेक्ष सुंदर सूक्तियों का संग्रह। विश्वनाथ ने इसके लक्षण में बताया है कि कोश का विभाजन व्रज्या (अकारादिक्रम से श्लोक जिनमें संग्रहीत हों, ऐसे खंड) के क्रम से भी हो सकता है और बिना व्रज्या के भी। सप्तशती काव्य भी इसी श्रेणी में आते हैं।

संहिता—विविध वृत्तांतों का संग्रह।

रागकाव्य—रागकाव्य वास्तव में उपरूपक का भेद है। ऐसा काव्य जिसमें अलग-अलग विभिन्न रागों में निबद्ध गीत हों, जिन्हें गायन के साथ-साथ उन पर नृत्य व अभिनय भी किया जा सके, रागकाव्य है। जयदेव का गीतगोविंद तथा उसकी परम्परा में लिखे गये सैंकड़ों काव्य इसके उदाहरण हैं।

गीतिकाव्य—आजकल कभी मुक्तक को, तो कभी रागकाव्य को गीतिकाव्य कहा जाता है। आधुनिक समीक्षा में मुक्तक या गीतिकाव्य ये दोनों शब्द अंग्रेजी के 'लिरिक' शब्द के अनुवाद के रूप में प्रयुक्त होने लगे हैं। लिरिक अपने आपमें पूर्ण, कवि की अंतरंग मनोभावनाओं को व्यक्त करने वाला एक गेय छंद या पद्य है।

यद्यपि मुक्तक काव्य के बीज वैदिक संहिताओं में मिलते हैं, तथा रामायण और महाभारत में भी मुक्तकों का बहुमूल्य भंडार है। पर संस्कृत साहित्य के इतिहास में स्वतंत्र रूप से मुक्तक कालिदास के दो काव्यों—ऋतुसंहार तथा मेघदूत—के रूप में प्राप्त हैं।

ऋतुसंहार

कालिदासविरचित ऋतुसंहार में ६ सर्ग तथा १४४ पद्य हैं। छहों सर्गों में क्रमशः छह ऋतुओं का वर्णन किया गया है। यद्यपि ऋतुओं का वर्णन वाल्मीकिकृत रामायण से लेकर सभी प्रसिद्ध महाकाव्यों में किसी न किसी रूप में मिलता है, पर संस्कृत साहित्य की परम्परा में ऋतुसंहार पहला काव्य है, जो स्वतंत्र रूप से ऋतुवर्णन को विषय बना कर लिखा गया है। ऋतुचक्र के परिवर्तन के साथ भारतीय वसुंधरा की सुषमा में होने वाले आवर्तन-विवर्तन का इतना मनोहारी चित्रण समग्र रूप में पहली बार इस काव्य के द्वारा प्रस्तुत किया गया।

कालिदास ने ग्रीष्म के वर्णन के साथ काव्य का आरम्भ किया है। विंध्य के वनांचल में तपती धूप और दरकती धरती के यथार्थ चित्रण और वन्य प्राणियों के प्रति कवि की गहरी संवेदना प्रमाणित करती है कि कालिदास इस धरती के कवि हैं।

वर्षा के आते ही, विंध्य के उन वनों की सुषमा कवि का मन हर लेती है, जो हरी-हरी दूब से भरे हुए हैं, तथा जिनमें पेड़ों की डालियाँ कोंपलों से लद गयी हैं—

तृणोत्करैरुद्‌गतकोमलाङ्कुरैश्चितानि नीलैर्हरिणीमुखक्षतैः।
वनानि वैन्ध्यानि हरन्ति मानसं, विभूषितान्युद्‌गतपल्लवैर्द्रुमैः॥

दूसरी ओर मेघ पहाड़ों को कृतज्ञता को भाव से नहला रहे हैं, क्योंकि पानी के भार को ढोते-ढोते वे थके-माँदे आते हैं तो पहाड़ों की चोटियाँ ही उन्हें टिकने का ठिकाना देती हैं—

जलभरनमितानामाश्रयोऽस्माकमुच्चैरयमिति जलसेकैस्तोयदास्तोयनम्राः।
अतिशयपरुषाभिर्दाववह्नेः शिखाभिः, समुपजनिततापं ह्लादयन्तीव विन्ध्यम्॥

प्रकृति का मानवीकरण करते हुए कवि ने वर्षा की फुहार से हर्षित वनप्रान्त को कदंब के फूलों से रोमांचित होता देखा है, हवा के झकोरों में नृत्य के साथ थिरकता पाया है, केतकी के फूलो की नोकों से हँसता अनुभव किया है—

मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्तात्, पवनचलितशाखैः शाखिभिर्नृत्यतीव।
हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनां, नवसलिलनिषेकाच्छिन्नतापो वनान्तः॥

यदि वर्षा ऋतु कवि को सम्राट् प्रतीत होती है, तो शरद् नववधू के रूप में झलक दिखाती है। वह कास के सफेद फूलों की ओढ़नी पहने है, उसकी फूलों की सुंदर आँखें खिली हुई हैं, हंसों की मतवाली कूजन की ध्वनि से वह पायजेब बजा रही है, तथा पकते धान के झुक आये पौधों से उसकी देहलता झुकी-झुकी दिखती है—

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा, सोन्मादहंसनवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः, प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या॥

मेघदूत

महाकवि कालिदास ने अपनी प्रत्येक कृति में नवीन मानदंड स्थापित किया है। यदि ऋतुसंहार में उन्होंने देश की धरती की ऋतुओं के आवर्तन-विवर्तन के साथ परिवर्तित होती छवि को उकेरने वाला पहला काव्य प्रस्तुत किया, तो मेघदूत के द्वारा उन्होंने ऐसी अनूठी कृति सहृदयों के सम्मुख रखी जो अपने रचनाकाल से लेकर आज तक सराही जाती रही है, तथा जिससे संदेशकाव्य या दूतकाव्य की एक अत्यंत समृद्ध परम्परा का जन्म हुआ। लगभग सौ श्लोकों की एक छोटी-सी रचना एक सुदीर्घ काव्य-परम्परा की प्रवर्तक या उपजीव्य बन जाये, ऐसा विश्वसाहित्य में कम ही हुआ है।

विषयवस्तु—मेघदूत में दो खंड हैं—पूर्वमेघ तथा उत्तरमेघ। कथानक का अभाव है। केवल पहले पद्य में बताया गया है कि कोई एक यक्ष था, जो अपने कर्तव्य में प्रमाद कर बैठा, और इसके कारण उसे उसके स्वामी कुबेर ने एक वर्ष के लिए देश से निर्वासित कर दिया। तब उस यक्ष ने रामगिरि के आश्रमों में डेरा डाला। इसके पश्चात् रामगिरि पर रहते-रहते यक्ष ने आठ महीने बिता दिये, और आषाढ़ मास के पहले दिन एक बादल को देखा, जो रामगिरि पहाड़ पर टिका हुआ था। इतने महीनों से एकाकी रहते-रहते यक्ष बावला हो गया था। विरह में उसकी मन:स्थिति विपर्यस्त थी। उसके मन में यह बात आयी कि यह मेघ मेरी प्रिया तक मेरा संदेश ले जा सकता है। बस, उसने मेघ से अपना संदेश अलका नगरी ले जाने का अनुरोध करते हुए अपने विषय में, अपनी प्रिया के विषय में बताना आरम्भ कर दिया। यक्ष के एकालाप में ही सारा काव्य पर्यवसित है। यक्ष रामगिरि से अलका तक का मार्ग मेघ को बताता है, जिसमें सारे देश का सांस्कृतिक वैभव तथा नैसर्गिक सौंदर्य विरह के आकुल उद्गारों में समेट लिया गया है। उत्तरमेघ में यक्ष अपनी नगरी अलका का वर्णन करते हुए अपने घर का पता बताता है, फिर अनुमान करता है कि उसकी प्रिया यक्षिणी घर में क्या-क्या कर रही होगी। फिर वह यक्षिणी को सुनाने के लिए जो संदेश मेघ को बताता है उसमें अपनी व्यथा, प्रेम, रसिकता को उँड़ेल कर रख देता है।

स्रोत—कालिदास को मेघदूत की प्रेरणा वाल्मीकि रामायण से मिली होगी—ऐसा दक्षिणावर्तनाथ और मल्लिनाथ आदि टीकाकारों ने प्रतिपादित किया है। अशोकवाटिका में एकाकी बैठी सीता से हनुमान् भेंट करते हैं और उन्हें राम का संदेश सुनाते हैं। विरहिणी सीता के वर्णन की छाया भी कालिदास की उक्तियों में कहीं-कहीं झलकती है। इसी प्रकार राम के विरह के वर्णन ने यक्ष के विरहवर्णन को प्रभावित किया है।

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा।

के द्वारा कवि ने स्वयं ही यक्षिणी को विरहिणी सीता की उपमा दे दी है। पूर्णसरस्वती ने मेघदूत की रचना में महाभारत की प्रेरणा भी देखी है। शुकसंदेश काव्य की वरवर्णिनी टीका में पंद्रहवीं शताब्दी के धर्मगुप्त ने तो कालिदास को ही इस काव्य का नायक मान लिया है, उसके अनुसार कालिदास अपने आश्रयदाता राजा विक्रमादित्य के द्वारा एक

बार निर्वासित कर दिये गये, और उन्होंने अपनी स्वयं की पीड़ा को इस काव्य में अभिव्यक्ति दी है। मेघदूत में विरह-वेदना को इतनी गहरी आत्मपरक अभिव्यक्ति दी गयी है कि अनेक आधुनिक विद्वानों को भी इस काव्य में कवि के व्यक्तिगत अनुभवों की छाया दिखायी दी है। कुछ विद्वानों ने बौद्ध साहित्य में भी मेघदूत के प्रेरणास्रोत होने की संभावना बतायी है, जो अधिक प्रमाणपुष्ट नहीं है। दीघनिकाय के सक्कपन्हसुत्त में सक्क नामक व्यक्ति बुद्ध के पास स्वयं न जाकर पंचशिख नामक गंधर्व के द्वारा संदेश भिजवाता है।

रस—मेघदूत में विप्रलंभ श्रृंगार की प्रधानता है। विरह की तीव्र व्यथा और मिलन की आकांक्षा तथा आशा का चित्रण इसमें पराकाष्ठा पर है। कवि ने विरह-दशा का चित्रण वहाँ से आरम्भ किया है, जहाँ यक्ष अकेला रामगिरि पर रहते-रहते आठ महीने बिता चुका है। चार महीने ही शाप की अवधि के शेष हैं। जैसे-जैसे मिलन का समय निकट आता जाता है, विरही की उत्कंठा बढ़ती जाती है। यक्ष अपनी प्रिया के विषय में विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ करता हुआ मेघ को बताता है कि उसके वियोग में खिन्न वह क्या-क्या कर रही होगी।

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा,
मद्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां,
कच्चिद् भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति॥ (उत्तरमेघ, ११)

(वह तुम्हें पूजा में व्यस्त दिखायी देगी। या मेरे विरह में कृशकाय मेरा चित्र अपने भाव से बूझ कर बनाती मिलेगी। या फिर मधुर वचन वाली पिंजरे में बंद मैना से पूछती दिखेगी कि रसिके, तुझे अपने स्वामी की स्मृति आती है या नहीं, तू तो उनको बड़ी प्रिय थी?)

यक्षिणी को भेजे अपने संदेश में यक्ष ने अपनी मनोव्यथा, चिंता, कातरता और प्रेम की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। उसके दैनंदिन जीवन के छोटे-छोटे घटना-प्रसंग मन के तारों को झिंझोड़ देते हैं।

त्वामालिख्यप्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥ (उत्तरमेघ, ३८)

(मैं शिला पर धातुराग (गेरू) के द्वारा तुम्हारा चित्र बना कर उस चित्र में तुम्हारे पाँवों पर गिरा हुआ अपने आपको भी बनाना चाहता हूँ, तब तक उमड़ते आँसुओं से मेरी दृष्टि ही लुप्त हो जाती है। क्रूर विधाता को उस चित्र में भी हमारा मिलन सहन नहीं है।)

शैली—कालिदास की शैली व्यंजनाप्रधान अर्थात् गागर में सागर भरने की है। वे एक-एक शब्द में अगणित भावों की कड़ियाँ गूँथ देते हैं। रामगिरि पर रहते हुए यक्ष

ने आठ महीने कैसे बिताये, इस बात को कवि ने एक शब्द से ही प्रकट कर दिया है—'कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः'—सोने का कंगन गिर जाने से सूनी कलाई वाला यक्ष। आशय यह कि यक्ष इस तरह बावला हो गया था कि उसकी कलाई से सोने का कंगन पता नहीं कब कहाँ गिर पड़ा। उसकी कलाई छूँछी रह गयी। विरही स्त्रियाँ मेघ को आशाभरी दृष्टि से निहारेंगी। यहाँ पथिकवनिताओं के लिए कवि ने एक विशेषण दिया है—'उद्गृहीतालकान्ताः'—घुँघराले केशों की लटें हाथों से ऊपर कर-कर के सरकाती हुई। इस एक शब्द से कवि ने उन स्त्रियों की सारी दशा व्यक्त कर दी है। विरहिणी स्त्रियाँ केश नहीं सँवारती हैं। केश बिखरे होने से बार-बार उड़ कर आँखों के आगे आ जाते हैं, अतः वे लटें ऊपर सरकाती हैं।

मेघदूत की अपूर्वता—मेघदूत के रूप में महाकवि ने सरस्वती को एक निराला ही उपहार अर्पित किया। कालिदास के पहले ऐसा कोई काव्य रचा ही नहीं गया था, जिसमें कवि कोई कथा नहीं कहता, पात्र के मन की परतें उघाड़ता हुआ मनुष्य के स्वप्न, आकांक्षा और मनोलोक का चित्रण करता है। इसके साथ ही कवि ने इसमें यक्ष की उक्तियों में बाहर के विश्व को भी समेट लिया है। अंतःप्रकृति या मानवमन तथा बाह्य प्रकृति या जगत् का ऐसा दुर्लभ समागम भी अन्यत्र नहीं मिलता। तीर्थों और रामगिरि, विंध्य, हिमालय जैसे पर्वतों की अभिरामता; गंगा, चर्मण्वती, वेत्रवती, नर्मदा जैसी नदियों की सुषमा; दशपुर (मंदसौर), विदिशा, उज्जयिनी, हरिद्वार, कनखल आदि स्थानों की विशिष्टताएँ—ये सब मेघदूत में साकार कर दी गयी हैं। मेघदूत में यदि नगर की चतुर वनिताएँ भ्रूविलास के साथ ताकती हैं, तो भ्रूविलास से अनभिज्ञ कृषक वधुएँ उसे प्रीतिस्निग्ध नयनों से निहारती हैं। मेघ के आते ही खेत 'सद्यःसीरोत्कषणसुरभि' (अभी-अभी हल चलने से जिनकी धरती सोंधी महक छोड़ रही है) हो जाते हैं। नगरों के साथ गाँवों और खेत खलिहानों पर भी कवि की दृष्टि पड़ी है। दशार्ण के पूरे अंचल का विहंगम दृश्य कवि ने अंकित करके उस कुशल चित्रकार की कला का सुन्दर नमूना प्रस्तुत किया है, जो छोटे से फलक पर बहुत बड़े दृश्य को रमणीय रूप में साकार कर देता है।

पाण्डुच्छयोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै-
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः,
सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः॥ (पूर्वमेघ, २३)

सांस्कृतिक बोध तथा आध्यात्मिक भावना मेघदूत के भीतर उतनी ही अविभाज्यतया पिरोई हुई है, जितनी गहराई तक इसमें शृंगार और रागात्मकता अनुप्रविष्ट है। महाकाल की आरती में मेघ को नगाड़े की तरह निनादित किये बिना कवि उसकी यात्रा को आगे बढ़ने नहीं देना चाहता। उज्जयिनी के मंदिर में वह साक्षात् शिव का तांडव होते देखता है। इसी प्रकार कैलास पर विचरण करते शिव और गौरी की छवि निहार कर मेघ को गौरी के लिए मणितट पर आरोहण करने का सोपान बना कर कवि मेघदूत की धन्यता और इतिकर्तव्यता को पराकाष्ठा पर पहुँचाता है।

मेघदूत मनुष्य के अनंत स्वप्न, जिजीविषा और प्रेम की अनन्य निष्ठा का काव्य भी है। विरही यक्ष अपनी प्रिया को समझाता हुआ कहता है कि विरह की अवधि के शेष बचे चार महीनों को किसी तरह बिता दो। मैं भी अपने आपको किसी तरह सँभाले हुए हूँ। यह संसार ऐसा ही है, यहाँ किसको भरपूर सुख मिला है और किसको दुःख ही दुःख मिला है ? रथ के पहिये की तीलियों की तरह मनुष्य की भाग्यदशा कभी ऊपर तो कभी नीचे आती-जाती रहती है—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥

मेघदूत में कालिदास ने यह दिखा दिया है कि सच्चा मनुष्य कभी हारता नहीं है, और सच्चा प्रेम कभी मरता नहीं है। मेघदूत का यह सूत्र वाक्य कहा जा सकता है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्तेत्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति॥ (पूर्वमेघ, २३)

(कुछ लोग कहते हैं कि स्नेह विरह में चुक जाता है। पर वास्तव में तो विरह में अपने प्रिय का ध्यान करते-करते प्रेमी के भीतर प्रेम का रस और बढ़ता रहता है और प्रेम राशि संचित होती चली जाती है।)

अलंकार—मेघदूत की एक अन्य दुर्लभ विशेषता अर्थांतरन्यास अलंकार का प्रयोग है। कवि इस तथ्य के प्रति सचेत प्रतीत होता है कि उसके समय के पाठक यह कह सकते हैं कि यह कैसा काव्य है जिसमें कोई घटना नहीं है, तथा क्या कोई समझदार व्यक्ति मेघ को दूत बनाने की बात सोच भी सकता है? इसलिए समर्थ्यसमर्थकभाव रूप अर्थांतरन्यास के प्रयोग के द्वारा वह बार-बार अपने काव्य की विश्वसनीयता तथा प्रामाणिकता स्थापित करता चलता है। कहाँ तो धुआँ, आग, पानी और हवा से मिल कर बना बादल और कहाँ चतुर व्यक्तियों के द्वारा पहुँचाये जाने वाले संदेश ? पर इस बात की गणना न करते हुए यक्ष ने मेघ से याचना की। कामार्त व्यक्ति जड़ और चेतन के बीच भेद करने में सावधान नहीं होते—

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः,
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्थं चेतस्यपरिगणयन् गुह्यकस्त ययाचे,
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥ (पूर्वमेघ, ५)

कहीं मेघ पर छाया इंद्रधनुष की छटा के कारण मेघ कवि को "बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः" के समान लगता है, मेघ की छाया हिमालय से फूट कर बही गंगा में संक्रान्त होती है, तो गंगा भी "स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमे-वाभिरामा" हो जाती है। हिमालय पर हंसद्वार से आगे बढ़ते हुए तिरछी ऊपर की चढ़ाई में मेघ के लिए कवि ने उपमा दी है—"श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः" तो बर्फ से श्वेत हिमालय पर टिके बादल के कारण पर्वत कवि को निश्चल नयनों से निहारने योग्य शोभा वाला लगता है, जैसे बलराम के कंधे पर नीला वस्त्र फहरा रहा हो—

शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव॥ (पूर्वमेघ, ५९)

कैलास को कवि ने अप्सराओं का दर्पण कहा है। उस पर इतनी उजली बर्फ चमकती रहती है कि दर्पण की तरह कहना बड़ा सटीक उपमान है। इसके आगे जाकर कालिदास ने कल्पना की है कि शंकर का अट्टहास प्रतिदिन इकट्ठा होता चला गया है, वही बर्फ की राशियों के रूप में कैलास के ऊपर चमक रहा है—

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोछ्वासितप्रस्थसन्धेः,
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृङ्गोच्छ्रायैः कमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं,
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः॥ (पूर्वमेघ, ५८)

मेघदूत के द्वारा महाकवि ने काव्य की एक नयी विधा का मानदंड भी स्थापित किया है। कालिदास के पूर्व इस प्रकार के काव्य की स्वतंत्र रूप में परिकल्पना नहीं मिलती। सन्देशकाव्य या दूतकाव्य की एक अछूती विधा का प्रवर्तन मेघदूत के द्वारा हुआ। शुकसंदेशव्याकृति में धर्मगुप्त ने संदेशकाव्य की संरचना पर विचार करते हुए इसके बारह लक्षण बताये हैं—आदिवाक्य, दौत्ययोजन, व्रज्यांगदेशना, प्राप्यदेशवर्णन, मन्दिराभिज्ञापन, प्रियासन्निवेशविमर्शन, अन्यरूपतापत्तिसम्भावना, अवस्थाविकल्पनानि, वचनारम्भः, सन्देशवचनम्, अभिज्ञानदानम् तथा प्रेमपरिनिष्ठापनम्।

छंदोविधान—मेघदूत में आद्यंत मंदाक्रांता छंद का ही प्रयोग है। इस छंद की विशिष्ट लय तथा यति के द्वारा विरही यक्ष के अंतर्मन की वेदना और उच्छ्वास निःश्वास का अनुभव होता है। कालिदास के पूर्व ऐसा अन्य कोई काव्य नहीं लिखा गया था, जिसमें छंद को कथ्य से इतनी गहराई से जोड़ दिया गया हो। मंदाक्रांता छंद की बनावट प्रवाह और अटकाव को बारी-बारी से प्रकट करती है। मेघ का चलना और फिर ठहरना, विरह-व्यथा का ज्वार और मन को ढाँढ़स बँधाना इन भावों का अनुभव हम छंद के विन्यास में करते हैं। क्षेमेंद्र ने मेघदूत में इस छंद के प्रयोग की मार्मिकता का अनुभव करते हुए ही यह कहा होगा कि मंदाक्रांता छंद वर्षा ऋतु, प्रवास तथा विपत्ति के वर्णन में विशेष उपयुक्त है (प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते।) कालिदास की मन्दाक्रांता की प्रशंसा करते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि कालिदास ने मंदाक्रांता छंद को वैसे ही साध लिया है, जैसे एक अच्छा अश्वदमक कांबोज देश की तुरगांगना (घोड़ी) को वश में कर लेता है—

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता विराजते।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना॥

टीकाएँ—प्रो० एन० पी० उन्नि ने मेघदूत पर लिखी गयीं ६३ टीकाओं के विवरण दिये हैं। मल्लिनाथ, वल्लभदेव, पूर्णसरस्वती, जगद्धर जैसे अपने समय के श्रेष्ठ पंडितों और साहित्यकारों ने मेघदूत पर टीकाएँ लिखी हैं। संस्कृत साहित्य में श्रीमद्भगवद्गीता के पश्चात् मेघदूत पर सबसे अधिक टीकाएँ लिखी गयीं।

विश्व की कोई भी ऐसी प्रमुख भाषा नहीं है, जिसमें इस अनुपम रचना का अनुवाद न हुआ हो। भारतीय भाषाओं में तो मेघदूत के सैकड़ों अनुवाद किये जा चुके हैं।

घटकर्परकाव्य

घटकर्परकाव्य के प्रणेता घटकर्पर का वास्तविक नाम अविदित है। किंवदंती है कि इस काव्य के रचयिता ने प्रतिज्ञा की थी कि यदि कोई मुझसे अधिक अच्छे यमककाव्य की रचना कर दिखाये, तो मैं उसके घर घटकर्पर (फूटे घड़े) से पानी भरूँगा। काव्य के अंत में यह प्रतिज्ञा घोषित भी है—

भावानुरक्तवनितासुरतैः शपेयमालम्ब्य चाम्बु तृषितः करकोशपेयम्।
जीयेय येन कविना यमकैः परेण तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण॥ (२२)

घटकर्पर कवि ने इस काव्य के अतिरिक्त नीतिसार नामक अन्य कोई काव्य भी लिखा था। हेमचंद्र ने धावक नामक परवर्ती कवि और घटकर्पर को एक माना है। उनके अनुसार अनुश्रुति है कि भास आरम्भ में अत्यंत दरिद्र थे और फूटे घड़े से पानी भरते थे, इसलिए उनका एक नाम घटकर्पर पड़ गया। पर यह मान्यता प्रामाणिक नहीं लगती (संस्कृत नाटक विषयक अध्याय ५ देखें।) आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार कालिदास ही घटकर्पर हैं।

घटकर्पर-काव्य का वास्तविक नाम क्या है, यह भी अनिर्णीत है। घटक-परकुलक, घटकर्परकलाप, घटकर्पर तथा घटकर्परकाव्य ये चार नाम इस काव्य में मिलते हैं। अभिनवगुप्त ने इस काव्य की अत्यंत उत्कृष्ट टीका लिखी है, जिसमें उन्होंने पहला नाम स्वीकृत किया है। बारह अन्य टीकाएँ इस काव्य पर मिलती हैं, जिनमें इसके भिन्न-भिन्न नाम व्यवहृत हैं। दूसरा नाम एक अन्य टीकाकार दिवाकर ने माना है। तीसरे टीकाकार गोविंद ज्योर्विद ने इस काव्य को केवल घटकर्पर कहा है। सोलहवीं शती के टीकाकार कमलाकरभट्ट इसे घटकर्परकाव्य कहते हैं।

उक्त टीकाकारों के अतिरिक्त भरतमलिक, शंकर, ताराचंद्र, जीवानंद, गोवर्धन, वैद्यनाथ आदि श्रेष्ठ पंडितों ने घटकर्पर पर टीकाएँ लिखीं हैं।

घटकर्पर काव्य में कुल बाईस पद्य हैं। इसकी विषय-वस्तु मेघदूत के समान है। इसमें पत्नी पति के पास मेघ को दूत बना कर भेजती है। इसमें विप्रलंभ श्रृंगार रस प्रधान है। प्रत्येक पद्य के चारों चरणों में यमक अलंकार का विन्यास अत्यंत मनोहारी है। विरहिणी की चिंता, स्मृति, शंका, आदि भावों को गूँथते हुए कवि ने असाधारण कौशल से यमक का निर्वाह इस प्रकार किया है कि कहीं भी आयास या क्लेश का अनुभव नहीं होता। उदाहरण के लिए—

किं कृपापि तव नास्ति कान्तया पाण्डुगण्डपतितालकान्तया।
शोकसागरजले निपातितां त्वद्गुणस्मरणमेव पाति ताम्॥ (१२)

घटकर्पर यमककाव्य परम्परा का प्रेरणास्रोत रहा है। जिस प्रकार मेघदूत की एक-एक पंक्ति लेकर उसकी पादपूर्ति करते हुए अनेक कवियों ने काव्यरचना की, उसी

प्रकार घटकर्पर के श्लोकों के आधार पर भी कई कवियों ने यमक काव्य की दिशा में लेखनी चलायी।

मेघदूत तथा घटकर्पर काव्य से प्रेरित काव्य-परम्परा

मेघदूत का सैकड़ों महाकवियों ने अनुकरण करते हुए संदेश काव्यों का प्रणयन किया। इस संदेशकाव्यों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) समस्यापूर्ति काव्य
(२) भक्तिपरक, धार्मिक या दार्शनिक संदेश काव्य
(३) शृंगारप्रधान संदेश काव्य
(४) प्रतिसंदेश काव्य

(१) समस्यापूर्ति काव्य

अनेक कवियों ने तो मेघदूत की लोकप्रियता तथा असाधारण काव्यसमृद्धि से आकर्षित होकर अपने काव्य को लोकप्रिय बनाने के लिए मेघदूत के पद्यों के एक-एक चरण को लेकर उनकी समस्या-पूर्ति में काव्य लिख डाले। ऐसे काव्यों में सबसे प्राचीन काव्य जिनसेन का ८१४ ई० में विरचित पार्श्वाभ्युदय काव्य है। इसमें भगवान् पार्श्वनाथ का चरित निरूपित है। सत्रहवीं शताब्दी में विरचित मेघविजय का मेघदूतसमस्यालेख भी धर्मप्रचार की भावना से मेघदूत की एक-एक पंक्ति की समस्यापूर्ति करते हुए लिखा गया है।

कुछ कवियों को घटकर्पर काव्य के यमकविन्यास ने आकर्षित किया तथा उन्होंने तदनुरूप यमककाव्य ही नहीं, घटकर्पर काव्य के एक-एक चरण को भी समस्यापूर्ति के लिए ले कर काव्य-रचना की। ऐसे काव्यों में मदनकवि का १६२४ ई० में रचित कृष्णलीला काव्य, घटकर्पर के प्रत्येक चरण की समस्यापूर्ति प्रस्तुत करता है।

(२) भक्तिपरक, धार्मिक या दार्शनिक संदेश काव्य

मेघदूत की लोकप्रियता को देखते हुए अनेक कवियों, संतों या संप्रदायविशेष के प्रचारकों ने उसकी शैली, पंक्तियों तथा विधा को अपना कर अपने भक्तिभाव की अभिव्यक्ति या सिद्धान्त के प्रचार के लिए संदेशकाव्यों की रचना की। इन संदेश काव्यों के भी चार अवांतर प्रकार कहे जा सकते हैं—जैन, बौद्ध, वेदांती तथा वैष्णवभक्तिपरक। जैन संदेश काव्यों में उल्लेखनीय हैं—जिनसेन का पार्श्वाभ्युदय, विक्रमकवि का नेमिदूत, मेरुतुंग का जैनमेघदूत, चरित्रसुंदरगणि का शीलदूत, वादिचंद्र का पवनदूत (सत्रहवीं शताब्दी), अज्ञातकवि का चेतोदूत, विनयविजयगणि का इंदुदूत तथा मेघविजय का मेघदूतसमस्यालेख।

(३) शृङ्गारप्रधान संदेश काव्य

दसवीं शताब्दी में जंबू कवि का चंद्रदूत विरहिणी नायिका के द्वारा चंद्र को दूत बना कर प्रिय के पास संदेश भेजने के वृत्तांत का निरूपण है। इसके २३ छंदों में कुल

१४ ही प्राप्त हुए हैं। सभी मालिनी छंद में है। मेघदूत की अपेक्षा घटकर्पर को ही आदर्श मानते हुए कवि ने इस काव्य में यमक अलंकार के नियतपादभागावृत्ति, अनियतपादभागावृत्ति तथा पादावृत्ति सन्दष्टक आदि भेदों के प्रत्येक पद्य में उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

कालिदास के मेघदूत तथा घटकर्पर के पश्चात् संस्कृत साहित्य में अनेक शृंगारप्रधान संदेशकाव्य लिखे गये हैं। ये सभी काव्य मेघदूत से अनुप्राणित हैं। एक छोटी सी किन्तु भावगांभीर्य की दृष्टि से महनीय रचना से सर्वथा नयी विधा का सूत्रपात होकर शताब्दियों तक उसी एक रचना की प्रेरणा से सैंकड़ों कृतियाँ लिखी जाती रहें, इस प्रकार का विश्वसाहित्य में कदाचित् अन्य कोई उदाहरण नहीं मिलता।

मानांक कवि को राजशेखर ने उद्धृत किया है। इन्होंने ३८ पद्यों में मेघाभ्युदय सन्देश काव्य लिखा। इनका दूसरा काव्य वृन्दावन काव्य है। यह ५० पद्यों में है। भोज ने संघात काव्य के उदाहरण के रूप में इसका उल्लेख किया है।

महाकवि धोयी का पवनदूत दूतकाव्यपरम्परा में सर्वप्रमुख और प्राचीन है। धोयी बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के आश्रित थे। महाकवि जयदेव ने अपने गीतगोविंद में इनका उल्लेख किया है। पवनदूत के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई रचना नहीं मिलती, यद्यपि पवनदूत में ही कवि ने स्वयं यह संकेत दिया है कि उसने कुछ अन्य रचनाएँ भी की थीं।

पवनदूत में राजा लक्ष्मणसेन स्वयं नायक हैं। कनकनगरी में रहने वाली उनकी प्रेमिका कुवलयवती उनके पास पवन को दूत बनाकर संदेश भेजते हैं। मलयगिरि से बंगाल तक के यात्रामार्ग का इसमें वर्णन है, जिसमें बारहवीं शती के इतिहास और भूगोल के अछूते पक्ष उजागर होते हैं।

अतीत को साकार करते हुए कवि ने कहीं-कहीं बड़ी मौलिक कल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। माल्यवान् पर्वत से झरने वाले झरनों में वह विरही राम के अश्रुपात की सूचना पाता है—

तत्राद्यापि प्रतिझरजलैर्जर्जरा प्रस्थभागाः।
सीताभर्तुः पृथुतरशुचः सूचयन्त्यश्रुभागान्॥

अन्य दूतकाव्यों में हंससन्देश नाम से तीन कवियों के अलग-अलग काव्य मिलते हैं, जो पूर्णसरस्वती, वेदान्तदेशिक तथा अज्ञात कवि के द्वारा रचे गये हैं। तीसरा हंससंदेश शृंगार के स्थान पर भक्तिरस प्रधान है। कोई शिवभक्त मनरूपी हंस को दूत बनाकर शिवभक्तिरूपी प्रेयसी के पास संदेश भेजता है। तेरहवीं शताब्दी में पूर्ण सरस्वती ने हंससंदेश, पंद्रहवीं शताब्दी में वामनभट्टबाण ने हंसदूत तथा उदय कवि ने मयूरसंदेश, चरित्रसुंदरगणि ने शीलदूत, सोलहवीं शताब्दी में उद्दंड कवि ने कोकिलसंदेश, वासुदेव कवि ने भृंगसंदेश, रूप गोस्वामी ने हंसदूत तथा उद्धवसंदेश, विष्णुदास ने मनोदूत, विष्णुत्रात ने कोकसंदेश, मातृदत्त कवि ने कामसंदेश तथा नारायण कवि ने सुभगसंदेश काव्य लिखे। सत्रहवीं शताब्दी के संदेश काव्यों में माधवकवींद्र का

उद्धवदूत, रुद्रन्यायपंचानन का भ्रमरदूत व पिकदूत, आदि लिखे गये। अठारहवीं शताब्दी में विनय विजयगणि ने इंदुदूत, श्रीकृष्णदेव ने भृंगदूत, श्रीकृष्ण सार्वभौम ने पदांकदूत, रामपाणिवाद ने सारिकासंदेश; पुन्नशेरि श्रीधरन् नंबी ने नीलकंठसंदेश, अज्ञात कवि ने चातकसंदेश; तैलंग व्रजनाथ ने मनोदूत आदि की रचना की। उद्दंड का कोकिलसंदेश, वामनभट्ट बाण का हंसदूत, रूपगोस्वामीकृत उद्धवसंदेश तथा हंसदूत आदि भी उल्लेखनीय हैं।

संदेशकाव्यों तथा दूतकाव्यों की इतनी विस्तीर्ण परम्परा में सभी काव्यों में मूल विषयवस्तु एक ही है। नायक अथवा नायिका अपने प्रीतिपात्र को संदेश भेजते हैं। फिर भी इनमें पुनरावृत्ति और एकरसता का बोध नहीं होता। प्रत्येक कवि ने अपनी रचना में अपने देशकाल, इतिहास, भूगोल और समाज को प्रस्तुत किया है, और प्रत्येक रचना में नयापन है।

बीसवीं शताब्दी में भी मेघसंदेश की परम्परा में शताधिक काव्य लिखे गये हैं। इनमें रामावतार शर्मा का मुद्‌गरदूतम् इस दृष्टि से अप्रतिम है कि यह मेघदूत को आधार बना कर भी उसमें विडंबन शैली के द्वारा सर्वथा नयी दिशा खोलता है।

वस्तुत: मेघदूत से अनुप्राणित संदेश काव्यों की परम्परा बींसवीं शताब्दी में और भी उर्वर हुई है। इस शताब्दी में सौ से अधिक दूतकाव्य प्रकाशित रूप में प्राप्त हैं। इनमें श्रीकृष्ण पंचानन का वातदूतम्, विनयप्रभु का 'चन्द्रदूतम्', श्रीकृष्ण तर्कालंकार का 'चन्द्रदूतम्', परमेश्वर झा का यक्षसमागमकाव्यम् आदि उल्लेखनीय हैं। नये कवियों में अभिराज राजेंद्र मिश्र, इच्छाराम द्विवेदी आदि ने सरस संदेश काव्यों का प्रणयन किया है।

(४) प्रतिसंदेश काव्य

प्रतिसंदेश काव्य भी मेघदूत की परम्परा की एक और कड़ी हैं। मेघदूत को अपूर्ण मान कर उसके प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कुछ कवियों ने यक्षिणी की ओर से अपने प्रिय के लिए उसके संदेश का उत्तर दिलवाते हुए काव्य लिख डाले।

अमरुक

कालिदास के पश्चात् मुक्तककाव्य परम्परा में सर्वाधिक सराहे गये कवि अमरुक हैं। इनका अमरुकशतक मुक्तक काव्य-परम्परा का एक ऐसा मानदंड बन गया है, जिसकी ऊँचाई अभी भी उतनी ही है। अमरुक कौन थे और कब हुए, यह प्रश्न अत्यंत जटिल है। किंवदंती है कि आदि शंकराचार्य मंडन मिश्र की पत्नी भारती के साथ शास्त्रार्थ में इस कारण पराजित हो गये कि वे कामशास्त्र से अनभिज्ञ थे, तब उन्होंने अमरुक नाम के एक राजा के शव में अपना जीव प्रविष्ट करा दिया जिसका उसी समय निधन हुआ था। अमरुक के देह में रह कर उन्होंने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के रहस्यों को जाना, और फिर वापस अपने देह में आकर शास्त्रार्थ में भारती को पराजित किया। अमरुक के काल के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आनंदवर्धन से पहले हुए। वे आनंदवर्धन ने अमरुक की जिस प्रकार सराहना की है, कालिदास को

छोड़ कर अन्य किसी कवि की प्रतिभा पर उन्होंने ऐसी सुंदर समीक्षा नहीं की। अतः अमरुक आठवीं शताब्दी के पहले मुक्तक के एक अनोखे कवि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे।

अमरुक अनुभावों का बारीकी से चित्रण करते हुए मनुष्य के अंतर्मन की अतल गहराइयों में झाँकते हैं। अनुभाव से स्वभाव की पहचान करने में उनकी सिद्धि अप्रतिम है।

देशैरन्तरिता शतैश्च सरितामुर्वीभृतां काननै-
र्यत्नेनापि न याति लोचनपथं कान्तेति जानन्नपि।
उद्ग्रीवश्चरणावरुद्धवसुधः प्रोन्मृज्य सास्रे दृशौ
तामाशां पथिकस्तथापि किमपि ध्यायन् पुनर्वीक्षते॥

बटोही अच्छी तरह जानता है कि प्रिया बहुत दूर है, बीच में सैंकड़ों देश, नदियों और पर्वतों का व्यवधान है, किसी भी तरह प्रिया की झलक नहीं पायी जा सकती। फिर भी वह अँसुवाई आँखें पोंछ कर, गर्दन उचका कर, पंजों के बल उचक कर उस दिशा में एकटक ताक रहा है जिस दिशा में प्रिया छूट गयी है।

मनुष्य के स्वभाव की विचित्रताएँ विच्छित्तियों के साथ अमरुक की कविता में सामने आयी हैं, जिससे अनूठे सौन्दर्यबोध की सृष्टि होती है। मनुष्य अपने आपमें सृष्टि का एक रहस्य है। वह कब क्या कर बैठेगा, कहा नहीं जा सकता। वह प्रेम करता है, तनिक सी बात पर प्रेम की डोर झटक कर तोड़ देता है, और प्रेम में पड़ी जो गाँठ किसी तरह खोले न खुल सकी, वह अपने आप कब झट से खुल जाये, कुछ कहा नहीं जा सकता—

नापेतोऽनुनयेन यः प्रियसुहृद्वाक्यैर्न यः संहृतो,
यो दीर्घं दिवसं विषह्य विषमं यत्नात् कथञ्चिद् धृतः।
अन्योन्यस्य हृते मुखे निहितयोस्तिर्यक् कथञ्चिद् दृशोः,
स द्वाभ्यामतिविस्मृतव्यतिकरो मानो विहस्योज्झितः॥ (४२)

जिस मान को दोनों ने कस कर जतन से पकड़ रखा था, जो मनाने से न टूट पाया, न मित्रों की समझौव्वल से कम हुआ, जिसे दिन भर सहा और एक दूसरे से मुँह चुराया, वही मान किसी तरह तिरछी दृष्टि एक दूसरे पर पड़ते ही हँसी के फूटते-फूटते पता नहीं चला कब मिट गया।

दूसरी ओर कठकरेजी नायिका का मान है, किसी तरह छूटे नहीं छूट रहा—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो,
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना॥

(कमरे के बाहर सिर झुकाये बैठा प्राणप्रिय धरती को कुरेदता जा रहा है। सखियाँ निराहार हैं, लगातार रोते रहनेसे उनकी आँखे सूज गईं। पिंजरे के तोतों ने हँसना, रटना छोड़ दिया और तुम्हारी यह हालत है, अरी कठकरेजी, अब तो रिसाना छोड़ दे।)

नारी-जीवन की विडंबना को भी जितनी मार्मिक अभिव्यक्ति अन्य किसी कवि ने नहीं दी होगी, जितनी अमरुक ने।

तथाभूदस्माकं प्रथममविभक्ता तनुरियं
ततो न त्वं प्रेयानहमपि च हताशा प्रियतमा।
इदानीं नाथस्त्वं वयमपि च कलत्रं किमपरं
मयाप्तं प्राणानां कुलिशकठिनानां फलमिदम्॥

(पहले तो यह देह तुम से अलग था ही कहाँ, तब तुम प्रिय हो और मैं प्रियतमा हूँ—ऐसा भेद ही हम लोग नहीं समझते थे। अब तुम स्वामी हो और मैं तुम्हारी चेरी। इन वज्र से कठोर प्राणो का यह फल मैंने पाया।)

अमरुक भी कालिदास की तरह कवियों के प्रेरणास्रोत रहे हैं। उनके अनुकरण पर शृंगार के मुक्तकों की रचना का परम्परा चली। अमरुक के अपने शतक में अन्य कवियों के मुक्तक मिश्रित हो गये—इसका कारण भी अमरुक का अत्यधिक अनुकरण है। मेघदूत के पश्चात् मुक्तक काव्य परम्परा में अमरुक पर ही सर्वाधिक टीकाएँ लिखी गयीं। आधुनिक काल में भी इसके विभिन्न भाषाओं में अनेक अनुवाद होते रहे हैं।

अमरुक की समीक्षा परम्परा—भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों में वामन और आनंदवर्धन से लगा कर पंडितराज जगन्नाथ और अप्पयदीक्षित तक के शीर्षस्थ आचार्यों की सुदीर्ध पंक्ति में ऐसा कोई भी नहीं है, जिसने अमरुक के काव्यरस का पान न किया हो और उसकी सराहना न की हो।

टीकाकार अर्जुनदेव वर्म ने लिखा है—

अमरुककविडमरुकनादेन विनिह्नुता जयति।
शृंगारभणितिरन्यानां धन्यानां श्रवणविवरेषु॥

(अमरुककवि के डमरुक के निनाद के आगे शेष कवियों की शृंगारपूर्ण उक्तियाँ दब गयी हैं। अन्य किसी कवि की शृंगारित उक्ति उसके रहते किसी धन्य व्यक्ति के कानो में ही पड़ सकती है।)

हरिहरसुभाषित के प्रणेता हरिहर ने अमरुक की प्रशस्ति में कहा है कि रस की इच्छा वाले मरुग्राम (रेगिस्तान) में रस खोजें, तो यह उनकी मूर्खता है। रस तो अमरुदेश (अमरुक के काव्य, जहाँ मरुस्थल न हो ऐसे देश) में ही मिल सकता है—

भ्राम्यन्तु मारवग्रामे विमूढा रसमीप्सवः।
अमरुदेश एवासौ सर्वतः सुलभो रसः॥

धनिक ने दशरूप कविलोक में अमरूक के १४ पद्य उद्धृत किये हैं। इन्दुराज ने अमरुक में माधुर्य, ओजस् और प्रसाद तीनों गुण प्रदर्शित किये हैं। भोज ने अमरुक के एक पद्य में पाँचों सन्धियों की अन्विति प्रतिपादित की है।

भर्तृहरि के शतक

भर्तृहरि ने नीतिशतक, शृंगारशतक तथा वैराग्यशतक ये तीन शतककाव्य लिखे। शतककाव्य परम्परा में भर्तृहरि के शतक सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। भर्तृहरि के नाम से

अन्य ग्रंथ भी प्राप्त होते हैं। महाभाष्य की त्रिपदी दीपिका टीका, वाक्यपदीय नामक व्याकरण दर्शन का ग्रंथ और शब्दधातुसमीक्षा इन तीन ग्रंथों के कर्ता भर्तृहरि शतककार भर्तृहरि से अभिन्न हैं अथवा अलग—यह निर्णय करना कठिन है। भट्टिकाव्य, मीमांसासूत्रवृत्ति, वेदांतसूत्रवृत्ति आदि ग्रंथों के प्रणेता भी भर्तृहरि माने जाते हैं। एक परम्परा इनके द्वारा रचे गये बारह शतककाव्यों का भी उल्लेख करती है।

भर्तृहरि एक प्राचीन सम्राट् भी थे। अनुश्रुतियों में इन्हें कहीं राजा विक्रमादित्य का समकालीन माना गया है, तो लोककथाओं और लोकनाट्य-परम्परा में इनका सम्बन्ध गुरु गोरखनाथ के साथ माना गया है। दसवीं शताब्दी के आचार्य धनिक ने भर्तृहरि के शतक तथा उनके वाक्यपदीय से अंश उद्धृत किये हैं, अतः भर्तृहरि दसवीं शताब्दी के पहले हो चुके थे, यह निश्चित है। चीनी यात्री इत्सिंग ने व्याकरण के एक ग्रंथ के प्रणेता के रूप में भर्तृहरि का उल्लेख किया है। यदि वाक्यपदीयकार भर्तृहरि और शतककार भर्तृहरि को एक व्यक्ति मान लिया जाये, तो इस प्रमाण से भर्तृहरि का समय सातवीं शताब्दी के पहले सिद्ध होता है। परम्परा में वैयाकरण भर्तृहरि तथा शतककार भर्तृहरि को अभिन्न माना गया है। इस विषय में यह श्लोक प्रचलित है—

महान्तः कवयः सन्तु महान्तः पण्डितास्तथा।
महाकविर्महाविद्वानेको भर्तृहरिर्मतः॥

रामभद्रदीक्षित ने अपने पतंजलिचरित में वाक्यपदीयकार भर्तृहरि तथा शतकत्रयप्रणेता भर्तृहरि को अभिन्न माना है।

विषयवस्तु—भर्तृहरि के तीनों शतकों में अलग-अलग प्रकरण हैं। नीतिशतक में मूर्ख, विद्वान्, मान, अर्थ, दुर्जन, सुजन, परोपकार, धैर्य, दैव तथा कर्म—इन विषयों पर पद्धतियाँ हैं। शृंगारशतक में स्त्रीप्रशंसा, संभोगवर्णन, कामनीगर्हणा, सुविरक्तदुर्विरक्तपद्धति तथा ऋतुवर्णन ये विषय हैं। वैराग्य शतक में तृष्णादूषण, विषमपरित्यागविडंबना, याच्ञादैन्यदूषण, भोगस्थैर्य, कालमहिमा, यतिनृपतिसंवाद, सुमनःप्रबोध, नित्यानित्य- वस्तुविचार, शिवार्चन तथा अवधूतचर्या—ये विषय हैं।

भर्तृहरि की कविता मुख्य रूप से जनजीवन से जुड़ी काव्यधारा से समागम करती हुई अवधूतों या संतों के काव्य की बानगी भी प्रस्तुत करती है। योगेश्वर और भर्तृहरि दोनों राजसत्ता को तिनके की तरह झटक देने की बात कहते हैं। वे सत्ता में मदांध राजाओं को चुनौती देते हैं। इस अर्थ में लोकजीवन पर संस्कृत में काव्य लिखने वाले महान् कवियों की समृद्ध काव्य-परम्परा संतों या अवधूतों की काव्यधारा से जुड़ जाती है। इस समागम के एक समर्थ उदाहरण भर्तृहरि हैं। संस्कृत कविता के एक अभिनव प्रस्थान के प्रवर्तक भी भर्तृहरि हैं। वे एक प्रवर्तक कवि हैं, इसलिए उनके अनुकरण पर असंख्य कवियों ने जीवन के प्रपंच की असारता और सत्ता के मद में लिप्त प्रभुओं को चुनौती देने वाली कविता लिखी। इस कविता का मूल भाव निस्पृहता या निर्वेद है। पर इस निर्वेद की भूमि पर से यह सत्ता और ऐश्वर्य के मद में डूबे

मठाधीशों और प्रभुओं को चुनौती भी देती है। भर्तृहरि राजा को फटकार लगाते हुए कहते हैं—

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः,
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः।
इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं,
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः॥ (वै० श०, २४)

जीवन के प्रपंच की निस्सारता का बोध मनुष्य को मनस्वी बनाता है। इसके साथ ही वह उसमें आत्माभिमान भी जगाता है। यह मनस्विता और आत्माभिमान मनुष्य को क्षुद्रताओं से ऊपर उठाता है। धरती का सारा भौतिक ऐश्वर्य मनुष्य की इस गरिमा के आगे ओछा है। भर्तृहरि इसी विराट् भूमि पर अवस्थित होकर सारी धरती को भी छोटा पाते हैं—भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभुजाम् ? (वही, २५)।

यह फक्कड़ों, औघड़ों और सन्तों की वाणी है, जो भर्तृहरि में उतर कर संस्कृत काव्य को एक अलग दिशा देती है। कहीं-कहीं इसमें उत्प्रास या आधुनिक अर्थ में व्यंग्य की तीखी धार है, तो कहीं मनुष्यों को उनकी क्षुद्रता के लिए फटकार भी लगायी गयी है। राजसत्ता पर यह करारी चोट है।

न नटा न विटा न गायका न च सभ्येतरवादचञ्चवः।
नृपमीक्षितुमत्र के वयं कुचभारानमिता न योषितः॥ (वही, २७)

(हम कोई नट, भाँड, गायक नहीं, न अश्लील चर्चा करने में हम निपुण हैं, न अपने देह का प्रदर्शन करने वाली युवतियाँ ही हैं। फिर राजा साहब के दर्शन भला हम कैसे पा सकते हैं?)

हमारे भौतिक जीवन का यथार्थ या लौकिक सत्य भी इसी में समाविष्ट है और जीवन के गूढ बृहत्तर प्रश्न भी।

भर्तृहरि मध्यवर्गीय परिवार के उपेक्षित बूढ़े व्यक्ति का यह कारुणिक चित्र प्रस्तुत करते हुए जीवन की सारी आपाधापी के निरर्थक पर्यवसान को दिखाते हैं—

गात्रं सङ्कुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलिः,
दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न शुश्रूषते,
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते॥ (वही, १११)

(देह में झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, चाल लड़खड़ाती है, दाँत गिर चुके हैं, आँखों से दिखना बंद हो रहा है, कान बहरे हो रहे हैं, मुँह से लार टपकती है, रिश्तेदार-नातेदार बात सुनने तक को तैयार नहीं, पत्नी ने सेवा करना बंद कर दिया है, बुढ़ौती में बेटा तक बैरी बन गया है।)

भर्तृहरि न अपने शृंगारशतक में पूरी तरह शृंगारी हैं, न अपने वैराग्यशतक में पूरी तरह विरागी ही। उनकी कविता उस अर्थ में अवधूतों या संतों की कविता नहीं, जिस अर्थ में सरहपाद या गोरखनाथ जैसे संतों या अवधूतों की रचनाएँ। यह भोग और वैराग्य के संधिस्थल पर खड़ी कविता है। यह लोकजीवन के रस में रमती भी है, पर

साथ ही जगत् की निरर्थकता से विचलित भी होती है। लोक के जीवन का रस और संसार के प्रपंच की निरर्थकता के अनुभव से उपजे मोहभंग के भाव को भर्तृहरि ने अत्यंत अंतरंग अनुभव में डूब कर प्रकट किया है। शृंगार शतक तक में अंत:स्वर भीतर ही भीतर गूँजती हुई चेतावनी है—समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः (शृंश० २)। मूलतः ये मोहभंग के कवि हैं। शृंगारशतक में वे कहते हैं—"स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिनां मोहपाशः" (७६)। या "त्वङ्मांसास्थिमयं वपुर्मृगदृशां मन्दो जनः सेवते।"

इस कविता का सौन्दर्यबोध अलग है। शृंगार में रमाने वाली कविता मिथ्या का मोहक जाल रचती है। भर्तृहरि अपने शृंगारशतक में ही इस मोहक जाल को तोड़ देते हैं। कवियों ने हाड़ चाम के नारी देह के लिए चंद्रमा, कमल आदि के उपमानों के अंबार लगा दिये हैं। इस कविता को भर्तृहरि छलावा कहते हैं (किन्त्वेवं कविभिः प्रतारितमनास्तत्त्वं-७७)। शृंगारशतक तो संस्कृत में अनेक रचे गये पर कदाचित् भर्तृहरि का ही शृंगारशतक है, जिसमें संसार की अनित्यता की बात कही गयी है। संसार के सारे सुख परिणति में विष की तरह दुःखद हैं—"व्यतीतेऽस्मिन् काले विषमिव भविष्यत्यसुखदम्"—स्त्री को यहाँ मछली फँसाने के काँटे से उपमा दी गयी है (८४)। शृंगारशतक के एक प्रकाशित संस्करण में सुविरक्त प्रशंसा का पूरा एक प्रकरण है (९२-१००)।

भर्तृहरि का संस्कृत साहित्य पर प्रभाव—शतककाव्य-परम्परा में भर्तृहरि एक मानदंड तथा अनुकरणीय आदर्श के रूप में स्वीकृत रहे हैं। भल्लटशतक, शिल्हणकृत शांतिशतक, नीलकंठदीक्षितकृत वैराग्यशतक, कुसुमदेवकृत दृष्टांतशतक, सोमप्रभ की शृंगारवैराग्यतरङ्गिणी आदि सैकड़ों शतक काव्यों में भर्तृहरि की परम्परा विकसित होती रही। पंद्रहवीं शताब्दी में कवि धनदराज ने भर्तृहरि के तीन शतकों के समान ही नीति, शृंगार और वैराग्य के शतक लिखे।

अन्य शतक काव्य तथा लघुकाव्य

दुर्लभकृत ऋतुवर्णन—दुर्लभकवि का ऋतुवर्णन काव्य कालिदास के ऋतुसंहार से प्रभावित ऋतुवर्णन परक सुंदर काव्य है। कालिदास के समान ग्रीष्म के वर्णन से काव्य का आरम्भ कवि ने नहीं किया है अपितु शरद्वर्णनसे किया है। कालिदास के काव्य के समान इसमें वर्णनों में भारतीय वसुंधरा की नैसर्गिक अभिरामता के साथ-साथ प्रणय और शृंगार का पुट है। दुलर्भ का देश-काल अज्ञात है। ऋतुवर्णन में सुन्दर उपमाओं का प्रयोग इन्होंने किया है। उदाहरणार्थ—

अन्तःसुशीतं बहिरुष्णमुत्तमं सुहंसरावं कमनीय पङ्कजम्।
विराजते मानस मम्बुदक्षये प्रसन्नमन्तर्मुनिमानसं यथा॥

बाण तथा मयूर के स्तोत्र—सातवीं शताब्दी में बाण ने देवी की स्तुति में चंडीशतक और मयूर ने सूर्य की स्तुति में सूर्य शतक क्री रचना की। गौड़ी रीति के विन्यास, दीर्घसमासों के निर्वाह, गाढबंध तथा ओजोगुण के कारण ये दोनों शतक बड़े

आकर्षक हैं। अनुप्रास और यमक की लड़ियाँ गूँथने में दोनों कवि कुशल हैं। सूर्यशतक का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्,
दीर्घाघ्रातानघोघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणाविघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
र्दत्तार्घाः सिद्धसङ्घैः विदधतु घृणयः शीघ्रमंघो विघातम्॥

दोनो शतकों में भक्तिभाव की प्रधानता है।

कुट्टनीमत—कुट्टनीमत काव्य के प्रणेता महाकवि दामोदर कल्हण के अनुसार कश्मीर के राजा जयापीड (७७९-८१३ ई०) के समकालीन थे। कुट्टनीमत काव्य के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई रचना प्राप्त नहीं होती। कुट्टनीमत काव्य १०५८ आर्या छंदों में निबद्ध है। यह संस्कृत साहित्य में अपने ढंग का निराला काव्य है। कवि ने इसकी रचना भोले-भाले लोगों को वेश्याओं की कुटिलताओं से बचाने के लिए की है। अंतिम आर्य में काव्यरचना का उद्देश्य बताते हुए कवि कहता है—

काव्यमिदं यः शृणुते सम्यक् काव्यार्थपालनेनासौ।
नो वञ्च्यते कदाचित् विटवैश्याधूर्तकुट्टनीभिरिति॥ (१०५८)

वेश्याओं और कुट्टनियों के चरित्र का यथार्थ चित्रण रस कथा के द्वारा इस काव्य में इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि आज के यथार्थवादी साहित्य के मानदंडों पर भी यह एक उत्कृष्ट रचना कही जा सकती है। इसमें वाराणसी की मालती नाम की एक नई वेश्या अपने व्यवसाय में दक्षता अर्जित करने के लिए विकराला नाम की वृद्ध वेश्या से शिक्षा ग्रहण करती है। इस काव्य में श्रीहर्ष की रत्नावली नाटिका के अभिनय का विवरण दिया गया है। गणिका मंजरी ने राजकुमार समरभट के लिए वाराणसी के विश्वनाथ मंदिर में रत्नावली का अभिनय प्रस्तुत किया।

दामोदर निस्संदेह एक महाकवि हैं। उन्होंने महाकाव्यों की प्रचलित पद्धति का त्याग करके एक अछूते विषय पर लेखनी चला कर साहस और चुनौती का वरण किया, तथा अपने लेखन को सोद्देश्य बनाया। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है, तथा श्लेष और यमक अलंकारों के प्रयोग में वे दक्ष हैं। आरम्भ में वाराणसी नगरी के वर्णन में उन्होंने अपनी कवि-प्रतिभा और वर्णन-कला की विलक्षणता का अच्छा परिचय दिया है। श्लेष का प्रयोग भी असाधारण पटुता के साथ उन्होंने इस प्रसंग में निम्नलिखित पद्य में किया है—

यतिगणगुणसमुपेता या नित्यं छन्दसामिव प्रचितिः।
वनपङ्क्तिरिव सशाला तुरुष्कसेनेव बहुलगन्धर्वा॥ (१०)

जो नगरी छंदों के समुदाय के समान यतिगणगुण से युक्त है, वनपंक्ति के समान सशाला है, तथा तुर्कों की सेना के समान बहुलगंधर्वा (बहुत गायकों वाली, बहुत घोड़ों वाली) है।

अनेक स्थानों पर मनोहर अलंकारों का प्रयोग कवि ने किया है। कुट्टनियों के बोलचाल की भाषा का अध्ययन और उनकी विदग्धता का अच्छा परिचय यह काव्य

देता है। विकराला मालती नामक गणिता से कहती है—

अयमेव दह्यमानस्मरनिर्गतधूमवर्तिकाकारः।
चिकुरभरस्तव सुन्दरि कामिजनं किङ्करीकुरुते॥ (४४)

(सुंदरि, जलते हुए कामदेव के शरीर से निकली धूमरेखा के आकार वाला यह तुम्हारा केशभार कामीजनों को अपना किंकर बना लेता है।)

चतुर्भाणी की भाँति यह काव्य वेशवाट और गली-मुहल्लों के सामान्य लोगों को भी उपस्थित करता है।

भल्लटशतक—भल्लटशतक के प्रणेता भल्लट का समय आठवीं शताब्दी के आसपास है, क्योंकि आनंदवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में उन्हें उद्धृत किया है। कल्हण ने राजतरंगिणी में उनके विषय में लिखा है कि वे राजा शंकरवर्मा (८८३-९०२ ई०) के समय में रहे थे और उसकी उपेक्षा के पात्र बने। संस्कृत सुभाषित परम्परा में भल्लट का महत्त्व निर्विवाद है, उसके द्वारा अन्योक्ति या अन्यापदेश की परम्परा चल पड़ी। अन्योक्ति या अन्यादेश अलंकार में अप्रस्तुत के कथन के द्वारा प्रस्तुत की स्थिति पर प्रकाश डाला जाता है। भल्लट ने अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों पर कटाक्ष करने और अपनी पीड़ा को व्यक्त करने के लिए अन्योक्ति को माध्यम बनाया। उनकी उक्तियाँ हृदय में उतरती चली जाती हैं। सूर्य के अन्यापदेश के द्वारा वे कश्मीर में बाहरी हमलों और आतंक की स्थिति का संकेत करते हुए कहते हैं—

पातः पूष्णो भवति महते नोपपाताय यस्मात्,
कालेनास्तं क इह न ययुर्यान्ति यास्यन्ति चान्ये।
एतावत्तु व्यथयतितरां लोकबाह्यै स्तमोभि-
तस्मिन्नेव प्रकृतिमहति व्योम्नि लब्धोवकाशः॥

(सूर्य डूब गया, यह कोई दुःख की बात नहीं। समय आने पर कौन हैं, जो अस्त नहीं हुए और अस्त नहीं हो जायेंगे? पर यह बात अवश्य बहुत चुभती है कि घुसपैठिये अँधेरे ने उस विस्तृत आकाश में अपने लिए स्थान पा ही लिया।)

जीवन की निराशा और विषाद, मनन और गंभीरता, अधिक्षेप तथा विडंबना, अनुभवों को सहज सटीक भाषा में प्रकट करने में अपनी सफलता के कारण भल्लट का कवित्व सराहनीय है। आचार्य मम्मट ने भी उनके तीन पद्यों को प्रशंसा के भाव से उद्धृत किया है।

देवीशतक—आचार्य आनंदवर्धन ने देवीशतक नामक स्तुतिकाव्य की रचना की थी। यह शतक भाषा पर आनंदवर्धन के असाधारण अधिकार और दुरूह तथा क्लिष्ट काव्य की रचना के साथ मुरजबंध, खड्गबंध, गोमूत्रबंध आदि चित्रकाव्यों के उदाहरण पर प्रस्तुत करता है। सुप्रसिद्ध वैयाकरण कैय्यट ने इस पर वृत्ति लिखी है। कहीं-कहीं यमक आदि का निर्वाह करते हुए भी कवि ने प्रसादगुण की रक्षा की है। उदाहरणार्थ—

संयतं याचमानेन यस्याः प्रापि द्विषा वधः।
संयतं या च मानेन युनक्ति प्रणतं जनम्॥

वक्रोक्तिपञ्चाशिका—हरविजय महाकाव्य के प्रणेता रत्नाकर अध्याय ७ में दिया गया है। इन्होंने वक्रोक्तिपञ्चाशिका नाम से पचास चमत्कारपूर्ण पद्यों का काव्य भी लिखा।

अन्योक्तिमुक्तालता—कश्मीर के महाकवि शम्भु ने मुक्तककाव्य-परम्परा में दो महत्त्वपूर्ण रचनाएँ कीं—अन्योक्तिमुक्तालता तथा राजेन्द्रकर्णपूर। शम्भु राजा हर्ष (१०८९-११०१ ई०) के आश्रय में रहे। श्रीकंठचरित के प्रणेता महाकवि मंख ने इनका एक सुकवि के रूप में स्मरण किया है। अन्योक्तिमुक्तालता में विविध विषयों पर १०८ सरस अन्योक्तियाँ हैं। शंभु भल्लट से प्रभावित प्रतीत होते हैं। भल्लट की कविता के समान व्यंग्य के तीखेपन के साथ समाज की विसंगतियों का कवि ने यहाँ वर्णन किया है। पर प्रासादिकता के स्थान पर शम्भु की कविता में चमत्कार दिखाने की प्रवृत्ति तथा आयास अधिक मिलता है। भाषा में गाढबंध और शैथिल्य दोनों का समान निर्वाह करने में वे सफल हैं। उदाहरण के लिए—

कुञ्जे कोरकितं करीरतरुभिर्द्रेक्काभिरुन्मुद्रितं,
यस्मिन्नङ्कुरितं करञ्जविटपैरुन्मीलितं पीलुभिः।
तस्मिन् पल्लवितोऽसि किं वहसि किं कान्तामनोवागुरा-
भङ्गीमङ्ग लवङ्गभङ्गमगमः किं नासि कोऽयं क्रमः॥ (४३)

(हे लवंग, जिस कुंज में करीर के पेड़ पनप रहे हैं, जहाँ द्रेक फूल रहे हैं, जहाँ करंज के झाड़ों में अंकुर फूट रहे हैं, और पीलु विकसित हो रहे हैं, वहाँ तुम क्यों व्यर्थ में खिल रहे हो? क्यों व्यर्थ ही रमणियों का मन बींधने वाली भंगिमाएँ दिखा रहे हो? यह तुम्हारी कैसी रीति? तुम टूट क्यों नहीं जाते?)

राजेंद्रकर्णपूर शम्भु की दूसरी रचना है, जो राजा हर्ष की प्रशस्ति में है। कवि ने हर्ष की प्रशस्ति में धरती-आकाश एक कर दिया है।

क्षेमेंद्र के लघुकाव्य

महाकवि क्षेमेंद्र का परिचय महाकाव्य विषयक अध्याय में दिया जा चुका है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी कश्मीर के इस मनस्वी कवि ने साहित्य की कोई ऐसी विधा नहीं, जिसमें सार्थक और महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत न की हों। रचे हुए ३९ काव्यों का पता चलता है। इनमें से मुक्तक या लघुकाव्य कोटि की रचनाओं को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(१) उपदेशपरक काव्य—क्षेमेंद्र के लघुकाव्यों में चतुर्वर्गसंग्रह, चारुचर्या तथा दर्पदलन और नीतिकल्पतरु—ये चार उपदेशपरक या नीतिपरक मुक्तक काव्य हैं। चतुर्वर्गसंग्रह में चार परिच्छेदों में क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का स्वरूप बताते हुए मनुष्य अपने जीवन में इनकी साधना किस प्रकार करे—यह बताया गया है। चारों परिच्छेदों में विभिन्न छंदों का प्रयोग हुआ है, तथा अत्यन्त सहज रूप में चित्त में उतर जाने वाली शैली में क्षेमेंद्र ने एक गंभीर बुद्धिवादी या विचारक कवि के रूप में अपने कृतित्व का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत किया है।

चारुचर्या १०१ अनुष्टुप् छंदों में निबद्ध उपदेशप्रधान काव्य है, जिसमें उत्तम आचरण का स्वरूप बताया गया है। इसका विभाजन विचारों में हुआ है, और कुलविचार, धनविचार, विद्याविचार आदि सात विचार इसमें हैं। मनुष्य के थोथे अहंकार पर क्षेमेंद्र ने इस काव्य में गहरी चोट की है तथा कुल, धन, रूप, शौर्य, दान और तप का सच्चा स्वरूप बताया है। अर्थांतरन्यास तथा दृष्टान्त अलंकारों की लड़ियाँ गूँथते हुए उपदेशों को कवि ने सरस रूप में हृदयंगम बना दिया है।

(२) यथार्थचित्रणपरक काव्य—इन काव्यों को व्यंग्यकाव्य या विडंबनपरक काव्य भी कहा जा सकता है। इनमें क्षेमेंद्र ने अपने समय के सामाजिक और राजनीतिक सत्य को निर्भीक होकर बेबाक भाषा में प्रकट किया है, तथा जीवन की विडंबनाओं को भी अभिव्यक्ति दी है। सेव्यसेवकोपदेश, कलाविलास तथा समयमातृका, देशोपदेश तथा नर्ममाला क्षेमेंद्र के इसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण काव्य हैं।

सेव्यसेवकोपदेश में ६१ पद्य हैं। यह निर्वेदप्रधान काव्य कहा जा सकता है। सेवक की दुर्दशा तथा सेवावृत्ति की हीनता की चर्चा करते हुए कवि इसमें मनुष्य के स्वाभिमान को जगाना चाहता है। क्षेमेंद्र की सहानुभूति सेवा करने वाले दलित और दीन व्यक्ति के प्रति है। सेवक की दशा का चित्रण अत्यंत मार्मिक तथा यथार्थ है। वास्तव में यह काव्य काम या धंधे की तलाश करते दीन-हीन लोगों की स्थिति पर करुण टिप्पणी है। आमने-सामने होने पर भी सेव्य (राजा या धनी व्यक्ति) और सेवा (काम-धंधा) माँगने वाले के बीच कितनी दूरी है, यह क्षेमेंद्र की भाषा में देखिये—

एकः खमेव क्षितिमीक्षतेऽन्यः,
स निर्जनार्थी स च गाढलग्नः।
स्वस्थार्थिता तस्य भृशं स चार्थी,
कथं स सेव्यः स च सेवकोऽस्तु॥

(एक की आँखें आकाश में टँगी हुई हैं, तो दूसरे की दृष्टि धरती में गड़ी हुई है। यह एकांत में मिलना चाह रहा है, और वह लोगों से घिरा हुआ है। वह याचकों से मुँह मोड़े है और यह याचक बन कर खड़ा है। तब फिर वह सेव्य और यह सेवक हो जाये ऐसा कैसे हो?)

कलाविलास में दस सर्गों में क्रमशः दंभ, लोभ, काम, वेश्यावृत्ति, कायस्थचरित, मद, गायन, सुवर्णकारों का चरित, विभिन्न प्रकार के धूर्त और सकल-कला-निरूपण के मनोरंजक प्रकरण हैं। इस काव्य का चरितनायक मूलदेव है, जो धूर्तों का सम्राट् है। वह अपने शिष्य चंद्रगुप्त को इस काव्य में सीख देता है। कवि ने समाज को ठगने वाले धूर्तों के स्वार्थ के खेल पर बड़ी मीठी चुटकियाँ ली हैं, तथा उनके पाखंड और धूर्तता का निर्भीकता के साथ भंडाफोड़ किया है। आज के साहित्य में व्यंग्य की विधा को जो प्रतिष्ठा प्राप्त है, क्षेमेंद्र ने अपनी लौह लेखनी के द्वारा संस्कृत काव्य को वह प्रतिष्ठा सहस्राब्दी पहले प्रदान की। स्वर्णकारों (सुनारों) की चोरी का उद्‌घाटन करते हुए वे कहते हैं—

मेरुः स्थितोऽतिदूरे मनुष्यभूमिं चिरात् परित्यज्य।
भीतोऽवश्यं चौर्याद् घोराणां हेमकाराणाम्॥ (८.२०)

(सोने का बना पर्वत मेरु मनुष्यलोक से अत्यंत भयभीत होकर इसीलिए बहुत दूर जा कर स्थित है कि वह सुनारों की चोरी से डर कर भागा हुआ है।)

समयमातृका की रचना १०५० ई० में हुई। इसमें विविध छंदों में कुल ६३५ पद्य हैं। यह आठ समयों में विभाजित है। समाज के अधःपतन का ऐसा कच्चाचिट्ठा अन्यत्र दुर्लभ है। कंक नामक नाई और कलावती वेश्या के संवाद में अनेक रोचक कथाएँ गूँथते हुए कवि ने अपने समय के घोर यथार्थ को सही-सही यहाँ अंकित कर दिया है। लंपटता, स्वार्थ और मनुष्य की लिप्सा का नंगा नाच क्षेमेंद्र एकदम वीतराग होकर चित्रित करते हैं। कवि स्वयं सर्वथा निस्संग है, पर सत्य को पूरे यथार्थ में वह निरूपित करता है। चतुर्थ समय में कंकाली नामक कुट्टनी नायिका है। कश्मीर के अनेक स्थानों का सजीव वर्णन इस काव्य में किया गया है।

देशोपदेश तथा नर्ममाला में भी क्षेमेंद्र ने यथार्थ का उद्घाटन किया है, पर यहाँ हास्य तथा नर्मालाप की शैली उन्होंने अपनायी है। देशोपदेश में २९८ श्लोक हैं। इसका विभाजन आठ उपदेशों (अध्यायों) में हुआ है। प्रथम उपदेश में दुष्ट, द्वितीय में कृपण या कंजूस, तृतीय व चतुर्थ में वेश्याओं, पंचम में विटों, षष्ठ में गौड देश से अध्ययनार्थ कश्मीर आये छात्रों, सप्तम में वृद्धविवाह तथा अष्टम उपदेश में कवि, चिकित्सक और वैयाकरण के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है।

नर्ममाला तीन भागों में विभाजित है। इसके अध्यायों को परिहास की संज्ञा दी गयी है। इसमें राजाधिकारी किस प्रकार सामान्य जनता को लूटते हैं, इसका बेबाक चित्रण है।

क्षेमेंद्र समाज के सजग प्रहरी हैं, वे युग के अग्रदूत हैं। समाज के नैतिक स्खलन की तीखी समीक्षा करते हुए उन्होंने एक सुधारक और आलोचक के व्यक्तित्व का परिचय दिया है।

चौरपंचाशिका

यह काव्य चौरसुरतपंचाशिका या बिल्हणकाव्य के नाम से भी जाना जाता है। इसके प्रणेता महाकवि बिल्हण माने गये हैं, जिनका परिचय ऐतिहासिक महाकाव्य-विषयक अध्याय ११ में दिया गया है। इस काव्य की रचना के पीछे यह कथा है कि किसी राजकुमारी को शिक्षा देने के लिए कवि की नियुक्त की गयी और गुरु तथा शिष्या दोनों में प्रेम हो गया। राजा को पता चलने पर उसने कवि को फाँसी का दंड दे दिया। फाँसी पर ले जाये जाने के पूर्व कवि ने इस काव्य की रचना की। इस काव्य में कुल पचास पद्य हैं, पर इसकी लोकप्रियता के कारण इसमें इतने पाठांतर और क्षेपक जुड़ गये हैं कि विभिन्न संस्करणों में कुल चार ही पद्य समान हैं। सभी पद्य उत्तम पुरुष एकवचन में नायक के मुख से कहलाये गये हैं, और उनमें राजकुमारी के साथ प्रणय की स्मृतियाँ भावाकुल मनःस्थिति में व्यक्त हुई हैं। सारा काव्य वसंततिलका छंद में है,

और प्रत्येक पद्य में 'अद्यापि' (आज भी) की आरम्भ में आवृत्ति हुई है। राजकुमारी की चेष्टाओं, भंगिमाओं या अनुभावों का चित्रण अत्यंत सरस है और वह विप्रलंभ तथा करुण रसों के साथ भावाकुलता को प्रगाढ़ बनाता है। उदाहरणार्थ—

अद्यापि वासगृहतो मयि नीयमाने,
दुर्वारभीषणचरैर्यमदूतकल्पैः।
किं किं तया बहुविधं न कृतं मदर्थे
वक्तुं न पार्यत इति व्यथते मनो मे॥

उसके शयनागार से जब मुझे दुर्निवार भयानक यमदूतों के समान राजपुरुष पकड़ कर ले जाने लगे, तो वह किस तरह अनेक प्रकार से मेरे लिए जिस तरह रोने-कलपने लगी, उसे मैं कह नहीं सकता—इस कारण मेरा मन और व्यथित हो रहा है।)

अद्यापि तन्मनसि सम्परिवर्तते मे,
रात्रौ मयि क्षुतवति क्षितिपालपुत्र्या।
जीवेति मङ्गलवचः परिहृत्य कोपात्,
कर्णे कृतं कनकपत्रमनालपन्त्या॥

(आज भी वह बात मेरे मन में घूम रही है, जब रात का समय था, वह राजुकमारी मुझसे रूठी हुई थी और मुझे छींक आ गयी। तब उसने क्रोध त्याग कर 'जीव' (जिओ) यह मंगल वचन कहा और मुझसे बिना कुछ कहे कान में स्वर्णपत्र चढ़ा लिया।

गीतगोविंद तथा रागकाव्य-परम्परा

रागकाव्य वास्तव में उपरूपक का भेद है। इसका नृत्य के साथ अभिनय किया जाता है। पर इसे गीत के रूप में गाया भी जा सकता है। यह एक राग या विभिन्न रागों में निबद्ध होता है। इसमें ध्रुवक (स्थायी) और अंतरे का प्रयोग होता है। ध्रुवक या स्थायी की पंक्ति को कुछ पंक्तियों के पश्चात् बार-बार दोहराया जाता है। रागकाव्य की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही थी। इसका लक्षण भरत मुनि के शिष्य कोहल ने किया है, जिसे आचार्य अभिनवगुप्त ने उद्धृत करते हुए राघवविजय तथा मारीचवधम् इन रचनाओं को रागकाव्य का उदाहरण बताया है। ये दोनों रागकाव्य अब प्राप्त नहीं होते।

रागकाव्य की परम्परा में जयदेवकृत गीतगोविंद युगप्रवर्तक कृति कही जा सकती है। डॉ० प्रभात शास्त्री ने इसके पूर्व रचित एक रागकाव्य कृष्णलीलातरंगिणी को माना है। कतिपय विद्वानों ने महाकवि बिल्वमंगल के कृष्णकर्णामृत को भी रागकाव्य मान लिया है, जब कि इस पर रागकाव्य का मुख्य लक्षण—ध्रुवकयुक्त गीत में निबद्ध होना—लागू नहीं होता।

जयदेवकृत गीतगोविंद

संस्कृत साहित्य के इतिहास में दो जयदेव विशेष प्रसिद्ध हैं। एक गीतगोविंदकार जयदेव तथा दूसरे प्रसन्नराघव नाटक तथा चंद्रालोक ग्रंथ के रचयिता पीयूषवर्ष जयदेव।

गीतगोविंदकार जयदेव बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (११८०-१२०६ ई०) के समय में हुए। इनका जन्म बंगाल के केंदुबिल्व ग्राम (जिला बीरभूम) में हुआ ऐसा माना जाता है, कतिपय विद्वान् इनका जन्मस्थल उड़ीसा में भी बताते हैं। इनके पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम पद्मावती था। उदयन, विक्रमादित्य, राजा भोज, शंकराचार्य आदि महान् व्यक्तियों की भाँति इनके विषय में भी अनेक कथाएँ व किंवदंतियाँ प्रचलित हैं और इनके चरित को लेकर अनेक काव्य लिखे गये हैं।

गीतगोविंद में बारह सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में शार्दूलविक्रीडित, वसंततिलका आदि छंदों में उपोद्घात किया गया है। इसके पश्चात् प्रत्येक सर्ग में एक से अधिक गीतियाँ हैं, जिन्हें अष्टपदी या प्रबंध भी कहा जाता है। प्रबंध संगीतशास्त्र की परम्परा में पारिभाषिक शब्द है। प्रत्येक प्रबंध का राग निर्दिष्ट है, और इसमें ध्रुवक या स्थायी तथा अंतरे का प्रयोग है। गीतगोविंद में कुल २४ प्रबंध हैं, और इन्हीं के द्वारा जयदेव की ख्याति साहित्य के क्षेत्र में अजर-अमर बनी हुई है। आनंदवर्धन ने अमरुक के प्रत्येक श्लोक को महाकाव्य के समान बताया था। परम्परा में अनेक टीकाकारों व पंडितों ने गीतगोविंद को भी महाकाव्य कहा है।

वास्तव में गीतगोविन्द एक उपरूपक है। उपरूपकों के अन्तर्गत प्राचीन आचार्यों ने काव्य और रागकाव्य इन दो प्रकारों का निरूपण किया है। पूरी रचना एक ही राग में गाई जाये, तो काव्य उपरूपक होता है, पूरे प्रबन्ध के गीत अलग-अलग रागों में गेय हों, तो राग-काव्य। पाश्चात्य विद्वानों ने भ्रान्तिवश इसे लिरिक ड्रामा (लासेन), पेस्टोरल ड्रामा (विलियम जोंस), ऑपेरा (सिल्वाँ लेव्ही), मेलो ड्रामा (पिशेल) या यात्रा का परिष्कृत रूप (श्रेडर) कहा है, जो उचित नहीं है।

गीतगोविंद का विषय कृष्ण के प्रति भक्ति-भाव तथा शृंगार की अभिव्यक्ति है। प्रारम्भ में ही कहा गया है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो,
यदि विलासकथासु कुतूहलम्।
शृणु तदा जयदेवसरस्वतीं,
मधुरकोमलकान्तपदावलीम् ॥

इसकी नायिका राधा तथा नायक कृष्ण हैं। गोपियों तथा राधा की विरह में उक्तियाँ, वसंत ऋतु का वर्णन और रास का प्रसंग विशेषरूप से हृदयावर्जक हैं। राधा को अलग-अलग गीतियों में उत्कंठिता, प्रोषितपतिका, वासकसज्जा, विप्रलब्धा, खंडिता, कलहांतरिता, अभिसारिका तथा स्वाधीनपतिका इन सभी नायिका-रूपों में कवि ने चित्रित किया है। इसका मूल स्रोत श्रीमद्भागवत या माधुर्य भक्ति की परम्परा है। इसके साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि लोक में उस समय कृष्णलीला के गायन और उस पर नृत्य तथा अभिनय की परम्परा रही होगी, वह विशेषरूप में जयदेव की अमर रचना के लिए आधार बनी।

भाषा पर जयदेव का असाधारण अधिकार है। संस्कृत भाषा का अद्भुत सौंदर्य उनकी रचना में अकूत रूप में समाया हुआ है। अनुप्रासों की मधुर झंकार और नव्य

भारतीय भाषाओं के नये छंदों का पहली बार इस रूप में संस्कृत काव्यधारा में जयदेव की कविता अवतरण कराती है। उदाहरण के लिए—

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि, विरहिजनस्य दुरन्ते।

संगीतात्मकता तथा लय का ऐसा शिल्प भी संस्कृत कविता में पहली बार पूर्ण परिपक्व रूप में प्रस्तुत किया गया—

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेषम्।
न कुरु नितम्बिनि गमनविलम्बनमनुसर तं हृदयेशम्।
धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली।
गोपीपीनपयोधरमर्दनचञ्चलकरयुगशाली॥

गीतगोविंद कविता में संगीत, अभिनय, नृत्य, भक्ति और शृंगार, अध्यात्म का अनुपम योग करने वाला अद्‌भुत काव्य है। अनुप्रास के साथ वामन के द्वारा निरूपित माधुर्य, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति तथा श्लेष और समाधि गुणों का प्रचुर योग इसकी रचना रचना में हुआ है। अमरुकशतक और मेघदूत की भाँति यह छोटा सा काव्य भी अपने रचनाकाल से लेकर आज तक सहृदयों का कंठहार बना हुआ है। गीतगोविंद की सबसे बड़ी दुर्लभ विशेषता इसका सांस्कृतिक योगदान है। इस अकेले लघुकाय ग्रंथ ने अपनी अलौकिक शक्तिमत्ता से उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम सारे भारत को एक भाव धारा में जोड़ दिया। देश में ऐसा कोई शास्त्रीय नृत्यरूप नहीं है, जिसमें जयदेव की अष्टपदियों पर अपनी-अपनी शैली में नृत्य व अभिनय न होता हो। जयदेव के जन्मस्थान केंदली में उनकी स्मृति में पौष शुक्ल सप्तमी को प्रतिवर्ष उत्सव मनाया जाता रहा है, जिसमें रातभर रसिक जन गीतगोविंद के पद गा-गा कर रसविभोर होते रहे हैं। पुरी के जगन्नाथ मंदिर में अहर्निश गीतगोविंद की मधुर पदावली जन-जन के कंठ से निनादित होती रही है। सन् १४९९ में उत्कल के राजा प्रतापरुद्र देव ने तो नर्तक और वैष्णव गायकों को जयदेव के ही गीत गाने की आज्ञा दी थी। चैतन्य महाप्रभु (१४८६-१५२७ ई०) गीतगोविंद के पदों का गायन और श्रवण स्वयं किया करते थे। गौडीय भक्ति-सम्प्रदाय में सदैव महाकवि जयदेव का काव्य भक्तों का हृदयहार बना रहा है।

अपनी इन दुर्लभ विशेषताओं के कारण मेघदूत के समान ही यह कृति भी परवर्ती कवियों के लिए अक्षय प्रेरणा का स्रोत बनी और संस्कृत साहित्य में इसे आधार बनाकर सैंकड़ों रागकाव्य कवियों ने अपने-अपने उपास्य देव के प्रति आराधना तथा शृंगारभावना की अभिव्यक्ति करते हुए रचे। इनमें उल्लेखनीय रागकाव्य हैं पंद्रहवीं शताब्दी के कल्याण कवि का गीतगङ्गाधरम्, श्याम कवि का गीतपीतवसनम्, सोलहवीं शताब्दी के रामभट्ट का गीतगिरीशम् और सोमनाथ मिश्र का कृष्णगीतम्, सत्रहवीं शताब्दी के जयदेव नाम के ही एक अन्य कवि का रामगीतगोविंदम् और काव्यशास्त्र-नाट्यशास्त्र के आचार्य नंजराज का सङ्गीतगङ्गाधरम् और प्रभाकर शुक्ल का गीतराघवम्, काव्यशास्त्र के

प्रख्यात आचार्य भानुदत्त मिश्र का गीतगोरीपतिः, उन्नीसवीं शती के जयनारायण घोषाल का पार्वतीगीतम्, बींसवी शताब्दी में राधावल्लभ का गीतधीवरम् आदि।

गोवर्धन : आर्यासप्तशती

गोवर्धन महाकवि जयदेव के समकालीन तथा बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के आश्रय में रहे। उनकी आर्यासप्तशती मुक्तककाव्यपरम्परा में अमूल्य मुक्तामाला है।

गोवर्धन अपने पहले की सुदीर्घ तथा सम्पन्न काव्य-परम्परा से सम्यक् परिचित थे। आर्यासप्तशती के प्रास्ताविक श्लोको में उन्होंने आदिकवि वाल्मीकि, महाभारतकार व्यास, बड्ढकहा के कर्ता गुणाढ्य, कालिदास, भवभूति तथा बाण की वन्दना इन कवियों के कर्तृत्व की गहरी समझ व्यक्त करते हुए की है। स्वयं गोवर्धन के परिवार में भी साहित्यप्रेमियों और कवियों का जमावड़ा था। उन्होंने अपने पिता नीलाम्बर को शुक्राचार्य के समान ऋषिकवि बताया है। गोवर्धन के आश्रयदाता महाराज लक्ष्मणसेन साहित्यानुरागी थे। गीतगोविन्द के प्रणेता महाकवि जयदेव ने गोवर्धन की कविता को सराहा था। उनके अनुसार शृंगाररस के उत्तम काव्य की रचना करने में गोवर्धन की सानी नहीं है—

शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः .....॥ (गीतगोविन्द)

यद्यपि गोवर्धन के आदर्श तो वाल्मीकि, व्यास या कालिदास जैसे महान् कवि रहे, पर अपनी कविता में उन्होंने प्रतिदर्श बनाया हाल की गाहासतसई को। गाहासतसई में संकलित प्राकृत गाथाओं की लोकप्रियता देख कर संस्कृत में उसी छन्द में और उसी प्रकार के भावों को व्यक्त करने वाली गाथाएँ रचने की उन्हें प्रेरणा मिली होगी। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि प्राकृत काव्य की रसमाधुरी को संस्कृत में उतारना बड़ा कठिन है। प्राकृत भाषा आम लोगों की बोली से जुड़ी हुई है, इसलिए उसमें रस का सहज संचार संभव है, और प्राकृत काव्य के रस को संस्कृत में ला कर अधोगामिनी कलिन्दकन्या या यमुना नदी को आकाश में चढ़ाने जैसा कठिन कार्य उन्होंने कर दिया है—

वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता।
निम्नानुरूपनीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम्॥ (आर्यासप्तशती, ५२)

गोवर्धन को अपनी कविता की रसवत्ता का अभिमान भी है। वे उसे प्रेम के अद्वैत की उपनिषद्, सहृदयों के लिए मसृणपदरीतिगति वाली अभिसारिका बताते हैं।

विषयवस्तु—आधुनिक समीक्षकों ने गोवर्धन के इस संग्रह को मुक्तक काव्य के अन्तर्गत माना है। परन्तु गोवर्धन की गाथाओं में कहीं कवि के निजी मनोभावों की छाया नहीं है। उनकी गाथाओं में गाँव, घर-परिवार, प्रणयलीलाओं के अलग-अलग प्रसंग बहुत तटस्थ भाव से चित्रित किये गये हैं। बहुसंख्यक गाथाओं में नायक, नायिका, दूती अथवा नायिका की सखी के संवाद हैं। इस तरह ये गाथाएँ गोवर्धन के

समय के मध्यवर्ग या निम्नवर्ग के समाज की अलग-अलग छवियाँ उकेरती हैं। कवि ने इनमें प्रायः अपनी दृष्टि प्रक्षेपित नहीं की है।

आर्यासप्तशती में आरम्भ में चौवन गाथाएँ प्रस्तावना की हैं। इसके बाद ७०० गाथाएँ अकारादिक्रम से विन्यस्त हैं। प्रत्येक अक्षर पर एक-एक व्रज्या (खंड) रखा गया है, और व्रज्याओं में आर्याओं या गाथाओं की संख्या नियत नहीं है। किसी अक्षर से आरम्भ होने वाली जितनी गाथाएँ रच ली गईं उस अक्षर की व्रज्या में शामिल कर ली गईं। अतएव गाथाओं में विषय का कोई क्रम नहीं है। गोवर्धन स्फुट गाथाएँ समय-समय पर लिखते गये होंगे, और जैसा उन्होंने आर्यासप्तशती के अन्त में कहा है, उनके अनुज तथा शिष्य उदयन और बलभद्र ने इन गाथाओं के संकलन में सहायता की होगी।

आर्यासप्तशती के कथ्य और प्रतिपादन शैली तथा दृष्टिकोण पर भी गाहासतसई के प्राकृत काव्य का गहरा प्रभाव है, गाहासतसई के खेत-खलिहानों व गाँव-देहातों में होने वाली प्रणयलीलाओं के चित्रों को उठा कर गोवर्धन ने उनमें बंगाल के ग्रामजीवन के रंग भर दिये हैं। परकीया रति तथा पति या पत्नी के साथ प्रवंचना का रस ले-ले कर उन्होंने चित्रण किया है। "पुआल के ढेर के सत्यानाश हो जाने से रिसाया हलवाहा इसे बैल की कारस्तानी समझ कर बैल को पीट रहा है, और इधर मुँह छिपाये उसकी पत्नी और देवर हँस रहे हैं" (३०२)। दरिद्र लोगों के बहुत से सन्दर्भ आर्यासप्तशती में हैं, पर उनमें दरिद्रों के जीवन का क्लेश या संघर्ष नहीं है, बल्कि प्रेम और उन्मुक्त स्वैराचार को लेकर उल्टे उनसे स्पृहा है। कोई अमीर स्त्री दरिद्र की घरवाली से कहती है कि तुम अच्छी हो जो अपने टूटे-फूटे घर में भी चन्द्रमा की वन्दना कर लेती हो (प्रेमी के साथ रमण कर लेती हो), हम लोग तो चन्द्रदर्शन से भी वंचित हैं (घर के बाहर निकलने की आजादी हमें नहीं है) (२९७)।

गोवर्धन पतनशील समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे कविवाणी को असती तथा काँच की बोतल से उपमित करने में भी नहीं हिचकिचाते (आर्या० ७४)। प्राकृत कविता के प्रभाव से समाज के निम्न वर्ग का चित्रण वे करते हैं, सामन्तीय समाज के विलास और आडंबर को भी वे चित्रित करते हैं, पर उसके प्रति उनके मन में वह जुगुप्सा का भाव नहीं है, जो कालिदास जैसे कवियों में हम पाते हैं। उदात्त जीवन बोध का अभाव तथा श्रृंगार को चित्रण के नाम पर संस्खलन का नमूना उनकी कविता प्रस्तुत करती है। लोकगीतों में मिलने वाले द्व्यर्थक संवादों की भंगिमा आर्यासप्तशती की बहुसंख्य गाथाओं में देखी जा सकती है। तथापि अनेक गाथाओं में मध्यवर्ग के भारतीय पारिवारिक जीवन की रसमाधुरी का प्रभावशाली चित्रण हुआ है। असमय सुरत की अभिलाषा प्रकट करने वाले प्रिय से नायिका कहती है—

द्वारे गुरवः कोणे शुकः सकाशे शिशुर्गृहे सख्यः।
कालासह क्षमस्व प्रिय प्रसीद प्रयातमहः॥ (२८५)

(गुरुजन (सास-ससुर) दरवाजे पर बैठे हैं, कोने में तोता (सब देख रहा है), मेरे पास मेरा बेटा है, घर में सखियाँ भी मौजूद हैं। हे समय न झेल पाने वाले प्रिय, क्षमा करो, अब प्रसन्न हो भी जाओ, अब तो दिन ढल ही गया।)

जीवन और मनुष्य-स्वभाव के सूक्ष्म पर्यवेक्षण के कारण परिवार या प्रेमसम्बन्धों के उनके अनेक चित्र प्रामाणिक और प्रभावशाली हैं। बेटी के ब्याह में माँ ने तो रो रो कर धरती गीली कर दी है, पर बेटी को अपने गुणो पर गर्व है, वह मुँह छिपा कर हँस रही है और ऊपर-ऊपर से सूखी रुलाई भी करके दिखा रही है (३८)।

लोकगीतों या प्राकृत काव्य के प्रतीकों का गोवर्धन ने प्रणय प्रसंगों के चित्रण में सटीक प्रयोग किया है। ये प्रतीक द्व्यर्थक बातचीत करने वाली सखियों की तानाकशी या ठिठोली में विशेष रूप से आये हैं। शिशिर की आग को सम्बोधित करती हुई कोई सखी कहती है—"तू चाहे धुएँ से आँसू गिरा, या लपटों से जला या अंगारों से मैला बना; फिर गरीब की घरवाली यह तुझे रात भर जलाये रहेगी" (३०४)। इसी तरह के पद्यों में प्रेमपरक व्यंग्यार्थ को ही गोवर्धन के टीकाकारों ने प्रमुखता दी है, पर वाच्यार्थ अपने आपमें ऐसे पद्यों में स्वत:पूर्ण और सुन्दर है।

घर-घर की कहानी एक प्रेम के रंग में रँगे रसिक की दृष्टि से वे कहते हैं, तो कभी-कभी परिवार के जीवन के खटमिट्ठे यथार्थ से भी हमारा साक्षात्कार कराते हैं। उनकी कविता में ऐसी गृहस्थिन भी आती है, जिसे अपने यौवन के मद में भरी सौतें सता रही हैं, पर उसकी गोद में बेटा है, और इस बेटे को भी उसका बाप बहुत चाहता है, तो यह अपने इसी सौभाग्य के मद में फूली-फूली रहती है (५२)।

और भी अधिक मर्मस्पर्शी स्थिति गरीब की घरवाली की है। उसे अपने दुधमुँहे बच्चे पर भी बड़ी ममता है, और प्रियतम पर भी प्रेम है। वह भोली प्रिय के रति के आमन्त्रण को न स्वीकार कर पाती है, न मना कर पाती है—

दुर्गतगृहिणी तनये करुणार्द्रा प्रियतमे चरागमयी ।
मुग्धा रताभियोगं न मन्यते न प्रतिक्षिपति ॥ (२९६)

शरीर का आग्रह गोवर्धन के शृंगार चित्र में सर्वत्र है। उसी के भीतर कहीं-कहीं वे मन के भीतर झाँकते हैं। अपनी बेटी को लेकर माँ की उधेड़बुन का यह संकेत कालिदास के कुमारसम्भव में मैना की पार्वती को लेकर चिन्ता का स्मरण कराता है—

प्रातर्निद्राति यथा यथात्मजा लुलितनिस्सहैरङ्गैः ।
जामातरि मुदितमनास्तथा तथा सादरा श्वश्रूः ॥ (३७५)

(जैसे-जैसे बेटी थक कर निढाल देह से सबेरे-सबेरे नींद में बेसुध दिखती है, वैसे-वैसे प्रमुदित मन वाली सास का अपने जवाँई के लिए आदर बढ़ रहा है।)

कहीं-कहीं प्रेम के रोमांच और देह के दुर्निवार आकर्षण का चित्रण करते हुए गोवर्धन उसके रस में डूब कर एक दुर्लभ अनन्यता और तन्मयता का विशिष्ट अनुभव भी देते हैं। मन्दिर में प्रणयी युगल पूजा करने पहुँचे हैं। उन दोनों की एक दूसरे के लिए दृष्टि और आँखे ऐसी बँध गयी हैं कि पूजा के लिए हाथों में उठाये फूल वे एक-दूसरे को अर्पित कर बैठे हैं (६५७)। गोवर्धन अपनी गाथाओं के द्वारा सामान्य लोगों के सुख-दु:ख की और विशेषत: प्रेम की गाथा गाते हैं। कविता में उनका मुख्य विषय

दाम्पत्य तथा परकीया रति है। पराई स्त्री के प्रति प्रणय के चित्रों से आर्यासप्तशती भरी पड़ी है, पर गोवर्धन दाम्पत्य को बहुमूल्य मानते हैं—

निष्कारणापराधं निष्कारणकलहरोषपरितोषम्।
सामान्यमरणजीवनसुखदुःखं जयतिदाम्पत्यम् ॥ (३३४)

(जिसमें बिना कारण एक-दूसरे को अपराधी बता दिया जाता है, बिना कारण परस्पर झगड़ा होता है, क्रोध होता है और बिना कारण ही सन्तोष भी हो जाता है, जिसमें जीना, मरना, सुख, दुःख लगा ही रहता है—ऐसे दाम्पत्य की जय हो।)

वर्णनकला, कल्पना और शैली—गोवर्धन द्व्यर्थक वचोभंगी के कवि हैं, और श्लेष के प्रयोग में उन्होंने बड़ी निपुणता प्रकट की है। गूढव्यंग्यों के ताने-बाने से वे पदावली की सघन बुनाई करते चलते हैं। कितव का अर्थ धूर्त और जुआरी दोनों हैं। अक्ष का अर्थ द्यूत के पासे और आँखें दोनों हैं। गोवर्धन ने इनसे श्लेष गूँथते हुए नायिका को पाशकसारी (द्यूत में फेंकी जाने वाली गुटिका बना दिया है)—

कितव प्रपञ्चिता सा भवता मन्दाक्षमन्दसञ्चारा।
बहुदायैरपि सम्प्रति पाशकसारीव नायाति ॥ (१५७)

इसी श्लेष और उपमा की योजना को आगे उन्होंने उलट कर प्रयोग किया है—

शारीव कितव भवतानुकूलिता पातिताक्षेण। (६२३)

इस प्रकार की चमत्कारपूर्ण कल्पनाओं में रमते हुए गोवर्धन कहीं नायिका को वातप्रतीच्छनपटी (नाव का पाल) और नायक को वहित्र (नाव) बना देते हैं (९९)। नायिका के वक्षःस्थल पर मोतियों की माला झूल रही है और माला के बीच में उसका कुचमुकुल है, तो कवि को उसकी देहलता गुटिकाधनु (गुलेल) प्रतीत होती है (१०८), तो कहीं वाष्प (बरसात में भीगी, आँसुओं से भीगी) सर्वसहा धरती के रूप में वे उसे देखते हैं। वे नायिका की देह को विन्ध्याचल बता देते हैं, जो (अगस्त्य जैसे) मुनियों की गति को भी रोक ले (५५६)। इस तरह की अभिव्यक्तियों में नई कल्पनाओं के साथ गोवर्धन ने गाँव की बोली से मिली पदावली संस्कृत कविता में संक्रान्त की है। कठोर हृदय वाले सम्पन्न पर कंजूस नायक को वे शुंठी (सौंठ) का टुकड़ा बताते हैं (२७१)। हलवाहे की गुणमयी (गुणो वाली, रस्सी वाली) बेटी गाँव के तरुणों को मेढिरज्जु (खूँटे की रस्सी) की तरह भ्रमित (घुमाना, भ्रम में डालना) कर रही है। प्रेम के पाक को वे क्षुद्रापचार से विरस होने वाले गुड के पास से उपमित करते हैं (१२४)। इस तरह की चमत्कारपूर्ण कल्पनाओं या अछूते बिम्बविधान के विन्यास में बोलचाल की भाषा से उठाये गये मुहावरों या लोकोक्तियों का भी हाथ रहा है। चितवन से तकने वाली नायिका उनके लिए निहितार्धलोचना है, तो नायक अंगुलि पकड़ाने वाली की बाँह पकड़ने का काम करने वाला (३३९)। लोकजीवन के अपने अध्ययन के कारण गोवर्धन बहुत मार्मिक और अछूती उपमाओं की सृष्टि करने में सफल हुए हैं। कुछ तरुण नायिका को बहका कर कुछ रातें उसके साथ बिता कर उसे त्याग देते हैं। ऐसी नायिका के लिए कवि ने उपमा दी है—दुर्गापत्री (३४०) दुर्गापत्री बेल की वह डाल है, जो नवरात्रि में अष्टमी

की तिथि पर लाई जाती है, और रातभर जागरण में रख कर अगले दिन नवमी के अवसर पर उसका विसर्जन कर दिया जाता है।

दृष्टि—गोवर्धन के काव्य की भित्ति बंगाल के गाँवों की है। पल्ली या बस्ती का मुखिया गाँव में आई नई बहू को यदि वह तनिक भी इधर-उधर तक ले, तो डाकिनी बता कर दंड देता है (१४०)। दीपोत्सव के पश्चात् ग्वाले गोष्ठ के पास बैठ कर गाते-बजाते हैं (१४१)। बहुविवाह और पुरुषप्रधान समाज की विडम्बनाएँ उनके काव्य में अनेकत्र मार्मिक चित्रित हैं। "जैसे-जैसे रखैल गृहस्वामिनी से छिपा-छिपा कर घर के मालिक की और अधिक सेवा करती है, वैसे-वैसे घरवाली की आशंकाएँ, ईर्ष्या और भय बढ़ते जा रहे हैं"(६११)। "जिसके घर में नदियों की तरह बड़े गोत्रों (पहाड़ों, कुल या वंश) से आई स्त्रियाँ सूखती या कुम्हलाती रहती हैं, वह मेघ की तरह सागर की खारी लहरों में ही तृप्त होता है" (६१४)। इस तरह के वाक्य नायिका की सखियों के मुख से कहलाये गये हैं, जबकि पुरुष की दृष्टि यह है—

सहधर्मचारिणी मम परिच्छदः सुतनु नेहसन्देहः।
न तु सुखयति तुहिनदिनच्छत्रच्छायेव सज्जन्ती ॥ (६७३)

(हे सुन्दरि, मेरी सहधर्मचारिणी तो परिच्छद या घर के सामान की तरह है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। सर्दी के दिन में छाते की तरह वह सुख नहीं देती।) गोवर्धन आदर्श पत्नी को एक ऐसी सती नारी के रूप में देखते हैं, जो अपने घर-बार में सुखी रहे, सपत्नियों या सौतों अथवा पति की रखेलों, प्रेमिकाओं को लेकर चिन्तित न हो। ऐसी स्त्री के प्रति यह कथन है—

अङ्के स्तनन्धयस्तव चरणे परिचारिका प्रियः पृष्ठे।
अस्ति किमु लभ्यमधिकं गृहिणि यदाशङ्कसे बालाम्॥ (६१)

(गोद में दूध-पीता बच्चा है, चरणों में परिचारिका है, पीछे प्रिय लगा हुआ है। हे गृहिणी, इससे अधिक (एक स्त्री को) और क्या चाहिये, जो तुम उन नई प्रेमिका को लेकर आशंकित हो रही हो।)

यद्यपि इस तरह के कथन किसी पात्र की ओर से कवि ने निबद्ध किये हैं, अतः पूरी तरह से उन्हें कवि का मन्तव्य नहीं कहा जा सकता। पर यह भी सत्य है कि आर्यासप्तशती में प्रतिनिधित्व पुरुष की भोगवादी दृष्टि का अधिक हुआ है। परिणीता स्त्री की यह छवि पुरुष की गढ़ी हुई ही है—

तल्पे प्रभुरिव गुरुरिव मनसिजतन्त्रे श्रमे भुजिष्येव।
गेहे श्रीरिव गुरुजनपुरतो मूर्तेव सा व्रीडा॥ (२५७)

(शयनागार में वह पूरी तरह मनमानी कर सकने वाली, कामशास्त्र में गुरु के समान, घर के कामकाज में श्रम करने में दासी की तरह, घर में लक्ष्मी की तरह तथा गुरुजनों (सास-ससुर आदि) के सामने मूर्तिमती लज्जा ही है।)

पर गोवर्धन ने नारी के विविध रूप अपनी गाथाओं में अंकित किये हैं। एक ओर पतिव्रता या साध्वी स्त्रियों के चित्र हैं, तो दूसरी ओर विवाह को विपत्ति मानने

वाली और अपने ही वैवाहिक अनुष्ठान के समय अपने जार को चोरी-छिपे ताक कर हँसने वाली नायिका भी है (८१)। जिसका पति बाहर रंगरेलियाँ मनाता रहता हो और पत्नी से दासी के समान केवल सेवा लेता हो, ऐसी गृहिणी के जीवन की विडंबना भी आर्यासप्तशती की गाथाओं में उभरती है (२४४)। ''सा केवलं गृहिणी'' (वह केवल घरवाली ही है) (५८८)—यह कथन यहाँ स्त्री के जीवन की नारकीय विडम्बना का व्यंजक है। कालिदास ने गृहिणी शब्द का प्रयोग असाधारण गौरव और मर्यादा की अभिव्यक्ति करते हुए किया है, गोवर्धन की कविता के समाज में उसका ऐसा अवमूल्यन हुआ है कि वह विवशता का द्योतक बन कर रह गया है। पर गोवर्धन में परम्परागत मूल्यबोध न हो, ऐसी बात नहीं। वे ऐसी गृहिणी का अनादर करने के लिए बाद में पछताते पति की वेदना का भी चित्रण करते हैं (५१९)।

सप्तशती काव्यों की परम्परा

गोवर्धन ने संस्कृत-मुक्तक परम्परा में सप्तशती की रचना के द्वारा एक उपजीव्य कृति भी प्रस्तुत की। उनका अनुकरण करते हुए अनेक कवियों ने आर्यासप्तशती के प्रतिदर्श पर सप्तशती काव्यों की रचना की। इनमें विश्वेश्वर पांडेय की सप्तशती का उल्लेख आगे किया गया है। बीसवीं शताब्दी में पं० वागीश शास्त्री ने राधासप्तशती (२०१८ वि०) की रचना की, जो मुख्य रूप से वैष्णव भक्तिसम्प्रदाय की कृति है। शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी ने विविध विषयों की आर्याओं का संग्रह 'स्फूर्तिसप्तशती' के नाम से प्रस्तुत किया।

अन्य मुक्तक काव्य

बारहवीं शताब्दी में सोमपालविलास नामक ऐतिहासिक महाकाव्य के प्रणेता कश्मीर के महाकवि जल्हण ने मुग्धोपदेश नामक उपदेशपरक काव्य की रचना की। इसमें ६६ शार्दूलविक्रीडित छंदों के द्वारा गणिकाओं की प्रवंचना से भोले-भाले लोगों को सावधान करने के लिए गणिका-चरित्र का वर्णन करते हुए उससे बचने का परामर्श कवि ने दिया है। वेश्यावृत्ति की जघन्यता को कवि ने बहुत प्रभावशाली रूप में विविध उपमानों और दृष्टांतों के द्वारा व्यक्त किया है।

कश्मीर के ही शिल्हण का शांतिशतक भी शतक काव्य-परम्परा की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। शिल्हण का समय १३वीं शताब्दी के पूर्व है। नीतिप्रवणता और विवेक की स्थापना काव्य के द्वारा करने में शतक काव्यों ने जो अवदान दिया है, उसका यह शतक उज्ज्वल उदाहरण है। शिल्हण ने वक्रोक्ति तथा विदग्धता की छटा बिखराते हुए सूक्तियों की प्रभावशाली सृष्टि की है। मनुष्य की तृष्णा पर उनका यह कटाक्ष स्मरणीय है—

त्वामुदर साधु मन्ये शाकैरपि यदसि लब्धपरितोषम्।
हतहृदयं ह्यधिकाधिकवाञ्छाशतदुर्भरं न पुनः॥

तेरहवीं शताब्दी में ही गुजरात के अनहिलपत्तन में चालुक्य राजाओं के सभाकवि सोमेश्वर ने दो महाकाव्य तथा उल्लाघराघव नाटक के साथ रामशतक नामक

चरितप्रधान शतककाव्य की रचना की। यह सम्पूर्ण काव्य स्रग्धरा छंद में है तथा संक्षेप में रामकथा की पूरी झलक भी प्रस्तुत करता है।

भर्तृहरि के अनुकरण पर नीति, शृंगार और वैराग्य के तीन शतक १४३४ ई० में धनद नामक कवि ने लिखे। अपने नाम के अनुरूप धनद एक संपन्न सामंत थे। नीतिशतक के आरम्भ में दिये गये उनके परिचय से विदित होता है कि वे झुञ्झण के पुत्र देहड के आत्मज थे। देहड बादशाह आलमखान के मंत्री रहे। शृंगारशतक में अपना परिचय देते हुए उन्होंने कहा है—

मेरुर्मानितया धनैर्धनपतिर्वाचा च वाचस्पति।

तीनों शतकों में भाषा की प्रौढ़ता और कल्पना की उर्वरता आकर्षक है।

उत्प्रेक्षावल्लभ का वास्तविक नाम गोकुल था। इनका समय १५९४ ई० के आसपास है। इनका भिक्षाटनकाव्य अपनी संरचना और विषयवस्तु की नवीनता के कारण उल्लेखनीय है। इस काव्य में चालीस पद्धतियों में वसंततिलका छंद में शिव के भिक्षाटन का सरस और रोचक वर्णन है। शिव भिक्षा माँगते हुए स्वर्गपुरी पहुँच जाते हैं, जहाँ अप्सराएँ उन्हें देख कर मुग्ध हो जाती हैं। हास-परिहास, नर्मालाप और शिवभक्ति का अनूठा संगम इस काव्य में हुआ है। गोपियों का कृष्ण के प्रति जो भाव है, उसकी निष्पत्ति कवि ने विभिन्न ललनाओं में शिव के प्रति करायी है।

अन्य शतक काव्यों में उत्प्रेक्षावल्लभ का ही सुंदरीशतक, कश्मीर के अवतार कवि का ईश्वरशतक शिवस्तुतिपरक रचना है। अज्ञातकवि का खड्गशतक अत्यंत ओजस्वी पदावली और गौडी रीति के सधे हुए विन्यास के साथ खड्ग (तलवार) का उत्कृष्ट वर्णन प्रस्तुत करता है। नरहरि का शृंगारशतक. गुमानिकवि का उपदेशशतक, विश्वेश्वर पांडेय का रोमावलीशतक, नागराजकृत भावशतक आदि उल्लेखनीय हैं। अन्यापदेशशतक नाम से भी अनेक काव्य रचे गये। बौद्ध और जैन सम्प्रदायों में भी शतक काव्य की समृद्ध परम्परा रही है।

मुगलकाल में विरचित **चिमनीचरितम्** ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में लिखा हुआ एक सरस और रोचक खंडकाव्य है। इसके प्रणेता नीलकंठ शुक्ल हैं तथा रचनाकाल १६५६ ई० है। मखलिस नामक संपन्न मुसलमान की कन्या चिमनी और एक युवा आकर्षक पंडित दयाराम के प्रेम को इसमें चित्रित किया गया है। चिमनी का विवाह अलहवर्दी खान के पुत्र जाफर से हुआ था। दयादेव शर्मा नाम के ब्राह्मण युवक को अलहवर्दी खान की बेटियों का शिक्षक नियुक्त किया गया। अलहवर्दी की बेटियाँ और फिर उसकी पुत्रवधू चिमनी भी किस तरह दयादेव के प्रति आसक्त होकर उसके प्रेम में बँध गयीं, यह इसकी कथा है। डॉ० पी० के० गोडे ने सिद्ध किया है कि अलहवर्दी खान तथा अन्य कुछ पात्र ऐतिहासिक हैं। मुगलकाल की संस्कृति और विलासिता का चित्रण इस काव्य की विशेषता है। अनेक ऊर्दू के शब्दों को भी कवि ने कविता में खपा लिया है। काव्यात्मकता और अलंकारों के विन्यास की दृष्टि से नीलकंठ की रचना प्रशस्य है, पर उसमें न तो गहरी संवेदना है, न जीवन-मूल्यों का बोध। अवैध प्रेम को लेकर कोई

पश्चात्ताप या कचोट भी कहीं पर कवि या उसके किसी पात्र की ओर से प्रकट नहीं की गयी है। चिमनी और दयादेव के प्रेम का प्रसंग सच्ची घटना पर आधारित है, यही इसका महत्त्व है।

ईश्वरविलासमहाकाव्य के प्रणेता कविकलानिधि श्रीकृष्णभट्ट ने अपने ३६६ पद्यों का संकलन पद्यमुक्तावली में प्रस्तुत किया है, जिनमें स्तोत्र, प्रशस्ति, शृंगार आदि विविध विषय हैं। छंदों की विविधता, लोकभाषाओं के छंदों का प्रयोग तथा भाषा की निराली छटा इस संकलन में देखने को मिलती है। गीतगोविंद से प्रभावित होकर अनेक सरस पदावलियों की रचना कविकलानिधि ने की है। कल्कि के लिए जागरण गीत इसी शैली में लिखा गया है—

जय जय जय कल्कीश कलितकलिकलुषनिवारण।
धर्मपथप्रथनैकनिपुण मङ्गलगणकारण।
सन्ततसन्निधिवर्तिसुमतिनारदमुनिराजित।
याज्ञवल्क्यमुनिसहितमहितनरसभासभाजित।
जय जय तत्क्षणनिर्दलितगलितवेदशासनमनुज,
जागरणमेहि मयि धेहि दृषमुषसि विष्णुयशस्तनुज॥ (५६)

सामराज दीक्षित के पुत्र कामराज दीक्षित ने शृंगारकलिकात्रिशती में ३०० सुंदर शृंगारमय पद्य प्रस्तुत किये हैं। इन्हीं के पुत्र व्रजराज दीक्षित ने षड्ऋतुवर्णनकाव्यम् में ऋतुसंहार की भाँति छहों ऋतुओं का वर्णन किया है। अठारहवीं शताब्दी में रामपाणिवाद ने अनेक स्तोत्रकाव्यों व अन्य विधाओं में विपुल साहित्य के साथ कतिपय लघुकाव्य लिखे हैं। इनमें से पाठकाचार्यक्रमः में केरल के चाक्यार अभिनेताओं का मजाक उड़ाया गया है। यह काव्य प्रश्नोत्तर शैली में है, तथा इसमें चाक्यार अभिनेताओं का रंगमंच पर प्रवेश, वेशभूषा, गतियाँ, संवाद सभी पर व्यंग्य किया गया है। 'उपाख्यानम्' रामपाणिवाद की दूसरी व्यंग्यपरक रचना है। इनमें दो धूर्त पंडितों— अर्घ्यपंडित तथा हंसराट् के बीच वार्तालाप है।

स्तोत्रकाव्य

यद्यपि अनेक शतककाव्य भी मुख्यतः स्तोत्र ही हैं, किन्तु स्तोत्रों की परम्परा का विशिष्टरूप संस्कृत साहित्य में मिलता है। अनेक स्तोत्र तो ऐसे हैं, जिनका रचनाकाल और वास्तविक रचनाकार अविदित है। किसी प्राचीन महापुरुष, ऋषि या महान् भक्त को उनका प्रणेता माना गया है। उदाहरण के लिए दुर्वासा ऋषि के नाम से त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र, मानसपूजार्यापद्धति तथा ललितास्तवरत्न—ये तीन स्तोत्र मिलते हैं। रावण के नाम से शिवस्तुति तथा शिवताण्डवस्तोत्र, श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब के द्वारा रचित मानी गयी साम्बपंचाशिका आदि रचनाएँ स्तोत्रकाव्य परम्परा के रत्न हैं।

बाणभट्ट का चण्डीशतक—कादम्बरी कथा के यशस्वी प्रणेता महाकवि बाण का चण्डीशतक स्तोत्रकाव्य परम्परा में अत्यन्त हृद्य और ओजस्वी रचना है।

मयूर का सूर्यशतक—मयूर बाणभट्ट के समकालीन थे। परम्परा में बाण और मयूर को मातंग दिवाकर के साथ राजा हर्षवर्धन का सभाकवि कहा गया है—

अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयीरयोः॥

किंवदन्ती है कि ये बाण के बहनोई थे और इनकी बहन ने इनके द्वारा बाण के एक श्लोक की पूर्ति करने पर रुष्ट हो कर इन्हें कुष्ठग्रस्त होने का शाप दे दिया था। मयूर ने कुष्ठ से मुक्ति पाने के लिये सूर्यशतक की रचना की।

मयूर की दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं—सूर्यशतक तथा मयूराष्टक। सूर्यशतक सूर्य की अत्यन्त प्रौढ और प्रौढिगुण से युक्त ओजस्वी गौडी रीति में स्तुति है। कुछ श्लोक में एक एक अक्षर की २५-२५ बार निरन्तर आवृत्ति हुई है। यमक व अनुप्रास के निर्वाह की दृष्टि से यह बड़ा प्रभावशाली तथा आर्षक काव्य है। अलंकारों की लड़ी गूँथने में मयूर सिद्ध हैं उदाहरण के लिये—

शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् घृणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तशब्दान्
दीर्घाघ्रातानघोघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः।
धर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्गुणघनधृणाविघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
र्दत्तार्घाः सिद्धसङ्घैः विदधतु घृणयः शीघ्रमंघोविघातम्॥

पुष्पदंत के स्तोत्र—स्तोत्रकाव्यकारों में पुष्पदंत एक महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। आचार्य राजशेखर ने इनके शिवमहिम्नस्तोत्र का एक पद्य काव्यमीमांसा में उद्धृत किया है, अतः इनका समय नवम शताब्दी या उसके भी पहले हो सकता है। महाकवि पुष्पदंत ने अपने दो स्तोत्रकाव्यों—गणेशमहिम्नस्तोत्र तथा शिवमहिम्नस्तोत्र के द्वारा अमर कीर्ति पायी है। पहले स्तोत्र में गणेश को सगुण और निर्गुण ब्रह्म दोनों बताते हुए सृष्टि, स्थिति और लय के कारण के रूप में निरूपित किया गया है—

गकारो हेरम्बः सगुण इति पुनर्निर्गुणमयो,
द्विधाप्येको जातः प्रकृतिपुरुषो ब्रह्म हि गणः।
स चेशश्चोत्पत्तिस्थितिलयकरोऽयं प्रथमको,
यतो भूतं भव्यं भवति पतिरीशो गणपतिः॥

शिवमहिम्नस्तोत्र शिवभक्तों में अत्यंत लोकप्रिय है। महान् आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने इस पर टीका लिखी है। नर्मदा तट पर अमरेश्वर महादेव के मंदिर में इसके ३१ पद्य खुदे हुए हैं, पर पांडुलिपियों में इसमें ४० पद्य मिलते हैं। भावसांद्रता तथा समर्पण और माहात्म्यगायन की दृष्टि से पुष्पदंत की अभिव्यक्ति हृद्य निरवद्य है। निम्नलिखित पद्य इसका प्रसिद्ध उदाहरण है—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनीपत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

(हे भगवान् शिव, यदि नीलगिरि के समान काजल को सागर के पात्र में घोल दिया जाय, कल्पवृक्ष की डाल से लेखनी बनायी जाय, और सारी धरती को कागज बना दिया जाये, तथा शारदा सदा के लिए बैठी लिखने का काम करे, तो भी आपके गुणों का पार नहीं पाया जा सकता।)

शंकराचार्य के स्तोत्र

स्तोत्रकारों में आदि शंकराचार्य ने स्तोत्रसाहित्य को सौंदर्यबोध, काव्यात्मकता, दार्शनिकता और भक्तिप्रवणता के अनूठे समागम के द्वारा जिस पराकाष्ठा पर पहुँचाया वह हमारे साहित्य में सदैव अनुकरणीय और स्पृहणीय बनी रही है।

शंकराचार्य का समय नवीं शताब्दी माना जाता है। इनका जन्म केरल के कालटी ग्राम में हुआ। इनकी माता का नाम आर्याम्बा तथा पिता का नाम शिवगुरु था। ३२ वर्ष की आयु में इन्होंने अपना पार्थिव शरीर छोड़ा। इनके नाम से २४० स्तोत्र मिलते हैं, जिनमें से अधिकांश इनके द्वारा स्थापित पीठों पर अधिष्ठित रहने वाले परवर्ती शंकराचार्यों के द्वारा विरचित हैं। वाणी विलास प्रेस से प्रकाशित शंकर ग्रंथावली में आदि शंकराचार्य के नाम से ६४ स्तोत्र संकलित हैं। इनके नाम से अत्यधिक प्रसिद्ध, बहुपठित, और लोकप्रिय स्तोत्र हैं—सौंदर्यलहरी, आनंदलहरी, देव्यपराधक्षमापणस्तोत्र, चर्पटपञ्जिकास्तोत्र तथा कनकधारास्तवः।

सौंदर्यलहरी भारतीय साहित्य में काव्यसौंदर्य की पराकाष्ठा का उज्ज्वल उदाहरण है। सौ शिखरिणी छंदों में शंकराचार्य नें यहाँ रससृष्टि, जीवनसृष्टि और आगमनिगम की परम्परा—इस त्रिवेणी की अबाध धारा प्रवाहित की है। इसके आरम्भिक ४० पद्य तंत्रशास्त्र के गंभीर रहस्य को ललित रूप में व्यक्त करते हैं, शेष पद्यों में भगवती त्रिपुरसुंदरी का आशिरोनख वर्णन है। भगवती का रूप एक ओर तो ममतामयी जननी की ललित छाया से संवलित है, दूसरी ओर विश्वदृष्टि और विराट् को भी वह समेट लेता है। सूर्यचंद्र यहाँ त्रिलोकी के वक्षोजयुगल बन जाते हैं, तो देवी का रूप सृष्टि के अनंत सौन्दर्य को समाहित करके सजीव व साकार हो जाता है।

तनोतु क्षेमं नस्तव जननि सौन्दर्यलहरी-
परीवाहस्त्रोतःसरणिरिव सीमन्तसरणिः।
वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर-
द्विषां वृन्दैर्वन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम्॥

(हे माँ, तेरे मुख की सौंदर्यलहरी के प्रवाहस्रोत के मार्ग जैसी वह सिंदूर से भरी तेरे केशों की माँग हमारा कल्याण करे, जो केशभाररूपी अँधियारे के शत्रुओ के द्वारा बंदी बना लिये उदित होते सूर्य की किरणों के सदृश है।)

कल्पनाओं, अप्रस्तुतविधान की प्रत्यग्रता और बिम्बों का जो अनुपम संसार सौंदर्यलहरी में रचा गया है, वह कविता की समृद्धि का शिखर कहा जा सकता है। समर्पण और आस्था की भी यहाँ पराकाष्ठा ही प्रकट हुई है।

भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा-
मिति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति यः।
तदैव त्वं तस्मै दिशसि निज सायुज्यपदवीं,
मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुटमुकुटनीराजितपदाम्॥ (२२)

हे भवानि! तू मुझ दास पर अपनी करुणामयी दृष्टि डाल—इस प्रकार कोई मुमुक्षु स्तुति करते समय 'भवानि (मैं हो जाऊँ, तथा हे भवानि-यह संबोधन) त्वम्' (तुम) इतना भर कह पाता है कि तुम उसकी प्रार्थना का 'मैं तुम बन जाँऊ'—यह अर्थ लेकर उसे अपना वह सायुज्य पद प्रदान कर देती हो, जिस पद की ब्रह्मा, विष्णु, इंद्र आदि देवता अपने मुकुटों के स्फुट प्रकाश से आरती उतारा करते हैं। यहाँ भवानि (मैं हो जाऊँ, तथा भवानी के लिए संबोधन) के तथा पद (स्थान, चरण) के श्लेष के द्वारा चमत्कार की छटा तो कवि ने रची ही है, अपने भक्तिभाव को भी उसके द्वारा प्रगुणित कर दिया है।

भाषा पर असाधारण अधिकार के साथ शास्त्रीयता तथा पांडित्य का भावधारा में समागम करते हुए कवि ने विराट् विश्व को उन्मीलित किया है—

विशाला कल्याणी स्फुटरुचिरयोध्या कुवलयैः,
कृपाधारा धारा किमपि मधुरा भोगवतिका।
अवन्ती दृष्टिस्ते बहुनगरविस्तारविजया,
ध्रुवं तत्तन्नामव्यवहरणयोग्या विजयते॥

(तेरी दृष्टि विशाला, कल्याणी, खिले हुए कमलों की शोभा में उज्ज्वल अयोध्या, कृपा की धारा सदृश धारा, कुछ मधुरा, भोगवतिका, सबकी रक्षा करने वाली अवंतिका और नगरों के विस्तार को जीतने वाली विजया—इस प्रकार विभिन्न नगरियों के नामों से व्यवहार करने के योग्य होने से उत्कृष्ट है।) यहाँ विशाला (उज्जयिनी), कल्याणी आदि नगरियों के नामों को प्रस्तुत करते हुए श्लेष के द्वारा कवि ने दृष्टि की विशेषताओं को शास्त्रीय रूप में भी व्यक्त करा दिया है। अंतर्विकसित दृष्टि विशाला कहलाती है, आश्चर्ययुक्त कल्याणी, विकसित पुतलियों वाली अयोध्या, अलसायी दृष्टि धारा, तिर्यक् नेत्रों वाली मधुरा, मैत्रीभाव से युक्त भोगवती, भोली दृष्टि अवंती और तिरछी विजया कहलाती है। कवि ने उत्तर से दक्षिण तक के अपने समय के श्रेष्ठ नगरों के नाम देवी की दृष्टि के वर्णन में गूँथ कर राष्ट्र का स्वरूप भी यहाँ उन्मीलित कर दिया है।

सौंदर्यलहरी सौंदर्य की समग्र अवधारणा प्रस्तुत करती है, जो कठोर और तेजस्वी भी है, मृदुल-कोमल भी है, शक्ति भी है, और वात्सल्य भी; काम और शृंगार भी है तथा उदात्त और भव्य भी। शक्ति या नारीतत्त्व में परमसौंदर्य का कवि ने साक्षात्कार किया है। स्थूल स्तर पर जो काम है, वह शक्तितत्त्व से संवलित होकर ही सार्थक बनता है—यह सौंदर्यलहरी का जीवन-दर्शन है। स्थूलदृश्यमान भावों में दैवी सत्ता और दिव्य चेतना का सजीव अनुभव कवि ने किया है और दिव्य सत्ता से इन स्थूल दृश्यमान भाव किस प्रकार जन्म लेते हैं, यह भी उसने प्रतिपादित किया है।

आनन्दलहरी में २० पद्यों में माधुर्य, वात्सल्य और भक्ति का संगम हुआ है। देवी के इस मातृरूप में कवि ने भारतीय जननी की छवि को भी समाविष्ट कर लिया है—

मुखे ते ताम्बूलं नयनयुगले कज्जलकला,
ललाटे कश्मीरं विलसति गले मौक्तिकलता।
स्फुरत्काञ्चीशाटी पृथुकटितटे हाटकमयी,
भजामि त्वां गौरीं नगपतिकिशोरीमविरतम्॥

भक्तिभाव की सघनता, विनय और मातृरूप के ध्यान की दृष्टि से देव्यपराधक्षमापण स्तोत्र अत्यंत मार्मिक रचना है। अपने को अज्ञानी तथा शिशुवत् बता कर कवि अपना हृदय मातृरूपा देवी के सम्मुख खोल देता है, और अपने स्खलनों या त्रुटियों के लिए क्षमा माँगता हुआ देवी से उसे अपनाने का निहोरा करता है—

विधेरज्ञानेन द्रविणविरहेणालसतया,
विधेयाशक्यत्वात्तव चरणयोर्या च्युतिरभूत्।
तदेतत् क्षन्तव्यं जननि सकलोद्धारिणि शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥ (२)

कृष्णकर्णामृत

भक्तिभाव से समन्वित रचनाओं में कृष्णलीलाशुक के कृष्णकर्णामृत का अद्वितीय स्थान है। कृष्णलीलाशुक दामोदर और नीली के पुत्र तथा तंत्रपद्धति नामक ग्रंथ के प्रणेता श्रेष्ठ आचार्य ईशानदेव के शिष्य थे। इनका निवासस्थान मलाबार में भारती नदी के तट पर मुक्तिस्थल में था, जिसे आजकल मक्कुट्टलाइ कहा जाता है। इनका समय अनिर्णीत है। किंवदन्ती है कि ये आदिशंकराचार्य के शिष्य पद्मपादाचार्य के शिष्य थे। जयदेव के समान इनकी कृष्णभक्ति के विषय में अनेक दंतकथाएँ प्रचलित हैं। जयदेव के ही समान इनको भी मलाबार (केरल), बंगाल, आंध्र आदि प्रांतों के लोग अपने यहाँ का निवासी मानते आये हैं। कवित्व की असाधारण प्रतिभा के साथ-साथ कृष्णलीलाशुक में पांडित्य भी उच्चकोटि का था। उन्होंने भोज के सरस्वतीकंठाभरण पर टीका लिखी थी। विद्यारण्य ने उन्हें अपनी धातुवृत्ति में प्रतिष्ठित आचार्य के रूप में उद्धृत किया है। संन्यासी के रूप में कृष्णलीलाशुक बिल्वमंगल के नाम से प्रसिद्ध हुए। वृंदावनस्तुति में उन्होंने रासक्रीड़ा का मनोहारी वर्णन किया है। कालवध नामक काव्य में उन्होंने कृष्ण के मुख से मार्कंडेय की रक्षा के लिए शिव के द्वारा यम के संहार की कथा प्रस्तुत करायी है। तथापि कृष्णलीलाशुक बिल्वमंगल की ख्याति को अजर-अमर बनाने वाली कृति कृष्णकर्णामृत है। इसमें १२ तरंगों में चित्त को तरंगित करने वाले अतिशय सरस हृद्य निरवद्य पद्यबंध हैं। पद्यों की संगीतात्मकता, लय और माधुर्यभावधारा के कारण इन पर अभिनय व नृत्य भी होता रहा है और इस तरह यह कृति जयदेव के गीतगोविंद के समान धर्म, कला, संस्कृति के क्षेत्रों में काव्य की रसवत्ता को प्रतिष्ठित करती रही है। वात्सल्य की हृदय के तारों को झंकृत करने वाली ऐसी कोमल अनुभूति बिल्वमंगल ही करा सकते हैं—

अर्धोन्मीलितलोचनेन पिबतः पर्याप्तमेकं स्तनं
सद्यः प्रस्नुतदुग्धदिग्धमपरं हस्तेन सम्मार्जतः।
मात्रा चाङ्गुलिलालितस्य चिबुके स्मेरायमाणे मुखे।
विष्णोः क्षीरकणाम्बुधारधवला दन्तद्युतिः पातु वः।

(अधमुँदी आँखों से दूध से पर्याप्त भरा एक स्तन पीते हुए तत्काल दूध की धार बहाने वाले अन्य स्तन को हाथ से मलते हुए अपनी माता के द्वारा (चिबुक (ठुड्डी) पर अंगुलि के द्वारा लाड़ किये जाते हुए विष्णु की दूध की बूँदों के समान सफेद दंतद्युति आपकी रक्षा करे।)

कृष्णकर्णामृत पर प्राचीनकाल में अनेक टीकाएँ लिखीं गईं इनमें उल्लेखनीय हैं—गोपालभट्ट की कृष्णवल्लभा, चैतन्यदास की सुबोधनी, कृष्णदास कविराज की सारङ्गरङ्गदा तथा पापयल्लर्य सूरि की सुवर्णचषक।

स्तोत्ररत्न : यामुनाचार्य

यामुनाचार्य महान् वेदांती तथा दार्शनिक रामानुजाचार्य के गुरु थे। इनका समय दसवीं शताब्दी है। 'आळवंदार' इनका तमिल नाम है, तदनुसार इनके स्तोत्र की प्रसिद्धि आलविंदारस्तोत्र के नाम से भी है। कोमल कल्पना, अर्थ की प्रांजलता, करुणा तथा भक्तिभाव की सांद्रता के कारण वैष्णव-परम्परा में इनका स्तोत्ररत्न एक सहस्त्र वर्षों से भक्तों का कंठहार बना रहा है। अलंकारों की अपृग्यत्ननिर्वत्यता इनकी अभिव्यक्ति का विशेष गुण है। निदर्शना का प्रयोग करते हुए कवि कहता है—

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे
निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे
मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते॥

(अमृत को बहाने वाले आपके चरणकमल में जिसने अपना अंतःकरण लगा दिया है, वह और कुछ क्यों चाहेगा? पराग से लबालब कमल के होते मधुव्रत इक्षुरस या ईश के रस की कामना नहीं करता।)

यहाँ भौंरे के लिए मधुव्रत शब्द का प्रयोग करके यामुनाचार्य ने शब्द की अपनी प्रत्यभिज्ञा का परिचय दिया है। मधुव्रत भौंरे का पर्याय भी है, और मधुव्रत यह शब्द भी सूचित करता है कि भौंरे ने केवल मधु के ही पान का व्रत ले रखा है, वह और कोई रस नहीं पीता। इस एक शब्द के प्रयोग ने कवि की अनन्य भक्तिभावना को असाधारण अभिव्यक्ति प्रदान कर दी है।

जगद्धर : स्तुतिकुसुमांजलि

जगद्धर की स्तुतिकुसुमांजलि भी स्तोत्रसाहित्य की सर्वाधिक पठित रचनाओं में से एक है। महाकवि जगद्धर कश्मीर के निवासी थे। ये अपने समय के श्रेष्ठ दार्शनिक, वैयाकरण तथा प्रौढ मीमांसक रहे। इनका समय ईसा की चौदहवीं शती है। अपना

परिचय देते हुए जगद्धर ने बताया है कि चंडेश्वर नामक प्रसिद्ध मीमांसक के पुत्र रामेश्वर हुए। इनकी भी मीमांसक के रूप में महती प्रतिष्ठा थी। इनके पुत्र गदाधर थे, गदाधर के पुत्र विद्याधर तथा विद्याधर के पुत्र रत्नधर हुए। जगद्धर रत्नधर के पुत्र थे।

जगद्धर के स्तोत्रों में भावप्रवणता के साथ रचना का सौष्ठव मनोहारी है। श्लेष, अनुप्रास, यमक आदि की लड़ियाँ गूँथने में वे निपुण हैं। करुणा तथा समर्पण और आस्था का अबाध और अगाढ़ प्रवाह उनकी वाणी प्रस्तुत करती है। कविमुख को उपवन, वाणी को लता तथा सूक्ति को सुमन बताते हुए उन्होंने रूपक और श्लेष के संकर का सुंदर निदर्शन प्रस्तुत करते हुए अपनी कविता का मानदंड भी बता दिया है—

धन्याः शुचीनि सुरभीणि गुणोम्भितानि,
वाग्वीरुधः स्ववदनोपवनोद्‌गतायाः।
उच्चित्य सूक्तिकुसुमानि सतां विविक्त-
वर्णानि कर्णपुलिनेष्ववतंसयन्ति॥

स्तुतिकुसुमांजलि में आठ स्तोत्र हैं। अनुष्टुप्, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, वसंततिलका आदि विविध छंदों का जगद्धर ने सहज रूप में प्रयोग किया है। शिव के प्रति उनकी परम भक्ति है। शिवसायुज्यता की कामना को अनुष्टुप् में हृदयंगम बनाते हुए कवि कहता है—

कदा संसारजालान्तर्बद्धं त्रिगुणरज्जुभिः।
आत्मानं मोचयिष्यामि शिवभक्तिशलाकया॥
वाङ्मनः कायकर्माणि विनिवेश्य त्वयि प्रभो।
त्वन्मयीभूय निर्द्वंद्वः क्वचित् स्यामपि कर्हिचित्॥

मूककवि

मूककवि की पंचशती कामाक्षी देवी की स्तुति में पाँच शतकों का संग्रह है। मूक कवि का वास्तविक नाम तथा स्थान अज्ञात है। पाँच शतकों के नाम इस प्रकार है— कटाक्षशतक, मन्दस्मितशतक, पादारविन्दशतक, आर्याशतक और स्तुति शतक। प्रथम में वसन्ततिलका, द्वितीय में शार्दूलविक्रीडित, तृतीय में शिखरिणी, चतुर्थ में आर्या तथा अन्तिम शतक में विविध छन्द प्रयुक्त हैं। शंकराचार्य की सौन्दर्यलहरी के समान ही पाँचों शतक तान्त्रिक परम्परा में सम्मान्य हैं, और दार्शनिक व तान्त्रिक अभिप्रायों से ओतप्रोत हैं। काव्यात्मक वैभव और भावों की गहनता की दृष्टि से भी ये अप्रतिम हैं। भक्तिप्रवणता के साथ कल्पना का मणिकांचन योग मूक कवि की रचना में हुआ है। उदाहरणार्थ—

सहायकं गतवती महुरर्जुनस्य
मन्दस्मितेन परितोषितभीमचेताः।
कामाक्षिपाण्डवचमूरिव तावकीना
कर्णान्तिकं चसति हन्त कटाक्षलक्ष्मीः॥

हे कामाक्षि, अर्जुन (पांडव, शुक्लता) की सहाया करने वाली, मन्द मुस्कान ने भीम (पाण्डव, शिव) को तुष्ट करने वाली तुम्हारी कटाक्षलक्ष्मी पाण्डवसेना के समान कर्ण (राधापुत्र, कान) के निकट आ रही है।

नारायणीयम्

भट्टपाद नारायण (१५६०-१६४६ ई०) का नारायणीयम् स्तोत्रकाव्यों में शंकराचार्य के स्तोत्रों के पश्चात् सर्वाधिक समादृत और बहुपठित रचना है। दक्षिण में तो इसका प्रचार तथा आदर श्रीमद्भागवत के समान रहा है। भट्टपाद नारायण मलाबार के नंबूदरि ब्राह्मण थे। इनके पिता मातृदत्त अपने समय के महान् पंडित थे। नारायण की स्तोत्रकाव्य के अतिरिक्त चंपू, मीमांसादर्शन तथा व्यापार के क्षेत्र में भी अनेक उत्कृष्ट रचनाएँ मिलती हैं।

इन्होंने नारायणीयम् की रचना १५८५ ई० में पूरी की। इस रचना तथा रचनाकार के विषय में गीतगोविंद और उसके प्रणेता जयदेव के समान या बिल्वमंगल के समान केरल में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। दस-दस पद्यों के सौ भागों में विभाजित नारायणीयम् में एक सहस्र से अधिक पद्य हैं। प्रत्येक पद्य गुरुवायूर के अधिष्ठाता भगवान् कृष्ण को संबोधित है। सम्पूर्ण काव्य शब्दार्थमैत्री का अत्यंत उत्कृष्ट, सरस, मधुर उदाहरण है। नारायणीयम् का प्रत्येक पद्य सहृदय भक्तजनों को भावविभोर कर देता है। भक्तिभाव की तल्लीनता के साथ कृष्णलीला के विविध पक्षों व कृष्णचरित के नाना प्रसंगों का भी गागर में सागर भरते हुए भट्टपाद ने इस काव्य में समाहार कर लिया है। सम्पूर्ण गीता का सार इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

जिष्णो त्वं कृष्णसूतः खलु समरमुखे बन्धुघाते दयालुम्,
खिन्नं तं वीक्ष्य वीरं किमिदमयि सखे नित्य एकोऽयमात्मा॥
को वध्यः कोऽत्र हन्ता तदिह वधभयं प्रोज्झ्य मय्यर्पितात्मा,
धर्मं युद्धं चरेति प्रकृतिमनयथा दर्शयन् विश्वरूपम्॥

सुभाषितसंग्रह तथा सुभाषितों के कवि

महाकाव्यों, लघुकाव्यों तथा मुक्तक काव्यों के अतिरिक्त संस्कृत काव्य-परम्परा में असंख्य सुभाषित लोकप्रिय रहे। कालांतर में ऐसे स्फुट सुभाषितों के संकलन भी तैयार किये गये, इन संकलनों में महाकाव्यों, नाटकों आदि से भी सुंदर पद्यों का चयन किया गया। संस्कृत साहित्य के इतिहास में इन सुभाषितसंग्रहों का अत्यधिक महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि उनमें ऐसे अनेक महाकवियों के पद्य सुरक्षित हैं, जिनकी स्वतंत्र रूप से कोई कृति नहीं मिलती। इसके साथ ही भवभूति, बाण आदि प्रख्यात महाकवियों के भी अनेक ऐसे स्फुट पद्य इन संग्रहों में सुरक्षित हैं, जो इन महान् रचनाकारों की कृतियों में कहीं नहीं मिलते।

सुभाषितरत्नकोश—सुभाषितरत्नकोश के संकलनकार विद्याकर हैं। यह संकलन ११०० से ११३० ई० के बीच तैयार किया गया। संकलनकार विद्याकर बौद्ध थे। इसमें ५० व्रज्याओं में १७३९ पद्य संकलित हैं। प्रथम छह व्रज्याओं में मांगलिक पद्य हैं। इनके पश्चात् छहो ऋतुओं और शृंगार आदि रसों से संबद्ध व्रज्याएँ हैं। ऋतुवर्णन के पद्यों में कई पद्य ऐसे हैं, जिनमें गाँवों और वनांचलों के दृश्यों का मार्मिक

चित्रण है। इस संग्रह में अन्यापदेश व्रज्या, वातव्रज्या और सद्व्रज्या के पद्य में भी मनोहारी हैं। विशेष रूप से दीन व्रज्या और जाति व्रज्या—ये दो व्रज्याएँ इस संकलन में दुर्लभ काव्यों की अनूठी निधि हैं। इनमें भारतीय ग्रामजीवन, मध्यवर्ग और निम्नवर्ग की जनता के यथार्थ का मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है। सुभाषितरत्नकोश में कालिदास, कुमारदास, क्षेमीश्वर, भवभूति, राजशेखर, बाण, भास, शूद्रक, मुरारि, श्रीहर्ष आदि प्रख्यात कवियों के पद्य तो उद्धृत हैं ही; योगेश्वर, अभिनंद, उत्पलराज, धर्मकीर्ति, छित्तप, वसुकल्प आदि श्रेष्ठ किंतु अज्ञातप्राय कवियों के भी दुर्लभ पद्य इसमें मिलते हैं। प्रसन्नसाहित्यरत्नाकर के नाम से इसकी एक अनुकृति पर १५वीं शताब्दी में एक और सुभाषितसंग्रह तैयार किया गया, जो अप्रकाशित है।

सदुक्तिकर्णामृत—इसके संकलनकार बंगाल के निवासी श्रीधर हैं। ये राजा लक्ष्मणसेन के आश्रय में रहे। सदुक्तिकर्णामृत के संकलन का समय १२०५ ई० है। इसमें विशेष रूप में बंगक्षेत्र के उस काल के कवियों के बहुसंख्य दुर्लभ पद्य संगृहीत हैं। इसका विभाजन पाँच प्रवाहों में किया गया है, प्रत्येक प्रवाह में कई वीचियाँ हैं, और प्रत्येक वीचि में पाँच-पाँच पद्य हैं। पूरे ग्रंथ में ४७६ प्रवाह तथा २३७० पद्य हैं। कुल मिलाकर ४८५ कवि इसमें उद्धृत हैं। इनमें आनंदवर्धन, उद्भट, उत्पलराज, व्याडि, वामन, वार्तिककार आदि महान् आचार्यों के अविदित पद्यों को श्रीधर ने प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त कालिदास आदि प्रख्यात महाकवियों के साथ योगेश्वर जैसे प्रतिभाशाली कवियों के भी दुर्लभ तथा अन्य स्रोतों से अप्राप्य पद्य उन्होंने सँजो कर रखे हैं।

सूक्तिमुक्तावली—इसके संकलयिता जल्हण तथा संकलन का समय १२८५ ई० है। जल्हण लक्ष्मीधर के पुत्र थे, तथा दक्षिण के राजा कृष्ण की सभा में रहे। सूक्तिमुक्तावली में १३३ पद्धतियाँ और कुल २७९० पद्य हैं। कुल २४० कवियों को इसमें स्थान मिला है।

शार्गंधर पद्धति—सुभाषितसंग्रहों में शार्गंधरकृत शार्गंधरपद्धति सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। संकलनकार शार्गंधर दामोदर के पुत्र राघव के पौत्र तथा राजा हम्मीर के गुरु थे। यह संकलन १३६३ ई० में तैयार किया गया। इसमें १६३ पद्धतियाँ तथा ४६८९ पद्य हैं, मूल ग्रंथ में ६३०० पद्य होने का उल्लेख मिलता है। वैद्यक, वनस्पति, वृक्षायुर्वेद, अस्त्रविद्या आदि पर भी इसमें पद्धतियाँ हैं। अठारहवीं शताब्दी में इसका बृहच्छार्गंधरपद्धति के नाम से एक बृहत् संस्करण तैयार किया गया।

सुभाषितावली (वल्लभदेव, १५वीं शताब्दी) में १०१ पद्धतियों में ३५२७ पद्य हैं, तथा ३६० के लगभग कवियों को इसमें स्थान मिला है।

अन्य सुभाषितसंग्रहों में सूक्तिरत्नहार (सूर्यकलिंगराज, १४वीं शताब्दी), सुभाषितसुधानिधि (सायण, चौदहवीं शताब्दी), व्याससुभाषितसंग्रह (अज्ञात), पुराणार्थसंग्रह (अज्ञात), सुभाषितनीवी (वेंकटनाथ, तेरहवीं शताब्दी), प्रस्तावरत्नाकर (हरिदास, ११५७ ई०), सूक्तिमुक्तावली (रूपगोस्वामी), सुभाषितमुक्तावली (अज्ञात, १६२३ ई०), सुभाषितमुक्तावली (हरिहर, सत्रहवीं श०), हरिहरसुभाषितम् (हरिहर),

सुभाषितहारावली (हरि कवि, सत्रहवीं श०) सूक्तिसुन्दर (सुन्दर देव, १७वीं श०) आदि उल्लेखनीय हैं।

सुभाषितों के कवि

सुभाषित संग्रहों में ऐसे बहुसंख्य कवियों के पद्य संकलित हैं, जिनके नाम ही संकलनकार को विदित नहीं है। अन्य अनेक कवि ऐसे हैं, जिन्होंने प्रबंधकाव्य लिखे होंगे, पर वे लुप्त हो गये हैं। इस प्रकार सुभाषितसंग्रहों के द्वारा हमें कई श्रेष्ठ महाकवियों की रचनाओं का आभास होता है। इनमें कतिपय उल्लेखनीय कवि हैं— चंद्रक (प्रथम शताब्दी के लगभग), भुवनाभ्युदय नामक विलुप्त काव्य के प्रणेता आचार्य शंकुक (नवीं शताब्दी), महान् बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति, अलंकारशास्त्र के आचार्य उद्‌भट (नवीं शताब्दी), मातृगुप्त आदि।

जनजीवन के कवि—संस्कृत मुक्तक काव्यों में लोकजीवन तथा ग्रामजीवन के यथार्थ को चित्रित करने वाले महाकवियों की परम्परा भी निरन्तर बनी रही। इस परम्परा के कवियों के पद्य अधिकांशतः सुभाषित संग्रहों में ही मिलते हैं। इस परम्परा में मुख्य कवि हैं—

(१) केशट—इनका समय आठवीं-नवीं शताब्दी के आसपास है। विद्याकर ने सुभाषितरत्नकोश में इनके दस पद्य उद्धृत किये हैं, तथा श्रीधर ने उन्नीस। काव्यसौष्ठव की दृष्टि से इनकी रचना बाण और राजशेखर की कोटि की है। मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय पारिवारिक जीवन तथा मानवीय सम्बन्धों की रागात्मकता का सुंदर चित्रण इन्होंने अपने पद्यों में किया है। विद्याकर, जल्हण, वल्लभदेव तथा शार्गधर के द्वारा उदाहृत उनका यह पद्य द्रष्टव्य है—

आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुल्लङ्घ्य दुर्लङ्घ्यतां,
गेहिन्या परितोषवाष्पतरलामासज्य दृष्टिं मुखे।
दत्वा पीलुशमीकरीरकवलान् स्वेनाञ्चलेनादरा-
दामृष्टं करभस्य केशरसटाभारावलग्नं रजः॥

"मरुस्थल में अलंघ्य दूरी पार करके बड़े दिनों के बाद प्रवासी प्रिय घर लौट कर आया है। गृहिणी ने उसे संतोष और अश्रु से तरल दृष्टि से निहारा और फिर जिस ऊँट पर बैठ कर प्रिय आया था, उसके आगे पीलु, शमी और करीर के कौर डाले; फिर उसकी केसर सटाओं में लगी धूल को वह अपने आँचल से पोंछने लगी।" प्रिय के आने पर गृहिणी के उछाह और स्नेह का उसकी चेष्टाओ के द्वारा यह प्रकटीकरण अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार्य मम्मट ने केशट के दो पद्य उद्धृत किये हैं।

(२) योगेश्वर—योगेश्वर भारतीय ग्राम जीवन विशेषतः निम्न मध्यवर्ग या निम्नवर्ग पर कविता लिखने वाले संस्कृत कवियों में अग्रणी हैं। इनका समय नवीं शताब्दी या उसके पूर्व है। कोसांबी और इंगाल्स के अनुसार वे बंगाल के पाल राजाओं के आश्रित थे। पर योगेश्वर की कविता के वर्ण्यविषय विन्ध्य के जंगलों, नर्मदा के

तटीय प्रदेश विशेषतः इस क्षेत्र के वनग्राम, आदिवासी जन और किसान-मजदूर आदि हैं। अतः अनुमान होता है कि ये विंध्य के अंचल के वासी थे। इनकी प्राचीन प्रशस्ति में भी इनका विंध्य और रेवा (नर्मदा) से सम्बन्ध बताया गया है।

योगेश्वर का स्वतंत्र रूप से कोई काव्य उपलब्ध नहीं है। बारहवीं शताब्दी से लगा कर अठारहवीं शताब्दी तक की अवधि में संकलित विभिन्न सुभाषित संग्रहों में इनके स्फुट श्लोक उद्धृत हैं। योगेश्वरकृत ऐसे स्फुट पद्यों को संकलित करने पर उनकी कुल संख्या ७० के लगभग होती है। इन सत्तर श्लोकों के आधार पर ही योगेश्वर संस्कृत कवियों की प्रथम पंक्ति में स्थापित किये जा सकते हैं। भोज और राजशेखर जैसे आचार्यों ने योगेश्वर के अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। और इन आचार्यों की अवधारणाओं पर योगेश्वर की कविता का प्रभाव परिलक्षित होता है।

विद्याकर द्वारा उद्धृत एक पद्य में योगेश्वर ने अपने को बाण, भवभूति, कमलायुध, केशट तथा वाक्पतिराज का अनुगामी कहा है।

योगेश्वर ने संस्कृत कविता को अछूती अभिव्यक्तियाँ और नये मुहावरे दिये हैं। भारतीय जनता के स्वप्नों और संघर्षों को उन्होंने समर्थ पदावली में वाणी दी है। इसलिए लोकजीवन पर काव्य लिखने वाले बाद के कवियों ने उन्हें अपना आदर्श माना। अभिनन्द, जिन्होंने सुप्रसिद्ध रामचरित महाकाव्य के अतिरिक्त बंगाल के ग्रामजीवन पर अनेक पद्य लिखे, उनकी प्रशस्ति में कहते हैं—

तातः सृष्टिमपूर्ववस्तुविषयामेकोऽत्र निर्व्यूढवान्,
निष्णातः कविकुञ्जरेन्द्रचरिते मार्गे गिरां वागुरः।
रेवा विन्ध्यपुलिन्दपामरवधूभूगोलझञ्झानिल-
प्रायोऽर्थे वचनानि पल्लवयितुं जानाति योगेश्वरः॥

योगेश्वर को भारतीय ग्रामजीवन का गहरा अनुभव था। वे लोकजीवन के निपुण चितेरे हैं। भीलों, शबरों और पुलिंदों के बीच रह कर उन्होंने उनके जीवन के यथार्थ को कविता में उद्‌घाटित किया है। मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग के लोक-जीवन के संघर्ष, पीड़ा और कठिनाइयों को वे प्रामाणिक रूप से चित्रित करते हैं। इसके साथ ही उनके शिव के प्रति आराधना के भाव से लिखे पद्य भी बड़े रोचक और कल्पनापूर्ण हैं। पर वे मूलतः खेत-खलिहान और ग्रामांचल के जीवन को उकेरने वाले कवि हैं। धान काटने के बाद किसानों के जीवन में आये उल्लास का चित्र उन्होंने तन्मय होकर अंकित किया है।

दूसरी ओर सर्दी से बचने के लिए एक मुट्‌ठी पुआल की आस लगाये दरिद्र बटोही हलवाहे के आगे गिड़गिड़ाता हुआ उसकी प्रशंसा में जिस तरह धरती और आकाश एक कर देता है, उसमें शिष्ट हास्य के साथ करुणा का मार्मिक पुट है—

भद्रं ते सदृशं यदध्वगशतैः कीर्तिस्तवोद्‌गीयते,
स्थाने रूपमनुत्तमं सुकृतिनो दानेन कर्णो जितः।
इत्यालोच्य चिरं दृशा कृपणया दूरागतेन स्तुतः,
पान्थेनैकपलालमुष्टिरुचिना गर्वायते हालिकः॥

("हे भैया, सौ सौ बटोही तुम्हारा यश गा रहे हैं, तो यह बात तुम्हारे योग्य ही है। क्या तुम्हारा रूप है, क्या शोभा है। तुम्हारे जैसे पुण्यात्मा ने तो अपने दान से कर्ण को जीत लिया"—इस प्रकार दूर से आते हुए और दीनदृष्टि से निहार कर एक मुट्ठी भर पुआल की चाह में बटोही स्तुति कर रहा है, और हलवाहा उससे गर्व में फूल कर कुप्पा हो रहा है।)

वर्षा के समय जब घर चू रहा हो, तो दरिद्र गृहिणी घर को बचाने के लिए क्या-क्या करती है, यह योगेश्वर जिस तरह बताते हैं, उस तरह अन्य कोई नहीं—

सक्तून् शोचति सम्प्लुतान् प्रतिकरोत्याक्रन्दतो बालकान्,
प्रत्युत्सिञ्चति कर्परेण सलिलं शय्यातृणं रक्षति।
दत्वा मूर्धनि शीर्णशूर्पशकलं जीर्णे गृहे व्याकुला,
किं तद् यन्न करोति दुःस्थगृहिणी देवे भृशं वर्षति॥

(सत्तू भींग कर बह गया है, और वह उसका शोक मना रही है। बच्चे चिल्लपों कर रहे हैं, और वह उन्हें चुप करा रही है। घर में फैले पानी को वह पोंछे से सुखा रही है। पुआल के बिस्तर को बचा रही है। माथे पर पुराने सूपे का टुकड़ा रख कर अपने जर्जर घर में व्याकुल दरिद्र की यह गृहिणी क्या-क्या नहीं कर रही है, जबकि बाहर पानी मूसलाधार बरस रहा है।)

(३) लक्ष्मीधर—चक्रपाणिविजय महाकाव्य के प्रणेता लक्ष्मीधर का परिचय महाकाव्यविषयक अगले अध्याय में दिया गया है (द्रष्टव्य पृ० २३४)। उनका यह पद्य दीन जनों के प्रति सहज संवेदना और गाँव के दृश्य को सूक्ष्म रूप से चित्रित करने के लिए बहुत सराहा गया है—

कम्पन्ते कपयो भृशं जडकृशं गोजाविकं ग्लायति,
श्वा चुल्लीकुहरोदरं क्षणमपि क्षिप्तोऽपि नैवोज्झति।
शीतार्तिव्यसनातुरः पुनरयं दीनो जनः कूर्मवत्,
स्वान्यङ्गानि शरीर एव हि निजे निह्नोतुमाकाङ्क्षति॥

(बंदर बुरी तरह काँप रहे हैं, अकड़ गयी दुबलायी हुई गायें और बकरियाँ छीज रही हैं। भट्टी की गर्म भँभूदल में सोये कुत्ते को फिर से भट्ठी सुलगाने के लिए आया हुआ हलवाई ठोकर मार कर भगाना चाह रहा है, और कुत्ता भट्ठी नहीं छोड़ रहा। शीत का दुःख जनता पर विपत् की तरह आ गिरा है। उससे आतुर होकर दीन या गरीब कछुवे की तरह अपने अंग-अंग को अपने ही शरीर में घुसा लेना चाह रहा है।)

(४) अभिनंद—अभिनंद का परिचय अगले अध्याय में दिया गया है। इन्होंने रामचरित महाकाव्य की भी रचना की थी। इनके स्फुट पद्यों में बंगाल के ग्राम जीवन के चित्र बड़े सरस हैं। गाँव के सिवान का यह वर्णन, जिसमें अनाज से भरे खेत-खलिहानों, गाँव में घिरते कोहरे और गोबर के कंडों से जलाये गये अलाव तथा अलावों से उठते धुएँ का चित्र साकार किया गया है—

आभोगिनः किमपि सम्प्रति वासरान्ते,
सम्पन्नशालिखलपल्लवितोपशल्याः।

ग्रामास्तुषारभरबन्धुरगोमयाग्नि-
धूमावलीवलयमेखलिनो हरन्ति॥

कमलायुध

कमलायुध के अनेक पद्य विद्याकर, श्रीधर, जल्हण आदि सुभाषितसंग्रहकारों ने उद्धृत किये हैं। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में इनका एक पद्य शब्द अर्थ और अलंकार के उत्तम योग के लिये उद्धृत किया है। भोज तथा धनिक ने भी कमलायुध को सराहना के भाव से उद्धृत किया है।

उपसंहार

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में मुक्तक या लघुकाव्य की परम्परा, शृंगार, नीति और वैराग्य की तरंगिणियों में प्रवहमाण होती हुई भक्ति, जीवनदर्शन, रागात्मकता और मनुष्य की गौरवगाथा का निदर्शन प्रस्तुत करती है। अपनी विविधता में संस्कृत मुक्तक साहित्य विश्व में अपूर्व ही है। इसके साथ ही इसने विश्व के महाकवियों को प्रभावित, प्रेरित और स्फूर्त किया है। मेघदूत तथा भर्तृहरि का प्रभाव अन्य भाषाओं के अनेक रचनाकारों पर परिलक्षित होता है।

अध्याय ७

महाकाव्य का समृद्धि-काल

चौथे अध्याय में रामायण और महाभारत के पश्चात् महाकाव्य की विधा में उत्कृष्ट रचना करने वाले उन महाकवियों की चर्चा की गयी है, जो ईसा पूर्व की शताब्दियों में या ईसा के पश्चात् की आरम्भिक शताब्दियों में हुए तथा जिन्होंने अपने उज्ज्वल कृतित्व से महाकाव्य की विधा को प्रतिष्ठा और गौरव प्रदान किया। ईसा के पश्चात् पहली सहस्राब्दी महाकाव्य के उत्कर्ष का काल है। इसमें अलंकृत या विदग्ध महाकाव्यों की रचना प्रचुर मात्रा में हुई, दूसरी ओर शास्त्र-परम्पराओं की विपुलता के परिप्रेक्ष्य में शास्त्र-काव्य, द्विसंधान महाकाव्य जैसे महाकाव्य प्रकारों की रचना भी इस काल में आरम्भ हुई। राजशेखर ने वाल्मीकि और व्यास के पश्चात् अपने समय तक हुए दस सर्वश्रेष्ठ महाकवियों की गणना की है। इन दस महाकवियों में आठ इसी सहस्राब्दी में हुए—

आदौ श्री कालिदासः स्यादश्वघोषस्ततः परम्।
भारविश्च तथा भट्टिः कुमारश्चापि पञ्चमः॥
माघरत्नाकरौ पश्चात् हरिश्चन्द्रस्तथैव च।
कविराजश्च श्रीहर्षः प्रख्याताः कवयो दश॥

चौथी शताब्दी से दसवीं शताब्दी के मध्य विरचित महाकाव्यों में अनेक लुप्त हो गये। इनमें दो महाकाव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे—भर्तृमेंठ का हयग्रीववध तथा राजशेखर का हरविलास। अमरकोश की नारायणकृत टीका, श्रीधर के सदुक्तिकर्णामृत, जल्हण की सूक्तिमुक्तावली तथा भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में हरविलास के कई पद्य उद्धृत हैं।

हयग्रीववध : भर्तृमेंठ

भर्तृमेंठ संस्कृत के महाकवियों की प्रथम पंक्ति में स्मरण किये जाते रहे हैं। दुर्भाग्य से इनका लिखा हुआ महाकाव्य हयग्रीववध लुप्त हो चुका है। हयग्रीव नामक दैत्य की कथा महाभारत तथा कुछ पुराणों में आती है। उसी को आधार बना कर भर्तृमेंठ ने अपना यह महाकाव्य लिखा था। राजशेखर ने इन्हें वाल्मीकि का अवतार कहा है। इनके महाकाव्य से क्षेमेंद्र ने अपने सुवृत्ततिलक में एक तथा मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में दो पद्य उद्धृत किये हैं। भर्तृमेंठ को एक श्रेष्ठ कवि के रूप में सोमेश्वर (यशस्तिलकचंपू), पद्मगुप्त परिमल, रुय्यक (व्यक्तिविवेक की टीका), शिवस्वामी, मंख तथा सोड्ढल ने स्मरण किया है। कल्हण के अनुसार भर्तृमेंठ उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य की सभा में थे, और बाद में कश्मीर के राजा मातृगुप्त के आश्रय में रहे। इस आधार पर इनका समय चौथी शताब्दी के आसपास माना जाता है।

कल्हण ने लिखा है कि जब भर्तृमेंठ ने महाराज मातृगुप्त को हयग्रीववध महाकाव्य सुनाया, तो वे आद्यंत एकदम मौन रह कर सुनते रहे—'आ समाप्ति ततो नापत् साधु-साध्विति वा वच:'—प्रशंसा में 'साधु, साधु' (बहुत अच्छा, बहुत अच्छा) यह भी उन्होंने नहीं कहा। जब कवि पुस्तक की प्रति उन्हें अर्पित करने लगा, तो उन्होंने सोने का थाल मँगवा कर उसके नीचे यह कह कर रखवा दिया कि इस काव्य में इतना सौंदर्य लबालब भरा है कि कहीं वह निकल कर बहने न लग जाये—

अथ ग्रंथयितुं तस्मिन् पुस्तके प्रस्तुते न्यधात् ।
लावण्यनिर्याणभिया राजाऽध: स्वर्णभाजनम् ॥

हयग्रीववध महाकाव्य के अतिरिक्त इन्होंने अन्य स्फुट रचनाएँ भी की थीं, क्योंकि इनके अनेक सुभाषित प्राचीन सुभाषित संग्रहों में उद्धृत हैं। हयग्रीववध के निम्नलिखित अनुष्टुप् जो इसके प्रारम्भिक अंश हैं, राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा तथा क्षेमेंद्र ने अपने सुवृत्ततिलक में उद्धृत किये हैं—

आसीद् दैत्यो हयग्रीव: सुहृद्वेश्मसु यस्य ता:।
प्रथयन्ति बलं बाह्वो: सितच्छत्रस्मिता: स्त्रिय:॥
यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरे:॥

मम्मट ने हयग्रीववध का निम्नलिखित पद्य चित्रकाव्य में अर्थचित्र के उदाहरण में प्रस्तुत किया है—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्
भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला
निमीलिताक्षीव भियामरावती॥

(जिस मानद हयग्रीव के स्वेच्छा से यों ही घर से बाहर निकलने पर कहीं वह इधर न आ धमके, यह सोच कर इंद्र के द्वारा जिसकी अर्गला—फाटक की साँकल—लगवा दी गयी है, ऐसी अमरावतीरूपी नायिका डर से मानो आँखें बंद कर लेती है)। यहाँ हयग्रीव के पराक्रम तथा आतंक का निरूपण करने के लिए कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग करके कल्पनाशीलता और सौंदर्यबोध का परिचय दिया है।

साहित्यदर्पण में हयग्रीववध से हयग्रीव के सैनिकों के द्वारा स्वर्ग में पारिजात की मंजरियों को मसलने का यह वर्णन उद्धृत किया गया है—

स्पृष्टास्ता नन्दने शच्या केशसम्भोगलालिता:।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकै:॥

कई शताब्दियों तक भर्तृमेंठ एक आदर्श कवि के रूप में पढ़े और सराहे जाते रहे। नवम शताब्दी के नवसाहसांकचरित के प्रणेता महाकवि पद्मगुप्त ने ''तत्त्वस्पृशस्ते कवय: पुराणा: श्रीभर्तृमेण्ठप्रमुखा जयन्ति'' कह कर अपने महाकाव्य के आरम्भ में उनकी वंदना की है तथा उन्हें अपना आदर्श बताते हुए कहा है—

पूर्णेन्दुबिम्बादपि सुन्दराणि तेषामदूरे पुरतो यशांसि।
ये भर्तृमेण्ठादिकवीन्द्रसूक्तिव्यक्तोपदेशेन पथा प्रयान्ति।

(भर्तृमेंठ आदि कवियों के काव्यपथ पर चलने वाले कवियों का यश पूर्णचंद्र से भी अधिक सुंदर होता है।)

राजशेखर तो भर्तृमेंठ की कविता से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने अपने आपको भर्तृमेंठ का अवतार घोषित किया है। महाकवि सोड्ढल ने भर्तृमेंठ को कविता के क्षेत्र में एक ऐसा कुशल चितेरा बताया है, जिसकी कृति में रस का प्रवाह और वर्णों (अक्षरों, रंगों) की उज्ज्वलता दोनों समान रूप से मिलती है—

यः कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे
प्रसिद्धनामा भुवि भर्तृमेण्ठः।
रसप्लवेऽपि स्फुरति प्रकामं
वर्णेषु यस्योज्ज्वलता तथैव॥

इस महाकाव्य के सम्बन्ध में आचार्यपरम्परा में यह समीक्षा की जाती रही है कि इसमें नायक (विष्णु) की अपेक्षा प्रतिनायक (हयग्रीव) का चरित्र अधिक प्रधान हो गया है। आचार्य मम्मट ने रसदोष के प्रकरण में 'अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः' का उदाहरण इसी महाकाव्य को बताया है। इस एक रसदोष के होते हुए भी कई शताब्दियों तक हयग्रीववध कवियों, सहृदयों और आचार्यों के बीच सराहा व पढ़ा जाता रहा। इसमें कोई संदेह नहीं कि हयग्रीववध एक उत्कृष्ट महाकाव्य था।

भारवि : किरातार्जुनीय

'किरातार्जुनीयम्' महाकवि भारवि की एकमात्र उपलब्ध कृति है। यह संस्कृत महाकाव्यों की बृहत्त्रयी में सर्वप्रथम परिगणित होता है। वस्तुतः इस महाकाव्य के साथ संस्कृत महाकाव्य की एक नयी धारा का सूत्रपात होता है। आचार्य कुंतक के शब्दों में इन महाकाव्यों को विचित्र मार्ग के महाकाव्य कहा जा सकता है।

कालनिर्णय—महाकवि भारवि ने संस्कृत महाकाव्य के क्षेत्र में अपनी एक विशिष्ट शैली और पहचान बनायी पर कालिदास का गहरा प्रभाव उनकी कविता पर है। दूसरी ओर माघ ने उनके किरातार्जुनीयम् का अनुकरण करते हुए महाकाव्य के क्षेत्र में उन्हें पीछे छोड़ने का प्रयास किया। इस प्रकार भारवि कालक्रम में कालिदास तथा माघ के बीच में हुए। उनके काल के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण उल्लेखनीय हैं—(१) जयादित्य वामन ने अपने व्याकरण के सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'काशिका' में किरातार्जुनीयम् के एक पद्य को उद्धृत किया है। काशिका का रचनाकाल ६०० ई० के आसपास है। अतः किरातार्जुनीयम् की रचना ६०० ई० के पूर्व हो चुकी थी। (२) भारवि के काल के विषय में एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण ऐहोल का शिलालेख है। यह शिलालेख राजा पुलकेशिन् द्वितीय की प्रशस्ति में ६३४ ई० में उत्कीर्ण किया गया था। इसके प्रणेता रविकीर्ति हैं। शिलालेख के अंत में अपना परिचय देते हुए उन्होंने कहा कि अपनी कविता के द्वारा उन्होंने कालिदास और भारवि के जैसी कीर्ति प्राप्त की है—"**स विजयतां रविकीर्तिः**

कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।" (३) दक्षिण से पृथ्वीकोंकणि नामक राजा का एक दानपत्र है जो भारवि के कालनिर्णय पर कुछ प्रकाश डालता है। इस दानपत्र का समय ७७६ ई० है। इसमें उल्लेख है कि राजा पृथ्वीकोंकणि के सात पीढ़ी पहले उनके पुरखे राजा दुर्विनीत ने किरातार्जुनीयम् के पंद्रहवें सर्ग पर टीका लिखी थी। इस उल्लेख के आधार पर पं० बलदेव उपाध्याय ने राजा दुर्विनीत का समय ४८१ ई० के आसपास कूता है। प्रो० कीथ के अनुसार यह समय ५५० ई० के आसपास माना जाना चाहिये। (४) काशिकावृत्ति (रचनाकाल ६५०-६० ई०) में भारवि के किरातार्जुनीयम् से एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि ६५० ई० के आसपास किरातार्जुनीयम् लोकप्रिय हो चुका था। (५) दंडी द्वारा विरचित अवंतिसुंदरी नामक गद्यकथा से भी भारवि के काल और जीवन के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त होती है, यद्यपि इस ग्रंथ की प्रामाणिकता संदिग्ध मानी गयी है। इस कथा में बताया गया है कि भारवि दंडी के प्रपितामह थे, और इनका वास्तविक नाम दामोदर था। ये चालुक्यवंश के राजा विष्णुवर्धन की सभा के रत्न थे। पर इसी कथा की अन्य पांडुलिपियों में इस अंश में पाठभेद मिलता है, जिसके अनुसार भारवि दंडी के प्रपितामह न होकर प्रपितामह दामोदर के मित्र थे, तथा विष्णुवर्धन की सभा में भारवि की ऐसी प्रतिष्ठा थी कि दामोदर ने इनके माध्यम से राजसभा में प्रवेश प्राप्त किया था। यदि दंडी के इस उल्लेख को प्रामाणिक मान लिया जाये, तो भारवि पुलकेशिन् द्वितीय (६१५ ई०) के समकालीन सिद्ध होते हैं, क्योंकि विष्णुवर्धन इसी पुलकेशिन् द्वितीय का अनुज था। इसका दूसरा नाम कुब्जविष्णु भी मिलता है। विष्णुवर्धन ने अपनी वीरता से पल्लव वंश को नयी प्रतिष्ठा दिलवायी। भारवि के किरातार्जुनीयम् में शौर्य और साहस की जो प्रतिष्ठा है, उसकी पृष्ठभूमि में इस विष्णुवर्धन का चरित्र भी संभव है रहा हो। दंडी ने भारवि को इस प्रसंग में महाशैव कहा है। शिव के प्रति अकुंठित श्रद्धाभाव भारवि के काव्य में व्यक्त हुआ है। दंडी ने अवंतिसुंदरी कथा में एक और उल्लेख भारवि के विषय में किया है। तदनुसार पल्लवनरेश सिंहविष्णु (५७५-६०० ई०) ने भी भारवि को आश्रय दिया था तथा तत्पश्चात् इन सिंहविष्णु के पुत्र मत्तविलास के प्रणेता महेन्द्रविक्रम के आश्रय में भी भारवि रहे। अवंतिसुंदरी कथा के आधार पर ही गंगवंशीय राजा दुर्विनीत से भी भारवि का सम्बन्ध बताया जाता है। राजा दुर्विनीत ने उनके किरातार्जुनीय के पंद्रहवें सर्ग पर टीका लिखी थी। भारवि का सम्बन्ध चालुक्य राजा विष्णुवर्धन, पल्लव सिंहविष्णु तथा गंगवंशीय दुर्विनीत—इन तीन राजाओं से प्रतीत होता है।

उपर्युक्त उल्लेखों से इतना अवश्य प्रमाणित होता है कि भारवि का निवासस्थान दक्षिण भारत था। शारदारंजन राय ने उनके सूर्यास्त वर्णन के आधार पर उन्हें पश्चिमी समुद्र (अरब सागर) के तट के आसपास का निवास माना है। उनका समय भी ५५० ई० से ६१५ ई० के लगभग माना जा सकता है।

विषयवस्तु—किरातार्जुनीयम् में १८ सर्गों में महाभारत के वनपर्व के एक प्रसंग को महाकाव्योचित विस्तार दिया गया है। किरातवेषधारी शिव से अर्जुन के संग्राम की

घटना इसकी कथा में केंद्रीय महत्त्व रखती है, इस युद्ध के द्वारा ही नायक अर्जुन को फलप्राप्ति होती है। अतः इस महाकाव्य का किरातार्जुनीय यह नाम सार्थक है।

इसकी कथावस्तु का आधार महाभारत का वनपर्व है। कथा इस प्रकार है— प्रथम सर्ग में युधिष्ठिर वनवास की अवधि में द्वैतवन में अपने भाइयों तथा द्रौपदी के साथ रह रहे हैं। उनका एक गुप्तचर आकर उन्हें दुर्योधन का समाचार देता है। युधिष्ठिर, द्रौपदी तथा भीम से मंत्रणा करते हैं। द्रौपदी उन्हें तत्काल युद्ध छेड़ देने के लिए उकसाती है। द्वितीय सर्ग में भीम भी द्रौपदी का समर्थन करते हैं। युधिष्ठिर तुरन्त युद्ध में कूद पड़ने के निर्णय से सहमत नहीं हैं। द्वितीय सर्ग के अन्त में महर्षि व्यास के आगमन का वर्णन है तथा तृतीय सर्ग में वे युधिष्ठिर को शत्रुओं से प्रतिकार की नीति बताते हैं। उनके निर्देश पर अर्जुन योगविद्या सीख कर तप करने के लिए एक यक्ष के साथ हिमालय की ओर चल देता है। चौथे सर्ग में हिमालय-यात्रा के मार्ग में शरद् ऋतु का मनोरम वर्णन है। पाँचवें सर्ग में अर्जुन की साधना बतलायी गयी है। छठे सर्ग में इंद्र के आदेश से अर्जुन की परीक्षा लेने के लिए गंधर्व तथा अप्सराएँ हिमालय पर उतरते हैं। सातवें से दसवें सर्ग तक अप्सराओं की शृंगारलीलाओं का चित्रण है जिनके बीच अर्जुन निर्विकार बना रहता है। ग्यारहवें सर्ग में इंद्र स्वयं मुनि का रूप धर कर अर्जुन की परीक्षा लेने आते हैं, और उसे अस्त्रप्राप्ति के उद्देश्य से तप करना छोड़ कर मुक्ति के लिए तपस्या करने का उपदेश देते हैं। अर्जुन उनको दो टूक उत्तर देता है कि मुझे मोक्ष की कोई चाह नहीं है, मैं तो अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिये शत्रुओं से प्रतिशोध लेने के लिये यह तप कर रहा हूँ। इंद्र प्रसन्न होकर अपने वास्तविक रूप में प्रकट होकर उसे शिव की आराधना करने का परामर्श देते हैं। बारहवें सर्ग में अर्जुन की कठोर तपश्चर्या और सारे संसार पर उसके प्रभाव का अत्यंत प्रभावशाली चित्रण है। अर्जुन की घोर तपस्या से घबरा कर हिमालय के मुनिजन शिव के पास रक्षा की प्रार्थना करने पहुँचते हैं। इसी समय मूक नामक दानव अर्जुन का वध करने के लिए शूकर का वेष बनाकर आता है। इधर शिव भी अर्जुन की परीक्षा लेने के लिए किरात का वेश बनाकर अपनी सेना के साथ चल पड़ते हैं। तेरहवें सर्ग में अपनी ओर आक्रमण के लिए आते शूकर पर अर्जुन भी अपना बाण छोड़ता है और किरातवेषधारी शिव भी। शिव का बाण वापस लेने के लिए आये उनके अनुचर से अर्जुन का विवाद हो जाता है। इतनी कथा तेरहवें सर्ग तक है। चौदहवें सर्ग में शिव की सेना से अर्जुन का संग्राम छिड़ जाता है। इस संग्राम का वर्णन कवि ने अठारहवें सर्ग तक किया है, जिसके अंत में शिव प्रसन्न होकर अर्जुन को पाशुपात्र अस्त्र की प्राप्ति का वर देते हैं।

महाकाव्य के लक्षणों की अन्विति—टीकाकार मल्लिनाथ ने किरातार्जुनीयम् में महाकाव्यत्व की प्रतिष्ठा पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजः
तस्योत्कर्षकृते नु वर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः।
शृंगारादिरसोऽत्रमङ्गमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः
शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्॥

चरित्रचित्रण—भारवि ने अपने चरित्रों के औदात्त्य और गुणप्रकर्ष को विशेष रूप से प्रदर्शित किया है। युधिष्ठिर विवेक और धैर्य में अप्रतिम हैं, तो भीमसेन भी अपनी नीतिज्ञता और बल में अद्वितीय हैं। द्रौपदी के द्वारा एक आहत नारी के चोट खाये स्वाभिमान को उन्होंने अत्यंत करुण और मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। व्यास अपनी अत्यल्प उपस्थिति में भी अपनी आर्ष वाणी के द्वारा अद्भुत प्रभाव छोड़ते हैं। पूरे महाकाव्य में सर्वातिशायी चरित्र निस्संदेह नायक अर्जुन का है, जो अपनी संयम और धैर्य की पराकाष्ठा, तितिक्षा, अनुपम साहस और सत्त्व के द्वारा महाकाव्य-साहित्य का अनूठा चरित्र बन गया है। वह धीरोदात्त नायक है। द्रौपदी के चरित्र के द्वारा भारवि ने भारतीय नारी की मनस्विता और तेजस्विता का प्रभावशाली अंकन किया है। 'किरातार्जुनीयम्' की द्रौपदी अपने स्वयं के अपमान और पीड़ा के विषय में एक शब्द नहीं कहती, वह अपने पतियों की सम्मानरहित दुर्दशा को लेकर व्यथित है, और उन्हें अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए उकसाती है। किरातार्जुनीयम् के भीम महाभारत के भीम की तुलना में विचारशील, शांत किन्तु परम तेजस्वी शूर के रूप में चित्रित हैं। युधिष्ठिर के चरित्र का एक ही पहलू भारवि ने उभारा है—वह उनके कुशल राजनीतिज्ञ का है। युधिष्ठिर धैर्य और नीति के प्रतिमान हैं, भीम स्वाभिमान और शौर्य के और द्रौपदी अन्याय के लड़ने के भाव की साकार मूर्ति है। इन तीनों के उत्कृष्ट गुणों का समवाय तप, संयम, तितिक्षा, साहस और शौर्य के गुणों को गूँथ कर भारवि ने अर्जुन के चरित्र में कर दिया है।

रस—किरातार्जुनीयम् की अंगीरस वीर है। शृंगार, रौद्र, भयानक तथा शांत रसों का भी इसमें समावेश अंग के रूप में हुआ है। परन्तु आरम्भ से लेकर अंत तक उत्साह की अजस्र धारा किरातार्जुनीयम् में तरंगित है। पहले सर्ग में द्रौपदी के कथनों में आवेग और आवेश की पराकाष्ठा है, यहाँ ग्लानि, असूया, शंका आदि संचारी भाव वीर रस का परिपोष करते चलते हैं। दूसरे सर्ग में भीमसेन के वचन भी युद्ध के लिए सन्नद्ध वीर की ओजस्वी वाणी की बानगी प्रस्तुत करते हैं। इन वचनों में युधिष्ठिर के उत्तर में मति, धृति, विबोध आदि संचारी भाव अंततः वीररसोचित उत्साह को ही प्रगुणित करते हैं। महामति व्यास का अवतरण इस महाकाव्य में किंचित् शांत के अवतार के साथ उनके उद्बोधन के द्वारा पुनः वीररस का ही वातावरण रच देता है। आठवें, नवें और दसवें सर्गों में अंग के रूप में शृंगार रस निबद्ध है, पर वह अर्जुन के संकल्प और तेजस्विता की ही संपुष्टि करता है, अतः वीर रस की धारा उसमें भी अविच्छिन्न बनी रहती है। वस्तुतः भारवि ने अप्सराओं के जिन हावभावों और विलासलीलाओं का चित्रण किया है, उनमें कृत्रिमता अधिक है। अर्जुन का शिव के साथ तुमुल युद्ध प्रभावशाली रूप में चित्रित है। इसकी परिणति है—

उन्मज्जन्मकर इवामरापगायामावेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमलोचनस्य वक्षः॥

(किरातार्जुनीयम्, १७/६३)

(अर्जुन के सारे शस्त्र चुक गये थे। उनका प्रतिद्वंद्वी किरात फिर भी अपराजित सामने था। अंत में वे बाणों की नदी के बीच ऐसे उछले जैसे गंगा की लहरों में कोई

मगर उछाल भरे और त्रिलोचन शिव के सोने की चट्टान जैसे वक्षःस्थल पर उन्होंने दोनों भुजाओं से प्रहार किया।)

प्रथम सर्ग में द्रौपदी के वचनों में करुण रस की भी अल्प निष्पत्ति हुई है, जहाँ वह वनवास के समय पांडवों की शोचनीय दशा का वर्णन करती है। तृतीय सर्ग में व्यास के कथनों और दशम सर्ग में इंद्र के प्रबोधन में शांत रस भी व्यक्त हुआ है।

वर्णन-कला और भाषा-शैली—भारवि की भाषा-शैली की सबसे बड़ी विशेषता अर्थगौरव मानी जाती है। कहा गया है—'भारवेरर्थगौरवम्।' अर्थगौरव से आशय है कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक आशय को व्यक्त कर देना। भारवि स्वयं अर्थगौरव को मनुष्य की प्रत्येक वाचिक अभिव्यक्ति का मानदंड मानते हैं। किरातार्जुनीयम् में उन्होंने स्थान-स्थान पर वाणी की विशेषताओं व अपेक्षित गुणों के विषय में अपना अभिमत प्रकट किया है। वनेचर की उक्ति की प्रशंसा करते हुए युधिष्ठिर कहते हैं—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचितापृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

(किरातार्जुनीयम्, २/२७)

आशय यह है कि पदों में स्फुटता या स्पष्टता निरंतर बनी रही है, अर्थगौरव तो उनमें प्रचुर है। जो कहा है उसमें हर बात अलग-अलग स्पष्ट होती है। शब्द अपने अर्थ को प्रकट करने में पूरी तरह समर्थ हैं। भारवि ने स्वयं अपने काव्य में वाणी के इस मानदंड का पालन किया है। सूक्तिसौरभ से सुवासित व जीवनमर्म का स्पर्श करने वाली उनकी काव्याभिव्यक्ति का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥

(किरातार्जुनीयम्, २/२७)

(सहसा कार्य न करें। अविवेक विपत्तियों का परम पद है। सोच कर करने वाले का उसके गुणों से ललचाई संपदाएँ स्वयं वरण करती हैं।)

वस्तुतः अपनी अर्थदृष्टि के द्वारा भारवि शब्दों की अंतरात्मा उन्मीलित कर देते हैं। इस अर्थदृष्टि की कसौटी उन्होंने स्वयं इस प्रकार बतायी है—'सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्'—जैसे दीपक सामने रखी वस्तुओं को प्रकाशित कर देते हैं, उसी प्रकार विशुद्ध ज्ञान अर्थ को उद्भासित कर देता है। यदि जो बात कहनी है, उसका सुस्पष्ट बोध है, तो वाणी में कवि की मति वैसे ही संक्रान्त हो जाती है, जैसे स्वच्छ दर्पण में सामने रखी वस्तु प्रतिबिम्बित हो जाती है—'विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिलक्ष्यते।'

किरातार्जुनीयम् के प्रकृतिचित्रों में हिमालय तथा शरद् ऋतु के वर्णन बहुत मनोहर हैं। चतुर्थ सर्ग में ही धान के खेत की रखवाली करने वाली कृषक स्त्री, चारागाह से लौटती गायें, नदी के ऊँचे रेतीले तट पर ढूँसा मारता बैल, ग्वाले और

ग्वालिनें इनके वर्णन में ग्रामजीवन के सरस चित्र हैं। अपने समय के सामंतीय समाज के वैभव और विलास की छाया उनके गंधर्वों और अप्सराओं के विलास के वर्णन में है। अर्जुन की हिमालय-यात्रा का वर्णन करते हुए भारवि भारतीय ग्रामजीवन और खेतखलिहानों पर दृष्टि डालते हैं। प्रकृति से एकाकार होकर रहने वाले ग्वालों के सहज जीवन के सुंदर व स्वाभाविक चित्र उन्होंने इस प्रसंग में अंकित किये हैं। ये ग्वाले वनों में ऐसे रहते हैं, जैसे अपने घर में रह रहे हों, पशुओं पर ऐसी प्रीति रखते हैं, जैसी अपने बंधु-बांधवों पर, तथा अपनी सिधाई में वे गायों के जैसे ही हैं—

गतान् पशूनां सहजन्मबन्धुतां गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे॥

(किरातार्जुनीयम्, ४/१३)

भारवि की शैली की एक बड़ी विशेषता पात्रोचित सटीक संवादों का संयोजन है। किरातार्जुनीय के प्रथम तीन सर्गों में द्रौपदी, भीम, युधिष्ठिर तथा व्यास के संवाद विदग्धता, चातुर्य और बुद्धिमत्ता को व्यक्त करने वाली भाषा का अत्यन्त परिमार्जित स्वरूप सामने रखते हैं। इन संवादों के द्वारा भारवि ने परवर्ती महाकवियों के लिए संवादकला का पथ प्रदर्शन किया है।

उनके अर्थ गौरव की प्रशंसा करते हुए कृष्ण कवि ने कहा है—

प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या॥

अलंकार तथा कल्पना—भारवि की कल्पनाशक्ति बड़ी उर्वर है। वह उनके काव्य में नये-नये उपमानों का विन्यास करती है, जिससे वर्ण्यविषय अपने सारे रंगों में साकार हो जाता है। रंगों की गहरी परख भारवि को है। शरद् ऋतु में तोते अपनी चोचों में धान की पीली बालियाँ लिये आकाश में उड़ रहे हैं। तोतों की चोंचें प्रवाल या मूँगे की तरह लाल हैं, इनके आगे बालियों का पीला रंग है, और तोते के पंख हरे हैं। इस प्रकार तोतों की उड़ती हुई पाँत आकाश में चलता-फिरता इंद्रधनुष बना रही है—

मुखरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः
शिखाः पिशङ्गीः कमलस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला
धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति॥ (किरातार्जुनीयम्, ४/१८)

मार्ग में स्थलकमलिनी के पौधे फूल रहे हैं। उनके फूलों का पराग हवा के झोंकों में उड़ रहा है। पराग के पुंज चक्रवात में उड़ते हुए छाते की तरह तने से दिखने लगते हैं। भारवि इस दृश्य के लिए कनकमय-आतपत्र (सोने के छत्र) की उपमा देते हैं—

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मा-
दुद्भूतः सरसिजसम्भवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्ता-
दादत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्॥ (५/३९)

इस उपमा के कारण पंडित समाज में भारवि को आतपत्र-भारवि के नाम से ख्याति मिली है।

हिमालय का वर्णन करते हुए भारवि ने कल्पना की ऊँची उड़ान भरी है। हिमालय एक ओर सूर्य की किरणों से चमक रहा था, तो उसके दूसरी ओर निशा का सघन अंधकार था। ऐसे में वह गजचर्म से आच्छादित शिव के समान लगता था, जिनके हसित से सामने का अँधेरा तो छिन्न-भिन्न हो गया हो, पर पीछे गजचर्म के काले रंग के कारण अंधकार हो।

तपनमण्डलदीपितमेकतः
सततनैशतमोवृतमन्तः।
हसितभिन्नतमिस्त्रचयं पुरा
शिवमिवानुगतं गजचर्मणा॥ (५/२)

अत्यंत प्रयत्नसाध्य अलंकारों में भारवि ने चित्रालंकारों का प्रयोग अर्जुन और शिव के युद्ध का वर्णन करते हुए पंद्रवें सर्ग में युद्ध की विकटता को दिखाने के लिए किया है।

छन्दोयोजना—भारवि विविध छंदों का प्रयोग करने में निपुण हैं। उन्होंने इंद्रवज्रा, उपेद्रवज्रा, वैतालीय, द्रुतविलंबित, प्रमिताक्षरा, प्रहर्षिणी, स्वागता, उद्‌गता, पुष्पिताग्रा का प्रमुखता से प्रयोग किया है तथा अन्य छंदों में औपच्छंदसिक, अपरवक्त्र, जलोद्धतगति, चंद्रिका, मत्तमयूर जैसे दुर्लभ छंदों में भी समर्थ रचना की है। भारवि के वंशस्थ की रचना बड़ी प्रशस्य मानी गयी है। क्षेमेंद्र ने उनके वंशस्थ की प्रशंसा करते हुए कहा है—

वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विशेषता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता॥

किरातार्जुनीयम् के कुल १०३० पद्यों में से १५८ पद्य भारवि ने इस महाकाव्य में वंशस्थ में रचे हैं। पंचम सर्ग में हिमालय के वर्णन में द्रुतविलंबित छंद का प्रयोग करते हुए भारवि ने उसमें यमक अलंकार की लड़ियाँ भी गूँथ कर मणिकांचनयोग रच दिया है। महाकाव्य में किसी एक सर्ग में विभिन्न छंदों का प्रयोग एकसाथ किया जा सकता है—आचार्यों के इस निर्देश के अनुसार इसी सर्ग में हिमालय के अपार नैसर्गिक वैभव और विविधता को बताने के लिए भारवि ने औपच्छंदसिक, क्षमा, प्रमिताक्षरा, प्रभा, रथोद्धता, जलधरमाला, प्रहर्षिणी, जलोद्धतगति, वसंततिलका, पुष्पिताग्रा, शालिनी, मालिनी आदि अनेक छंदों का प्रयोग करके अपने छंद:शास्त्रनैपुण्य का अच्छा परिचय दिया है। उपजाति छंद का प्रयोग १४५ बार, उपेंद्रवज्रा का प्रयोग ७५ बार, अनुष्टुप् का १२६ बार, पुष्पिताग्रा का ६८ बार तथा वसंततिलका का २७ बार प्रयोग भारवि ने किया है। उनके महाकाव्य में कुल १३ पद्य मालिनी में, ५६ पद्य ललिता छंद में, ३८ रथोद्धता में, ४८ जलधरमाला में तथा १०१ स्वागता में हैं।

पांडित्य—किरातार्जुनीय महाकाव्य की एक विशेषता बहुमुखी पांडित्य है। भारवि विविध शास्त्रों के निष्णात पंडित थे। विशेषरूप से राजनीति या अर्थशास्त्र का

उनका ज्ञान प्रामाणिक है। व्याकरण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, नीतिशास्त्र और कामशास्त्र के भी अच्छे ज्ञान का परिचय उन्होंने दिया है। भारवि की महाकवि के रूप में दुर्लभ विशेषता यह भी है कि वे बौद्धिकता तथा गांभीर्य की प्रतिष्ठा महाकाव्य में अनन्य रूप में करते हैं, और अपने चिंतन तथा जीवनमर्म को अभिव्यक्ति देते हैं।

संदेश—भारवि के महाकाव्य की रचना का मुख्य ध्येय है—देश के सोते हुए क्षत्रिय समाज को जाग्रत करना। भारवि जिस काल में हुए वह ऐतिहासिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उथलपुथल का काल था। शकों और हूणों के आक्रमणों से देश के सीमांत रौंदे जा रहे थे। सामंतीय समाज विलासिता में डूबा था। भारवि के काल में ही राजा यशोवर्मा ने प्रबल पराक्रम से उत्तरी सीमांत पर आक्रमण करने वाले हूण राजा मिहिरकुल को पराजित किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा यशोवर्मा के आदर्श को भारवि ने अर्जुन के अपने चरित्र के द्वारा साकार कर दिया है। महर्षि व्यास की वाणी के द्वारा कवि ने सम्पूर्ण क्षत्रिय समाज को ही यह संदेश दिया है—

अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः॥

(किरातार्जुनीयम्, ३/१७)

एक तेजस्वी और सबल राष्ट्र के निर्माण के लिए भारवि ने उद्दीप्त तथा स्फूर्त वाणी में अपना संदेश दिया है।

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः।
लघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः॥

(किरातार्जुनीयम्, २/१८)

भारवि वस्तुतः पुरुषार्थ के कवि हैं। महाकाव्य के क्षेत्र में पुरुषार्थ की काव्यमय व्याख्या करते हुए ऐहलौकिक आस्था, मनस्विता तथा शौर्य का अनूठा प्रतिमान उन्होंने उपस्थित किया है।

संक्षेप में भारवि का देश के लिए संदेश यही है कि इस देश को निवृत्तिपरक तपस्या की आवश्यकता नहीं, पराक्रम की आवश्यकता है। इसलिए भगवान् शिव के लिये वे कहते हैं कि वे अपने भक्त अर्जुन की आराधना से उतने प्रसन्न नहीं हुए, जितने उसके पराक्रम से—

तपसा न तथा मुदमस्य ययौ भगवान् यथा विपुलसत्त्वतया।

मनुष्य के स्वाभिमान, मनस्विता, शौर्य, साहस आदि गुणों की समग्रता को भारवि ने 'श्री' कहा है। उन्होंने अपने काव्य के पहले श्लोक का पहला शब्द 'श्री' रखा है, तथा प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में भी 'श्री' शब्द का प्रयोग किया है।

सूक्तियाँ

भारवि की सूक्तियों में उनकी भाषाशैली और अभिव्यक्ति की उल्लेखीय विशेषता—अर्थगौरव—का प्रभविष्णु रूप में निदर्शन होता है। विचारप्रधानता तथा चिंतन की गंभीरता इन सूक्तियों को स्मरणीय बनाती है। उदाहरणार्थ—

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मसां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः॥ (२/२०)

(जलती आग को नहीं, बुझी राख को लोग रौंदते हैं। अतः अभिभव के भय से मानी मनुष्य सुख प्राण से छोड़ देता है, अपना तेज नहीं छोड़ता।)

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः। (१/४)

(ऐसा वचन दुर्लभ है, जो हितकर भी हो, और मनोहर भी हो।)

वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः। (१/८)

(नीच व्यक्ति से मित्रता के स्थान पर महापुरुष से विरोध होना भी अधिक अच्छा है।)

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषा दरः। (१/३३)

(जिसे अन्यायी पर क्रोध नहीं आता, ऐसा दब्बू व्यक्ति चाहे मित्र बन जाये चाहे शत्रु बन जाये—उसका कोई सम्मान नहीं होता।)

व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः। (१/४२)

(शत्रुओं की ओर से उदासीन होकर शांतिपूर्वक तप करके मुनि लोग सिद्धि पाते हैं, राजा लोग नहीं।)

निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः। (२/१५)

(समृद्धि पराक्रम के अधीन होकर रहती है, विषाद के साथ नहीं।)

न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्।

(जो स्वभाव से सुंदर है, उसे बाहर की सजावट की आवश्यकता नहीं।)

रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति। (७.५)

(रमणीय लोगों की विकृति में भी सुंदरता होती है।)

सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम्। (७/२८)

(लक्ष्मी वही है, जिससे कोई दूसरे का उपकार कर सके।)

वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि।

(गुण प्रेम में रहते हैं, वस्तु में नहीं।)

आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः।

(संसार के विषय ऊपर-ऊपर से ही रमणीय लगते हैं, अंत में वे दुःखदायी होते हैं।)

अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात् प्रह्लादते मनः।

(अपना कोई सगा सामने आ जाय, और उसे हम पहचान न पायें, तब भी उसके सान्निध्य से मन बरबस आह्लादित हो जाता है।)

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः। (१/३०)

(वे मूर्ख पराजित हो जाते हैं, जो मायावी लोगों से निपटने के लिए मायावी नहीं बनते।)

किरातार्जुनीय की टीकाएँ—किरातार्जुनीय की अत्यन्त प्राचीन काल में ही दुर्विनीत राजा ने टीका लिखी थी, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। इसकी सर्वप्रसिद्ध टीका मल्लिनाथ की है जिसका नाम घंटापथ है। इसके अतिरिक्त इस

महाकाव्य पर ३३ प्राचीन टीकाओं का पता चलता है। इनमें वल्लभदेव, विद्यामाधव, देवराजभट्ट, क्षितिपालमल्ल, प्रकाशवर्ष, कृष्णकवि, रविकीर्ति, चित्रभानु, एकनाथ आदि की टीकाएँ प्राचीन हैं। शब्दार्थदीपिका तथा प्रसन्नसाहित्यचंद्रिका इन दो टीकाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जिनके प्रणेताओं का नाम अज्ञात है।

पारम्परिक समीक्षा में भारवि—संस्कृत काव्यशास्त्र के महान् आचार्य कुंतक ने भारवि की वाणी में सार्थकता की प्रशंसा करते हुए उन्हें अवहित या जागरूक कवि कहा है। उद्भट ने अपने काव्यालंकारसारसंग्रह में भारवि के अर्थगौरव की सराहना की है। टीकाकार मल्लिनाथ ने भारवि की वाणी को 'नारिकेलफलसम्मित' बताया है, जो ऊपर से तो कठोर प्रतीत होती है, पर तत्काल फूटते ही स्वादिष्ट रसगर्भित सारवान् फल देती है—

नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तुरसगर्भनिर्भरं सारमस्यरसिका यथेप्सितम्॥

भारवि के एक अन्य टीकाकार चित्रभानु ने अपनी शब्दार्थप्रकाशिका में भारवि की भारती को अन्तर्गतमनोरम गभीर तथा अद्भुत वस्तु से युक्त बताया है। उनके अनुसार भारवि की भारती में गंभीरता तथा प्रसन्नता (प्रसादगुणयुक्त होना) पदे-पदे प्रतीत होती है, और इनकी वाणी की इयत्ता को नापना सुधा के सागर को नापने के समान है—

गम्भीरता भारविभारतीषु या प्रसन्नता चानुपदं प्रतीयते।
इयत्तया तामवगन्तुमुद्यतां ध्रुवं सुधासिन्धुतलं दिदृक्षते॥

सदुक्तिकर्णामृत में उद्धृत एक पद्य में भारवि की वाणी को स्वभाव से ही मधुर कहा गया है—'प्रकृतिमधुरा भारविगिरः।' शारदातनय के अनुसार भारवि भाव और रस का तादात्म्य स्थापित करने वाले कवि हैं—'तादात्म्यं भावरसयोर्भारविः स्पष्टमूचिवान्।'

काव्यशास्त्र के अन्य आचार्यों में भारवि का उल्लेख करते हुए राजशेखर ने कहा है कि भारवि उज्जयिनी में हुई काव्यकारपुरुषपरीक्षा में सफल माने गये। उन्होंने भारवि की वाणी को उल्लेखवान् पद संदर्भ से युक्त भी बताया है। कुंतक तथा रुय्यक इन दोनों आचार्यों ने भारवि के संदेह अलंकार के प्रयोग की प्रशंसा की है।

कुमारदास : जानकीहरण

कुमारदास का उल्लेख करने वाले प्राचीन आलंकारिकों में भोज (१०१०-१०५५ ई०) तथा हेमचन्द्र (१०८९ से ११७३ ई०) उल्लेखनीय हैं। अमरकोश के टीकाकारों में पदचंद्रिकाकार रायमुकुटमणि (१४३० ई०), टीकासर्वस्वकार सर्वानंद (११५९ ई०), कामधेनुकार सुभूतिचंद्र (१०१०-१०६२ ई०)—इन तीनों ने कुमारदास के जानकीहरण महाकाव्य के पद्य उद्धृत किये हैं। इनके अतिरिक्त शार्ङ्गधरपद्धति (१३६३ ई०), सूक्तिमुक्तावली (१२५८ ई०) तथा सदुक्तिकर्णामृत (१२०५ ई०)—इन तीन प्रसिद्ध सुभाषित संग्रहों में भी कुमारदास के पद्य उद्धृत हैं। राजशेखर (९०० ई०)

के द्वारा कुमारदास के विषय में रची हुई यह प्रशस्ति विद्याकर के सुभाषितरत्नकोश में उद्धृत है—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासो वा रावणो वा यदि क्षमः॥

(रघुवंश (कालिदासकृत महाकाव्य, रघुकुल) के रहते हुए जानकीहरण (कुमारदास का महाकाव्य, सीता का हरण) या तो कवि कुमारदास कर सकते थे, या रावण कर सकता था।)

इसके पूर्व ज्ञानाश्रयी छन्दोवीचिति नामक छन्दःशास्त्र के ग्रन्थ में कुमारदास का पद्य उद्धृत किया गया है। इस छन्दोवीचिति की रचना छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई थी। अतः कुमारदास का समय पाँचवीं शताब्दी के आसपास कहा जा सकता है।

कुमारदास नाम से श्रीलंका में पाँचवीं शताब्दी में एक राजा हुए। अनेक विद्वान् इन्हीं कुमारदास को जानकीहरण महाकाव्य का कर्ता मानते हैं। सी० आर० स्वामीनाथन् ने इस मत का दृढ़ता से खंडन किया है। वस्तुतः मोग्गलान के पुत्र कुमार धातुसेन नामक राजा सिंहल में ५१२ ई० से ५२१ ई० तक राज्य करते रहे। सिंहली साहित्य में इनका विवरण मिलता है, पर इनके द्वारा जानकीहरण महाकाव्य रचे जाने का कहीं उल्लेख नहीं है। श्री स्वामीनाथन् ने मद्रास से प्राप्त जानकीहरण की पांडुलिपियों में दिये गये अंतिम श्लोकों के आधार पर कुमारदास का परिचय प्रस्तुत किया है। तदनुसार कुमारदास मणिक के पुत्र थे। इनके पिता मणिक राजा कुमारमणि के सेनापति थे। मेघ और अग्रबोधि ये इनका मामा थे। इनके पिता मणिक का निधन युद्धभूमि में हुआ। तब मामाओं ने बचपन से इनको पाला। जानकीहरण की मलाबार से प्राप्त एक अन्य पांडुलिपि के उल्लेख से भी प्रमाणित होता है कि जानकीहरण के कर्ता कवि कुमारदास का राजपरिवार से सम्बन्ध तो था, पर वे स्वयं राजा नहीं थे। सम्भवतः कुमार धातुसेन तथा कुमारमणि—इन दो राजाओं से नाम की समानता और लगभग इनके समकालीन होने के कारण परवर्ती अनुश्रुतियों तथा साहित्यिक उल्लेखों में कवि कुमारदास को भी राजा मान लिया गया। इनके सम्बन्ध में इतना तो निर्विवाद है कि वे सिंहल द्वीप (श्रीलंका) में छठी शताब्दी में हुए। सिंहल के प्राचीन साहित्य में प्राप्त कथाओं में कुमारदास का सम्बन्ध कालिदास से भी स्थापित किया गया है। कहा जाता है कि कालिदास और कुमारदास मित्र थे। कुमारदास के आग्रह पर कालिदास भारत से सिंहल द्वीप गये, जहाँ एक गणिका ने राजकीय पुरस्कार की लालच में उनकी हत्या कर दी, क्योंकि जिस पद्य की पूर्ति पर पुरस्कार दिया जाना था उसका उत्तरार्ध कालिदास ने रच दिया था। सिंहली ग्रंथों में यह पद्य सिंहली भाषा में दिया गया है।

विषयवस्तु—जानकीहरण महाकाव्य में बीस सर्गों में रामायण की सम्पूर्ण कथा प्रस्तुत की गयी है। पहले सर्ग में राजा दशरथ तथा उनकी रानियों का वर्णन है। दूसरे सर्ग में बृहस्पति रावण के विषय में बताते हैं। तीसरे सर्ग में दशरथ की जलक्रीड़ा तथा संध्या के समय का चित्रण है। चौथे में दशरथ के चारों पुत्रों का जन्म, पाँचवें में

विश्वामित्र का राम और लक्ष्मण को अपने आश्रम ले जाना तथा राम के द्वारा सुबाहु और मारीच आदि राक्षसों के वध का वृत्तांत है। छठे में मिथिला-यात्रा तथा सातवें में राम और सीता का परस्पर दर्शन और उनके विवाह का निरूपण किया गया है। आठवें और नवें सर्गों में राम और सीता के शृंगार के निरूपण के बाद अयोध्या लौटने का वृत्तांत है। नवें सर्ग में राम के वनवास से सीताहरण तक की कथा है। ग्यारहवें में बालिवध और वर्षाऋतु का सरस वर्णन है। बारहवें में सीता के अन्वेषण की तैयारी होती है। तेरहवें में हनुमान् के द्वारा लंका का दहन, चौदहवें में सेतुबंध, पंद्रहवें में अंगद का रावण की सभा में जाना, सोलहवें में राक्षसों के विलास तथा सत्रहवें से बीसवें सर्ग तक राम-रावण का संग्राम और राम की विजय का वर्णन किया गया है।

विषयवस्तु के निरूपण में कवि कुमारदास वाल्मीकि के ऋणी हैं। रामायण का पूर्वी संस्करण उनका स्रोत प्रतीत होता है। कथावस्तु के निरूपण तथा भाषाशैली की दृष्टि से वे निश्चित रूप से कालिदास से भी अत्यधिक प्रभावित हैं। मूल कथा में कुछ ही प्रसंगों में वाल्मीकि रामायण से अंतर है। उदाहरण के लिए कुमारदास ने मारीच की मृत्यु को सुबाहु के साथ विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के अवसर पर हुए युद्ध में दिखा दिया है, और सीताहरण के पूर्व स्वर्णमृग का प्रसंग उन्होंने अपनी रचना में रखा ही नहीं है। अनेक स्थलों पर तो उन्होंने वाल्मीकि रामायण के पद्यों की ललित विन्यास के साथ छाया कर डाली है। पहले सर्ग में ही दशरथ के हाथों श्रवणकुमार के वृद्ध पिता की मृत्यु के प्रसंग में वाल्मीकि के पद को ही उन्होंने अनूदित किया है। उदाहरण के लिए—

एकेन खलु बाणेन मर्मण्यभिहते मयि।
द्वावन्धौ निहतौ वृद्धौ माता जनयिता च मे॥

(रामायण, २/६३/३९$^{१}/_{२}$)

श्रवणकुमार के इस कथन को कुमारदास ने अपने महाकाव्य में इस तरह रूपांतरित करके प्रस्तुत किया है—

एकं त्वया साधयतापि लक्ष्यं नीतं विनाशं त्रितयं निरागः।
मच्चक्षुषा कल्पितदृष्टिकृत्यौ वृद्धौ वने मे पितरावहं च॥

(जानकीहरण, १.७६)

अनेक स्थानों पर कुमारदास ने वाल्मीकि से भाव व अभिप्राय ग्रहण किये हैं, पर उन्हें और अधिक रमणीय रूप देकर नवीन बना दिया है। विषयवस्तु के संयोजन में कुमारदास कालिदास के प्रभाव से जानकीहरण के आठवें सर्ग में उन्होंने सीता और राम की प्रणयलीलाओं का वर्णन किया है, जिस पर कुमारसंभव के आठवें सर्ग में कालिदास द्वारा वर्णित शिव-पार्वती के शृंगार की छाया है। कुमारदास की कविचेतना पर कालिदास इतने अधिक छाये हैं, कि यदि कालिदास उनके पूर्व में न हुए होते, तो उनका महाकाव्य भी इस रूप में नहीं लिखा जा सकता था। दसवें सर्ग में तो वाल्मीकि के स्थान पर राम के वनवास की घटनाओं के चित्रण में वे कालिदास के रघुवंश पर अधिक अवलंबित हैं।

चरित्र-चित्रण—कुमारदास ने रामायण के पात्रों को उसी रूप में प्रस्तुत किया है, जिस रूप में वे वाल्मीकि के महान् ग्रंथ में हैं। पर दशरथ के चरित्र को उन्होंने अधिक गरिमामय और शालीन रूप दे दिया है। विश्वामित्र के द्वारा यज्ञ की रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को माँगने पर वाल्मीकि की रचना में दशरथ जिस तरह गिड़गिड़ाने लगते हैं, कुमारदास में वे ऐसा नहीं करते, अपितु बिना किसी हिचक के राम और लक्ष्मण को विश्वामित्र के लिए सौंप देते हैं। इसी प्रकार कैकेयी के समक्ष भी जानकीहरण के दशरथ उस प्रकार दीन-हीन नहीं दिखायी देते, जिस प्रकार रामायण के दशरथ।

भाषा-शैली—कुमारदास की शैली पर कालिदास का सर्वाधिक प्रभाव है। कालिदास की सरस, प्रसादगुणसम्पन्न वैदर्भी रीति का उन्होंने प्रायः सर्वत्र अपने महाकाव्य में निर्वाह किया है, पर राम और रावण के युद्ध के वर्णन में गाढबन्ध, ओजोगुण तथा जटिल पदावली और चित्रबन्धों की भी भरमार कर डाली है। पूरे सत्रहवें सर्ग में यमक अलंकार का चमत्कार है, तो अठारहवाँ सर्ग चित्रकाव्यों से भरा हुआ है।

वर्णनकला—कुमारदास सौंदर्य के चित्रण में विशेष दक्ष हैं। प्रथम सर्ग में कौशल्या का वर्णन तथा षष्ठ सर्ग में सीता की छवि मनोहारी है। पानगोष्ठियों के चित्ताकर्षक और यथार्थ चित्र उन्होंने जानकीहरण के तीसरे, आठवें और सोलहवें सर्गों में उकेरे हैं, जिनमें मानवीय स्वभाव और मदाविष्ट दशा में मनुष्यों की विविध चेष्टाओं का वर्णन बड़ा सहज है। नगरों के वर्णन में भी कुमारदास की पैनी दृष्टि, एक-एक विवरण को सँजाने की कुशलता तथा उत्प्रेक्षाओं की भव्यता प्रभावित करती है। पहले सर्ग में ११ पद्यों में अयोध्या का वर्णन तथा छठे सर्ग में मिथिला का वर्णन चमत्कारपूर्ण है। मिथिला का प्राकार (परकोटा) इतना ऊँचा है कि आकाश उसके ऊपर ढक्कन की तरह लगा हुआ प्रतीत होता है। जानकीहरण के रुचिकर वर्णनों में एक अनुपम प्रसंग सातवें सर्ग में राम और सीता के विवाहवर्णन का है, जिनमें कुमारदास ने वैवाहिक विधियों, लोकाचारों और विवाह के अवसर पर व्यक्त मन:स्थिति का बहुत यथायथ तथा चित्ताकर्षक निरूपण किया है। आठवें सर्ग में संध्या तथा सूर्यास्त के चित्रण में वर्णविच्छित्ति रमणीय है। कुमारदास वर्णनों में सर्वत्र कल्पना का योग करते चलते हैं, प्रकृति को वे मानवीय रूप देते चलते हैं। संध्यावर्णन में सूर्यास्त का यह चित्र—

सन्निगह्य करसन्ततिं क्वचित् प्रस्थितोऽपि रविरेष रागवान्।
अस्तमस्तकमधिश्रितः क्षणं पश्यतीव भुवनं समुत्सुकः॥

यहाँ करसंतति तथा रागवान् इन दो पदों में श्लेष तथा पश्यतीव में उत्प्रेक्षा का सन्निवेश चमत्कार उत्पन्न करता है साथ ही अस्ताचल पर टिके सूर्य का चित्र उससे एक बिम्ब ग्रहण कर लेता है। ग्यारहवें सर्ग में वर्षा का वर्णन भी बड़ा सरस है। उन्नीसवें सर्ग में राम की पुष्पकविमान से वापसी का निरूपण कालिदास के रघुवंश (१३वें सर्ग) के अनुकरण पर है। इसके साथ ही भारवि और माघ के महाकाव्यों के समान विविध वर्णनों के सन्निवेश से कुमारदास ने अपने महाकाव्य में शब्दचित्रों का

रमणीय विन्यास भी प्रस्तुत किया है। सोलहवें सर्ग में सन्ध्या व रात्रि का वर्णन करते हुए कुमारदास राक्षसरमणियों के परस्पर परिहास, उनके शृंगार व अपने-अपने प्रेमियों के साथ वार्तालाप का रुचिकर वर्णन करते हैं। रावण के द्वारा अपने दस मुखों तथा बीस भुजाओं से सुन्दरियों के बीच रमण का चित्रण चमत्कारपूर्ण है।

कुमारदास के सभी वर्णन भावपूर्ण हैं। वर्णनों में स्वभावोक्ति की छटा भी उन्हें और आकर्षक बना देती है। राम की बाल-लीलाओं के चित्रण में यह पद्य बहुत सुंदर है—

न स राम इह क्व यात इत्युक्तो वनिताभिरग्रतः।
निजहस्तपुटावृताननोविदधेऽलीकनिलीनमर्भकः॥ (४/८)

(अंतःपुर की स्त्रियाँ—अरे राम कहा गया, यहाँ तो नहीं है—यह कह खोजतीं, तो शिशु राम दोनों हथेलियों में मुँह छिपाकर छिपने का छल करते।)

कल्पना/अलंकार-विधान—कुमारदास ने पारम्परिक उपमानों को नये सन्दर्भ में प्रयुक्त करके अन्यच्छायायोनि काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है। मेघ के लिए हाथी के उपमान का प्रयोग कालिदास ने मेघदूत में बहुत मौलिक सूझबूझ के साथ किया है। वाल्मीकि ने बिजली के लिए कशा (कोड़े) की उपमा दी है, जिसकी मार खाकर आकाश चिल्ला पड़ता है। कुमारदास भी वर्षा-वर्णन में इन उपमानों को उठाते हुए उन्हें कल्पना से नया विन्यास देते हैं—

अति विसृज्य वनानि कृताटना मनुजलोकसमीपनिषेविणः।
तडिदलातशतैरभिताडिताः वनगजा इव सस्वनुरम्बुदाः॥

(जानकीहरण, ११.७७)

(वनों को छोड़कर इधर-उधर भटकते मेघ हाथियों की तरह मनुष्यों के पास आ-आ कर बैठ गये। फिर बिजली के कोड़ों की मार खा-खा कर वे हाथियों की तरह चिंघाड़ उठे)। पर इस तरह की कल्पनाओं में अनेकत्र कुमारदास कुछ अधिक ही रंग भर देते हैं। इसी प्रसंग में वे बिजली को बादल के स्फुटित हृदय से बहने वाला रक्त बताते हैं—

निराशस्योत्कस्य स्फुटति नवमेघस्य हृदये।
रयादुद्यद्धारा असृज इव निर्यान्ति तडितः॥ (वही, ११.९६)

पुष्पक विमान से अयोध्या लौटते हुए राम को धरती पर चलते हुए श्वेतवस्त्रधारी मनुष्य ऐसे दिखते हैं, जैसे चीटियाँ रेंग रहीं हों। (२०/६)। अनेक पद्यों में कुमारदास प्रकृति का बहुत प्रभावशाली रूप में मानवीकरण करते हैं। मेघ के विषय में वे कहते हैं—''नदी का निर्मल जल छक कर पीने के पश्चात्, उसका उदर पानी से इतना भर गया था कि मेघ चलने-फिरने में असमर्थ होकर पहाड़ की तलहटी में ही टिक कर विश्राम करने लगा।''

विमलवारिनिपीय नदीगतं सलिलभारनिरन्तरितोदरः।
क्लममिवाभिवहन्नतिपानजं गिरितटे निषसाद पयोधरः॥

सत्रहवें सर्ग में यमक अलंकार की छटा रघुवंश के नवम सर्ग में कालिदास के द्वारा प्रदर्शित यमककौशल का अनुकरण है।

रस—जानकीहरण महाकाव्य में वीररस अंगी है। उनके युद्ध के वर्णनों में वीर रस का विशेष परिपोष हुआ है। जानकीहरण के पाँचवें सर्ग में राम के सुबाहु आदि के साथ वर्णन में, नवें सर्ग में परशुराम के साथ हुए संघर्ष में, ग्यारहवें सर्ग में रावण तथा जटायु के संग्राम और उन्नीसवें सर्ग में राम-रावण-युद्ध में वीररस का ओजस्वी निरूपण कुमारदास ने किया है। वीर रस के साथ बीभत्स और भयानक रसों का भी अंग के रूप में यथोचित सन्निवेश उन्होंने किया है। पाँचवें सर्ग में विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के अवसर पर सुबाहु आदि से समर का वर्णन ३५ श्लोकों में है। राम के अद्‌भुत पराक्रम का चित्रण कवि ने बड़ी कल्पनाशीलता तथा पर्यवेक्षण के साथ किया है। राम इतनी फुर्ती से बाण छोड़ रहे थे कि देखने वाले उनके धनुष से बाण का छूटना लक्षित ही नहीं कर पाते थे। पर जिस-जिस राक्षस को उनके बाण लगते, वे धराशायी हो जाते, तो ऐसा लगता जैसे वे बिना बाण लगे ही ढेर होते जा रहे हैं—

शरासने वर्त्मनि लक्ष्यभेदने परैरुपालक्ष्यत नेषुसन्ततिः।
ऋतेऽपि हेतोरिव दीर्णवक्षसो निपेतुरस्य प्रधने सुरद्विषः॥

(जानकीहरण, ५/३०)

एक योद्धा अश्वारोही का मस्तक कृपाण से कट कर गिर पड़ता है, पर उसने घोड़े की लगाम को इतना कस कर पकड़ रखा था कि मस्तक गिर जाने पर भी उसकी मुट्ठी लगाम पर कसी रही और उसका धड़ घोड़े पर स्थित बैठा रह गया—

कृपाणकृत्तस्य दृढोरुयन्त्रितं न पश्चिमार्धं निपपात सादिनः।
तुरङ्गवल्गादृढसक्तमुष्टिना परेण भागेन च लम्बितं पुरः॥

पराक्रम और वीरोचित चेष्टाओं का कुमारदास का निरूपण स्वाभाविक तथा प्रभावशाली है। इंद्रजित् और रावण आदि के निधन के पश्चात् विलाप के प्रसंग हृदयद्रावक हैं, जिनमें करुण का उत्कृष्ट परिपाक हुआ है। शृंगार के दोनों पक्षों—संभोग और विप्रलंभ—के चित्रण में कुमारदास निपुण हैं। जानकीहरण के तीसरे, आठवें और सोलहवें सर्गों में शृंगार रस छाया हुआ है। शृंगार रस को वे अपनी सौंदर्य-दृष्टि और कल्पनाओं की विच्छित्ति से हृदयंगम बनाते हैं।

छन्दोविधान—कुमारदास के छन्दोविधान पर कालिदास का प्रभाव है। आठवें सर्ग में राम और सीता के शृंगार के प्रसंग में उन्होंने रथोद्धता छंद का अनुकूल प्रयोग किया है। कालिदास ने भी कुमारसंभव के आठवें सर्ग में शिव और पार्वती की प्रणयकेलि के चित्रण में इसी छंद का प्रयोग किया है। चतुर्थ सर्ग में विश्वामित्र के द्वारा राम और लक्ष्मण को अपने आश्रम ले जाने के प्रसंग में कुमारदास ने वियोगिनी छंद का सरस प्रयोग किया है। ग्यारहवें और चौदहवें सर्गों में द्रुतविलंबित छंद का प्रयोग इस छंद के नाम के अनुरूप कार्य व्यापार की त्वरा का बोध कराते हुए कथा के वातावरण की सृष्टि में सहायक हुआ है। सोलहवें सर्ग में राक्षसों की अपनी प्रियाओं के साथ

प्रणयलीलाओं का चित्रण तदनुकूल पुष्पिताग्रा छंद में है। वंशस्थ कुमारदास का सबसे प्रिय छंद है। तीसरे, पाँचवें, नवें, बारहवें, सत्रहवें व उन्नीसवें सर्गों में इसका प्रचुर उपयोग उन्होंने किया है। जबकि प्रथम, तृतीय और सप्तम सर्गों में उपजाति छंद प्रमुख है। कुमारदास अनुष्टुप् जैसे छोटे छंदों के साथ ही शिखरिणी, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, मंदाक्रांता जैसे बड़े छंदों का प्रयोग करने में भी निपुण हैं, और कथा के प्रवाह को बनाये रखने के लिए उन्होंने इन विविध छंदों का प्रयोग यथावसर अपने महाकाव्य में किया है।

आदर्श तथा सांस्कृतिक बोध—कुमारदास ने कालिदास की भाँति ही उच्च सांस्कृतिक मानदण्डों को अपने काव्य में रूपायित किया है। सीता और राम के अनिंद्य अकलुष प्रेम का चित्रण उन्होंने वाल्मीकि और कालिदास को भावित करके किया है। सीता के विषय में वे कहते हैं—

पुष्परत्नविभवैर्यथेप्सितं सा विभूषयति राजनन्दने।
दर्पण तु न चकांक्ष योषितां स्वामिसम्मतफलं हि मण्डनम्॥

(राम, सीता को फूलों और रत्नों से अपने हाथों से शृंगार करते थे, तो सीता उसके पश्चात् दर्पण में अपने को देखने की इच्छा नहीं करती थीं, क्योंकि जो प्रिय को अच्छा लगे, स्त्री का वही शृंगार है।) कुमारदास ने यहाँ कालिदास के 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता' इस कथन को सुंदर रूप में नयी रीति से प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार कालिदास के ''यौवने विषयैषिणाम्, वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां'' रघुवंशियों का आदर्श कुमारदास उन्हीं राजाओं के शब्द में प्रस्तुत करते हैं—

उभे वक्षसि वंश्यानां तिष्ठतो रक्तकर्कशे।
यौवने वनिता वल्कसन्ततिर्वार्धके च नः॥

(हमारे वंश के लोगों में रक्तकर्कश वक्षःस्थल पर दो टिक पाती हैं—यौवन में सुंदरियाँ और वार्धक्य में वल्कल)।

भट्टि : रावणवध

महाकवि भट्टि की एकमात्र उपलब्ध रचना रावणवध महाकाव्य है। इस महाकाव्य को कवि के नाम से भट्टिकाव्य भी कहा जाता है। भट्टिकाव्य के अंतिम पद्य से कवि के विषय में स्वल्प सूचना प्राप्त होती है। तदनुसार भट्टि ने इस काव्य की रचना वलभी नगरी में रह कर उस समय की, जब वहाँ राजा श्रीधरसेन का राज्य था। वलभी में ५०० ई० से ६५० ई० के मध्य श्रीधरसेन नामके ही चार राजाओं ने राज्य किया। ६१० ई० के यहाँ एक शिलालेख में श्रीधरसेन द्वितीय के द्वारा भट्टि नामक विद्वान् को दान में भूमि देने का उल्लेख है। इस उल्लेख के आधार पर भट्टि का समय छठी शताब्दी का उत्तरार्ध तथा सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है।

रावणवध महाकाव्य में २२ सर्ग हैं, तथा रामायण की सम्पूर्ण कथा प्रस्तुत की गयी है। भट्टिकाव्य की रचना का मुख्य उद्देश्य व्याकरण के जटिल प्रयोगों का उन

छात्रों या विद्वानों को अभ्यास कराना था, जो पहले से व्याकरण पढ़ चुके हैं। शास्त्रज्ञान कराने के लिए रचित होने से इस काव्य को शास्त्रकाव्य कहा जाता है और इसकी रचना से संस्कृतमहाकाव्यों की परम्परा में शास्त्रकाव्य की धारा का प्रवर्तन हुआ। भट्टि स्वयं कहते हैं—

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥ (२२/२३)

ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टि के द्वारा संस्कृत महाकाव्य के क्षेत्र में इस नयी विधा के आरम्भ की आलोचना भी हुई।

विषयवस्तु—व्याकरण के विषयों के अनुसार ही कवि ने अपने महाकाव्य को निम्नलिखित चार कांडों में विभाजित किया है—प्रकीर्ण, अधिकार, सुबंत तथा तिङ्त। व्याकरण की कोटियों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कवि ने महाकाव्यात्मक सौंदर्य और कथा प्रवाह का निर्वाह कुशलता के साथ किया है। तेरहवें सर्ग में प्राकृत भाषा का ज्ञान कराने के लिए श्लोकों की रचना इस प्रकार की है कि प्रत्येक श्लोक संस्कृत या प्राकृत दोनों भाषाओं में समान रूप से पढ़ा जा सकता है। दसवें सर्ग में अलंकारों के क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कवि ने अपने काव्य में केवल व्याकरण ही नहीं, काव्यशास्त्र का ज्ञान कराने का भी उद्देश्य साधने का प्रयास किया है। बारहवें सर्ग में विभीषण के द्वारा रावण को दिये गये परामर्श में कवि ने राजनीति का अपना ज्ञान बड़ी निपुणता से प्रकट किया है।

व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से भट्टिकाव्य को चार काण्डों में विभाजित किया गया है—(१) प्रकीर्णकाण्ड—इसमें अष्टाध्यायी को उद्धृत नहीं किया गया है। (२) अधिकारकाण्ड—इसमें पाणिनि के अधिकार उदाहरण के रूप में उद्धृत हैं। (३) प्रसन्नकाण्ड—इसमें अलंकारों के उदाहरण दिये गये हैं। (४) तिङन्तकाण्ड—इसमें एक-एक सर्ग में एक-एक लकार के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

भट्टि ने प्रसाद गुणसम्पन्न सरल शैली में सरस रचना करने में भी अपनी कुशलता का परिचय दिया है। अनेक स्थानों पर उनके काव्य में कल्पनाओं का मनोहर विन्यास है। अलंकारों के सुन्दर उदाहरणों की भट्टि काव्य में कमी नहीं है। शरद् वर्णन में एकावली अलंकार का यह उदाहरण सुंदर है—

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं
न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं
न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥ (२/१९)

(ऐसा कोई सरोवर न था, जिसमें सुंदर कमल न खिले हों, ऐसा कोई कमल न था, जिस पर भौंरे न मँडरा रहे हों, ऐसा कोई भौंरा न था, जो सुन्दर गुंजन न कर रहा हो, तथा ऐसा कोई गुंजन न था, जो मन को न हर रहा हो।) इसी प्रकार विभीषण रावण को नीति का उपदेश देते हुए कहता है—

रामोऽपि दाराहरणेन तप्तो वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः।
तप्तेन तप्तस्य यथायसो नः सन्धिः परेणास्तु विमुञ्च सीताम्॥ (१२/४०)

(राम भी अपनी पत्नी के हरण से तप्त हैं, हम मारे गये अपने जैसे अपने बंधुजनों के कारण तप्त हैं। जैसे तप्त लोहे से तप्त लोहा जुड़ जाता है, वैसे ही हमारी शत्रु राम से संधि हो सकती है, आप सीता को छोड़ दीजिये।)

यहाँ तप्त (दुःखी, तपाया हुआ) शब्द में श्लेष के साथ उपमा का प्रयोग चित्ताकर्षक है।

भट्टि गौडी और वैदर्भी दोनों प्रकार की रीतियों में रचना करने में दक्ष हैं। परशुराम के रौद्र रूप को दिखाने के लिए उन्होंने विकट शब्द विन्यास का प्रयोग कर दिया है—

विशङ्कटो वक्षसि बाणपाणिः सम्पन्नतालद्वयसः पुरस्तात्।
भीष्मो धनुष्मानुपजान्वरत्निरेति स्म रामः पथि जामदग्न्यः॥ (२/५०)

भाषा-शैली के चमत्कार और निखार के साथ शब्दसौष्ठव व साधु शब्दों का ज्ञान कराते हुए भट्टि की रचना बहुविध प्रयोजनों की पूर्ति करती है। खर-दूषण के संग्राम के वर्णन में प्रत्ययों का प्रयोग इसका उदाहरण है—

निराकरिष्णू वर्तिष्णू वर्धिष्णू परितो रणम्।
उत्पतिष्णू सहिष्णू च चेरतुः खरदूषणौ॥ (५/१)

टीकाएँ—शास्त्रकाव्य होने के कारण भट्टिकाव्य को सुबोध बनाने तथा इसमें निहित व्याकरण का ज्ञान सुलभ कराने के लिए इस पर अनेक टीकाएँ लिखी जाती रहीं। दसवीं शती से तेरहवीं शती के बीच जयमंगल, कुमुदानंद, केशवशर्मा, अनिरुद्ध तथा कंदर्पशर्मा ने, तथा चौदहवीं शती से अठारहवीं शती के मध्य नारायण विद्याविनोद, पुंडरीकाक्ष, पेडंडभट्ट, भरतमल्लिक, मल्लिनाथ, राघव, रामचंद्र, विद्याविनोद, विद्यासागर, श्रीधर, श्रीनाथ आदि ने इस पर टीकाएँ लिखीं। अनेक टीकाएँ अज्ञातकर्तृक भी मिलती हैं।

माघ : शिशुपालवध

परिचय— भारवि के किरातार्जुनीय और श्रीहर्ष के नैषधचरित के साथ माघ का शिशुपालवध संस्कृत महाकाव्यों की बृहत्त्रयी में परिगणित है। भारवि ने संस्कृत महाकाव्य के क्षेत्र में जिस विचित्र मार्ग का संधान किया, माघ ने उसको नयी ऊँचाइयाँ दीं।

शिशुपालवध के अंत में कवि माघ ने अपना संक्षिप्त वंशपरिचय दिया है। इसके अनुसार इनका जन्मस्थान भीनमाल था। वर्तमान में भीनमाल राजस्थान के सिरोही जिले में एक तहसील है। प्राचीन काल में यह अनेक विद्वानों की जन्मस्थली रहा है। ज्योतिष के प्रख्यात् आचार्य ब्रह्मगुप्त ने ६२५ ई० के लगभग इसी नगर में ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त नामक अपने ग्रंथ की रचना की थी। इनके पितामह का नाम सुप्रभदेव था। ये राजा वर्मलात या श्रीवर्मल के सर्वाधिकारी थे। माघ ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि

वे अनासक्त चित्त वाले, विरागी स्वभाव के देवतातुल्य पुरुष थे। सुप्रभदेव के दत्तक नामक अत्यन्त उदार, क्षमाशील, धर्मपरायण और मदु स्वभाव के पुत्र हुए। सबकी सहायता करने के लिए सदा तत्पर रहने के कारण इनका नाम सर्वाश्रय या सबको आश्रय देने वाला पड़ गया था। इन्हीं दत्तक के पुत्र माघ थे। राजा वर्मलात कब और कहाँ राज्य करते थे, इस प्रश्न का आज तक प्रामाणिक उत्तर नहीं मिल सका है। शिशुपालवध की किसी पोथी में वर्मलात के स्थान पर धर्मनाभ यह पाठ भी मिलता है, जिससे यह समस्या और उलझ जाती है। राजस्थान के वसंतगढ़ नामक स्थान पर वर्मलात नामक राजा का एक शिलालेख मिला है। शिलालेख ६२५ ई० में उत्कीर्ण किया गया। इसी राजा वर्मलात को माघ के पितामह का आश्रयदाता माना जा सकता है। तदनुसार माघ का समय ६७५ ई० के आसपास मानना उचित है।

जैन कवि चंद्रप्रभ सूरि ने १३३४ विक्रमाब्द में प्रभावकचरित की रचना की थी। उसमें उन्होंने माघ के सम्बन्ध में यह विवरण दिया है—"गुर्जर देश के समृद्धिमान् नगर श्रीमाल के राजा वर्मलात का मंत्री सुप्रभदेव था। उसके दो पुत्र हुए—दत्त और शुभंकर। दत्त का पुत्र माघ था। बचपन से ही विद्वान् राजा भोज उसका मित्र था। माघ का चाचा शुभंकर बड़ा दानी हुआ। उसके पुत्र का नाम सिद्धनायक था। इसने बाद में जैनधर्म में दीक्षित होकर उपमितिभवप्रपंचकथा नामक ग्रंथ की रचना की।"

माघ के रचनाकाल के विषय में अन्य प्रमाण काव्यशास्त्र के ग्रंथों में प्राप्त उनके उद्धरण तथा काव्यों में उनके उल्लेख हैं। वामन ने अपने काव्यालंकारसूत्र तथा आनंदवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में उनके महाकाव्य से कतिपय पद्य उद्धृत किये हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि वामन के समय अर्थात् नवम शताब्दी के प्रथम चरण तक शिशुपालवध महाकाव्य सारे देश में प्रतिष्ठित हो चुका था। राजा अमोघवर्ष (८१४ ई०) के आश्रित कवि नृपतुंग ने अपने कन्नड ग्रंथ "कविराजमार्ग" में माघ को कालिदास का समकक्ष माना है। इससे विदित होता है कि आठवीं-नवीं शताब्दियों में माघ की ख्याति कश्मीर से लगा कर दक्षिण तक फैल चुकी थी।

माघ के काल निर्णय के विषय में शिशुपालवध (२/११२) में वृत्ति और काशिका का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। काशिकावृत्ति का रचनाकाल ६५० ई० है। माघ इस ग्रंथ से परिचित प्रतीत होते हैं। न्यास काशिकावृत्ति पर ही लिखी गयी टीका है। जिनेंद्रबुद्धि ने काशिका पर 'विवरणपंजिका' नाम से टीका लिखी थी। यह टीका भी न्यास के नाम से जानी जाती है, पर जैसा जिनेंद्रबुद्धि स्वयं बताते हैं, उनके पहले भी काशिका पर अनेक न्यास लिखे जा चुके थे। ऐसी स्थिति में माघ का समय काशिकावृत्ति की रचना के आसपास माना जा सकता है।

विषयवस्तु—शिशुपालवध महाकाव्य में बीस सर्गों में तथा कुल १६५० श्लोकों में श्रीकृष्ण के द्वारा शिशुपाल नामक दुराचारी राजा का वध करने की कथा निरूपित है। पहले सर्ग में नारद द्वारका में आते हैं और श्रीकृष्ण को शिशुपाल के संहार के लिए प्रेरित करते हैं। दूसरे सर्ग में श्रीकृष्ण को युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का समाचार मिलता

है, और वे इस विषय पर बलराम और उद्धव से परामर्श करते हैं कि पहले शिशुपाल का वध करने के लिए प्रस्थान करें या राजसूय यज्ञ में जायें। फिर वे उद्धव के इस परामर्श को मान लेते हैं कि पहले युधिष्ठिर के यज्ञ में जाना उचित होगा। तीसरे से तेरहवें सर्गों में श्रीकृष्ण का द्वारका से प्रस्थान, मार्ग में रैवतक पर्वत (जो वर्तमान में गिरनार पर्वत के नाम से जाना जाता है) पर उनकी सेना का पड़ाव, रैवतक पर विहार, षड्ऋतु आदि का वर्णन करते हुए मंथर गति से महाकवि श्रीकृष्ण की यात्रा को आगे बढ़ाते हैं और यमुना पार कर श्रीकृष्ण इंद्रप्रस्थ नगर पहुँचते हैं। तेरहवें सर्ग में पांडवों का श्रीकृष्ण से मिलन वर्णित हैं। चौदहवें सर्ग में श्रीकृष्ण राजसूय यज्ञ में सेवाकार्य करने का संकल्प व्यक्त करते हैं। युधिष्ठिर उन्हें अपने यज्ञ का रक्षक बना लेते हैं। पंद्रहवें सर्ग में शिशुपाल यज्ञ में श्रीकृष्ण के सम्मान को सह नहीं पाता है व राजाओं को उनका अपमान करने के लिए भड़काता है। फिर वह अपने शिविर में जाकर श्रीकृष्ण पर आक्रमण की योजना बनाने लगता है। सोलहवें सर्ग में शिशुपाल का दूत श्रीकृष्ण के पास आता है और उन्हें चुनौती देता है। श्रीकृष्ण की सेना भी युद्ध के लिए तैयार होने लगती है। अठारहवें और उन्नीसवें सर्गों में दोनों सेनाओं की विकट भिड़त का वर्णन हैं और अंत में बीसवें सर्ग में श्रीकृष्ण के द्वारा शिशुपाल के वध का वर्णन है।

कथा की दृष्टि से माघ के महाकाव्य .का मूल स्रोत महाभारत का सभापर्व है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में भी युधिष्ठिर के यज्ञ में शिशुपालवध की कथा महाभारत के अनुसार मिलती है। कथानक में उन्होंने किंचित् परिवर्तन किया है। महाभारत में राजसूय यज्ञ के अवसर पर श्रीकृष्ण को सहदेव अर्घ्य देते हैं, माघ ने श्रीकृष्ण की महिमा के अनुरूप युधिष्ठिर से यह कार्य कराया है। प्रथम दो सर्गों में नारद का द्वारका आगमन तथा श्रीकृष्ण का बलराम और उद्धव से परामर्श का वृत्तांत भी माघ की अपनी कल्पना है, जिसकी प्रेरणा निश्चय ही उन्हें भारवि के किरातार्जुनीयम् से मिली। तीसरे सर्ग से लेकर बारहवें सर्गों तक के विविध वर्णन तो माघ ने अपनी सूझबूझ से ही संयोजित किये हैं।

भारवि का प्रभाव—शिशुपालवध की पूरी संरचना और वर्ण्यविषयों के संयोजन में भारवि के महाकाव्य का अनुवर्तन निरन्तर किया गया है। माघ ने किरातार्जुनीयम् की श्रेष्ठता तथा प्रतिष्ठा से प्रभावित होकर अपनी रचना को उससे अधिक उत्कृष्ट बनाने का प्रयास किया है। किरातार्जुनीयम् में व्यास युधिष्ठिर को परामर्श देते हैं, तो यहाँ नारद श्रीकृष्ण को परामर्श देते हैं। भारवि के काव्य में युधिष्ठिर, द्रौपदी तथा भीम से मंत्रणा करते हैं, तो यहाँ श्रीकृष्ण, बलराम और उद्धव से। अंतिम सर्गों में युद्ध का वर्णन माघ ने किरातार्जुनीयम् के ही समान किया है। 'किरातार्जुनीयम्' में जिस प्रकार हिमालय पर अप्सराओं और गंधर्वों का विहार और विलास वर्णित है, उसी प्रकार शिशुपालवध में श्रीकृष्ण के दल के लोगों का। भारवि ने हिमालय के वर्णन में यमक अलंकार की छटा बिखेरी है, तो माघ ने रैवतक पहाड़ के वर्णन में। किरातार्जुनीयम् में एक ही सर्ग (पंचम) में भारवि ने सोलह अलग-अलग प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है, तो माघ ने एक ही सर्ग (चतुर्थ) में चौबीस प्रकार के विविध

छंद गूँथ दिये हैं। किरात में पंद्रहवें सर्ग में चित्रकाव्य का विन्यास है तो शिशुपालवध में उन्नीसवें सर्ग में। किरातार्जुनीयम् श्र्यंक महाकाव्य है, तो शिशुपालवध लक्ष्म्यंक।

महाकाव्य के लक्षणों की अन्विति—टीकाकार मल्लिनाथ ने शिशुपालवध में महाकाव्य के लक्षणों की अन्विति दिखाते हुए कहा है—

नेतास्मिन् यदुनन्दनः स भगवान् वीरप्रधानो रसः
शृङ्गारादिभिरङ्गवान् विजयते पूर्णा पुनर्वर्णना।
इन्द्रप्रस्थगमाद्युपायविषयश्चैद्यावसादः फलं
धन्यो माघकविर्वयं तु कृतिनस्तत्सूक्तिसंसेवनात्॥

चरित्र-चित्रण—शिशुपालवध में नायक श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार तथा समग्र विभूतियों से युक्त हैं। पर वे आदर्श मानव के रूप में भी अपने श्रेष्ठ गुणों का प्रदर्शन करते हैं। राजसूय यज्ञ में वे सेवक की भाँति कार्य करने को तत्पर रहते हैं। अपने फुफेरे भाई और बड़े होने के कारण युधिष्ठिर को मान देते हुए वे पहले रथ से उतर कर उनका सम्मान करते हैं।

रस—शिशुपालवध का अंगीरस वीर है। माघ ने अपने आराध्य तथा महाकाव्य के नायक श्रीकृष्ण को शौर्य, धैर्य, गांभीर्य के प्रतिमान के रूप में प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार भारवि ने अपने महाकाव्य में अर्जुन के चरित्र के द्वारा एक आदर्श वीर का चरित्र-चित्रण निरूपित किया है, उसी प्रकार शिशुपालवध में नायक श्रीकृष्ण के चरित्र के द्वारा कवि ने वीर पुरुष की अपनी परिकल्पना को साकार किया है। महाकाव्य के अंतिम चार सर्गों में युद्ध का वर्णन जितना ओजस्वी तथा प्रवाहपूर्ण है, उतना ही चमत्कारमय भी। छठे से ग्यारहवें सर्ग तक के वर्णनों में शृंगार रस को ही मुख्यता मिली है। छठे सर्ग में प्रकृति को उन्होंने प्रेम के रंग में रँग कर प्रस्तुत किया है, तो सातवें सर्ग में शृंगारित अनुभवों का ही चित्रण किया है। नवम सर्ग में तो श्रीकृष्ण की सेना के लोगों के विलास और विहार में शृंगार की अखंड धारा बहा दी है।

संस्कृत महाकवियों के बीच माघ की एक दुर्लभ विशेषता उनकी विनोदप्रियता तथा शिष्टहास्य की प्रवृत्ति है। शृंगार और वीररसों के साथ हास्य ने अंग के रूप में उनके महाकाव्य में जितनी छटाएँ बिखेरी हैं, उतनी अन्य किसी संस्कृत महाकाव्य में कदाचित् न मिलेंगी। हाथी से डर कर गधा उलार भरता है, तो उसकी पीठ पर बैठी अवरोधवधू गिर पड़ती है, उससे श्रीकृष्ण की सेना में हँसी का फव्वारा फूट पड़ता है। (५/७)। गाड़ी की धुरी टूट जाने से मिट्टी के बर्तन फूट जाते हैं, और उन्हें बेचने के लिए लाया बनिया जिस तरह पछताता है, उसमें भी माघ की विनोदप्रियता झलक उठती है। धान के खेत की रखवाली करने वाली स्त्री की परेशानी का तो माघ अच्छा आनंद लेते हैं। वह जब तक एक ओर से हमला बोलते, तोतों का झुंड भगाने को दौड़ती है, तब तक दूसरी ओर से हरिणी का यूथ खेत पर धावा बोल देता है, वह कभी इधर भागती है, कभी उधर—

स व्रीहिणां यावदुपासितुं गताः
शुकान् मृगैस्तावदुपद्रुतश्रियान्।

केदारिकाणामभितः समाकुलाः
सहासमालोकयति स्म गोपिकाः॥ (१२/४२)

इसी प्रकार अंग के रूप में वात्सल्य का सुमधुर परिपोष माघ ने अपनी कविता में किया है, जिसमें उनके स्नेह से छलकते मन की झलक मिलती है। युद्ध के लिए अपने परिवार से विदा लेते सैनिकों का वर्णन अत्यंत हृदयद्रावक है। करुणरस का इस रूप में परिपोष अन्य किसी महाकाव्य में न मिलेगा। इसी प्रसंग में माघ ने अपने पिता से लिपटते एक शिशु के चित्रण में तो करुण और वात्सल्य का अनूठा समागम रच दिया है—

व्रजतः क्व तात व्रजसीति परिचयगतार्थमस्फुटम्।
धैर्यमभिनदुदितं शिशुना जननीनिर्भर्त्सनविवृद्धमन्युना॥ (१५/८७)

(जाते हुए पिता से अपनी अस्पष्ट तोतली वाणी में शिशु ने पूछा कि कहाँ जा रहे हो, तो उसके प्रश्न को केवल उसके माता-पिता ही समझ सके, जिन्हें उसकी अटपटी वाणी समझने का अभ्यास था। उसकी माँ ने उसे डपटा, तो बच्चा बहुत रिसा उठा। बच्चे का इस तरह पूछना पिता के धैर्य को तोड़ दिया।)

संस्कृत महाकवियों में माघ अकेले हैं, जिन्होंने युद्ध के लिए प्रयाण के अवसर पर सैनिकों की पत्नियों की मिश्रित भावनाओं और गहरी करुणा को वाणी दी है। रसमिश्रण और भावशबलता की स्थितियाँ रचने में माघ अप्रतिम हैं। पंद्रहवें सर्ग में उन्होंने वीर रस के अंगित्व में शृंगार, हास्य, करुण आदि रसों को गूँथ दिया है और नाना भावों की लड़ी भी रच दी है।

भाषा-शैली—विविधता की दृष्टि से माघ की भाषा और शैली अपूर्व ही कही जा सकती है। वे युद्ध और पराक्रम के वर्णन के प्रसंगों में गाढबंध और ओजस्वी काव्य का निदर्शन प्रस्तुत करते हैं, तो शृंगार और सौंदर्य के वर्णनों में उनकी कविता कोमलता और मसृणता का अप्रतिम रूप बन जाती है। उन्होंने स्वयं कहा भी है—''नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः''—रसभाव को जानने वाले कवि के लिए केवल ओजोगुण या केवल प्रसाद गुण की कविता पर्याप्त नहीं, वह दोनों प्रकार की कविता में दक्ष होता है। अपनी शैली के अनूठेपन के द्वारा माघ ने अपनी स्वयं की ''क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः''—इस उक्ति को भी चरितार्थ कर दिया है। संस्कृत के पंडित समाज में माघ की भाषा की अपार समृद्धि को लेकर यह उक्ति प्रसिद्ध है—'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते'—अर्थात् माघ के काव्य के पहले नौ सर्गों का ही अध्ययन कर लिया जाये, तो संस्कृत भाषा में कोई भी शब्द अध्येता के लिए नया नहीं रह जाता। नये शब्दों या नये मुहावरों को रचने में माघ पटु हैं। एक समीक्षक ने उन्हें अलंकृत शब्दों का उद्‌भावक कहा है। व्याकरण पर अपने असाधारण अधिकार के कारण जहाँ माघ बिभराम्बभूव, मध्येसमुद्रम्, पारेजलम्, वैरायते, निषेदिवान् जैसे रूपों का प्रयोग करके अपनी शैली को निखार देते हैं, तो

भाषा और पदावली की लय और नाद से विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने में भी वे अपनी असाधारण निपुणता का परिचय देते हैं। जब वे भौंरे के गुंजार का वर्णन करते हैं तो उनके शब्द भौंरों के गुंजन का अनुनिनाद उत्पन्न कर देते हैं, जब वे वायु के बहने का वर्णन करते हैं, तो उनके शब्द उस बहाव की सरसराहट का प्रत्यय अपनी ध्वनियों के द्वारा देने लगते हैं—

विलुलितालकसंहतिरामृशन् मृगदृशां श्रमवारिललाटजम्।
तनुतरङ्गततिं सरसां दलत् कुवलयं वलयन् मरुदाववौ॥

(शिशुपालवध, ६/३)

भाषा माघ में भावों की चेरी हो गयी है। पदावली मानो कवि के संकेतों पर थिरकती और नृत्य करती हुई अगणित भंगिमाओं में उतरती चली आती है। श्रीकृष्ण की रैवतक पर्वत को देखने की उत्सुकता के वर्णन में वे कहते हैं—उत्कं धरं द्रष्टुमवेक्ष्य शौरिमुत्कन्धरं दारुक इत्वुवाच—(४/१८)। इसमें उत्कं धरं का यमक भाव के अनुरूप है और उक्ति के प्रभाव को द्विगुणित कर देता है। नृसिंह के द्वारा हिरण्यकशिपु के वक्षःस्थल को चीरने के उल्लेख उस दृश्य की द्रुतगति और भयानकता को अपने अनुनाद में साकार कर देता है।

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह सैंहीमतनुं तनुं त्वया।
समुग्धकान्तास्तनभङ्गुरैरुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः॥

(शिशुपालवध, १/४७)

यमक और अनुप्रास की लड़ियाँ अपने वर्ण्यविषय की माला में पिरोने में माघ परम निपुण हैं। पदलालित्य और परिष्कार में उन्होंने संस्कृत कविता को शिखर पर पहुँचाया है। विषयवस्तु के अनुरूप संगीतात्मकता तथा अनुप्रास का विन्यास करने में वे दक्ष हैं। निम्नलिखित श्लोक में शृंगार रस के अनुरूप कोमलकांत पदावली का विन्यास करते हुए उन्होंने वसंत की अभिरामता तथा भ्रमरी के गुंजन की प्रतीति नादसौंदर्य के द्वारा करायी है—

मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मदुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे॥ (६/२०)

वसंतवर्णन में ही अधोलिखित पद्य में यमक का चमत्कारपूर्ण प्रयोग सौंदर्य तथा रस का परिपोष करने वाला बन गया है—

नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोहरैः॥ (६/२)

अनेक नये शब्द माघ ने संस्कृत भाषा को दिये हैं। जैसे क्षीणकटि वाली सुंदरी के लिए शातोदरी (५/२३), सींच दिया इस भाव के लिए उक्षाम्बभूवुः (५/३२), गाय को बाँधने की रस्सी के लिए नियान (१२/४१), कंचुकी के लिए सौविदल्ल आदि।

वर्णनकला—सहजता के साथ सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा वस्तुजगत् का गहरा ज्ञान माघ के वर्णनों की विशेषता है। आकाश से उतरते नारद के वर्णन में वे कहते हैं—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥ (१/३)

(दूर से देखने पर श्रीकृष्ण को लगा कि कोई ज्योति का पुंज आकाश से उतर रहा है। नारद कुछ और नीचे आये, तो लगा कोई शरीरधारी है। और भी नीचे आने पर पता चला कि कोई मनुष्य है, जिसके हाथ-पाँव आदि अंग अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं तथा नारद जब धरती के एकदम निकट आ गये, तो श्रीकृष्ण ने पहचाना कि ये तो नारद हैं।)

माघ ने नगरों, पर्वत व नदियों तथा मानवचरित्रों के अनूठे वर्णनों से अपने महाकाव्य को अलंकृत किया है। वे किसी भी दृश्य को उसके सहज प्रकृत रूप में विशद चित्र अंकित कर देने में जितने पटु हैं, उतने ही निपुण वे वर्ण्य को अपनी कल्पनाओं से मंडित करके और भी रमणीय बनाने में हैं। उनका रैवतक पर्वत का वर्णन जितना चमत्कारपूर्ण है, उतना ही सरस भी। इस वर्णन का निम्नलिखित पद्य पंडित समाज में बड़ा लोकप्रिय हुआ है और इसके आधार पर माघ को घंटामाघ की उपाधि मिली—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्ज्वावहिमरुचौ हिम्नधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्॥ (४/२०)

(एक ओर से ऊपर फैलती किरणों वाला तथा प्रकाशमान सूर्य उदित हो रहा है, दूसरी ओर से हिमधाम चंद्रमा अस्त हो रहा है। ऐसे में रैवतक पर्वत ऐसे हाथी के समान लगता है जिसके माथे के दोनों ओर दो घंटे बँधे हुए हों।)

जनसमाज या आम लोगों की सहज स्वाभाविक चेष्टाओं का वर्णन करने में तो माघ संस्कृत महाकवियों में बेजोड़ हैं। श्रीकृष्ण की सेना में चलने वाले सिपाहियों, पहरेदारों, दास-दासियों, दूकान सजाने वाले बनियों आदि की चेष्टाओं का उन्होंने ऐसा रोचक और यथार्थ विवरण दिया है कि वह भारतीय समाज की मनोहर झाँकी प्रस्तुत कर देता है। घोड़े द्वारा कुचलने से अपने बच्चे को बचाने को दौड़ पड़ी माँ का यह चित्र है—

अवेक्षितानायतवल्गमग्रे तुरङ्गिभिर्यत्ननिरुद्धवाहैः।
प्रक्रीडितान् रेणुभिरेत्य तूर्णं निन्युर्जनन्यः पृथुकान् पथिभ्यः॥ (वही, ३/३०)

स्वभावोक्ति अलंकार के प्रयोग में तो माघ अप्रतिम हैं। किसी भी दृश्य को वे उसकी सारी विशेषताओं के साथ चित्र की भाँति आँखों के सामने साकार कर देते हैं। उनकी स्वभावोक्तियों की दुर्लभ विशेषता है सूक्ष्म पर्यवेक्षण और अपने समय के समाज और देशकाल का गहरा ज्ञान। अपनी पारी समाप्त होने पर पहरुआ दूसरे पहरेदार को जगा रहा है। माघ का नींद में बेसुध पहरेदार का वर्णन अत्यंत यथार्थ है—

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जाग्रहीति।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
दददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः॥ (११/४)

शिशुपालवध के ग्यारहवें और बारहवें सर्गों में ग्रामजीवन का चित्रण बड़ा स्वाभाविक तथा सरस है। दही मथते हुए ग्वालों की या मंडली बनाकर बतकाव करते और मदिरा पीते गाँव के लोगों की चेष्टाएँ (११/८ तथा १२/३८) माघ ने साकार कर दी हैं, जबकि प्रेम से अपने बछड़े को चाटती गाय को जो ग्वाला दुह रहा है, घुटनों के बीच बर्तन दबा कर उसके बैठने का ढंग तथा दूध की धाराओं के बर्तन में गिरने की बढ़ती धुन—इन सबको माघ ने अपने सूक्ष्म पर्यवेक्षण से जस का तस शब्दों में उतार दिया है—

प्रीत्या नियुक्तान् लिहती: स्तन्धयान्
निगृह्य पारीमुभयेन जानुनो:।
वर्धिष्णु धाराध्वनि रोहिणी: पय-
श्चिरं निदध्यौ दुहत: स गोदुह:॥ (१२/४०)

पशुओं की सहज चेष्टाओं को भी इसी प्रकार माघ ने अनेकत्र अपने शब्दों में उतारा है। गाय किस प्रकार बछड़े को अपनी ओर आता देख कर अपना झुंड छोड़ कर उसकी ओर दौड़ पड़ती है, ऊँट किस प्रकार अचानक बिलबिला उठता है—ये दृश्य माघ के वर्णनों में चित्त में उतरते चले जाते हैं। प्रकृति का मानवीकरण करने में भी माघ ने बहुवर्णी कल्पनाओं की छटाएँ बिखेरी हैं। रैवतक पर्वत से निकल कर समुद्र की ओर जाने वाली नदियों की तुलना वे इठलाती हुई कन्याओं से करते हैं, जो पिता रैवतक से विदा लेकर जब चल देती है, तो वह पक्षियों के कलरव के बहाने से रोता हुआ लगता है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिता: पुर: पतिमुपैतुमात्मजा:।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयेव निम्नगा:॥

(शिशुपालवध, ४/४७)

इस पद्य में उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग चमत्कारपूर्ण है। इसी प्रकार प्रभात में उगते सूर्य को माघ ऐसे शिशु के रूप में देखते हैं, जो उदयगिरि के आँगन में घुटनों के बल रेंगता-रेंगता, खिलती पद्मिनी के द्वारा हँस-हँस कर देखा जाता हुआ, चहचहाती चिड़ियों के द्वारा खिलाया जाता हुआ अपनी कोमल किरणरूपी बाँहें फैला कर प्राचीरूपी रमणी की गोद में आ गिरा है—

उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिङ्गन्
सकमलमुखहासं वीक्षित: पद्मिनीभि:।
विततमृदुकराग्र: शब्दयन्त्यावयोभि:
परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्य:॥ (११/४७)

माघ के वर्णनों की विशेषता उनका समाज का गहन अनुशीलन और पर्यवेक्षण है। विभिन्न द्वीपों पर अपना सामान बेंच कर नौकाओं में धन लाद-लाद कर स्वदेश लौटने वाले वणिक् (३/७६), सैनिकों, राजसेवकों, दासियों व वेश्याओं की विविध चेष्टाएँ (५/१४-१८), सेना के पड़ाव तथा बाजार के दृश्य (५/२४), गाँव के लोग, खेत के मजदूर, ग्वाले और ग्वालिनें, (५.३३; ११/८, २९-५४) आदि सरस शब्दचित्र उनके महाकाव्य के विस्तृत फलक पर सूक्ष्म व विशद रूप में अंकित हुए हैं।

वर्णनों में कल्पना और उक्तिवैचित्र्य की छटाएँ प्रकट करने में माघ ने निश्चित रूप से भारवि को पीछे छोड़ दिया है। उनकी सूझबूझ अनोखी है। उसमें अतिशयोक्ति तथा मानसिक व्यायाम की ओर झुकाव भी कालिदास और भारवि जैसे महाकवियों की तुलना में अधिक है। द्वारका के वर्णन में वे कहते हैं—"चाँदनी में मिलकर द्वारका के महलों की सफेद कतारें विलीन हो जाती थीं, तो छत पर खड़ी स्त्रियाँ आकाश में टँगी-सी लगती थीं" (३.४३)। वे प्रस्तुत और अप्रस्तुत की श्लेषमूलक उपमा या श्लेषमूलक विरोधाभास के द्वारा तुलना भी करते हैं। रंगों की छटाओं के परस्पर मिलने से बनने वाले दृश्यों की कल्पना करने में भी माघ भारवि से आगे बढ़कर बाण से होड़ लेते लगते हैं। नारद और कृष्ण मिलते हैं, तो दोनों की शरीर की आभा का सम्मिश्रण ऐसा लगता है, जैसे पलाश के पत्तों में ज्योत्स्ना जा छिपी हो (१/२१)। द्वारका में घर की देहलियों में नीलम मणियाँ जड़ी हुई हैं, उनकी आभा से घर लिपे-लिपे से लगते हैं, तो बरामदे में गोबर लीपने के लिए तैयार होकर आयी गृहिणियाँ अभी-अभी लीप दिया है, यह समझ कर बिना लीपे रह जाती हैं। मोर उन घरों में छज्जे पर आकर बैठ जाते हैं, तो उनके रंगबिरंगे पंखों में नीलम मणि और हरी घास का आभास होने लगता है और घर ऐसे लगते हैं जैसे उन पर अभी-अभी फूस छाया गया हो (३/४७.४८)।

पांडित्य—माघ का पांडित्य सर्वंकष कहा जा सकता है। अपने युग के विद्या, ज्ञानविज्ञान और शिल्प-कला के विविध अनुशासनों में कोई भी ऐसा नहीं था जिसकी प्रामाणिक जानकारी उन्हें न हो। वेद, छहों वेदांग, पुराण-इतिहास, दर्शन, राजनीति, कर्मकांड, आयुर्वेद, धनुर्वेद, संगीत, पाककला, कामशास्त्र आदि पर उन्होंने अच्छा अधिकार अपने महाकाव्य में अनेकत्र प्रदर्शित किया है। वे इन शास्त्रों के जटिल पारिभाषिक शब्दों का यथावसर प्रयोग करते हैं। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के वर्णन में उनका कर्मकांड का ज्ञान प्रतिफलित हुआ है। इसमें ऋत्विजों के द्वारा अनुवाक्य तथा याज्या का प्रयोग, सामगान में ऊह का प्रयोग, स्वरविधि, इत्यादि का निर्देश है। सांख्य, योग, वेदांत, आदि दर्शनों में माघ की असाधारण गति है। योग दर्शन के अपने अध्ययन के कारण वे रैवतक पर्वत को समाधि में स्थित रहने वाले योगीजनों की मोक्षभूमि के रूप में बड़े प्रभावशाली ढंग में चित्र करते हैं—

मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय
क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः।
ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम्॥ (शिशुपालवध, ४/५५)

शिशुपालवध के प्रथम दो सर्ग माघ के राजनीतिविषयक ज्ञान के चूडांत निदर्शन हैं। बौद्धदर्शन में भी माघ का गहन अभिनिवेश था। संगीत के पारिभाषिक शब्दों के साथ वे मड्डुक तथा काहल जैसे उस काल के वाद्ययंत्रों का भी उल्लेख करते हैं। अश्वशास्त्र तथा गजशास्त्र को तो माघ ने विधिवत् परिशीलन किया था ऐसा प्रतीत होता है। हाथियों के प्रकार व स्वभाव का उनका ज्ञान विशेषज्ञ के समान है।

छन्दोविधान—माघ ने ४१ प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है, जबकि भारवि के द्वारा प्रयुक्त छंदों की संख्या २४ है। इस प्रकार छंदों की विविधता की दृष्टि से भी माघ भारवि से आगे जाने का प्रयास करते हैं। भावों के अनुरूप छंदों का प्रयोग माघ में सर्वत्र मिलता है। उनका प्रिय छंद अनुष्टुप् है, जिसमें वाल्मीकि और व्यास की आर्ष वाणी का प्रभाव और सरलता तथा सरसता है। अनुष्टुप् के अतिरिक्त उन्होंने उपजाति, वसंततिलका, स्वागता, रथोद्धता, प्रमिताक्षरा, औपच्छंदसिक, शालिनी, वैतालीय, पुष्पिताग्रा, वंशस्थ, मालिनी, द्रुतविलंबित आदि छंदों का बहुलता से प्रयोग किया है। भारवि ने एक सर्ग में कई प्रकार के छंदों का एकसाथ प्रयोग किया है, तो माघ ने चौथे सर्ग में २२ और छठे सर्ग में ११ प्रकार के छंद एकसाथ रख दिये हैं।

सूक्तियाँ

माघ की सूक्तियों में पांडित्य, विचारप्रवणता, जीवनानुभव तथा प्रेरणाप्रद संदेशों का समावेश हुआ है। पूरे महाकाव्य में उत्कृष्ट सूक्तियाँ पदे-पदे गुँथी हुई हैं। उदाहरणार्थ—

आरम्भन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः॥ (२/७९)

(अज्ञ जन थोड़े से काम में ही हाथ डालते हैं, और उसी में घबरा उठते हैं। महान् कार्य करने वाले दृढ़ निश्चयी लोग निराकुल होकर काम पूरा करते रहते हैं।)

विदुरेष्यदपायमात्मना परतः श्रद्दधतेऽथवा बुधाः। (१६/४०)

(बुद्धिमान् व्यक्ति आने वाली विपत् को स्वयं भाँप लेता है, ये दूसरों से संकेत मिलने पर समझ जाता है।)

अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं नहि गोमायुरुतानि केसरी। (६/५)

(सिंह बादल की गड़गड़ाहट का अनुकरण करता है, सियारों की हुआँ-हुआँ का नहीं।)

परिभवोऽरिभवो हि सुदुस्सहः।

(शत्रु से मिलने वाला अपमान असह्य होता है।)

श्रेयसि केन तृप्यते।

(मंगलमय कार्यों में किसे तृप्ति होती है?)

सदाभिमानैकधना हि मानिनः।

(मनस्वियों का एकमात्र धन उनका स्वाभिमान ही है।)

महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः।

(महान् लोग स्वभाव से मितभाषी होते हैं।)

सर्वः स्वार्थं समीहते।

(सब अपना स्वार्थ देखते हैं।)

समय एव करोति बलाबलम्।

(समय ही किसी को बलवान् या निर्बल बनाता है।)

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

(जो प्रतिक्षण नया-नया होता जाता है, वही रमणीयता का सच्चा रूप है।)

महतामितरेतरोपकृतिमच्चरितम्।

(महापुरुषों का चरित दूसरों के उपकार के लिए होता है।)

नैवात्मनीनमथवा क्रियते मदान्धैः।

(मद से अंधे लोग अपना हित नहीं कर सकते।)

शिशुपालवध की टीकाएँ—शिशुपालवध की पुरानी टीकाओं में मल्लिनाथकृत सर्वंकषा तथा वल्लभदेवकृत संदेहविषौषधि महत्त्वपूर्ण हैं। चौदहवीं शताब्दी में जैनाचार्य ललितकीर्तिगणि ने ललितमाघदीपिका नाम से शिशुपालवध की टीका लिखी। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित टीकाकारों ने भी शिशुपालवध की व्याख्याएँ लिखीं—अनंतदेवयोनि, चारित्रवर्धन, कविवल्लभ चक्रवर्ती, चंद्रशेखर, दिनकर, देवराज, बृहस्पति, भगदत्त, भगीरथ, भरतसेन, महेश्वर, पंचानन, लक्ष्मीनाथ तथा श्रीरंगदेव। प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के संग्रहालय में इस महाकाव्य पर सरस्वतीतीर्थ की एक अपूर्ण प्राचीन टीका उपलब्ध है। इसी प्रकार मूलदेवी तथा विष्णुदासात्मज इन दोनों द्वारा विरचित एक अन्य अपूर्ण टीका भी हस्तलिखित रूप में मिलती है।

पारम्परिक समीक्षा में माघ—प्राचीन आचार्यों ने माघ की उपमा, अर्थगौरव तथा पदलालित्य—इन तीनों गुणों की प्रशंसा की है। इस सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

काव्यशास्त्र के आचार्यों में आनंदवर्धन, महिमभट्ट, अभिनवगुप्त, नमिसाधु, मम्मट आदि आचार्यों ने माघ के काव्य को सराहना के साथ उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त कला और सौन्दर्य की अवधारणाओं को स्पष्ट करने के लिए माघ के वचनों का स्मरण करते हैं। राजशेखर ने मुक्तक और प्रबंध के अंतर को माघ के एक पद्य के द्वारा समझाया है। भोज ने माघ को महाकाव्य के वैशिष्ट्य के संदर्भ में उद्धृत किया है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने उनका एक पद्य (६/२०) पांचाली रीति के उदाहरण में प्रस्तुत किया है।

भारवि तथा माघ की तुलना—माघ ने भारवि के किरातार्जुनीय को अपना आदर्श मानकर काव्य रचना की। भारवि के काव्य से महाकाव्य का जो मानक रूप तथा मानदंड स्थापित हुआ, वह माघ के लिए प्रतिमान के रूप सामने था। अतः पंडितसमाज में दोनों महाकवियों की तुलना की जाती रही है, और यह भी माना जाता रहा है कि महाकाव्य की सारी विशेषताओं में माघ भारवि से आगे बढ़ गये हैं। किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध में निम्नलिखित बिंदु समान हैं—(१) पौराणिक कथा। किरातार्जुनीय का उपजीव्य महाभारत है, शिशुपालवध का श्रीमद्भागवत। (२) दोनों अंगी रस वीर हैं। (३) दोनों में वर्ण्य विषयों का विपुल संभार है, और इन वर्ण्य विषयों की रूपरेखा भी माघ ने भारवि से प्रभावित होकर बनायी है। (४) दोनों महाकाव्यों का प्रारम्भ श्रीः पद

से होता है, तथा किरातार्जुनीय श्र्यंक महाकाव्य है, तो शिशुपालवध भी श्र्यंक है। (५) युद्ध के वर्णनों में दोनों महाकवियों ने चित्रकाव्यों का प्रयोग किया है।

पर उपर्युक्त समानताओं से यह नहीं समझा जाना चाहिये कि दोनों महाकवियों की अपनी विशिष्टताएँ नहीं हैं। वस्तुतः भारवि भारवि हैं, माघ माघ ही हैं। भारवि का अर्थगौरव और आदर्शचेतना माघ में नहीं है, तो माघ का लालित्य, लय, गेयता, कोमल संवेदनाएँ, स्नेह और वात्सल्य—ये भारवि में नहीं हैं। भारवि राष्ट्र के प्रति अपनी जागरूक चेतना के कारण संस्कृत महाकवियों में अप्रतिम हैं, तो माघ भारतीय जनता के प्रति अपने अकृत्रिम अनुराग में।

शिवस्वामी : कप्फिणाभ्युदय

परिचय—शिवस्वामी कश्मीर के निवासी थे। इनका उल्लेख आगे रत्नाकर के संदर्भ में भी किया गया है। इनका समय भी ८०० ई० से ८५० ई० के आसपास माना जा सकता है। राजा अवंतिवर्मा के शासनकाल में आनंदवर्धन आदि के समकालीन थे।

शिवस्वामी के पिता का नाम अर्कस्वामी था। ये शैव थे, पर चंद्रमित्र नामक बौद्ध आचार्य की प्रेरणा से इन्होंने **अवदानशतक** में वर्णित राजा कप्फिण के बौद्धधर्म में दीक्षित होने की कथा को लेकर महाकाव्य लिखा।

विषयवस्तु—कप्फिणाभ्युदय महाकाव्य में २० सर्ग हैं। कथावस्तु की तथा वर्ण्यविषयों की योजना में शिवस्वामी ने भारवि तथा माघ के महाकाव्यों का अनुकरण किया है। दक्षिण के राजा कप्फिण का श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित् से विरोध है। अंत में राजा कप्फिण को बुद्ध की धर्मशक्ति के सामने झुकना पड़ता है, और वह युद्ध बंद करके उनसे दीक्षा ग्रहण करता है। भारवि के किरातार्जुनीय में एक गुप्तचर युधिष्ठिर के दुर्योधन का समाचार देता है, उसी प्रकार यहाँ एक गुप्तचर प्रसेनजित् के लोकप्रिय शासन का वृत्तांत राजा कप्फिण को सुनाता है। तीसरे सर्ग में राजा कप्फिण प्रसेनजित् से लोहा लेने के लिए युद्धपरिषद् आमंत्रित करता है। चौथे सर्ग में वह प्रसेनजित् के पास अपना दूत भेजता है। षष्ठ सर्ग से षोडश सर्ग तक मलयपर्वत यात्रा, सैन्यनिवेश, षड्ऋतुवर्णन, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा, सूर्यास्त, चंद्रोदय, पानगोष्ठी, अभिसार व मिलन, प्रातःकाल तथा सैन्यप्रयाण—ये विषय विस्तार से अलंकृत शैली में निरूपित हैं। सत्रहवें सर्ग से उन्नीसवें सर्ग तक कप्फिण और प्रसेनजित् के संग्राम का वर्णन है और अंत में बीसवें सर्ग में कप्फिण के बौद्ध-धर्म में दीक्षा लेने के वृत्तांत के साथ महाकाव्य समाप्त होता है।

काव्यकला—कप्फिणाभ्युदय महाकाव्य का अंगी रस शांत है। वर्णन कला में शिवस्वामी माघ और रत्नाकर से होड़ लेते हैं। आरम्भ में विंध्य के अंचल में लीलावती नगरी तथा उसके शासक राजा कप्फिण का वर्णन भव्य तथा उदात्त अलंकार से समन्वित है। कप्फिण और प्रसेनजित् के बीच हुए युद्ध के वर्णन में वीर रस को अभिव्यक्ति मिली है। शिवस्वामी की शैली प्रसाद गुण से सम्पन्न वैदर्भी रीति का

उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। सुंदर सूक्तियों तथा प्रेरणाप्रद वचनों का उसमें मणिकांचन योग हुआ है। उदाहरणार्थ—

भवन्ति ते भाजनमर्थसम्पदां, विदन्ति ये भृत्यजनानुरञ्जनम्। (१६/२०)

(जो अपने भृत्यों का मन रखना जानते हैं, वे अर्थसम्पदा के पात्र बनते हैं।)

विपत्तयो ह्युत्तरपण्डितं नरं त्यजन्ति सिंहं हरिणाङ्गना इव। (२/३४)

(प्रत्युत्पन्न बुद्धि को विपत्तियाँ उसी प्रकार छोड़ कर चली जाती हैं, जैसे हरिणियाँ सिंह को।)

तत् सौन्दर्यं यत्साधुगुणाविष्टमदीनं
तृप्यन्त्युच्चैर्येन चक्षूंषि जनानाम्। (७/३७)

(सौंदर्य वही है, जो श्रेष्ठ गुणों से युक्त और दीनता से रहित हो, और जिससे लोगों की पूरी तरह आँखें तृप्त हो जायें।)

भाषाशैली की दृष्टि से कप्फिणाभ्युदय महाकाव्य की एक स्पृहणीय विशेषता बौद्धधर्म से सम्बद्ध पदावली का सहज ग्रहण है। विशेष रूप से बीसवें सर्ग में अवदानशतक से शब्दावली का कवि ने प्रचुर मात्रा में ग्रहण किया है। हेतुमाला, छिन्नप्लोतिक, नडागार, शास्तुः शासने, पारिपूरिः, षाडायतन्यम्, पौनर्भविष्यति आदि शब्द अवदानशतक की पारिभाषिक पदावली से ग्रहण किये गये हैं।

संदेश—शिवस्वामी स्वयं शैव थे, पर उन्होंने बौद्धधर्म और बुद्ध के संदेश में इस महाकाव्य के द्वारा अपनी आस्था व्यक्त की है। इस प्रकार यह महाकाव्य धार्मिक और सांस्कृतिक समन्वय के भाव का उत्तम उदाहरण है। कप्फिणाभ्युदय महाकाव्य धार्मिक वैमनस्य और हिंसा को दूर करने के लिए प्रेरित करता है। बौद्धधर्म के संदेश को कवि ने अपनी परम्परा में अन्वित करके प्रेरणाप्रद तथा सारग्राही रूप में व्यक्त किया है। एक श्लोक में ही उसके इस अभिनिवेश की झलक पायी जा सकती है—

धर्मे श्रद्धा सम्मतिः सत्यसारे
दाने दार्ढ्यं सम्प्रदानं दयायाम्।
क्षान्तौ क्षोदः प्रेम पुण्ये दमे दृग्
येषां मुक्तास्ते गृहस्थाश्रमेऽपि॥ (२०/३८)

पारम्परिक समीक्षा में शिवस्वामी—शिवस्वामी के महाकाव्य को आचार्य परम्परा में प्रचुर समादर प्राप्त हुआ। मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में कप्फिण के विषय में इस महाकाव्य का यह पद्य सराहना के साथ उद्धृत किया है—

उल्लास्य कालकरवाल महाम्बुवाहं
देवेन येन जरठोर्जितगर्जितेन।
निर्वादितः सकल एव रणे रिपूणां
धाराजुलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः॥ (कप्फिण १/२०)

यह शब्द शक्त्युत्प उपमालंकार ध्वनि का उदाहरण है, श्लेष से यहाँ प्रस्तुत कम्फिण और अप्रस्तुत इन्द्र दोनों के विषय में दो दो अर्थ निकलते हैं, जिससे कप्फिण की इन्द्र से उपमा व्यंजित होती है। इसी प्रकार शब्दशक्त्युत्थ में अलंकार से वस्तु के

उदाहरण में मम्मट ने—

वीरै र्व्यलोकि युधि कोपकषस्य कान्तिः
कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः

यह उदाहरण कप्फिणाभ्युदय (१/३७) से दिया है।

सुभाषितावलि, शार्ङ्गधरपद्धति तथा क्षेमेन्द्रकृत कविकण्ठाभरण में भी शिवस्वामी को उद्धृत किया गया है।

रत्नाकर : हरविजय

परिचय—हरविजय महाकाव्य के प्रणेता रत्नाकर कश्मीर के राजा चिप्पट जयापीड (७७९-८१३ ई०) के आश्रय में रहे। चिप्पट जयापीड की एक उपाधि बालबृहस्पति थी, जिसका उल्लेख हरविजय महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अंत में रत्नाकर ने किया है। इनके पिता का नाम अमृतभानु था। रत्नाकर को राजानक तथा वागीश्वर ये दो उपाधियाँ दी गयीं थीं।

कल्हण ने राजतरंगिणी में बताया है कि कश्मीर के राजा अवंतिवर्मा के शासनकाल में मुक्ताकण, शिवस्वामी, आनंदवर्धन तथा रत्नाकर इन महाकवियों को विशेष ख्याति मिली—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ (राजतरंगिणी, ५/३४)

अवंतिवर्मा का शासनकाल ८०० ई० से ८५० ई० के बीच है। अतः यह माना जा सकता है कि रत्नाकर को अपनी वृद्धावस्था में अवंतिवर्मा के शासनकाल में और भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। रत्नाकर के द्वारा नाटककार मुरारि के उल्लेख तथा क्षेमेंद्र और राजशेखर द्वारा रत्नाकर के उल्लेखों से भी उनके काल के उपर्युक्त निर्णय की पुष्टि होती है। रत्नाकर के पिता का नाम अमृतभानु था तथा पितामह का नाम दुर्गदत्त। वे कश्मीर में गंगाह्रद के निवासी थे। हरविजय महाकाव्य के अतिरिक्त रत्नाकर ने वक्रोक्तिपंचाशिका नामक खंडकाव्य तथा आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक में उद्धृत प्राकृत-गाथाओं के विवेचन में ध्वनिगाथापंचिका नामक टीकाग्रंथ की भी रचना की थी। पर उनकी अक्षय कीर्ति का स्तंभ हरविजय महाकाव्य ही है। हरविजय महाकाव्य में प्रत्येक सर्ग के अंत में दी गयी पुष्पिकाओं से विदित होता है कि रत्नाकर को वागीश्वर तथा विद्याधिपति की उपाधियों से सम्मानित किया गया था।

विषयवस्तु—हरविजय महाकाव्य की विषयवस्तु का स्रोत मत्स्यपुराण के १७९वें अध्याय में वर्णित अंधकासुर का वृत्तांत प्रतीत होता है। हरविजय का अर्थ है शिव की विजय। नाम के अनुरूप इस महाकाव्य में अंधकासुर की उत्पत्ति, उसका देवताओं को त्रस्त करना तथा अंत में शिव के साथ युद्ध में उसके विनाश की कथा वर्णनों के विपुल संभार के साथ विन्यस्त है। प्रथम ग्यारह सर्गों में अंधकासुर के विनाश के लिए शिव का अपने मंत्रियों से परामर्श का ही प्रसंग पूरा हो जाता है। अगले तेरह

सर्गों में शिवगणों का विहार वर्णित है, जिसमें कवि को जलक्रीड़ा, चंद्रोदय, शृंगार, विरह, पानगोष्ठी आदि के निरूपण में अपना कवित्वकौशल दिखाने का अवसर मिल गया है। शिव के दूत का अंधकासुर के साथ संवाद भी कई सर्गों में चलता है। ३९वें सर्ग से ४९वें सर्ग तक के ग्यारह सर्गों में युद्ध का वर्णन हैं।

हरविजय अलंकृत शैली के महाकाव्य में आकार में सबसे विशाल है। इसमें ५० सर्ग तथा ४३२१ पद्य हैं। इसकी कथा शिवपुराण में वर्णित अंधकासुरवृत्तांत पर आधारित है। जिस प्रकार माघ ने भारवि का अनुकरण करते हुए भी उनसे आगे बढ़ने के लिए अपना महाकाव्य लिखा, उसी प्रकार रत्नाकर ने माघ का अनुकरण करते हुए उनसे आगे बढ़ने के लिए इस महाकाव्य की रचना की। माघ के ही समान रत्नाकर सकलशास्त्रविशारद हैं। माघ अपने महाकाव्य को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु' कहते हैं, तो हरविजय 'चन्द्रार्धचूडचरिताश्रयचारु' है। जिस प्रकार भारवि और माघ के महाकाव्यों में श्रीः तथा लक्ष्मी शब्दों का सर्गांत में सर्वत्र प्रयोग है, उसी प्रकार हरविजय में रत्न शब्द का। काश्मीर में उस समय शैव तथा शाक्त दर्शनों की प्रतिष्ठा थी। रत्नाकर ने अपने महाकाव्य के षष्ठ सर्ग में २०० पद्यों में शिव की स्तुति निबद्ध की है, जिसमें प्रत्यभिज्ञा दर्शन (शैव दर्शन की एक शाखा) का निचोड़ भी प्रस्तुत कर दिया है। इसी प्रकार तथा ४७वें सर्ग में चंडिका की स्तुति में शाक्त दर्शन के सिद्धांतों का उन्होंने सूक्ष्मता से विवेचन कर दिया है।

काव्यकला—अलंकारों की छटा, पदलालित्य व चित्रकाव्य के चमत्कार तथा पांडित्य प्रदर्शन इन सभी दृष्टियों से रत्नाकर ने माघ से आगे जाने का प्रयास किया है। वक्रोक्ति, वैदग्ध्य और विच्छित्ति को उन्होंने कविता में पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। उनकी उत्प्रेक्षाओं में मौलिकता है। उदाहरण के लिए प्रथम श्लोक द्रष्टव्य है—

कण्ठश्रियं कुवलयस्तवकाभिराम-
दामानुकारि विततच्छविकालकूटम्।
बिभ्रत् सुखानि दिशतादुपहारपीत-
धूपोत्थधूममलिनामिव धूर्जटिर्वः॥

कवि शिव के नीलकंठ का वर्णन करता हुआ कहता है कि उनके गले में दिखता गरल नीलकमल के गुच्छों से निर्मित माला का अनुकरण कर रहा है, साथ ही उससे तेज की किरणें भी फूट रही हैं। ऐसा लगता है कि भक्तों ने आहुतियों के द्वारा जो धूप अर्पित की, उसके धूम का पान कर लेने से भगवान् के गले में धूमरेखा की मलिनता आ गयी है।

रत्नाकर ने भक्तिप्रवण होकर शिव की स्तुति अपने महाकाव्य में की है, उसमें दर्शन, भक्ति और संवेदना की अटूट धारा प्रवहमाण है।

अवितर्कमस्थिरविचारगोचरं सुखवेदनोज्झितमनस्वितान्वयम्।
अभिगम्य शङ्कर समाधिमिच्छया तव जातु नैव भजते भ्रमं पुमान्॥

(६/२७)

विदग्धता और वक्रोक्ति तथा कल्पना की विच्छित्ति प्रकट करने में रत्नाकर की कविता बेजोड़ है। कमलिनी सूर्य की प्रखर किरणों में तो विकसित रहती है और चन्द्रमा की किरण के छूने पर मुरझाने लगती है—इस पर उनका कहना है—

स्पृष्टा न या दिनकरांशुभिरह्नि वह्नि-
गर्भैरपि क्वचन मम्लमुरम्बुजिन्यः।
मम्लुस्तरां शशिकरैरपि ताः सुधार्द्रै-
रक्षुण्णवामचरिता बत पद्मनेत्राः॥ (२०/७०)

जो कमलिनियाँ सूरज की आग उगलती किरणों के छूने से कभी नहीं मुरझाई, वे चन्द्रमा की अमृतमय रश्मियों से मुरझा गई। कमलनयनों वाली-कमलिनियाँ और सुंदर स्त्रियाँ सदैव वाम या उल्टे चरित वाली ही होती हैं।

वर्णों का विन्यास और अर्थ की छटा दोनों की वक्र भंगिमा रत्नाकर की कविता में अनूठी ही है। वर्ण्यविषय में अपने रंगों के विवेक के द्वारा वे नये रंग भर देते हैं।

कवि रत्नाकर ने अनेक शब्दों का प्रयोग किया है, जो उस समय कश्मीरी भाषा में प्रचलित रहे होंगे। वासतेयी (रात्रि), कासर (महिष), कुलि (चिड़िया), निशांत (घर), रसायु (मृग), एकपिगल (कुबेर), तालूर (जलावर्त), झरक (तृणमय पुरुष) आकरवी (कलिका) आदि। इनके प्रयोग से हरविजय में दुरूहता प्रतीत होती है। झाङ्कार, टाङ्कार आदि अनुरणनपरक शब्दों के प्रयोग में कवि की रुचि है।

सूक्तियाँ—हरविजय में बहुसंख्य जीवनमर्म का उद्घाटन करने वाली सरस सूक्तियों का समावेश है। उदाहरणार्थ—

भावानुरक्तहृदयः कुरुते न किं वा? (४/३०)

(भावानुरक्तहृदय वाला क्या नहीं करता?)

प्रेक्षावतां जगति तन्न यदस्त्यसाध्यम्। (९/७५)

(समझदार के लिए संसार में असाध्य कुछ नहीं है।)

सर्वोऽनुभावगरिमा स मुखानिलस्य
शब्दायते श्रुतिसुखं यदतीववेणुः॥ (१०/१२)

(यह तो मुँह से दी गयी फूँक की महिमा है कि बाँस की बाँसुरी कानों को मीठा लगने वाला शब्द करने लगती है।)

उत्पद्यते जगति कोऽपि स एक एव
यस्योक्तिषु स्फुरतिसर्वमनोरमोऽर्थः॥ (११/१०)

(ऐसा कोई विरला ही संसार में जन्म लेता है, जिसकी हर बात में सबको रमाने वाला अर्थ समाया रहे।)

न रत्नदीपस्य शिखा सकज्जला। (१२/९३)

(रत्न के दिये की लौ से काजल नहीं झरता।)

अतोऽत्र युक्तो नय एव सङ्कटे जलप्लवे सेतुरिवोत्तितीर्षताम्। (१२/५४)

(संकट के समय नीति ही जल को पार करने वाली नाव के समान पार करने वालों के लिए काम आती है।)

सङ्कटेष्वधिकमेव धीमतां विस्फुरन्ति ननु मन्त्रशक्तयः॥ (१४/२८)

(जितना बड़ा संकट हो, बुद्धिमान् व्यक्तियों की मंत्रणाशक्ति उतनी ही प्रभावपूर्ण बन कर सामने आती है।)

प्रेमाहो क्वचिदपि नेक्षते व्यपायम्। (१७/१२)

(प्रेम संकट की परवाह नहीं करता।)

नैवार्या लघुनि पदे भवन्ति धीराः। (१७/५०)

(श्रेष्ठ व्यक्ति नीच कार्य नहीं करते।)

भग्नानां पुनरुक्त एव भङ्गः। (१७/५२)

(टूटे हुए को तोड़ना पुनरुक्ति मात्र है।)

नो कार्ये क्वचन भवन्ति दीर्घसूत्राः। (१७/५९)

(निठल्ले लोग किसी काम में सफल नहीं हो पाते।)

नौत्सुक्यं व्रजति हि रम्यदर्शनात् कः ? (१७/८५)

(सुंदर वस्तु या व्यक्ति को देखकर कौन उत्सुक नहीं हो जाता ?)

आरूढो विनिपततीति नात्र चित्रम्।

(जो चढ़ा है, वह गिरेगा ही, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।))

सन्तः परार्थघटने नहि विघ्ननिघ्नाः। (२०/४२)

(सज्जन लोग दूसरे का काम साधने में विघ्नों से अटकते नहीं हैं।)

अत्यन्तवक्रहृदयात् बत कस्य शान्तिः ? (२९/५७)

(अत्यन्त कुटिल हृदयवाले से भला किसे शांति मिलेगी ?)

पारंपरिक समीक्षा तथा टीकाएँ—क्षेमेंद्र ने अपने सुवृत्ततिलक में कवि रत्नाकर की वसंततिलका की प्रशंसा की है। इसके प्रथम पद्य में उन्होंने वर्णप्रयोग सौष्ठव भी प्रतिपादित किया है। रत्नाकर के हरविजय पर १००० ई० के आसपास कश्मीर के विद्वान् अलर्क ने टीका लिखी थी। कृष्णामाचारी ने अपने इतिहास में हरविजय पर वल्लभदेव के द्वारा रचित टीका का भी उल्लेख किया है, पर यह टीका मिलती नहीं है। प्रो० स्टाइन ने हरविजय पर एक अन्य टीका लघुपंजिका का उल्लेख किया है। सूक्ति संग्रहों में हरविजय के अनेक पद्य उद्धृत मिलते हैं, जिससे यह सिद्ध है कि प्राचीन काल में इस महाकाव्य को बड़ी प्रतिष्ठा मिली थी। काव्यशास्त्र के आचार्यों में मम्मट ने रत्नाकर के कई पद्य उद्धृत किये हैं। राजशेखर ने रत्नाकर की काव्यकला की सराहना करते हुए कहा है—

मा स्म सन्तु हि चत्वारः प्रायो रत्नाकरा इमे।
इतीव सत्कृतो धात्रा कवी रत्नाकरोऽपरः॥

(संसार में चार ही रत्नाकर या समुद्र क्यो हों, यह सोच कर विधाता ने यह एक और (पाँचवाँ) कवि रत्नाकर उत्पन्न कर दिया।)

राजशेखर का आशय यह है कि रत्नाकर का काव्य रत्नाकर या सागर के समान ही गंभीर है।

अभिनंद : रामचरित

रामचरित महाकाव्य के प्रणेता महाकवि अभिनंद हैं। अभिनंदन, शतानंद तथा आर्याविलास—ये नाम भी इनके मिलते हैं। इनके पूर्वजों में शक्तिस्वामी चौथे पूर्वज थे, जिन्हें कश्मीर के मुक्तापीड (७२६ ई०) ने सम्मानित किया था। इनके महाकाव्य में दिये गये परिचय से विदित होता है कि ये शतानंद के पुत्र थे तथा पालवंशीय हारवर्ष युवराज इनके आश्रयदाता थे। अत: इनका समय नवीं शताब्दी के आसपास माना जा सकता है। ये कादम्बरी कथासार के प्रणेता काश्मीरी अभिनन्द से भिन्न हैं। इनके द्वारा प्रणीत लोकजीवन से सम्बद्ध अनेक श्लोक सुभाषित संग्रहों में उद्धृत हैं (देखें अ० ६)।

विषयवस्तु—रामचरित महाकाव्य में ३६ सर्ग हैं, और मूलत: यह अपूर्ण है। भीम नामक एक कवि ने चार सर्गों का परिशिष्ट जोड़ कर इसकी पूर्ति की है। इसमें रामायण के किष्किंधाकांड से युद्धकांड तक की कथा का सरस काव्यात्मक निरूपण है। इस कथा में कवि ने अनेक नये वृत्तांत जोड़े हैं। वाल्मीकि की कथा में राम और सुग्रीव का मिलन हनुमान् के माध्यम से होता है, रामचरित में सुग्रीव स्वयं राम के पास आते हैं, और अपने आपको राम का सेवक घोषित करते हैं। सीतान्वेषण के समय द्रुपद तथा अंगद का युद्ध, हनुमान का एक स्त्रीकपि के द्वारा पकड़ लिया जाना ये वृत्तांत भी नवीन तथा कौतुकवर्धक हैं। रामायण में हनुमान् सुरसा से मिलते हैं, इस महाकाव्य में सुरसा के स्थान पर उनकी मुठभेड़ सरमा से होती है। हिमालय में लायी गयी औषधियों का विस्तृत वर्णन रामचरित की अन्य दुर्लभ विशेषता है।

वर्णनों में लंकानगरी, समुद्र, मृगेंद्रपर्वत, सूर्योदय, चंद्रोदय, शरद् ऋतु, मधुपान, मंत्रणा, दूत, प्रयाण, युद्ध आदि के वर्णन महाकाव्योचित गौरव का आधान करते हैं। वीररस की इस महाकाव्य में प्रमुखता है। राम के विरह-वर्णन में विप्रलंभ, शृंगार तथा लक्ष्मण के नागपाश में बँध जाने पर सुग्रीव आदि के विलाप व कुम्भकर्ण के निधन पर रावण के शोक में करुण रस का भी उद्रेक हुआ है। रसोद्रेक की दृष्टि से इस महाकाव्य की अन्य विशेषता रौद्र तथा बीभत्स रसों का भी प्रचुर परिपाक है, जो युद्ध वर्णनों में निष्पन्न हुआ है। स्त्रीकपि की हनुमान् को लेकर प्रदर्शित चेष्टाओं में हास्य रस की निराली छटा है।

शैली तथा काव्यसौंदर्य—अभिनंद की रचनाशैली पर कालिदास का गहरा प्रभाव है। वैदर्भी रीति में माधुर्य और प्रसाद गुणों के आधान में कवि सर्वथा सफल है। संगीतात्मकता तथा कल्पनाप्रवणता का अभिनंद की रचना में उत्तम संयोग हुआ है। अप्रचलित तथा देशज शब्दों के प्रयोग में अभिनंद ने दुर्लभ कौशल प्रकट किया है। उनकी भाषा बोलचाल की भाषा के निकट भी आ गयी है। 'दुनोति जल्पन् मुखर: शिरांसि' (मुँहफट व्यक्ति की बकबक से माथा दुखने लगता है) तथा 'पक्व: स्वयं पतति' (पका फल अपने आप गिर पड़ता है) जैसे वाक्य उनकी कविता में जन सामान्य की बोली की छटा ला देते हैं।

पारम्परिक समीक्षा—भोज ने अपने सरस्वतीकंठाभरण तथा शृंगारप्रकाश—इन दो ग्रंथों में अभिनंद के रामचरित से अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। सोड्ढल ने अपनी कृति 'उदयसुंदरीकथा' में अभिनंद की प्रशंसा करते हुए कहा है—

वागीश्वरं हन्त भजेऽभिनन्दमर्थेश्वरं वाक्पतिराजमीडे।
रसेश्वरं नौमि च कालिदासं बाणं तु सर्वेश्वरमानतोऽस्मि॥

क्षेमेंद्र ने अपने सुवृत्ततिलक में अभिनंद के अनुष्टुप् की सराहना की है। शार्गंधरपद्धति के एक पद्य (१७६) में अभिनंद को अमर, अचल और कालिदास के समान कहा गया है।

कादंबरीकथासार

इस महाकाव्य के प्रणेता भी अभिनंद हैं, पर ये रामचरितकार अभिनंद से भिन्न हैं। संस्कृत साहित्य में अभिनंद नाम के दो कवियों का अभिज्ञान प्राप्त होता है। एक रामचरित महाकाव्य के प्रणेता हैं, दूसरे कादंबरीकथासार महाकाव्य तथा योगवसिष्ठसार के। कादंबरीकथासार के कर्ता अभिनंद प्रख्यात नैयायिक जयंतभट्ट के पुत्र थे, तथा कश्मीर में रहे। इनका समय ९०० ई० के आसपास है। इसके अतिरिक्त सुभाषितकार अभिनंद की चर्चा भी सुभाषितों के कवि शीर्षक अध्याय में यहाँ की गयी है। कादंबरीकथासार में बाणभट्ट की कादंबरी का सरस पद्यमय रूपांतर है।

लक्ष्मीधर : चक्रपाणिविजय

चक्रपाणिविजय महाकाव्य के प्रणेता लक्ष्मीधर भोज के समकालीन थे। अपने महाकाव्य के आरम्भ में इन्होंने अपना परिचय दिया है, जिसके अनुसार इनके पूर्वज गौड़ देश के कौशल नामक गाँव के निवासी थे। इनके पूर्वजों में एक परमविद्वान् नरवाहन भट्ट थे। लक्ष्मीधर इनके प्रपौत्र, अजित के पौत्र तथा वैकुंठ के पुत्र थे। लक्ष्मीधर भोज की सभा में गये थे, पर वहाँ वे अपने कवित्व की उपेक्षा से खिन्न होकर राजसभा को छोड़ कर चले आये थे—ऐसा संकेत उन्होंने महाकाव्य में अपने परिचय में दिया है। चक्रपाणिविजय महाकाव्य के अतिरिक्त इन्होंने जनजीवन से संबद्ध अनेक मार्मिक सुभाषितों की रचना भी की थी, जिनके परिचय के लिए इस पुस्तक का 'सुभाषितों के कवि' शीर्षक अध्याय द्रष्टव्य है।

कथावस्तु—चक्रपाणिविजय महाकाव्य में बीस सर्ग हैं। इसमें बाणासुर की पुत्री तथा कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के प्रेम और विवाह की सरस कथा है। प्रथम सर्ग में दैत्यराज बलि के पराक्रम और चरित का प्रभावशाली वर्णन है, दूसरे में बाणासुर का जन्म तथा तप करके भगवान् शिव को प्रसन्न करने का वृत्तांत है। तीसरे सर्ग में बाणासुर की पुत्री उषा के अप्रतिम सौंदर्य का चित्रण है। उषा स्वप्न में अनिरुद्ध को देखती है और उसके प्रेम में तन्मय हो जाती है। उसकी सखी चित्रलेखा दोनों को मिलाने का उद्यम करती है और वह द्वारकापुरी जाकर सोते हुए अनिरुद्ध को माया से

अपने साथ उठा लाती है। उषा और अनिरुद्ध चोरी से विवाह कर लेते हैं और अनिरुद्ध उषा के साथ अंत:पुर में रहने लगता है। यह वृत्तांत चौथे से दसवें सर्ग तक निबद्ध है। ग्यारहवें सर्ग से बीसवें सर्ग तक कृष्ण के पक्ष और बाणासुर के बीच युद्ध का रोमांचक वर्णन है।

शैली—लक्ष्मीधर वैदर्भी रीति के सरस कवि हैं। उनकी भाषा अत्यंत प्रांजल और वर्ण्य को मूर्त करने में फल है। वक्रोक्ति का परिष्कार प्रकट करने में लक्ष्मीधर सिद्धहस्त हैं। वस्तुतः चक्रपाणिविजय महाकाव्य के द्वारा उन्होंने अपने युग में काव्य का नवीन प्रतिमान भी निर्मित किया है। बाणासुर के मुख से शिव की स्तुति कराते हुए लक्ष्मीधर कहते हैं—

उपमा यत्र नास्त्येव यत्र जातिर्न विद्यते।
निर्गुणो निरलङ्कारस्त्वमिव त्वयि मे स्तवः॥

(हे भगवान्, मेरे द्वारा की जा रही आपकी स्तुति में न उपमा है, न जाति अलंकार। यह आपकी ही तरह निर्गुण और निरलंकार है।) यहाँ मेरी वाणी में उपमा नहीं है (अथवा मेरी वाणी की कोई उपमा नहीं है) यह कहते हुए भी कवि ने मेरी स्तुति आप ईश्वर के जैसी ही है यह कहकर उपमा अलंकार के द्वारा अपनी कविता की विशेषता भी प्रकट कर दी है।

यदि कालिदास भगवती पार्वती के लिए 'सञ्चारिणी पल्लविनी लता' की उपमा देते हैं, तो महाकवि लक्ष्मीधर की नायिका मकरध्वज की सञ्चारिणी चापयष्टि के समान है—

अभ्यासजाताङ्गुलिराजिरम्यं वलित्रयं मध्यगतं वहन्ती।
अदृश्यतासौ मकरध्वजस्य सञ्चारिणी चापलतेव भूमौ॥ (३/२८)

यहाँ उपमा कालिदासानुप्राणित होकर भी लक्ष्मीधर के प्रातिभोन्मेष की परिचायक है। उपमानभूत मकरध्वज की चापलता न केवल सञ्चारिणी है, अपितु अभ्यासजाताङ्गु-लिराजि के स्पर्श से मध्य भाग में रम्य वलित्रय वाली भी है। कामदेव के धनुष की इतनी अभिनव सूझबूझ के साथ उपमा देकर कवि ने चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

लक्ष्मीधर का सूर्यास्त तथा अंधकार का वर्णन भारवि और माघ के वर्णनों को भी पीछे छोड़ देता है। सर्वथा अछूते उपमानों या बिम्बों की सृष्टि करने में वे अद्‌भुत कल्पनाशक्ति का परिचय देते हैं। पूर्व के पर्वत से अंधकार रूपी वृक्ष अँकुराता लगता है। कवि को यह भी लगता है जैसे प्रिय सूर्य के चले जाने पर पूर्व दिशा उसके वियोग में खिन्न होकर एक वेणी गूँथने लग गयी हो (५/३३)। अन्यत्र सूर्यास्तवर्णन में कवि लिखता है—

सन्ततज्वलितपावकोपमे निर्वृते किरणचक्रवालिनि।
वीक्षितं गगनकर्परोदरे रूक्षकज्जलमलीमसं तमः॥ (५/३५)

यहाँ किरणचक्रवाल वाले सूर्य के ऊपर गगन की कर्पर (खप्पर) के समान स्थिति कल्पना की लोकव्यवहारसिद्धि को प्रकट करती है। संसार में दीपक पर कर्पर

रख कर काजल बनाने की क्रिया प्रचलित है। सूर्य को दीपकतुल्य कहकर कवि ने गगन को कर्परतुल्य बताते हुए अंधकार की रूक्षकज्ज्लमलीमसता का विशद चित्र अंकित कर दिया है। समुद्र के लिए 'लिहन्निव व्योम पिबन्निवाशाः खादन्निव क्ष्मातलमुत्थियो यः' (८/२५) कहकर अपूर्व चित्र उन्होंने अंकित किया है। द्वारका के बाजार की गलियों को रघुवंश, शिशुपालवध, बाण के गद्य और महाभारत से उपमित लक्ष्मीधर ही कर सकते थे—

रसैः स्फुटैरर्थसमैर्वचोभिरर्थैरपूर्वैः सदलङ्क्रियाभिः।
ददर्श तस्यां रघुमाघबाणव्यासायमाना व्यवहारवीथीः॥ (८.६०)

अनुप्रास, यमक और श्लेष का परिष्कार और निखार प्रकट करने में लक्ष्मीधर अपने समय के अन्य संस्कृत कवियों से पीछे नहीं हैं। कालिदास के यमकविन्यास की भाँति उनके यमकों के वितान और प्रतान भी कहीं पर आयासजन्य तथा अस्वाभाविक नहीं लगते। 'जातास्मि निःष्पन्दमना दरेण विजृम्भते दैवमनादरेण' (८/८)। इस प्रकार से चमत्कारमय यमक विन्यास से पूरा आठवाँ सर्ग पटा हुआ है।

शृंगार तथा वीर रस की अजस्र धारा इस महाकाव्य में प्रवाहित है। इसके साथ ही श्रीकृष्ण तथा शिव दोनों के प्रति समान रूप से भक्तिभाव की अभिव्यक्ति करते हुए कवि लक्ष्मीधर ने इसमें वैष्णव और शैव संप्रदाय के बीच सामंजस्य भी स्थापित किया है। चरित्रचित्रण की दृष्टि से अनिरुद्ध अपने पराक्रम और साहस, उषा अपने सौंदर्य और अनिरुद्ध के लिए प्रेम, बाणासुर अपनी मनस्विता और शिव के प्रति भक्ति के द्वारा प्रभावित करते हैं।

इसके साथ ही अनेक भास्वर सूक्तिमुक्ताएँ लक्ष्मीधर के महाकाव्य की मणिमाला में गुंफित हैं। उदाहरण के लिए—

तुला तुलयति स्वर्णं न तु स्वर्णधराधरम्। (२/२८)

(तराजू सोने को तोल सकती है, सोने के पहाड़ को नहीं।)

शुष्केन साक्षादपि चन्दनेन वह्निर्ज्वलत्येव न शान्तिमेति। (११.५७)

(सूखी लकड़ी चाहे चंदन की ही क्यो न हों, उसे आग शांत वहीं होती, भड़कती ही है।)

एकोऽपि कृत्स्नं ग्रसते कृतान्तः सारं हि शक्नोति नृणां न संख्या।
(११.५०)

(एक अकेला काल सबको निगल लेता है। सार में सामर्थ्य है, संख्या में नहीं।)

इस प्रकार यह सभी दृष्टियों से एक उत्कृष्ट महाकाव्य है।

लोलिंबराज : हरिविलास

हरिविलास महाकाव्य के प्रणेता लोलिंबराज भी राजा भोज के समय में हुए हैं। ये दक्षिण के राजा हरिहर की राजसभा में रहे। इनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ। इनके पिता का नाम दिवाकर था। अपनी भाभी के कटुवचनों से आहत होकर इन्होंने अपना घर

छोड़ दिया, और सप्तशृंगी पर्वत पर दुर्गा की आराधना की। देवी ने इन्हें घटिकाशतक होने का वर दिया। एक अनुश्रुत पद्य में राजा भोज से इनकी भेंट और वार्तालाप भी वर्णित है। हरिविलास महाकाव्य की रचना इन्होंने १०५० ई० के आसपास की।

लोलिंबराज आयुर्वेद के भी अच्छे ज्ञाता थे। वैद्यजीवन तथा वैद्यावतंस—ये दो इनके इस विषय पर ग्रंथ प्रसिद्ध हैं।

कथावस्तु—हरिविलास महाकाव्य में पाँच सर्ग हैं। इस प्रकार यह महाकाव्य के लिए निर्धारित सर्गसंख्याविषयक मानदंड पर खरा नहीं उतरता। तथापि महाकाव्योचित काव्यसौष्ठव और गौरव की इसमें कमी नहीं है।

हरिविलास में श्रीकृष्ण की लीलाओं का सरस वर्णन है, जो श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के अनुसार है। प्रथम सर्ग में कृष्ण के बालरूप की मनोहर झाँकी है। वृंदावन के सारे परिवेश को कवि ने भक्तिभाव में निमज्जित करते हुए साकार कर दिया है। दूसरे सर्ग में कृष्ण व बलराम का गोचारण वर्णित है। कृष्ण के वंशीरव की माधुरी में डूब कर सारी प्रकृति चिन्मय हो जाती है, भौंरे फूलों का मधु पीना बंद कर देते हैं, पशु घास खाना छोड़ देते हैं, तथा हंस और कोकिल आदि कूजन से विरत हो जाते हैं—

अपि प्रचुरलालसा मधु मधुव्रता नापिबन्
मुखात् तमपि नूतनं तृणचरास्तृणं नापिबन्।
मुरारिमुरलीस्वरामृतरसैकबद्धादरा
न हंसपिककेकिनः किमपि कूजितं चक्रिरे॥ (२/८)

इसी सर्ग में गोपियों का अभिसार, कृष्ण का अंतर्धान होना, गोपियों का पागल बन कर उन्हें खोजना तथा उनकी विरह-व्यथा का मार्मिक चित्रण किया गया है। इसके पश्चात् महारास का वर्णन अत्यंत चमत्कारपूर्ण है। श्रीराग का गायन करती हुई राधा की छवि का अवलोकन कवि ने भावविभोर होकर किया है—

रदच्छदस्फूर्जदलक्तरागा कस्तूरिकापङ्ककृताङ्गरागा।
राधा तदालोकनसानुरागा श्रीरागरागालपनं चकार॥ (२/२७)

तीसरे सर्ग में गोवर्धन पूजा तथा वृदांवन के नैसर्गिक सौंदर्य का चित्रण है। चतुर्थ सर्ग में अक्रूर कंस का निमंत्रण ले कर आते हैं और कृष्ण वृंदावन से प्रस्थान करते हैं। कृष्ण के जाने पर गोपियों की विरहव्यथा का पुनः कारुणिक चित्रण कवि ने किया है। अंत में पाँचवें सर्ग में कंसवध का वर्णन करके उद्धवसंदेश, सुदामाप्रसंग तथा कृष्ण के द्वारका गमन का संक्षेप में निरूपण करके लोलिंबराज ने अपना महाकाव्य समाप्त किया है।

समीक्षा—वैष्णव भाव की सरस अभिव्यक्ति, भाषा पर असाधारण अधिकार तथा सौकुमार्य और माधुर्य की सघन अनुभूति के कारण आकार में लघु होने पर भी लोलिंबराज का महाकाव्य महत्त्वपूर्ण है। उनके काव्य में संगीत की मधुर झंकार सर्वत्र अनुगुंजित है, तथा उसकी लय में अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार तथा अर्थालंकार भी सहज रूप में गुँथते चले गये हैं। लालित्य और सौकुमार्य ही नहीं, आभिजात्य और औदात्त्य की

अभिव्यक्ति में भी लोलिंबराज सफल हैं। उदाहरण के लिए कृष्ण की अद्‌भुत लीलाओं के वर्णन में तदनुरूप ओजस्वी पदावली का प्रयोग करते हुए वे कहते हैं—

धरस्य धरणात् करे वनहुताशनप्राशना-
दरिष्टबकधेनुकप्रभृतिदानवध्वंसनात् ।
इहाद्भुतमनुक्षणं शिशुरसौ सरोजेक्षणः
क्षणक्षणविलक्षणो विचक्षणो व्यातनोत्॥ (१/१९)

वर्षा-वर्णन में अनुप्रास की छटा के साथ एकावली के प्रकाश से लोलिंबराज ने इस पद्य को आलोकित कर दिया है—

महीमण्डलीमण्डपीभूतपाथोधरावर्षहर्षासु वर्षासु सद्यः।
कदम्बे प्रसूनं प्रसूने मरन्दो मरन्दे मिलिन्दो मिलिन्दे मदोऽभूत्॥

कृष्णलीला की माधुरी का सरस अनुभव और भागवत महाचेतना की अभिव्यक्ति लोलिंबराज के इस काव्य की दुर्लभ विशेषता है।

धर्मशर्माभ्युदय तथा जैन महाकाव्यों की परम्परा

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य के रचयिता महाकवि हरिचंद्र हैं। ये नोमक नामक वंश में उत्पन्न हुए तथा जाति से कायस्थ थे। इनके पिता का नाम आर्द्रदेव तथा माता का नाम रथ्या देवी था। इस महाकाव्य पर माघ के शिशुपालवध तथा वाक्पतिराज के गौडवहो महाकाव्यों का प्रभाव परिलक्षित होता है, अतः इसकी रचना माघ और वाक्पतिराज के पश्चात् हुई होगी। सोमेश्वर के यशस्तिलकचंपू का भी प्रभाव इस पर निरूपित करते हुए विद्वानों ने इसका रचनाकाल १०५० ई० के आसपास सिद्ध किया है। इस काव्य की एक हस्तलिखित प्रति १२८७ विक्रम संवत् की है। १२वीं शताब्दी में विरचित नेमिनिर्वाण महाकाव्य पर इसका गहरा प्रभाव है। इन तथ्यों से भी इसके उपर्युक्त कालनिर्धारण की पुष्टि होती है।

इस महाकाव्य में २१ सर्गों में तीर्थंकर धर्मनाथ के पूर्वजन्म तथा प्रकृतजन्म की कथा है। आरम्भ में राजा महासेन के रत्नपुर नगर का भव्य वर्णन किया गया है। द्वितीय सर्ग में राजा की निस्संतान होने की चिंता चित्रित है। तृतीय से षष्ठ सर्ग तक चारण मुनि के द्वारा राजा को प्रबोध, उसके धर्मनाथ तीर्थंकर के पुत्ररूप में जन्म लेने की भविष्यवाणी तथा तीर्थंकर के पूर्वजन्म का वर्णन है। सातवें-आठवें सर्गों में तीर्थंकर के जन्म के अनंतर होने वाले उत्सव तथा देवों के द्वारा उनके अभिनंदन आदि का चित्रण है। नवें से सोलहवें सर्ग तक धर्मनाथ की बाल-लीला, यौवन, स्वयंवर के लिए प्रयाण, ऋतुवर्णन, विहार आदि के प्रसंग हैं। सत्रहवें सर्ग में विदर्भराज कन्या इंदुमती से विवाह के पश्चात् धर्मनाथ का राजधानी परावर्तन, अठारहवें में पिता के निर्वेद के अनंतर उनका राज्याभिषेक, उन्नीसवें में प्रतिपक्षी राजाओं से युद्ध तथा बीसवें में पुत्र को राज्य देकर उनका संन्यास वर्णित है।

वर्णन—धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य भारवि और माघ आदि कवियों की रचनाओं के समान ही विविध वर्ण्यविषयों से अलंकृत है। सज्जन-प्रशंसा, दुर्जननिंदा, सत्काव्य-

लक्षण, जंबूद्वीप, रानी सुव्रता का नखशिखवर्णन, गर्भावस्था, जन्मोत्सव, धर्मनाथ की बाललीलाएँ, विंध्याचल, नर्मदा, षड् ऋतुएँ, जलक्रीड़ा, संध्या, रात्रि, मधुपान, स्वयंवर, विवाह, राज्याभिषेक, युद्ध, अपशकुन, आदि के विशद वर्णन इसमें हैं। वर्णनों के संभार ने प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम, नवम और षोडश सर्गों में कथा के प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया है। धर्मनाथ और स्वयंवरा इंदुमती को देखने के लिए नगर की सुंदरियों में हड़बड़ी का चित्रण कालिदास से प्रभावित होकर कवि ने तदनुरूप किया है।

धर्मशर्माभ्युदय में भारतवर्ष के विभिन्न स्थलों, विशेषत: ग्रामांचलों का वर्णन कवि ने रस लेकर किया है, और उससे कवि के देशप्रेम का पता चलता है। गाँवों में ईख पेरने की घानी चल रही है। लोग रस ले-लेकर ताजा गन्ने का रस पी रहे हैं। धान के खेत मंद पवन के झोंकों में झूम रहे हैं, जिससे लगता है धरती मद में भरी डोल रही है—

यन्त्रप्रणालीचषकैरजस्रमापीय पुण्ड्रेक्षुरसासवौघम्।
मन्दानिलान्दोलितशालिपूर्णा विघूर्णते यत्र मदादिवोर्वी॥ (१/४५)

नगरों के ऐश्वर्य के चित्रण में कवि ने कल्पना की ऊँची उड़ान भरी है। उसे रत्नपुर के प्रासादों की पंक्तियाँ किंकिणियों की झंकार के द्वारा मार्ग की थकान से भरे सूर्य से बातचीत करके उसका जी बहलाती लगती हैं, और हवा में उन पर लगी पताकाएँ हिलती हैं, तो वे सूर्य को पंखा झलती जान पड़ती हैं—

रणज्झणत्किङ्किणिकारवेण सम्भाष्य यत्राम्बरमार्गखिन्नम्।
मरुच्चलत्केतनतालवृन्तैर्हर्म्यावली वीजयतीव मित्रम्॥ (१.७७)

इस श्लोक में मित्र शब्द के प्रयोग ने अनूठा चमत्कार ला दिया है। श्लेष के द्वारा मित्र सूर्य और सुहृत् दोनों अर्थों का बोध कराता हुआ महलों की कतारों के साथ सूर्य की मैत्री भी स्थापित कर देता है।

रस—धर्मशर्माभ्युदय का अंगीरस शांत है। नायक धर्मनाथ इसका आश्रय है। आठ सर्गों में शृंगार रस के प्रसंग हैं। रानी सुव्रता के एक-एक अंग का वर्णन कवि ने रुचि लेकर किया है। नवम सर्ग में वात्सल्य का चित्रण अत्यंत मर्मस्पर्शी है। उन्नीसवें सर्ग में शब्दालंकारों के प्रदर्शन तथा महाकाव्य के लक्षण की पूर्ति के लिए ही युद्ध का प्रसंग भी जोड़ा गया है। क्षुद्र राजाओं के साथ नायक धर्मनाथ का युद्ध संभव न होने से उनके सेनापति सुषेण के साथ राजाओं का युद्ध दिखाया गया है, वह भी प्रत्यक्ष वर्णन न करके दूत के द्वारा सुनाये गये समाचारों के रूप में वर्णित है।

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य में कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष की काव्य-कला के श्रेष्ठ तत्त्व समन्वित हैं।

धर्मशर्माभ्युदय के पूर्व अज्ञात कवि का तीर्थंकर नेमिनाथ तथा वरांग के चरित पर वराङ्गचरित सातवीं शताब्दी के आसपास लिखा गया। इसी परम्परा में गुणभद्राचार्य ने नवीं-दसवीं शताब्दी के लगभग जिनभद्रचरित की रचना की। ग्यारहवीं शताब्दी में असग कवि ने अठारह सर्गों में वर्धमानचरित लिखा। परमारनरेश मुंज तथा सिंधुराज के द्वारा सत्कृत महासेन सूरि ने प्रद्युम्नचरित में चौदह सर्गों में भागवत और विष्णुपुराण में

वर्णित प्रद्युम्न की कथा को तीर्थंकर **नेमिनाथ** से सत्यभामा-जांबवती सहित प्रद्युम्न के दीक्षा लेने में परिणत किया। इस महाकाव्य पर कालिदास का प्रभाव है। वीरनंदि (ग्यारहवीं शती) के **चंद्रप्रभचरित** में आठवें तीर्थंकर चंद्रप्रभ के सात भवों का वर्णन है। यह उत्तरपुराण पर आधारित है। वादिराजसूरि के **पार्श्वनाथचरित** में बारह सर्गों में पार्श्वनाथ का चरित वर्णित है। वादीभसिंह सूरि का **क्षत्रचूडामणि जीवंधरचरित** के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसका विभाजन लंभों में हुआ है, तथा यह चरितप्रधान काव्य है। ऋषभदेव के चरित पर आधारित **पद्मानंद महाकाव्य** के प्रणेता अमरचंद सूरि ने महाभारत की कथा पर भी बालभारत नामक एक उत्तम महाकाव्य लिखा था। तेरहवीं शती में अभयदेव सूरि ने **जयंतविजय** में मगध के राजकुमार जयंत तथा सिंहल के राजा के बीच संग्राम का ओजस्वी वर्णन किया। अर्हद्दास का गुणभद्र के उत्तरपुराण पर आधारित मुनिसुव्रतकाव्य भी इसी शती में लिखा गया। चौंदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में कीर्तिराज ने **नेमिनाथ महाकाव्य** तथा पद्मनाभ ने **यशोधरचरित** की रचना की। पंद्रहवीं शताब्दी में चरित्रसुंदर ने **महीपालचरित** महाकाव्य का इसी परम्परा में प्रणयन किया। सोलहवीं शती में अकबर के समकालीन कवि राजमल्ल ने **जंबूस्वामीचरित** लिखा। यदुसुंदरमहाकाव्य के प्रणेता पद्मसुंदर भी इसी समय हुए।

महाकवि क्षेमेंद्र

महाकवि क्षेमेंद्र अपनी बहुमुखी प्रतिभा तथा विशाल कर्तृत्व के द्वारा संस्कृत साहित्य के इतिहास में अविस्मरणीय स्थान रखते हैं। मंख और रत्नाकर आदि महाकवियों के समान इन्होंने भी शारदा की भूमि (कश्मीर) को अपने जन्म से अलंकृत किया। क्षेमेंद्र ने अपनी रचनाओं में अपना संक्षिप्त परिचय दिया है, जिसके अनुसार वे राजा अनंत (१०२८-१०६३ ई०) के समकालीन थे। इसके साथ ही क्षेमेंद्र ने अपनी कुछ कृतियों में रचनाकाल का उल्लेख किया है। इन उपलब्ध साक्ष्यों से उनका जन्म ९९० ई० के लगभग तथा निधन १०६६ ई० के लगभग निश्चित किया गया है। उनके वृद्ध प्रपितामह कश्मीर के राजा जयापीड के कर्मचारी थे, इनके प्रपितामह का नाम योगेंद्र, पितामह का नाम सिंधु तथा पिता का नाम प्रकाशेंद्र था। इनके पिता अत्यंत उदार तथा धार्मिक वृत्ति के थे। कश्मीर उस समय बड़े-बड़े विद्वानों और महाकवियों की निवास-भूमि था। क्षेमेंद्र ने अनेक श्रेष्ठ गुरुओं के सान्निध्य में ज्ञानार्जन किया। उन्होंने अपने को 'सकलमनीषिशिष्य' कहा है। विशेषरूप से शैव दर्शन तथा साहित्य के महान् आचार्य अभिनवगुप्त इनके गुरु रहे। क्षेमेंद्र के सोमदेव तथा चक्रपाल नामक दो योग्य पुत्र हुए। इनमें से सोमदेव ने उनकी **बोधिसत्त्वावदानकल्पलता** का अंतिम भाग पूरा किया था।

रचनाएँ—क्षेमेंद्र ने महाकाव्य, खंडकाव्य, उपदेशपरक पद्य, शतक आदि के अतिरिक्त अनेक शास्त्रीय ग्रंथों की भी रचना की। उनके अठारह ग्रंथ वर्तमान में प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं, तथा इनके अतिरिक्त उनकी १६ अनुपलब्ध रचनाओं का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। उपलब्ध रचनाएँ इस प्रकार हैं—

महाकाव्य—बृहत्कथामंजरी, भारतमंजरी, रामायणमंजरी, दशावतारचरित तथा बोधिसत्त्वावदानकल्पलता।

उपदेशात्मक काव्य तथा खंडकाव्य—कलाविलास, समयमातृका, चारुचर्या, सेव्यसेवकोपदेश, दर्पदलन, देशोपदेश, नर्ममाला, चतुर्वर्गसंग्रह, नीतिकल्पतरु।

शास्त्रीय ग्रंथ—औचित्यविचारचर्चा, कविकंठाभरण, सुवृत्ततिलक तथा लोकप्रकाशकोश।

क्षेमेंद्र की अनुपलब्ध रचनाओं में कविकर्णिका, नृपावली, पद्यकादंबरी, चित्र-भारतनाटक, लावण्यमंजरी, **कनकजानकी, अमृततरंग** महाकाव्य आदि उल्लेखनीय हैं।

बृहत्कथामंजरी—इसका रचनाकाल १०३७ ई० है। यह गुणाढ्य की प्राकृत भाषा में लिखी बड्ढकहा (बृहत्कथा) का रूपांतर है। इसमें ७६३९ श्लोक तथा १९ लंबक हैं। प्राचीन कथानकों को सरस शैली में क्षेमेंद्र ने निबद्ध किया है। क्षेमेंद्र ने सूचित किया है कि उन्हें मूल बृहत्कथा की प्रति उपलब्ध थी। तथापि पाँचवें लंबक (अध्याय) तक ही प्रायः उन्होंने मूल बृहत्कथा का यथावत् रूपांतर किया है, इसके बाद के तेरह लंबकों में कथानक के निर्वाह में मौलिकता प्रकट की है।

भारतमंजरी—यह महाभारत का संक्षिप्त रूपांतर है, जिसके द्वारा क्षेमेंद्र ने साहित्य-जगत् में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की और इन्हें इसी रचना के कारण व्यासदास की उपाधि दी गयी। इसमें १०८९२ श्लोक तथा १९ पर्व हैं।

रामायणमंजरी—यह वाल्मीकि रामायण का संक्षिप्त रूपांतर है। इसमें ६४०० श्लोक तथा सात कांड हैं, पर बालकांड और अयोध्याकांड को मिलाकर एक बना दिया गया है तथा किष्किंधाकांड को किष्किंधा पर्व तथा किष्किंधाकांड इन दो भागों में विभाजित किया गया है। वर्णन में काव्यात्मकता की मनोहारी छटा है। अलंकार क्षेमेंद्र की लेखनी के अनुगत बन कर उनकी रचना में सहज अवतरित होते जाते हैं। वे एक छोटे से अनुष्टुप् में कई बार एकसाथ कई अलंकारों की लड़ी गूँथ देते हैं। उदाहरण के लिए—

सूर्यरत्नगृहैर्लङ्का वासरस्याशु गच्छतः।
क्षणमंशुकसंसक्ता हस्तालम्बमिवाकरोत्॥

(रामायणमंजरी, सुंदरकांड, १७४)

(सूर्यकांत मणियों से जटित घरों वाली लंका ने रेशमी वस्त्रों में लिपटी नायिका की भाँति शीघ्रतापूर्वक जाते हुए दिनरूपी नायक का मानो क्षणभर के लिए हाथ पकड़ लिया।) यहाँ कवि ने समासोक्ति तथा उत्प्रेक्षा दो अलंकारों का संकर रच दिया है।

दशावतारचरित—इस महाकाव्य में १७५९ श्लोकों में विष्णु के दस अवतारों का वर्णन है। इसका रचनाकाल १०६६ ई० है। यह महाकवि क्षेमेंद्र की अंतिम कृति मानी जाती है। इसमें बुद्ध का चरित भी विष्णु के अवतारों में सम्मिलित किया गया है। विषयवस्तु के अनुसार महाकाव्य दस खंडों में विभाजित है। श्रीकृष्णावतार के निरूपण में कवि का मन विशेष रमा है, जो ८७३ श्लोकों में निरूपित है। श्रीरामावतार का निरूपण २९४ पद्यों में है। इसमें परवर्ती रामायणों—जैसे अध्यात्मरामायण के प्रसंग भी

सम्मिलित किये गये हैं। मत्स्यावतार (६० पद्य), कूर्मावतार (४० पद्य) तथा वराहावतार (२९ पद्य), परशुरामावतार (३५ पद्य) अपेक्षाकृत संक्षिप्त हैं। अवतारों का क्रम इस प्रकार है—मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि। महाकवि जयदेव ने अपने गीतगोविंद में दशावतारवंदना की है, उसमें भी यही क्रम है।

दशावतारचरित काव्यसौंदर्य तथा भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों और धार्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति के कारण एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। वैकुंठवासी विष्णु के प्रति महाकवि ने इस काव्य में अकुंठ भक्ति प्रकट की है—

सन्तोषो यदि किं धनैः सुखशतैः किं यद्यनायत्तता
वैराग्यं यदि किं व्रतैः किमखिलैस्त्यागैर्विवेको यदि।
सत्सङ्गो यदि किं दिगन्तगमनप्रस्थानतीर्थश्रमैः
श्रीकान्ते यदि भक्तिरप्रतिहता तत्किं समाधिक्रमैः॥ (१/१५)

क्षेमेंद्र के वर्णनों में विषय के अनुरूप वैदर्भी, गौडी या पांचाली रीतियों का समन्वय है तथा उनकी पदावली वर्ण्य-विषय को साकार तथा हृदयंगम करा देती है। प्रथमावतार (मत्स्य) के वर्णन में—

पुच्छाच्छोटोच्छलितसलिलालोलकल्लोलजालैः
श्वासाभ्यासप्रसरदमलोत्तुङ्गरङ्गत्तरङ्गैः।
खं कुर्वाणं श्रितमिव घनोल्लासकैलासलक्ष्यै-
र्दृष्ट्वा मत्स्यं हरिरिति मनुस्तत्प्रणामानतोऽभूत्॥

समुद्रमंथन के वर्णन में 'कठिनकमठपीठप्रष्ठपृष्ठप्रतिष्ठप्रविलुठदचलेन्द्रोद्घातनिर्घातघोषः' (२/१६) जैसी पदावली भी है, तो वामनावतारवर्णन में देवताओं के द्वारा विष्णु से प्रार्थना के क्रम में—'लोके द्रष्टासि निःशेषे शेषे शेषे नु केवलम्' (५/१२८) जैसी प्रसादरम्य सरस और यमक के विन्यास से विचित्र पदावली भी सहज रूप में निबद्ध है।

क्षेमेंद्र की भाषा का लालित्य, सरलता और सरसता इस महाकाव्य में प्रकर्ष पर है। नये मुहावरों के प्रयोग में वे सिद्धहस्त हैं जैसे—मुष्णाति दक्षिणं पाणिं वामो वामं च दक्षिणः (१/२८)। अनुप्रासों की लड़ियाँ गूँथने में तथा अपनी कविता को मौलिक उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं से विभूषित करने में क्षेमेंद्र विलक्षण प्रतिभा का परिचय देते हैं। प्रलयकालीन मेघमाला के लिए उन्होंने उपमाएँ दी हैं—

अथादृश्यत कार्तान्तमहिषस्येव सन्ततिः।
निर्दग्धजगदङ्गारमलिना मेघसहतिः॥ (१.३६)

मेघो के लिए यमराज के भैसों के समुदाय तथा जलते जगत् के कोयलों के समान काली ये उपमाएँ प्रसंग के अनुरूप हैं।

पूरे महाकाव्य में अनुष्टुप् छंद का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है, जिससे कथा का प्रवाह निरन्तर बना रहा है। कहीं-कहीं शार्दूलविक्रीडित जैसे बड़े छंदों को भी इस प्रवाह में अवरोध किये बिना कवि ने गूँथ दिया है।

अवतारों की कथाओं में बुद्ध के वृत्तांत को छोड़कर क्षेमेंद्र शेष वृत्तांतों के लिए पुराणों के ऋणी हैं, पर उन्होंने इन वृत्तांतों में नवीन प्रसंगों या नयी परिकल्पनाओं का विन्यास भी किया है। राम के वृत्त में उन्होंने प्रारम्भ से ही रावण के साथ संघर्ष को केंद्र में रखा है। आरम्भ में ही रावण के द्वारा सती वेदवती के प्रधर्षण का चित्रण बहुत प्रभावशाली है, और यही रावण के पतन का कारण बनता है।

क्षेमेंद्र की एक बड़ी विशेषता उनके द्वारा समकालीन परिस्थितियों का संकेत है। पौराणिक वृत्त की परिधि में उन्होंने अपने समय के समाज और उसकी प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कर दिया है।

क्षेमेंद्र की सबसे बड़ी विशेषता विचारप्रधानता और तथ्य तथा भूतार्थता के प्रति जागरूकता है। इस कारण जीवन के मर्म को उद्घाटित करने वाली सूक्तियाँ उनके काव्यों में पदे-पदे प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए—

प्रायेणोपकृतिः कृतघ्नहृदये पाषाणपट्टे कृषिः।

(दशावतारचरित, ७/१७२)

(कृतघ्न व्यक्ति के लिए किया गया उपकार पत्थर पर खेती करने जैसा है।)

कुलस्यान्तनिमित्तेन स्त्रीणां दुश्चरितेन वा।
पापशापेन वा नूनं जायन्ते कुलपांसनाः॥

(दशावतारचरित, ४/५५)

(कुल के अंत के निमित्त या स्त्रियों के दुश्चरित्र के कारण या पाप अथवा शाप के कारण कुल के कलंकी जन्म लेते हैं।)

अहो कालसमुद्रस्य न लक्ष्यन्तेऽतिसन्तताः।
मज्जन्तोऽनन्तरलस्य युगान्ता इव पर्वताः॥

(दशावतारचरित, ८/१)

कालरूपी महासागर में लगातार विलीन होते जा रहे युगांत ऐसे ही अलग नहीं दिखते जैसे सागर में डूबते पहाड़।

बोधिसत्त्वावदानकल्पलता—यह बौद्धधर्म की परम्परा में विकसित जातककथाओं का बृहदाकार संकलन है, जिसकी रचना क्षेमेंद्र ने अपने समय के बौद्ध आचार्यों नक्क तथा गोपदत्त के अनुरोध पर की थी। १०८ पल्लवों में विभाजित है, जिनमें से १०७ पल्लव क्षेमेंद्र के द्वारा प्रणीत है तथा १०८वें पल्लव की पूर्ति उनके पुत्र सोमेंद्र के द्वारा की गयी। इसका रचनाकाल १०५२ ई० है। तेरहवी शताब्दी में इस महाकाव्य का अनुवाद तिब्बती भाषा में हुआ। यह कृति क्षेमेंद्र की धार्मिक उदारता की परिचायक है।

मंख : श्रीकण्ठचरित

श्रीकण्ठचरित के प्रणेता महाकवि मंख भी कश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम विश्वावर्त था। विश्वावर्त के चार पुत्र थे। ये चारों कवि थे तथा चारों ने राजकीय सम्मान व पदप्रतिष्ठा प्राप्त की। मंख काव्यशास्त्र के आचार्य के रूप में भी जाने जाते

हैं। ये राजा जयसिंह (११२९-५० ई०) के आश्रय में रहे। उन्होंने काव्यशास्त्र का अध्ययन उस समय के विख्यात अलंकारशास्त्री रुय्यक से किया था। रुय्यक भी राजा जयसिंह के द्वारा सम्मानित थे। आचार्य रुय्यक ने अपने अलंकारसर्वस्व में मंख की कृति श्रीकण्ठचरित का उल्लेख भी किया है। उनकी अन्य रचनाओं में मंखकोश, अलंकारसर्वस्व की टीका तथा साहित्यरत्नाकर प्रसिद्ध हैं। श्रीकण्ठचरित महाकाव्य की रचना ११४० ई० में हुई। इस महाकाव्य में २५ सर्ग हैं। मंख ने यह काव्य भगवान् शिव की प्रीत्यर्थ लिखा और उन्हीं को अर्पित किया—

तत्काव्यपुस्तकमथार्पयतिस्म तस्मै।
पूजाक्षणे त्रिजगतो गुरवे हराय॥

राजा की चाटुकारिता में अपनी वाणी को नियोजित करने वाले कवियों से मंख को चिढ़ थी। अपनी मनस्विता का परिचय देते हुए वे कहते हैं—

धिक् तान् कृतप्लुतिर्येषां भारत्यधिसरस्वति।
स्वं दूषयति मत्तेव नृपचाटुकपांसुभिः॥ (२५/८)

विषयवस्तु—श्रीकण्ठचरित शिव के द्वारा त्रिपुरासुरवध की कथा पर आधारित है। प्रथम सर्ग में मंगलाचरण व देवस्तुति है, दूसरे में सुकवि प्रशंसा तथा कुकविनिंदा, तीसरे में कवि ने अपने देश और वंश का परिचय दिया है। चौथे सर्ग में कैलास पर्वत का वर्णन है। पाँचवें में भगवान् शिव के विग्रह का भक्तिभाव से कवि ने चित्र खींचा है। छठे सर्ग से सोलहवें सर्ग तक वसंत, दोला, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा, पानगोष्ठी, संध्या, चंद्रोदय, शृंगार, विलासक्रीड़ा तथा प्रभात का वर्णन है। सत्रहवें सर्ग में त्रिपुरासुर के अत्याचारों से त्रस्त देवगण शिव के पास आते हैं। अठारहवें सर्ग से चौबीसवें सर्ग तक युद्ध की तैयारी और युद्ध तथा अंत में त्रिपुरविनाश का चित्रण है।

इस महाकाव्य की एक दुर्लभ विशेषता इसके अंतिम सर्ग में दिया गया एक कविगोष्ठी का विशद विवरण है, जो महाकाव्य के समाप्त होने के उपलक्ष्य में मंख के भाई अलंकार के द्वारा आयोजित की गयी थी। अलंकार राजा जयसिंह के अमात्य थे। मंख ने इस कविगोष्ठी के विवरण में सभा में उपस्थित उस समय के विद्वानों और कवियों तथा अन्य संभ्रांतजनो का परिचय दिया है।

कथा-रचना की दृष्टि से यह महाकाव्य अलंकृत या विदग्ध महाकाव्यों के लक्षणों का अनुसरण करता है। वर्णनों की बहुलता के कारण षष्ठ से षोडश सर्ग तक कथा का सूत्र विच्छिन्न हो गया है। वसंत (सर्ग-६), दोलाक्रीडा (सर्ग-७), पुष्पावचय (सर्ग-८), जलक्रीडा, संध्या (सर्ग-१०), चंद्रमा तथा चंद्रोदय (सर्ग-११-१२), मधुपान तथा रतिकेलि (सर्ग-१३-१४), प्रभात (सर्ग-१६) आदि मुख्य वर्णन हैं।

काव्यकला—श्रीकंठचरित में अंगीरस वीर है। अनेक सर्गों में शृंगार रस को मुख्यता मिली है। शिव की स्तुतियों में शांत रस का अच्छा परिपाक हुआ है। अलंकार, गुण, रीति और वक्रोक्ति के विन्यास में मंख सफल हैं। उत्प्रेक्षा उनका प्रिय अलंकार है। कश्मीर में शीत के समय घर-घर में जलती हसंती (अँगीठी) का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

हिमागमे तत्र गृहेषु योषितां ज्वलद्बहुच्छिद्रमुखी हसन्तिका।
विभाति जेतुं मदनेन शूलिनं धृता ततिर्वह्निमयीव चक्षुषाम्॥

(श्रीकंठचरित, ३/२९)

(शीत के आने पर स्त्रियाँ घर-घर में अनेक छिद्रों वाली अँगीठियाँ जला लेती थीं। ये अँगीठियाँ ऐसी लगतीं थीं, जैसे कामदेव ने शिव को जीतने के लिए क्रोध में भर कर अपने असंख्य नयनों को लाल कर लिया हो।)

मंख वैदर्भी तथा गौडी दोनों रीतियों में समान रूप से दक्ष हैं। कोमल भावों की अभिव्यक्ति करने में भी वे निपुण हैं और युद्ध के वर्णनों में भयावह वातावरण बनाने में भी। लालित्य और लय के कारण उनके पद्यों में अनेकत्र गीति का आनन्द मिलता है।

संदेश तथा सूक्तियाँ—मंख एक विचारक तथा जीवन के मर्म को उद्घाटित करने वाले कवि हैं। उनके कथनों में मनस्विता, स्वाभिमान तथा उदात्त चिंतन की अभिव्यक्ति मिली है। उनकी कतिपय सूक्तियाँ यहाँ दी जा रही हैं—

आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव विस्तारमन्यत्र न तैलबिन्दुः। (२/१२)

(तैल की बूँद पानी में पड़ते ही फैल जाती है, अन्यत्र नहीं)

न हि संरभते दीपो निरोद्धुं रोधसी तमः। (१९/३०)

(दिया सारे आकाश के अँधेरे को दूर नहीं कर सकता।)

न रत्नमायाति हि निर्मलत्वं शाणोपलारोपणमन्तरेण। (२/७)

(जब तक कसौटी पर नहीं चढ़ाया जाता, रत्न निर्मल नहीं होता।)

सा वैदुषी फलं यस्या न परोपकृते फलम्।
शिक्षन्ते जीवनोपायमन्ये वाङ्मयशिल्पिनः॥ (२५/११५)

(विद्वत्ता वही है, जो परोपकार में फलित हो, जो केवल जीविका चलाने का उपाय सीखते हैं, वे वाणी के कारीगार मात्र हैं।)

श्रीहर्ष : नैषधीयचरित

श्रीहर्ष के नैषधीयचरित की गणना भारवि और माघ की कृतियों के साथ संस्कृत महाकाव्यों की बृहत्त्रयी में होती है। कल्पना के चमत्कार व रमणीयता तथा पदलालित्य में श्रीहर्ष अपने पूर्व के श्रेष्ठ महाकवियों—भारवि तथा माघ से आगे हैं। इसीलिए संस्कृत-पंडितों में यह उक्ति प्रसिद्ध है—उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ? (नैषध काव्य के उदित हो जाने पर कहाँ माघ और कहाँ भारवि ?)

परिचय—श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में अपना संक्षिप्त परिचय दिया है। तदनुसार इनके पिता का नाम हीर तथा माता का नाम मामल्लदेवी था। अपने पिता को इन्होंने 'कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः' अर्थात् श्रेष्ठ कवियों के माथे के मुकुट का हीरा कहा है। श्रीहर्ष को कान्यकुब्ज नरेश जयित्रचंद्र (जयचंद) की सभा में सम्मान मिला था। श्रीहर्ष एक साधक तथा महान् वेदांती भी थे। इनका खंडनखंडखाद्य नामक ग्रंथ दार्शनिक पांडित्य की अभूतपूर्व ऊँचाइयाँ छू गया है।

इन्हें चिंतामणि मंत्र सिद्ध था। अपने लिए उन्होंने यह भी कहा है—यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परब्रह्मप्रमोदार्णवम्—जो हर्ष समाधि में परब्रह्म के प्रमोदसागर का साक्षात्कार करता है। इससे विदित होता है कि वे योगी थे।

श्रीहर्ष गहड़वाल क्षत्रिय काशी के राजा विजयचंद्र तथा उनके पुत्र जयचंद्र की सभा में रहे। बाद में गहड़वाल क्षत्रियों ने अपनी राजधानी काशी के स्थान पर कान्यकुब्ज (कन्नौज) बना ली। श्रीहर्ष के विषय में पंडित समाज में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, जिन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। कहा जाता है कि इनके पिता हीर को प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य ने शास्त्रार्थ में पराजित किया था, जिसका प्रतिशोध इन्होंने उदयनाचार्य को हरा कर लिया। एक अन्य किंवदंती में कश्मीर के प्रख्यात आचार्य मम्मट को उनका मामा माना गया है। इसके अनुसार श्रीहर्ष अपना नैषधीयचरित पूरा करके जब उसे दिखाने मम्मट के पास ले गये, तो उन्होंने कहा कि यदि यह महाकाव्य पहले तुम मुझे दिखा देते, तो अपने ग्रंथ काव्यप्रकाश के दोष-प्रकरण के लिए मुझे अन्य काव्यों से दोष न खोजने पड़ते। वस्तुतः उदयन, मम्मट और श्रीहर्ष के काल में इतना अंतर है कि ये कथाएँ पंडितों ने मनोविनोदार्थ गढ़ी प्रतीत होती हैं।

श्रीहर्ष ने अपने आपको मातृचरणाम्भोजालिमौलि अर्थात् माता के चरणकमल अपने माथे पर रखने वाला कहा है, जिससे अपनी माँ के ऊपर उनकी श्रद्धा प्रकट होती है, तथा यह संकेत मिलता है कि उन्हें माता की सेवा करने का पर्याप्त अवसर मिला था। उनके एक पौत्र का भी उल्लेख मिलता है, जिसका नाम कमलाकर गुप्त था। कमलाकर गुप्त ने नैषधीयचरित पर एक टीका लिखी थी।

नैषधीयचरित में श्रीहर्ष ने उपरिलिखित खंडनखंडखाद्य के अतिरिक्त अपनी निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख किया है—विजयप्रशस्ति, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, छिंदप्रशस्ति, **अर्णववर्णन, स्थैर्यविचारप्रकरण,** शिवशक्तिसिद्धि और नवसाहसांक-चरित- चंपू। इनमें से प्रथम तीन कृतियाँ अलग-अलग राजाओं की प्रशस्तियाँ हैं, जिससे प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष कुछ अन्य राजाओं के आश्रय में रहे, पर संभवतः अपने स्वाभिमान के कारण किसी एक राजा की सभा में टिक न सके। विजयप्रशस्ति राजा जयचंद के पिता विजयचंद्र को लेकर लिखी गयी है।

विषयवस्तु—नैषधीयचरित में नल-दमयंती की कथा है। इसका मूल स्रोत महाभारत के वनपर्व में प्रोक्त नलोपाख्यान है। इस आख्यान से केवल नल और दमयंती के विवाह तक का कथानक ही श्रीहर्ष ने लिया है। सुविस्तृत वर्णनों और कल्पनाओं के द्वारा उन्होंने नलोपाख्यान की कथा के प्रारम्भिक भाग को एक विशाल महाकाव्य का रूप दे दिया है। आकार की दृष्टि से श्रीहर्ष का महाकाव्य अपने पूर्ववर्ती भारवि और माघ की कृतियों से अधिक बड़ा है। इसमें लम्बे-लम्बे बाईस सर्ग हैं। तेरहवें तथा उन्नीसवें सर्ग को छोड़ कर शेष सभी सर्गों में प्रत्येक में १०० से अधिक पद्य हैं, अनेक सर्गों में १५० से भी अधिक पद्य हैं। सबसे बड़ा सत्रहवाँ सर्ग है, जिसमें २२२ पद्य हैं।

प्रथम सर्ग में राजा नल के रूप व गुणों का वर्णन है। नल उद्यान में एक हंस को पकड़ लेते हैं। दूसरे सर्ग में उसके मुख से दमयंती की प्रशंसा सुनकर नल दमयंती पर

अनुरक्त हो जाते हैं। तीसरे सर्ग में वही हंस दमयंती के सामने नल की भी प्रशंसा करता है। चौथे सर्ग में नल के विरह में दमयंती की विकलता का चित्रण है। इसी सर्ग में उसके पिता राजा भीम उसके स्वयंवर का निर्णय लेते हैं। पाँचवें सर्ग में स्वयंवर में भाग लेने के लिए जाते नल को इंद्र, अग्नि, यम और वरुण दमयंती के पास अपना दूत बना कर भेजते हैं। षष्ठ सर्ग में नल देवों के वरदान से अदृश्य रह कर दमयंती के अंत:पुर में पहुँच जाता है। सातवें सर्ग में दमयंती का नखशिख वर्णन किया गया है। आठवें सर्ग में नल देवों का संदेश दमयंती को सुनाता है और उनकी ओर से उससे अनुरोध करता है कि वह इन देवों में से किसी का वरण करे। नवें सर्ग में दमयंती नल को अपना निश्चय बताती है कि वह उसी का वरण करेगी और वह उससे स्वयंवर में आने का अनुरोध करती है। दसवें सर्ग में स्वयंवर का वर्णन है। इस स्वयंवर में इंद्र आदि चार देव राजा नल का रूप धारण करके इसके आसपास बैठ गये हैं, ताकि दमयंती भ्रमित होकर उन्हीं में से किसी के कंठ में वरमाला डाल दे। ग्यारहवें और बारहवें सर्ग में सरस्वती स्वयंवर में आये राजाओं का परिचय देती है। तेरहवें सर्ग में इंद्र, अग्नि, यम और वरुण इन चार देवताओं और राजा नल का एकसाथ वर्णन है, जिसमें प्रत्येक श्लोक के इन पाँचों के लिए अलग-अलग पाँच अर्थ निकलते हैं। महाकाव्य के इस प्रसंग को पंचनली कहा जाता है। चौदहवें सर्ग में दमयंती इंद्र आदि देवों की स्तुति करती है, और अंत में वास्तविक नल को पहचान कर वह उसके कंठ में वरमाला डाल देती है। देवगण उसे आशीष देते हैं। पंद्रहवें सर्ग में विवाह की तैयारी का वर्णन है। सोलहवें सर्ग में बारातियों के भोजन तथा नल-दमयंती के विवाह का वर्णन है। नल अपनी राजधानी लौटते हैं। सत्रहवें सर्ग में दमयंती के विवाह से लौटते हुए देवों को कलि मिलता है। कलि की सेना का वर्णन करके कवि ने उसके मुख से चार्वाक दर्शन का भी विवेचन यहाँ कराया है। देवगण उसके मंतव्यों का खंडन करते हैं। देवों से कलि को पता चलता है कि दमयंती का स्वयंवर हो चुका। कलि नल को शाप देता है कि वह राज्य से च्युत हो जायेगा और दमयंती से उसका वियोग होगा। उन्नीसवें और बीसवें सर्ग में नल-दमयंती के विहार, वैतालिकों के द्वारा नल को जगाने, सूर्योदय तथा चंद्रास्त का वर्णन है। इक्कीसवें सर्ग में नल विष्णु, शिव, वामन आदि देवों की स्तुति करता है। बाईसवें सर्ग में संध्या और रात्रि, चंद्रोदय तथा दमयंती के सौंदर्य के वर्णन के साथ काव्य समाप्त हो जाता है।

श्रीहर्ष यह काव्य पूरा नहीं कर पाये अथवा वे यहीं इस महाकाव्य को समाप्त करना चाहते थे, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। टीकाकार नारायण का मत है कि नैषधीयचरित बाईस सर्ग का पूर्ण महाकाव्य है। बाईसवें सर्ग की समाप्ति पर कवि ने अपना परिचय देते हुए मंगल श्लोक लिखे हैं, यह भी इस महाकाव्य के बाईसवें सर्ग में ही समाप्त होने का प्रमाण है। दूसरी ओर काव्यप्रकाश के एक टीकाकार अच्युतार्य ने नैषधीयचरित में सौ सर्ग होने का उल्लेख किया है।

टीकाएँ—ऑप्रेख़्त ने संस्कृत ग्रंथों की अपनी बृहत्सूची में नैषधीयचरित पर २३ प्राचीन टीकाओं का उल्लेख किया है। चांडू पंडित ने अपनी नैषधदीपिका टीका १२९६

ई० में लिखी थी। इन्होंने अपने से पहले की विद्याधर द्वारा लिखी टीका का उल्लेख किया है। इससे विदित होता है कि नैषधीयचरित अपने रचनाकाल से ही पंडितसमाज में कितना लोकप्रिय था और इस पर टीका लिखने की परम्परा तभी से आरम्भ हो गयी थी। मल्लिनाथ, चारित्रवर्धन, भरतमल्लिक आदि श्रेष्ठ पंडितों ने नैषध की व्याख्या में अपनी लेखनी व्यापृत की है। अन्य टीकाओं में **नारायण की नैषधीयप्रकाश**, **जिनराज की सुखावबोध, मल्लिनाथ की जीवातु, चारित्रवर्धन की तिलक, नरहरि की दीपिका** तथा **विद्याधर की साहित्यविद्याधरी** नामक टीकाएँ उल्लेख्य हैं।

रस—नैषधीयचरित का अंगीरस शृंगार है। नल और दमयंती के अनुराग के वर्णन में कवि ने पूर्वानुराग, मिलन और विरह की स्थितियों का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। पूर्वराग के अंतर्गत दमयंती की चिंता, स्मृति तथा अभिलाष—इन अवस्थाओं का सटीक चित्रण है। स्वयंवर के समय नल को माला पहनाती हुई दमयंती के भावप्रवाह में त्वराजनित वेग और त्रपाजनित अवरोध का चित्रण सुंदर है। सखी का रूप धारण किये हुए सरस्वती उपहास में उसका हाथ पकड़ कर खींच कर राजा की ओर ले जाती हैं, और दमयंती जिस प्रकार संभ्रमपूर्वक अपना हाथ छुड़ाती है, उसमें प्रेम के संचारी भावों-भय, त्रास, असूया आदि का रमणीय चित्र प्रस्तुत किया गया है। स्वयंवर प्रसंग के पश्चात् नल और दमयंती के संभोग शृंगार का कवि ने विशद निरूपण किया है। कवि ने इस वर्णन में दमयंती के शरीरज, सत्त्वज तथा स्वभावज—तीनों प्रकार के अलंकारों को गूँथ दिया है। नायक और नायिका के परिहास के चित्रण में हास्य रस शृंगार का पोषक बन गया है। स्वयंवर में आये राजाओं तथा इंद्रादि देवों की दमयंती के प्रति रति अनुभयनिष्ठ होने से शृंगाररसाभास में परिणत हो जाती है। दमयंती के प्रति उसके माता-पिता के स्नेह का चित्रण करके कवि ने भावध्वनि या वात्सल्य को भी मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। नल के द्वारा पकड़ लिये जाने पर हंस की उक्तियों में करुण रस की निष्पत्ति भी बड़ी प्रभावशाली है। हंस कहता है—

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे त्वां करुणा रुणद्धि नो॥ (१/१३५)

(मैं अपनी माँ की एकमात्र संतान हूँ। मेरी माँ वृद्धावस्था से आकुल है। मेरी हंसिनी ने अभी-अभी चूजे जन्मे हैं। इन दोनों का मैं ही अकेला सहारा हूँ। हे विधाता, ऐसे मुझको मारते हुए क्या तुम्हें करुणा रोक नहीं रही?)

नल के गुणों के निरूपण में वीररस के चारों प्रकार—दानवीर, दयावीर, धर्मवीर तथा युद्धवीर नैषधीयचरित में व्यक्त हुए हैं। स्वर्णहंस को देख कर नल और दमयंती के कौतुक के चित्रण में अद्भुतरस भी है। नल और दमयंती के प्रथम साक्षात्कार में दोनों एक-दूसरे को देख कर जिस प्रकार विस्मयाविष्ट और कौतुक से आकुल हो जाते हैं, उस प्रसंग में अद्भुत रस शृंगार का अंग बनकर आया है। कीकटाधिप आदि स्वयंवरसमागत राजाओं के वर्णन में भी कवि ने कुशलता से हास्यरसान्वित अद्भुत का विन्यास कर दिया है। देवों के नल के समान रूप बना कर उसके आसपास बैठ जाना

और अंत में स्वयंवर हो जाने पर अपने प्रकृत रूप में आना—इस प्रसंग के चित्रण में भी अद्‌भुत की अंतर्धारा है।

शैली तथा वर्णन-कला—श्रीहर्ष के वर्णनों में कल्पना के अद्‌भुत रंग बिखेरे हैं। उक्तिवैचित्र्य की भी निराली छटाएँ इन वर्णनों में हैं। नल, दमयंती के रूप और गुणों का वर्णन हो या वनविहार (प्रथम सर्ग) या कुंडिनपुर नगर (द्वितीय सर्ग), सर्वत्र उनकी प्रतिभा का अनूठा विलास झलकता है।

श्रीहर्ष मुख्यत: वैदर्भी रीति के कवि हैं। श्लेष के माध्यम से वैदर्भी (दमयंती) तथा वैदर्भी रीति दोनों की एकसाथ सराहना करते हुए उन्होंने कहा है—

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥ (३/११६)

उनकी शैली में सुकुमार मार्ग तथा विचित्र मार्ग दोनों का समन्वय है। पदलालित्य नैषधकाव्य का सर्वव्यापी गुण है। श्लक्ष्ण मसृणता का ऐसा निर्वाह अन्य किसी महाकाव्य में आद्यंत कदाचित् ही हुआ है। दमयंती के नयन के वर्णन में श्रीहर्ष कहते हैं—

नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृषती तदीक्षणे।
अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम्॥ (२/२३)

यहाँ प्रत्येक पद दमयंती के लावण्य और सौकुमार्य तथा उसकी आँखों की उज्ज्वलता और चितवन की चंचलता को ध्वनित करता लगता है। अनुप्रास श्रीहर्ष की रचना में अहमहमिकया दौड़ते हुए आते लगते हैं। उनकी लेखनी से निकल कर पदावली थिरकती और ललित नर्तन करती लगती है। कहीं-कहीं तो जयदेव गीतगोविंद की माधुरी को श्रीहर्ष महाकाव्य में उतार कर ले आते लगते हैं। जैसे—सानन्दाः कुरुविन्दसुन्दरकरस्यानन्दनं स्यन्दनम्। (१५/९२)। या 'नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीतलैः' (१/८५)। नादसौंदर्य का विलक्षण रचनात्मक उपयोग श्रीहर्ष करते हैं। भाषा के वैभव का परिचय भी श्रीहर्ष के काव्य में जैसा मिलता है वैसा अन्य किसी संस्कृतकाव्य में नहीं मिलेगा। श्रीहर्ष नये-नये मुहावरों की सहज रचना करते चले जाते हैं। उदाहरण के लिए—'कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते' (३/१७)—कार्य अपने कारण से गुणों को सीखता है। यहाँ अधीते का लाक्षणिक प्रयोग है।

विदग्धता तथा वक्रोक्ति की विच्छित्तियाँ उनकी रचना में अभिव्यक्ति के अनूठे रूप प्रकट करती हैं। प्रत्येक पद्य में शास्त्रज्ञान, गूढार्थ, वक्रता की छटा और अर्थ की शृंखलाएँ गुँथी हुई हैं, कालिदास और अमरुक जैसे महाकवियों की भाँति रस और भाव का प्रतान यहाँ सहज रूप में नहीं रचा जाता, उसके लिए आयास करना होता है। विदग्धता, पांडित्य, रसिकता, अध्यात्म, तंत्र, दर्शन और विचार का ऐसा समन्वय अन्यत्र नहीं मिलेगा। किसी भी तथ्य या कथ्य को प्रकट करने के लिए हर्ष अपनी ही कथनभंगी अपनाते हैं। रातें लम्बी लगने लगीं—यह कहना है, तो वे कहते हैं—मेदसां भरैर्विभावरीभिर्बिभराम्बभूविरे—विभावरियाँ मेदे या मज्जा के भार से भरी-भरी हो

गयीं। कुंडिनपुरी के ऊँचे भवनों की छतों में लगी चंद्रकांत मणियों से स्रवित होती जल की बूँदों से आकाशगंगा तुंदिल बन गयी लगती है (२.८९)। कुंडिनपुरी के बाजार को हर्ष ने विष्णु के उदर से उपमा दी है, जिसमें मार्कंडेय ने निखिल ब्रह्मांड को देखा था (२/९१)। नल के पांडित्य पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं—

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाः चतस्त्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम्॥ (१/४)

यहाँ अध्ययन, बोध, आचरण और प्रचार ये चारों अवस्थाएँ चौदह विद्याओं में से प्रत्येक पर लगाने से तो छप्पन स्थितियाँ होगीं। कवि कहना चाहता है कि नल ने इन चारों अवस्थाओं के साथ चौदह विद्याओं का अभ्यास करके भी उन्हें छप्पन के स्थान पर चौदह ही रहने दिया। पांडित्य, विदग्धता और रसिकता के इस समन्वय को देखते हुए श्रीहर्ष की स्वयं अपने विषय में यह गर्वोक्ति मिथ्या नहीं कही जा सकती—

यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः। (२२/१५३)

संध्या के वर्णन में वे कहते हैं—काल ने सूर्यरूपी दाडिम (अनार) को खाकर जो बीज उगल कर फेंके वे ही तारे बन कर आकाश में छिटक रहे हैं (२२/१४)। सूर्य कवि को परिव्राजक या संन्यासी के रूप में दिखायी पड़ता है, जिसने संध्या के समय मेघ का कषाय वस्त्र पहन लिया है (२२/१२)। अनेक स्थलों पर उनकी कल्पनाएँ अतिरंजित होने से कोरा चमत्कार ही उत्पन्न कर पायी हैं, हृदय का स्पर्श नहीं करतीं। चंद्रमा उन्हें तिल से तिलकित पर्पट (पापड़) लगता है (२२/१४७)। दमयंती के नखशिख का वर्णन कवि ने दूसरे, सातवें, दसवें, पंद्रहवें तथा बाईसवें सर्ग में किया है। इन वर्णनों में शास्त्रों, दर्शनों और भौतिक संसार के विविध उपादानों से अछूते उपमान जुटाये गये हैं। कल्पनाओं का अनूठापन इन वर्णनों में चकित और स्तब्ध कर देने वाला है। चंद्रमा दमयंती के मुख के आगे तुच्छ है—इसकी व्यंजना कराने के लिए हर्ष कहते हैं—

धृतलाञ्छनगोमयाजनं विधुमालेपनपाण्डुरं विधिः।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजानननीराजनवर्धमानकम्॥ (२/२६)

(ऐसा प्रतीत होता है कि विधाता ने चंद्रमा को दमयंती के मुख की आरती उतारने के लिए एक वर्धमानक या दीपाधार बना रखा है, जिसे पीले रंग से लीप कर उसमें कलंकरूपी गोमय को रख कर वे दमयंती के मुख की आरती उतारने के लिए उसे घुमाते जा रहे हैं।)

शास्त्र, लोक, कविसमय के अक्षय भण्डार का उपयोग श्रीहर्ष अपने अप्रस्तुतविधानों के लिए करते हैं। व्याकरण, न्याय आदि दर्शनों तथा काव्यशास्त्र या नाट्यशास्त्र तक वे बहुविध उपमान ढूँढ़ निकालते हैं।

वर्णनों में श्रीहर्ष कल्पना के साथ-साथ यथार्थ का तालमेल बिठाकर चमत्कार ला देते हैं। कहीं-कहीं तो हम उनके वर्णनों में उनके समय का सजीव रूप साकार पाते हैं। उदाहरण के लिए कुंडलपुरी के आपण (बाजार) में सत्तू की सुगंध का यह वर्णन—

प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः।
कलहान्न घनाद्यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः॥ (२/८५)

(प्रत्येक बाजार के मार्ग में सत्तू की सुगंध पथिकों को पुकार रही थी, और घरट्ट (आटाचक्की) की पिसाई का कोलाहल इस तरह उठता रहता था कि वह कोलाहल आज भी मेघों के साथ लगा हुआ सुना जा सकता है।)

इसी प्रकार आपण या बाजार के लिए वे कहते हैं—'बहुकम्बुमणिर्वराटिका-गणनात् करपर्वतोत्करः। हिमवालुकयाच्छवालुकः पटु दध्वान यदापणार्णवः॥' (२/८८) उस नगरी का बाजार सागर बन गया था, अनेक प्रकार के शंख, मणियों और कौड़ियों की गणना में लगे हाथों के कैकड़े वहाँ लगातार घूमते दिखते थे। कपूर के ढेर वहीं सफेद रेत की तरह बिछे रहते थे।

डॉ० रामजी उपाध्याय के शब्दों में—'श्रीहर्ष का काव्यजगत् असीम है। उनके शब्द और भावों का भण्डार कल्पना और अनुमान की परिधि के परे है। कवि के अलंकारविन्यासों से प्रतीत होता है कि उन्होंने वास्तविक और कल्पित जगत् का पर्यवेक्षण यौगिक नेत्रों से किया था।'

केलि, क्रीड़ा और कौतुक श्रीहर्ष की भाषा की अनन्यसामान्य विशेषताएँ हैं। वे लीलापरायण कवि हैं, जो अनायास यमक, अनुप्रास व श्लेष की लड़ी गूँथते जाते हैं। प्रत्येक पद्य में पाँच-पाँच अर्थ एकसाथ देने वाली उनकी पंचनली संस्कृत महाकाव्य में कोई तुलना नहीं तो दमयंती की विरहवेदना के वर्णन में वे मंत्री तथा वैद्य के द्वारा उसके उपचार का विवरण भी श्लिष्ट पदावली में दिलवा देते हैं। दोनों राजा से एकसाथ कहते हैं—

कन्यान्तःपुरबोधनाय यदधीकारान्न दोषा नृपं
द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः।
देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
स्यादस्या नलगं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः॥ (४/११६)

श्रीहर्ष के अलंकारविधान की प्रशंसा करते हुए उनके टीकाकार चरित्रवर्धन कहते हैं—'श्रीहर्षेण यमक-मुरज-सर्वतोभद्र-प्रमुखान् बन्धान् अर्थापुष्टिकराननादृत्यार्थ-पुष्टिकरोऽनुप्रासादिशब्दालङ्कारः प्रायः प्रयुयुजे।'—अर्थात् श्रीहर्ष ने यमक, मुरजबंध, सर्वतोभद्र आदि अर्थ की क्षति करने वाले चित्रकाव्य के प्रकारों का परित्याग करके अर्थ की पुष्टि करने वाले अनुप्रास अलंकार का ही प्रायः प्रयोग किया है। श्रुत्यनुप्रास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा अन्त्यानुप्रास के उदाहरण नैषधचरित में भरपूर हैं। श्रीहर्ष के पदलालित्य की विशेष प्रशंसा की जाती रही है। 'दण्डिनः पदलालित्यम्' के समान ही 'नैषधे पदलालित्यम्' यह उक्ति भी प्रचलित है। पदावली की स्निग्धता नैषध में सर्वत्र रमाने और लुभाने वाली है। यह पदावली भी वर्ण्य-विषय के साथ एकाकार होकर तदनुरूप अर्थ की ध्वनियाँ झंकृत करती है। स्वयंवर में समागत राजाओं के वर्णन में कवि कहता है—

तत्रावनीन्द्रचयचन्दनचन्द्रलेपनेपथ्यगन्धवहगन्धवहप्रवाहम्।
आलीभिरापतदनङ्गशरानुसारी संरुध्य सौरभमगाहत भृङ्गवर्गः॥ (११/५)

(स्वयंवरार्थी राजाओं के चंदन और कपूर के अंगराग की सुगंध लेकर बहने वाले पवन का मार्ग छेंक कर कामदेव के बाणों की पंक्तियों की भाँति अनेक कतारों में टूट पड़ रहे भौंरे सुगंध का आनन्द ले रहे थे।)

पांडित्य—विदग्धता या रसिकता के साथ प्रकांड पांडित्य का दुर्लभ समागम श्रीहर्ष की कविप्रतिभा में हुआ है। वे शास्त्र तथा चिंतन को सहज काव्यात्मक विन्यास देने में बेजोड़ हैं। इसीलिए पंडितसमाज में यह कहावत प्रचलित है—नैषधं विद्वदौषधम्—नैषधकाव्य विद्वानों के लिए औषध है। चाहे मनोविज्ञान के सत्य और तथ्य हों, चाहे षड्दर्शनों का चिंतन—वे शास्त्र को हस्तामलकवत् अपने पद्यों में पिरो कर काव्यात्मक विन्यास दे देते हैं। नल बरबस स्वर्णहंस को पकड़ने के लिए बढ़ जाता है—इस प्रसंग के निरूपण में वे कहते हैं—

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना॥ (१/१२०)

(जो बात अवश्य घटने को है, उसके विषय में अनवग्रहग्रह (जिस पर किसी का बस नहीं ऐसी) विधाता की स्पृहा जिस दिशा में दौड़ती है, आँधी में उड़ चले तिनके की तरह मनुष्य का चित्त भी अवश होकर उसके पीछे-पीछे खिंचा चला जाता है।)

पांडित्य की क्रीड़ा भी उन्होंने अपने काव्य में अनेकत्र की है। इसको वे 'ग्रंथग्रंथि' कहते हैं। श्रीहर्ष का कहना है कि उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अपने काव्य में ग्रंथग्रंथियाँ डाल दी हैं, जिससे अपने आपको पंडित समझने वाले दुराग्रह के साथ काव्य का पाठ करने वाले लोग इसके साथ खिलवाड़ न करें।

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया।
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु॥
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत् काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥ (२२/१५२)

राजशेखर सूरि के प्रबंधकोश में श्रीहर्ष की एक उक्ति उद्धृत की गयी है, जिसमें वे स्वयं अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि सुकुमार विषयवस्तु वाले साहित्य तथा सुदृढ़ न्यायदर्शन के ग्रहण से ग्रंथित तर्क—इन दोनों में मेरी वाणी समान रूप से लीला करती है—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले।
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती॥

श्रीहर्ष की यह गर्वोक्ति सर्वथा सत्य है। उन्होंने अपने काव्य में भी व्याकरण, वेदांत, मीमांसा, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शनों का गहरा ज्ञान प्रकट किया है। नैषध सचमुच विद्वदोषध ही नहीं, विभिन्न विषयों के ज्ञान का बृहत्कोष भी बन गया है। इसके प्रख्यात टीकाकार विद्याधर ने हर्ष को सर्वज्ञ बताते हुए सत्रहवें सर्ग में उनके सर्वतोमुख पांडित्य की सराहना में कहा है—

अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्यसारो नयो
वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि।
नित्यं स्युः स्फुरितार्थदीपविहताज्ञानान्धकाराण्यसौ
व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधीः कोविदः॥

छंदोयोजना—माघ और भारवि की तुलना में श्रीहर्ष में छंदों की विविधता कम है। उन्होंने कुल उन्नीस प्रकार के छंदों का उपयोग किया है, इनमें सात सर्गों में तो उपजाति छंद का ही प्राधान्य है। चार सर्गों में वंशस्थ की व्यापकता है। दो-दो सर्गों में मुख्य छंद के रूप में अनुष्टुप्, वसंततिलका तथा स्वागता लिये गये हैं। एक-एक सर्ग में द्रुतविलंबित, रथोद्धता तथा वैतालीय भी लिये गये हैं। अचलधृति, त्रोटक, दोधक तथा पृथिवी—इन चार छंदों में केवल एक-एक पद्य पूरे महाकाव्य में है।

सूक्तियाँ—नैषधमहाकाव्य की सूक्तियों में विषयों की विविधता, कवि के सूक्ष्म पर्यवेक्षण और पांडित्य की झलक मिलती है। उदाहरण के लिए—

आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः। (५/१८३) या ५.१९३

(टेढ़े लोगों के लिए सिधाई ठीक नहीं है।)

मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता। (९/८)

(संक्षिप्त और सारगर्भित बात कहना ही वाणी की वाग्मिता या चतुराई है।)

चकास्ति योग्येन हि योग्यसङ्गमः (९/५६)

(योग्य से योग्य का संगम अच्छा लगता है।)

ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताताम् (२/४८)

(सज्जन लोग अपनी बड़ाई अपने कंठ से नहीं, अपने कार्य के सुपरिणाम से प्रकट करते हैं।)

आहृता हि विषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति (१८/२)

(विषयों में कृत्रिम एकाग्रता ज्ञान से धोये मन वाले वीतराग को दूषित नहीं करती।)

अतिथि-सत्कार के विषय में कवि की बड़ी रमणीय अभिव्यक्ति है—

स्वात्मापि शीलेन तृणं विधेयो देया विहायासनभूर्निजापि।
आनन्दवाष्पैरपि कल्प्यमम्भः पृच्छा विधेया मधुरैर्वचोभिः॥ (८/२१)

जनानने कः करमर्पयिष्यति? (९.१२५)

(लोगों के मुँह कौन बंद कर सकता है?)

सुज्ञं प्रतीङ्गितभावनमेव वाचः। (११/१०१)

(समझदार के प्रति संकेत ही वचन है।)

एकाम्बुबिन्दुव्ययमम्बुराशेः पूर्णस्य कः शंसति शोषदोषम्। (१८/६४)

(भरे-पूरे सागर में से एक बूँद खर्च हो जाये, तो इसे सूखने का दोष भला कौन कहेगा?)

उपसंहार

इस अध्याय में लगभग एक सहस्त्र वर्ष की कालिदासोत्तर महाकाव्यपरम्परा की चर्चा की गयी है। पहली शती से लगा कर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक के इस काल को निश्चित रूप से महाकाव्य की समृद्धि का काल कहा जा सकता है। इसमें अलंकृत या विदग्ध महाकाव्यों को विशेष प्रतिष्ठा मिली। ये महाकाव्य कथा को अनेक अंतर्ध्वनियों, विचारप्रवाहों, कल्पनाओं तथा अपने युग के समस्त ज्ञान और चिंतन के समावेश के साथ प्रस्तुत करते हैं। आर्ष महाकाव्यों की सहज प्रसाद रमणीय परम्परा का सातत्य भी बना रहा। ऐतिहासिक, पौराणिक, शास्त्रकाव्य, द्विसंधान काव्य आदि विविध दिशाएँ भी महाकाव्य की परम्परा में इस काल में उभरीं, इनमें से कुछ का परिचय अगले अध्यायों में दिया जायेगा।

✤

अध्याय ८

संस्कृत नाटक का समृद्धिकाल

ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारत ने कला और शिल्प के क्षेत्र में विशिष्ट उपलब्धियाँ अधिगत की थीं। इसके साथ ही सौंदर्यशास्त्र और नाट्यकला के विषय में भी नये आयाम सामने आ रहे थे। भरतमुनि के नाट्यशास्त्रीय चिन्तन की परम्परा इन शताब्दियों में निरन्तर विकसित होती रही। इन स्थितियों का सुपरिणाम रंगमंच और नाटक के सहकार और विकास-यात्रा में प्रतिफलित हुआ। भास और कालिदास जैसे पहली पंक्ति के नाटककारों के साथ गणनीय अन्य अनेक नाटककार ईसा के पश्चात् की शताब्दियों में हुए।

चंद्रक

चंद्रक संस्कृत नाट्य-साहित्य के एक विस्मृत किन्तु महान् नाट्यकार हैं। इनकी कोई नाट्यकृति इस समय उपलब्ध नहीं है। कल्हण ने इन्हें राजा तुंजीन प्रथम का समकालीन बताया है। तुंजीन का समय कुछ विद्वानों के मत से शालिवाहन शक सं० २५ (१०३ ई०) है तो अन्य के मत से शालिवाहन शक सं० २४० (३१८ ई०) है, जबकि मल्लाडि सूर्यनारायण शास्त्री ने तुंजीन प्रथम का काल शकपूर्व १८२ (१०४ ई० पू०) माना है। कुछ विद्वान् चंद्रक का समय चौथी शताब्दी के आसपास मानते हैं। कल्हण ने चंद्रक के नाटकों की लोकप्रियता की चर्चा करते हुए बताया है कि उस महाकवि के नाटक सब लोग देखते थे। क्षेमेंद्र ने औचित्यविचारचर्चा में चंद्रक के पद्य उद्धृत किये हैं। धनिक ने दशरूपकालोक में अनेक स्थायी भावों के बीच एक की प्रधानता दिखाने के लिए इनका एक अत्यन्त मार्मिक पद्य उद्धृत किया है। इससे यह विदित होता है कि ईसा पूर्व की शताब्दियों से लेकर दसवीं शताब्दी तक महाकवि चंद्रक की नाट्यकृतियों का देश में प्रचार था। भास के नाटकों की भाँति वे कालांतर में लुप्त हो गयीं।

एक अन्य विलुप्त नाटक 'लोकानन्दम्' के प्रणेता चन्द्रगोमिन् राजतरङ्गिणी में उल्लिखित नाट्यकार हैं। चन्द्र या चन्दक से ये भिन्न है (राजत १.१७६ तथा २.१६)। लोकानन्द की कथा मंणिचूडावदान पर आधारित है। इसका नायक बोधिसत्त्व मणिचूड है। इत्सिंग ने अपने यात्रावृत्त में लिखा है कि इस नाटक की रंगमंच पर अनेक प्रस्तुतियाँ हो चुकीं थीं। सम्प्रति यह नाटक तिब्बती अनुवाद में ही उपलब्ध है।

चन्द्रगोमिन् ने शिष्यलेख धर्म-काव्य नामक उपदेशपरक रचना भी लिखी थी, जिसमें ११४ पद्य हैं। इस काव्य का तिब्बती अनुवाद भी मिलता है। इसके अतिरिक्त चन्द्रगोमिन् ने कतिपय स्तोत्र भी लिखे थे, इनमें ५१ पद्यों में देशनास्तव का तिब्बती अनुवाद प्राप्य है।

शूद्रककृत मृच्छकटिक

परिचय

संस्कृत साहित्य में भास की भाँति शूद्रक भी एक पहेली हैं। शूद्रक एक राजा थे, पर वे कब और कहाँ राज्य करते रहे, इसका निर्णय करना कठिन है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शूद्रक उदयन या विक्रमादित्य की तरह प्राचीन काल में एक किंवदंती बन गये थे और उन पर संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में साहित्य भी लिखा जाता रहा। इसके अतिरिक्त उनका उल्लेख अनेक प्राचीन रचनाकारों ने किया है। राजशेखर के अनुसार रामिल और सौमल नामक कवियों ने 'शूद्रककथा' नाम से राजा शूद्रक का जीवनचरित लिखा था।

तौ शूद्रककथाकारौ रम्यौ रामिलसौमिलौ ।
काव्यं ययोर्द्वयोरासीदर्धनारीश्वरोपमम् ॥

पंचशिख ने प्राकृत में शूद्रककथा नाम से काव्य लिखा था। विक्रांतशूद्रक नामक अनुपलब्ध नाटक में शूद्रक को नायक के रूप में चित्रित किया गया था। बाण ने अपने हर्षचरित में शूद्रक के विषय में कहा है—"उत्सारकरुचिं च रहसि ससचिवमेव दूरीचकार चकोरनाथं शूद्रकदूतश्चन्द्रकेतुं जीवितात्।" तदनुसार शूद्रक के दूत चकोरनाथ चंद्रकेतु का उसके सचिव ने वध कर दिया था। अवन्तिसुन्दरीकथासार तथा क्षेमेंद्र की बृहत्कथामंजरी और सोमदत्त के कथासरित्सागर में भी शूद्रक का उल्लेख है। दण्डी की अवंतिसुंदरी कथा में शूद्रक को मृच्छकटिक का आर्यक बता दिया गया है और मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त शूद्रक का सहायक बंधुदत्त कहा गया है। स्कंदपुराण में शूद्रक को 'आंध्रभृत्य' कहा है। इन सब उल्लेखों तथा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि नाम के राजा के एक शिलालेख के आधार पर श्री चंद्रबली पांडेय का निष्कर्ष है कि वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि ही राजा शूद्रक तथा मृच्छकटिक का प्रणेता था। श्री पांडेय का यह भी मत है कि नाटककार भास तथा कामसूत्रकार वात्स्यायन भी इसी पुलुमावि राजा के समय में हुए। पद्मप्राभृतक भाण का प्रणेता भी वे इसी को मानते हैं। दूसरी ओर स्टेन कोनो आभीरवंशीय राजा शिवदत्त (२४८ ई० लगभग) को ही मृच्छकटिककार शूद्रक मानते हैं। पिशेल ने 'त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः' इस उक्ति का आधार लेकर दण्डी को ही मृच्छकटिक का रचयिता बता दिया है। सिल्वाँ लेव्ही तथा अन्य विद्वानों का मत है कि किसी अज्ञात कवि ने अपना नाम छिपाते हुए प्रख्यात राजा शूद्रक के नाम से यह नाटक रचा। कीथ ने तो शूद्रक को एक काल्पनिक व्यक्ति ही कह दिया है। कांतानाथ शास्त्री तैलंग का भी मत है कि शूद्रक मृच्छकटिक के कर्ता नहीं हैं।

उक्त विवेचन से इतना निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि (१) राजा शूद्रक एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, तथा (२) वे ईसा के पहले हो चुके थे। मृच्छकटिक के निम्नलिखित संदर्भों से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है—(१) बौद्ध भिक्षुओं का उल्लेख इस रूपक में सम्मान की भावना के साथ किया गया है और बौद्ध विहार को

इसकी घटनाओं का एक केन्द्र भी बनाया गया है। (२) नवम अंक में अधिकरणिक के संवाद **अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः** में मंगल को बृहस्पति का शत्रु बताया गया है। ज्योतिषशास्त्र में यह सिद्धान्त वराहमिहिर के पहले का है। (३) इस रूपक में वैशिक (गणिकाओं का शास्त्र) के उल्लेख भी कामसूत्रकार वात्स्यायन से इसकी निकटता को इंगित करता है। इनके अतिरिक्त मृच्छकटिक में पाणिनि-व्याकरण के विरुद्ध अनेक प्रयोग हैं, जिनसे उसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। डॉ० चंद्रबली पांडेय भी शूद्रक को विक्रमादित्य से कुछ पहले का मानते हैं। यदि स्कंदपुराण के उल्लेख को प्रामाणिक मान कर आंध्रभृत्य राजा शिवदत्त या शिमुक को शूद्रक का माना जाय, तो भी शूद्र का समय ईसा के पूर्व सिद्ध होता है। स्कंदपुराण में लिखा है कि आंध्रभृत्य विक्रमादित्य के २७ वर्ष पहले हुआ था।

स्कन्दपुराण में शूद्रक का समय कलिवर्ष ३२०० बताया गया है, तद्नुसार शूद्रक दूसरी शती ई० में हुए (स्कन्द० १.२.४०.२४९)। जैन परम्परा में शूद्रक को राजा सातवाहन से भी सम्बद्ध बताया गया है। अवन्तिसुन्दरी कथासार (४.२०१) के अनुसार शूद्रक का मूल नाम इन्द्राणीगुप्त था और अश्मक राज्य में उनका जन्म हुआ था।

स्कन्दपुराण में शूद्रक को आन्ध्रभृत्य भी कहा गया है। आभीर राजा आन्ध्रवंशीय राजाओं के अधीन रहे थे अतः शूद्रक आभीर थे—यह अनुमान किया जाता है।

दण्डी (१) कृत अवन्तिसुन्दरी कथा में शूद्रक की एक प्राचीन महाकवि के रूप में प्रशंसा की गई है। काव्यशास्त्र के आचार्यों में शूद्रक का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले आचार्य हैं वामन, जिनका समय आठवीं शताब्दी है। इन्होंने ग्रंथकार (शूद्रक) के नामनिर्देश के साथ मृच्छकटिक से दो श्लोक अपनी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में उद्धृत किये हैं, जिनमें से एक भास के नाम से प्रसिद्ध दरिद्रचारुदत्तम् में भी मिलता है। वामन ने अपनी काव्यलङ्कारसूत्रवृत्ति (३.२.४) में शूद्रक की श्लेष नामक अर्थगुण के प्रयोग के लिये भी सराहना की है। कुलशेखर ने अपने तपतीसंवरण नाटक की प्रस्तावना में शूद्रक, कालिदास, हर्ष और दण्डी को श्रेष्ठ कवि निरूपित किया है।

मृच्छकटिक की प्रस्तावना में शूद्रक का परिचय—मृच्छकटिक की प्रस्तावना में शूद्रक को इस रूपक का प्रणेता तो बतलाया गया है, पर उनका वर्णन एक प्राचीन यशस्वी राजा के रूप में किया गया है। ऐसा लगता है कि यह प्रस्तावना रूपक का अभिनय करने वाले सूत्रधार आदि ने अपने प्रयोग के लिए लिख कर मृच्छकटिक में जोड़ी होगी। प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है—महाराज शूद्रक जाति से द्विज, संग्रामप्रेमी और परमवीर थे। वे देखने में बड़े सुंदर थे, तथा सुकवि होने के साथ-साथ ही महान् पंडित भी थे। वे ऋग्वेद, सामवेद, गणित, वैशिक (गणिकाओं के विषय में ज्ञान), अग्निवेशकृत चौंसठ कलाओं, नाट्यकला और हस्तिविद्या में भी पारंगत थे। शंकर की उन पर कृपा थी। वे इतने बलशाली थे कि हाथियों से द्वंद्वयुद्ध करते थे, चरित्र में परम सात्त्विक थे। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था और वृद्धावस्था में राजपाट पुत्र को देकर पूरे

एक सौ वर्ष और दस दिन की आयु पूरी कर अग्नि में प्रवेश कर अपने प्राणों का विसर्जन किया था।

दरिद्रचारुदत्त और मृच्छकटिक—टी० गणपति शास्त्री द्वारा प्रकाशित भासनाटकचक्र में दरिद्रचारुदत्त नामका प्रकरण है। इसमें कुल चार ही अंक हैं। ये उपलब्ध चार अंक मृच्छकटिक के प्रथम चार अंकों से साम्य रखते हैं। प्रस्तावना से लगा कर चौथे अंक तक सारे पात्र वे ही हैं, कुछ अंशों को छोड़कर कथा भी वही है और किंचित् परिवर्तन के साथ अधिकांश संवाद वे ही हैं। इन दोनों रूपकों के इस साम्य के कारण भास और शूद्रक की समस्या और जटिल हो गयी है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मत प्रचलित हैं—(१) भास और शूद्रक एक ही व्यक्ति हैं। (२) भास और शूद्रक अलग-अलग व्यक्ति हैं। दरिद्रचारुदत्त मूल रूपक है, मृच्छकटिक उसका विकास है। मूल रूपक की प्रेमकथा में राजनीतिक घटनाचक्र बाद में जोड़ दिया गया है। (३) मृच्छकटिक मूल रूपक है, दरिद्रचारुदत्त उसका संक्षिप्त और सरलीकृत रूप है। चाक्यारों (केरल के अभिनेताओं) ने उसका राजनीतिक कथानक निकाल कर केवल प्रेमकथा वाला अंश लेकर प्रयोग के लिए चार अंकों का यह आलेख तैयार कर लिया।

यह कहना सही नहीं है कि दरिद्रचारुदत्त कुल चार ही अंकों का रूपक था। भोज ने सरस्वतीकंठाभरण में दरिद्रचारुदत्त का जो पद्य उद्धृत किया है, वह इस प्रकरण में आठवें अंक में रहा होगा, यह अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार सागरनंदी ने अपने नाटकलक्षणरत्नकोश में क्षोभजनक अनिमित्त दर्शन की व्याख्या में चारुदत्त का यह संवाद उद्धृत किया है—

शुष्कद्रुमगतो रौतिआदित्याभिमुखसंस्थितः ।
कथयत्यनिमित्तं मे वायसो ज्ञानपण्डितः ॥

यह प्रसंग मृच्छकटिक में नवें अंक में मिलता है, जहाँ नायक चारुदत्त अधिकरण मंडप में प्रवेश करते समय अपशकुन देखता है। पर यह पद्य यथावत् मृच्छकटिक में नहीं मिलता। वास्तव में यह पद्य मृच्छकटिक में चारुदत्त के निम्नलिखित कथनों का सरलीकृत रूप है—

रूक्षस्वरं वाशति वायसोऽयममात्यभृत्यामुहुराह्वयन्ति ।
सव्यं च नेत्रं स्फुरति प्रसह्य ममानिमित्तानि हि खेदयन्ति ॥
शुष्कवृक्षस्थितो ध्वाङ्क्षआदित्याभिमुखस्तथा ।
मयि चोदयते वामं चक्षुर्घोरमसंशयम् ॥(मृच्छ०, ९/१०.११)

अतः दरिद्रचारुदत्त की जो पांडुलिपि टी० गणपति शास्त्री ने प्रकाशित की है, वह अपूर्ण तथा संक्षिप्त है। यह पूरा रूपक मृच्छकटिक की भाँति दस अंकों का रहा होगा। उपलब्ध दरिद्रचारुदत्त में दूसरे अंक में द्यूतकर, माथुर और दर्दुरक का सारा प्रसंग निकाल दिया गया है। इस प्रसंग की परिणति दर्दुरक के द्वारा आर्यक के साथ क्रांति में सम्मिलित होने में होती है। यह मान्यता भी उचित प्रतीत नहीं होती कि मृच्छकटिक में दुराचारी राजा पालक का प्रसंग या उसे मार कर गोपाल दारक का राजा

बनना और इस क्रांति में दर्दुरक तथा शर्विलक के उसके सहयोगी होना—यह सब वृत्तांत बाद में जोड़ा गया है। वास्तव में वसंतसेना और चारुदत्त की कथा इस वृत्तांत के बिना अपने आपमें अधूरी ही है। अत: मृच्छकटिक का सारा राजनीतिक कथा-वृत्त मूल रूप में ही उसके संविधान का अनिवार्य अंग रहा है।

प्रस्तुत लेखक की मान्यता यह है कि न तो मृच्छकटिक मूल रूपक है, न दरिद्रचारुदत्त ही। इन दोनों का ही कोई मूल रूपक था, जिसे आधार बना कर दो अलग-अलग परम्पराओं में यह प्रकरण विकसित हुआ। मृच्छकटिक की प्रस्तावना में राजा शूद्रक का बहुत पहले कभी हो चुके एक स्मरणीय आदरणीय व्यक्ति के रूप में वर्णन है तथा इस रूपक का मूल प्रणेता भी उन्हीं को कहा गया है। अत: यह हो सकता है कि प्रथम शती ई० पू० के लगभग कालिदास के कुछ पहले शूद्रक नाम के किसी राजा ने अपने जीवनकाल की घटनाओं को लेकर उनमें ब्राह्मण चारुदत्त और गणिका वसंतसेना की प्रेमकथा का समावेश करके एक रूपक लिखा था, उसको अभिनेताओं की एक परम्परा ने मृच्छकटिक के रूप में विकसित किया और दूसरी परम्परा ने दरिद्रचारुदत्त के रूप में। संस्कृत नाट्य-साहित्य में हनुमन्नाटक भी एक और इसी तरह का रूपक है, जिसकी दो सर्वथा अलग-अलग पाठ-परम्पराएँ हैं।

निष्कर्ष—(१) शूद्रक विक्रमादित्य (५७ ई० पू०) से कुछ समय पहले हुए। इन्होंने मृच्छकटिक के मूल आलेख का प्रणयन किया। (२) शूद्रक के रूपक की लोकप्रियता के कारण उसकी रंगमंचीय प्रस्तुतियों की परम्परा चल पड़ी। नाटक खेलने वाली मंडलियों ने उसमें परिवर्धन या संशोधन करके दो अलग-अलग रूपक बना लिये। इनमें से एक (दरिद्रचारुदत्त) में संक्षेपीकरण और सरलीकरण पर अधिक बल था, दूसरे में विस्तार और पल्लवन पर। दरिद्रचारुदत्त के चार अंकों में कुल ५५ पद्य हैं, जबकि मृच्छकटिक के पहले चार अंकों की पद्य-संख्या १२९ है।

कथावस्तु—नाट्यशास्त्र की दृष्टि से मृच्छकटिक एक संकीर्ण कोटि का प्रकरण है। इसमें दस अंक हैं। सार्थवाह (व्यापारी) ब्राह्मण चारुदत्त इसका नायक है और गणिका वसंतसेना नायिका। इनकी प्रेमकथा इसका आधिकारिक (मुख्य) वृत्त है, तथा उज्जयिनी के राजा पालक को गोपालदारक आर्यक के द्वारा पदच्युत करके राजा बनने की घटना भी पताका के रूप में इस प्रेम-कहानी के साथ-साथ चलती है।

पहले अंक में संध्या के समय चारुदत्त विदूषक मैत्रेय को चौराहे पर पूजा के फूल चढ़ाने के लिए भेजना चाहता है। विदूषक आनाकानी करता है, क्योंकि नगर (उज्जयिनी) में साँझ के बाद घर के बाहर निकलना सुरक्षित नहीं है। चारुदत्त उसे अपनी दासी मदनिका के साथ भेजता है। विदूषक बाहर निकलता है, इसी समय रास्ते पर शकार (खलनायक) विट (दलाल) के साथ गणिका वसंतसेना का पीछा करता हुआ दिखाई पड़ता है। शकार के कथन से वसंतसेना को पता चल जाता है कि पास ही में चारुदत्त का घर है। वह दुष्ट शकार से बचने के लिए चारुदत्त के घर में अभी-अभी खोले गये द्वार से भीतर चली आती है। अँधेरा होने के कारण कोई उसे देख नहीं पाता।

इसी द्वार से अभी-अभी बाहर निकली मदनिका को शकार वसंतसेना समझ कर पकड़ लेता है। मैत्रेय शकार को डपटता हुआ उस पर झपटता है। शकार धमकी देकर चला जाता है। इस घटना से, वसंतसेना और चारुदत्त, जो एक-दूसरे से पहले से परिचित हैं, पहली बार एक दूसरे के निकट और सम्मुख होते हैं। वसंतसेना अपने सारे गहने उतार कर धरोहर के रूप में उन्हें चारुदत्त के पास छोड़ देती है। चारुदत्त उसे घर पहुँचाने की व्यवस्था करता है। दूसरे अंक में वसंतसेना की अपनी दासी के साथ ठिठोली चल रही है, तभी सड़क पर जुआरियों की लड़ाई का दृश्य खुल जाता है। द्यूतकर और माथुर पाटलिपुत्र से आये संवाहक का पीछा कर रहे हैं। वह उनसे जुए में दस स्वर्ण मुद्राएँ हार गया है। संवाहक वसंतसेना के घर पहुँच कर उसकी शरण लेता है। वसंतसेना यह जान कर पुलकित हो जाती है कि वह चारुदत्त के घर सेवक रहा है। वह जुआरियों को अपने गहने देकर उसे बचा लेती है। संवाहक पश्चात्ताप और ग्लानि से भर कर बौद्ध भिक्षु बनने के लिए चल पड़ता है। इसी समय वसंतसेना के महल से एक हाथी छूट कर भाग निकलता है। हाथी संवाहक को कुचलने ही वाला है कि वसंतसेना का एक सेवक कर्णपूर उसे बचा लेता है। मार्ग से निकलता हुआ चारुदत्त अपना प्रावारक उसे पुरस्कार में दे देता है। तीसरे अंक में वसंतसेना की दासी मदनिका को दासत्व से मुक्त कराने के लिए उसका प्रेमी शर्विलक चोरी के प्रयोजन से चारुदत्त के घर सेंध लगा कर घुसता है। चारुदत्त और मैत्रेय दोनों गहरी नींद में हैं। मैत्रेय के पास वसंतसेना के गहनों की पेटी है, जो चारुदत्त ने उसे सौंप रखी है। चारुदत्त तो अपनी सारी सम्पत्ति दान में दे-दे कर कंगाल हो चुका है। शर्विलक उसके घर की स्थिति देखकर वापस लौटने को होता है, तभी सपने में बड़बड़ाता हुआ मैत्रेय गहनों की पेटी चारुदत्त को सौंपता हुआ नींद में गहने उठा कर उसे (शर्विलक को) दे देता है। शर्विलक गहने लेकर मदनिका के पास पहुँचता है। मदनिका अपनी स्वामिनी के गहने पहचान कर उसे डपटती है। उसके कहने पर शर्विलक अपने को चारुदत्त का दूत बताकर उसकी ओर से गहने वसंतसेना को लौटाने लगता है। वसंतसेना वास्तविक बात जान चुकी है, वह मदनिका और शर्विलक दोनों से हँसी करती हुई मदनिका को बिना शुल्क के दासता से मुक्त करके शर्विलक के साथ भेज देती है। इधर चारुदत्त देखता है कि उसके घर में सेंध लगायी गयी है, और वसंतसेना की धरोहर चोरी हो गयी है, वह अपनी दरिद्रता को लेकर दुःखी होने लगता है। इसी समय उसकी साध्वी पत्नी उसे इस स्थिति से उबारने के लिए अपनी बहुमूल्य रत्नावली गहनों के बदले में वसंतसेना को देने के लिए उतार कर मैत्रेय को सौंप देती है।

वसंतसेना अपने प्रिय से मिलने के लिए निकलती है। मैत्रेय से रत्नावली पाकर सारे गहनों के साथ चारुदत्त के घर में वह सोने के गाड़ी के लिये मचलते बालक रोहसेन (चारुदत्त के पुत्र) की मिट्टी की गाड़ी को अपने गहनों से भर देती है। अगले दृश्य में सड़क पर खड़ी शकार की गाड़ी को अपने लिए चारुदत्त के द्वारा भेजी गाड़ी समझकर वह उसमें बैठ जाती है, जबकि उसे लाने के लिए चारुदत्त ने जो गाड़ी भेजी

है, उसमें राजा के कारागार से भागा हुआ गोपालदारक आर्यक बैठ जाता है। भागे हुए बंदी को पकड़ने के लिए राजसेवक रास्ते से जाती गाड़ियों की जाँच कर रहे हैं। चंदन नामका राजसेवक आर्यक को पहचान लेता है, पर राजभक्ति का विचार छोड़ कर विद्रोही का साथ देता है, जिससे उसका अन्य राजसेवकों से युद्ध होने लगता है। आर्यक चारुदत्त की गाड़ी में बैठ कर उस उद्यान में पहुँच जाता है, जहाँ चारुदत्त वसंतसेना की प्रतीक्षा कर रहा है। चारुदत्त उसे अभय देता है। इधर भूल से शकार की गाड़ी में बैठ गयी वसंतसेना भी उसी उद्यान में पहुँचकर एक बार फिर शकार के चंगुल में फँस जाती है। शकार उसका गला घोंट देता है और उसे मरी हुई जान कर सूखे पत्तों से ढक कर चला जाता है। इसी समय बौद्ध भिक्षु संवाहक वहाँ आता है और वसंतसेना को बौद्धविहार ले जाता है। शकार अधिकरणिक (न्यायाधीश) के आगे चारुदत्त पर वसंतसेना की हत्या का आरोप लगाता है। संयोग से इसी समय विदूषक वसंतसेना की गहनों की पेटी लेकर वहाँ पहुँच जाता है। यह मान लिया जाता है कि इन्हीं गहनों के कारण चारुदत्त ने वसंतसेना की हत्या की है। चारुदत्त को फाँसी हो जाती है। उसे चांडाल (जल्लाद) सूली पर चढ़ाने के लिए ले जाते हैं, तभी संवाहक वसंतसेना को लेकर वहाँ पहुँच जाता है। इस बीच राज्य में क्रांति हो जाती है। दुराचारी राजा पालक को हटाकर आर्यक सिंहासन पर बैठ जाता है। वसंतसेना और चारुदत्त के मिलन के साथ प्रकरण समाप्त हो जाता है।

नाट्यकला—कथावस्तु के संविधान की दृष्टि से मृच्छकटिक के जैसा प्रकरण संस्कृत में दूसरा नहीं है। घटनाक्रम की गत्यात्मकता और अन्विति में यह रूपक बेजोड़ है। नाट्यविडंबना का मार्मिक प्रयोग आद्यंत मृच्छकटिक में किया गया है। पूरे नाटक में आद्यंत घटनाओं की एकान्विति, आकस्मिकता और रोचकता का कुशल निर्वाह है। पहले अंक में ही शकार और विट वसंतसेना का पीछा कर रहे हैं, और शकार ही अनजाने उसे चारुदत्त के घर का संकेत दे देता है। यह संकेत वसंतसेना के लिए उस सारे भय और आतंक के बीच प्रिय से मिलन का अवसर बन जाता है, आने वाली घटनाओं की कड़ियाँ यहाँ गुँथ जाती हैं। वसंतसेना लूटपाट का भय बताकर अपने सारे गहने उतार कर चारुदत्त को धरोहर के रूप में सौंपती है, तो उसके मन में यह बात भी है कि इन गहनों के बहाने से वह चारुदत्त से फिर से मिल सकेगी। पर ये ही गहने शर्विलक के द्वारा चुरा लिये जाते हैं, और चारुदत्त के लिए दारुण व्यथा का कारण बन जाते हैं। वसंतसेना फिर इन्हीं गहनों को लेकर चारुदत्त के घर में आ जाती है, और सोने की गाड़ी के खिलौने की जिद करते चारुदत्त के नन्हें बालक की मिट्टी की गाड़ी को इन्हीं गहनों से भर देती है। इन्हीं गहनों को लेकर दुर्योग से मैत्रेय अधिकरण में पहुँच जाता है, और ये गहने चारुदत्त के लिए प्राणदंड का कारण बन जाते हैं। जिस संवाहक की वसंतसेना ने जुआरियों से रक्षा की थी, वह बौद्ध भिक्षु के रूप में मूर्च्छित और अर्धमृत वसंतसेना के प्राण बचाता है। भास के प्रतिज्ञायौगंधरायण को छोड़ कर अन्य कोई ऐसा रूपक नहीं मिलता, जिसमें प्रणयकथा के साथ-साथ नगर में चल रही

राजनीतिक गतिविधियों और राजा के विरुद्ध हो रही कार्यवाही को इस तरह मूलकथा के साथ संश्लिष्ट करके आगे बढ़ाया गया हो। वास्तव में चारुदत्त और वसंतसेना के सुकुमार रागात्मक सम्बन्धों की कहानी की कल्पना ही दर्दुरक, आर्यक और शर्विलक आदि के द्वारा की जाने वाली क्रांति के बिना नहीं की जा सकती। दर्दुरक संवाहक को जुआरियों से बचाने के लिए उनसे झगड़ पड़ता है और फिर सोचता है कि प्रधान सभिक से झगड़ा मोल लेना अच्छा नहीं हुआ, अच्छा हो कि अब मैं अपने मित्र शर्विलक के कहने के अनुसार राजा पालक को राजगद्दी से हटा कर आर्यक को राजा बनाने में सहायता करूँ। शर्विलक इस क्रांतियज्ञ का पुरोधा है, पर उसकी भी प्रेमकथा है। यह भी बड़ी विडंबना है कि मदनिका को दासत्व से मुक्ति दिलाने के लिए वह चारुदत्त के घर चोरी करता है, अंत में मदनिका मुक्त हो भी जाती है, पर इसी समय आर्यक के कारागार से भाग निकलने की सूचना आती है, और मदनिका को शर्विलक अपने मित्र रेभिल के घर छोड़ कर वह अत्याचारी राजा के विरुद्ध समर में कूद पड़ने के लिए चल देता है। वास्तव में तो चारुदत्त भी स्वयं नगर के न्यायप्रेमी नागरिकों के साथ राजा पालक के विरुद्ध होने वाले संग्राम की योजना में कहीं न कहीं सम्मिलित है। तभी तो अधिकरण दृश्य में वह निर्भीक होकर कहता है—'नाहमपरीक्ष्यकारी दुराचारः पालक इव चाण्डालः।'

द्वंद्वात्मकता—मृच्छकटिक के संविधान व चरित्रचित्रण में द्वंद्वात्मकता तथा तनाव सतत अनुस्यूत हैं। एक ओर चारुदत्त और वसंतसेना के सुकुमार सम्बन्धों को नष्ट करने को उद्यत अविवेकी शकार के साथ इन दोनों का द्वन्द्व है, तो इससे सर्वथा अनुषक्त है पालक और शकार ने जो अंधेर मचा रखा है, उससे जूझते लोगों का सत्ता में द्वन्द्व। दो अलग-अलग दिशाओं में बहती हुई भी ये द्वन्द्वधाराएँ मृच्छकटिका में गंगा-यमुना का संगम बन जाती हैं और इनमें ही शर्विलक और रदनिका के प्रेम की धारा भी आ मिलती है। राजा के विरुद्ध विद्रोह में राजसेवकों से लगा कर चारुदत्त को फाँसी के लिए ले जाने वाले चांडाल तक सम्मिलित हो गये हैं। जनसामान्य के संघर्ष का ऐसा सजीव चित्रण अन्य किसी प्राचीन संस्कृत नाटक में नहीं मिलता।

चरित्रसृष्टि—मृच्छकटिक में पात्रों की जितनी विविधता है, उतनी अन्य किसी संस्कृत नाटक में नहीं है। प्रत्येक पात्र की चरित्ररेखाएँ एकदम स्पष्ट ही हैं, और उनमें से प्रत्येक के चरित्रचित्रण में अलग-अलग रंग नाटककार ने भरे हैं। मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के बहुसंख्य पात्र इस नाटक में हैं। इनमें प्रत्येक पात्र का अपना निराला व्यक्तित्व है। इसके साथ ही चरित्रचित्रण में नाटककार का मनुष्य के प्रति आस्था और अनुराग का भाव प्रकट हुआ है। अपनी उदारता, महानुभावता, दानशीलता, साधुप्रकृति और गुणग्राहिता के द्वारा नायक चारुदत्त दर्शकों का ही नहीं, नाटक की संरचना के भीतर भी विभिन्न कथा संविधानों में नाटक के अधिकांश पात्रों का मन जीत लेता है। अपना सर्वस्व देकर दरिद्र बन चुके इस निरीह ब्राह्मण को शूद्रक ने अद्‌भुत गरिमामय रूप दिया है। वसंतसेना का चरित्र सारे संस्कृत साहित्य में अनुपम है। वह नाम से

गणिका, पर आचरण और हृदय की निश्छलता में कुलवधू है। उचित ही नाटककार ने उसे प्रकरण के अंत में राजाज्ञा से कुलवधू के पद पर प्रतिष्ठित कराया है। वसंतसेना के साम्मुख्य में सचमुच की कुलवधू धूता का चरित्र है। वह चारुदत्त के घर के भीतर के प्रकोष्ठों में रहती है, पर अपनी सहनशीलता, समर्पण और त्याग के द्वारा दर्शकों को मन:प्रकोष्ठों में घर कर लेती है। पति को अपमान से उबारने के लिए, वह अपनी बहुमूल्य रत्नमाला तत्काल उतार कर बेहिचक विदूषक को सौंप देती है।

मृच्छकटिक में संवाहक, दर्दुरक, द्यूतकर, माथुर, शर्विलक, विट, स्थावरक, चांडालद्वय, चंदनक, वीरक आदि कई पात्र हैं जो मनुष्य के चरित्र के नाना रूप हमारे आगे प्रस्तुत करते हैं। इसके साथ ही इन मध्य या निम्न वर्ग के चरित्रों को प्रस्तुत करने में भी नाटककार ने मानवीय गरिमा का बोध कराया है। स्थावरक चेट अपने निकृष्ट स्वामी शकार को वसंतसेना की हत्या करने से रोकता है, दृढ़ शब्दों में उसकी भर्त्सना करता है तथा शकार के द्वारा बंदी बना लिये जाने पर भवन के ऊपर कक्ष में बंद रहने पर भी चारुदत्त को फाँसी से बचाने के लिए अपने प्राण दाँव पर लगा कर चांडालों के आगे कूद पड़ता है।

मृच्छकटिक का विदूषक मैत्रेय भी अपने भोलेपन, साधु स्वभाव और फक्कड़पन के कारण स्मरणीय हो गया है। दर्दुरक के रूप में शूद्रक ने ऐसे कंगाल व्यक्ति को उपस्थित कराया है, जो अपनी शूरता, प्रत्युत्पन्नमति तथा अन्याय के विरोध और साहस में बेजोड़ है। कहाँ तो वह माथुर से छिपने के लिए अपना उत्तरीय ओढ़ कर अपने आप ढँकना चाहता है, तो पाता है कि—

अयं पटः सूत्रदरिद्रतां गतो ह्ययंपटश्छिद्रशतैरलङ्कृतः।
अयं पटः प्रावरितुं न शक्यते ह्ययं पटः संवृत एवशोभते॥ (२/१०)

(यह कपड़ा एकदम झिलगा हो गया है, और यह कपड़ा तो छेदों से सजा हुआ है। यह कपड़ा लपेटा जाने के योग्य नहीं रहा, और यह कपड़ा ढँका हुआ ही अच्छा लगता है।) और संवाहक को माथुर से बचाने के लिए इसी दर्दुरक का यह कथन—

दुर्वर्णोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात्।
पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया॥ (२/१३)

(तू कैसा नीच और पतित है कि सोने की मात्र दस मोहरों के लिए पाँच इंद्रियों वाले एक मनुष्य को मारे डाल रहा है।)

यह मनुष्य की गरिमा का उद्घोष है, मनुष्यत्व की अवमानना करने वाली मदावलिप्त शक्तियों का प्रत्याख्यान भी है। शूद्रक की चरित्रदृष्टि मनुष्य को अत्यंत गिरी हुई स्थिति में भी गरिमारहित नहीं देखना चाहती। शर्विलक ब्राह्मण है, उसे अपने चतुर्वेदी और प्रतिष्ठित कुल का होने पर गर्व है। यही शर्विलक मदनिका के प्रेम में पड़ कर उसे दासत्व से मुक्ति दिलाने के लिए चोरी करने का दुस्साहस करता है। वह चारुदत्त के घर को किसी सम्पन्न व्यक्ति का भवन समझ कर उसमें घुस जाता है। पर जैसे ही उसे पता चलता है कि यह तो किसी 'तुल्यावस्थ कुलपुत्र' का घर है, वह लौट

पड़ता है। स्वप्नाविष्ट विदूषक के द्वारा गो-ब्राह्मण की शपथ दिलाने पर ही वह उसके हाथ से गहनों की पिटारी लेने को तैयार होता है।

राजनीतिक वात्याचक्र के बीच मनुष्य के हृदय की कोमलता तथा पावनता को बनाये रखने पर शूद्रक ने अपनी चरित्रसृष्टि में बल दिया है। पेट पालने के लिए गणिका की दलाली करने वाले विट तक को उन्होंने अद्‌भुत गरिमा और गंभीरता से मंडित किया है। साथ ही शूद्रक मनुष्य को एक अपार संभावना के रूप में भी देखते हैं। मनुष्य कब क्या कर बैठेगा, कहा नहीं जा सकता। इसीलिए शूद्रक छोटे से छोटे पात्रों के चरित्र में दुर्लभ गुण अंकित कर सके हैं। इसके साथ ही उनके पात्र संकट के क्षणों में अप्रत्याशित प्रतिक्रिया भी व्यक्त करते हैं। चारुदत्त के घर सेंध लगी है। सेंध को देखकर चारुदत्त उसकी बनावट का सफाई और कलात्मकता की प्रशंसा करने लगता है। जब ध्यान आता है कि यह सेंध तो उसके घर में चोरी करने के लिए लगायी गयी है, तो वह इस बात से दुखी हो जाता है कि चोर उसके घर से निराश होकर गया होगा, क्योंकि उसके घर में है ही क्या? जब पता चलता है कि गहनों की पिटारी चोरी हुई है, तो वह प्रसन्न हो जाता है, और जब विदूषक स्मरण दिलाता है कि वह पिटारी तो धरोहर थी, तब चारुदत्त आकस्मिक आघात से मूर्च्छित हो जाता है। आधी रात को चारुदत्त रेभिल के घर संगीत की सभा से लौट रहा है। संगीत की सुरलहरी अभी तक उसके कानों में बज रही है। वह यह भूल जाता है कि नगर में रात को निकलना असुरक्षित है। जिस रेभिल के घर से वह आ रहा है, वह राजा के विरुद्ध क्रांति के कार्य से जुड़े योद्धाओं का मित्र है। यहाँ चारुदत्त का कलाप्रेम ही नहीं, फक्कड़पन और मनमौजी स्वभाव भी सामने आता है।

पूरे प्रकरण में शकार का चरित्र ऐसा है, जो आदि से अंत तक कहीं भी हमारे मन में सहानुभूति जागृत नहीं करता। पर शकार अत्यन्त क्रूर, धूर्त और मूर्ख होते हुए भी हमारी दुनिया का ही एक मनुष्य है, उसके जैसे व्यक्ति समाज में सदैव रहे हैं। वास्तव में तो मृच्छकटिक के सारे पात्र ही हमारे आसपास के जगत् के हैं।

रस—मृच्छकटिक के रसबोध का वैशिष्ट्य है उसमें भावों की विविधता का अटूट क्रम, जिसे भवभूति ने 'मिश्रीकृतक्रम रस' कहा है। शृंगार रस यहाँ अंगी है, उसके साथ हास्य निरन्तर चित्र-विचित्र छटा बिखेरता हुआ चलता है। इन दोनों रसों के साथ विभिन्न व्यभिचारी भावों का सम्मर्द तथा वीर, भयानक, रौद्र, करुण और अद्‌भुत रसों का लगातार संभेद नाटककार ने रचा है। पहले ही अंक में चारुदत्त का अपनी दरिद्रता को लेकर विषाद मन को छू लेता है। इसके साथ ही राजमार्ग पर शकार का उपद्रव सामने आता है, जिसमें शकार की अटपटी उक्तियों का हास्य भी है, और वसंतसेना का भय, आतंक और ग्लानि भी है। इसी के साथ-साथ हम विट के परिष्कृत सौंदर्यबोध और चारुदत्त के लिए वसंतसेना के मन में पलते प्रेम का भी अनुभव यहाँ करते हैं। दूसरे अंक में संवाहक का भय भयानक रस की सृष्टि करता है, द्यूतकर और माथुर का क्रोध रौद्र रस का अवतरण कराता है, तो दर्दुरक का साहस और औदात्त्य

वीररस का उत्कृष्ट परिपोष करता है। इन सारे प्रसंग में एक बार फिर वसंतसेना का चारुदत्त के लिए परिपक्व होता प्रेम और एकनिष्ठ समर्पण सामने आ जाता है, जब वह केवल यह जान कर कि संवाहक चारुदत्त का सेवक रह चुका है, उसे बचाने के लिए अपने आभूषण दे देती है। शर्विलक के द्वारा चारुदत्त के घर सेंध लगाने का दृश्य अद्‌भुत रस का उद्रेक भी करता है, साँप के काटने और दरवाजे की चरमराहट रोकने के लिए किये गये शर्विलक के उपचार कौतुक जगाते हैं, और अपनी परिणति पर पहुँच कर यह दृश्य शर्विलक के भीतर छिपे महामानव को सामने लाकर हमारे भीतर करुणा भी जगाता है। व्यंग्य या उत्प्रास और विडम्बनाओं के पैनेपन से मृच्छकटिक का रसपरिपाक समृद्ध बना है। विडम्बना के बोध के साथ जुआरियों का दृश्य उस समय के यथार्थ को साकार कर देता है, तो अधिकरणिक या न्यायालय के दृश्य में न्यायव्यवस्था की अक्षमता का बोध गहरी टीस देता है। वस्तुतः मृच्छकटिक का रसविधान जिस देश-काल का यह नाटक निरूपण करता है, उसके यथार्थ प्रस्तुति के कारण अत्यन्त प्रभावशाली बन गया है।

रंगमंच—अभिनय तथा मंचीय प्रस्तुति की दृष्टि से मृच्छकटिक भारतीय रंगमंच के एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव को द्योतित करता है। सभी अंकों में एक विस्तीर्ण अभिनयक्षेत्र की अपेक्षा है। रत्नावली नाटिका की भाँति यह राजप्रासाद के किसी कक्ष में सीमित स्थल पर अभिनीत नहीं हो सकता। प्रायः सभी अंकों में कई स्थलो पर अलग-अलग अभिनय चलता है। कहीं-कहीं दो-दो या तीन-तीन दृश्य एकसाथ चलते हैं। इसके साथ ही आंगिक और वाचिक अभिनयों का व्यापक स्तर पर सघन प्रयोग भी इस नाटक के प्रयोग में अपेक्षित है। पात्र अपने-अपने संवादों की व्याख्या आंगिक अभिनय के द्वारा दर्शकों के आगे करते हुए लगते हैं। प्रकरण की संरचना के अनुरूप लोकनाट्य की शैलियाँ भी नाटककार ने यथावसर समाहित कर ली हैं। अभिनय की दृष्टि से मृच्छकटिक की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें कैशिकी और आरभटी दोनों वृत्तियाँ निरन्तर साथ-साथ चलती हैं। सुकुमारता, लालित्य और राग के साथ पौरुष और पराक्रम के भाव का निर्वाह निरन्तर इसके अभिनय में अपेक्षित है।

मृच्छकटिक का हर एक अंक अँधेरे और उजाले में चलता है। हर अंक में कभी अँधेरा उजाले को लपेटता है, कभी उजाला अँधेरे को। तीसरा अंक आधी रात के समय आरम्भ होता है। चारुदत्त और मैत्रेय रेभिल का गायन सुनकर लौट रहे हैं। पहले अंक के अंत में चन्द्रमा उगता है, इस अंक के आरम्भ में चंद्रोदय हो रहा है। कुछ देर बाद ही इस अंक में फिर अँधेरा फैलता है। चन्द्रमा अस्त हो चला है। शर्विलक कहता है—घनपटलतमोनिरुद्धतारा रजनिरियं जननीव संवृणोति! (३/१०) चारुदत्त के घर में सेंध मारता है। सेंध से दिये का हल्का प्रकाश आ रहा है। दिये की लौ का सुनहरा पीलापन अँधेरे की परतों में लिपटा हुआ झलक रहा है, जैसे कसौटी के काले पत्थर पर सोने की रेखा हो (३/१७)। जलता दीपक बुझा कर शर्विलक चोरी करता है। इस घोर अँधियारे के बाद इसी अंक में भोर तो होती है, पर अँधेरे में लिपटी हुई ही। धरोहर के

गहनों की चोरी की बात से चारुदत्त मूर्च्छित हो जाता है। घर के किन्हीं अँधेरे कोनों में रहने वाली उसकी पत्नी धूता भी पहली बार इसी अंक में आती है—वह भी पति की लाज बचाने के लिए अपनी बहुमूल्य रत्नावली के समर्पण के साथ उजाला लेकर। चौथा अंक वसंतसेना के घर में उजाले में हो रहा है, पर इस अंक के समाप्त होते-होते चेटी का संवाद है—आर्ये, पश्य पश्य, उन्नमत्यकालदुर्दिनम्! आर्ये, देखिये तो असमय में काली घटाएँ घुमड़ी हैं। पाँचवें अंक के आरम्भ में चारुदत्त ठीक इसी वाक्य को दोहराता हुआ प्रवेश करता है। सारा अंक इन्हीं काली घटाओं के अँधेरे और बीच-बीच में बिजली की कौंध का उजाला दिखाते हुए चलता है। बिजली कहीं ऐरावत की देह पर झूलती सोने की डोर बन जाती है, कहीं इंद्र के घर की दीपिका। फिर वह कीचड़ में लिपटे वसंतसेना के पाँव अपने उजाले से धो रही होती है (५/३५)। मैत्रेय को वसंतसेना के सेवक कुंभीलक का आना ऐसा लगता है, जैसे दुर्दिन में अंधकार का आना। अभिसार करती वसंतसेना को रात रास्ता रोकने वाली सौत मालूम पड़ती है (५/१५)। छठे अंक में वसंतसेना रात जल्दी बीत जाने पर कहती है—कथं रात्रिरेव प्रभातं संवृत्तम्—अरे रात ही भोर हो गयी! भवभूति के राम और सीता रातभर प्रेम की अनन्यता के साथ एक-दूसरे से सटे बैठे रहते हैं, उनकी रात के पहर एक-एक कर कैसे खिसक जाते हैं, उन्हें पता ही नहीं चलता। पर शूद्रक की नायिका के लिए तो रात ही भोर है। चेटी इसका उत्तर भी अच्छा देती है—मालकिन, हमारे लिए तो यह भोर ही है, आपके लिए तो यह भी रात ही है।

ध्वनि और वक्रोक्ति—मृच्छकटिक अँधेरे और उजाले का एक खेल है। हम इसके मुख्य पात्रों को अँधेरे के बीच रोशनी तलाशते हुए देखते हैं। नांदीपद्य में शून्य में खोये शिव का वर्णन है। एक अर्थ में नाटक में नायक चारुदत्त ही यह शिव है। शिव की तरह वह भी तो नागों से घिरा हुआ है, दारिद्र्य ने उसके भी सारे करणव्यापारों को अवरुद्ध कर दिया है। नाटक में वह अक्सर अपने भीतर अपने आपको ही खोजता लगता है। यदि ध्वनिवाद की दृष्टि से मीमांसा करें, तो मृच्छकटिक का यह नांदीपद्य नायकवृत्त को व्यंजित करता है—यह कहा जा सकता है। पर कुंतक के वक्रोक्तिवाद की दृष्टि से विचार करें, तो यहाँ विचित्र अभिधा में एकसाथ शिव और चारुदत्त दोनों वर्णित हैं—यह कह सकते हैं।

वसंतसेना का चरित्र क्रिया में और चारुदत्त का अक्रिया में है। चारुदत्त निःस्पृह और निर्धन है, वसंतसेना ऐश्वर्यमयी है। चारुदत्त की भाषा में वह प्रकाशनारी (३/७) है। प्रकाशनारी शब्द अपने आपमें कितने अँधेरे से घिरा हुआ है। चारुदत्त वसंतसेना का इतना आदर करता है, वह उसे प्रणाम करता है, उस पर अनुरक्त है। वह स्पष्ट घोषित करता है—'देवतोपस्थानयोग्या युवतिरियम्!' फिर भी प्रकाशनारी या बाजार की एक स्त्री के आभूषण वह घर के अंदर के कमरे में भेजने से स्पष्ट मना कर देता है। पाँचवें अंक में रात के अँधेरे में अभिसारिका वसंतसेना जब चारुदत्त से मिलने आती है, तो वह उससे यही कहता है—मेरे लिए तो जागते हुए ही हर साँझ बीतती है, और हर रात

लम्बी साँसें छोड़ते हुए बीतती है। पर तुम्हारे आने से इस साँझ के दु:खों का अन्त हो गया।

अँधेरे में उजाले के प्रत्यवभास से शूद्रक विडम्बनाओं और विराधाभासों के बीच आशा की किरणें झलकाते हैं। विपर्यास का बोध मृच्छकटिक में वाक्यवक्रता तथा प्रकरणवक्रता दोनों के द्वारा तीखा बनाया गया है। मैत्रेय कहता है—मुझ ब्राह्मण के लिए सबकुछ विपरीत हो रहा है, जैसे दर्पण में अपनी छाया उल्टी हो जाती है। चारुदत्त नैष्ठिक ब्राह्मण है, पर पेशे से वह सार्थवाह है। सार्थवाह या व्यापारी होते हुए भी वह दरिद्र है। फाँसी पर लटकाये जाने के लिए जब उसे ले जाया जा रहा है, तो वह अपना यज्ञोपवीत अपने बेटे को पहनाते हुए कहता है—'अमोक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम्'—यह ब्राह्मणों के लिए बिना मोती और बिना सोने का अमूल्य गहना है। इस अमूल्य आभरण को उतार कर चारुदत्त लाल चंदन की उन छापों से अलंकृत होता है, जिनके द्वारा वह पुरुष होकर भी पशु बन जाता है—

सर्वगात्रेषु विन्यस्तैःरक्तचन्दनहस्तकैः।
पिष्टचूर्णावकीर्णैश्च पुरुषोऽहंपशूकृतः ॥ (१०/५)

पालक एक दुराचारी शासक है। पर यह भी विडम्बना है कि वह मारा उस समय जाता है, जब वह यज्ञशाला में यज्ञ करा रहा होता है। मृच्छकटिक में क्रांति होती है। राजा का वध किया जाता है, और निम्नवर्गका आर्यक राजा बनता है। चारुदत्त को उसकी वसंतसेना प्राप्त होती है। फिर शेष क्या रहता है? कदाचित् बुद्ध की करुणा, जिसके कारण भिक्षु संवाहक वसंतसेना को पुष्पकरंडक उद्यान से बचा कर ले जाता है, और चारुदत्त के प्राण भी वह बचा लेता है। इसी करुणा के कारण चारुदत्त शकार को क्षमा कर देता है।

भाषाशैली—मृच्छकटिक की संवादयोजना में नाट्यभाषा की गहरी पकड़ मिलती है। कई ऐसे जटिल तनावपूर्ण स्थल इसमें हैं, जहाँ नाटककार ने रंगमंच की स्थिति को साकार करते हुए नपेतुले छोटे-छोटे वाक्यों में विराट् अनुभवों को पुंजीभूत कर दिया है। जब चारुदत्त को बताया जाता है कि उसके घर में सेंध लगी है, तो वह कहता है—'अलं परिहासेन'—मजाक मत करो! तब विदूषक कहता है—भोः यथा नामाहं मूर्खस्तत् किं परिहासस्य देशकालमपि न जानामि?—ठीक है, मैं मूर्ख सही, पर ठिठोली कब करना चाहिये क्या यह भी मैं नहीं जानता? चारुदत्त और विदूषक के ये संक्षिप्त कथन इस प्रसंग में विडम्बना और करुणा का मार्मिक बोध जगाते हैं। आगे चलकर चारुदत्त का चोर के लिए यह कहना कि चलो, खाली हाथ तो नहीं गया (यदसौ कृतार्थो गतः) और फिर यह बताये जाने पर कि वह (जो ले गया, वह) तो न्यास था—उसका 'कथं न्यासः?'—कहकर मूर्च्छित होना यहाँ नाट्यभाषा के सधे प्रयोग के साथ अभिनय की अपार संभावनाएँ खोलता है।

मृच्छकटिक की भाषा की एक और विशेषता है—बोलचाल की शैली और मुहावरों का सटीक प्रयोग। आम लोगों की बोली की बानगी जो यहाँ मिलती है वह

संस्कृत नाट्यसाहित्य में अलबेली ही है। चोरी करके आये शर्विलक से मदनिका कहती है—शर्विलक, स्त्रीकल्यवर्तस्य कारणेनोभयमपि संशये विनिक्षिप्तम्—तुमने स्त्रीरूपी कलेवे के लिए अपने शरीर और चरित्र दोनों को संकट में डाल दिया। यहाँ 'स्त्रीकल्यवर्त' यह मुहावरा पुरुषप्रधान निम्नवर्गीय समाज की बोली से उठाया हुआ लगता है। इसी का प्रयोग शूद्रक ने मदनिका के मुख से करा कर उसके प्रेम की अभिव्यक्ति की है।

पात्रानुसार भाषा के बदलते हुए रंग मृच्छकटिक में छटा बिखेरते हैं। चारुदत्त की भाषा आद्यंत परिष्कृत और प्रौढ़ है। विदूषक के मुख से नाटककार ने कई स्थानों पर आम लोगों की भाषा और शैली का प्रयोग कराया है। पाँचवें अंक में वसंतसेना को अलंकारभांड के बदले बहुमूल्य रत्नावली देकर लौटा विदूषक खीझ कर चारुदत्त को गणिका संसर्ग से रोकता हुआ जो सलाह देता है, उसमें लोकजीवन का रसगंध समाया हुआ है। वह कहता है—"गणिका नाम पादुकान्तप्रविष्टा इव लेणुका दुःखेन पुनर्निराक्रियते। अपि च भो वयस्य, गणिका, हस्ती, कायस्थो भिक्षुः चाटो रासभश्च—यत्रैते निवसन्ति तत्र दुष्टा अपि न जायन्ते।"—(गणिका जूते में फँसी कंकरी की तरह बड़ी कठिनाई से निकलती है। और भी हे मित्र, गणिका, हाथी, भिक्षु, कायस्थ, चाटुकार और गधा—ये जहाँ बसें, वहाँ दुष्ट भी नहीं जाते।)

प्राकृत भाषाओं के प्रयोग की दृष्टि से मृच्छकटिक संस्कृत साहित्य की एक अनूठी कृति है। नाट्यशास्त्र में अलग-अलग पात्रों के लिए अलग-अलग प्राकृत के प्रयोग के जो निर्देश दिये गये हैं, उनका पालन इसमें किया गया है। मृच्छकटिक के टीकाकार पृथ्वीधर ने इसमें शौरसेनी, अवंतिका, प्राच्या, मागधी, शकारी, चांडाली तथा ढक्की—इन प्राकृतों का प्रयोग निरूपित किया गया है। इनमें शौरसेनी, मागधी, प्राच्या तथा अवंतिका तो भाषाएँ हैं, और शकारी, चांडाली तथा ढक्की विभाषाएँ। पात्रानुसार प्राकृतों का प्रयोग पृथ्वीधर के अनुसार इस प्रकार हुआ है—

वसंतसेना, मदनिका, धूता, कर्णपूरक आदि—**शौरसेनी।**

संवाहक, स्थावरक तथा अन्य चेट—**मागधी।**

विदूषक—**प्राच्या।**

चंदनक तथा वीरक—**आवंती** या **आवंतिका।**

शकार—**शकारी।**

चांडाल, द्यूतकार व माथुर—**ढक्की।**

इनमें से ढक्की का निर्देश भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं है। इसी प्रकार शकारी, जो मागधी की विभाषा या उपबोली मानी गयी है, मृच्छकटिककार के द्वारा उद्भावित प्रतीत होती है। जिस प्रकार के बेढब, दुष्ट, धूर्त और मूर्ख पात्र शूद्रक ने गढ़ा है, वैसी ही भाषा भी उन्होंने उसके लिए गढ़ी है। शकार के संवादों में भाषा का एक निराला ही रूप उन्होंने रच दिया है, जो शकार के व्यक्तित्व के अनुरूप अपने अटपनेपन और अलबेली शैली के कारण अप्रतिम ही है। शकार के संवादों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

एशा णाणकमूशिकामकशिका मच्छाशिका लाशिका
णिण्णाशा कुलणाशिका अवशिका कामश्श मंजूशिका।
एशा वेशबहू शुवेशणिलआ वेरांगना वेशिआ
एशे शे दशणामके मयि कले अज्जावि मं णेच्छदि॥

तथा—

यदिच्छसे लंबदशाविशालं
पावालअं शुत्तदशेहि युत्तम्।
मशं च कादं तह तुट्ठिकादुं
चुहू चुहू चुक्कु चूहू चुहुत्ति॥

शकार के सारे कथनों में पांडित्य और मूर्खता का, अधिकार और विनय का, दर्प और दैन्य का विचित्र मिश्रण है।

पांडित्य—लोकजीवन के अनुभवों तथा ज्ञान की दृष्टि से भी मृच्छकटिक का रचनाकार सानी नहीं रखता। प्रसंगानुसार विभिन्न विषयों, शास्त्रों व लोकव्यवहार का गहरा और सूक्ष्म अध्ययन नाटक में प्रतिफलित हुआ है। भाव रेभिल के घर से रात्रि में संगीत सुन कर लौटते हुए चारुदत्त की गायन के विषय में सम्मति न केवल संगीतशास्त्र के ज्ञान की दृष्टि से प्रभावशाली है, चारुदत्त की रसिकता और नाटककार की सहृदयता की भी वह परिचायक है। कामसूत्र का तो सांगोपांग परिशीलन नाटककार ने अपनी रचना में आद्यंत अनुस्यूत कर ही दिया है। चतुर्थ अंक में वसंतसेना के भवन के वर्णन में कामसूत्र में प्रोक्त नागरकवृत्त समाया हुआ है। तृतीय अंक में शर्विलक के संवादों में चौर्यशास्त्र की सूक्ष्म तकनीकों का ज्ञान अभिव्यक्त है। चोरों की शब्दावली और चेष्टाओं का जैसा विशद निरूपण यहाँ है, उससे लगने लगता है जैसे नाटककार ने उसका प्रत्यक्ष अनुभव किया हो।

काव्यसौंदर्य—शूद्रक विलक्षण कल्पना के धनी और अभिव्यक्ति की दुर्लभ क्षमता से सम्पन्न कवि हैं। अपने बिम्बविधान की प्रत्यग्रता और उत्प्रेक्षाओं की उर्वरता में शूद्रक बेजोड़ हैं। उत्प्रेक्षा के उदाहरण में उनका यह पद्य मम्मट आदि आचार्यों के द्वारा उद्धृत किया जाता रहा है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता॥ (१/३४)

अँधेरे में वसंतसेना का पीछा करता हुआ विट कह रहा है—अँधेरा देह को लीप-सा रहा है, आकाश काजल-सा बरसा रहा है, और नीच व्यक्ति की सेवा की तरह दृष्टि विफल हो गयी है। यहाँ प्रथम पंक्ति में उत्प्रेक्षा का चमत्कार है, तो उत्तरार्ध में उपमा की नवीनता आकर्षक है।

किसी दृश्य, क्रिया या अनुभव को बड़े सहज रूप में सूक्ष्मता के साथ साकार करने की क्षमता भी शूद्रक की अनोखी है। अँधेरे के ही वर्णन में विट कहता है—

आलोकविशाला मे सहसातिमिरप्रवेशविच्छिन्ना।
उन्मीलितापि दृष्टिर्निमीलितेवान्धकारेण॥ (१.३३)

प्रकाश में विस्तारित पर इस अँधेरे में अचानक काट दी गयी मेरी दृष्टि खुली होकर भी अँधेरे के द्वारा मूँद-सी दी गयी है।

इसी प्रकार आधीरात के समय निद्रालु चारुदत्त की उक्ति (३.८) में ललाट से रेंग कर नयनों तक आती निद्रा के लिए अदृश्य रूप चपला जरा की उपमा जितनी ही मौलिक है, प्रस्तुत दृश्य के वातावरण में वह उतनी ही सटीक भी है। पाँचवें अंक में वर्षा-वर्णन में ५२ पद्य हैं। प्रकृति-चित्रण के ये उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनका अप्रस्तुतविधान नाटक के वातावरण के अनुरूप है। चारुदत्त वसंतसेना के द्वारा धरोहर के रूप में दिया गया अलंकारभांड चोरी हो जाने से खिन्न है। ऐसे में उसे वर्षा-धाराएँ सुहाती नहीं हैं, और वह कहता है—

अमूर्हि भित्वा जलदान्तरेण पङ्कान्तराणीव मृणालसूच्यः ।
पतन्ति चन्द्रव्यसनाद् विमुक्ता दिवोऽश्रुधारा इववारिधाराः ॥ (५/४४)

(कीचड़ को छेद कर निकली मृणाल की नोकों-सी ये जल की धाराएँ बादलों के उदर चीर कर बाहर आ रही हैं, लगता हैं चंद्रमा को विपत् में पड़ता देख कर आकाश आँसू बहा रहा है।) शूद्रक की काव्यकल्पना में मौलिकता और सूझबूझ ने चार चाँद लगा दिये हैं। अस्त होता हुआ चंद्रमा उन्हें ऐसा लगता है जैसे पानी में डुबकी लगाते हाथी के दाँत की एक कोर ऊपर रह गयी है। (३/६)। मृच्छकटिक का काव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का विराट् समृद्ध जगत् हमारे सामने खोखला है। इंद्रधनुष के वर्णन में आकाश की जमुहाई का बिम्ब (५/५१) ऐसा विलक्षण प्रतिभा वाला कवि ही उकेर सकता है। वर्षा की धाराओं के अलग-अलग स्थलों पर गिरने की अलग-अलग ध्वनियाँ उनके इस पद्य में सुनायी पड़ती हैं—

तालीषु तारं विटपेषु मन्द्रं शिलासु रूक्षं सलिलेषुचण्डम्।
सङ्गीतवीणा इव ताड्यमानास्तालानुकारेण पतन्तिधाराः ॥ (५/५२)

पारम्परिक समीक्षा में मृच्छकटिक—नाट्यशास्त्र के आचार्यों की परम्परा में प्रकरण के रूप में मृच्छकटिक पर पर्याप्त विवेचन हुआ है। आचार्य धनिक ने इसे संकीर्ण प्रकरण का उदाहरण बताया है। भोज ने अपने शृंगारप्रकाश में भेद नामक उपाय के उदाहरण में शकार की उक्ति (८/५३) को उद्धृत किया है। इसी प्रकार नालिका के उदाहरण में भी भोज ने मृच्छकटिक का पहले अंक का वह मार्मिक तथा रोचक प्रसंग उद्धृत किया है जिसमें अँधेरे में चारुदत्त वसंतसेना को दासी मदनिका समझ लेता है। सागरनंदी ने अपने नाटक लक्षणरत्नकोश में शिल्पकांगों के अनेक उदाहरण मृच्छकटिक से दिये हैं। सन्ध्यङ्गों के तो अनेक उदाहरण आचार्य मृच्छकटिक से ही देते आये हैं। नाट्यदर्पण के रचयिता रामचन्द्र-गुणचंद्र ने इस रूपक में पताका के संयोजन तथा वृत्तियों के निर्वाह में संतुलन की भी सराहना की है। इसके साथ ही वे इस रूपक को सामाजिकों की बुद्धि में सत्संस्कार जाग्रत् करने वाला भी बताते हैं। साहित्यदर्पण के प्रणेता आचार्य विश्वनाथ ने प्रकरण नायक की दृष्टि से प्रकरण के तीन प्रकार माने हैं, जिनमें विप्र, अमात्य और वणिक् नायक होते हैं। उन्होंने मृच्छकटिक को प्रथम कोटि

में परिगणित किया है। इसी प्रकार नायिका की दृष्टि से भी विश्वनाथ के अनुसार प्रकरण तीन प्रकार का है, जिनमें मृच्छकटिक दो नायिकाओं से युक्त तीसरे प्रकार का प्रकरण है।

चतुर्भाणी

चतुर्भाणी में चार भाण हैं—शूद्रक का पद्मप्राभृतक, ईश्वर का धूर्तविटसंवाद, वररुचि की उभयाभिसारिका तथा श्यामिलक का पादताडितक। इन चारों भाणों का समय गुप्तकाल माना गया है।

चारों भाणों की न केवल हस्तलिखित प्रतियाँ एकसाथ मिली हैं, इनमें कथानक या विषयवस्तु के निर्वाह की दृष्टि से भी अनेक तत्त्व समान हैं। चतुर्भाणी के सम्पादकों में रामकृष्ण कवि तथा रामनाथ शास्त्री ने इन चार भाणों को एकसाथ मिला कर चतुर्भाणी नाम दिया जाना एक भावुकतापूर्ण संयोग मानते हुए चारों भाणों का समय अलग-अलग माना, जबकि मोतीचंद्र तथा वासुदेवशरण अग्रवाल आदि के अनुसार इन चारों भाणों के प्रणेता लगभग समकालीन हैं। डॉ० टामस ने भी चतुर्भाणी के चारों भाणों का समय गुप्तकाल का उत्तरार्ध माना है। रामकृष्ण कवि के अनुसार उभयाभिसारिका के लेखक वररुचि पाणिनि के समकालीन थे। पद्मप्राभृत के कर्ता शूद्रक तथा मृच्छकटिक के कर्ता शूद्रक को वे एक ही व्यक्ति मानते हैं।

टी० बरो ने अनेक प्रमाण देते हुए पादताडितक का रचनाकाल ४१० से ४१५ ई० के बीच माना है, तथा इसके लेखक को चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन माना है। उनके अनुसार इस भाण में उल्लिखित सार्वभौम नगर का नरेश चंद्रगुप्त द्वितीय ही है। इस भाण में महाप्रतिहार भद्रायुध का उल्लेख है, जो कारूद-मलद और बाह्लीकों का स्वामी कहा गया है। बरो ने इस भद्रायुध को भी चंद्रगुप्त द्वितीय का समकालीन माना है। डॉ० मोतीचंद्र ने भी चतुर्भाणी के चारों भाणों का रचनाकाल चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध तथा पाँचवीं शताब्दी का आरम्भ माना है।

यह मानना उचित नहीं है कि संयोगवश इन चारों भाणों के नाम साथ-साथ लिये जाते रहे। परम्परा में इन चारों भाणों का सम्बन्ध माना गया है। एक प्रचलित श्लोक में चतुर्भाणी की श्रेष्ठता इस प्रकार बतायी गयी है—

अथ वररुचिरीश्वरदत्तः श्यामिलकः शूद्रकश्चचत्वारः ।
एते भाणान् बभणुः का शक्तिः कालिदासस्य ॥

पद्मप्राभृतक—इस भाण की मूलकथा मूलदेव और देवसेना गणिका का प्रेम है, मूलदेव चोरों के आचार्य हैं। मूलदेव का मित्र शश यहाँ विट का काम करता है। मूलदेव देवसेना के रुग्ण होने का समाचार पाकर उसे देवसेना के पास उसे स्वास्थ्य का हाल जानने के लिए भेजता है। विट अपने निवास से निकल कर उज्जयिनी की गलियों में घूमता हुआ उज्जयिनी की शोभा का वर्णन करता है। उसकी भेंट सारस्वत भद्र नामक कवि से हो जाती है। विट उससे हँसी करता हुआ उसको काव्यरूपी जूते गाँठने वाला

मोची कहता है। फिर विट को पीठमर्द दर्दुरक मिल जाता है। वैयाकरण दंदशूक के पुत्र दत्तकलशि से विट को पता चलता है कि वह (दत्तकलशि) रशनावतिका के प्रेम में उलझा हुआ है। गीले कपड़े लेकर लोगों की छूत से बचता हुआ पवित्रक, वेश्याओं के द्वारा जरद्गव या बूढ़ा बैल कहा जाने वाला मृदंग वासुलक, वेश्या के घर से निकलता हुआ संघिलक नामक बौद्ध भिक्षु, अपने प्रेमी के पास जाती हुई वनराजिका, राग-रंग में मगन तांबूलसेना गणिका, प्रेमी की स्मृति में डूबी कुमुद्वती, कंदुकक्रीडा करती प्रियंगुयष्टिका आदि से मिलता हुआ उन पर फब्तियाँ कसता हुआ और उनके हाल-चाल लेता हुआ विट शश अंत में देवदत्ता के घर पहुँचता है। पर देवदत्ता तो स्वयं मूलदेव से मिलने जा चुकी है। विट की भेंट दूसरी गणिका देवसेना से हो जाती है। देवसेना से वह मूलदेव के लिए भेंट लेकर वापस चल पड़ता है।

धूर्तविटसंवाद—इस भाण का आरम्भ वर्षा ऋतु के वर्णन के साथ होता है। वर्षा के दिन विट पाटलिपुत्र की गलियों में निकल पड़ा है। उसकी भेंट पिता से छिप कर वेशवाट जाते हुए कृष्णिलक से होती है, फिर वह वेश में पहुँचता है। वेश (चकले) का बड़ा सजीव वर्णन ईश्वर ने यहाँ विट के मुख से कराया है। विट यहाँ रामदासी, रतिसेना, प्रद्युम्नसेना आदि से मिलकर उनसे सुख-दुःख की बात करता है।

उभयाभिसारिका—इस भाण में सागरदत्त सेठ का पुत्र कुबेरदत्त रूठी हुई नारायणदत्ता को मनाने के लिए विट को भेजता है। विट पाटलिपुत्र के राजमार्ग और गलियों में होता हुआ नारायणदत्ता के घर पहुँचता है। उसकी भेंट मार्ग में विलासकौंडनी, अनंगदत्ता, रामसेना आदि से होती है। कुबेरदत्त और नारायणदत्ता का मनमुटाव दूर होने के प्रसंग के साथ भाण समाप्त होता है।

पादताडितकम्—इस भाण में सुराष्ट्र की मुख्य वेश्या मदनसेना के द्वारा ब्राह्मण विष्णुशर्मा के माथे पर पैर रख दिये जाने के कारण उस ब्राह्मण की शिकायत पर ब्राह्मणों में मची खलबली और इस प्रसंग को लेकर हुई विटसभा का वर्णन है। सार्वभौम नगर के पानागार और आपण (बाजार) का रोचक वर्णन विट यहाँ करता है।

पादताडितकम् में उल्लिखित कुछ पात्र ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं। इन्द्रस्वामी तथा भद्रायुध ऐसे ही पात्र हैं। ये दोनों सम्राट् स्कन्दगुप्त के समकालीन थे। इन्द्रस्वामी कोङ्कणक्षेत्र के अपरान्त का शासक था, जिसे स्कन्दगुप्त के आदेश से उत्तरी वाह्लीक के राजा भद्रबाहु ने परास्त किया था। यह घटना ४५५-५६ ई० के आसपास की है। अत: श्यामिलक भी पाँचवी शताब्दी के लगभग हुए—यह माना जा सकता है।

पारम्परिक समीक्षा—कुन्तक तथा अभिनवगुप्त ने पादताडितकम् ने श्यामिलक की व्यङ्ग्यगर्भ भाषाकी सराहना करते हुए पादताडितकम् से एक-एक पद्य उद्धृत किया है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य विचार चर्चा में श्यामिलक के अनौचित्य पर प्रकाश डाला है, और सुवृत्ततिलक में उनके छन्दःप्रयोग की समाशंसा की है।

चारों भाणों में पाटलिपुत्र तथा उज्जयिनी इन दो नगरों के गलियों, चौराहो और घर-परिवारों में होने वाली गतिविधियों और वहाँ के जीवन का जीता-जागता चित्रण

है। भारतीय समाज और जीवन के ऐसे यथार्थ चित्र अन्यत्र दुर्लभ हैं। ऐहलौकिकता या फक्कड़पन तथा मस्ती का ऐसा रूप भी संस्कृत साहित्य में अन्यत्र कम ही मिलता है। व्यंग्य, विडंबन और उत्प्रास की शैली का रूप भी यहाँ अपूर्व ही है।

लोकोक्तियों के तो चारों भाण खजाने ही हैं। बोलचाल की चुटीली संस्कृत जो गुप्तकाल में गली-मुहल्लों में सुनायी देती थी, उनकी बानगी हम इनमें पाते हैं। यह चटपटी तथा चुभती हुई भाषा है। पर यह भाषा एक क्षेत्र विशेष—वेशवाट—में प्रचलित भाषा है, अत: शब्दों के यहाँ ऐसे-ऐसे अद्‌भुत अर्थ व्यंजित होते हैं, जो केवल विटों की आपसी बातचीत में ही प्रचलन में रहे होंगे। सहज परिहास तथा ठेठ भारतीय ढंग से छेड़छाड़ और ठिठोली के आकर्षक नमूने ये चारों भाण प्रस्तुत करते हैं।

विशाखदत्त : मुद्राराक्षस

परिचय

संस्कृत साहित्य में विशाखदत्त की ख्याति मुद्राराक्षस नाटक के कारण है। मुद्राराक्षस नाटक की प्रस्तावना में इसके नाट्यकार का नाम विशाखदत्त मिलता है। किसी-किसी पांडुलिपि में विशाखदेव पाठ भी मिलता है। इसी प्रस्तावना में बताया गया है कि विशाखदत्त सामंत वटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज भास्करदत्त के पुत्र थे। कुछ पांडुलिपियों में भास्करदत्त के स्थान पर पृथु पाठ भी मिलता है। संभव है महाराज पृथु का उपनाम भास्करदत्त रहा हो। पर सामंत वटेश्वरदत्त और महाराज पृथु या भास्करदत्त कब, कहाँ, हुए यह सुनिश्चित नहीं किया जा सका है। विशाखदत्त के देश-काल के निर्धारण में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं—

(१) देवीचंद्रगुप्त प्रकरण की कथा में गुप्त राजा और उसके छोटे भाई चंद्रगुप्त—ये ऐतिहासिक पात्र हैं। चंद्रगुप्त अपने बड़े भाई के बाद राजा बना और उसने विक्रमादित्य की पदवी धारण की। उसका समय ३७५ से ४१३ ई० है। अत: विशाखदत्त के लिए चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध पूर्व सीमा माना जाना चाहिये।

(२) मुद्राराक्षस के भरत वाक्य में धरती को म्लेच्छों से सतायी जाती हुई बताया गया है। यह स्थिति गुप्तकाल में शक राजा के द्वारा उत्तरी सीमांत से भारत पर आक्रमण का संकेत करती है। भरतवाक्य की ही अंतिम पंक्ति में कहा गया है—"राजा चंद्रगुप्त पृथ्वी की चिरकाल तक रक्षा करते रहें।" यह उस समय की स्थिति लगती है, जब चंद्रगुप्त शक राजा को परास्त करके सिंहासनाधिरूढ़ हो चुका है। इस पंक्ति के आधार पर अनेक विद्वान् विशाखदत्त को चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानने के पक्ष में हैं।

(३) उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए विंटरनित्स ने कहा है कि विशाखदत्त नाटक की संरचना और शैली की दृष्टि से भास के चारुदत्त तथा प्रतिज्ञायौगंधरायण और शूद्रक के मृच्छकटिक तथा तंत्राख्यायिका (जो बाद में पंचतंत्र कही गयी) के अधिक निकट हैं।

(४) डॉ० रामजी उपाध्याय के मत के अनुसार विशाखदत्त ने ऐतिहासिक पात्रों के अतिरिक्त जिन काल्पनिक पात्रों को अपनी ओर से नाम दिये हैं, उनकी नामकरण पद्धति चौथी शताब्दी के आसपास प्रचलित नामकरण पद्धति के अनुरूप है। उदाहरण के लिए ब्राह्मणों के नामों के आगे शर्मा, क्षत्रियों के नामों में सेन और वैश्यों तथा शूद्रों के नामों में दास जोड़ा जाना।

(४) विशाखदत्त के मानस में समग्र भारत राष्ट्र की जो छवि है, वह गुप्तकाल या उसके आसपास रचे जा रहे पुराणों में वर्णित भूगोल से मेल खाती है। यह छवि हिमालय से लेकर दक्षिणसागर तक फैले महादेश के रूप में है। भरत वाक्य में जिस राजा के लिए शुभकामना है, वह इस सारे देश का शासक है।

यद्यपि भरतवाक्य में 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' के स्थान पर 'पार्थिवो रन्तिवर्मा', 'पार्थिवो दन्तिवर्मा' तथा 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा'—ये तीन पाठ भी कुछ पांडुलिपियों में मिलते हैं। पर इनमें से रन्तिवर्मा नाम के किसी राजा का इतिहास में पता नहीं चलता, इसलिए पहला पाठ अग्राह्य है। पल्लव राजा दन्तिवर्मा (७२० ई०) पर आसेतु हिमाचल राज्य करने की बात लागू नहीं होती। कुछ विद्वान् तीसरे पाठ के आधार पर विशाखदत्त को मौखरिनरेश अवन्तिवर्मा (८५५-६३ ई०) का समकालीन मानने के पक्ष में हैं। अवन्तिवर्मा ने हूणों को परास्त किया था, अतः भरतवाक्य में वर्णित म्लेच्छों से सतायी धरती को त्राण देने वाला राजा वही है—यह इन विद्वानों का मत है।

(५) मुद्राक्षस की प्रस्तावना में सूत्रधार और नटी के संवाद में एक चंद्रग्रहण का उल्लेख है। याकोबी ने इस चंद्रग्रहण का काल नवम शताब्दी परिगणित किया है। परन्तु विशाखदत्त यहाँ किसी वास्तविक चंद्रग्रहण की ओर संकेत न करके श्लेष से चंद्रगुप्त के ग्रहण या पकड़े जाने की ओर संकेत कर रहे हैं। अतः याकोबी के कथन प्रामाणिक नहीं हैं। साथ ही, यदि खगोलीय दृष्टि से यहाँ चंद्रग्रहण का संकेत माना भी जाये, तो विशाखदत्त ने उसके साथ ही बुध के योग से चंद्र की रक्षा की बात भी कही है। वराहमिहिर (४९० ई० के लगभग) बुधयोग से चंद्रग्रहण के निवारण का विरोध करते हैं। ऐसी स्थिति में तो विशाखदत्त का समय वराहमिहिर के पहले माना जाना चाहिये।

इन सब प्रमाणों के आधार पर विशाखदत्त का समय चौथी शताब्दी का उत्तरार्द्ध और पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

निवासस्थान—विशाखदत्त के दो नाटकों का केन्द्र पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) है। प्रस्तावना में उन्होंने उपमा के माध्यम से धान के खेतों में पौधों के गुच्छों के बढ़ने का उल्लेख किया है। अतः अनुमान होता है कि वे ऐसे किसी प्रदेश से सम्बद्ध थे, जहाँ धान की खेती बहुतायत से होती थी। यह प्रदेश मगध हो सकता है। मुद्राराक्षस में एक स्थान पर (५/२३) उन्होंने गौड देश की स्त्रियों के वेश का जो वर्णन किया है, उससे भी उनका मगध और गौड देश से सम्बन्ध प्रमाणित होता है।

अतः उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि विशाखदत्त चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के आश्रित सामंत थे और उनका निवासस्थान पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) के आसपास मगध या गौड देश में रहा होगा।

रचनाएँ—विशाखदत्त ने चार रूपकों की रचना की थी—राघावानंद नाटक, अभिसारिकावंचितकम्, देवीचंद्रगुप्तम् तथा मुद्राराक्षस।

राघवानंद—यह नाटक रामकथा पर आधारित था। अब यह उपलब्ध नहीं होता। दशरूपक की टीका में बहुरूपमिश्र ने एक तथा भोज ने दो पद्य इससे उद्धृत किये हैं। इनके साथ रचना (राघवानंद) का नाम तो दिया गया है, पर प्रणेता का नाम नहीं दिया गया। पर इनमें से भोज के द्वारा उद्धृत पद्यों में से एक को श्रीधर ने सदुक्तिकर्णामृत में विशाखदत्त प्रणीत बताया है, जिससे यह अनुमान होता है कि राघावानंद नाटक विशाखदत्त ने ही लिखा था। श्री वार्डर इस मत का समर्थन करते हैं। भोज द्वारा उद्धृत पद्यों को कृति और कृतिकार का नामोल्लेख किये बिना अभिनवगुप्त तथा अन्य अनेक आचार्यों ने उद्धृत किया है। मम्मट द्वारा चौथे उल्लास के अन्त में लक्षणामूल ध्वनि के उदाहरण में 'रामोऽसौ भुवनेषु...' इत्यादि पद्य उद्धृत है, श्रीधर ने अपने सदुक्ति कर्णामृत में इसको विशाखदत्त प्रणीत बता कर संकलित किया है।

अभिसारिकावंचितकम्—विशाखदत्तप्रणीत यह रूपक भी अब उपलब्ध नहीं होता। यह नाटक उदयन और वासवदत्ता की कथा को लेकर लिखा गया था। इसमें अभिसारिका पद्मावती है, और स्वप्नवासवदत्तम् जहाँ समाप्त होता है, उसके आगे की घटना इसमें चित्रित है। विशाखदत्त ने कदाचित् वासवदत्ता और पद्मावती इन दो सपत्नियों के बीच ईर्ष्या का चित्रण इस रचना में किया था। उदयन का मन भी पद्मावती की ओर से फिर गया था। इस बीच वासवदत्ता के पुत्र की हत्या की खबर उड़ती है और हत्या का अभियोग पद्मावती पर लगता है। पद्मावती विंध्य के वन में एक शबरी के रूप में रहने लगती है और वहाँ उदयन उसे शबरी समझ कर उससे प्रेम करने लगता है। अंत में पद्मावती के प्रति उसका संदेह दूर हो जाता है। भोज ने इस नाटक से पद्य उद्धृत किया है तथा अभिनवगुप्त ने इसका उल्लेख किया है। अभिसारिकावंचितक प्रेम और राजनीतिक कुचक्र के ताने-बाने में गुँथी रोमांचक घटनाओं से भरा एक उत्कृष्ट नाटक था यह अनुमान किया जा सकता है।

इस नाटक में पद्मावती के शबरी का वेष धारण करने के प्रसंग का उल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है तथा इसे विशाखदत्त प्रणीत बताया है। भोज ने भी विशाखदेव के अभिसारिकावञ्चितक का उल्लेख करते हुए अपने सरस्वतीकंठाभरण में इसका एक पद्य उद्धृत किया है।

देवीचंद्रगुप्तम्—देवीचंद्रगुप्तम् भी अनुपलब्ध है। इस रचना के विशाखदत्त-प्रणीत होने के विषय में कोई संदेह नहीं है, तथा इसके इतने अधिक उद्धरण प्राचीन नाट्यशास्त्रीय और काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं कि इसकी हर अंक की कथावस्तु विदित हो जाती है। अभिनवगुप्त, भोज, रामचंद्र-गुणचंद्र, सागरनंदी, राजशेखर आदि आचार्यों ने इस नाटक से पद्य उद्धृत करते हुए इसके विविध प्रसंगों का विवेचन और विश्लेषण किया है। राजा रामगुप्त की पत्नी ध्रुवदेवी (ध्रुवस्वामिनी) इस नाटक की नायिका है। नायक उसका देवर चंद्रगुप्त है। गणिका माधवसेना इसमें अन्य

नायिका है। शकराज ने रामगुप्त पर आक्रमण कर दिया है, और वह संधि के बदले में उसकी रानी ध्रुवदेवी को सौंप देने की माँग रखता है। कायर रामगुप्त उसकी माँग स्वीकार कर लेता है। चंद्रगुप्त अपनी भाभी की लाज बचाने के लिए स्त्री के वेष में उसके स्थान पर पालकी में बैठ कर चला जाता है, और शकराज की हत्या कर देता है। शकराज के शिविर से वह बच कर निकल भी आता है। पर रामगुप्त अपने छोटे भाई पर संदेह करने लगता है। अपने विरुद्ध चल रहे षड्यंत्र को भाँप कर चंद्रगुप्त पागल होने का नाटक करता है। अंत में रामगुप्त के वध और चंद्रगुप्त के राज्याभिषेक तथा ध्रुवदेवी से उसके परिणय के साथ नाटक समाप्त होता है।

देवीचंद्रगुप्त प्रकरण कोटि का रूपक था। इसमें कम से कम छह अंक रहे होंगे, यद्यपि विविधग्रंथों में इसके जो उद्धरण मिलते हैं, वे एक से पाँचवें अंक तक के ही हैं। राजनीतिक षड्यंत्र, यथार्थचित्रण, घटनाओं की कुशल अन्विति, संवादों की प्रभावशालिता और नाटकीय वस्तुविन्यास की अपूर्वता के कारण यह एक महान् नाट्यकृति थी, इसमें कोई संदेह नहीं। बिखरते पारिवारिक जीवन, दांपत्य सम्बन्धों में पुरुष की कायरता के कारण आयी कटुता, भाई-भाई के परस्पर अनन्य अनुराग और राजनीतिक स्वार्थ के कारण उनमें भी मनोमालिन्य का ऐसा चित्रण संस्कृत की अन्य किसी रचना में नहीं मिलता।

मुद्राराक्षस

मुद्राराक्षस विशाखदत्त का एकमात्र ऐसा नाटक है, जो पूरा मिलता है। संस्कृत साहित्य में यह उनकी कीर्ति का अक्षय स्तंभ भी है।

कथावस्तु—मुद्राराक्षस की कथावस्तु ऐतिहासिक है। इसका सम्बन्ध मौर्यकाल से है। चाणक्य नौ नंदों का नाश कर चुका है। नंदवंश का अंतिम राजा चाणक्य की कूटनीति के कारण तपोवन जा चुका है और पाटलिपुत्र पर चंद्रगुप्त का शासन है। पर नंद राजा का स्वामीभक्त अमात्य राक्षस अभी भी नंदवंश के विनाश का बदला लेने के लिए चाणक्य और चंद्रगुप्त से संघर्ष कर रहा है। चाणक्य उसकी एक-एक योजना को ध्वस्त करता जाता है। वह राक्षस का हृदय परिवर्तन कर उसे चंद्रगुप्त का अमात्य बनाना चाहता है। राक्षस चंद्रगुप्त की हत्या के लिए जिस विषकन्या को भेजता है, उससे वह म्लेच्छ राजा पर्वतक का वध करा देता है, पर नगर में यह सूचना फैला दी जाती है कि राक्षस ने पर्वतक को विषकन्या के द्वारा मरवा दिया है। फिर पर्वतक के पुत्र मलयकेतु के साथ चाणक्य अपने गुप्तचर भागुरायण को लगा देता है। भागुरायण मलयकेतु को समझाता है कि पाटलिपुत्र में रहना उसके लिए खतरे से खाली नहीं है। चंद्रगुप्त पर गिराने के लिए राक्षस का सहयोगी सूत्रधार दारुवर्मा एक कच्चा तोरण बनवाता है, पर चाणक्य की सजगता से वह तोरण पर्वतक के छोटे भाई वैरोचक पर गिरता है और चंद्रगुप्त बच जाता है। राक्षस अपने दूसरे सहयोगी वैद्य अभयदत्त से चंद्रगुप्त को विष से मिली औषधि दिलवाता है। चाणक्य पात्र का रंग बदलता देख कर इस षड्यंत्र को भाँप जाता है, और वैद्य को ही वह औषधि पिलवा देता है। इस तरह एक-एक कर

पाटलिपुत्र में राक्षस के सहयोगी और गुप्तचर विफल होकर मारे जाते हैं। चाणक्य को अपने गुप्तचर निपुणक से सूचना मिलती है कि क्षपणक जीवसिद्धि, राक्षस का मित्र शकटदास और सेठ चंदनदास—ये तीन लोग पाटलिपुत्र में उसके शत्रु हैं। निपुणक राक्षस की एक अँगूठी भी चाणक्य को सौंपता है, जो उसे सेठ चंदनदास के घर के बाहर पड़ी मिली थी क्योंकि चंदनदास के घर ही राक्षस की पत्नी और बच्चा छिप कर रह रहे थे। अँगूठी पाकर चाणक्य कहता है—अब तो राक्षस मेरी मुट्ठी में आ ही गया। इसी अँगूठी का जो उपयोग राक्षस को पकड़ने के लिए चाणक्य करता है, उसके आधार पर नाटक का नाम मुद्राराक्षस रखा गया है। निपुणक ने शकटदास से मित्रता कर ली है। चाणक्य निपुणक से शकटदास के हाथ से एक पत्र लिखवा लेता है, क्षपणक जीवसिद्धि को नगर से निकलवाने की घोषणा करा देता है (यद्यपि क्षपणक वास्तव में उसी का मित्र विष्णु शर्मा है)। वह शकटदास को सूली पर चढ़ाने का आदेश भी देता है। इसी समय चंद्रगुप्त पर्वतक का श्राद्ध करता है और चाणक्य श्राद्ध के दान में पर्वतक के गहने ब्राह्मण वेषधारी अपने ही गुप्तचरों को दिलवा देता है। फिर ये गहने राक्षस को बेंच दिये जाते हैं। चाणक्य का गुप्तचर सिद्धार्थक शूली पर चढ़ाये जाते शकटदास को बचा कर ले भागता है और राक्षस के पास पहुँच जाता है। राक्षस सिद्धार्थक पर ऐसा प्रसन्न होता है कि वह मलयकेतु के द्वारा उपहार में दिये गये अपने पिता पर्वतक के गहने उतार कर सिद्धार्थक को दे देता है। सिद्धार्थक भी राक्षस की उसी अँगूठी की मुहर लगवा कर, जो चंदनदास के घर से मिली थी, उन गहनों को राक्षस के पास ही धरोहर के रूप में रख देता है।

अब राक्षस चाणक्य और चंद्रगुप्त में फूट डालने का प्रयास करता है। चाणक्य उसकी इस योजना को पहले से ही भाँप चुका है। वह चंद्रगुप्त को संकेत करके उससे स्वयं ही बनावटी झगड़ा कर बैठता है। चंद्रगुप्त चाणक्य को अमात्य पद से मुक्त कर देने की घोषणा करा देता है।

इधर चाणक्य का गुप्तचर भागुरायण राक्षस के विरुद्ध मलयकेतु के कान भरता रहता है। वह मलयकेतु को विश्वास दिला देता है कि राक्षस की रुचि मलयकेतु को राजा बनाने में नहीं, चाणक्य को हटा कर स्वयं चंद्रगुप्त का मंत्री बनने में है। मलयकेतु के मन में संदेह घर कर लेता है। राक्षस जब प्रसन्न होकर उसको चाणक्य और चंद्रगुप्त में फूट पड़ जाने की बात बताता है, तो मलयकेतु का संदेह पक्का होने लगता है। इसके बाद सिद्धार्थक राक्षस के पास से उसी की अँगूठी की मुहर से बंद गहनों की पेटी तथा शकटदास के हाथ से छल से लिखवाया पत्र साथ में लेकर जानबूझ कर मलयकेतु के शिविर से गुजरता है और जानबूझ कर पकड़ा जाता है। मार खाकर वह नाटक करता हुआ बताता है कि गहनों की पेटी राक्षस ने चाणक्य के लिए भेजी है। शकटदास के हाथ से लिखे पत्र को मलयकेतु राक्षस के द्वारा चंद्रगुप्त के नाम लिखवाया गया पत्र समझ लेता है। वह राक्षस से झगड़ पड़ता है और इस पत्र को सच्चा मानकर अपने सच्चे सहयोगी पाँच राजाओं को भी विश्वासघाती समझकर मरवा डालता है। चाणक्य

की कूटनीति और दूरदर्शिता के आगे सर्वथा परास्त राक्षस सब ओर से निराश होकर अपने मित्र चंदनदास को फाँसी से बचाने के लिए पाटलिपुत्र आता है और चाणक्य के बिछाये जाल में ऐसा फँसता है कि आत्मसमर्पण के अतिरिक्त और कोई उपाय उसके पास नहीं रह जाता।

कथावस्तु की संरचना की दृष्टि से मुद्राराक्षस संस्कृत नाटक साहित्य में बेजोड़ रचना है। घटनाओं की परस्पर अन्विति, क्रम और उनकी तार्किक परिणतियों का पूरा ध्यान यहाँ रखा गया है। नाट्यशास्त्र के आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट 'गोपुच्छाग्रवत्' कथावस्तुविन्यास में विशाखदत्त ने बड़ी दक्षता दिखायी है। उन्होंने मुद्राराक्षस के फलक पर घटनाओं का विस्तीर्ण जाल फैलाकर अंत में उसका एक भी तार उलझाये बिना कुशलता से उसे समेट लिया है।

आचार्य धनिक ने मुद्राराक्षस की कथावस्तु को प्रख्यात कोटि की बताकर बृहत्कथा को इसका मूल स्रोत बताया है। कथावस्तु के विकास में विशाखदत्त ने पंचसंधि, पंचावस्था और अर्थप्रकृतियों के विन्यास का पूरा ध्यान रखा है। चाणक्य राक्षस के आत्मसमर्पण के लिए बहुत सोच-समझकर योजना बनाता है, जिसमें आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम ये पाँचों अवस्थाएँ स्वतः चरितार्थ हो गयी हैं। उसके वस्तुविधान पर कौटिल्य के अर्थशास्त्र का विशेष प्रभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजवंश से संबद्ध होने के कारण विशाखदत्त ने अर्थशास्त्र का गहरा अध्ययन किया था और राजनीति का प्रत्यक्ष और व्यावहारिक ज्ञान तो उनको था ही। शत्रु पक्ष में फूट डालना, षाड्गुण्य, विष-प्रयोग तथा शत्रुनाश के अन्य विविध उपाय, चरव्यवस्था, कूटलेख आदि की परिकल्पनाएँ अर्थशास्त्र तथा व्यावहारिक राजनीतिक के परिचय के कारण विशाखदत्त अपने नाटक में प्रस्तुत कर सके हैं।

चरित्रचित्रण—मुद्राराक्षस में चरित्रचित्रण कला का वैशिष्ट्य पात्रों का द्वंद्वात्मक रूप में प्रस्तुतीकरण है। जिस प्रकार कथानक में यहाँ दो पक्षों के बीच का संघर्ष निरन्तर कौतूहल जाग्रत किये रहता है, उसी प्रकार चरित्रचित्रण में विशाखदत्त बड़ी बारीकी से दोनों पक्षों के विभिन्न पात्रों को इस तरह उपस्थापित करते हैं कि दर्शक सहज ही उन पात्रों को एक-दूसरे के आमने-सामने रख कर उनमें अंतर समझने लगते हैं। चाणक्य जैसा बुद्धि और राजनीतिक चातुर्य का मूर्तिमान् रूप अन्य किसी नाटक में हमें देखने को नहीं मिलता। वह साहस, विवेक और दृढ़ता में अप्रतिम है। नाटक में उसे अनेकत्र संभ्रम, आवेग और आवेश की स्थितियों में दिखाया गया है, पर उसका आवेश बनावटी ही अधिक लगता है, अपने भीतर वह फौलाद की तरह अटल है। इस दृष्टि से चाणक्य पूरे नाटक का सूत्रधार बन जाता है। वही सारे घटनाक्रम का नियंता है। उसके अनेक आत्मालाप या कोपाटोपसमन्वित कथन नाटक के अंत पर पहुँच कर अभिनय लगने लगते हैं। चाणक्य का पात्र नाटक के भीतर अपना नाटक रचता है। साथ ही चाणक्य के अभेद्य दुर्ग जैसे सुदृढ़ व्यक्तित्व में भीतर ही भीतर करुणा और स्नेह का प्रच्छन्न पर अजस्र स्रोत है यह भी हम अनुभव करते हैं। चाणक्य के चरित्रचित्रण में

नाटककार की यह सबसे बड़ी सफलता कही जा सकती है। एक कूटनीतिज्ञ के रूप में वह अत्यन्त जागरूक, चतुर तथा धूर्त है, पर मनुष्य के रूप में परम कारुणिक और महान् है। वह संतों और ऋषियों की परम्परा को साकार करता है। राक्षस चाणक्य का प्रतिद्वंद्वी है। चाणक्य की कूटनीतिक सफलता के सामने ही नहीं, उसकी चारित्रिक ऊँचाइयों के आगे भी राक्षस को समर्पण करना पड़ता है। विशाखदत्त ने दोनों प्रतिद्वंद्वियों को परस्पर विपरीत ध्रुवों पर रख कर प्रस्तुत किया है, और साथ ही दोनों में समानता की रेखाएँ भी उकेरी हैं। चाणक्य जितना ही निष्ठुर लगता है, राक्षस उतना ही कोमल और भावुक है। चाणक्य प्रतिक्षण सजग रहता है, राक्षस चूक करता चला जाता है। चाणक्य की स्मृति जाग्रत है, राक्षस विस्मरणशील है। राक्षस अतीत में जीता है, चाणक्य के आगे वर्तमान और भविष्य है।

चरित्रचित्रण की द्वंद्वात्मक पद्धति इसी प्रकार चंद्रगुप्त और मलयकेतु के प्रस्तुतीकरण में भी है। दोनों अपने अमात्यों के अधीन हैं, जिन्हें अर्थशास्त्र की परिभाषा में सचिवायत्तसिद्धि कहा जा सकता है। पर चंद्रगुप्त आचार्य चाणक्य को सच्चे मन से अपना गुरु मानता है, और उनके प्रति एकनिष्ठ भाव से समर्पित भी है। चाणक्य का आदेश उसके लिए पत्थर की लकीर है। चाणक्य के आदेश से वह अपने गुरु से बनावटी झगड़ा तक करने को तैयार हो जाता है और इस कृतककलह में भी गुरु के लिए कहे गये कठोर शब्दों पर पछताता है। इसके विपरीत मलयकेतु राक्षस पर संदेह करता है। चाणक्य और चंद्रगुप्त के बीच जितनी गहरी अंतरंग समझ है, राक्षस और मलयकेतु के बीच उतनी ही गहरी खाई है। मलयकेतु अविवेकी और जल्दबाज है, चंद्रगुप्त विवेकशील और सोच-समझ कर काम करने वाला।

चाणक्य और राक्षस के गुप्तचरों के बीच भी विशाखदत्त ने इसी प्रकार तारतमिक अंतर प्रस्तुत किया है। राक्षस के गुप्तचर अपने स्वामी की दयनीय दशा पर खिन्न होते हैं, चाणक्य के गुप्तचर अपने स्वामी की दुराधर्ष प्रज्ञा के सामने भयाक्रांत और पूर्णतः समर्पित हैं। मृच्छकटिककार की भाँति विशाखदत्त ने भी अपने छोटे-छोटे पात्रों तक को व्यक्तित्व दिया है और उनकी विशेषताओं को उजागर किया है। उनके अप्रधान पात्रों में भी अनेक ऐसे हैं, जो अपने दुर्लभ चारित्रिक गुणों से मन जीत लेते हैं। गुरु के प्रति एकनिष्ठ श्रद्धाभाव वाला शिष्य शार्ङ्गरव, राक्षस के लिए सहर्ष फाँसी पर चढ़ने को तैयार उसका मित्र चंदनदास, तीक्ष्णबुद्धि भागुरायण, चंचल पर विचक्षण निपुणक और कार्यकुशल सिद्धार्थक और वाक्पटु विराधगुप्त—ये सारे चरित्र हमारे मन पर गहरी छाप छोड़ते हैं।

रस—मुद्राराक्षस का अंगीरस वीर है। रौद्र, भयानक और करुण का अंग के रूप में इसमें अच्छा परिपाक हुआ है। चाणक्य की कभी शांत होती और फिर दहकती क्रोध की ज्वाला इसमें रौद्र रस को दीप्त करती है। पर चाणक्य का क्रोध सकारात्मक है, कर्मठता और राष्ट्रनिर्माण के लिए है। इसलिए सतत जागरूक विवेक से युक्त उत्साह की प्रवहमाण धारा से नाटक में वीररस का पोष होता है। यह वीर रस भी अनोखा ही है,

क्योंकि इसमें भौतिक स्तर पर होने वाला युद्ध नहीं, मानसिक संघर्ष की प्रमुखता है। दो अत्यन्त चतुर मंत्रियों के बीच बुद्धि के स्तर पर लगातार चलती लड़ाई की उत्तेजना और उत्साह नाटक में बने रहते हैं। चाणक्य का अदम्य आत्मविश्वास और कूटनीतिक चालों की अकाट्यता इस नाटक में एक भिन्न प्रकार के रसास्वाद को उत्पन्न करती है, जिसे हम बुद्धिरस या नीतिरस भी कह सकते हैं। चाणक्य कहता है—पाँच राजाओं के नाम मैंने (मारे जाने वालों की सूची में) लिख रहा हूँ, चित्रगुप्त की शक्ति हो, तो मिटा दें—

नामान्येषां लिखामि ध्रुवमहमधुना चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु। (१/२०)

वह अपनी बुद्धि को सैंकड़ों सेनाओं से बढ़ कर मानता है, भले ही सब छोड़ कर चले जायें, केवल उसकी बुद्धि उसके पास रहे, तो वह सबकुछ करने में समर्थ है—

एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका।
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम॥ (१/२५)

सॉंतवें अंक में चंदनदास, उसकी पत्नी और बेटे के बीच अत्यन्त कारुणिक संवाद करुणरस का उद्रेक करता है। शिष्ट हास्य की गहरी पकड़ विशाखदत्त को है। पहले अंक में निपुणक के साथ शार्ङ्गरव के संवादों में और दूसरे अंक में जीर्णविष के रूप में विराधगुप्त के एकालाप में वे दर्शकों को गुदगुदाते हैं, और मीठी चुटकियों से नाटक में व्याप्त तनाव को हल्का कर देते हैं।

व्यभिचारी भावों का सम्मर्द और भावशबलता की स्थितियाँ भी नाटक में स्थान-स्थान पर बनती हैं। राक्षस की उक्तियों में शोक, निर्वेद, ग्लानि, असूया, श्रम, शङ्का, धृति आदि भावों का समागम हुआ है, तथा चाणक्य की उक्तियों में उत्साह, धृति, मति, स्मृति, हर्ष, आवेग, गर्व, प्रबोध, अमर्ष को समर्थ अभिव्यक्ति मिली है।

भाषा-शैली तथा संवादयोजना—मुद्राराक्षस की भाषा में नाटकीय स्थितियों के निर्माण की क्षमता और पैनापन है। काव्यात्मकता के अतिरेक से वे बचते हैं। संवादो में उक्ति-प्रत्युक्ति और प्रत्युत्पन्नमतित्व की अभिव्यक्ति प्रभावशाली है। वे अपने संवादों में थोड़े से शब्दों या लघु वाक्यों से बहुतकुछ कह देते हैं। वे लाक्षणिक संवादों के विलक्षण शिल्पी हैं। चाणक्य और राक्षस के कहे हुए कई वाक्य मुद्राराक्षस की कथायात्रा में लौट-लौटकर हमारी स्मृति में आते हैं। जैसे चाणक्य का राक्षस की अँगूठी मिल जाने पर यह कहना—'ननु वक्तव्यं राक्षस एवास्मदङ्गुलिप्रणयीसंवृत्तः।' नाटक में लगातार चरितार्थ होता चलता है। पात्र की प्रकृति के अनुरूप विशाखदत्त उसके लिए भाषा और मुहावरों का सधा हुआ प्रयोग करते हैं। चाणक्य के ही ये संवाद उदाहरणीय हैं—

तन्मयाप्यस्मिन् वस्तुनि शयानेन न स्थीयते।

(तो मैं भी इस मामले में सो नहीं रहा हूँ।)

कायस्थ इति लघ्वी मात्रा। तथापि न शक्यं प्राकृतमपि रिपुमुपेक्षितुम्।

(बिचारे मुंशी की क्या बिसात? फिर भी मामूली से भी शत्रु की उपेक्षा करना ठीक नहीं।)

पताकास्थानकों की सटीक योजना ने मुद्राराक्षस के संवादों में चमत्कार ला दिया है। ये पताकास्थानक नाट्यविडंबना, भावी घटनाओं के आभास और दर्शकों के कौतूहल के निर्वाह के लिए बड़े उपयुक्त हैं। उदाहरण के लिए—

चाणक्यः—(आत्मगतम्) अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत ?

चाणक्य—(मन में)—क्या वह दुष्ट राक्षस पकड़ में आ सकेगा?

सिद्धार्थक—आर्य! गृहीतः।

सिद्धार्थक—आर्य! पकड़ में आ गया।

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्)—हन्त, गृहीतो राक्षसः। (प्रकाशम्)—भद्र! कोऽयं गृहीतः ?

चाणक्य—(सहर्ष, मन में) अरे, पकड़ में आ गया राक्षस। (प्रकाश में)—भद्र! क्या आ गया पकड़ में?

सिद्धार्थक—गृहीतः आर्यसन्देशः।

सिद्धार्थक—आर्य का संदेश पकड़ में आ गया।

विशाखदत्त अत्यन्त सरल और लघुपदमयी भाषा का भी साभिप्राय प्रयोग करते हैं, और दीर्घसमासों वाली गौडी रीति का भी। अलंकार उनकी भाषा में अनायास आ उतरते हैं। पात्रों के सघन भावावेग की अभिव्यक्ति हो या सुकुमार की सर्वत्र भावानुरूप भाषा का प्रयोग, वे करते हैं। चाणक्य की यह उक्ति उदाहरणीय है—

नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहललोलधूमलताम्।
अद्यापि वध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे ?

(नंदकुल की कालभुजगी, क्रोधाग्नि की सघन धूमरेखा मेरी इस बाँधी जाती शिखा को किसकी मृत्यु आयी है जो वह बाँधी जाती देखना नहीं चाहता?)

यहाँ सांग रूपक का निर्वाह चाणक्य के दुराधर्ष व्यक्तित्व के सर्वथा अनुरूप है। इसी प्रकार छठे अंक में श्मशान के वर्णन में उन्होंने मालोपमा, अमूर्त उपमान तथा उत्प्रेक्षा की मनोहर लड़ी गूँथ दी है। श्मशान का सारा वर्णन राक्षस की विषादग्रस्त मनोदशा की प्रतिच्छवि प्रस्तुत करता है।

विशाखदत्त गौड़ी, वैदर्भी तथा पांचाली—तीनों रीतियों का समान दक्षता से प्रयोग करते हैं। नाट्यवृत्तियों की दृष्टि से उनके नाटक में भारती वृत्ति की प्रधानता है, और सात्त्वती तथा आरभटी का उसके साथ निरन्तर निर्वाह है।

पांडित्य—विशाखदत्त ने राजनीतिक असमंजस में हेत्वाभास की स्थिति को प्रकट करने के लिए न्यायदर्शन के अनुमान प्रमाण की प्रक्रिया में प्रयुक्त शब्दावली का प्रभावशाली उपयोग किया है। अर्थशास्त्र का पांडित्य तो उनकी कृति में सर्वत्र है। नाट्यशास्त्र का भी उन्होंने गहरा अध्ययन किया था, यह ४/३ में भरतमुनि के द्वारा प्रतिपादित इतिवृत्तसंरचना की उनके द्वारा राजनीतिक कर्म से की गयी तुलना से स्पष्ट है। वास्तुशास्त्र की तकनीक से वे परिचित प्रतीत होते हैं। तोरण किस प्रकार बनाया जाये कि उसकी 'कनकशृंखलावलम्बिनी कनकदण्डिका' सूत्रधार यथेच्छ किसी के ऊपर गिरा सके—इसका संकेत उन्होंने सूत्रधार दारुवर्मा के द्वारा निर्मित तोरण में दिया है।

रंगमंच—प्रयोग की दृष्टि से मुद्राराक्षस में कैशिकी वृत्ति का अभाव है। वह ओजस्वी नाटक है। आरभटी का संयोग भारती वृत्ति के साथ रहने से आवेग, ऊर्जा और घनीभूत सक्रियता के साथ मुद्राराक्षस की नाट्यसंरचना परिकल्पित की गयी है। मुद्राराक्षस का रंगमंच पर प्रयोग दर्शकों को निरन्तर बाँधे रखता है।

कौमुदीमहोत्सव (?)

इस नाटक का नाम तथा कर्तृत्व विवादास्पद है। पाण्डुलिपि में किये गये उल्लेखों ने इसके सम्पादकों ने इसका नाम कौमुदीमहोत्सव तथा इसकी रचयित्री विज्जिका को माना। सम्भवत: सातवीं शती में रचा गया यह नाटक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है।

त्रैविक्रमम्

टी० गणिपति शास्त्री के द्वारा भास के तेरह नाटकों की उपलब्धि और १९१२ ई० में उनके प्रकाशन के बाद केरल से कुछ और भी रूपक भी मिले, जिन्हें भास द्वारा रचा बताया गया। बीसवीं शताब्दी में इनमें से तीन नाटक विशेष चर्चा में रहे— यज्ञफलम्, दामरम् तथा त्रैविक्रमम्।

इनमें से त्रैविक्रमम् एक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन रूपक है। वस्तुत: यह रूपक पतंजलि के द्वारा वर्णित एक दुर्लभ नाट्य परम्परा का साक्ष्य है। ए०के० वार्डर भी इसका सम्बन्ध पतंजलि (दूसरा शताब्दी ई०पू०) के द्वारा बलिबन्ध की कथा को शोभनिकों के द्वारा प्रस्तुत करने के उल्लेख से जोड़ते हैं। पतंजलि ने ग्रन्थ से पाठ कर के कंसवध या बलिबन्ध आदि आख्यानों की प्रस्तुति करने वाले ग्रन्थिक और इन्हीं आख्यानों पर लाल या काले चेहरों के साथ अभिनय करने वाले शोभनिकों का उल्लेख किया है। इसी प्रसंग में वे चित्र में युद्ध आदि के दृश्य का भी उल्लेख करते हैं।

त्रैविक्रमम् को पटनाट्य कहा जा सकता है। चित्रित कपड़ों या पट पर बने चित्रों के दिखा दिखा कर उनके द्वारा आख्यानों की सामिनय प्रस्तुति कुछ लोकनाट्यों में की जाती रही है। राजस्थान में इसे फड़ कहा जाता है। यह रूपक नहीं उपरूपक है, लोकनाट्यों में वीथीनाट्य से इसका साम्य हो सकता है। इसकी रचनाशैली केरल में लिखे प्रचीन नाटकों या भास के नाटकों से मिलती जुलती है। विशेष रूप से नान्दी के पश्चात् सूत्रधार के प्रवेश और भरत वाक्य की शब्दावली प्राय: वही है, भास के रूपकों में है। केरल के ही एक अज्ञात टीकाकार ने अपनी अभिज्ञानशाकुन्तलचर्या नाम की अभिज्ञानशाकुन्तल की टीका में त्रैविक्रमम् का उल्लेख किया है। इससे लगता है कि प्राचीन परम्परा में यह एख सुविदित और प्रचलित रूपक था। एम०आर० कवि ने इस नाटक को भासकृत माना था, पर विकल्प में यह सम्भावना भी प्रस्तावित की थी कि यह पल्लव राजा महेन्द्र विक्रम (सातवीं शताब्दी) का रचा हो सकता है। इस रूपक या उपरूपक में आद्यन्त सूत्रधार और नटी का संवाद है, जिसमें ये दोनों नामानावतार के चित्र दिखाते हुए दर्शकों के समक्ष उनकी कथा का वर्णन करते चलते हैं।

भगवदज्जुकम् तथा मत्तविलासम्

ये दोनों प्रहसन कोटि के रूपक हैं। संस्कृत रूपकों की परम्परा में प्रहसन दो प्रकार के मिलते हैं—एक तो वे जिनमें कल्पनाप्रवण नाट्यकार कथानक के अंतर्गत परिस्थितियों की ऐसी रचना करता है कि हास्य की अनिर्बाध सृष्टि स्वयं होती जाती है। दूसरी कोटि के प्रहसन वे हैं जिनमें अधम कोटि के पात्र संवादों की असभ्यता, अश्लीलता या फूहड़पन के द्वारा हास्य उत्पन्न करते हैं। नाट्यशास्त्र में पहली कोटि के प्रहसन को शुद्ध तथा दूसरी कोटि के प्रहसन को संकीर्ण कहा गया है। भगवदज्जुकम् तथा मत्तविलासम् पहली कोटि के प्रहसन हैं। इन दोनों में हास्य की सृष्टि कथासंविधान की आकस्मिकता के कारण होती है। इन दोनों प्रहसनों की दार्शनिक और प्रतीकात्मक व्याख्याएँ भी की जाती रही हैं।

भगवदज्जुकम्

संस्कृत प्रहसनों में भगवदज्जुकम् अद्वितीय है। इसके रचयिता का नाम तथा रचनाकाल अनिर्णीत है। ६१० ई० के मानमंडूर शिलालेख में इस प्रहसन का नाम आया है, अतः इसकी रचना ६१० ई० के पूर्व हो चुकी थी, यह कहा जा सकता है। इस शिलालेख में मत्तविलास तथा भगवदज्जुकम् इन दोनों प्रहसनों के साथ नाट्यकार के रूप में पल्लव राजा महेन्द्रविक्रम का उल्लेख है। दूसरी ओर भगवदज्जुकम् की एकमात्र उपलब्ध प्राचीन टीका 'दिङ्मात्रदर्शिनी' तथा भगवदज्जुकम् की प्राचीन पांडुलिपियों में इसका कर्ता बोधायन को बताया गया है। श्री वार्डर का मत है कि भगवदज्जुकम् के प्रणेता बोधायनधर्मसूत्र के लेखक बोधायन ही हैं, जिनका समय तीसरी शताब्दी ई० है। प्रो० एस० के० डे तथा प्रो० रामजी उपाध्याय भगवदज्जुकम् का रचनाकाल बाद में १२वीं शताब्दी के लगभग मानने के पक्ष में हैं। पर यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण विचारणीय हैं—

(१) भगवदज्जुकम् की रचना नाट्यशास्त्र की प्रसिद्धि के कुछ पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि नाट्यशास्त्र में दिये गये प्रहसन के लक्षण इस पर पूरी तरह सत्यापित नहीं होते। नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रहसन में भगवान् (संन्यासी), तापस या विप्र आदि के द्वारा हास्य का प्रवर्तन किया जाता है। भगवदज्जुकम् में संन्यासी पात्र तो है, पर उसका स्वयं का चरित्र अत्यन्त उदात्त है। नाटक के शेष पात्र अवश्य उसके चरित्र के आगे हास्यास्पद बन जाते हैं। इस प्रहसन के अतिरिक्त जितने प्रहसन संस्कृत में मिलते हैं, उनमें भी कोई पात्र ऐसा नहीं, जो हास्यास्पद न बनता हो। अतः भगवदज्जुकम् प्रहसन के लक्षणों के रूढ़ होने के पहले लिखा जा चुका था।

(२) भगवदज्जुकम् की प्रस्तावना में रूपक प्रकारों के नाम दिये गये हैं, जिनमें संलाप तथा वार—ये दो रूपक भी परिगणित हैं। नाट्यशास्त्र में परिगणित दशरूपकों में संलाप और वार कहीं उल्लिखित नहीं हैं। अतः नाट्यशास्त्र के दशरूपकविधान की प्रसिद्धि होने के पहले भगवदज्जुकम् लिखा जा चुका था—यह सिद्ध होता है।

नाट्यशास्त्र के लक्षणों तथा सिद्धान्तों की प्रसिद्धि चौथी शताब्दी के आसपास हुई। अतः भगवदज्जुकम् इसके पहले लिखा जा चुका था।

(३) भगवदज्जुकम् में अनेक दार्शनिक मतों का गंभीर विवेचन है। इसके अंतर्गत प्रहसन के नायक भगवान् या संन्यासी सांख्यमत के विवेचन में आचार्य वार्षगण्य का नामोल्लेख तो करते हैं, पर सांख्यकारिका के प्रणेता आचार्य ईश्वरकृष्ण का नहीं (जबकि परवर्ती सांख्य-परम्परा में आचार्य ईश्वरकृष्ण अधिक प्रसिद्ध रहे हैं)। वार्षगण्य का समय दूसरी शताब्दी ई० पू० है। ईश्वरकृष्ण उनके बाद के हैं। अतः भगवदज्जुकम् का रचनाकाल ईश्वरकृष्ण के सांख्यसिद्धान्त की प्रसिद्धि के पहले का है।

कथावस्तु—प्रहसन के आरम्भ में भगवान् प्रव्राजकाचार्य अपने शिष्य शांडिल्य को खोजते हुए आते हैं। शांडिल्य एक पेटू बटु है, जो दरिद्र ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होकर उदरपोषण के लिए पहले बौद्ध भिक्षु हुआ, फिर इन संन्यासी के पास चला गया। शांडिल्य इन संन्यासी से भी दुखी है, क्योंकि वे उससे भोजन-पानी की बात करने की अपेक्षा ज्ञानचर्चा करते रहते हैं।

शांडिल्य के भिक्षाटन को चलने के अनुरोध को टाल कर संन्यासी उसे लेकर नगर के अशोक उद्यान में पहुँचते हैं। दोनों में योग पर चर्चा होती है, जिसे शांडिल्य भोग-चर्चा की ओर मोड़ना चाहता है। इसी समय वसंतसेना नाम की गणिका अपनी चेटी (सेविका) के साथ उस उद्यान में विहार के लिए आती है। उसका प्रेमी रामिल भी उससे मिलने के लिए वहाँ आने वाला है। समय बिताने के लिए वह उद्यान में फूल चुनने लगती है। शांडिल्य उसे अतृप्तलालसा से छिप कर निहारता है। संन्यासी उसकी चंचलता पर उसे फटकार लगाते हैं। तभी यमदूत वहाँ प्रवेश करता है। यमराज ने उसे वसंतसेना नाम की गणिका के प्राण लाने के लिए इस नगर में भेजा है। वह सर्प बन कर फूल चुनती वसंतसेना को काट लेता है। वसंतसेना चेटी के अपनी माता तथा प्रेमी के लिए अपना अंतिम संदेश बताते-बताते प्राण त्याग देती है। शांडिल्य यह दृश्य देख कर बिलखने लगता है। संन्यासी उसे गणिका का मोह त्याग कर अध्ययन में मन लगाने का उपदेश देते हैं, तो वह उनसे ही उलझ पड़ता है। चेटी गणिका के शव को शांडिल्य के भरोसे छोड़ कर उसकी माता को बुलाने के लिए चली जाती है। शांडिल्य गणिका के शव को छूकर विलाप करने लगता है। तब संन्यासी उसका मोह तोड़ने के लिए अपनी योगशक्ति का चमत्कार दिखाने का निर्णय लेते हैं। वे अपना जीव मृत गणिका के शव में प्रविष्ट करा देते हैं। गणिका जी उठती है और संन्यासी का शरीर निष्प्राण हो जाता है। शांडिल्य प्रसन्नता से उछल पड़ता है, और गणिका को छूने के लिए आगे बढ़ता है, तो गणिका के शरीर में विराजे उसके गुरुदेव उसे डपटते हैं—अपवित्र हाथों से मुझे मत छू! शांडिल्य घबरा कर अपने गुरु के पास जाता है, और उनका शरीर निष्प्राण देख कर रोने लगता है। गणिका के देह में विराजे गुरु उसे अध्ययन करने के लिए पुकारते हैं। तभी चेटी गणिका की माता को लेकर आ जाती है। गणिका की माता रोती हुई अपनी बेटी के शरीर से लिपटने को होती है कि संन्यासी उसके शरीर के भीतर से उसे कड़े स्वर में स्पर्श करने से

रोकते हैं। माता और चेटी समझती हैं कि विष के प्रभाव से वसंतसेना ऊटपटाँग बातें कर रही है। उसके इलाज के लिए दो वैद्य बुलाये जाते हैं। पर गणिका के भीतर स्थित संन्यासी उन वैद्यों से वैद्यक और सर्पविद्या पर प्रश्न और शास्त्रार्थ करके उन्हें इस तरह हैरान कर देते हैं कि वे भाग खड़े होते हैं। इस बीच वसंतसेना का प्रेमी रामिलक उससे मिलने के लिए आ पहुँचा है। वह अपनी प्रेमिका को प्रेताविष्ट समझ कर घबरा जाता है। यह सारा घटनासंविधान और भी रोचक मोड़ ले लेता है जब वसंतसेना का जीव लेकर गया हुआ यमदूत लौट आता है। यमराज ने उसे लताड़ कर कहा कि जिस वसंतसेना का जीव तुम ले आये हो, उसकी तो आयु पूरी नहीं हुई थी, उसी नगर में एक अन्य वसंतसेना नामकी गणिका है, उसका जीव लाना था। यमदूत उद्यान में वसंतसेना का जीव उसके शरीर में वापस स्थापित करने के लिए पहुँचता है तो क्या देखता है कि वसंतसेना तो जीवित है और प्रवचन दिये जा रही है। वह वस्तुस्थिति समझ जाता है और संन्यासी के खेल को आगे बढ़ाने के लिए गणिका का जीव उनके मृत देह में डाल देता है। अब संन्यासी स्त्रियों जैसे सुकुमार स्वर में रामिलक और गणिका की माता को पुकार रहे हैं और उधर गणिका संन्यासी के स्वर में लोगों को डपट रही है। फिर यमदूत अपनी भूल सुधारने के लिए वहाँ आता है और गणिका के शरीर में स्थित संन्यासी से प्रार्थना करता है कि वे उस शरीर को त्याग दें। इसके पश्चात् संन्यासी का जीव फिर से उन्हीं के देह में आ जाता है और गणिका का जीव भी उसके नारी-शरीर में लौट आता है, जिससे ये दोनों पहले की तरह स्वाभाविक आचरण करने लगते हैं।

वस्तुयोजना की विशेषताएँ—भगवदज्जुकम् में दार्शनिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक रहस्यों के उन्मीलन के लिए परकायप्रवेश के अभिप्राय का अत्यन्त मौलिक और कल्पनापूर्ण प्रयोग किया गया है। यमदूत की तनिक सी भूल के कारण विचित्र और उलझन-भरी स्थितियों की श्रृंखला बन जाती है, जिसमें दर्शक तो कौतुक से भर कर आनंदित होते रहते हैं, और संन्यासी को छोड़ कर सारे पात्र किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं। घटनाव्यापार के आकस्मिक विपरिवर्तन के द्वारा इस प्रहसन में हास्य की अपूर्व सृष्टि की गयी है। एक असंभव प्रतीत होने वाली घटना को मंच पर चरितार्थ करके नाट्यकार मनुष्य के अस्तित्व और व्यक्तित्व की पहचान के सम्बन्ध में गंभीर प्रश्न उठाते हैं। क्या देह से मनुष्य के व्यक्तित्व की पहचान होती है? शांडिल्य संन्यासी के देह से चिढ़ता है, और गणिका के रूप पर आसक्त होता है। संन्यासी का व्यक्तित्व गणिका में और गणिका का जीव संन्यासी में आ जाने से उसकी संन्यासी के लिए चिढ़ और गणिका के लिए आसक्ति दोनों समाप्त हो जाती है। गीताकार की भाँति भगवदज्जुकम् के प्रणेता यहाँ यह संदेश भी देना चाहते हैं कि 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः'—यदि संन्यासी गणिका की भाँति और गणिका संन्यासी की भाँति आचरण करने लगे, तो बड़ी विसंगति होगी।

मृच्छकटिक की भाँति भगवदज्जुकम् में पात्रों के व्यक्तित्व और वैशिष्ट्य के अनुसार भाषा-शैली की विविधता है। संन्यासी के संवादों में एक-एक शब्द गरिमा और

गंभीरता से ओतप्रोत है, शांडिल्य के हर वाक्य से उसकी मूर्खता और फूहड़पन टपकता है। गणिका के बोलने का ढंग और उनकी अपनी भाषा की बानगी भी नाट्यकार ने अच्छी प्रस्तुत की है।

भगवदज्जुकम् की अभूतपूर्व विशेषता उसके रचनाकार की गंभीर ऋषिदृष्टि है। इस प्रहसन की दिङ्मात्रदर्शिनी नाम से एक प्राचीन टीका मिलती है। टीकाकार ने इस टीका में भगवदज्जुकम् को अतिगभीर कृति कहा है, और आद्यंत इसमें अर्थ के दो स्तर उद्घाटित किये हैं। एक लौकिक या बाह्य स्तर है, दूसरा आध्यात्मिक और प्रतीकात्मक। पहले स्तर पर तो हास्य की निराली छटा प्रहसन में निरन्तर बनी रहती है, पर सूक्ष्मतर स्तर पर हम यह भी अनुभव करते हैं कि विपर्यास का जो रंगमंच यहाँ उपस्थित किया गया है, उसमें नाट्यकार निस्संग और निष्काम है। श्रीमद्भगवद्गीता के निष्काम कर्म या अनासक्ति योग से नाट्यकार प्रभावित लगता है। संन्यासी के संवादी में असंगता की व्याख्या भी उसी प्रकार उसमें टकरायी है।

मत्तविलासप्रहसन

मत्तविलासप्रहसन के प्रणेता पल्लव राजा महेन्द्र विक्रम हैं। राजा सिंहविष्णु के पुत्र महेंद्रविक्रम ने कांची में सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में राज्य किया, यह अनेक शिलालेखों तथा ऐतिहासिक साक्ष्यों से प्रमाणित है। दक्षिण के मानमंडूर शिलालेख में इस प्रहसन का उल्लेख है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि इसकी रचना ६१० ई० के पहले हो चुकी थी। महेन्द्रविक्रम एक प्रतापी सम्राट् होने के साथ-साथ सुकवि तथा कवियों का आश्रयदाता और कलाप्रेमी था।

कथावस्तु—प्रस्तावना के पश्चात् सत्यसोम नामक कपाली देवसोमा नामक अपनी संगिनी के साथ आता है। दोनों ने छक कर मदिरा पी रखी है। नशे में धुत्त होकर वे गिर पड़ रहे हैं। नशे में सत्यसोम देवसोमा को सोमदेवा कहने लगता है, तो देवसोमा उसे झिड़कती है। सत्यसोम उससे क्षमा माँगते हुए मदिरा का त्याग करने का प्रण करने को उद्यत हो जाता है। देवसोमा उससे कहती है कि वह उसके कारण कापालिक धर्म न छोड़े। दोनों और मदिरा पीने के लिए सुरापण (मदिरा के बाजार) में आते हैं। तभी कापालिक का ध्यान इस बात की ओर जाता है कि उसका कपाल (भिक्षापात्र) उसके पास नहीं है। अब दोनों कपाल की खोज में लग जाते हैं। मार्ग में इनकी भेंट नागसेन नामक भिक्षु से होती है। वह अपने चीवर (वस्त्र) के भीतर भिक्षापात्र छिपाये विहार लौट रहा है। कापालिक समझता है कि भिक्षु ही उसका कपाल चुरा कर भाग रहा है। कापालिक सत्यसोम और देवसोमा भिक्षु को पकड़ना चाहते हैं, पर मदमत्त होने से उसे काबू में कर नहीं पाते, तो सहायता के लिए पुकारते हैं। तभी वहाँ पाशुपत बभ्रुकल्प आता है। वह देवसोमा को पहचान लेता है। देवसोमा पहले उसकी संगिनी रह चुकी है। इन लोगों के कहने पर भिक्षु को अपना भिक्षापात्र बताना पड़ता है। कापालिक अभियोग लगाता है कि भिक्षु ने उसका कपाल चुराया ही नहीं, उसका रंग और आकार भी बदल दिया है। नागसेन उन लोगों से पीछा छुड़ाने के लिए

भागने को होता है, पर पाशुपत के सुझाव पर वे न्यास के लिए अधिकरण (न्यायालय) की ओर चल पड़ते हैं। तभी उन्मत्तक (पागल) आता है। उसके पास कुत्ते के मुँह से छीना हुआ कपाल है। वह कपाल बभ्रुकल्प को देने लगता है। बभ्रुकल्प उस कपाल को कापालिक को लौटाने के लिए प्रेरित करता है। बड़ी कठिनाई से ये सब मिल कर उन्मत्तक से कापालिक का कपाल वापस प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।

वैशिष्ट्य—मत्तविलास प्रहसन में तत्कालीन धार्मिक स्थिति का विडंबनापूर्ण चित्रण है। कापालिक, पाशुपत तथा बौद्ध भिक्षुओं के जीवन का कच्चा चिट्ठा प्रहसनकार ने खोल कर रख दिया है। कापालिक के लिए कापालिक धर्म का अर्थ यही रह गया है कि भरपूर पियो और स्त्रियों का साहचर्य प्राप्त करो। पाशुपत की भी यही स्थिति है। भिक्षु नागसेन इस बात को लेकर दु:खी है कि बौद्धधर्म में रहने पर उसे शेष सारे सुख तो सुलभ हैं, केवल सुरा और सुंदरी का दु:ख सुलभ नहीं है। वह चाहता है कि भगवान् बुद्ध के वचनों की ऐसी व्याख्या की जाये कि ये सुख भी बौद्धधर्म में रह कर उसे प्राप्त होते रहें। इस प्रकार धार्मिक अध:पतन पर तीखा व्यंग्य करते हुए प्रहसनकार ने पूरे प्रहसन में हास्यास्पद स्थितियों की अत्यंत रोचक शृंखला गूँथी है। भिक्षु नागसेन से भिड़ने के लिए देवसोमा उसे केश पकड़ कर घसीटना चाहती है, पर भिक्षु तो मुंडित मस्तक वाला है, उसे नशे में धुत्त देवसोमा उसके केश न पाकर स्वयं नीचे गिर पड़ती है। कुत्तों के द्वारा जूठे किये गये कपाल का एक पागल के पास से प्राप्त होना पूरे प्रहसन में व्याप्त उत्प्रास (व्यंग्य) के भाव को पराकाष्ठा पर पहुँचाता है। कपाली, पाशुपत और भिक्षु तीनों में शास्त्रज्ञान में कमी नहीं है, यह उनके संवादों से स्पष्ट होता है। धर्मधुरंधर ज्ञानी लोगों ने किस तरह धर्म को विकृत करके पाखंड के हवाले कर दिया है—प्रहसनकार ने इसका यथार्थ चित्रण करते हुए समाज में मर्यादाभंग और नैतिकपतन का सत्यचित्र प्रस्तुत किया है। प्रहसन के सारे के सारे पात्र समाज से बाहर रहने वाले पात्र हैं। मर्यादाओं और वर्जनाओं को तोड़ने में वे प्रवीण हैं। विडंबन शैली में कपाली शिव को ही दीर्घायु होने का आशीर्वाद दे डालता है—

पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षणीयं
ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः॥

(सुरा पी जानी चाहिये, प्रियतमा का मुख देखा जाना चाहिये, स्वभाव से ललित और विकृत वेष धारण करना चाहिये—इस प्रकार का मोक्षमार्ग जिन्होंने दिखा दिया वे भगवान् पिनाकपाणि शिव दीर्घायु हों।)

भगवदज्जुकम् तथा मत्तविलासम् ये दोनों ही प्रहसन केरल के मंदिरों में चाक्यारों (पारंपरिक अभिनेताओं) के द्वारा खेले जाते रहे हैं, तथा दोनों की ही दार्शनिक या प्रतीकात्मक व्याख्या की जाती रही है। चाक्यार कपाली को ही भगवान् शिव का रूप मानकर पूरे प्रहसन को शिवलीला के रूप में दिखाते हैं।

भट्टनारायण : वेणीसंहार

परिचय

वेणीसंहार नाटक भट्टनारायण की एकमात्र उपलब्ध कृति है। जनश्रुति है कि वेणीसंहार संस्कृत नाटक के रचयिता भट्टनारायण सेनवंश के प्रवर्तक बंगाल के राजा आदिशूर के समकालीन थे और वे इस राजा के द्वारा कन्नौज से अपनी राजधानी में अकाल के दुष्प्रभावों की शांति हेतु यज्ञ करने के लिए आमंत्रित पाँच ब्राह्मणों में से एक थे। कॉनो के अनुसार आदिशूर तथा आदित्यसेन एक ही राजा के नाम हैं और यह राजा ६७१ ई० में जीवित था। श्री ग्रिल तथा मैक्समूलर भट्टनारायण का समय सातवीं शताब्दी के आसपास मानते हैं। मैक्समूलर ने बाणभट्ट के द्वारा अपने हर्षचरित में उल्लिखित भद्रनारायण और भट्टनारायण को एक ही व्यक्ति माना है। अबुलफ़ज़ल द्वारा दी गयी बंगाल के राजाओं की सूची के अनुसार आदिशूर बल्लालसेन (१३वीं शताब्दी) के पूर्वजों में २२वाँ था। इस सूची के आधार पर कुछ विद्वानों ने २२ पूर्वजों के लिए अनुमानतः ३०० वर्षों का समय देकर आदिशूर को आठवीं-नवीं शताब्दी में माना है। भट्टनारायण के विषय में एक अनुश्रुति यह भी है कि वे टैगोर (ठाकुर) वंश के आदिपुरुष थे। संस्कृत के ऐतिहासिक महाकाव्य क्षितीशवंशावलीचरित के अनुसार आदिशूर ने भट्टनारायण को पाँच गाँव दिये थे। आगे चलकर इनकी संख्या बढ़ती गयी और भट्टनारायण एक राजवंश के संस्थापक बने। वेणीसंहार की प्रस्तावना में इन्होंने अपने आपको मृगराजलक्ष्मा (सिंह की उपाधि वाला) कहा है। काव्यशास्त्र के आचार्यों में वामन (आठवीं शताब्दी) भट्टनारायण को उद्धृत करने वाले पहले आचार्य हैं। अतः भट्टनारायण आठवीं शताब्दी के पहले हो चुके थे, यह निश्चित है।

वेणीसंहार के अनुशीलन से प्रमाणित होता है कि भट्टनारायण एक नैष्ठिक तथा विविध शास्त्रों में निष्णात ब्राह्मण थे। नांदी पद्यों में कृष्ण और राधा की भावपूर्ण स्तुति से उनकी वैष्णवी आस्था में प्रकट है। दर्शन, योग, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र का प्रामाणिक ज्ञान भी उनकी रचना में सुंदर रूप में प्रतिफलित हुआ है।

कथावस्तु—वेणीसंहार में छह अंक हैं। यह महाभारत पर आधारित है। नाटक का बीज है भीम के द्वारा दुर्योधन की जंघाएँ तोड़ कर उसके रक्त से द्रौपदी के केश सँवारने की प्रतिज्ञा। इस प्रतिज्ञा की पूर्ति के साथ नाटक समाप्त होता है। पहले अंक से अंतिम अंक तक प्रत्येक अंक में युद्ध से जुड़े अलग-अलग प्रसंग हैं, जो परस्पर विच्छिन्न प्रतीत होते हैं। पर उनमें अंतर्निहित एकसूत्रता है, जिसमें हम भीमसेन को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने की दिशा में अग्रसर देखते हैं।

पांडवों के वनवास की अवधि समाप्त हो गयी है। वे दुर्योधन से अपना आधा राज्य वापस माँगते हैं। पहला अंक यहाँ से आरम्भ होता है। भीमसेन सहदेव के मुख से यह समाचार सुन कर अत्यन्त कुपित होता है कि युधिष्ठिर ने पाँच गाँव के बदले में संधि की चर्चा के लिए श्रीकृष्ण को दूत बना कर भेजा है। द्रौपदी अपने अपमान की चर्चा करके उसके क्रोध को और भड़काती है। तभी समाचार मिलता है कि श्रीकृष्ण दुर्योधन

के पास से संधिवार्ता में विफल होकर लौट आये हैं। युद्ध की घोषणा कर दी जाती है। यहीं पहला अंक समाप्त होता है। दूसरा अंक अभिमन्यु-वध की घटना के पश्चात् आरम्भ होता है। इसमें भोर के समय दुर्योधन अपनी प्रिया भानुमती को खोजता हुआ उद्यान में आता है, जहाँ वह अपनी सखी और चेटी को पिछली रात में देखे गये अशुभ स्वप्न का वृत्तांत बता रही है। दुर्योधन इनकी बातचीत को छिप कर सुनता है। एक नकुल (नेवले) के द्वारा स्वप्न में वस्त्र आदि खींचने की बात को अधूरी सुनकर दुर्योधन समझता है कि उसकी पत्नी छिप-छिप कर नकुल (पांडवों में चौथा) से प्रेम करती है, और वह भड़क उठता है। तभी भानुमती नींद खुल जाने की बात कहती है, जिससे दुर्योधन को लगता है कि वह सपने का हाल बता रही है। इस अंक में भीषण आँधी से दुर्योधन के रथ की पताका टूट जाने की प्रतीकात्मक घटना नेपथ्य में होती है। इसके पश्चात् जयद्रथ की पत्नी तथा दुर्योधन की बहन दुःशला और जयद्रथ की माता दुर्योधन से मिलने आती हैं। दोनों रोते-रोते उसे बताती हैं कि अभिमन्यु के छल से किये वध से उत्तेजित होकर अर्जुन ने कल जयद्रथ का वध करने की प्रतिज्ञा की है। दुर्योधन उन्हें ढाँढ़स बँधाता है और युद्ध के लिए प्रस्थान करता है। तीसरे अंक में जयद्रथ, भगदत्त आदि अनेक महारथियों के साथ द्रोण के वध की सूचना प्रवेशक से मिलती है। इसके पश्चात् अश्वत्थामा का द्रोण की मृत्यु पर विलाप, पिता के वध के प्रतिशोध की प्रतिज्ञा तथा कर्ण के साथ उसके रोचक कलह का चित्रण है। चतुर्थ अंक में घायल और मूर्च्छित दुर्योधन को उसका सारथि एक वटवृक्ष की छाया में लेकर आता है। चेतना लौटने पर दुर्योधन भीम के द्वारा दुःशासन के वध का समाचार सुनता है। यहाँ दुर्योधन का करुण विलाप निरूपित है। युद्ध के समाचार लाने वाला सुंदरक कर्ण और उसके पुत्र वृषसेन के भीम, अर्जुन आदि के साथ हुए युद्ध का लम्बा विवरण देकर अंत में कर्णपुत्र के मारे जाने का वृत्तान्त बताता है। पंचम अंक इसी के सातत्य में आरम्भ होता है। दुर्योधन कर्ण की सहायता के लिए युद्धभूमि में प्रस्थान करने ही वाला है कि धृतराष्ट्र और गांधारी उससे मिलने आ जाते हैं। वे उसे युद्ध से विरत होने का अनुरोध करते हैं। दुर्योधन अपने निश्चय पर अटल है। इसी समय भीम और अर्जुन उसे खोजते हुए वहाँ आते हैं। धृतराष्ट्र और दुर्योधन के साथ इन दोनों की झड़प होती है। षष्ठ अंक में पहली बार युधिष्ठिर प्रवेश करते हैं। प्रथम अंक के पश्चात् द्रौपदी भी इसी अंक में आती है। ये दोनों दुर्योधन के छिप जाने के कारण चिंतित हैं, क्योंकि भीम ने प्रतिज्ञा कर ली है कि आज वह दुर्योधन को न मार पाया तो प्राण त्याग देगा। बहुत खोज के पश्चात् सरोवर में छिपा दुर्योधन मिल गया—यह समाचार मिलता है। इसी समय चार्वाक नामक राक्षस मुनि के वेश में युधिष्ठिर को ठगने आता है। वह यह झूठा समाचार देकर सबको दिग्भ्रमित कर देता है कि दुर्योधन ने भीम को मार डाला है, और अब अर्जुन दुर्योधन के साथ गदा-युद्ध कर रहे हैं। युधिष्ठिर की प्रतिज्ञा है कि युद्ध में एक भी भाई मारा गया, तो वे स्वयं जीवित नहीं रहेंगे। अतः वे द्रौपदी के साथ चिता में जल कर प्राण देने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी समय भीम दुर्योधन को मार कर वहाँ आता है। कंचुकी तथा अन्य सेवक उसे भूल से भीम और अर्जुन को मार कर आया दुर्योधन समझ लेते हैं। युधिष्ठिर भी उसे दुर्योधन

समझ कर उनसे द्वंद्व-युद्ध के लिए सन्नद्ध हो उठते हैं। अंत में भीम को पहचान कर सभी हर्षित होते हैं। इसी समय अर्जुन और श्रीकृष्ण भी वहाँ आ जाते हैं, और युधिष्ठिर के द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

कथावस्तु की विशेषताएँ—नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से वेणीसंहार की कथावस्तु प्रख्यात कोटि की है। पर नाटककार ने इसमें कतिपय नयी कल्पनाओं का समावेश करके इसे अधिक आकर्षक और नाटकीय बना दिया है। भीम के द्वारा दुर्योधन के रक्त से द्रौपदी के केशों को सँवारने की प्रतिज्ञा, जिसकी नींव पर इस सारे नाटक का प्रासाद खड़ा हुआ है, महाभारत की मूल कथा में नहीं है, वहाँ भीम दुर्योधन के ऊरुभंग की ही प्रतिज्ञा करता है।

नाटक का बीज है भीम के द्वारा दुर्योधन की जंघाएँ तोड़ कर उसके रक्त से द्रौपदी के केश सँवारने की प्रतिज्ञा। इस प्रतिज्ञा की पूर्ति के साथ नाटक समाप्त होता है। पहले अंक से अंतिम अंक तक प्रत्येक अंक में युद्ध से जुड़े अलग-अलग प्रसंग हैं, जो परस्पर विच्छिन्न प्रतीत होते हैं। पर उनमें अंतर्निहित एकसूत्रता है जिसमें हम भीमसेन को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने की दिशा में अग्रसर देखते हैं।

रौद्र और वीर रस में सराबोर होकर भी वेणीसंहार वस्तुतः युद्ध के विरुद्ध एक नाटक है। यह महायुद्ध की विभीषिका का दारुण चित्र प्रस्तुत करता है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों के रूप में प्रतिशोध और हिंसा के भावों की तीव्रता का ऐसा चित्रण अन्य किसी संस्कृत नाटक में नहीं मिलता। नाटक के अंत में दुर्योधन के खून से नहाया हुआ भीमसेन जब द्रौपदी के सामने आता है, तो द्रौपदी उसे दुर्योधन समझ कर आतंकित हो जाती है। नाटककार यह दिखाना चाहता है कि क्रूरता, वैर और अमर्ष में दुर्योधन और भीम एक समान हैं। नाट्यशास्त्र के विधिविधानों का पालन करके नाटककार ने एक स्तर पर उनसे छूट ली है, क्योंकि इस नाटक में पहले पाँच अंकों में वीररस के स्थान पर रौद्ररस ही प्रधान हो गया है, और षष्ठ अंक में करुण प्रधान है। अंत में श्रीकृष्ण के अवतरण के साथ नाटक का पर्यवसान शांतरस में होता है। पाँचवें अंक तक पूरे नाटक में भीमसेन का व्यक्तित्व सर्वातिशायी रूप से छाया हुआ लगता है। युधिष्ठिर केवल अंतिम अंक में ही अवतरित होते हैं, वहाँ भी वे निष्क्रिय और प्रभावरहित प्रतीत होते हैं। तथापि परम्परागत दृष्टि से युधिष्ठिर ही इस नाटक के नायक कहे गये हैं। युधिष्ठिर युद्ध में स्थिर न होकर करुणा और युद्ध के अवसान के प्रतीक बन कर आते हैं।

चरित्रचित्रण—नाटक में सर्वत्र भीम का सर्वातिशायी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दूसरे, तीसरे और चौथे अंकों में वह सामने नहीं है, फिर भी उसकी उपस्थिति का बोध निरन्तर बना रहता है। भीमसेन के प्रचंड औद्धत्य, शौर्य, साहस और अन्याय के प्रतीकार की उत्कट अभिलाषा का चित्रण सजीव है। दुर्योधन नाटक का प्रतिनायक है। वह अपनी कामुकता और विलासिता तथा राज्यलिप्सा और पांडवों के प्रति विद्वेष के होते हुए भी भ्रातृवत्सलता, मित्रस्नेह, शूरता और आत्मविश्वास आदि गुणों के द्वारा दर्शकों की संवेदना और सहानुभूति अर्जित कर लेता है। पाश्चात्य त्रासद रूपकों के नायक की भाँति वह अपनी पराजय तथा मृत्यु में गरिमामंडित प्रतीत होता है।

अश्वत्थामा के चरित्र को भट्टनारायण ने महाभारत के अश्वत्थामा की अपेक्षा अधिक गौरवास्पद बना कर प्रस्तुत किया है। वेणीसंहार का अश्वत्थामा एक विशाल हृदय, दूसरों पर जल्दी विश्वास करने वाले और तुरत रोषाविष्ट या प्रसन्न हो जाने वाले महान् पराक्रमी महापुरुष के रूप में सामने आता है। कर्ण भी अंत तक मनस्विता के साथ युद्धरत रहने वाले एक महावीर के रूप में प्रभावित करता है। अश्वत्थामा के द्वारा बार-बार सूत कह कर अपमानित किये जाने पर उसका यह सटीक उत्तर स्मरणीय है—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम् ॥ (३.३७)

(सूत या सूत का बेटा जो भी मैं हूँ सो हूँ। उच्च कुल में जन्म भाग्य के अधीन है, पौरुष मेरे अधीन है।)

स्त्री पात्रों की चारित्रिक रेखाओं को पूरी तरह उकेरने का पुरुषप्रधान इस नाटक में नाट्यकार को अधिक अवसर नहीं मिला है। फिर भी द्रौपदी अपने स्वाभिमान और वेदना तथा भानुमती पतिपरायणता तथा सरलता के कारण स्मरणीय नारी चरित्र हैं। द्वंद्वात्मकता भट्टनारायण की चरित्रचित्रण-कला की एक विशेषता है। पूरे नाटक में कौरव और पांडव इन दो पक्षों का द्वंद्व होने के कारण उन्होंने दोनों पक्षों के पात्रों को भी एक-दूसरे की प्रतिस्पर्धा और तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में चित्रित किया है। भीम और दुर्योधन, द्रौपदी और भानुमती, कर्ण और अर्जुन अथवा कर्ण और अश्वत्थामा—इसी प्रकार के द्वंद्वात्मक युगल हैं।

रस—वेणीसंहार में वीर और रौद्र रसों की प्रचुरता है। दूसरे अंक में शृंगार रस का वितान नाटककार ने रखा है। भीम, अश्वत्थामा, कर्ण आदि पात्रों के संवादों में गौडी रीति, गाढ बंध तथा ओजोगुण के प्रयोग के द्वारा वीर व रौद्ररसों का प्रवाह अक्षुण्ण रखा गया है। पहले अंक में भीम की प्रतिज्ञा नाटक का बीज उपन्यस्त करती है—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

(हे देवि द्रौपदी! अपने चंचल भुजदंडों से घुमायी हुई गदा के भीषण प्रहार से दुर्योधन की जंघाओं को चूर-चूर करके उसके गाढ़े रक्त से सने हाथों से यह भीमसेन तुम्हारे केशों को सँवारेगा।)

अश्वत्थामा की यह उक्ति रौद्र रस की उत्कृष्ट अभिव्यंजना है—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

(पांडवों की सेना में जिस-जिस को अपनी भुजाओं का गर्व है, जिस-जिसने शस्त्र उठा रखा है, जो कोई भी उस सेना में बच्चा या बड़ा या गर्भ में भी है, जिस किसी ने इस घृणित कार्य को अपने नेत्रों से देखा है, और जो कोई युद्ध में मेरे सामने आकर टकरायेगा, क्रोध से अंधा मैं उसका और संसार का अंत करने वाले का भी काल हूँ।)

भट्टनारायण के इस पद्य की आनन्दवर्धन, सागरनन्दी और भोज ने भी सराहना की है। भोज ने इसमें आरभटी शक्ति मानी है।

नाटक के अंत में करुणरस का प्रभावी उद्रेक हुआ है। आद्यत युद्ध और संघर्ष के प्रसंगों से भरपूर इस नाटक में शांतरस के लिए तो अवकाश कम ही था, पर भट्टनारायण ने श्रीकृष्ण का परमतत्त्व के रूप में निवर्चन करते हुए एक पद्य में इस रस को भी हृदयंगम करा दिया है। यह भी उल्लेखनीय है कि यह पद्य सदैव क्रोध का घटाटोप प्रकट करते रहने वाले दुराधर्ष भीम के मुख से कहलाया गया है—

आत्मारामा विहतरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोत्सेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्
तं महान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम्॥ (१/२३)

शैली—भट्टनारायण मुख्यतः गौडी रीति के कवि हैं, यद्यपि प्रसाद गुण से संपन्न वैदर्भी रीति में भी वे सर्वथा सिद्धहस्त हैं। श्लेष, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक तथा अर्थांतरन्यास आदि अलंकारों के विन्यास में भी उन्होंने काव्यकौशल का प्रचुर परिचय दिया है। प्रथम अंक में सहदेव कहते हैं—जो ज्योति क्रुद्ध आर्य भीम के भीतर विद्युत् की भाँति भरी हुई है, उसको वर्षा के समान यह द्रौपदी बढ़ा देगी—

यद्वैद्युतमिव ज्योतिरार्ये क्रुद्धेऽत्र सम्भृतम् ।
तत्प्रावृडिव कृष्णेयं नूनं संवर्धयिष्यति ॥ (१/१४)

यहाँ भीम में ज्योति के आपूरित होने का अर्थ बताने के लिए 'सम्भृतम्' पद का प्रयोग बड़ा सटीक है। भीम की ज्योति या तेजस्विता को विद्युत् तथा द्रौपदी को वर्षा से उपमा देकर कवि ने सारे प्रसंग को सुंदर रूप में व्यक्त किया है। श्लेषानुप्राणित उपमा के विन्यास में भी भट्टनारायण दक्ष हैं। इसी प्रसंग में भीमसेन द्रौपदी के अपमान की बात सुनकर पूछते हैं—

कौरव्यवंशदावेऽस्मिन् क एष शलभायते ।
मुक्तवेणीं स्पृशन्नेनां कृष्णां धूमशिखामिव ॥ (१/१९)

कौन है जो धूमशिखा के समान मुक्त वेणी वाली इस द्रौपदी को स्पर्श करके कौरव वंश (कुल, बाँस) की दावाग्नि में शलभ (पतिंगे) की भाँति जलभुन कर नष्ट होना चाहता है?

पारंपरिक समीक्षा—नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने संधि, संध्यंग, अवस्था आदि कोटियों के उदाहरण बताने के लिए वेणीसंहार के विभिन्न पद्य या संवाद उद्धत किये हैं। इस प्रकार परम्परा में यह नाटक नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से आदर्श माना जाता रहा है। भट्टनारायण की गौडी रीति तथा वीररस के निरूपण को भी सराहनीय माना गया है। किसी सहृदय ने कहा है—

ओजःसंसूचकैः शब्दैः युद्धोत्साहप्रकाशकैः।
वेण्यामुज्जृम्भयन् गौडीं भट्टनारायणो बभौ॥

हर्षवर्धन के रूपक

संस्कृत साहित्य में हर्ष या श्रीहर्ष नाम से तीन साहित्यकार प्रसिद्ध हैं। एक भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर वार्तिक का प्रणयन करने वाले हर्ष हैं, दूसरे कान्यकुब्ज के सम्राट् रूपककार हर्ष तथा तीसरे नैषधीयचरित महाकाव्य के रचयिता हर्ष। ये तीनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं तथा इनका समय भी अलग-अलग है। सम्राट् हर्ष का राजा के रूप में नाम हर्षवर्धन था, पर साहित्य के क्षेत्र में ये हर्ष के नाम से ही जाने जाते हैं।

हर्षवर्धन भारतीय इतिहास में एक सम्राट् के रूप में सुप्रसिद्ध हैं। इनके पिता का नाम प्रभाकरवर्धन तथा माता का नाम यशोदेवी था। प्रभाकरवर्धन ने गुप्त साम्राज्य के पतन के एक शताब्दी पश्चात् हूणों और गुर्जरों को पराजित करके उत्तर भारत में शक्तिशाली साम्राज्य की नींव डाली। महाकवि बाण ने उन्हें हूणहरिणकेसरी कहा है। ये स्थाण्वीश्वर (थानेसर, कुरुक्षेत्र) पर राज्य करते थे। इन्होंने ५८२ ई० में हूणों को परास्त करने में कश्मीरनरेश अवंतिवर्मा की सहायता की थी। प्रभाकरवर्धन की तीन संतानों में दो पुत्र राज्यवर्धन तथा हर्षवर्धन और पुत्री राज्यश्री थी। हर्ष का जन्म ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी सन् ५९५ ई० में हुआ था। इनका राज्यकाल ६०६ ई० से ६४८ ई० है। बाण ने अपने हर्षचरित तथा चीनी यात्री हुएनसांग ने अपने यात्रा-विवरणों में हर्ष के विषय में पर्याप्त जानकारी दी है। गौडदेश पर विजय के पश्चात् गौड़नरेश ने हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्धन को छल से मार दिया। इनकी छोटी बहन राज्यश्री असमय में विधवा हो जाने पर विंध्य के वन में आत्महत्या करने जा रही थी, हर्ष ने ठीक समय पर पहुँच कर उसकी रक्षा की।

राज्यारोहण के समय हर्ष की आयु मात्र सोलह वर्ष की थी और राज्य पर संकट के बादल छाये हुए थे। पर उन्होंने अपनी कूटनीतिक क्षमता का परिचय देते हुए शीघ्र ही अपने छोटे से राज्य का लगभग पूरे उत्तरी भारत में विस्तार कर लिया। दक्षिण में नर्मदा तट पर उन्होंने पुलकेशि द्वितीय से भी युद्ध किया, जिसमें वे पराजित हुए। हर्षवर्धन बौद्धधर्म से भी प्रभावित हुए और शीलादित्य उपनाम भी उन्होंने ग्रहण किया।

एक पराक्रमी और योग्य शासक होने के साथ हर्षवर्धन साहित्यप्रेमी विद्वानों तथा कवियों के आश्रयदाता और स्वयं कवि थे। इनकी सभा में उस समय के श्रेष्ठ कवि— बाण, मयूर और मातंग दिवाकर रहे। धावक नाम के कवि ने इनसे प्रचुर धनराशि प्राप्त की, यह किंवदंती संस्कृत साहित्य की परम्परा में प्रसिद्ध है। कतिपय विदेशी विद्वानों ने इस किंवदंती के आधार पर यह धारणा भी प्रकट की है कि हर्ष ने धावक जैसे कवियों को धन देकर अपने नाम से रूपक लिखवा लिये। पर यह धारणा निस्सार है। हर्षचरित के रचयिता बाण ने हर्ष को काव्यचर्चा में निपीत अमृत को व्यक्त करने वाला, मुख में साक्षात् सरस्वती को धारण करने वाला तथा शास्त्र और काव्य दोनों में निपुण बताया है। कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में हर्ष के विषय में लिखा है—

सोऽशेषदेशभाषाज्ञः सर्वभाषासु सत्कविः ।
कृत्स्नविद्यानिधिः प्राप ख्यातिं देशान्तरेष्वपि ॥ (राज०, ७/६११)

इससे सिद्ध होता है कि हर्ष की बहुभाषाविद्, अनेक भाषाओं के रचनाकार तथा विद्वान् के रूप में प्राचीन काल में दूर-दूर तक ख्याति थी।

श्रीहर्ष ने तीन रूपकों की रचना की—प्रियदर्शिका, रत्नावली तथा नागानंद। इनमें पहली दो कृतियाँ नाटिकाएँ हैं और नागानंद नाटक। इन रूपकों का अभिनय हर्षवर्धन की राजसभा में किया गया—यह इनकी प्रस्तावना में बताया गया है। चीनी यात्री इत्सिंग (६७१ ई०) ने भी लिखा है कि राजा शीलादित्य (श्रीहर्ष) ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन की कथा को नाट्यरूप दे कर इसका अभिनय करवाया था। इन तीन रूपकों के अतिरिक्त श्रीहर्ष के द्वारा सुप्रभातस्तोत्र तथा अष्टमहाचैत्यस्तोत्र भी लिखे जाने का उल्लेख मिलता है।

प्रियदर्शिका

प्रियदर्शिका नाटिका के चार अंकों में वत्सनरेश उदयन की आरण्यका के साथ प्रेम की कथा है। आरण्यका का वास्तविक नाम प्रियदर्शिका है, राजा उदयन के सेनापति विजयसेन को अरण्य से मिली होने से नाटिका के आरम्भ में उसका नाम आरण्यका रख दिया जाता है। वास्तव में वह अंगदेश के राजा दृढवर्मा की कन्या है। आरण्यका महारानी वासवदत्ता की सेवा में नियुक्त कर दी जाती है। दूसरे अंक में वह महारानी की पूजा के लिए फूल तोड़ रही है, उसी समय कुछ भौंरे उस पर मँडराने लगते हैं। आरण्यका अपना मुख उत्तरीय से ढक कर अपनी रक्षा के लिए अपनी सखी इंदीवरिका को पुकारती है। इंदीवरिका तो उसकी पुकार नहीं सुन पाती, पर राजा उदयन, जो विदूषक के साथ छिप कर यह दृश्य देख रहा है, वहाँ पहुँच जाता है। राजा आरण्यका को देख कर उससे प्रेमपाश में निबद्ध हो जाता है। तीसरे अंक में रानी वासवदत्ता की सखी सांकृत्यायनी अंतःपुर में राजा के जीवन से सम्बन्धित रूपक का प्रयोग करवाती है। इस प्रयोग में वासवदत्ता का अभिनय आरण्यका को करना है, तथा नायक उदयन का अभिनय अंतःपुर की एक अन्य दासी को। नायक बनने वाली अभिनेत्री के स्थान पर उदयन स्वयं अपने स्वयं के अभिनय में उदयन बन कर मंच पर उपस्थित हो जाते हैं। इस बात से रानी वासवदत्ता कुपित हो जाती है। वह आरण्यका को कारागार में डाल देती है। आरण्यका दुःखी होकर विषपान कर लेती है। चौथे अंक में उसे उपचार के लिए उदयन के सामने लाया जाता है तभी भेद खुलता है कि आरण्यका वास्तव में राजकुमारी है। वासवदत्ता पश्चात्ताप करती हुई आरण्यका और उदयन के विवाह पर सहमत हो जाती है।

रत्नावली

रत्नावली में राजा उदयन के सिंहल देश की राजकुमारी रत्नावली से प्रेम और विवाह की कथा है। सागर से मिली होने के कारण रत्नावली का नाम सागरिका रख दिया जाता है। रानी वासवदत्ता उसे राजा की दृष्टि से सदैव दूर रखने का प्रयास करती है। एक दिन वसंतोत्सव में कामपूजा के समय सागरिका छिप कर राजा को देखती है,

और उन पर मुग्ध हो जाती है। दूसरे अंक में वह अपना जी बहलाने के लिए राजा का चित्र बनाती है। इसी समय उसकी अंतरंग सखी सुसंगता वहाँ आ जाती है, और उसका बनाया हुआ चित्र देख लेती है। सागरिका अपने मन की बात छिपाते हुए कहती है कि उसने कामदेव की पूजा के प्रसंग में कामदेव का चित्र बनाया है। सुसंगता उसके मन की बात ताड़ जाती है और हँसी-हँसी में राजा के चित्र के पार्श्व में उसका (सागरिका का) ही चित्र बना देती है। अब सागरिका को उसके सामने अपना प्रेम स्वीकार करना पड़ता है। इनकी बातचीत को पिंजरे में स्थित एक मैना सुनकर याद कर लेती है, जिसे सँभालने का दायित्व रानी वासवदत्ता ने सागरिका को सौंप रखा है। इसी समय मंदुरा (अश्वशाला) से छूट कर भागा एक दुष्ट वानर वहाँ आकर पिंजरा खोल कर भाग जाता है। वानर के आतंक के कारण सागरिका और सुसंगता चित्रफलक को वहीं छोड़ कर भागती हैं। इधर पिंजरे से छूट कर उड़ गयी मैना इस पेड़ से उस पेड़ पर उड़ती हुई सागरिका और सुसंगता की बातचीत दोहराती है, जिसे उद्यान में घूमते राजा और विदूषक सुन लेते हैं। फिर तो उद्यान में दोनों को वह चित्रफलक भी मिल जाता है, जिस पर सागरिका ने राजा का और सुसंगता ने सागरिका का चित्र बना रखा है। थोड़ी देर बाद ही सुसंगता चित्रफलक लेने आती है, और राजा को चित्रफलक देखता हुआ पाकर सागरिका के विषय में बता भी देती है और सागरिका से निकट के लताकुंज में मिलवाने ले जाती है। इसी समय रानी वासवदत्ता वहाँ आकर चित्रफलक को तथा उदयन और सागरिका के मिलन को देख लेती है। वासवदत्ता का क्रोध इस बात से भड़क उठता है और वह राजा के अनुनय-विनय की उपेक्षा करके वहाँ से चल देती है। तीसरे अंक में सुसंगता रानी वासवदत्ता के द्वारा पुरस्कार में दिये गये उसके वस्त्रों से सागरिका को वासवदत्ता के वेष में सजा देती है, और स्वयं वासवदत्ता की विशेष दासी कांचनमाला का वेष बना लेती है तथा सागरिका को राजा से मिलवाने ले जाती है। इस वेष-परिवर्तन से बड़ी दिग्भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है। वासवदत्ता को सुसंगता के षड्यंत्र की भनक लग जाती है, और वह स्वयं भी कांचनमाला को साथ लेकर इनके मिलन-स्थल पर पहुँच जाती है। राजा वास्तविक वासवदत्ता को सागरिका समझ कर उसके आगे प्रणय निवेदन करने लगते हैं। सागरिका ग्लानि और हताशा में फाँसी लगा कर मरने का प्रयास करती है, उसी समय राजा वहाँ पहुँच कर उसे बचा लेते हैं। पर वासवदत्ता फिर वहाँ पहुँच जाती है और सागरिका को पकड़ कर कारागार में बंद करा देती है। चौथे अंक में एक ऐंद्रजालिक (जादूगर) राजा के सामने अपना खेल दिखाता है। इसी समय अंत:पुर के प्रासाद में आग लग जाती है। वासवदत्ता घबरा कर बताती है कि उसी प्रासाद में सागरिका बंद है। राजा सागरिका को बचा कर लाते हैं। उसी समय सिंहल देश के मंत्री वसुभूति तथा कंचुकी बाभ्रव्य वहाँ पहुँचते हैं, और अपनी राजकुमारी को पहचान लेते हैं। ऐंद्रजालिक जो वास्तव में उदयन का मंत्री यौगंधरायण है, अपने वास्तविक रूप में सामने आ जाता है। इस प्रकार उदयन और रत्नावली के विवाह के साथ नाटिका का सुखद अंत होता है।

हर्ष की नाटिकाओं के स्रोत तथा उनकी अभिनव परिकल्पनाएँ—रत्नावली तथा प्रियदर्शिका दोनों में उदयन और रानी वासवदत्ता के चरित्र भास के स्वप्नवासवदत्तम् से लिये गये प्रतीत होते हैं, जबकि इन दोनों नाटिकाओं की कथा का मूल स्रोत गुणाढ्य की बृहत्कथा में प्राप्त होता है। किंतु कथानक के निर्वाह व नाट्यसंविधान की पूरी परिकल्पना में हर्ष कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् से अत्यधिक प्रभावित हैं। प्रियदर्शिका में गर्भांक (नाटक के भीतर नाटक) की परिकल्पना श्रीहर्ष की मौलिक सूझबूझ की परिचायक है। आगे चलकर भवभूति और राजशेखर जैसे प्रतिष्ठित नाटककारों ने गर्भांक का अपने रूपकों में प्रयोग किया। हर्ष का यह प्रयोग भी कालिदास के मालविकाग्निमित्र में ही मालविका के छलित नाट्य के प्रसंग से प्रेरित प्रतीत होता है। रत्नावली में कथानक में निम्नलिखित प्रसंग हर्ष की सूझबूझ और मौलिकता के परिचायक हैं—(१) वसंतोत्सव में नाटिका के द्वारा छिपकर नायक का प्रथम दर्शन तथा नायक के प्रति आकृष्ट होना। वासवदत्ता अपने पति उदयन को सामने बिठाकर उसकी पूजा कर रही है और नायिका रत्नावली अपने भोलेपन में पहले तो यही समझती है कि रानी साक्षात् कामदेव की पूजा कर रही है, (२) सागरिका का अपनी सखी के समक्ष अपने मन की बात कहना, (३) मैना द्वारा इस बातचीत को सुनना, (४) मैना के पिंजरे को एक उत्पाती वानर द्वारा खोल दिये जाने से, मैना का उड़ जाना और उसके माध्यम से राजा को सागरिका के प्रेम का ज्ञान होना, (५) नायिका के द्वारा नायक का चित्र बनाया जाना, और इस चित्र के माध्यम से रानी वासवदत्ता के समक्ष दोनों के प्रेम का भंडाफोड़, (६) नायिका का रानी के वेष में और उसकी सखी का रानी की चेटी के वेष में राजा के पास अभिसरण और इससे उत्पन्न भ्रम की स्थिति, जो शेक्सपीयर के नाटक 'ए कॉमेडी ऑफ इरर्स' का के समान मनोरंजक है, नाटिका में हास्य, वेदना, रोष और अमर्ष की भावशबलता का हृद्य निर्माण करती है, (७) नायिका का फाँसी लगाकर आत्महत्या का प्रयास व ठीक समय पर राजा का पहुँचना, (८) यौगंधरायण के द्वारा ऐंद्रजालिक बन कर आना और अपना जादू दिखाना जिसके द्वारा सागरिका से राजा का पुनः समागम।

हर्ष की नाटिकाओं में रसविधान—हर्ष की दोनों नाटिकाओं में शृंगार रस प्रधान है। प्रियदर्शिका में वीररस का भी स्वल्प पोष हुआ है। राजा होने के कारण हर्ष ने युद्ध का वर्णन बहुत यथार्थ शैली में तथा ओजस्वी रूप में किया है। यथा—

पादातं पत्तिरेव प्रथमतरमुरःपेषमात्रेण पिष्ट्वा
दूरान्नीत्वा शरौघैर्हरिणकुलमिव त्रस्तमश्वीयमाशाः।
सर्वत्रोत्सृष्टसर्वप्रहरणनिवहस्तूर्णमुत्खाय खड्गं
पश्चात् कर्तुं प्रवृत्तः करिकरकदलीकाननच्छेदलीलाम्॥

(प्रियदर्शिका, १/९)

प्रियदर्शिका तथा रत्नावली दोनों की कथानक योजना नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों पर खरी उतरती है। विशेषरूप से रत्नावली को अवस्था, अर्थप्रकृति तथा संधि-संध्यंगों जैसे नाट्यशास्त्र-प्रतिपादित कोटियों के उदाहरण के लिए आचार्य उद्धृत करते रहे हैं।

दोनों नाटिकाओं में राजा के प्रेम में रानी वासवदत्ता के द्वारा बाधा उत्पन्न करने से बड़े रोचक द्वंद्व की स्थिति निर्मित होती है। रत्नावली में नायिका सागरिका की सहायता उसकी सखी सुसंगता करती है और वासवदत्ता की सहायता कांचनमाला। रत्नावली में पताकास्थानकों का प्रयोग भी बड़ा प्रशंसनीय माना गया है। इसमें अन्योक्ति या अप्रस्तुत प्रशंसा पर आधारित पताकास्थानक के साथ समासोक्ति या तुल्यविशेषण पर आधारित पताकास्थानक का भी प्रयोग निपुणता के साथ किया गया है।

अभिनेयता की दृष्टि से दोनों नाटिकाओं में नृत्य, संगीत तथा कैशिकी वृत्ति के कारण आद्यंत रुचिरता, सौकुमार्य और आह्लादकता बनी हुई है।

नागानंद

नागानंद पाँच अंकों का नाटक है। विद्याधर राजकुमार जीमूतवाहन इसका नायक है। वह अपनी बलि देकर गरुड़ से शंखचूड नामक नाग को बचाता है। यह कथा मूलतः बौद्धधर्म की परम्परा से ली गयी है, पर नाटककार ने इसमें बौद्ध और पौराणिक धर्मों का सुंदर समन्वय कर के इसे नाटकीय रूप दिया है। नाटककार ने वैदिक देवों के प्रति भी श्रद्धा प्रकट की है तथा बुद्ध के प्रति भी। धार्मिक सहिष्णुता तथा समन्वय की भावना और आत्मोत्सर्ग के आदर्श की उत्तम अभिव्यक्ति के कारण यह नाटक संस्कृत नाट्यसाहित्य में विशिष्ट स्थान रखता है।

कथावस्तु—नागानंद प्रथम तीन अंकों में नायक जीमूतवाहन के द्वारा नायिका मलयवती का दर्शन और उससे प्रेम चित्रित है। मलयवती के भाई मित्रावसु की स्वीकृति से दोनों का विवाह हो जाता है। चतुर्थ अंक में जीमूतवाहन सागर के तट पर मलयपर्वत की शोभा निहार रहा है। गरुड़ के द्वारा खाये गये नागों की अस्थियों का ढेर देख कर करुणा से द्रवित हो जाता है। मित्रावसु उसे बताता है कि गरुड़ के द्वारा नागों के अंधाधुंध विनाश को रोकने के लिए उनके साथ इस अनुबंध पर संधि की गयी है कि प्रतिदिन बारी-बारी से एक नाग उनके आहार के लिए यहाँ भेजा जायेगा। इसके लिए इस स्थान पर यह वध्यशिला है, यहाँ वध्य नाग लाल वस्त्र पहन कर निर्धारित समय पर बैठा होता है और यहाँ से गरुड़ उसे अपने आहार के लिए उठाकर ले जाते हैं। इस समय मित्रावसु को उसके पिता कुछ आवश्यक कार्य के लिए बुला लेते हैं, और वह जीमूतवाहन को अकेला छोड़कर चल देता है। तभी शंखचूड की माता का विलाप सुनायी देता है। गरुड़ के आहार के लिए उस दिन शंखचूड नाग की बारी है। जीमूतवाहन शंखचूड के स्थान पर अपने आपको गरुड़ का आहार बनाने का प्रस्ताव रखता है और शंखचूड से उसके लाल वस्त्र माँगता है। शंखचूड इसके लिए तैयार नहीं होता। शंखचूड रोती हुई माता से विदा लेकर पास में स्थित गोकर्ण तीर्थ की प्रदक्षिणा के लिए जाता है और इसी समय कंचुकी आकर जीमूतवाहन को अन्य अवसर के लिए धारण करने हेतु एक लाल वस्त्र का जोड़ा देकर जाता है। जीमूतवाहन उसके स्थान पर वध्य नाग के लिए निर्धारित वेश—लाल रंग के वस्त्र—पहन कर वध्य शिला पर जा बैठता है, और गरुड़ उसे वध्य नाग समझकर आहार के लिए मलयपर्वत की सबसे

ऊँची चोटी पर उठा ले जाते हैं। इसी बीच शंखचूड आकर देखता है कि गरुड़ उसके स्थान पर जीमूतवाहन को उठा कर ले गये हैं, तो वह दु:खी होकर जीमूतवाहन की रक्तधारा का अनुसरण करता हुआ गरुड़ को उनकी भूल से अवगत कराने के लिए चल पड़ता है। जीमूतवाहन के मस्तक से उछल कर चूडामणि तपोवन में उसके पिता के चरणों पर गिरती है। तब उसके पिता, मलयवती और मित्रावसु आदि सब जीमूतवाहन को खोजने निकल पड़ते हैं। गरुड़ अधखाये जीमूतवाहन का धैर्य देखकर विस्मित हैं, उसी समय शंखचूड आकर उन्हें बताता है कि वे उसके स्थान पर जीमूतवाहन को उठा लाये हैं। गरुड़ का हृदय परिवर्तन हो जाता है। वे प्रायश्चित्त करने के लिए अग्नि में प्रवेश करने को तत्पर हो जाते हैं। तभी जीमूतवाहन के माता-पिता वहाँ आ पहुँचते हैं। जीमूतवाहन अपने अधखाये शरीर को वस्त्र से ढँक लेता है, जिससे माता-पिता उसे इस स्थिति में देख कर दु:खी न हों। मलयवती गौरी से अपने सौभाग्य की रक्षा के लिए प्रार्थना करती है। गौरी जीमूतवाहन को पुनर्जीवित कर देती हैं। इसी समय गरुड़ भी स्वर्ग से अमृत लेकर आ जाते हैं, और अपने खाये हुए नागों की हड्डियों पर अमृत की वर्षा करके उन्हें फिर से जीवित कर देते हैं। अंत में नायक की आराध्या गौरी देवी प्रकट होकर गरुड़ के द्वारा अधखाये जीमूतवाहन को अक्षत और जीवित कर देती हैं। गरुड़ भी अपनी हिंसा पर पश्चात्ताप करते हैं और पहले के मारे हुए नागों को भी स्वर्ग से अमृत लाकर उसकी वर्षा करके जीवित कर देते हैं।

कथावस्तु की विशेषताएँ—नागानंद की कथा विद्याधर जातक पर आधारित है, यह प्रस्तावना में नाटककार ने स्वयं बताया है। यह कथा बोधिसत्त्व के चरित को नाट्यरूप में प्रस्तुत करने में सफल है। नागानंद हिंसा और युद्ध के विरुद्ध एक प्रभावशाली रचना है। जीमूतवाहन राज्यलिप्सा के कारण राजाओं के परस्पर युद्ध से घृणा करता है। उसका बहनोई मित्रावसु उसे सूचित करता है कि उसके राज्य पर शत्रु ने अधिकार कर लिया है, तथा वह शत्रु को कुचल देने का प्रस्ताव भी करता है, पर जीमूतवाहन इसके उत्तर में कहता है—

स्वशरीरमपि परार्थे यः खलु दद्यादयाचितः कृपया।
राज्यस्य कृते स कथं प्राणिवधक्रौर्यमनुमन्येत॥ (३/१७)

(जो दूसरों के हित के लिए बिना माँगे दया के कारण अपना शरीर देने को तत्पर रहता है, वह जीमूतवाहन भला राज्य के लिए प्राणियों के वध की क्रूरता के लिए अनुमति कैसे दे दे?)

नागानंद का नाटकीय संविधान रत्नावली की भाँति कसा हुआ और सुसंबद्ध नहीं है। इसके प्रथम तीन अंकों में चित्रित प्रेम और विवाह की कथा बाद के दो अंकों में निरूपित जीमूतवाहन के बलिदान की कथा से अन्वित नहीं है।

चरित्रवैशिष्ट्य—जीमूतवाहन का चरित्र संस्कृत नाट्य साहित्य में एक दुर्लभ और विशिष्ट चरित्र है। वह अपने शौर्य, धैर्य, साहस, माता और पिता के प्रति भक्ति और सेवा-भावना तथा परदु:खकातरता के साथ त्याग और समर्पण की पराकाष्ठा का

जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत करता है। माता-पिता की सेवा के लिए वह राज्य तथा ऐश्वर्य छोड़कर तपोवन में रहने लगता है। शंखचूड की रक्षा के लिए वध्यशिला पर बैठ कर वह कहता है—मलयचंदन के रस से लिप्त मलयवती भी इतना सुख नहीं देती, जितनी यह वध्यशिला दे रही है। वह वध्यशिला को अपनी माता के अंक के समान सुखद बताता है। नायिका मलयवती अपनी सुकुमारता, संगीतनिपुणता तथा जीमूतवाहन के प्रति अनन्यनिष्ठा के द्वारा नायिका के रूप में प्रभावित करती है।

रस तथा भाव—रस तथा भाव के निरूपण की दृष्टि से नागानंद के प्रथम तीन अंकों में शृंगाररस की प्रधानता है और अवशिष्ट दो अंकों में दानवीर, दयावीर और धर्मवीर के साथ करुण तथा अंत में शांत की। परिणति की दृष्टि से इसमें शांतरस को ही अंगी कहा जाना चाहिये। प्रथम तीन अंकों में विशेषरूप से जीमूतवाहन और मलयवती के विवाह के पश्चात् विद्याधरों के द्वारा किये जाने वाले आमोद-प्रमोद के चित्रण में हास्यरस का अंग के रूप में अच्छा परिपाक हुआ है। चौथे तथा पाँचवें अंकों में अंगरस के रूप में नाटककार ने करुणरस की भी अजस्र धारा बहायी है। इसके साथ ही कवि ने मलय पर्वत के आसपास के नैसर्गिक परिवेश को दानवीर और धर्मवीर के उद्दीपन विभाव के रूप में असाधारण कौशल के साथ चित्रित किया है। बलि के लिए जाते अपने इकलौते बेटे के लिए शंखचूड की माता का कारुण्य और विलाप मर्म को छूने वाले हैं। इसी प्रकार शंखचूड के स्थान पर जब जीमूतवाहन बलि चढ़ जाता है, तो मलयवती और मित्रावसु की करुणा भी नाटक में शोक का श्लोकों में समीरण करती है। अपने बेटे के निधन की आकस्मिक व अप्रत्याशित घोर विपत्ति से उद्विग्न जीमूतवाहन के पिता का यह करुणामय उद्गार प्रभावशाली है—

निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः
क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह विरता दानपरता।
हतं सत्यं सत्यं व्रजतु च कृपा क्वाद्य कृपणा
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय लोकान्तरगते॥

(हे पुत्र, तुम परलोक क्या गये कि धैर्य निराधार हो गया, विनय किसकी शरण में जायेगी, क्षमा को धारण करने में अब और कौन समर्थ होगा, अब तो दानशीलता भी समाप्त हो गयी। सत्य मारा गया, कृपण कृपा अब कहाँ जाये? अब तो सारा संसार ही शून्य हो गया।)

नागानंद का संदेश—नागानंद नाटक संस्कृत नाट्य साहित्य में अभूतपूर्व स्थान रखता है, क्योंकि यह बुद्ध के जीवन-दर्शन को बोधिसत्त्व के त्याग और बलिदान की कथा के माध्यम से निरूपित करते हुए अहिंसा और परदुःखकातरता के आदर्श को स्थापित करता है। श्रीहर्ष ने एक शासक के रूप में भी बौद्ध और वैदिक दोनों धर्मों को प्रश्रय दिया। उसी प्रकार इस नाटक में उन्होंने धार्मिक और साम्प्रदायिक समन्वय की सुंदर पीठिका निर्मित की है। शंखचूड की रक्षा के लिए अपने प्राण देते समय वध्यशिला पर बैठा जीमूतवाहन यही कामना करता है—

भवे भवे तेन ममैवमेव भूयात् परार्थः खलु देहलाभः। (४/२६)

(प्रत्येक जन्म में मुझे इसी तरह दूसरों के उपकार के लिए देह मिलता रहे।)

जीमूतवाहन के चरित्र के द्वारा नाटककार ने सहिष्णुता की पराकष्ठा का निदर्शन किया है। गरुड़ उसके शरीर को खा रहे हैं। वे यह देखकर चकित हो जाते हैं कि जिसे वे नाग समझ कर खा रहे हैं, वह किसी तरह की पीड़ा प्रकट ही नहीं कर रहा है। वे खाते-खाते रुक जाते हैं, तो जीमूतवाहन पूछता है—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन्॥

(अभी भी मेरी शिराओं से रक्त बह रहा है, अभी भी मेरे देह में मांस है। और मैं नहीं समझता कि तुम्हारी भूख मिट गयी है। फिर भी हे गरुड़, तुम खाते-खाते रुक क्यों गये?)

गरुड़ इसके उत्तर में कहते हैं—

आवर्जितं मया चञ्च्वा हृदयात् तव शोणितम्।
अनेनैव धैर्येण पुनस्त्वया हृदयमेव नः॥ (५/१७)

(हमने अपनी चोंच से तुम्हारे हृदय का खून खींचा, और तुमने अपने इसी धैर्य से हमारा हृदय खींच लिया है।)

अंत में पश्चात्ताप करते गरुड़ को जीमूतवाहन जो संदेश देता है, वह सारी मानव जाति को हर्ष का संदेश है—

नित्यं प्राणाभिघाताद् प्रति विरम कुरु प्राक्कृते चानुतापं
यत्नात् पुण्यप्रवाहं समुपचिनु दिशन् सर्वसत्त्वेष्वभीतिम्। (५/२५)

(दूसरों के प्राणों पर आघात करने से विरत रहो, पहले जो हिंसा की है उस पर पश्चात्ताप करो। यत्नपूर्वक पुण्य के प्रवाह को एकत्र करो। सारे प्राणियों में अभय का संचार करो।)

श्रीहर्ष ने जीमूतवाहन के चरित्र के द्वारा अपनी कल्पना के आदर्श नाटक को प्रस्तुत किया है तथा एक सीमा तक अपने नायक के चरित्र में उन्होंने अपने स्वयं के व्यक्तित्व का प्रक्षेपण भी किया है। श्रीहर्ष अपने माता-पिता की सेवा न कर सके, इसकी ग्लानि को उन्होंने अपने नायक को राज-पाट त्यागकर वन में कह कर माता-पिता की सेवा में निरत दिखाकर प्रक्षलित कर लिया है। जीमूतवाहन की राजपाट और ऐश्वर्य के प्रति अरुचि है। यह भी दिन-रात राजपद के चाकचाक्य से वितृष्ण बने कविमन की अभिव्यक्ति ही है।

श्रीहर्ष का कवित्व

रत्नावली में प्रथम अंक में वसंतोत्सव का वर्णन अत्यंत चित्ताकर्षक है। राजा होने के कारण हर्ष ने अंतःपुर में चेटियों के परस्पर हास-परिहास, वसंतोत्सव के समय विभिन्न प्रकार के नृत्य और गीतों का गायन तथा जो आचार प्रत्यक्ष देखे थे, उन्होंने उनका रत्नावली के प्रथम अंक में अत्यन्त चित्ताकर्षक तथा यथार्थ चित्रण किया है।

वर्णन कला की दृष्टि से हर्ष की विशेषता यह है कि वे वर्ण्य के एक-एक पहलू को हमारे समक्ष मूर्त कर देते हैं। वसंतोत्सव में नगर में उल्लास और रंग खेलने के मनमोहक दृश्य को राजा अपने मित्र विदूषक के साथ प्रासाद से देखते हुए इस प्रकार निरूपित करता है।

कीर्णैः पिष्टातकौघैः कृतदिवसमुखैः कुङ्कुमक्षोदगौरै-
र्हेमालङ्कारभाभिर्भरनमितशिखैः शेखरैः कैङ्किरातैः।
एषा वेषाभिलक्ष्यस्वविभवविजिताशेषवित्तेशकोशा
कौशाम्बी शातकुम्भद्रवखचितजनेवैकपीता विभाति॥ (१/१०)

(कुंकुम की बुकनी से लाल गुलाल उड़ रहा है, जिससे भोर की उजास फैल गयी है। अशोक के पेड़-फूलों के गुच्छों से झुके होने से स्वर्णाभूषणों से विभूषित से दिखते हैं, उनसे कौशांबी नगरी अलंकृत हो गयी है। अपने वेष से कुबेर के सारे कोश को जीत लेने वाली कौशांबी नगरी ऐसी लग रही है, जैसे यहाँ के निवासियों के देह पर सोने का पानी चढ़ा दिया गया हो।)

वास्तव में श्रीहर्ष अपने तीनों ही रूपकों में अपने स्वयं के व्यक्तित्व तथा अपने समय के समाज को सूक्ष्म अभिव्यक्ति देते हैं। नागानंद में उन्होंने मदिरा के मद में धुत्त विट के चेटी व विदूषक से संवादों में रनिवास का सारा वातावरण साकार कर दिया है।

दोनों नाटिकाओं में परिष्कृत सौंदर्यदृष्टि और कलात्मक दृष्टि का भी हर्ष ने परिचय दिया है। सागरिका के द्वारा बनाये गये नायक के चित्र तथा उसकी सखी सुसंगता के द्वारा बनाये गये सागरिका के चित्र के वर्णन हो या रत्नावली के प्रथम अंक में चर्चरीगायन तथा उस पर नर्तकी के द्वारा नृत्य का वर्णन हो, हर्ष की रंगों की पहचान, ताल, लय और संगीत की सूक्ष्मताओं का ज्ञान तथा सुरुचि देखते ही बनती है।

उदयन रानी वासवदत्ता से कहते हैं—

प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तकान्तिःकौसुम्भरागरुचिरस्फुरपदंशुकान्ता।
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती बालप्रवालविटपिप्रभवा लतेव॥
(१/२०)

(हे प्रिये, अभी-अभी स्नान करने के कारण तुम्हारी उजली कांति फूट पड़ी है, कुसुंभी रंग से रँगी साड़ी का आँचल चमक रहा है। कामदेव की पूजा करती हुई तुम ऐसी लग रही हो जैसे नयी कोंपलों से सजी डालों वाली वृक्ष से फूटी कोई लता हो।)

अंतःपुर में वानर की भागदौड़ से फैले भय और आंतक का चित्रण भी हर्ष ने रत्नावली के द्वितीय अंक में विशद तथा चित्रोपम रूप में किया है।

अपने प्रकृति-वर्णनों में हर्ष नैसर्गिक दृश्य को पात्र के मनोभावों से रँग कर प्रस्तुत करते हैं। प्रियदर्शिका में विरही राजा संध्या का वर्णन करते हुए कहता है—

हृत्वा पद्मवनद्युतिं प्रियतमेवेयं दिनश्रीर्गता
रागोऽस्मिन् मम चेतसीव सवितुर्बिम्बेऽधिकं लक्ष्यते।
चक्राह्वोऽहमिव स्थितः सहचरीं ध्यायन् नलिन्यास्तटे
सञ्जाता सहसा ममेव भुवनस्याप्यन्धकारा दिशः॥ (३/१०)

(कमलवन की कांति को चुरा कर दिन की लक्ष्मी प्रियतमा की तरह चली गयी। मेरे चित्त की तरह सूर्य के बिम्ब पर अब और अधिक राग दिखायी पड़ रहा है। नलिनी के तट पर चकवे की तरह मैं प्रिया का ध्यान करते हुए स्थित हूँ। सहसा सारे जगत् की दिशाएँ वैसे ही अँधियारे से भर गयी हैं जैसे मेरी दिशाएँ।) इसी प्रकार रत्नावली में अँधेरे का यह वर्णन कवि के सूक्ष्म निरीक्षण और सघन बिम्बों को रचने की कुशलता का उत्कृष्ट उदाहरण है—

पुरः पूर्वामेव स्थगयति ततोऽन्यामपि दिशं
क्रमात् क्रामन्नद्रिद्रुमपुरविभागांस्तिरयति।
उपेतः पीनत्वं तदनु भुवनस्येक्षणफलं
तमःसङ्घातोऽयं हरति हरकण्ठद्युतिहरः॥

(अँधेरा पहले पूर्व दिशा को ढँक रहा है, फिर एक-एक करके अन्य दिशाओं को। क्रमशः वह फैलाता हुआ पहाड़ों, पेड़ों, नगरों के विभाजन को ओझल कर रहा है। धीरे-धीरे वह मोटा होता जा रहा है, और फिर संसार की दृष्टि के फल को समाप्त कर रहा है। यह अँधेरा शिव के कंठ की कांति को चुराने वाला है।)

श्रीहर्ष नगर, नागर सभ्यता व अंतःपुर के जीवन का चित्रण जितनी विदग्धता के साथ करते हैं, उतनी गहरी सांस्कृतिक दृष्टि के साथ वे तपोवनों के आध्यात्मिक वैभव तथा नैसर्गिक सौंदर्य का चित्रण भी करते हैं। नागानंद में मलयगिरि तथा तपोवनों के चित्र बहुत विशद हैं। वनस्पतियों को आध्यात्मिक गौरव से मंडित करते हुए कवि कहता है—

मधुरमिव वदन्तः स्वागतं भृङ्गशब्दै-
र्नतिमिव फलनम्रैःकुर्वतेऽमी शिरोभिः।
मम ददत इवार्घ्यं पुष्पवृष्टिं किरन्तः
कथमतिथिसपर्यां शिक्षिताः शाखिनोऽपि॥ (१/११)

(यहाँ के पेड़ों को भी अतिथिसत्कार की शिक्षा दी गयी है। वे भौंरों के गुंजन के द्वारा स्वागत का मधुर वचन कह रहे हैं, फलों से झुके अपने शिखरों से वे माथा नवा कर प्रणाम करते लग रहे हैं, फूलों की वर्षा करके वे मुझे अर्घ्य-सा समर्पित कर रहे हैं।)

श्रीहर्ष की भाषा प्रसादगुणसम्पन्न है। उन्होंने अनेक सुन्दर उक्तियों, मुहावरों व सुभाषितों का अपने संवादों में समावेश किया है। उक्तिप्रत्यक्तियों का चुटीलापन उनके रूपकों में मन को बाँध लेता है। प्रियदर्शिका के निम्नलिखित संवादों में मुहावरेदार शैली तथा कहावतों का विन्यास बड़ा रोचक है—

त्वमेव पुत्तलिकां भङ्क्त्वेदानीं रोदिषि? (स्वयं ही अपनी गुड़िया को तोड़कर स्वयं रो रहे हो?)

सर्वस्य वल्लभो जामाता भवति (अपना जमाई सबको प्यारा होता है।)

रत्नाकरादृते कुतश्चन्द्रलेखाया प्रसूतिः? (सागर के अतिरिक्त चंद्रकिरण और कहाँ से जन्म लेगी?)

शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते ? (शरीर के लिए भी मूर्ख लोग पाप करते हैं।)

श्रीहर्ष के तीनों रूपकों में संवादों में वक्रोक्तियाँ और भाषा की वेधकता मनोहारी है। रत्नावली में वासवदत्ता के ताने तीर की तरह मार करते हैं, कांचनमाला की फब्तियाँ गुदगुदाती हैं, और विदूषक की नर्मोक्तियाँ हास्य की छटा बिखेरती चलती हैं। तीसरे अंक में राजा अचानक सागरिका को पाकर कहते हैं—सखे इयमनभ्रा वृष्टिः (मित्र, यह तो बिना बादल के वर्षा हो गयी।) विदूषक तत्काल उत्तर जड़ देता है—यद्यकाल-वातावलिर्भूत्वा नायाति देवी (यदि आँधी बन कर देवी वासवदत्ता न आ जायें।)

पारम्परिक समीक्षा में हर्ष—नवीं शताब्दी के महाकवि दामोदरगुप्त ने अपने कुट्टनीमत महाकाव्य में रत्नावली के अभिनय का वर्णन किया है, जो मंजरी नामक गणिका के द्वारा काशी के विश्वनाथ मंदिर में प्रस्तुत हुआ। इसी प्रसंग में उन्होंने रत्नावली की प्रशंसा में कहा है—

आश्लिष्टसन्धिबन्धं सत्पात्रसुवर्णयोजितं सुतराम्।
निपुणपरीक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरत्नम्॥

इसी प्रकार आचार्य राजशेखर ने भी रत्नावली नाटिका की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा है कि रत्नावली दशरूपक रूपी कामिनी के वक्ष पर झूलती रत्नमाला के समान है—

तस्य रत्नावली नूनं रत्नमालेव राजते।
दशरूपककामिन्याः वक्षस्यत्यन्तशोभना॥

प्रसन्नराघव नाटक के कर्ता जयदेव ने हर्ष को कविताकामिनी का हर्ष कहा है। महाकवि सोड्ढल ने उन्हें 'गीर्हर्ष' अर्थात् सरस्वती को हर्ष देने वाला बताया है।

नागानंद बौद्धधर्म से प्रभावित कथा के कारण बौद्ध समाज में लोकप्रिय रहा ही है, अपने विशिष्ट कथानक और चरित्रनिरूपण के कारण अलंकारशास्त्र व नाट्यशास्त्र के आचार्यों के द्वारा भी इसकी सराहना की जाती रही है। आचार्यों ने रसविरोध के परिहार के उदाहरण के लिए नागानंद से मलयवतीदर्शन का उदाहरण दिया है। प्रारम्भ में जीमूतवाहन के कथनों में निर्वेद, त्याग और संसार की व्यर्थता का भाव प्रकट हो चुका है, जिससे शांतरस परिपुष्ट हुआ है। इसी समय जीमूतवाहन उस मंदिर की ओर बढ़ता है, जिसमें मलयवती देवी की आराधना कर रही है। यहाँ नाटककार को नायक का नायिका के साथ प्रणय-प्रसंग का आरम्भ करना है। शांत और शृंगार परस्पर विरोधी रस हैं। अतः शांत के तुरन्त बाद शृंगार के निवेश से रसविरोध हो जाता है। यहाँ नाटककार बड़ी कुशलता से मंदिर से आते हुए मलयवती के देवी की आराधना में गाये जाने वाले गीत को अंतराल में प्रस्तुत कर देता है। नायक इस गीत को दूर से सुन कर उसकी स्वरमाधुरी से चकित हो जाता है और मुग्ध होकर गीत की सराहना करता है। इस तरह शांत और शृंगाररसों के बीच में यहाँ अद्भुत रस का समावेश हो जाता है, जो दोनों रसों का अविरोधी है, और रसविरोध की संभावना निरस्त हो जाती है।

इसी तरह दशरूपकावलोक के कर्ता धनिक ने न केवल संधियों, संध्यंगो, अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों आदि के उदाहरण रत्नावली से दिये हैं, अपने नायक विचार में उन्होंने नागानंद के नायक को लेकर यह प्रश्न उठाया है कि उसे धीरोदात्त कहा जाये या धीरशांत? नागानंद का नायक जीमूवाहन विजिगीषा (विजय की इच्छा) कहीं भी प्रकट नहीं करता और उदात्त होने के लिए सर्वोत्कृष्ट होना आवश्यक है। जिसमें विजिगीषा न हो, उसका उत्कर्ष भी नहीं हो सकता। इसके उत्तर में धनिक कहते हैं कि केवल युद्ध तथा दूसरों को पराजित करने की इच्छा के द्वारा ही सर्वोत्कृष्टता संभव हो ऐसी बात नहीं है। जीमूतवाहन अपने जीवन को दूसरों के कल्याण के लिए अर्पित करके अपने सात्त्विक गुणों से उत्कृष्ट हो जाता है, इस दृष्टि से धनिक ने उसे विश्व का उदात्ततम नायक तक कह दिया है। किसी भी नाटककार के चरित्रचित्रण पर इतनी सुंदर टिप्पणी हर्ष की आचार्यों के बीच प्रसिद्धि और सम्मान की परिचायक है। यहाँ तक कि धनिक ने जीमूतवाहन को धीरोदात्त नायकों में अन्यतम सिद्ध करने के लिए विजिगीषा (विजय की इच्छा) की परिभाषा ही परिवर्तित कर दी है। उनके अनुसार अपने सुख की तृष्णा को छोड़ कर निरभिलाष होना विजिगीषा है।

हर्ष का संस्कृत नाट्यसाहित्य पर प्रभाव (नाटिकाओं की परम्परा)

हर्ष की रत्नावली संस्कृतनाट्यसाहित्य में इतनी लोकप्रिय हुई कि उसे आधार बना कर अनेक परिवर्ती रूपककारों ने नाटिकाएँ लिखीं। राजशेखर की कर्पूरमंजरी तथा विद्धशालभंजिका, बिल्हण की कर्णसुंदरी, सिंहभूपाल की कुवलयावली, विश्वनाथ कविराज (पंद्रहवीं शताब्दी) की चंद्रकला तथा प्रभावतीपरिणय, मथुरानाथ (पंद्रहवीं शताब्दी) की वृषभानुजा, विश्वनाथ की मृगांकलेखा, वीरराघवकृत मलयजाकल्याणम्, विश्वेश्वर पांडेय (१८वीं शताब्दी)की नवमालिका, अनादिमिश्र की मणिमाला आदि नाटिकाएँ रत्नावली से प्रेरित कही जा सकती हैं। सुप्रसिद्ध कवि और आचार्य क्षेमेंद्र की ललितरत्नमाला, नाट्यदर्पणकार रामचंद्र की वनमाला, धारानरेश अर्जुनवर्मा के गुरु मदनपाल सरस्वती की पारिजातमंजरी, विश्वनाथ भट्ट की श्रृंगारवाटिका, रामचंद्र की वासंतिका आदि नाटिकाएँ अप्राप्य हैं। मदनमहोत्सव या वसंतवर्णन, नायक का ज्येष्ठा नायिका के होते हुए कनिष्ठा नायिका पर अनुरक्त होना और अंत में दोनों का विवाह— यह कथा प्राय: इन सभी नाटिकाओं में समान है। सभी में श्रृंगाररस और कैशिकी वृत्ति की प्रधानता है।

विक्रमांकदेवचरित महाकाव्य के रचयिता प्रख्यात कवि बिल्हण की कर्णसुंदरी नाटिका १०७५ ई० के आसपास रची गयी, जब बिल्हण गुजरात के राजा कर्ण १०६४-९४ ई० की राजसभा में थे। इस नाटिका का प्रथम अभिनय अणहिलपाटन में श्रीशान्त्युत्सवदेवगृह में भगवान् नाभेय के यात्रामहोत्सव के अवसर पर हुआ था। अत: नाटिका की नांदी में पहले जिन की स्तुति की गयी है, फिर शिव और विष्णु की। नाटिका के नायक राजा कर्ण ही हैं, उनका मंत्री उदयन के मंत्री यौगंधरायण की भाँति उन्हें चक्रवर्ती सम्राट् बनाने के लिए विद्याधर नरेश की कन्या से उनके विवाह की

योजना बनाता है। राजा का विद्याधरी से प्रेम, नायिका का चित्र देखना, रानी का इसके कारण क्रुद्ध होना, नायिका का फाँसी लगा कर मरने का प्रयास, राजा को छलने के लिए रानी का स्वयं कर्णसुंदरी का वेष बनाना, फिर अपने भागिनेय (भतीजे) को कर्णसुंदरी के वेष में प्रस्तुत कर उसके साथ राजा के विवाह का प्रयास और इस प्रयास में स्वयं धोखा खा जाना—इस प्रकार के प्रसंग बिल्हण ने हर्ष तथा राजशेखर की नाटिकाओ के प्रभाव से अपनी रचना में जोड़े हैं।

भीमदेव (भीमट)

भीमदेव या भीमट कालंजर के राजा थे। इन्होंने पाँच नाटकों का प्रणयन किया था। इनमें से तीन का उल्लेख मिलता है—स्वप्नदशानन, प्रतिज्ञाचाणक्य तथा मनोरमावत्सराज। इनके सभी नाटक लुप्त हो गये। इनके स्वप्नदशानन नाटक की प्रशंसा करते हुए राजशेखर ने लिखा है—

कालञ्जरपतिश्चक्रे भीमटः पञ्चनाटकीम् ।
प्राप प्रबन्धराजत्वं तेषु स्वप्नदशाननम् ॥

रामचंद्र-गुणचंद्र ने अपने नाट्यदर्पण में मनोरमावत्सराज की प्रशंसा करते हुए असत्प्रलाप के उदाहरण में इस नाटक से एक विस्तृत प्रसंग व उद्धरण प्रस्तुत किया है, जिससे इस नाटक में भीमट ने कथानक में अनेक नयी परिकल्पनाएँ दी थीं—यह अनुमान होता है। अभिनवगुप्त ने भीमट के प्रतिज्ञाचाणक्य में राजा विंध्यकेतु को शकार के रूप में प्रस्तुत करने को युक्तियुक्त ठहराया है। इन प्राचीन आचार्यों के उल्लेखों से जाना जा सकता है कि भीमट या भीम की नाट्यजगत् में बड़ी प्रतिष्ठा थी।

कुंदमाला

भास के रूपकों की भाँति दिङ्नाग (?) द्वारा विरचित कुंदमाला नाटक भी कई शताब्दियों तक विलुप्त रहा है। आचार्य-परम्परा में इस नाटक का उल्लेख अनेकत्र हुआ है। एच्० एच्० विल्सन तथा कीथ जैसे विद्वानों ने संस्कृत साहित्यविषयक अपने ग्रंथों में इस नाटक का उल्लेख एक अप्राप्त कृति के रूप में किया है। इसकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त होने पर १९२३ ई० में रामकृष्ण कवि के द्वारा इसका संपादन व प्रकाशन किया गया।

भास की ही भाँति कुंदमाला के प्रणेता भी संस्कृत साहित्य की एक समस्या ही हैं। उनका वास्तविक नाम क्या था—दिङ्नाग, वीरनाग, नागय्य, धीरनाग या रविनाग? वे भवभूति से पहले हुए या बाद में? इन प्रश्नों का अभी तक समाधान नहीं हो सका है। मैसूर की एक हस्तलिखित प्रति में नाटककार का नाम दिङ्नाग दिया हुआ है। वासुदेव विष्णु मिराशी इस नाटक के रचयिता का नाम धीरनाग मानते हैं। यदि इसका रचयिता दिङ्नाग माना जाये, तो यह प्रश्न आता है कि ये दिङ्नाग सुप्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ही हैं या कोई और? इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतमतांतर इस प्रकार

हैं—(१) कुंदमाला के प्रणेता प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग हैं, (२) कुंदमाला के प्रणेता दिङ्नाग हैं, पर वे बौद्ध होते हुए भी दार्शनिक दिङ्नाग से भिन्न हैं। (३) कुंदमाला के प्रणेता दिङ्नाग हैं, पर वे वैदिक मतावलंबी हैं।

कुंदमाला का प्रथम उल्लेख आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में किया है। तत्पश्चात् भोज ने श्रृंगारप्रकाश में भी इसका उल्लेख किया है। इससे यह तो निश्चित ही है कि इस नाटक की रचना दसवीं शताब्दी के पहले हो चुकी थी। एक महान् नाट्य-रचना के रूप में यह कृति परम्परा में समादृत भी रही। बहुरूपमिश्र ने दशरूपक की अपनी टीका में, शारदातनय ने भावप्रकाशन में, सागरनंदी ने नाटकलक्षणरत्नकोश में और रामचंद्र-गुणचंद्र ने नाट्यदर्पण में इसका उल्लेख किया है। वुल्नर, सुशीलकुमार डे, गौरीनाथ शास्त्री आदि विद्वान् इसे भवभूति से प्रभावित और भवभूति के बाद लिखा हुआ मानते हैं। कृष्णमाचार्य, वरदाचार्य और रामनाथ शास्त्री आदि का मत है कि कुंदमाला का रचयिता भवभूति के पहले हो चुका था और भवभूति उत्तररामचरित की रचना में कुंदमाला से प्रभावित हुए। भवभूति दिङ्नाग के परवर्ती हैं और वे दिङ्नाग से प्रभावित हैं—इस मत की पुष्टि में ये प्रमाण दिये जाते हैं—(१) भवभूति ने दिङ्नाग के कुशल नायकीय संविधान को काव्यात्मक परिष्कार दिया, (२) भवभूति ने उत्तररामचरित के तीसरे अंक का नाम छायांक रखा है, जबकि उसमें सीता की छाया का कहीं उल्लेख या चित्रण नहीं है। अदृश्य सीता की पानी में पड़ती छाया का प्रसंग कुंदमाला में है। भवभूति ने इसी से प्रभावित होकर अपने नाटक में छायांक की परकल्पना की। डॉ० रामजी उपाध्याय तो दिङ्नाग को कालिदास के भी पहले तथा भास के निकट मानने के पक्ष में हैं।

कथानक—पहले अंक में लक्ष्मण राम के आदेश से सीता को वन में छोड़ने ले जा रहे हैं। अप्रत्याशित रूप से सीता को राम का संदेश बताते हैं। सीता सुन कर हतप्रभ रह जाती हैं, और विलाप करती हुई राम को अपना संदेश देती हैं। रोते हुए लक्ष्मण उन्हें छोड़कर चले जाते हैं। सीता प्राण त्याग देना चाहती हैं, फिर होने वाली संतान का ध्यान रख कर जीवन धारण करने का निश्चय करती हैं। इसी समय वाल्मीकि को उनके शिष्य बताते हैं कि गंगातट पर कोई स्त्री बिलख-बिलख कर रो रही है। वे आकर सीता को अपने आश्रम में ले जाते हैं। वाल्मीकि के साथ जाती हुई सीता गंगा को प्रणाम करते हुए कहती हैं कि यदि उन्हें निरापद रूप से संतान प्राप्त हुई तो, वे प्रतिदिन एक कुंदमाला गूँथ कर गंगा देवी को अर्पित करेंगी। पहला अंक यहीं पर समाप्त होता है। दूसरे अंक में सूचना मिलती है कि गौतमी नदी के तट पर नैमिषारण्य में राम ने यज्ञ आरम्भ कर दिया है, जिसमें पत्नी के स्थान पर सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा स्थापित की है। इस बीच सीता को युगलपुत्र हो चुके हैं, और वे वाल्मीकि से विद्यारम्भ भी कर चुके हैं। सीता राम के द्वारा निमंत्रित वाल्मीकि आदि मुनियों के साथ नैमिषारण्य में आ जाती हैं। लव-कुश को विदित नहीं है कि उनकी माता वास्तव में सीता ही हैं, क्योंकि वाल्मीकि के तपोवन में सीता को कोई उसके वास्तविक नाम से

नहीं बुलाता। तीसरे अंक में राम वन में लक्ष्मण के साथ विचरण करते हुए सीता की स्मृतियों से आकुल हो जाते हैं, इसी समय उन्हें गोमती नदी में एक कुंदमाला तिरती दिखायी देती है। राम कहते हैं कि माला गूँथने का यह कौशल सीता का ही हो सकता है। फिर वे उस माला को लिये हुए वाल्मीकि के तपोवन की ओर बढ़ते हैं, तो रेतीली भूमि पर सीता के चरणचिह्न देख कर फिर ऊहापोह करने लगते हैं। इसी समय ऋषि के वरदान से पुरुषों के लिए अदृश्य बनी सीता फूल चुनती हुई वहाँ आती हैं। वे राम और लक्ष्मण की बातचीत सुनती हैं, और राम की दशा देख कर व्याकुल हो जाती हैं। चौथे अंक में सीता की सखियों वेदवती तथा यज्ञवती की बातचीत से यह पता चलता है कि तिलोत्तमा नामक अप्सरा राम की परीक्षा लेने के लिए सीता का रूप धर कर उनके सामने आने का विचार कर रही है। पर तिलोत्तमा जब यह बात वेदवती को बता रही थी, तो विदूषक कौशिक ने छिप कर दोनों की बातचीत सुन ली। तिलोत्तमा को यह पता चलता है, तो वह धोखा देकर राम की परीक्षा लेने का विचार छोड़ देती है। इसी समय पहले के वनवास के दिनों में मायावती नाम की एक वनदेवी के द्वारा दिया गया रेशमी दुकूल ओढ़े सीता वहाँ आती हैं। सीता को बहुत व्यथित देखकर यज्ञवती उन्हें सलाह देती है कि वे दीर्घिका के तट पर रह कर हंसों के विहार करते जोड़ों को देखें, यहाँ बैठी हुई उन्हें कोई पुरुष नहीं देख सकेगा। सीता अकेली रह जाती हैं, तभी राम वहाँ आते हैं। यज्ञाहुति का धुआँ आँखों में भर जाने के कारण वे मुँह धोने के लिए दीर्घिका पर झुकते हैं तभी दीर्घिका के जल में उन्हें सीता की परछाईं दिखती है। राम चकित होकर सीता को खोजते हैं, सीता किनारे से दूर हट जाती हैं और उनकी परछाईं दिखना बंद हो जाती है। राम परछाईं को चलती हुई और दूर हटती हुई देखते हैं। परछाईं दिखना बंद हो जाती है और सीता कहीं नहीं दिखती तो राम मूर्च्छित हो जाते हैं। सीता राम के पास जाकर उनका आलिंगन करती है। राम अर्धमूर्च्छित दशा में उनसे बातचीत करते हैं। सीता अधूरे टूटते हुए वाक्यों में डरती हुई उन्हें उत्तर देती हैं। राम उनके उत्तर सुनते हुए फिर मूर्च्छित हो जाते हैं और संज्ञा पाकर उनका वह आँचल पकड़ लेते हैं, जिससे सीता उन्हें हवा कर रही थीं। सीता अपना उत्तरीय छोड़ देती हैं। उत्तरीय हाथ में आने पर राम पहचान लेते हैं कि यह सीता का ही उत्तरीय है। वे उसे ओढ़ लेते हैं। फिर वे अपना स्वयं का उत्तरीय उतार कर छोड़ते हैं, सीता उसे उठा लेती हैं और चली जाती हैं। तभी विदूषक राम को जाकर बता देता है कि तिलोत्तमा सीता का रूप धर कर आपको छल रही है। राम को लगने लगता है कि उत्तरीय का मिलना और पानी में सीता की परछाईं तिलोत्तमा का छल होगा। पाँचवें अंक में राम कुश और लव से मिलते हैं और राम के पूछने पर वे दोनों बताते हैं कि उनके पिता का नाम 'निष्ठुर' है और माता का नाम देवी। छठे अंक में लव और कुश के मुख से राम के सम्मुख वाल्मीकि की रचना प्रस्तुत करायी जाती है। अंत में कुश, लव और राम एक दूसरे को पहचान लेते हैं। फिर सीता वहाँ लायी जाती हैं और वाल्मीकि उन्हें त्यागने के लिए राम को दोषी बता कर राम को बहुत खरी-खोटी सुनाते हैं तथा सीता और कुश-

लव को साथ लेकर चल देते हैं। राम गिड़गिड़ाते तथा क्षमा-याचना करते हैं। अंत में वाल्मीकि के कहने से सीता अपनी पवित्रता के सत्यापन के लिए अपनी माँ धरती को पुकारती हैं, सीता की पुकार पर धरती माता प्रकट होती हैं, और उनके साक्ष्य पर राम सीता को पुनः स्वीकार करते हैं।

कुंदमाला में रामकथा के अवसादमय उत्तरार्ध की नाटकीय संभावनाओं को एक समर्थ नाटककार की प्रतिभा ने साकार किया है। नाटकीय संवादरचना तथा नाट्यशिल्प पर अपनी अचूक पकड़ में दिङ्नाग भवभूति से अधिक सफल हैं। इस दृष्टि से वे भास के जैसे इने-गिने नाटककारों के समकक्ष हैं। सम्पूर्ण नाटक में सभी छहो अंकों का दृश्यविधान तपोवन के परिसर में केंद्रित है। वस्तुविन्यास की कसावट कहीं भी शिथिल नहीं हुई है। पहले अंक में सीता को राम का संदेश बता कर वन में त्याग कर जाते हुए लक्ष्मण का अपनी भाभी के साथ संवाद हो, या पाँचवें अंक में राम की कुश-लव से बातचीत या अंतिम अंक के संवाद—कुंदमालाकार सर्वत्र बहुत छोटे-छोटे वाक्यों में अपने पात्रों का हृदय खोल कर रख देते हैं। तीसरे अंक में राम के आकुल कथनों का उनके लिए अदृश्य रह कर सीता उत्तर देती हैं। भास के स्वप्नवासवदत्त के सुप्रसिद्ध स्वप्नदृश्य को छोड़ कर आधे-आधे वाक्यों में दोनों पात्रों की व्यथा का अपार सागर समेटने वाले संवादों की ऐसी कुशल योजना संस्कृत नाट्य साहित्य में कदाचित् ही अन्यत्र मिले। रंगमंच की दृष्टि से कुंदमाला एक प्राणवान् रचना है। नाटककार ने अभिनेयता का सर्वत्र ध्यान रखा है, और हर पात्र की चेष्टाओं का बोध उसके संवादों में हम लगातार करते चलते हैं। पहले अंक में घने वन में सीता और लक्ष्मण को हम बहुत सँभल-सँभल कर झाड़ियों और काँटों से अपने आपको बचाते हुए चलता देखते हैं। वहाँ इस प्रकार के संवाद सारे वातावरण तथा उसके बीच चलते पात्रों की एक-एक चेष्टा को साकार कर देते हैं—

वामेन वानीरलतां करेण जानुं समालम्ब्य च दक्षिणेन।
पदे पदे मे पदमाददाना शनैः शनैरेतु मुहूर्तमार्या॥ (१/६)

इस प्रकार वाल्मीकि सीता को वन से अपने आश्रम की ओर ले जाते हुए उससे कहते हैं—

एतस्मिन् कुशकण्टके लघुतरं पादौ निधत्स्वाग्रतः
शाखेयं विनता नमस्व शनकैर्गर्तो महान् वामतः।
हस्तेनामृश तेन दक्षिणगतं स्थाणुं समं साम्प्रतं
पुण्येऽस्मिन् कमलाकरे चरणयोर्निर्वर्त्यतां क्षालनम्॥ (१/३०)

भाषा-शैली की दृष्टि से कुंदमालाकार भास के सर्वाधिक निकट हैं। भास का प्रभाव भी उन पर परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार स्वप्नवासवदत्तम् के पहले अंक में कंचुकी तपोवन के निवासियों के लिए 'तीर्थोदकानि समिधः कुसुमानि दर्भान्०' इत्यादि घोषणा करता है, उसी प्रकार राम के तपोवन में आने पर ऋषि के मुख से कुंदमाला में घोषणा करायी गयी है—

तीर्थोदकानि समिधः परिपूर्णरूपान्
दर्भाङ्कुरानविहतान् परिगृह्य सद्यः।
अग्रे भवन्तु मुनयो मुनिकन्यकाश्च
कुर्वन्तु मङ्गलवलीनुटजाङ्गनेषु॥ (१२/२)

तीसरे अंक में कुंदमाला को देख कर राम की चेष्टाएँ, सीता का उत्तरीय उनके हाथ में आ जाना और धरती पर गिरा दिये गये उस उत्तरीय को उठा कर उनके द्वारा ओढ़ लेना—इन सबमें आँगिक, वाचिक, सात्त्विक अभिनयों का अनुपम संयोग हुआ है। राम का गोमती नदी में तिरती कुंदमाला को उठा कर पहचानना, अदृश्य सीता का उत्तरीय पकड़ लेना और सीता के द्वारा उस उत्तरीय को गिरा देने पर उसे ओढ़ना, फिर अपना उत्तरीय गिरा देना और सीता का उनके उत्तरीय को ओढ़ना—ये प्रसंग अभिनेयता की दृष्टि से बड़े संभावनापूर्ण और मार्मिक हैं। संवादयोजना भी ऐसे दृश्यों के अनुरूप सर्वथा समीचीन है। सीता के द्वारा छोड़ दिये गये उत्तरीय को उठा कर उसे पहचानते हुए राम का यह कथन—

द्यूते पणः प्रणयकेलिषु कण्ठपाशः
क्रीडापरिश्रमहरं व्यजनं रतान्ते।
शय्या निशीथकलहे हरिणेक्षणायाः
प्राप्तं मया विधिवशादिदमुत्तरीयम्॥ (४/२०)

भावशबलता की स्थिति निर्मित करता है।

करुणरस की अमंद धारा इस नाटक में आद्यंत प्रवाहित हुई है, पर भवभूति के नाटक की भाँति यह प्रवाह लंबे संवादों और विलापों के द्वारा नहीं, नाटकीय प्रसंगों के कल्पनाशील विन्यास के द्वारा रचा गया है। कवि ने पात्रों की भावनाओं को प्रकट करते हुए सहजता सर्वत्र बनाये रखी है। सीता को वन में एकाकिनी छोड़ कर जाते लक्ष्मण कहते हैं—

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति।
नृत्तं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं
तिर्यग्गता वरममी न पुनर्मनुष्याः॥ (१/१८)

(यहाँ चौथे चरण में 'ये पक्षी होकर भी अच्छे हैं, हम मनुष्य अच्छे नहीं'—यह कथन लक्ष्मण के अनुताप की करुण व्यंजना है।)

भवभूति की भाँति वर्णनों या भावविवृतियों के सुदीर्घ प्रतान कुंदमालाकार में नहीं रचे हैं। पर स्थिति, प्रसंग या मनोदशा को स्पष्ट करने के लिए अत्यंत नवीन व सटीक अप्रस्तुतविधानों, बिम्बों और उपमानों की सृष्टि करने में वे सफल हैं। राम सीता के वियोग में अपने मन की स्थिति को विदूषक के सम्मुख इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

अन्तरिता अनुरागा भावाश्च मम कर्कशेन बाह्येन।
तन्तव इव सुकुमारा प्रच्छन्नाः पद्मनालस्य॥ (५.६)

(ऊपर से कर्कश दिखने वाले मेरे आवरण के भीतर अनुराग और भाव उसी प्रकार छिप गये हैं, जिस प्रकार कमलनाल के सुकुमार तंतु उसके छिलके के भीतर छिपे रहते हैं।)

भास की भाँति एक-एक, दो-दो शब्दों के संवादों में भावनाओं का अपूर्व संसार कुंदमालाकार उन्मीलित कर देते हैं। राम के साथ कुश और लव के संवाद इस दृष्टि से हास्य और करुणा, ग्लानि और विडम्बना, मुग्धता और सौकुमार्य, अनुताप और क्लेश की भावशबलता का गहन अनुभव देते हैं।

रामः—अहमत्रभवतोः शरीरस्य धातारं पितरं नामतो वेदितुमिच्छामि।

(मैं आप लोगों के शरीर को जन्म देने वाले पिता का नाम जानना चाहता हूँ।)

लवः—नहि जानाम्यस्य नामधेयम्। न कश्चिदस्मिन् तपोवने तस्य नाम व्यवहरति।

(इस तपोवन में उनका नाम कोई नहीं लेता।)

रामः—अहो माहात्म्यम्। (कितनी महिमा है उनकी!)

कुशः—जानाम्यहं तस्य नामधेयम्। (मैं जानता हूँ उनका नाम।)

रामः—कथ्यताम्। (कहो)

कुशः—निरनुक्रोशो नाम। (निष्ठुर नाम है उनका।)

रामः—(विदूषकमवलोक्य)—वयस्य अपूर्वं खलु नामधेयम्। (मित्र, बड़ा अपूर्व नाम है।)

विदूषकः—(विचिन्त्य) एवं तावत् पृच्छामि। निरनुक्रोश इति क एवं भणति? (यह पूछ रहा हूँ—निष्ठुर यह नाम कौन लेता है?)

कुशः—अम्बा। (माँ)

विदूषकः—किं कुपिता एवं भणति उत प्रकृतिस्था। (क्या क्रुद्ध होती हैं, तब लेती हैं, या प्रकृतिस्थ होने पर?)

कुशः—यद्यावयोर्बालभावजनितं कञ्चिदविनयं पश्यति तदा एवं अधिक्षिपति—निरनुक्रोशस्य पुत्रौ, मा चापलम् इति। (जब हम दोनों में से कोई बचपने के कारण कोई ढिठाई करता है, तो वे इस तरह लताड़ती हैं—अरे निष्ठुर के बेटो, चंचलता मत करो।)

रंगमंच पर प्रयोग की दृष्टि से भी कुंदमाला एक श्रेष्ठ व सफल नाटक है।

वीणावासवदत्तम्

वीणावासवदत्तम् संस्कृत साहित्य की एक और दुर्लभ, उपेक्षित और महत्त्वपूर्ण नाट्यकृति है। उदयनकथा पर आधारित यह नाटक अपूर्ण प्राप्त होता है। इसके आठ अंक प्राप्त हुए हैं। संभवतः दो अंक इसमें और रहे होंगें। कुछ हस्तलिखित प्रतियों में इसका नाम वत्सराजचरितम् भी मिलता है। इसके प्रणेता का नाम पता नहीं चलता। इसका रचनाकाल निर्धारित करना भी कठिन है। इतना निश्चित है कि यह आठवीं

शताब्दी के पश्चात् तथा पंद्रहवीं शताब्दी के पहले रचा गया, क्योंकि पंद्रहवीं शताब्दी में वल्लभदेव ने अपनी सुभाषितावली में इसका नांदीपद्य उद्धृत किया है, और भामह ने अपने काव्यालंकार में भास के प्रतिज्ञायौगंधरायण की कथायोजना की आलोचना करते हुए जो-जो आपत्तियाँ उठायी थीं, उनका निराकरण करते हुए इस नाटक के रचयिता ने नवीन रूप में उदयन कथा का इसमें विन्यास किया है, अत: वह भामह के प्रतिपादन से परिचित प्रतीत होता है।

कथासंयोजन की दृष्टि से वीणावासवदत्तम् अत्यंत ही रोचक है। घटनाओं का गुँथाव नाटककार ने बड़ी निपुणता से किया है। राजा उदयन के पक्ष के अनेक गुप्तचर तथा उनकी गतिविधियाँ निरन्तर नाटक में चलती रहती हैं, यौगंधरायण को उनके माध्यम से नाटककार ने महासेन के षड्यंत्र से पहले से ही अवगत करा दिया है। भामह की समीक्षा के अनुसार उदयन का कृत्रिम हाथी के माध्यम से अधिग्रहण प्रतिज्ञायौगंधरायण में एक अस्वाभाविक घटना है। नाटककार ने इस नाटक में कृत्रिम हाथी के स्थान पर एक वास्तविक हाथी के माध्यम से ही उदयन का ग्रहण दिखाया है। तृतीय अंक के प्रवेशक तथा चतुर्थ और षष्ठ अंकों में उदयन के मंत्रियों की सजगता और उनकी गतिविधियों का भी उसने अच्छा चित्रण किया है। गजशास्त्र में प्रवीण होने पर भी उदयन एक हाथी के माध्यम से बंदी बना लिये गये—इस प्रसंग को स्वाभाविक बनाने के लिए नाटककार ने उदयन को बचपन में अंगारक नाम के एक ऋषि के द्वारा शाप दिये जाने के प्रसंग की उद्भावना की है। महासेन के साथ भरत और शालंकायन नाम के मंत्री उदयन के निग्रहण के लिए योजना बनाते हैं, मृच्छकटिक की भाँति इस नाटक में भी दो परस्पर गुँथी हुई कथा-धाराएँ एक साथ प्रवाहित हैं—एक ओर वासवदत्ता और उदयन के उत्कट अनुराग की कथा है, तो दूसरी ओर महासेन और यौगंधरायण के पक्षों की चालें और गुप्तचरों की रहस्यमय गतिविधियों का कथानक है। गुप्तचरों की गतिविधियाँ मुद्राराक्षस नाटक के कथानक के जटिल जाल के अनुरूप हैं। पात्रों की संख्या की दृष्टि से यह नाटक मृच्छकटिक और मुद्राराक्षस की भाँति ही बहुसंख्य तथा नानाप्रवृत्तिसंकुल पात्रों को प्रस्तुत करता है। चोर, अश्वबंधक, औपगायक, पाशिकाध्यक्ष आदि विशिष्ट कोटि के पात्रों के साथ दोनों पक्षों के कई मंत्री व अनेक स्त्री पात्र अलग-अलग प्रकृतियों में यह नाटक प्रस्तुत करते हैं।

इस नाटक की भाषाशैली भास के नाटकों के अत्यन्त निकट है। नाटकीय भाषा की ऐसी सूक्ष्म पकड़ और संवादों की सटीकता तथा सारप्राणता इने-गिने नाटकों में ही मिलती है। पात्रानुरूप तथा प्रसंगानुरूप भाषा और शैली को ढालने में नाटककार दक्ष है। शृंगार और सुकोमल भावों के प्रसंगों में भाषा में लालित्य और मसृणता है, तो युद्ध, छल, निग्रह आदि के प्रसंगों में तदनुरूप वेगवती और ऊर्जस्वी भाषा है। मृगया के प्रसंग में उदयन के संवादों की स्फूर्ति और ओजस्विता प्रभावशाली है। 'लकुटस्थानीयस्त्वं तस्य संवृत्त: (पृ० ३०), दिवैव चन्द्र उदित: (पृ० ७५), विगतोत्सव इवैष प्रदेश: संवृत्त: (पृ० ७७)' इस प्रकार के मुहावरेदार प्रयोग वीणावासवदत्ता की भाषा को नयी चमक से निखार देते हैं।

नलागिरि हाथी के वर्णन में महासेन के मुख से कहलवाया गया है—

मन्दं मन्दं दृश्यते वारणेन्द्रो
नीहाराढ्यः शब्दवाहीव शैलः॥

यहाँ हाथी के लिए तुषार से घिरे शब्द करते पर्वत की उपमा नाटककार की सूझबूझ का प्रमाण है। आठवें अंक में वासवदत्ता उदयन के द्वारा पत्र में लिखे पद्यों को षड्ज और ऋषभ स्वरों का संयोजन करके वीणा बजाते हुए दो गीत गाती है।

इस प्रकार नाट्यधर्मिता, रोचकता और प्रयोगशीलता की दृष्टि से वीणावासवदत्त नाटक हमारे साहित्य में एक उल्लेख्य नाट्यरचना है।

भवभूति

परिचय

भवभूति संस्कृत के सर्वोच्च महाकवियों में गिने जाते हैं। इन्होंने तीन नाट्यकृतियाँ लिखीं—**महावीरचरितम्** नाटक, **मालतीमाधवम्** प्रकरण तथा **उत्तररामचरितम्** नाटक। इन तीनों नाट्यकृतियों की प्रस्तावनाओं में भवभूति ने सूत्रधार के मुख से अपना परिचय दिलवाया है। उसके अनुसार, उनके पूर्वज विदर्भ के पद्मपुर नगर में रहते थे (डॉ० मिराशी के अनुसार नागपुर-विलासपुर मार्ग में आमगाँव नामक स्थान ही पद्मपुर था)। वे कश्यप गोत्र के यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के पंक्तिपावन ब्राह्मण थे तथा सोमपीथी उदुंबर कुल के चरणगुरु कहलाते थे। ब्रह्मज्ञान के कारण भी इस कुल की ख्याति थी। भवभूति ने अपने पुरखों की तपस्विता, यज्ञपरायणता और पावन जीवन की बहुत प्रशंसा की है। ऐसे कुल में भट्ट गोपाल के पौत्र और नीलकंठ के पुत्र भवभूति हुए। इनकी माता का नाम जतुकर्णी था। श्रीकंठ इनकी उपाधि थी। जगद्धर आदि कुछ टीकाकारों की मान्यता है कि श्रीकंठ इनका वास्तविक नाम था तथा एक श्लोक में भवभूति शब्द के चमत्कारपूर्ण प्रयोग के कारण इन्हें भवभूति की उपाधि मिली, पर भवभूति के स्वयं के कथनों से यह मान्यता प्रमाणित नहीं होती।

भवभूति ने प्रख्यात पंडितों और श्रोत्रियों के उच्च कुल में जन्म लेकर सभी शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया होगा, यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट है। उन्होंने अपने तीनों नाटकों की प्रस्तावना में स्वयं को पदवाक्यप्रमाणज्ञ (व्याकरण, मीमांसा तथा न्यायदर्शन का ज्ञाता) कहा है। यह अनुमान किया जा सकता है कि इतने पावन श्रोत्रिय कुल में भवभूति की नाट्यरचना या कवित्व की प्रवृत्ति को बहुत सराहना के भाव से नहीं देखा गया होगा, अतः वे युवावस्था में विदर्भ से चलकर पद्मावती आये जहाँ कालप्रियनाथ की यात्रा के महोत्सवों में उनके तीनों रूपकों का अभिनय हुआ। बाणभट्ट की भाँति भवभूति ने नटमंडली से अच्छे सम्बन्ध बनाये। उनके तीनों नाटकों में सूत्रधार भवभूति को अपना मित्र बताता है।

पद्मावती नगरी तथा कालप्रियनाथ भूगोलिक प्रत्यभिज्ञान के विषय में तीन मत हैं। पहला मत उज्जयिनी के महाकाल मंदिर को ही कालप्रियनाथ मानता है। यह मत

उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि भवभूति के तीनों नाटकों में जिस देवता की यात्रा में उनके नाटक खेले गये उसका नाम कालप्रियानाथ या महाकाल नहीं, बल्कि कालप्रियनाथ या सूर्य दिया गया है। मालतीमाधव में उन्होंने सूर्य की वंदना भी नांदी पद्य में की है। दूसरा मत कानपुर और झाँसी के बीच कालपी के पास कालप्रियनाथ का अस्तित्व मानता है। यहाँ पहले विशाल सूर्य मंदिर था—ऐसा मिराशी का मत है। तीसरे मत के अनुसार ग्वालियर के पास पवाया ग्राम ही प्राचीन पद्मावती है। इस गाँव के पास प्राचीन सूर्यमंदिर तथा रंगमंच के अवशेष भी मिले हैं।

भवभूति कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा के समकालीन थे। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रख्यात इतिहासकार महाकवि कल्हण ने कहा है कि वाक्पति तथा भवभूति आदि कवियों से सेवित यशोवर्मा को कश्मीर के राजा ललितादित्य ने हराया। तथापि भवभूति यशोवर्मा के आश्रय में रहे हों, ऐसा नहीं लगता। प्राकृत महाकाव्य गौडवहो के रचयिता वाक्पतिराज अवश्य यशोवर्मा के आश्रित कवि थे। उन्होंने भवभूति का अपने वरिष्ठ समकालीन के रूप में बड़े आदर के साथ उल्लेख किया है, पर यशोवर्मा की प्रशस्ति में काव्य रचते हुए भी ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है कि भवभूति राजा यशोवर्मा के आश्रित थे। वाक्पतिराज ने गौडवहो महाकाव्य की रचना ७३३ ई० से ७५३ ई० के बीच की थी—यह निर्विवाद रूप में प्रमाणित होता है। इस प्रकार भवभूति का समय सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच माना जा सकता है। यह अनुमान इस तथ्य से भी होता है कि आचार्य वामन (८०० ई०) ने अपनी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में भवभूति के पद्यों को उद्धृत किया है।

सांस्कृतिक दृष्टि से भवभूति का काल भारतीय इतिहास का अभूतपूर्व काल कहा जा सकता है। कला और साहित्य के क्षेत्र में इस समय नये-नये प्रयोग हो रहे थे, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्य का संस्कृत रचनाओं से जीवंत अंत:संवाद भारतीय साहित्य को सम्पन्न बना रहा था। दर्शन के क्षेत्र में बौद्ध और जैन दार्शनिकों का वैदिक परम्परा के नैयायिकों से शास्त्रार्थ, तर्क के क्षेत्र में नये आयाम खोल रहा था। नागार्जुन, धर्मकीर्ति, जयंत भट्ट, अकलंक, वसुबंधु आदि महान् दार्शनिक भवभूति के कुछ पहले हो चुके थे और कुमारिल भट्ट, मंडन मिश्र, शंकराचार्य जैसे दिग्गज विचारक भी उन्हीं के आसपास हुए। भवभूति में अपने समय की वैचारिक हलचल और शास्त्रपरम्परा का गहरा संस्कार है। भवभूति को अपने घर में अपने पिता या पितामह से अध्ययन का अवसर तो मिला ही होगा, अपने समय के अन्य श्रेष्ठ आचार्यों से भी उन्होंने अध्ययन किया। इन्होंने गुरु का नाम ज्ञाननिधि बताया है और अपने गुरु को 'यथार्थनामा' कहा है, अर्थात् ज्ञाननिधि सचमुच ज्ञाननिधि ही थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति युवावस्था में विदर्भ में अपना गाँव और घर छोड़ कर निकल पड़े। वे मध्यदेश में पद्मावती (आधुनिक ग्वालियर के पास पवाया गाँव) में आये, जहाँ कालप्रियनाथ का प्रसिद्ध मंदिर था। मंदिर के यात्रा महोत्सवों में नाटकों के प्रदर्शन होते थे। भवभूति के तीनों नाटक यहीं खेले गये। नाटक करने वाली मंडली के कलाकारों से उनकी अच्छी मित्रता थी। उनके मालतीमाधव की प्रस्तावना में सूत्रधार

कहता है कि भवभूति हमारे अच्छे मित्र हैं, इसलिए उन्होंने कृपा करके अपना नाटक खेलने के लिए हमें दिया है। मालतीमाधव की प्रस्तावना से ही यह विदित होता है कि भवभूति अपने प्रति की गयी अवज्ञा या उपेक्षा को लेकर खिन्न थे। उनकी अवज्ञा करने वाले कौन लोग थे—यह पता नहीं चलता। जी० के० भाट का अनुमान है कि उनके घर-परिवार के लोगों ने ही उनका अनादर या अवज्ञा की होगी, क्योंकि वे पंक्तिपावन श्रोत्रियों के इतने उच्च कुल में जन्म लेकर भी नाटकों की रचना और उनके प्रदर्शन में रुचि लेते रहे। भवभूति ने लीक से हटकर नाट्यकृतियों में बहुतकुछ नया कर दिखाया। संभवत: उनके कृतित्व से उस समय का पंडित समाज प्रसन्न नहीं हुआ। अपनी उपेक्षा से खिन्न होकर भवभूति ने मालतीमाधव की प्रस्तावना में कहा है—''जो हमारी उपेक्षा कर रहे हैं, वे कुछ भी समझते रहें, उनके लिए मेरा यह प्रयत्न नहीं है। मेरा समानधर्मा भी कोई उत्पन्न होगा, क्योंकि काल निरवधि है और धरती बहुत बड़ी है।''

भवभूति, सुरेश्वर, उंबेक तथा मंडन मिश्र की अभिन्नता—भवभूति के सम्बन्ध में एक मान्यता यह भी है कि प्रख्यात दार्शनिक और मीमांसा दर्शन के महान् आचार्य कुमारिल भट्ट के शिष्य उंबेकाचार्य और भूवभूति एक ही व्यक्ति हैं। शंकर पांडुरंग पंडित ने प्राकृत महाकाव्य गौडवहो के संस्करण की अपनी भूमिका में बताया है कि मालतीमाधव की पुरानी हस्तलिखित पोथियों में इस नाटक को कुमारिल भट्ट के शिष्य उंबेकाचार्य के द्वारा विरचित कहा गया है। कुमारिल का समय ५९० से ६५० ई० के बीच है। भवभूति और उंबेक के अभिन्न होने की मान्यता पर कुछ विद्वानों ने प्रश्नचिह्न लगाया है। यदि दोनों अलग-अलग व्यक्ति हों, तब भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि भवभूति एक महान् कवि के साथ तत्त्वदर्शी विचारक तथा श्रेष्ठ पंडित भी थे। ज्ञान की जो विरासत उन्होंने अपनी वंशपरम्परा से पायी थी, उसका उनको गर्व भी था। उन्होंने अपने तीनों नाटकों की प्रस्तावना में अपने को पदवाक्यप्रमाणज्ञ (व्याकरण, मीमांसा तथा न्यायदर्शन का ज्ञाता) कहा है।

माधवाचार्य के शंकरविजय तथा विवरणप्रमेयसंग्रह में बताया गया है कि मंडन मिश्र संन्यास ग्रहण करने पर सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। विवरणप्रमेयसंग्रह में माधव ने याज्ञवल्क्यस्मृति पर विश्वरूप की टीका से यह वाक्य उद्धृत किया है—'भवभूतिसुरेशाख्यं विश्वरूपं प्रणमामि तम्।' इसके अनुसार भवभूति, सुरेश्वराचार्य और विश्वरूप एक ही व्यक्ति माने जा सकते हैं। आचार्य उंबेक को दर्शन के क्षेत्र में अनेक टीकाकारों व आचार्यों ने उद्धृत किया है। प्रत्यग्रूपभगवान् ने चित्सुखाचार्य के तत्त्वप्रदीप की नयनप्रसादिनी टीका में कहा है—'उम्बेको भवभूति:।' इन उल्लेखों के आधार पर श्रीकृष्णमाचारी ने भवभूति, उंबेक, मंडन मिश्र, सुरेश्वर और विश्वरूप की अभिन्नता मानी है। पर यह मत संदिग्ध है।

कृतित्व

भवभूति की तीन नाट्यकृतियों में से महावीरचरितम् में राम के विवाह से लगा कर रावणवध और उनके राज्याभिषेक तक की कथा को नाटक के रूप में प्रस्तुत किया

गया है। रामकथा का उत्तर भाग उत्तररामचरितम् में निरूपित है। इसमें सीता के निर्वासन और राम तथा सीता के पुनर्मिलन की कथा निरूपित है। मालतीमाधव प्रकरण कोटि का रूपक है। इसमें किशोरावस्था के प्रेम और नायिका के अपने घर से भाग कर मंदिर में नायक माधव के साथ विवाह करने का रोचक वृत्तांत है।

उक्त तीन रूपकों के अतिरिक्त भवभूति ने कुछ अन्य रचनाएँ भी लिखी थीं, पर वे मिलती नहीं हैं। प्राचीन सुभाषितसंग्रहों में भवभूति के अनेक पद्य उद्धृत हैं। इनमें से अधिकांश पद्य तो उनकी तीन नाट्य कृतियों से ही लिये गये हैं, पर कतिपय पद्य ऐसे भी हैं, जो उनकी नाट्यरचनाओं से नहीं हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि भवभूति ने कुछ और पद्यात्मक रचनाएँ की थीं। शार्ङ्गधरपद्धति में भवभूति के नाम से यह श्लोक उद्धृत है—

निरवद्यानि पद्यानि यदि नाट्यस्य काक्षतिः ।
भिक्षुकन्थाविनिक्षिप्तः किमिक्षुर्नीरसोभवेत् ॥

(यदि पद्य निर्दोष हैं, तो नाट्यरचना की क्या क्षति हो सकती है, (चाहे उसे कोई भी पढ़े या खेले), भिक्षुक की कथरी में रख दिया जाने से गन्ना फीका नहीं हो जाता।)

महावीरचरित—रामकथा पर आधारित नाटकों की परम्परा में यह एक पथप्रदर्शक और उपजीव्य नाटक है। पूरी कथा को भवभूति ने सर्वथा अछूती परिकल्पना के द्वारा नवीन स्वरूप प्रदान कर दिया है, जिसके कारण इस कथा में माल्यवान् तथा राम के पक्ष के बीच द्वंद्व का आद्यंत निर्वाह किया गया है। सात अंकों के इस नाटक में विश्वामित्र की यज्ञरक्षा से लेकर रावण-वध के पश्चात् राम के अयोध्या-प्रत्यावर्तन और राज्याभिषेक तक की रामायण कथा निरूपित है। प्रथम अंक में मारीच, सुबाहु और ताड़का से राम व लक्ष्मण का युद्ध और विश्वामित्र के आश्रम में शिवधनुष का प्राकट्य तथा राम के द्वारा शिवधनुष का भंग चित्रित है। सीता और उर्मिला को भी कवि ने जनक के साथ इसी अंक में अवतरित करा दिया है। रावण की ओर से सीता का हाथ माँगने के लिए उसका दूत विश्वामित्र के आश्रम में ही आ पहुँचता है। दूसरे अंक में रावण के मंत्री माल्यवान् का शूर्पणखा से संवाद है, जिसमें वह अपनी कूटनीति और गुप्त योजनाएँ शूर्पणखा को बताता है। तदनुसार वह परशुराम को राम से युद्ध के लिए भड़काया है तथा शूर्पणखा मंथरा का वेष धर कर राम के वनवास का षड्यंत्र रचती है। तीसरे और चौथे अंकों में परशुराम का जनक, शतानंद, दशरथ और विश्वामित्र से लम्बा वाक्कलह है जिसकी परिणति राम और परशुराम के युद्ध में होती है। परशुराम तो पराजित होते हैं, पर इसी समय मंथरावेषधारिणी शूर्पणखा कैकेयी का पत्र दशरथ को सौंप देती है, जिसके अनुसार राम को चौदह वर्ष का वनवास तथा भरत को राज्य देने का वर माँगा गया है। पाँचवें अंक में रावण के द्वारा सीता का हरण, जटायु और रावण का युद्ध, विभीषण की राम से भेंट, सुग्रीव और राम की मैत्री तथा बालि का वध चित्रित है। छठे अंक में राम और रावण के संग्राम के अनंतर रावण का वध वर्णित

है। सातवें अंक में सीता की अग्निपरीक्षा के पश्चात् राम अयोध्या आते हैं। विमान में बैठे राम के मुख से कवि ने लंका से अयोध्या तक की यात्रा में नीचे धरती पर दिखायी देने वाले दृश्यों का मनोहारी वर्णन कराया है। अंत में राम के राज्याभिषेक के साथ नाटक समाप्त होता है।

समीक्षा—महावीरचरित रामकथाश्रित नाटकों में एक प्रवर्तक कृति है। मुरारि, राजशेखर, जयदेव, शक्तिभद्र आदि अनेक नाटककारों ने इससे प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण किया है। रामकथा की विविध घटनाओं को कवि ने अपनी सूझबूझ व नाटकीय समझ से एक सूत्र में गूँथ दिया है। राम का चरित्र एक परम तेजस्वी वीर के रूप में किया गया है, जो नाटक के महावीरचरित नाम को सार्थक करता है। पहले अंक में ही विश्वामित्र की यज्ञरक्षा और राक्षसों के संहार के अनंतर शिवधनुष के भंग का वृत्तांत समाविष्ट करके भवभूति ने न केवल घटनाक्रम को क्षिप्रता प्रदान की है, वीररस के प्रवाह में अद्भुत रस को भी तरंगित कर दिया है। परशुराम के उद्धत और क्रोधी चरित्र की जो प्रस्तुति भवभूति ने की है, उसका अनुकरण अनेक परवर्ती नाटककारों ने किया है। परशुराम का जनक आदि के साथ विवाद आगे चलकर लक्ष्मणपरशुराम संवाद के रूप में विकसित हुआ और लीला नाटकों से लगा कर तुलसीदास के रामचरितमानस तक इसका रोचक विन्यास किया जाता रहा। भाषा पर असाधारण अधिकार व शब्दावली की नृत्यत्प्रायता, गाढबंध, गौडी रीति का विन्यास तथा ओजस्विता सर्वत्र महावीरचरित में प्रभावशाली रूप में प्रकट हुई है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इसके अनेक पद्य सराहना कहते हुए उद्धृत किये हैं। ताड़का के इस वर्णन में दीर्घसमासों की रचना तथा विकटाक्षरबंध दर्शनीय है—

आन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कङ्कण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम्।
पातोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लसद्-
व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥ (१/३५)

आवश्यकतानुसार दो या तीन शब्दों के छोटे से संवाद में बहुत सारी बातें कह देने की कला भवभूति में प्रकर्ष पर है। ताड़का उद्धत रूप में भागती हुई सामने से आ रही है। विश्वामित्र राम की ठुड्ढी छूकर कहते हैं—वत्स, हन्यतामियम्। (बेटा, इसे मार डालो)। राम कहते हैं—भगवन्, 'स्त्री खल्वियम्।' उर्मिला और सीता इस घटना को देख रही हैं। उर्मिला सीता से कहती हैं—'श्रुतम् आर्यया?' परशुराम राम को सामने देख कर कहते हैं—'रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीत्'—क्षत्रिय का लड़का था बड़ा सुंदर। यहाँ अस्ति (है) के स्थान पर आसीत् भूतकाल की क्रिया का प्रयोग बड़ा चमत्कारकारक है। एक पद्य को कई टुकड़ों में अनेक पात्रों के मुख से कहला कर नाटकीयता का निर्वाह भवभूति करते हैं। अथवा एक ही पद्य को वे तोड़-तोड़ कर एक पात्र के मुख से कहलाते हैं। शिवधनुष के प्राकट्य, राम का उसे पकड़ना, उठाकर खींचना और खींचने पर धनुष का टूटना—ये क्रियाएँ नेपथ्य में हो रही हैं। भवभूति ने

जनक के मुख से इस पूरे प्रसंग का वर्णन एक पद्य में कराया है, पर यह वर्णन सीता और उर्मिला के संवादों के अंतराल में होता है, जिससे प्रेक्षकों को राम के द्वारा शिवधनुष के भंग की एक-एक क्रिया का आभास हो जाता है—

स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्जितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत्॥ (२/२२)

भावशबलता तथा भावसंधि की स्थितियों के चित्रण में भवभूति विशेष रूप में मर्मावगाहन करते हैं। राम के द्वारा शिवधनुष के भंग के पश्चात् जनक हर्ष से बावले से होकर कहते हैं—"मैं तुम्हारा माथा चूमता हुआ चिरकाल तक तुम्हें आलिंगन में बाँधे रहूँ या माथे पर बिठा लूँ, या तुम्हारे चरणकमल छू लूँ?" परशुराम राम को देख कर स्नेह से भी भर उठते हैं, और क्रोध से भी भड़क उठते हैं। परशुराम युद्ध के लिए तत्पर राम को सीता रोकने के लिए बरबस हाथ पकड़ कर खींच लेती हैं। राम कहते हैं—

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः।
वैदेही परिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमालीय-
न्नानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्ध्यन्यतः॥

मालतीमाधव—यह दस अंकों का प्रकरण है। शूद्रक के मृच्छकटिक के पश्चात् भवभूति ने प्रकरण की विधा में लेखनी चलाकर एक साहसिक रचनाकार के रूप में अपना परिचय दिया। इस प्रकरण में विदर्भ के अमात्य देवरात का पुत्र माधव नायक है और पद्मावती के अमात्य भूरिवसु की कन्या मालती नायिका है। माधव न्यायशास्त्र के अध्ययन के लिए विदर्भ से पद्मावती में बौद्ध भिक्षुणी कामंदकी के पास रह रहा है। वास्तव में कामंदकी, भूरिवसु और देवरात ये तीनों सहाध्यायी रहे हैं और भूरिवसु तथा देवरात ने छात्रकाल में ही प्रतिज्ञा की थी कि वे अपनी संतानों का परस्पर विवाह करेंगे। कामंदकी के पास माधव को भेजा जाना इसी प्रतिज्ञा की पूर्ति हेतु एक योजना है। कामंदकी मालती और माधव के बीच प्रेम हो सके, इसके लिए विभिन्न उपाय भी करती है। मालती और माधव एक-दूसरे को देखते हैं, और चाहने लगते हैं। राजा का नर्मसचिव नंदन उनके प्रेम में बाधक है, वह राजा के माध्यम से अमात्य भूरिवसु पर दबाव डलवा रहा है कि वे मालती का विवाह उससे कर दें। दूसरी ओर नंदन की बहन मदयंतिका माधव के मित्र मकरंद को चाहती है। मकरंद एक बार सिंह के द्वारा आक्रमण होने पर अपने प्राण संकट में डाल कर उसे बचाता है। माधव मालती को पाने के लिए श्मशान-साधना करने श्मशान में जाता है। वहाँ करालायतन या काली के मंदिर से मालती की चीख सुन कर तलवार खींच कर भीतर पहुँचता है। एक कापालिक (तांत्रिक) अघोरघंट ने अपनी सहायिका कपालकुंडला के द्वारा मालती का अपहरण कर लिया है, और वह उसकी बलि देने ही वाला है। माधव कापालिक को ललकारता है और उसे मार डालता है। इसके पश्चात् कामंदकी की सहायता से मालती तथा माधव एक मंदिर में गुपचुप

विवाह कर लेते हैं। इस पर राजा के सैनिकों से माधव और मकरंद का युद्ध होता है। दोनों बड़ी वीरता से संग्राम करते हैं। इसी बीच कपालकुंडला फिर से मालती का अपहरण कर लेती है। माधव व्याकुल होकर मालती को ढूँढ़ता फिरता है। कामंदकी की शिष्या सौदामनी, जो स्वयं तांत्रिक है, अपनी तंत्रविद्या से मालती की रक्षा करती है और आत्महत्या करने को तत्पर माधव को भी ऐन वक्त पर पहुँच कर बचाती है। अंत में मालती के माता-पिता और राजा भी मालती और माधव तथा मकरंद और मदयंतिका के विवाह को स्वीकार करते हैं।

मालतीमाधव संस्कृत साहित्य के उन इने-गिने नाटकों में है, जिनमें पात्रों के चरित्र का विकास भी निरूपित है। मालती एक किशोरी है। माधव से प्रणय में वह क्रमशः प्रेमिका और परिणीता के रूप में विकसित होती हुई दिखायी देती है। वह अपने प्रेम के लिए माता-पिता और परिवार को छोड़ कर आ जाती है, और मंदिर में माधव से विवाह भी कर लेती है। पर विवाह के पश्चात् माता-पिता और घर-परिवार की स्मृतियाँ उसके चित्त को मथती रहती हैं। वास्तव में मालती के माध्यम से भवभूति ने भारतीय नारी की व्यथा को मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। इस नाटक में भवभूति ने मानवचित्त और अंतर्मन की परतें जिस तरह उघाड़ी हैं, वह संस्कृत नाट्य साहित्य की दुर्लभ उपलब्धि है। प्रेम का स्वरूप व दाम्पत्य को लेकर भवभूति की दृष्टि भी यहाँ प्रतिफलित है। कामंदकी का मालती और माधव को उनके विवाह के पश्चात् संदेश है—

प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु॥

टीकाकार पूर्णसरस्वती तो मालतीमाधव की एक गहरी दार्शनिक कृति के रूप में भी मीमांसा करते हैं। उनके अनुसार यहाँ माधव साक्षात् लक्ष्मीपति विष्णु का प्रतीक है, उसका सहचर मकरंद परमेश्वर या शिव का, कामंदकी कामित अर्थ को प्रदान करने वाली भक्ति है। बुद्धरक्षिता बुद्धिमानों के द्वारा परिपालित सरस्वती है। अवलोकिता नीति है, लवंगिका कीर्ति, कलहंस परमात्मा की भक्ति का मंत्र है। इसी प्रकार अघोरघंट अधर्म का प्रतीक है, कपालकुंडला हिंसा है और सौदामनी प्रकाशात्मिका विद्या है।

उत्तररामचरित

सात अंकों के इस नाटक में राम के राज्याभिषेक के पश्चात् लोकापवाद के कारण सीता का परित्याग और अंत में सीता से पुनर्मिलन का वृत्तांत निबद्ध है। उत्तररामचरित संस्कृत या भारतीय साहित्य में ही नहीं, विश्व साहित्य की इनी-गिनी सर्वोत्कृष्ट कृतियों में परिगणनीय है। व्यक्ति और समाज के द्वंद्व, मानवीय करुणा और रागात्मकता, प्रेम की अनन्यता और सर्वव्यापिता, विडंबना, भावों के घात-प्रत्याघात और वेदना, जीवन दृष्टि की मौलिकता का ऐसा श्रेष्ठ और सर्वांगीण रूप अन्यत्र दुर्लभ ही है।

नाटक का प्रारम्भ इस सूचना के साथ होता है कि ऋष्यशृंग ने बारह वर्ष का यज्ञ आरम्भ करा दिया है, जिसमें उपस्थित होने के लिए वशिष्ठ, अरुंधती तथा राम की माताएँ अयोध्या से जा चुकी हैं। अष्टावक्र उन लोगों का संदेश लेकर आते हैं। राम ने

गर्भवती सीता का मन बहलाने के लिए एक चित्रवीथी बनवाई है, जिसमें उनके बाल्यकाल से लगा कर रावण-वध करके अयोध्या लौटने तक के चित्रों की शृंखला है। पहले अंक में इस चित्रवीथी में अपने पात्रों को रमाते हुए कवि ने पूरी रामकथा का विहंगावलोकन करा दिया है। अग्निशुद्धि के प्रसंग पर राम की टिप्पणी मन की कचोट को प्रकट करती है, तो कैकेयी के वरदान माँगने के प्रसंग को उनका छोड़ कर आगे बढ़ जाना सीता की प्रशंसा का कारण बनता है। सीताहरण के पश्चात् राम की विरहव्यथा का चित्रण और राम का उन दिनों की स्मृति में डूब जाना आसन्न विरह को भी ध्वनित करता है। सीता थक कर राम की भुजा का सहारा लेकर सो जाती है। इसी समय गुप्तचर दुर्मुख आकर प्रजाओं में सीता के परगृहवासदूषण की चर्चा की बात बताता है। राम रोते-कलपते हुए सीता के परित्याग का निर्णय लेते हैं और सीता को रथ में बिठाकर वन छोड़ आने का आदेश दे देते हैं। दूसरा अंक इस घटना के बारह वर्ष बाद जनस्थान के अंतर्गत पंचवटी में आरम्भ होता है। वनदेवी वासंती और एक तापसी आत्रेयी के संवादों के द्वारा सूचना मिलती है कि राम ने अश्वमेध यज्ञ आरम्भ कर दिया है। यज्ञ में सीता के स्थान पर उन्होंने उसकी प्रतिमा रखवायी है। शूद्र तपस्वी शंबूक का वध करने के लिए वे पंचवटी में आ रहे हैं। इसके बाद राम का प्रवेश होता है। तीसरे अंक में तमसा और मुरला ये दो नदियाँ पात्रों के रूप में आती हैं। उनकी बातचीत से सूचना मिलती है कि राम के द्वारा निर्वासित सीता गंगा में कूद पड़ी थी, पर गंगा ने उसे बचा लिया और उसने वहीं दो पुत्रों को जन्म दिया। सीता गंगा के आदेश से कुश और लव की बारहवीं जन्ममंगलग्रंथि पर देवपूजन के लिए भूलोक में आयी हैं और गंगा ने तमसा को उनके साथ रहने का आदेश दिया है। इस तरह राम और सीता अनेक वर्षों के बाद पंचवटी के वन में एकसाथ होते हैं, जहाँ पहले कभी वनवास के दिन उन्होंने बिताये थे। गंगा के वर से सीता राम के लिए अदृश्य रहती हैं। राम पहले के दिनों का स्मरण करके व्यथित होते हैं और सीता की स्मृति में मूर्च्छित हो जाते हैं। सीता उन्हें स्पर्श करती हैं। स्पर्श से राम की संज्ञा लौट आती है, वे सीता के स्पर्श का अनुभव करते हैं, पर सीता को देख नहीं पाते। भावसंकुलता और व्यथा की गहराई के चित्रण की दृष्टि से उत्तररामचरित का छायांक नामक यह तीसरा अंक समग्र संस्कृत साहित्य में निर्विवाद रूप में अप्रतिम माना जाता है। चौथे अंक में सीतारहित अयोध्या में जाने की अनिच्छा प्रकट करते हुए कौशल्या आदि राम-माताएँ वाल्मीकि के आश्रम में आ जाती हैं। वहाँ वे लव को देखती हैं, पर पहचानती नहीं हैं। इसी अंक में राम के अश्वमेध यज्ञ के अश्व के साथ लक्ष्मण के पुत्र राजकुमार चंद्रकेतु के आने की सूचना मिलती है। लव अश्वमेध के घोड़े को पकड़ लेता है और राम की सेना के साथ उसका युद्ध छिड़ जाता है। पाँचवें अंक में लव और चंद्रकेतु की झड़प और युद्ध के लिए अवतरण का चित्रण है। छठे अंक में विद्याधर और विद्याधरी के संवादों में युद्ध का वर्णन है। राम की लव और कुश से भेंट का सरस और मार्मिक चित्रण कवि ने यहाँ किया है। सातवें अंक में वाल्मीकि के द्वारा रची गयी रामायण का नाटक के रूप में भरत मुनि के द्वारा

प्रस्तुतीकरण होता है। यह गर्भ नाटक अंत में वास्तविकता में परिणत होने लगता है और सचमुच की सीता वहाँ आकर वाल्मीकि के कहने पर अपने निर्दोष होने का साक्ष्य देती हैं, गंगा और धरती उनकी पवित्रता का ख्यापन करती हैं। इसके साथ लव-कुश, राम और सीता के पुनर्मिलन के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

भाषा-अभिव्यक्ति और शब्द-साधना—भवभूति एक ऐसे परिवार में हुए जहाँ संस्कृत भाषा दैनन्दिन व्यवहार में प्रचलित थी। उनके नाटकों में बोलचाल की संस्कृत का बड़ा रोचक स्वरूप सामने आता है। यह संस्कृत कहीं-कहीं पंडिताऊ भी हो गयी है। दैनिक व्यवहार की भाषा की वाक्य-रचना, पदावली और मुहावरे भवभूति में जितने मिलते हैं, उतने भास जैसे एक-दो नाटककारों को छोड़ कर अन्य संस्कृत रचनाकारों में नहीं मिलेंगे। दूसरी ओर ठेठ देशज शब्दों के ठाठ से भरपूर प्राकृत भाषा का भी आस्वाद भवभूति की रचना से मिलता है। भवभूति की भाषा अपने इन दोनों ही रूपों में भारोपीय भाषा के मध्यकाल में बदलते उस स्वरूप की झलक देती है, जिसके द्वारा आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म हुआ। भवभूति के संवादों के अनेक वाक्य अपनी बनावट में आधुनिक भारतीय भाषाओं के निकट हैं। मालतीमाधव के पाँचवें अंक में श्मशान के दृश्य में सहसा माधव को अपने सामने पाकर मालती उससे पूछती है—**तुम्हें उण कहिं? (यूयं पुनः क्व**—आप यहाँ कैसे?)। इसी रूपक में छठे अंक में लवंगिका कामंदकी से पूछती है—**अथ भवदी उण कहिं?**—आप कहाँ चलीं? इसके आगे मदयंतिका का यह प्रश्न तो बोलचाल के आधुनिक लहजे के एकदम निकट है—**कथय कथं नु ते कालो गच्छतीति**—बताओ, तुम्हारा समय कैसे गुजर रहा है? गद्यात्मक संवादों में ही नहीं, काव्यात्मक पद्यों तक में भवभूति अनेकत्र भाषा के इस विश्लेषणात्मक रूप का प्रयोग करते हैं। साथ ही प्राचीन ग्रंथों, पुरखों की उक्तियों और अपने समय में प्रचलित बोलियों—इन सबके ज्ञान से अपनी एक अलग भाषा भी रचते हैं। उदाहरण के लिए **उत्तररामचरित** के एक पद्य (१/१९) में अत्यन्त सहज विश्लेषणात्मक वाक्य के भीतर विवाह के लिए 'दारसंग्रह' शब्द का प्रयोग किया गया है। भवभूति ने 'आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसङ्ग्रहवर्तिनाम्' जैसी वाल्मीकि की सूक्तियों से, जो उनके समय में बोलचाल में प्रचलित रही होगी, इस तरह के अनेक शब्दों को पकड़ा होगा, जो आज हमें अप्रचलित या दुर्लभ लग सकते हैं।

भवभूति अभिधा के कवि कहे गये हैं। वे दृश्य या वर्ण्य को उसकी समग्रता में साकार कर देते हैं। उत्तररामचरित के दूसरे और तीसरे अंकों में दंडकारण्य के विकट विस्तार, अनगढ़ सौन्दर्य और भयावहता के चित्र संस्कृत साहित्य में बेजोड़ हैं। बीहड़ जंगल को मनुष्य की संवेदनाओं का इस तरह अंग संस्कृत की अन्य किसी रचना में कदाचित् नहीं बनाया गया।

अलंकार तथा बिम्बविधान—भवभूति की भाषा और अभिव्यक्तियाँ संस्कृत कविता में ताजी हवा का झोंका लेकर आती हैं। अनेक अछूते बिम्बों और कल्पनाओं से उन्होंने अपने काव्यसंसार को परिपुष्ट किया है। अनुभव की विशिष्टता तथा प्रेम की

अनन्यता को व्यक्त करने के लिए भवभूति नयी उपमाएँ खोज कर लाते हैं। नायिका के द्वारा देखे जाने पर प्रेमी को दूध की धारा में नहाने जैसा अनुभव होना (**मालतीमाधव, ३.१६**), सीता की दृष्टि के लिए दूध की नहर की उपमा (**उत्तररामचरित, ३/२३**), वेदना की अभिव्यक्ति के लिए अग्निबाण के हृदय में तिरछा चुभने की उपमा (**वही, ३/२५**), या शोक का शंकु बनकर मन में गड़ने का बिम्ब (**वही**), राम के द्वारा सीता को आँखो में अमृत की बनी आँजनी समझा जाना आदि बहुविध नयी कल्पनाओं में भवभूति अनुभूति की सघनता और प्रत्यग्रता (ताज़गी) का प्रत्यय देते हैं। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में वामन आदि आचार्यों ने इस तरह की अभिव्यक्तियों में समाधि गुण माना है। सीता के विषय में लोकप्रवाद की चर्चा पर राम का कथन है—वैदेही के परगृहनिवास के दोष को उस समय हमने अद्‌भुत उपायों से शांत करा दिया था, पर दुर्भाग्य के दुष्परिणाम से वह पागल कुत्ते के विष की भाँति फिर से सब ओर फैल गया है (**उत्तररामचरित, १/४०**) । इस तरह की उपमाएँ संस्कृत कविता या भारतीय साहित्य में ही पहली बार आयी हैं। पागल कुत्ते का जहर उसके काटते ही तुरन्त प्रभाव नहीं दिखाता, वर्षों बाद भी वह अचानक प्रभाव प्रकट करता है। सीता के लोकापवाद को उससे उपमा देना सारी वस्तु-स्थिति और तज्जन्य विडंबना का तीखा बोध होता है। बाणभट्ट की तरह रंगों की गहरी परख और वस्तु जगत् का सूक्ष्म पर्यवेक्षण भवभूति में है। पंपा सरोवर के किनारे सीता के विरह में अपने रोने की बात का स्मरण करके राम कहते हैं—इस सरोवर के किनारे जब मैं रोने लग गया था, उस समय सरोवर के पुंडरीक (सफेद कमल) हंसों के पंखों से हवा में हिल रहे थे। आँखों में उमड़ते आँसुओं के बह जाने और फिर से अश्रुप्रवाह के आँखों में भरने के अंतराल में मैंने सरोवर को कुवलय (नीलकमल) से भरा देखा (उत्तररामचरित, १/३१)। आँखों पर आँसू के पानी का परदा होने से सफेद वस्तु नीली दिखती है—इस वैज्ञानिक तथ्य का बड़ा मार्मिक उपयोग यहाँ विरह-वर्णन में भवभूति ने किया है।

भवभूति की उपमाएँ अपनी नवीनता के कारण आकर्षित करती हैं। राम के करुणरस के लिए पुटपाक की उपमा अछूता उपमान प्रस्तुत करती है—

अनिर्भिन्नो निगूढत्वादन्तगूर्ढघनव्यथः ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥

वाल्मीकि के पश्चात् सीता के लिए अमूर्त उपमानों का मार्मिक उपयोग भवभूति ने किया है—"करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी।"

पांडित्य तथा पर्यवेक्षण और लोकदृष्टि—भवभूति ने आरम्भ में ही वाक् का स्मरण किया है। फिर वाणी को आत्मा की अमृत कला कहा है। वे प्रकांड वैदिक ब्राह्मणों के परिवार में हुए थे। वाक् के विषय में वैदिक ऋषियों के मंतव्यों से वे परिचित थे। इसी परम्परा में पतंजलि से लगाकर भर्तृहरि तक शब्दतत्त्व को लेकर किये गये चिंतन से भी उनका निश्चय ही परिचय था और उन्होंने शब्द की सत्ता के प्रति यहाँ जो निष्ठा और आस्था व्यक्त की है, वह भी तदनुरूप ही है। वाक्-तत्त्व का प्रतिपादन

उन्होंने यहाँ वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के अनुसार किया है। भर्तृहरि अपने वाक्यपदीयम् में सृष्टि को अक्षर शब्द तत्त्व का विवर्त बताते हैं। वे इस शब्दतत्त्व को ब्रह्मरूप भी कहते हैं। तो इधर भवभूति अपने उत्तररामचरितम् में वाल्मीकि की रचना रामायण नामक इतिहास को आत्रेयी के एक संवाद में **शब्द-ब्रह्म का पहला विवर्त** कहते हैं। वे तमसा तथा वासन्ती के मुख से एक ही करुण रस के भिन्न-भिन्न विवर्तों का आश्रय लेने की बात कहते हैं। विवर्तवाद भवभूति के मानस में गहरे संस्कार के रूप में पैठा हुआ है। लव और चंद्रकेतु के युद्ध के वर्णन में विद्याधर के मुख से वे ब्रह्म और विवर्त की उपमा दिलवाते हैं **(उत्तररामचरित, ६/६)**।

उत्तररामचरित के अंत में कवि ने शब्दब्रह्मवित् कवि की वाणी को भावित किया जाता रहे, यही कामना की है। मालतीमाधव में कामन्दकी माधव और मालती को समझाती हुई कहती है—

तद् वत्स, वाक् प्रतिष्ठानि देहिनां व्यापारतन्त्राणि। वाचि पुण्यापुण्याहेतवो व्यवस्थाः सर्वथा जनानामायतन्ते।

यह अकारण नहीं कि भवभूति अपनी रचनाओं में बार-बार वाक् के श्रुतिसम्मत तथा पतंजलि, भर्तृहरि आदि के द्वारा प्रतिपादित स्वरूप और सर्वव्यापित्व का प्रतिपादन करते हैं। वाक्-तत्त्व की यह अवधारणा भवभूति के जीवनदर्शन और काव्यसाधना के अनुरूप है। वाक् या वाणी की कामधेनु रूप की परिकल्पना भी उन्होंने इसी परम्परा के अनुसार अनूदित की है—**(उत्तररामचरित, ५/३०)**

भवभूति ने अपनी प्रातिभ दृष्टि तथा शब्द-साधना से संस्कृत काव्य में नयी पदावलियों का आधान कर उसे समृद्धतर बनाया है। उनके लिए वाङ्मय वचोवितान नहीं, शब्दब्रह्म की साधना है। यह साधना आनंत्य की ओर अभिमुख है। उनके शब्दों से अर्थ का जो वातायन खुलता है, वह हमें अनंत के आकाश की झलक दिखाता है। भवभूति की शब्दसाधना के तीन आयाम हैं—(१) शास्त्रज्ञान और नवशास्त्ररचना की क्षमता, (२) लोकव्यवहार या लोकभाषाओं का अभ्यास। (३) सहजबोध या स्वानुभूति।

भवभूति ने स्वयं मालतीमाधव की प्रस्तावना में इन तीन आयामों को प्रकारांतर से इंगित किया है।

शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः
प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।

अनेकत्र तो भवभूति की भाषा में इन तीनों स्रोतों से एकसाथ निःसृत समवेत त्रिवेणी भी प्रवाहित हुई है। शास्त्रज्ञान और असाधारण पांडित्य के कारण भवभूति की भाषा में वैदग्ध्य और पांडित्य का अनूठा समन्वय हुआ है। वे अवधारणाओं को काव्यात्मक भाषा में परिभाषित करते हैं। शास्त्रीयता का इतना मधुर काव्यात्मक उन्मेष अन्यत्र कठिनाई से मिलेगा। अपत्य या संतति को भवभूति परिभाषित करते हैं **(उत्तररामचरित, ३/१७)** तो अनुभूति में शास्त्र खिंच कर समाहित हो जाता है।

कविता और दर्शन गहराई से परस्पर अनुस्यूत हो जाते हैं। पुत्र या संतान के लिए गहरी ललक कवि के मन में है। उसके साथ ही पुत्र की अवधारणा को लेकर उसके मन में एक समझ भी है। दोनों को एकसाथ भवभूति प्रकट करते है **(उत्तररामचरित, ६/२२)** तो वहाँ भी सघन ऐंद्रिय बिम्बों में गुँथा अनुभव ज्ञान और चिंतन को सहज समेट कर उपस्थित है। प्रेम की अंतरंगता और सर्वव्यापिता के अनुभव का आख्यान तो भवभूति ने बड़ी समर्थ और अनोखी पदावली में किया है।

लोकभाषाओं का गहरा अध्ययन भवभूति ने किया है इसके कारण लोक में प्रचलित अनेक मुहावरे और लोकोक्तियाँ उनकी रचनाओं में पदे-पदे मिलती हैं। उदाहरण के लिए—

अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि ग्रावाणः प्लवन्ते। (महा०, पृ० २९)
अण्डभेदनं क्रियते प्रश्रयश्चेति। (वही, पृ० २९)
अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया। (उत्तररामचरित)

अपने भावावेग, अपार रचनात्मक ऊर्जा और अन्तर्दृष्टि के कारण भवभूति लोक से प्राप्त भाषा में नये अभिप्राय भी भर देते हैं। उनमें लोक-भाषा की ग्राम्यता सौंदर्य में परिणत हो जाती है। भोज ने भवभूति की यह पंक्ति देश्य दोष के परिहार के उदाहरण के रूप में उद्धृत की है—

पातालप्रतिमल्लगल्लविवरप्रक्षिप्तसप्तार्णवम्।

गल्ल शब्द का प्रयोग यहाँ देशज है। पर महाकवि की कल्पनाशीलता के कारण वह देश्य दोष की बजाय गुण में परिणत हो गया है।

भवभूति लौकिक उक्तियों का स्वयं उल्लेख भी करते हैं। प्रेम की आकस्मिकता को बताते हुए मालतीमाधव में कहा गया है—

यत्र लौकिकानामुपचारस्तारामैत्रकं चक्षूराग इति।

इसी प्रेम को लोग तारों (आँखों की पुतलियों) की मित्रता या चक्षूराग (आँखों-आँखों का प्रेम) कहते हैं।

इसके साथ भवभूति में ऐसी सैंकड़ों सूक्तियाँ मिलती हैं, जिनमें लोकोक्ति बन जाने की क्षमता है। वे नये आभाणक और मुहावरे भी रचते हैं। उदाहरण के लिए—**येन स दूर्वाश्यामलाङ्गस्तथा विहस्तीकृतः**। (मा० मा०, पृ० ४६) में दूब की तरह साँवला यह उपमा संस्कृत काव्य में ताजी हवा का झोंका है, तो विहस्तीकृत (हाथ से गया) यह नया मुहावरा है। मालती के लिए अपनी चिंता के कारण कामंदकी कहती है—**नन्वयमेव मे चीरचीवरविरुद्धः परिचयः**—यही मेरा चीरचीवर के विरुद्ध परिचय है। संसार की भीषणता और संसार की रम्यता को भवभूति ही ऐसी समर्थ पदावली में प्रकट कर सकते हैं—**एते हि हृदयमर्मच्छिदः संसारभावा येभ्यो बीभत्समानाः सन्त्यज्य सर्वान् कामानरण्ये विश्राम्यन्ति मनीषिणः** (ये ही वे हृदय के मर्म को बींधने वाले संसार के भाव हैं, जिनसे जुगुप्सा करके सारी कामनाएँ छोड़ कर मनीषी जन वन में विश्राम पाते हैं।) तथा **''नम इदानीं भगवते संसाराय यस्मिन्नीदृशा अपि कल्पद्रुमाः प्ररोहन्ति।''**

(म० च०, षष्ठ अंक) नमन है संसार-भगवान् को जिसमें ऐसे कल्पद्रुम (महापुरुष) भी उगते हैं। भवभूति की प्रेम की ललक, अंतरंग अनुभूति और प्रेम की सर्वव्यापिता के उनके दर्शन ने उनकी भाषा में अनेक मार्मिक सूक्तियों की सृष्टि की है। जैसे— **स्वरसमयी क्वचित् कस्यचित् प्रतीतिः (मा० मा०) या तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः।** (उत्तररामचरित) या—**इतरेतरानुरागो हि दारकर्मणि परार्घ्यं मङ्गलम्। (मा० मा०);** अथवा—**स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्ष इति विप्रतिषिद्धमेतत्। सर्व-साधारणो ह्येष मनसो मूढग्रन्थिरान्तरश्चेतनावतामुपप्लवः संसारतन्तुः।** (उत्तररामचरित) प्रेम के कई पर्यायों का अलग-अलग संदर्भों में भवभूति ने जितना प्रयोग किया है, उतना संस्कृत के अन्य किसी कवि ने कदाचित् नहीं किया होगा।

सर्वथा नयी पदावली, नये मुहावरे और अभिव्यक्तियों की भी भवभूति ने प्रचुर मात्रा में सृष्टि की है। वर्षा में फूल उठे कदम्ब पर उनकी उक्ति है—

जृम्भाजर्जरडिम्बडम्बरघनश्रीमत्कदम्बद्रुमाः। (मा० मा०, ९/१६)

(जमुहाई ले-लेकर चटकती कलियों के विस्तार वाले लक्ष्मी से लदे हुए कदम्ब के पेड़)। एक अन्य अभिव्यक्ति है—

सारङ्गसङ्गरविधाविभकुम्भकूट
कुट्टाकपाणिकुलिशस्य हरेः प्रमादः॥ (मा० मा०, ६/३२)

(हाथी के मस्तक के शिखरों की कुटाई करने में वज्र के समान हाथ वाला सिंह हरिण से युद्ध में प्रमाद कैसे कर सकता है ?)

कोमलता और कैशोर्य की मसृणता के लिए भवभूति ने क्षीरकण्ठ (जिससे मिलता-जुलता मुहावरा 'दुधमुँहा' हिन्दी में प्रचलित है) शब्द का प्रयोग किया है। राम के लिए कहा है—**त्वया तत्क्षीरकण्ठेन धृतमारण्यकं व्रतम्** (म० च०, ४/५१)। शूर्पणखा की निर्लज्जता बताते हुए फिर कहलाया है—**सा क्षीरकण्ठकं वत्सं वृषस्यन्ती न लज्जिता** (वही, ५/११)। यहाँ 'वृषस्यन्ती' यह मुहावरा भी भाषा की अच्छी पकड़ सूचित करता है। बचपन के लिए भवभूति ने 'पांसुक्रीडन'—यह मुहावरा संस्कृत को दिया है (मा० मा०, चतुर्थांक)। भिक्षा के लिए पिण्डपात वेला (मा० मा०, पृ० ६६), निवासस्थान के लिए सन्त्याय (वही, पृ० ४१), मुखसज्जा के लिए वर्णिकापरिग्रह (वही, पृ० ११) आदि अनेक शब्द भवभूति ने प्रयुक्त किये हैं, जो प्रायः अन्य रचनाकारों में नहीं मिलते। अपने सौंदर्यबोध की ताज़गी के कारण उनकी प्रतिभा सर्वथा अछूते मुहावरे लेकर आती है।

अपनी उर्वर साहित्यिक मेधा, विशिष्ट रंगदृष्टि और नाट्यसृष्टि के कारण भवभूति ने भारतीय साहित्य और रंगमंच की परम्परा पर दूरगामी प्रभाव डाला है। संस्कृत के नाटककारों में मुरारि, राजशेखर आदि ही नहीं, हिन्दी कवियों में तुलसीदास से लगा कर भारतेंदु तक उनके प्रभाव से अछूते नहीं रहे हैं।

छंद—भवभूति ने अनुष्टुप् जैसे लघु कलेवर के छंद का जितनी कुशलता से प्रयोग किया है, उतनी ही सिद्धहस्तता के साथ वे लम्बे छंदों का प्रयोग करते हैं।

भवभूति के छंद:प्रयोग की एक बड़ी विशेषता विषय तथा भाव के अनुरूप छंद का चयन है। किसी विचार या तत्त्व को साररूप में कहने के लिए वे अनुष्टुप् का सधा हुआ प्रयोग करते हैं, तो भावोद्रेक में लंबे छंदों का प्रयोग करके भावों का सम्मर्द रच देते हैं। उनकी शिखरिणी विशेष सराही गयी है। क्षेमेंद्र ने लिखा है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
चकिता घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति॥

रस तथा भाव—भवभूति करुण रस के कवि कहे गये हैं। कहा भी है—कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते। भवभूति स्वयं कंठतः भी करुण या करुणा के शाश्वत सार्वजनीन भाव की साहित्य में सर्वोच्च प्रतिष्ठा स्वीकार करते हुए कहा है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिव श्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो ता सलिलमेव हि तत् समस्तम्॥ (उत्तररामचरित, ३)

(अर्थात् करुणरस ही एकमात्र रस है। निमित्त के भेद से वह अलग-अलग विवर्तों या रूपों का आश्रय लेता रहता है। जिस प्रकार पानी भँवर, बुलबुलों, लहरों आदि के विकारों का आश्रय लेता रहता है, पर वे सब होते वास्तव में पानी ही हैं।) भवभूति ने अपने राम और सीता को करुणा की साकार और सजीव प्रतिमाएँ बना दिया है। सीता के लिए तो करुण की मूर्ति की अमूर्त उपमा देते हुए वे कहते हैं—

करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी।

राम के भीतर भी उन्होंने करुण की प्रतिष्ठा दिखाते हुए कहा है—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो रास्य करुणो रसः॥

राम का करुणरस पुटपाक (रसायन बनाने के लिए सुलगती भट्टी के भीतर रखे सब ओर से बन्द पात्र) की तरह है, जो गभीर—भीतर से गहरा होने के कारण खुल नहीं सकता, और जिसमें भीतर ही भीतर व्यथा का घना ताप पकता रहता है। उत्तररामचरित के तीसरे अंक में भवभूति ने इन्हीं राम की वेदना और व्यथा के अवरुद्ध प्रवाह को उन्मुक्त कर दिया है, उन्होंने अपने नायक को जार-जार रोते हुए चित्रित करके करुणा की अमंद तरंगिणी बहा दी है। राजा के रूप में राम अपनी वेदना भीतर ही भीतर दबाये रहे। उनकी कचोट और अंतस्ताप को भवभूति ने सूक्ष्म मार्मिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पकड़ा और निरूपित किया है। वेदना के उफान और अभिव्यक्ति की प्रक्रिया बताते वे कहते हैं—

पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥ (उत्तररामचरित, ३/२९)

(तालाब जब वर्षा में लबालब भर जाता है, तो परीवाह या निकास के लिए बनाये गये नाले के द्वारा उसका ऊपर बहता जल निकाल देना ही उपचार होता है। इसी तरह शोक और क्षोभ में हृदय प्रलाप करके ही सँभाला जा सकता है।)

अनेक वर्षों के बाद ये ही राम पंचवटी के उस वन में आये हैं, जहाँ सीता के साथ बहुत पहले उन्होंने सुखद समय बिताया था। अयोध्या के बाहर आकर उस वन्य नैसर्गिक परिवेश में उनकी वेदना का अवरुद्ध सोता फूट पड़ता है। मनुष्य की अथाह करुणा का ऐसा चित्रण भारतीय साहित्य में अन्यत्र कम मिलता है। राम कहते हैं—

दलति हृदयं शोकोद्वेगाद् द्विधा तु न भिद्यते।
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
व्यथयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्।
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्॥ (वही, ३/३१)

(शोक के उद्वेग से हृदय फटा जा रहा है, पर दो टुकड़ों में टूट नहीं जाता। विकल काया मूर्च्छित हो रही है, पर चेतना को छोड़ नहीं रही। देह को भीतर ही भीतर दाह जला रहा है, पर भस्मसात् नहीं कर देता। विधाता मर्म को बींधने वाला प्रहार कर रहा है, पर जीवन की डोर काट नहीं देता।)

वेदना की पराकाष्ठा के अनुभव को व्यक्त करने में भवभूति अद्वितीय हैं। इसके लिए वे अचूक प्रभाव उत्पन्न करने वाले बिम्बों या अप्रस्तुत विधानों का उपयोग करते हैं। उनकी पदावली सीधे हृदय से निकली हुई है और वह हमारे अंतर्मन को मथ देती है। एकाकी असहाय राम का यह विलाप कितना हृदयद्रावक है—

हा हा देवी स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः।
शून्यं मन्ये जगदविरतज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ् मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि॥

(हा देवि, हृदय फटा जा रहा है, देह के बंध ध्वस्त हुए जा रहे हैं। संसार को मैं सूना मानता हूँ, भीतर ही भीतर की ज्वाला से जला जा रहा हूँ। तड़पता हुआ मेरा अंतःकरण गहरे अँधियारे में डूबा जा रहा है, चारों ओर से मोह मुझे ढाँपे ले रहा है, मैं अभागा क्या करूँ?)

भवभूति का व्यक्तित्व तथा समाजदृष्टि—पद्मपुर से पद्मावती की अपनी यात्रा में भवभूति ने इस देश के विभिन्न भूभागों को बहुत निकट से देखा होगा। दंडकारण्य के बीहड़ सौंदर्य और विस्तार का अत्यन्त सजीव चित्रण उनके उत्तररामचरित में मिलता है। मालतीमाधव में पद्मावती के आसपास के प्रदेशों पारा (पार्वती नदी), लवणा (लूण नदी) सिंधु नदी, स्वर्ण बिंदु आदि स्थानों का वर्णन है, जो अभी भी विद्यमान हैं। मालतीमाधव नाटक के माध्यम से भवभूति ने अपने जीवन और चरित के परोक्ष रूप से संकेत दिये हैं। जिस प्रकार भवभूति विदर्भ देश के पद्मपुर नगर से पद्मावती आये थे, उसी प्रकार इस नाटक का नायक भी विदर्भ देश से न्याय पढ़ने के लिए पद्मावती आता है।

एक मनस्वी योद्धा पुरुष के रूप में राम की छवि गढ़ने तथा अयोध्या का गढ़ ढहाने की माल्यवान् की योजनाओं और राजनीतिक चालों की विषयवस्तु को रामकथा के रूप में प्रस्तुत करने के पीछे भवभूति की अपनी दृष्टि थी, जिसमें रामकथा की एक

समकालिक व्याख्या भी उन्होंने की तथा उसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य दिया। भवभूति का समय वह समय है जब विदेशी आक्रांताओं से देश बार-बार रौंदा जा रहा है। महावीरचरितम् का आरम्भ ही माल्यवान् के द्वारा अयोध्या को ध्वस्त करवाने की योजना से होता है, वही विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के लिए जाते राम पर आक्रमण कराता है, वही ताड़का और सुबाहु को भेजता है, और शूर्पणखा को मंथरा के वेष में भेज कर राम को वनवास दिलवाता है। महावीरचरितम् नाम अपने आपमें प्रतीकात्मक है। यह एक महावीर का चरित है, जो एक समूचे युग का केंद्रीय चरित्र भी है।

भवभूति की रचनाओं से अनुमान होता है कि वे एक अत्यन्त संवेदनशील, भावुक, स्वाभिमानी और मनस्वी व्यक्ति रहे होंगे। वे कभी किसी राजा के आश्रय में रहे होंगे, ऐसा नहीं लगता। यदि वे राजा के आश्रय में रहे होते, तो उन्हें अपनी नाट्यकृतियों के अभिनय के लिए कालप्रियनाथ के यात्रा महोत्सवों की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती।

इसके साथ ही भवभूति का व्यक्तित्व एक प्रखर मनस्वी तथा अपने युग के आगे देखने और सोचने वाले मनीषी का क्रान्तदर्शी व्यक्तित्व है। उनकी साहसिकता, विद्रोह की प्रवृत्ति और क्रांतिकारी चेतना उनकी तीनों नाट्यकृतियों में व्यक्त हुई है। उत्तररामचरितम् के दूसरे अंक के आरम्भ में भवभूति ने एक तापसी का प्रवेश कराया है, जो उपनिषदों में प्रतिपादित उद्गीथ विद्या (वेदांत) का अध्ययन करने के लिए वाल्मीकि के आश्रम से अगस्त्य के आश्रम में जा रही है। संस्कृत के किसी अन्य नाटक में इस तरह का प्रसंग नहीं मिलेगा, जिसमें एक अकेली लड़की घने जंगल से होकर विद्यार्जन के लिए एक गुरुकुल से दूसरे गुरुकुल चली जाये। भवभूति मीमांसा के अधिकारी विद्वान् हैं। वे उन कथित परम्पराओं से भी परिचित हैं, जो स्त्री और शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं देतीं। फिर भी वे एक स्त्री को वेदान्त का अध्ययन करती हुई चित्रित करते हैं। यही नहीं, उनके मालतीमाधव में तो नायक माधव विदर्भ देश से चल कर आन्वीक्षिकी या न्यायशास्त्र पढ़ने के लिए एक स्त्री (कामंदकी) के पास आता है। आन्वीक्षिकी या न्यायशास्त्र पर पुरुषों का भी अधिकार रहा है। पर भवभूति की परिकल्पना की कामंदकी भूरिवसु और देवरात इन दो मंत्रीपुत्रों के साथ गुरुकुल में न्यायशास्त्र का अध्ययन कर चुकी है।

भवभूति के नारी पात्र विशेषरूप से चुनौती और साहसिकता के प्रतीक हैं। उत्तररामचरित की वासंती एक राजा की यशोलिप्सा पर प्रहार करती हुई राम से सीतानिर्वासन के औचित्य पर प्रश्न करती है। भारतीय पारम्परिक परिवार की एक कन्या अपने माता-पिता को बताये बिना घर से निकल कर अपने प्रेमी से चोरी-छिपे विवाह रचाती है। पुरुषप्रधान समाज में स्त्री की अवमानना और उसको लेकर गहरा अनुताप भवभूति की कृतियों में अत्यन्त मार्मिक रूप में व्यक्त हुआ है। मालतीमाधव में मालती के पिता अमात्य भूरिवसु तथा उत्तररामचरित में राम स्त्री के प्रति हो रहे अन्याय को लेकर पुरुष के हृदय की कचोट और अनुताप के दारुण और गहन अनुभव से

गुजरते हैं। सातवीं-आठवीं शताब्दियों के भारतीय समाज में रह कर वासंती, आत्रेयी, मालती जैसे नारी चरित्रों की सृष्टि करके भवभूति ने अपनी दुराधर्ष प्रश्नाकुलता और साहसिकता का परिचय दिया है।

सामाजिक शक्तियों की द्वंद्वात्मकता भवभूति के तीनों रूपकों में एक अंतर्वस्तु के रूप में गुँथी हुई है। महावीरचरितम् की तो परिकल्पना ही आदि से अंत तक दो पक्षों के द्वंद्व के रूप में की गयी है। इसके लिए भवभूति ने पूरी रामकथा में आमूलचूल परिवर्तन कर नया रूप दे दिया है। रावण के मंत्री माल्यवान् की राजनीतिक चालें पहले अंक से ही प्रारम्भ हो जाती हैं, जहाँ राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के आश्रम की रक्षा के लिए जाते हैं। मालतीमाधव में एक ओर कामुक और विलासी बूढ़ा मंत्री नंदन और उसके कहने पर चलने वाला राजा है, तो दूसरी ओर कामंदकी, देवरात, भूरिवसु तथा मालती और माधव हैं। उत्तररामचरित की जटिल संरचना में व्यक्ति और व्यवस्था, राजा तथा प्रजा, प्रेम और न्याय, मूल्यों और दृष्टियों का टकराव गहराई में पिरोया हुआ है। पुरुषप्रधान समाज में नारी की स्थिति को लेकर इतने संवेग के साथ सहानुभूतिमय चिंता कालिदास, बाणभट्ट और भवभूति जैसे कवियों में ही मिलती है। उत्तररामचरित के पहले अंक का वह दृश्य, जिसमें अपने आपको धिक्कारते हुए उत्कट अपराधबोध के आवेग में राम निद्रानिमग्न सीता के चरण अपने माथे पर रख लेते हैं, स्त्री के प्रति किये जा रहे अन्याय को लेकर पुरुष के गहरे अपराधबोध की भावाकुल अभिव्यक्ति है।

भवभूति मांसभक्षण करने वाले ऋषियों पर व्यंग्यप्रहार करते हैं। मीमांसकों के सुविश्रुत कुल में जन्म लेकर भवभूति धर्मशास्त्र या मीमांसा के विधानों पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। धर्म के नाम पर हो रहे पाखंड और घिनौने आचरण का वे चित्र उकेरते हैं। मालतीमाधव में कपालकुंडला अपने तांत्रिक गुरु अघोरघंट के आदेश पर करालायतन में देवी के आगे बलि चढ़ाने के लिए मालती का अपहरण कर लेती है। भवभूति ने बिना किसी हिचक के अपने नायक माधव के हाथों अघोरघंट का वध करा दिया है, और पुनः मालती का अपहरण करने पर कपालकुंडला को भी दंडित कराया है। कापालिकों की शवसाधना तथा धर्म के आडम्बरबहुल क्रूर रूप के विरुद्ध भवभूति की प्रतिक्रिया यहाँ स्पष्ट है। पुरुष के द्वारा नारी की प्रतारणा को लेकर भवभूति ने मालतीमाधव और उत्तररामचरित में जो पीड़ा व्यक्त की है, वह हृदय के मर्म को बींधने वाली है।

अपने समय की धार्मिक स्थिति तथा धर्म के नाम पर होने वाले आडंबर और पाखंड से भवभूति परिचित हैं। मालतीमाधव में वे अघोरघंट और कपालकुंडला के चरित्रों के माध्यम से धर्म के विकृत रूप का बोध देते हैं और उसका प्रत्याख्यान भी करते हैं।

तीनों रूपकों में भवभूति की चिंता का केंद्र मनुष्य और मनुष्यजाति की भवितव्यता है। महावीरचरित के दूसरे, तीसरे अंकों में माल्यवान् के रावण को लेकर कहे गये वचन पतनशील सांमतीय समाज के विघटन पर बेबाक टिप्पणियाँ प्रस्तुत करते हैं। रावण का परिवार अपने अंतर्विरोधों और पारस्परिक कलह के कारण टूट रहा है,

यह माल्यवान् जानता है, फिर भी वह रावण का साथ देने को विवश है। उसे सबसे अधिक चिंता राम की ओर से आयी चुनौती की है। उसकी सहायिका शूर्पणखा पूछती है—**मानुषमात्रे एतावती चिन्ता ?**—एक मनुष्य को लेकर इतनी चिंता क्यों ? भवभूति के समग्र रचना संसार में इसी प्रश्न का सकारात्मक उत्तर है। रामकथाविषयक अपने दोनों नाटकों में उन्होंने राम को एक मानव के रूप में प्रस्तुत करके मनुष्य के द्वंद्व और प्रेम को गहरी रागात्मकता के साथ व्यक्त किया है।

भवभूति ने संस्कृत नाटक की अनेक रूढियों का पालन नहीं किया। उनके तीनों ही रूपकों में विदूषक नहीं है, जब कि संस्कृतनाटक की परम्परा तथा नाट्यशास्त्र के विधान के अनुसार नाटक और प्रकरण में विदूषक होना चाहिये। इन्हीं परम्पराओं और विधानों के अनुसार नाटक में शृंगार या वीररस की प्रधानता होनी चाहिये, भवभूति के उत्तररामचरित में करुणरस प्रधान है।

जीवन-दर्शन—भवभूति की दुर्लभ विशेषता, जो उन्हें शेष संस्कृत कवियों से विशिष्ट बनाती है, कविता में दर्शन की अभिव्यक्ति कही जा सकती है। उनकी रचना में कविता के अद्वितीय वैभव से शास्त्र स्वयं खिंचता हुआ काव्यविश्व में अपने आपको ढालता हुआ कविता में रूपांतरित और काव्यसंसार को समर्पित हो जाता है। कविता और शास्त्र या दर्शन के समागम की एक अनूठी प्रक्रिया भवभूति की रचना में घटती है। भवभूति मालतीमाधव तथा उत्तररामचरित दोनों में सामाजिक संदर्भों के बीच प्रेम को परिभाषित करते हैं, और प्रेम करते हुए मनुष्य को उसकी स्मृति, चिंतासंतति और अंतर्मन में अनुस्यूत अनुराग के संदर्भ से वे नयी पहचान देते हैं। प्रेम को एक सर्वव्यापी सर्वबीजभूत तत्त्व के रूप में अपनी तीनों रचनाओं में भवभूति ने निरूपित किया है। (**मालतीमाधव,** १/२० तथा ६/१८, **उत्तररामचरित,** १/३९, ५/१७, ६/१२ आदि द्रष्टव्य हैं)। साथ ही, अपने तीनों ही रूपकों में उन्होंने दाम्पत्य को विषय बनाया है। संतति और पारिवारिक सम्बन्धों की व्याख्या भी भारतीय जीवनबोध के बीच भवभूति ने की है (द्रष्टव्य, उत्तररामचरित, ३.७; ६.२२)।

भवभूति दाम्पत्य सम्बन्धों के साहसी चितेरे हैं। नाटकों में अन्य किसी संस्कृत रचनाकार ने दाम्पत्य की अनुभूति का ऐसा अंतरंग चित्रण नहीं किया, जितना भवभूति ने। कालिदास के तीनों ही रूपकों का विषय परकीया रति है, दाम्पत्य सम्बन्धों की कटुता का उल्लेख वहाँ हुआ है।

आस्वाद के नये धरातल तथा रंगमंच—भवभूति ने संस्कृत नाटक के नाट्यानुभव को नया संस्कार दिया है। जीवन सुखदुःखमिश्रित है। भवभूति उत्तररामचरित के पाँचवें अंक में लव के मुख से कहलाते हैं—**मिश्रीकृतक्रमो रसो वर्तते**।—रस के क्रम में परस्पर विरोधी भावों का मिश्रण हो गया है। **सम्भेद, सम्प्लव, व्यतिकर, आवर्त**—ये भवभूति के सौंदर्यशास्त्र के बीज शब्द हैं। उनके पात्र जीवन के दुःख और संघर्ष से गुजर कर अपनी आस्था और प्रेम को परिपुष्ट करते हैं। संसार में रह कर यहाँ के सारे दुःख, संशय, प्रेम और आनन्द का अनुभव करना ही

भवभूति के लिए रस है। रस का स्रोत मनुष्य के भीतर ही है। इसीलिए भवभूति कहते हैं—**रामस्य करुणो रसः।** सीता करुणा की मूर्ति हैं (**उत्तररामचरित,** ३/१,४)।

संस्कृत नाटक तथा उसके रंगमंच की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। संस्कृत नाटकों का अभिनय राजसभा की रंगशाला में चुने हुए रसिकों और पंडितों की मंडली के समक्ष होता रहा है। पर संस्कृत के अनेक नाटककार ऐसे भी हैं, जो राजसभा की रंगशाला से नहीं जुड़े। इन्होंने अपने नाटक उन नाटक मंडलियों को खेलने के लिए दिये, जो मंदिरों या देवालयों के यात्रामहोत्सवों के अवसर पर प्रदर्शन करती थीं। ऐसे यात्रा महोत्सवों में नाटक देखने के लिए बड़ी भीड़ जुटती थी। दूर-दूर से लोग नाटक देखने के लिए आते थे, तथा कई दिनों तक नाटक चलते थे। कालिदास और भवभूति ये दोनों संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। कालिदास के नाटक राजसभा की रंगशाला में खेले गये, तो भवभूति के नाटक मंदिर के यात्रामहोत्सव के अवसर पर खेले गये।

यात्रामहोत्सवों में कई दिनों तक रात-रात भर विविध प्रकार के प्रदर्शन होते थे। अन्य ग्रन्थों में यात्राओं के जो विवरण मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि सारे भारत से—यहाँ तक कि उत्तर के मंदिरों के यात्रा-महोत्सवों में दक्षिण के दूर-दूर के क्षेत्रों से भी नाटकमंडलियाँ अपने नाटक दिखाने आया करती थीं। साथ ही लोक-नाट्य या अन्य कोटियों के नाट्य भी इन उत्सवों में खेले जाते थे, जिन्हें नाट्यशास्त्र की परम्परा में उपरूपक कहा गया है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि भवभूति जैसे नाटककारों की रचनाओं पर लोकनाट्य का प्रभाव पड़ता। भवभूति के तीनों रूपकों में लोकनाट्यपरम्परा का गहरा संस्कार है।

भवभूति के तीनों नाटकों की प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है कि दिशा-दिशा से बहुत सारे लोग नाटक देखने के लिए आये हुए हैं। कालिदास के नाटकों की तरह चुनिंदा रसिकों या पंडितों के लिए भवभूति के नाटक नहीं हैं। कालिदास के नाटकों के प्रयोग के लिए सूक्ष्म अभिव्यंजनाप्रधान शैली अपेक्षित है। भवभूति के नाटकों के प्रयोग के लिए संवादों को ऊँचे स्वर में बोलना और उनके साथ स्थूल आंगिक व्यापार का समायोजन अपेक्षित रहा होगा, क्योंकि सहस्रों लोग उन्हें एकसाथ देखने वाले हैं—इस बात को दृष्टि में रख कर उनकी रचना की गयी होगी। जनसामान्य के लिए रचे होने से भवभूति के नाटकों पर लोकनाट्य की परम्पराओं का गहरा प्रभाव है। **उत्तररामचरित** की प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है—"प्रयोजनवश यह मैं अयोध्या का निवासी और उस (रामायण के) काल का एक पात्र बन गया हूँ।" संस्कृत के अन्य प्रसिद्ध नाटकों में सूत्रधार या कोई अभिनेता अपनी आगे की भूमिका की घोषणा करके रंगमंच पर ही वह भूमिका धारण करता हुआ प्रदर्शित किया जाय ऐसा नहीं होता। यह लोकनाट्य परम्परा की रूढ़ि है। **मालतीमाधव** में भी सूत्रधार और पारिपार्श्विक कामंदकी और अवलोकिता की भूमिका में इसी तरह मंच पर अपनी भूमिकाएँ बता कर उतरते हैं। दो या इससे अधिक पात्र अलग-अलग पात्रों को संबोध्य कोई संवाद एकसाथ बोलें—यह प्रयोग भी भवभूति ने अनेक बार किया है। **उत्तररामचरित** (३/४८) में तमसा सीता के

लिए और वासंती राम के लिए एक ही पद्य एकसाथ बोलती हैं। **मालतीमाधव** (५/३२) में माधव मालती के लिए अघोरघंट कपालकुंडला के लिए एकसाथ ही पद्य कहते हैं। यही नहीं, माधव और अघोरघंट एकसाथ एक ही पद्य एक दूसरे को संबोधित करके भी कहते हैं। **महावीरचरित** के तीसरे अंक में परशुराम के साथ विश्वामित्र, वसिष्ठ और शतानंद की झड़प में भी इस तरह के प्रयोग बार-बार हैं। इस तरह के प्रयोग लोकनाट्य या लीलानाट्य की परम्परा से सम्पर्क के सूचक हैं।

पारम्परिक समीक्षा में भवभूति

संस्कृत-कवि-परम्परा में भवभूति की गणना कालिदास के साथ सर्वश्रेष्ठ महाकवि के रूप में की जाती रही है। एक प्राचीन सुभाषित में तो भवभूति को कालिदास से भी बड़ा महाकवि बता दिया गया है—

कवयः कालिदासाद्या भवभूतिर्महाकविः।

यह भी माना जाता रहा है कि यद्यपि कालिदास वाल्मीकि के बाद की संस्कृत कविता के सिरमौर हैं, पर उत्तररामचरित की रचना करके भवभूति ने उन्हें पीछे छोड़ दिया है—

उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक चित्सुखाचार्य ने अपने **तत्त्वप्रदीप** नामक ग्रंथ में भवभूति को लेकर एक प्रश्न उठाया है। उनका कथन है कि भवभूति अपने समय के इतने महान् आचार्य हैं कि उनका कहा या लिखा हुआ एक-एक वाक्य वेदवाक्य के समान प्रामाणिक है। पर मालतीमाधव आदि नाटकों में उन्होंने जो-जो बातें कही हैं, वे सब तो प्रामाणिक नहीं हैं। ऐसी स्थिति में नाटक लिखने से भवभूति की प्रामाणिकता का खंडन हो जाता है—यह मानना पड़ेगा। इस शंका का समाधान करते हुए चित्सुखाचार्य कहते हैं कि नाटक की रचना करने से एक दार्शनिक या आचार्य के रूप में भवभूति की प्रामाणिकता समाप्त नहीं होती—

आप्तोदीरितवाक्येषु मालतीमाधवादिषु ।
व्यभिचारान्न तद्युक्तमाप्तत्वस्यानिरुक्तितः ॥

न हि पुरा आप्त एव सन् नाटकनाटिकादिप्रबन्धविरचनमात्रेण अनाप्तो भवति भवभूतिः।

राजशेखर ने अपने बालरामायण नाटक की प्रस्तावना में भवभूति को वाल्मीकि का अवतार बताया है। क्षेमेंद्र ने भवभूति की शिखरिणी की लय और प्रवाहात्मकता के लिए सराहना करते हुए लिखा है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
चकिता घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति॥ (सुवृत्ततिलक, ३.३३)

आर्यासप्तशती के प्रणेता गोवर्धनाचार्य ने भवभूति की वाणी को भूधरभू (पर्वतीय भूमि, पार्वती) के समान कहा है, जिसकी करुणा के प्रवाह में पाषाण भी रो उठते हैं—

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

सोड्ढल ने अपनी उदयसुंदरीकथा में भवभूति को सरस्वती के पथ का सार्थवाह बताया है।

मान्यो जगत्यां भवभूतिरेव सारस्वते वर्त्मनि सार्थवाहः।
वाचं पताकामिव यस्य दृष्ट्वा जनः कवीनामनुपृष्ठमेति॥

धनपाल ने अपनी तिलकमंजरी में कहा है—

स्पष्टभावरसा पादन्यासैः प्रवर्तिता।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना॥ (ति० मं० प्रास्ताविकपद्य, ३०)

कुन्तक के अनुसार भवभूति विचित्र मार्ग के कवि हैं। भोज ने उनके उत्तररामचरित के एक पद्य (पुरा यत्र स्रोतः—२/२७) को स्मृति भाव की चरितार्थता तथा अन्य शैलीगत विशेषताओं के लिये बार-बार उद्धृत किया ह। क्षेमेन्द्र ने इसी पद्य को स्थानौचित्य का उदाहरण माना है।

उपसंहार

इस अध्याय में संस्कृत नाटक की लगभग आधी शताब्दी की विकासयात्रा का विवरण दिया गया है। इस अवधि में शूद्रक, विशाखदत्त, भट्टनारायण, श्रीहर्ष जैसे श्रेष्ठ नाटककार हुए और इनके पश्चात् भवभूति ने संस्कृत नाटक को अभूतपूर्व भावगांभीर्य और जीवनदर्शन की उदात्तता से संवलित बनाया।

✤

अध्याय ९

आख्यान, निदर्शना तथा लघुकथा

कथा का उद्‌गम

हमारा देश कथा या कहानी की जन्मभूमि कहा जा सकता है। जिस प्रकार विश्व की सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद की रचना ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व हो चुकी थी, उसी प्रकार वाचिक परम्परा में अनेक लोकप्रिय आख्यानों व कथाओं का भी प्रणयन हमारी परम्परा में किया गया। अश्वमेध यज्ञ में पारिप्लव आख्यान कहे जाते थे। वैदिक काल से ही सूत्रधार या सूत आख्यानों और उपाख्यानों को जन समाज के सम्मुख गा-गाकर या पाठ करके प्रस्तुत करते हुए कथा की प्राचीन धरोहर की रक्षा करते आ रहे थे। प्राचीन साहित्य में चार प्रकार की कथाएँ मिलती हैं—लोककथा, नीतिकथा, पशुकथा तथा मुग्धकथा। यद्यपि लोककथा में भी पशु पात्र होते हैं, पर मुख्य रूप से यह मनोरंजन के लिए कही जाती है तथा पीढ़ी दर पीढ़ी इसका प्रचलन होता है। नीतिकथा मुख्य रूप में कोई नैतिक विचार या संदेश प्रस्तुत करती है। पशुकथा को अंग्रेजी में fable कहा जाता है। इसमें पशुओं को प्रतीकात्मक रूप में मानवचरित्र का प्रतिनिधि बना कर प्रस्तुत किया जाता है। आचार्यों ने इसे निदर्शना कहा है।

जयसिंह नन्दी ने वरांगचरित में कथा के निम्नलिखित ७ तत्त्व बताये हैं—द्रव्य, फल, विषय, क्षेत्र, तीर्थ, काल थथा भाव।

पशुकथाओं का मूल रूप ऋग्वेद में माना जा सकता है। कतिपय सूक्तों में पशुओं को पात्र बना कर घटना या प्रसंग का चित्रण किया गया है। दूसरी ओर आख्यान की परम्परा वैदिक काल से हमारी जातीय विरासत रही है। ब्राह्मण तथा उपनिषद् तो ऐसी कथाओं और आख्यानों के सबसे प्राचीन तथा सबसे समृद्ध संग्रह हैं।

मुग्धकथा भोलेभाले लोगों की कहानी है, जो अपनी सिधाई या मूर्खता के कारण जगहँसाई के पात्र बनते हैं। मुग्धकथा इस संज्ञा का प्रयोग कथासरित्सागर के कर्ता सोमदेव ने सबसे पहले किया है।

गद्य तथा कथासाहित्य के इतिहास में बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ गण्डव्यूहसूत्रम् का विशिष्ट स्थान है। बौद्ध परम्परा में गण्डव्यूह को आगम का स्थान दिया गया है। गण्डव्यूह में बोधिसत्त्व सुधन की लम्बी कथा है। सुधन मञ्जुश्री से उपदेश ग्रहण करके सारे देश में भ्रमण करता है। उसकी भेंट बाग्न मित्रों से होती है, जिनके द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों का रोचक चित्रण इस कथा में किया गया है।

बौद्ध परम्परा में अन्य महत्त्वपूर्ण कथाकृतियाँ हैं—विमलकीर्तिनिर्देश तथा कुमारलातकृत कल्पनामण्डितिका।

बृहत्कथा और उसकी परम्परा

विश्वकथा साहित्य में गुणाढ्य की बृहत्कथा एक अनुपम ग्रंथ है। कदाचित् यही एक अकेला ग्रंथ है, जो लुप्त होकर भी अनेक रूपान्तरों के द्वारा सारे विश्व में फैल गया। बृहत्कथा के रचयिता गुणाढ्य थे। उन्होंने पैशाची प्राकृत में इस ग्रंथ की रचना की। संस्कृत साहित्य की सम्पूर्ण परम्परा पर रामायण और महाभारत के बाद जिस ग्रंथ का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा, वह बृहत्कथा ही है। इसीलिए गुणाढ्य को प्राचीन रचनाकारों ने व्यास और वाल्मीकि के समान वंदनीय माना, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। महाकवि धनपाल ने बृहत्कथा की सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में उपजीव्यता बताते हुए सत्य ही कहा है—

सत्यं बृहत्कथाम्भोधेर्बिन्दुमादाय संस्कृताः।
तेनेतरकथाः कन्थाः प्रतिभान्ति तदग्रतः॥

(तिलकमंजरी, प्रास्ताविकपद्य २१)

गुणाढ्य दक्षिण में गोदावरी के तट पर बसे प्रतिष्ठानपुर में आंध्र-राजा सातवाहन के समकालीन थे। पुराणों के अनुसार सातवाहन का समय ४९५ ई० पू० से ४९० ई० पू० के आसपास है, जबकि आधुनिक विद्वान् सातवाहन तथा शालिवाहन को एक मानकर गुणाढ्य का समय ७८ ई० के आसपास मानते हैं।

बृहत्कथा के रूपान्तरों में भूमिकास्वरूप बृहत्कथा के भूलोक में अवतरण की कथा पौराणिक पद्धति में बतायी गयी है। इसके अनुसार शिव पार्वती को कई दिनों तक एक ऐसी कथा सुनाते रहे, जिसे इसके पहले किसी ने नहीं सुना था। पर इस कथा को शिव का एक गण पुष्पदंत छिप कर सुनता रहा। पार्वती को पता चला, तो उन्होंने पुष्पदंत को शाप दे दिया। उसका पक्ष लेने के लिए उन्होंने दूसरे गण माल्यवान् को भी शाप दिया। उसके अनुसार दोनों मनुष्य योनि में धरती पर अवतरित हुए। पुष्पदंत ने मनुष्ययोनि में पहुँच कर एक शापग्रस्त यक्ष काणभूति को बृहत्कथा सुनायी, और माल्यवान् ने भी गुणाढ्य के रूप में अवतार लिया और सातवाहन राजा की सभा में शर्वशर्मा नामक पंडित से एक शर्त हार जाने के कारण संस्कृत भाषा में बोलना व लिखना बन्द करने का प्रण निभाते हुए काणभूति से यह कथा सुन कर पैशाची भाषा में बृहत्कथा लिखी।

वर्तमान में इसके चार रूपान्तर प्राप्त हैं—बुधस्वामी का बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, प्राकृत भाषा में निबद्ध वसुदेव हिंडी, क्षेमेंद्र की बृहत्कथामंजरी तथा सोमदेव का कथासरित्सागर।

बृहत्कथा के इन रूपान्तरों में नायक नरवाहनदत्त है। वह अपने मित्रों के साथ यात्रा करता हुआ विभिन्न सुंदरियों का प्रीतिपात्र बनता है। लाकोत का अनुमान है कि मूल बृहत्कथा में नरवाहनदत्त ने २८ पत्नियों की प्राप्ति का वृत्तांत सुनाया होगा, पर बृहत्कथाश्लोकसंग्रह छठी पत्नी की प्राप्ति के वृत्त तक ही सीमित है।

बृहत्कथाश्लोकसंग्रह

१८९३ ई० में हरप्रसाद शास्त्री को बुधस्वामीकृत बृहत्कथाश्लोकसंग्रह का पता चला। इसके पूर्व तक यही समझा जाता रहा कि कश्मीर में निर्मित रूपान्तर ही सर्वप्राचीन तथा प्रामाणिक हैं, और वे सीधे बृहत्कथा से किये गये हैं। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह अपूर्ण है तथा ४५३९ श्लोकों में २८ सर्गों तक मिलता है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह बृहत्कथा का संक्षिप्त रूपान्तर है। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह की खोज से बृहत्कथा की दो परम्पराएँ सामने आ गयी हैं—एक परम्परा मूलकथा के केन्द्र में रख कर चलती है, दूसरी में अवांतरकथाओं के समायोजन पर अधिक बल है। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह में मूलकथा सुस्पष्टया केन्द्र में रखी गयी है। इसमें गुणाढ्यविषयक आरम्भिक कथा ही नहीं है, न गुणाढ्य की कोई चर्चा बुधस्वामी ने की है। उदयनकथा तथा पंचतंत्र की कथाएँ भी इसमें नहीं हैं। कथा के मूल स्वरूप की रक्षा करते हुए बुधस्वामी ने उसे रोचक व प्रवाहपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया है।

लाकोत ने बुधस्वामी का समय छठी-सातवीं शताब्दी के लगभग माना है। वासुदेवशरण अग्रवाल इसे गुप्तकाव्य की कृति मानते हैं। आर्यशूर की जातकमाला का इस पर प्रभाव है, अत: आर्यशूर के कुछ समय पश्चात् बुधस्वामी हुए, यह मानना भी उचित है।

वसुदेवहिंडी

संघदास गणि ने प्राकृत में बृहत्कथा का यह रूपान्तर ५०० ई० के आसपास तैयार किया। इस पर बुधस्वामी के बृहत्कथाश्लोकसंग्रह का प्रभाव है। बृहत्कथा के मूल पात्रों के स्थान पर इसमें पात्रों के नाम भिन्न हैं, कथानायक नरवाहनदत्त नहीं, वरन् श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव हैं। और उनके २९ विवाहों की कथा २९ लंभकों में ही इसमें प्रस्तुत की गयी है। प्रद्युम्न के प्रश्न करने पर वसुदेव अपने विवाहों की कथा सुनाते हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वसुदेवहिंडी मूल बृहत्कथा के अधिक निकट हैं, तथा बृहत्कथा के मूल रूप को खोजने में सहायक हो सकता है।

धर्मदास गणि ने वसुदेवहिंडी के ही नाम से इस ग्रंथ की पूर्ति की, जिससे यह १०० लंभकों का हो गया तथा इसमें वसुदेव के सौ विवाहों की कथाएँ पूरी हो गयीं।

बृहत्कथामंजरी

क्षेमेंद्र की बृहत्कथामंजरी में अठारह लंभक तथा ७५०० श्लोक हैं। अठारह लंभकों के नाम इस प्रकार हैं—कथापीठ, कथामुख, लावाणक, नरवाहनजन्म, चतुर्दारिका, सूर्यप्रभ, मदनमंचुका, वेला, शशांकवती, विषमशील, मदिरावती, पद्मावती, पंच, रत्नप्रभा, अलंकारवती, शक्तियशा, महाभिषेक तथा सुरतमंजरी। विषयानुसार इन लंभकों को गुच्छों में भी विभक्त किया गया है। अंत में उपसंहार में ४१ पद्यों में ग्रंथ की सूची, लंभकों की सूची तथा ग्रंथरचना के प्रयोजन का प्रतिपादन है। संक्षेप तथा सुबोध रूप में प्रस्तुति इसके विशेष गुण हैं। कहीं-कहीं कथा को इतना संक्षिप्त कर दिया गया है कि उसकी रोचकता समाप्त हो गयी है। कथानक में कलिंग की राजकुमारी

मदनमंचुका नरवाहनदत्त की पटरानी बनती है। इसके पूर्व नरवाहनदत्त अनेक प्रतिस्पर्धियों को परास्त करता है और अनेक विवाह करता है।

कथासरित्सागर

सोमदेव का कथासरित्सागर बृहत्कथा के प्राप्त रूपान्तरों में सर्वाधिक विशाल, सर्वाधिक रोचक और सर्वांगपूर्ण है। इसकी रचना कश्मीर के राजा अनंत की रानी सूर्यवती के मनोरंजन के लिए १०६३ ई० से १०८२ ई० के बीच की गयी। इसके कुछ ही वर्ष पूर्व क्षेमेंद्र ने बृहत्कथामंजरी की रचना की थी, पर सोमदेव क्षेमेंद्र की रचना से परिचित प्रतीत नहीं होते।

बृहत्कथामंजरी के ही समान कथासरित्सागर भी १८ लंभकों में विभाजित है, पर सोमदेव ने इन लंभकों को कुल १२४ तरंगों में भी बाँटा है। कुल मिलाकर २१३८८ श्लोकों के इस बृहत्काय कथासंग्रह में ७६१ श्लोक बड़े छन्दों में हैं, और शेष पद्य सरस प्रसादगुणसम्पन्न अनुष्टुप् में हैं। कथा का क्रम बृहत्कथामंजरी से कुछ भिन्न है। पद्मावती और विषमशील नामक लंभकों को अंत में रखा गया है। सोमदेव ने कथाओं के प्रस्तुतीकरण में कल्पनाशीलता का परिचय भी दिया है। उनकी कथाकथन की शैली अधिक आकर्षक, काव्यात्मक तथा मनोहर है। ऐसा प्रतीत होता है कि कश्मीर की उस समय की राजनैतिक उथलपुथल, जिसका परिचय कल्हण की राजतरंगिणी से मिलता है, सोमदेव की कथाओं में धूर्तता, प्रवंचना, मारकाट आदि के यथार्थ चित्रण में प्रतिफलित हुई है। इसमें ३५० के लगभग अवांतर कथाएँ हैं। इनमें धूर्तों, जुआरियों की भी कथाएँ हैं और महावीरों, महापुरुषों की कथाएँ भी हैं। पतिव्रताओं की कथाएँ भी हैं और पुंश्चलियों, की भी; मूर्खों की कथाएँ भी हैं और अत्यन्त चतुर लोगों की भी। वेतालपंचविंशति तथा पंचतंत्र के कथाचक्र भी सोमदेव की रचना में सम्मिलित कर लिये गये हैं। कथाओं की विविधता, उनमें चित्रित जीवन का बृहत् फलक और समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधित्व के कारण कथासरित्सागर भारतीय संस्कृति का विश्वकोश भी बन गया है।

बुधस्वामी, क्षेमेंद्र तथा सोमदेव के द्वारा निर्मित बृहत्कथा के रूपान्तरों में पर्याप्त भेद है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि बृहत्कथा को गाँव-गाँव में जन समाज के बीच वाचिक रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा होगा, और इन तीनों ने उसे सुन-सुन कर यथासंस्कार संस्कृत भाषा में निबद्ध किया।

पंचतंत्र

विंटरनित्स का कथन है कि संसार में अन्य किसी जाति के पास कदाचित् इतना समृद्ध कथासाहित्य नहीं है जितना भारतीयों के पास। यही नहीं, विश्व में अन्य देशों में भी कहानी की परम्परा भारत से ही गयी है। पंचतंत्र पशुकथाओं की परम्परा का सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रंथ है। काव्यशास्त्र में इसकी विधा निदर्शना बतायी गयी है। आधुनिक आलोचक इसे नीतिकथा की विधा में रखते हैं।

मैक्डॉनल ने सत्य ही कहा है कि भारतीय कथा परम्परा में पंचतंत्र सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में ईरान के बादशाह अनुशेरवाँ (५३१-७९ ई०) के आदेश से इसका अनुवाद पेहलवी भाषा में किया गया। ५७० ई० में सीरियाई भाषा में इसका अनुवाद हुआ। इससे सिद्ध होता है कि पाँचवीं शताब्दी तक पंचतंत्र अपने वर्तमान रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। पंचतंत्र के सबसे प्राचीन संस्करण में कौटिल्य के अर्थशास्त्र को उद्धत किया गया है, अत: इसके रचनाकाल की पूर्वसीमा तीसरी शताब्दी ई० पू० कही जा सकती है। हर्तेल पंचतंत्र के प्राचीनतम संस्करण का रचनाकाल दूसरी शती ई० पू० मानते हैं। विंटरनित्स ने पंचतंत्र के वर्तमान स्वरूप का निर्माण-काल ३००-४०० ई० के आसपास माना है, पर वे यह भी स्वीकार करते हैं कि अपने मूल रूप में यह ग्रंथ इसके पहले अस्तित्व में आ चुका था।

नाम—मैक्डॉनल का मत है कि पंचतंत्र का मूल नाम इसके मित्रभेद शीर्षक प्रथम खंड के दो पात्रों करटक और दमनक के नाम पर रहा होगा। उनके इस अनुमान का आधार पंचतंत्र के सीरियाई अनुवाद का शीर्षक है, जिसका नाम कलिलग-दमनग की कथा रखा गया है। पंचतंत्र के अरबी अनुवाद का शीर्षक भी कलिलग दमनग के नाम पर है। हर्तेल इस अनुमान को निस्सार मानते हुए ग्रंथ का मूल नाम पंचतंत्र ही स्वीकार करते हैं। पंचतंत्र के प्राचीनतम संस्करण का नाम तंत्राख्यायिका था।

संस्करण—पंचतंत्र विभिन्न संस्करणों में देश के अलग-अलग भागों में प्रचलित रहा। इसके संस्करणभेद के पीछे इसकी लोकप्रियता भी एक प्रमुख कारण रही है। इसके निम्नलिखित मुख्य संस्करण प्राचीनकाल में थे—(१) तंत्राख्यायिका—यह भी प्राचीन तथा नवीन दो रूपों में प्रचलित रहा। पंचतंत्र के सभी संस्करणों में यह सर्वाधिक प्रामाणिक है। (२) छठी शताब्दी में पहलवी अनुवाद का आधारभूत संस्करण यही है। (३) कश्मीरी संस्करण, जिसका समावेश बाद में गुणाढ्यकृत बृहत्कथा की परम्परा में किया गया। (४) दक्षिणी संस्करण—यह मूल पंचतंत्र के अधिक निकट है, तथा उसका संक्षिप्त रूप है। (५) नेपाली संस्करण—यह दक्षिणी संस्करण पर आधारित है।

पंचतंत्र अनेक संस्करणों या वाचनाओं में विकसित होता रहा। इनमें सर्वप्रथम तंत्राख्यायिका है, जिसका रचनाकाल ३०० ई० के आसपास माना गया है। दूसरी वाचना सरल पंचतंत्र रूप में किसी जैन विद्वान् के द्वारा निर्मित है। इसी का प्रसार सर्वाधिक हुआ। पंचाख्यानक नाम से पंचतंत्र का एक संस्करण जैन साधु पूर्णभद्र ने ११९९ ई० में तैयार किया। पंचतंत्र की पूर्व वाचना के अधिक परिष्कृत या अलंकृत रूप में प्रस्तुत करने के कारण इस वाचना को अलंकृत वाचना भी कहा गया है। पद्योद्धार नाम से इसी का एक संक्षिप्त संस्करण १६६० ई० में जैन साधु मेघविजय ने निर्मित किया। पंचतंत्र की एक वाचना दाक्षिणात्य संस्करण के रूप में मिलती है, जिसमें कतिपय कथाएँ तमिल स्रोतों से लेकर जोड़ी गयी हैं। इसके भी पाँच अलग-अलग संस्करण हुए हैं, जिनमें मूल ग्रंथ के कलेवर में वृद्धि होती गयी है। इनके अतिरिक्त नेपाली पंचतंत्र, उत्तरपश्चिमी पंचतंत्र तथा पहलवी संस्करण के रूप में पंचतंत्र मिलता है।

कर्ता—पंचतंत्र का कर्ता कौन है, यह प्रश्न भी उतना ही अनिर्णीत है जितना इसका रचनाकाल। स्वयं पंचतंत्र में जो प्रस्तावना है, उसमें इस ग्रंथ का रचनाकार विष्णुशर्मा नामक ब्राह्मण को बताया गया है, जिन्होंने दक्षिण के महिलारौप्य नगर के राजा अमरशक्ति के पुत्रों को नीति सिखाने के लिए पृथिवी पर जितने प्रकार के अर्थशास्त्र हैं, उन सबका सार बताने के लिए पंचतंत्र की कथाएँ राजकुमारों को सुनायीं। कुछ विद्वान् चंद्रगुप्त मौर्य के गुरु तथा मंत्री चाणक्य को इसका प्रणेता मानते हैं, क्योंकि चाणक्य का एक नाम विष्णुगुप्त था। पंचतंत्र में अर्थशास्त्र प्रणेता चाणक्य की मनु आदि के साथ प्राचीन महापुरुष के रूप में वंदना की गयी है, अत: अर्थशास्त्रकार चाणक्य पंचतंत्र के कर्ता नहीं हो सकते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस रचनाकार ने पंचतंत्र को वर्तमान स्वरूप प्रदान किया, वह एक दृष्टिसंपन्न तथा प्रतिभाशाली कवि, शास्त्रवेत्ता और मेधावी था। अपने समय की साहित्यिक शैली और रचनात्मक प्रवृत्ति से वह सुपरिचित है। वह व्यास के समान एक मेधावी संहिताकार है।

स्रोत—पंचतंत्र की कथाओं के मूल स्रोत लोकपरम्परा तथा इतिहास-पुराणों में खोजे जा सकते हैं। द्वितीय खंड मित्रप्राप्ति की परिकल्पना तो महाभारत के उद्योगपर्व के चौंसठवें सर्ग की एक कथा पर आधारित लगती है। तृतीय खंड काकोलूकीयम् की प्रेरणा भी महाभारत का वह प्रसंग कहा जा सकता है, जिसमें अश्वत्थामा एक उलूक को कौवों पर रात को आक्रमण करता देखता है।

विधा—काव्यशास्त्र के आचार्यों ने पंचतंत्र को निदर्शना नामक विधा के अन्तर्गत रखा है। निदर्शना ऐसी लघु कथाओं का संग्रह है, जिसमें मनुष्य जगत् के व्यवहार या सत्य के ज्ञान के लिए पशुकथाओं और पशु-प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि पंचतंत्र में अनेक कथाएँ ऐसी भी हैं, जो सीधे-सीधे मानव समाज को ही प्रस्तुत करती हैं।

विषयवस्तु—ग्रंथ के आरम्भ में देवस्तुति के पश्चात् मनु, वाचस्पति, शुक्र, पाराशर, व्यास, चाणक्य की वंदना की गयी है। पंचतंत्र में मित्रभेद—मित्रप्राप्ति, संधिविग्रह, लब्धप्रणाश तथा अपरीक्षितकारक—ये पाँच खण्ड हैं, जिनमें क्रमश: १२, ६, १६, ११, तथा १४ कथाएँ हैं। मूलकथाओं को जोड़कर कुल ७५ कथाएँ पाँचों खंडों में संग्रहीत हैं। ये कथाएँ प्रत्येक खंड की मूल कथा के अन्तर्गत आती हैं। कथाओं के बीच में नीतिपरक पद्य बार-बार आते हैं। कुल ११०० पद्य पंचतंत्र में प्राप्त होते हैं। कथाकथन की शैली अत्यन्त आकर्षक है। एक कथा के भीतर से ही दूसरी कथा के सूत्र निकल आते हैं। प्रत्येक कथा के आरम्भ के लिए भूमिका एक पद्य के द्वारा बनायी जाती है। पंचतंत्र की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता पशुपात्रों के माध्यम से मानवस्वभाव व मानवजगत् का यथार्थचित्रण है। पशुपात्रों को विभिन्न मनुष्यों के प्रतीक के रूप में इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि कहानियों में व्यंग्य, विडम्बना और विसंगति के साथ-साथ हास्य और नीति के तत्त्व अंतर्गुंफित होते चले गये हैं। लोकव्यवहार का ज्ञान प्रदान करने के लिए पंचतंत्रकार ने मनुष्य जगत् से भी विभिन्न

वर्गों के पात्रों का यथातथ्य चित्रण किया है। प्रत्येक कथा रमणीय रूप में एक जीवन संदेश ले कर आती है।

पंचतंत्र की कहानियाँ हमारे जीवन और दैनिंदिन संसार के इतनी निकट हैं कि वे सारे विश्व में सदैव प्रासंगिक बनी रही हैं। मित्रभेद तथा काकोलूकीयम् में राजनीति के जिस प्रपंच को उघाड़ा गया है, वह आज के संसार में भी उतना यथार्थ है। सत्ता हथियाने के लिए मंत्री या अधिकारी किस प्रकार राजा को और सामान्य जनों को मूर्ख बनाते रहते हैं-यह इसमें बहुत रोचक ढंग से चित्रित किया गया है। पिंगलक सचिवायत्तसिद्धि राजा का प्रतीक है। भीरुता तथा आत्मविश्वास की कमी के कारण एक बैल संजीवक के वन में आ जाने से ही उसे अपनी सत्ता खतरे में पड़ी दिखती है, और उसके सचिव करटक और दमनक उसकी दुर्बलता का लाभ उठा कर उसे उल्टी-सीधी बातों से और भी डराते रहते हैं। इसी प्रकार काकोलूकीयम् नामक दूसरा खंड भी सत्ता और राजनीति के दावपेंच और स्वार्थ के संघर्ष की सच्चाई प्रस्तुत करता है। शेष तीन खंडों—मित्रप्राप्ति, लब्धप्रणाश तथा अपरीक्षितकारक की कथाएँ अपेक्षाकृत अधिक आदर्शपरक और प्रेरणाप्रद हैं। अनेक कहानियाँ पशु तथा मनुष्य को आमने-सामने प्रस्तुत करती हैं, या पशु के माध्यम से मनुष्य के व्यवहार को वे अत्यन्त व्यंग्यपूर्ण रूप में और गहरी संवेदनशीलता के साथ भी प्रस्तुत करती हैं। अपरीक्षितकारक की छठी कथा में एक गधा ककड़ी के खेत में चोरी से चर कर पेट भर जाने पर राग अलापना चाहता है, और उसका साथी सियार जब उसे रेंकने से मना करता है, तो वह सियार को स्वर, राग, तान, मूर्च्छना की बारीकियाँ समझाने लगता है और फिर अपना राग अलाप ही देता है। परिणाम यह होता है कि खेत का स्वामी वहाँ आकर उसकी जम कर पिटाई कर देता है। लब्धप्रणाश की दूसरी कथा में हम एक गधे को सियार के द्वारा फुसलाया जाता और कामशास्त्र तथा नारी के महत्त्व पर प्रवचन देता हुआ देखते हैं। अंततः गर्दभी के अभिसार के लालच में वह सिंह के द्वारा मारा जाता है। मगर के द्वारा अपने अंतरंग मित्र बंदर को ही अपनी स्त्री मकरी के कहने में आकर हत्या के लिए ले आने वाली कथा में बंदर का कलेजा न लाने से रूठी मकरी जब मगर पर विप्रलब्धा और खंडिता नायिकाओं की भाँति परस्त्री सम्बन्ध का आरोप लगाती हुई उस प्रकार के पद्य बोलने लगती है, जो शृंगार रस के काव्य में नायिका अन्य स्त्री से सम्पर्क रखने वाले अपने प्रिय से कहती है, तो सारी कथा बड़े रोचक अभिप्राय ग्रहण कर लेती है। अनेक कहानियाँ अत्यन्त मार्मिक रूप में मनुष्य के अदम्य साहस और आत्मविश्वास के साथ संघर्ष और जिजीविषा का प्रेरणाप्रद रूप भी सामने रखती हैं। एक अदनी-सी टिटहरी के अंडे समुद्र अहंकार में भर कर बहा देता है, तो वह टिटहरी किस प्रकार अपने साहस और बुद्धिमत्ता से समुद्र को भी झुका देती है,यह कथा इसका उदाहरण है। एक पक्षी की कथा में ईश्वर (विष्णु) का अवतरण तथा सभी पक्षियों का एकत्र होकर गरुड़ के पास जाने की घटनाएँ आज की स्थितियों में हृदयावर्जक तथा लोकतंत्र की शक्ति में विश्वास जगाने वाली हैं। इसी प्रकार एक चिड़िया कठफोड़वे,

मधुमक्खी और मेंढक की सहायता से एक मदांध और आततायी हाथी का किस प्रकार अंत करती है, यह कथा भी सताये हुए साधारण जनों के लिए प्रेरक है।

वास्तव में पंचतंत्र की कहानियाँ हमारी कथा की पारम्परिक समृद्ध धरोहर को प्रकट करती हैं, जो युगों से मानव समाज के लिए प्रकाश देती आयी हैं और ये ऐसी कहानियाँ हैं, जिन्हें पीढ़ी दर पीढ़ी पुरखों ने आने वाली संतानों को दुर्लभ और चिरंतन विरासत के रूप में सौंपा है। मानव स्वभाव के अंतर्विरोधों के चित्रण, कथानक की कुशल संघटना और विन्यास के कारण भी पंचतंत्र की कथाएँ विश्व साहित्य में अप्रतिम ही हैं। प्रत्येक कहानी में एक केन्द्रीय विचार है, जिसे दो पात्रों के बीच बहस का अंग भी बनाया गया है। दो पात्रों की बातचीत में जिस तरह एक कथा के भीतर से दूसरी और दूसरी के भीतर से तीसरी कथा खुलती जाती है, यह पद्धति भी पंचतंत्र की विशिष्ट पद्धति है। वास्तव में कहानी की संभावना और शक्ति तथा उसके माध्यम से मनुष्य की गरिमा और उदात्तता को प्रस्तुत करने की दृष्टि से पंचतंत्र की कहानियाँ आज भी उतनी ही अर्थवत्ता रखती हैं।

अपनी दुर्लभ विशेषताओं के कारण पंचतंत्र वास्तव में विश्वसाहित्य की अमूल्य निधि बन गया है। यह विश्व में कथा साहित्य का प्रेरणास्रोत रहा है। प्राचीनकाल से आज तक इसके अनुवाद विश्व की अनेक भाषाओं में निरन्तर होते आये हैं। हर्तेल ने ५० विभिन्न भाषाओं में २०० से अधिक अनुवादों तथा रूपान्तरों की सूची प्रस्तुत की है।

हितोपदेश

हितोपदेश की रचना नारायण पंडित ने की। ये बंगाल के राजा धवलचंद्र के आश्रय में रहे थे। इसका मूल आधार पंचतंत्र है। पंचतंत्र के अतिरिक्त अन्य अनेक स्रोतों से भी नारायण ने शिक्षाप्रद कथाओं का चयन करके उन्हें अपने ग्रंथ में समाहित किया। हितोपदेश की प्राचीनतम पांडुलिपि १३७३ ई० की है। रुद्रभट्ट (११वीं शताब्दी) का एक पद्य हितोपदेश में उद्धृत है। अत: माना जा सकता है कि इसकी रचना यह ११वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी के बीच हुई।

पंचतंत्र के ही समान ग्रंथ के आरम्भ की भूमिका में बताया गया है कि इस ग्रंथ की रचना पाटलिपुत्र के राजा धवलचंद्र के पुत्रों को संस्कारित करने के लिए की गयी।

पंचतंत्र के पाँच खंडों के स्थान पर हितोपदेश में चार भाग हैं—मित्रलाभ, मित्रभेद, विग्रह तथा संधि। पंचतंत्र की तुलना में १७ कहानियाँ सर्वथा नयी हैं, तथा संधि और विग्रह की कथाओं को भी नया रूप दिया गया है। विग्रह के अंतर्गत सातवीं कथा वीरवर नामक स्वामीभक्त सेवक की है, जो अपने स्वामी के कल्याण के लिए पहले अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य को और फिर अपने आपको भी बलि चढ़ा देता है। यह कथा वास्तव में वैतालपंचविंशति में मिलती है। इसी प्रकार द्वितीय भाग की छठी कथा शुकसप्तति की परम्परा की है। पंचतंत्र की अपेक्षा हितोपदेश में उपदेशपरायणता अधिक है, तथा विभिन्न स्रोत से नीति के पद्य भी अधिक संख्या में नारायण पंडित ने संकलित किये हैं। पंचतंत्र की तुलना में इसकी भाषाशैली सरल और

प्रासादिक है। कई शताब्दियों से यह ग्रंथ संस्कृत सीखने के लिए एक उत्तम पाठ्यपुस्तक के रूप में भी उपादेय रहा है।

गद्यकथाकोश

यह प्रभाचंद्र तथा जिनभद्र के द्वारा बारहवीं शताब्दीं में निर्मित किया गया। इसमें जैन परम्परा से जुड़ी ८९ कथाओं काव्यात्मक प्रस्तुति है।

वेतालपंचविंशति

वेतालपंचविंशति भारतीय कथापरम्परा में गुणाढ्य की बृहत्कथा के पश्चात् सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। बृहत्कथा तथा पंचतंत्र की भाँति यह कई संस्करणों में विकसित हुई है। वेतालपचीसी के नाम से इसके प्राचीन काल से ही भारतीय भाषाओं में रूपान्तर भी होते रहे हैं। इसका प्राचीन स्वरूप बृहत्कथा के काश्मीरी संस्कृत रूपान्तरों—बृहत्कथामञ्जरी तथा कथासरित्सागर में प्राप्त होता है।

वेतालपचीसी का एक संस्करण शिवदास द्वारा १५वीं शताब्दी में निर्मित किया गया। कुछ विद्वानों ने इसका समय १२०० ई० के आसपास माना है। शिवदास का संस्करण गद्यपद्यात्मक है। इसका एक अन्य संस्करण जंभलदत्त ने तैयार किया। यह पूर्णतः गद्य में है। दूसरा संस्करण जो अपेक्षाकृत अधिक संक्षिप्त है, वल्लभदेव के द्वारा तैयार किया गया। भारतीय भाषाओं में सर्वाधिक रूपान्तर इसी संस्करण के आधार पर निर्मित हुए। मंगोल भाषा में भी वेतालपंचविंशति का रूपान्तर मिलता है।

वेतालपंचविंशति हमारी कथापरम्परा में सबसे रोचक कथाओं का संकलन कहा जा सकता है। प्रत्येक कहानी में एक जटिल गुत्थी या समस्या प्रस्तुत होती है, जिसका उत्तर देना सरल नहीं है। वस्तुतः इस तरह की गुत्थी जिस रूप में उभरती है, वह मनुष्य जीवन की जटिलता और सच्चाई को उघाड़ कर रख देती है। उसका समाधान भी सर्वथा अप्रत्याशित रूप में सामने आता है। कहानियों में बुद्धितत्त्व तथा विमर्श का ऐसा रचनात्मक व सटीक उपयोग अभूतपूर्व ही है। वेतालपंचविंशति के सभी संस्करणों में भूमिका स्वरूप एक कथा मिलती है। राजा विक्रमादित्य के पास प्रतिवर्ष एक भिक्षु आता है, एक फल पहुँचाता है, जिसमें रत्न छिपा रहता है। एक बार राजा भिक्षु के कहने पर उसकी साधना के लिए श्मशान से एक शव लाने को तैयार हो जाता है। जब वह शव को कंधे पर लाद कर चलता है, तो शव में स्थित वेताल उसका उपहास करता हुआ एक कथा सुनाता है। कथा का अंत एक गंभीर और जटिल समस्या से होता है। वेताल उस समस्या का राजा से समाधान पूछता है। भिक्षु की शर्त के अनुसार राजा को मार्ग में बोलना नहीं है, पर राजा अपने को रोक नहीं पाता, और कहानी की समस्या का समाधान बता देता है। राजा के बोलते ही शव पुनः उसी वृक्ष पर जा लटकता है, जिससे राजा ने उसे उतारा था। ऐसा चौबीस बार होता है, और वेताल चौबीस कहानियाँ राजा को सुनाता है। पच्चीसवीं कहानी की समस्या इतनी जटिल है कि राजा सोच में पड़ जाता है। तब वेताल उसे बताता है कि भिक्षु उसके साथ धोखा कर रहा है,

और राजा की ही बलि चढ़ा कर सम्राट् होना चाहता है। वह राजा को अपनी रक्षा का उपाय भी बताता है, जिसके अनुसार राजा पाखंडी भिक्षु को समाप्त कर देता है।

प्रत्येक कहानी में जो समस्या उठायी गयी है, उसमें जीवन के गंभीर प्रश्नों का रोचक ढंग से हल सामने आता है। एक सुंदर कन्या को चाहने वाले तीन युवक उससे विवाह के लिए एकसाथ आ गये हैं। अब पिता के सामने समस्या है कि वह उनमें से किसे चुने और शेष दो को कैसे टाले? इसी समय कन्या की सर्प के काटने से मृत्यु हो जाती है। तब उन तीन युवकों में से एक दुखी होकर उसके साथ चिता पर जल जाता है, दूसरा श्मशान के पास कुटिया बना कर रहने लगता है, और तीसरा संन्यासी होकर निकल जाता है। कुछ समय बाद यह तीसरा प्रेमी ऐसा मंत्र सीख कर आता है जिससे मृत व्यक्ति को जीवित कर दे। वह कन्या को भी जिला देता है, और उसके साथ चिता पर जल कर मर जाने वाले प्रेमी को भी। अब पिता के सामने फिर वही समस्या आती है कि वह तीनों में से किसके साथ अपनी लड़की का विवाह करे। वेताल के पूछने पर विक्रमादित्य इस समस्या का समाधान यह बताता है—श्मशान में कुटी बना कर रहने वाला युवक ही उस कन्या का सच्चा प्रेमी है, और वही उसका पति हो सकता है, क्योंकि उसे फिर से जिलाने वाला युवक तो कन्या के लिए पिता के समान हो गया और उसके साथ जी कर उठने वाला युवक उसके लिए भाई के समान हुआ।

वेतालपंचविंशति की कहानियों की एक बड़ी विशेषता उनमें निहित मूल्यबोध, मनुष्य की गरिमा के प्रति सजगता और समाजचेतना है। एक कहानी में ऐसी समस्या उठायी गयी है, जिसके समाधान में एक चोर भी महान् व्यक्ति सिद्ध होता है। विवाह की पहली रात को ही नवविवाहिता वधू पति को बताती है कि वह पड़ोस के एक युवक से प्रेम करती है, और उसने उस युवक को वचन दिया है कि वह विवाह की पहली रात को उसके पास आयेगी। पति अपनी स्त्री के द्वारा दिये गये वचन की पूर्ति के लिए उसे उसके प्रेमी के पास भेज देता है। मार्ग में उस युवती को एक चोर पकड़ लेता है। युवती जब उसे अपनी परिस्थिति बताती है, तो वह उसे इस शर्त पर छोड़ता है कि प्रेमी से मिलने के पश्चात् वह उसके पास आयेगी। युवती चोर को भी वचन देती है। युवती का प्रेमी उसके पति की उदारता से अभिभूत होकर उसे बिना छुए पति के पास लौटा देता है। युवती अपने वचन की रक्षा के लिए चोर के पास आती है, पर चोर का भी मन बदल जाता है, और वह उस युवती की मर्यादा और शील की रक्षा करते हुए उसे उसके पति के पास जाने देता है। अब समस्या यह है कि उस युवती के पति, प्रेमी और चोर में कौन बड़ा है? विक्रमादित्य के उत्तर के अनुसार चोर इन तीनों में अधिक बड़ा है, क्योंकि शेष दो के लिए उस स्त्री की मर्यादा की रक्षा इतना कठिन नहीं था, एक चोर के लिए स्वयं आयी हुई निधि को छोड़ देना अधिक कठिन है। वेतालपंचविंशति की कहानियों के पात्र प्राय: असाधारण परिस्थितियों के शिकार होते हैं। पर जो प्रश्न या समस्याएँ इन कहानियों से उठती हैं, वे प्रत्येक युग में प्रासंगिक तथा विचारणीय हैं। एक राजा चिरायु होने के लिए एक अत्यन्त दरिद्र परिवार के

बालक को बलि देने के लिए खरीदता है। बलि चढ़ाये जाते समय बालक रोने के स्थान पर खिलखिला पड़ता है। प्रश्न उठता है कि बालक क्यों हँसा? इसी प्रकार एक स्त्री का पति और उसका मित्र स्वयं को देवी के आगे बलि के रूप में अर्पित करते हुए अपने-अपने मस्तक काट देते हैं, देवी प्रसन्न होकर उन्हें जिला देती है, पर स्त्री की भूल से एक का मस्तक दूसरे के धड़ में जुड़ जाता है। अब प्रश्न उठता है कि दोनों में उस स्त्री का पति कौन है, जिसके धड़ से पति का मस्तक जुड़ गया है वह व्यक्ति या पति के धड़ से जिसका मस्तक जुड़ गया वह उसका मित्र?

भाषा की दृष्टि से वेतालपंचविंशति संस्कृत के अत्यन्त प्रांजल और परिष्कृत किंतु सहज और सुबोध गद्य का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

सिंहासनद्वात्रिंशिका

यह राजा विक्रमादित्य के गुणों पर प्रकाश डालने वाली ३२ कहानियों का संग्रह है, जो वेतालपंचविंशति की भाँति लोकप्रिय हुआ और सिंहासनबत्तीसी के नाम से प्राचीन काल से ही लोक-भाषाओं में इसके रूपांतर होते रहे। इसका अन्य नाम विक्रमचरित भी प्रचलित है। यह कथासंग्रह उत्तरी तथा दक्षिणी—इन दो संस्करणों में मिलता है। पहले के संस्कर्ता क्षेमेंद्र नामक जैन मुनि कहे गये हैं, बंगाल में प्रचलित वररुचि के द्वारा निर्मित संस्करण भी इसी में आता है। दक्षिणी संस्करण विक्रमचरित के नाम से अधिक प्रचलित है। दक्षिणी संस्करण का एक पद्यरूप भी मिलता है। सभी संस्करणों में भूमिकास्वरूप राजा भोज की कथा आती है, जिसके अनुसार राजा भोज को राजा विक्रमादित्य का सिंहासन मिल जाता है, जिसमें ३२ पुतलियाँ लगी हुई हैं। जब भोज उस सिंहासन पर बैठना चाहते हैं, तो उन पुतलियों में से प्रत्येक एक-एक करके एक कथा सुनाती है, जिसमें राजा विक्रमादित्य के असाधारण कृतित्व का वर्णन होता है। कथा सुना कर पुतली कहती है कि यदि इस प्रकार के गुण तुममें हों तो इस सिंहासन पर बैठो। सभी कहानियाँ प्रशस्तिपरक तथा उपदेशप्रधान हैं। रोचकता, विविधता और गंभीरता का इनमें अभाव है। इसका रचनाकाल १२वीं-१३वीं शताब्दी के आसपास है।

विक्रमादित्य को लेकर लोकसाहित्य और लोककथाओं की समृद्ध परम्परा विकसित हुई। इस कथाचक्र के अन्तर्गत अन्य कथासंग्रह हैं—तीस सर्गों में अनंतकृत वीरचरित, गद्यमिश्रित १८ सर्गों में शिवदासकृत शालिवाहनकथा, आनन्द की गद्यात्मक तथा प्राकृत भाषा के पद्यों से युक्त माधवानलकथा, अज्ञातकर्तृक, विक्रमोदय तथा पंचदंडच्छत्रप्रबंध।

शुकसप्तति

शुकसप्तति की कथाएँ किस्सा तोता मैना के नाम से लोकपरम्परा में अत्यधिक प्रचलित रही हैं, तथा इसके अनेक भारतीय भाषाओं में अनेक रूपान्तर मिलते हैं। संस्कृत में शुकसप्तति दो संस्करणों में मिलती है, एक सरल संस्करण है, दूसरा अलंकृत संस्करण। अलंकृत संस्करण के संस्कर्ता चिंतामणि भट्ट कहे गये हैं, जिनका

समय बारहवीं शताब्दी है। सरस संस्करण प्राकृत मूल के आधार पर निर्मित किया गया प्रतीत होता है।

शुकसप्तति में एक तोते के द्वारा एक वणिक् की वधू को सुनायी गयी सत्तर कहानियाँ हैं। इसकी भूमिका में बताया गया है कि मदन नामक एक वणिक् को अपने पिता से एक तोते और एक मैना उपहारस्वरूप प्राप्त हुए। एक बार मदन को दीर्घ प्रवास पर बाहर जाना पड़ा। उसकी पत्नी दुश्चरित्र स्त्रियों के बहकावे में आकर स्वैराचार के लिए जाने को उद्यत हुई, तब मैना ने कठोर शब्दों में भर्त्सना करते हुए उसे बाहर जाने से रोका। परिणामस्वरूप वणिक् की स्त्री मैना को मार डालने को तत्पर हो गयी। तब तोते ने बात सँभालते हुए उसे एक-एक करके कहानियाँ सुनाना आरम्भ किया। हर कहानी में एक जटिल परिस्थिति निर्मित होती है, जिससे कहानी की नायिका अपनी बुद्धिमत्ता से अपने आपको बचाती है। पर कहानी के अंत में तोता यह नहीं बताता कि कहानी की नायिका ने संकट से अपनी रक्षा कैसे की? वह वणिक् की स्त्री से ही पूछता है कि ऐसे संकट से कैसे बचा जाय—यह तुम जानती हो तब तो बाहर जाओ अन्यथा मत जाओ। वणिक् की वधू कहानी में नायिका पर आये संकट का कोई हल नहीं समझ पाती और वह तोते से पूछती है कि उसके संकट का क्या समाधान हो सका? तब तोता उसे इस शर्त पर समाधान बताने को तैयार होता है कि उस रात वह बाहर नहीं जायेगी। इस तरह प्रतिदिन एक-एक करके सत्तर कहानियाँ सुना कर तोता वणिक् वधू के शील की रक्षा करता है।

शुकसप्तति की सभी कहानियों में प्रवंचना, छल और चालाकी के प्रसंग हैं। पर कई कहानियाँ पात्रों के अद्‌भुत साहस और प्रत्युत्पन्नमतित्व का प्रेरणाप्रद स्वरूप प्रस्तुत करती हैं। एक स्त्री अपने बच्चों के साथ वन में जा रही है, सामने से सिंह आ जाता है, अब स्त्री क्या करे? सुबुद्धि और दुर्बुद्धि दो मित्रों में सुबुद्धि दूसरे से शर्त हार गया है। शर्त में तय हुआ कि जीतने वाला हारने वाले के घर आकर जो वस्तु सबसे पहले छुएगा, वह उसकी हो जायेगी। सुबुद्धि जानता है कि दुर्बुद्धि की उसकी पत्नी पर कृदृष्टि है, और वह आकर उसकी पत्नी को ही छू देगा, तथा साथ ले जाना चाहेगा। वह पत्नी के साथ नसैनी लगा कर घर की छत पर चढ़ जाता है और दुर्बुद्धि आता है, तो वह हड़बड़ी में नसैनी पकड़ लेता है। और उसे नसैनी उठाकर घर जाना पड़ता है। कई कहानियाँ सामान्य जनों के दैनिक जीवन की घटनाओं का रोचक निर्दशन है। गाँव के सरपंच की पत्नी उससे रोज कहती रहती है कि नगर जाओ तो मेरे लिए काँचली (अँगिया) लेकर आना। सरपंच हर बार अपना वचन भूल जाता है। एक बार जब कई लोग उससे मिलने के लिये बैठे हैं, पत्नी भोजन के लिए बुलाने आती है और सबके सामने कह देती है—चलिये, राबड़ी (मक्का का दलिया, जिसे प्रायः गरीब लोग खाते हैं) खा लीजिये। सरपंच को लगता है कि इतने लोगों के सामने उसकी हेठी हो गयी। पत्नी कह देती है कि काँचली ला दोगे, तो खोया सम्मान लौटवा दूँगी। सरपंच पत्नी के लिए अगली बार नगर जाकर काँचली ला देता है। दूसरे दिन जब कुछ मिलने वाले

उसके यहाँ बैठे हैं, पत्नी फिर आकर कहती है—आओ, राबड़ी खा लो, और पत्नी के द्वारा पहले दी गयी सलाह के आधार पर सरपंच उन मिलने वालों को भी भोजन के लिए आमंत्रित करता है। भोजन बड़ा सम्पन्न है। यह देखकर सब लोग प्रशंसा करते हुए कहते हैं, कि सरपंच के यहाँ तो इतने अच्छे भोजन को भी राबड़ी कहा जाता है। लोककथाओं के अनेक अभिप्राय शुकसप्तति की कहानियों में पिरोये हुए हैं। इसके साथ ही शुकसप्तति के कथाएँ समाज में व्याप्त पाखंड पर तीखा प्रहार करती हैं।

शुकसप्तति की कथा प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों की भरमार है, तथा अपाणिनीय प्रयोग भी हैं।

कथारत्नाकर

इस कथासंग्रह के प्रणेता नरचंद्रसूरि हैं। ये गुजरात में वस्तुपाल के आश्रय में रहे (वस्तुपाल के परिचय के लिये महाकाव्यविषयक अ० १३ देखें) तथा वस्तुपाल के ही अनुरोध पर इन्होंने कथारत्नाकर की रचना की। इन्होंने संवत् १२८८ (१२३२ ई०) के आसपास वस्तुपाल पर अनेक प्रशस्तियों की भी रचना की, जो गिरनार शिलालेख में उत्कीर्ण हैं। अनर्घराघव नाटक पर इन्होंने टीका भी लिखी है। कथारत्नाकर में पंद्रह तरंग हैं, तथा धार्मिक, सांस्कृतिक व ऐतिहासिक विषयों पर विविध कथाएँ हैं।

प्रबंधचिंतामणि : मेरुतुंगाचार्य

मेरुतुंगाचार्य का समय चौदहवीं शताब्दी है। ये चंद्रप्रभ मुनि के शिष्य थे। प्रबंधचिंतामणि की रचना संवत् १३६२ (१३०६ ई०) में पूर्ण हुई। इसमें पाँच प्रकाश हैं, तथा प्रत्येक प्रकाश में अनेक प्रबन्ध और प्रत्येक प्रबन्ध में किसी एक राजा, महापुरुष या कवि से सम्बद्ध कहानियाँ हैं। प्रबंधचिंतामणि में अत्यन्त सरल और बोलचाल के गद्य में ग्यारह प्रबंधों में प्राचीन कवियों, राजाओं या पंडितो से सम्बन्धित रोचक वृत्तांत हैं। इन वृत्तांतो में इतिहास के साथ किंवदंतियों का सम्मिश्रण हो गया है। विक्रमादित्य, भोज, कालिदास, माघ, धनपाल आदि से सम्बद्ध प्रसंग रोचक हैं। ग्रंथ का प्रारम्भ विक्रमादित्य से सम्बद्ध कहानियों के द्वारा किया गया है, इसके पश्चात् सातवाहन के पूर्वजन्म का वृत्तांत है। चालुक्य राजाओं तथा गुजरात के वीरधवल आदि राजाओं के सम्बन्धित कहानियों में ऐतिहासिक तथ्य भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। अंतिम प्रबन्ध में प्रकीर्ण कथाएँ हैं, जिनमें बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन, उसके मंत्री उमापतिधर, भर्तृहरि आदि की कथाएँ बहुत रोचक हैं। मेरुतुंग ने जैन मुनियों के चरित पर महापुरुषचरित नामक ग्रंथ की रचना भी की थी।

प्रबंधकोश : राजशेखर

राजशेखर सूरि का समय भी चौदहवीं शताब्दी है। ये जैनमुनि तिलकसूरि के शिष्य थे। प्रबंधकोश का रचनाकाल १४०५ वि० सं० (१३४८ ई०) है। इसका अन्य नाम चतुर्विंशतिप्रबंध भी मिलता है। इसमें २४ महापुरुषों से सम्बद्ध वृत्तांत हैं, जिनमें दस जैन आचार्य, चार संस्कृतकवि, सात राजा और तीन जैन गृहस्थ हैं। प्रबंधचिंतामणि

की भाँति इन वृत्तांतों में भी इतिहास के साथ किंवदंतियों का सम्मिश्रण हो गया है। कवियों में श्रीहर्ष, हरिहर, अमरचंद्र तथा मदनकीर्ति के वृत्तांत साहित्यिक महत्त्व के हैं। राजाओं में लक्ष्मणसेन तथा मदनवर्मा की कथाएँ भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व की हैं। ग्रंथ के अंत में चौहान राजाओं की सुल्तानों से लड़ाई तथा हम्मीरदेव का वृत्तांत भी राजशेखर सूरि ने प्रस्तुत किया है।

पुरुषपरीक्षा

इस संग्रह के प्रणेता संस्कृत, अवहट्ट तथा मैथिली भाषाओं के प्रख्यात रचनाकार विद्यापति हैं। इनका समय पंद्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। इनके पिता का नाम गणपति और पितामह का नाम जयदत्त था। इनकी अवहट्ठ में कीर्तिलता और मैथिली भाषा में पदावली प्रसिद्ध है। संस्कृत में विद्यापति की अनेक रचनाएँ हैं। पुरुषपरीक्षा में ४१ अत्यन्त रोचक कथाएँ हैं, जो आज की कहानी (Short story) के मानदंडों पर भी ये उत्कृष्ट प्रमाणित हो सकती हैं। इसकी प्रारम्भिक कथा भूमिका में पारावार नामक राजा अपनी पुत्री के विवाह के लिये वसूक्ति नामक मुनि से परामर्श करता है। मुनि उसे पुरुष या सही व्यक्ति की पहचान के लिये ये कथाएँ सुनाते हैं। इन कथाओं में मानव स्वभाव और उसके साहसिक कार्यों की विभिन्न रोचक प्रसंगों के माध्यम से पहचान करायी गयी है। दानवीर, दयावीर, युद्धवीर तथा सत्यवीर की कहानियाँ प्रेरणाप्रद हैं, तो अलस, चोर आदि की कहानियाँ मनुष्य के अंतर्विरोधों की पहचान कराती हैं।

लोकमानस इतिहास को किस प्रकार अपनी स्मृति में सुरक्षित रखता है—इसका दुर्लभ उदाहरण भी पुरुषपरीक्षा की कथाएँ प्रस्तुत करती हैं। विद्यापति ने मिथिला में गाँवों में या जन समाज में जिस रूप में कहानियाँ सुनी होंगी, उस रूप में उन्होंने उन्हें परिष्कृत भाषा में प्रस्तुत किया है। पृथ्वीराज चौहान के इतिहास से संबद्ध दो कथाएँ पुरुषपरीक्षा में है—पाँचवी सत्यवीर कथा तथा सैंतीसवीं घस्मरकथा। सत्यवीर कथा में हस्तिनगर (गजनी) के राजा महमद नायक यवनेश्वर (महमूद गजनी) के काफरराज के साथ संग्राम का वर्णन है, जिसमें नरसिंहदेव और चाचिकदेव ये दो वीर असाधारण शौर्य के द्वारा महमूद को विजय दिलाते हैं। घस्मरकथा का नायक राजा जयचंद है, जो योगिनीपुर के शहाबुद्दीन (शहाबुद्दीन गौरी) से युद्ध करके कई बार उसके छक्के छुड़ा देता है। तब शहाबुद्दीन जयचंद की रानी शुभदेवी को चतुर्भुज नामक ब्राह्मण के द्वारा भड़का कर उसके अत्यन्त निष्ठावान् मंत्री विद्याधर को राजा से अलग करवा देता है। अनेक भारतीय भाषाओं में इस पुस्तक के अनुवाद तथा रूपान्तर हुए हैं।

कथाकौतुक

कथाकौतुक के प्रणेता श्रीवर कवि हैं। कवि का नाम किसी किसी हस्तलिखित प्रति में श्रीधर भी मिलता है। यह ग्रंथ तैमूर के चाचा सुल्तान अबूसईद के आश्रय में रहे मुल्लाजीमी नूरुद्दीन अब्दुररहमान की फारसी में लिखी यूसुफजुलेखा की कहानी का अनुवाद है। इसकी रचना १४५१ ई० में पुरी हुई। श्रीवर ने ही जोनराज के अनंतर

जोनराजतरंगिणी नामक इतिहास के ग्रंथ का भी निर्माण किया था। कथाकौतुक में उन्होंने जोनराज को अपना गुरु बताया है। जोनराज सुल्तान जैनुल् आबदीन (१४१७-६७ ई०) के समकालीन थे। श्रीवर भारतीय शास्त्र परम्परा के तो प्रकांड पंडित थे ही फारसी भाषा तथा इस्लाम की परम्पराओं का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। कथाकौतुक के आरम्भ में उन्होंने शैवदर्शनसम्मत सृष्टिप्रक्रिया तथा कलारचना का सुंदर निरूपण किया है। कथा कौतुक में १४ कौतुक हैं, प्रत्येक कौतुक में ५० से १५० तक पद्य हैं, केवल अंतिम कौतुक ३१ पद्यों का है। सर्वत्र अनुष्टुप् छंद का ही प्रयोग है, जिससे कथा-प्रवाह निरन्तर गतिशील बना रहा है। कथा में सुल्तान कैमूर की कन्या जोलेखा (जुलेखा) और मिस्र के बादशाह याकोभ (याकूब) के बेटे येसोभ (युसुफ) के प्रेम का सरस वृत्तांत है। अनेक अद्‌भुत और अतिप्राकृत घटनाएँ भी इसमें वर्णित हैं। जोलेखा याकोभ को स्वप्न में देखती है। उसके विवाह के लिए अनेक राजकुमारों के संदेश आते हैं, पर वह याकोभ के प्रेम में दीवानी है, और उससे मिलने मिस्र देश चल देती है।

भरटकद्वात्रिंशिका

यह मुग्धकथा या मूर्खों की कथाओं का अत्यन्त रोचक संग्रह है। इसका लेखक कोई जैन साधु था। पुस्तक की पांडुलिपि में अंत में पुष्पिका में बताया गया है कि सोमसुंदर के शिष्य साधुराज से सुनी हुई कथाओं को उनके (साधुराज) के शिष्य ने इस पुस्तक में लिखा है। हर्तेल का अनुमान है कि इस पुस्तक में उल्लिखित साधुराज तथा हरिभद्र के योगदृष्टिसमुच्चय नामक ग्रंथ में उल्लिखित देवसुंदरमुनि के शिष्य साधुराज एक ही व्यक्ति हैं। देवसुंदर मुनि का समय १३३९-४० ई० के लगभग है। इस प्रकार भरटकद्वात्रिंशिका का रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। हर्तेल के अनुसार साधुराज के शिष्यों में एक शिष्य मुनिसुंदर का उल्लेख आता है। ये मुनिसुंदर ही भरटकद्वात्रिंशिका के लेखक हैं।

भरटक शिवभक्त साधुओं का एक संप्रदाय है। इन साधुओं की अपने फक्कड़पन, सिधाई और झक्की स्वभाव के कारण समाज में हँसाई होती रहती थी। भरटकों को लेकर अनेक कथाएँ पहले के समाज में प्रचलित रही होंगी। लेखक ने विनम्रतापूर्वक स्वीकार किया है कि उसने जिस रूप में ये कथाएँ सुनीं, उसी रूप में लिखी हैं। वाचिक शैली या मुँहजबानी कहानी को कहने की रीति का गहरा संस्कार भरटकद्वात्रिंशिका की कथासंरचना में निरन्तर व्याप्त है।

पंचतंत्र का प्रभाव भी भरटकद्वात्रिंशिका की कथाओं में स्पष्ट परिलक्षित होता है। पहली कहानी में तो पंचतंत्र का एक पद्य उद्धृत भी किया गया है। कुछ कहानियाँ हल्के-फुल्के परिहास या उपहास तक ही सीमित रह गयी हैं। कुछ में मानव-मन के अंतर्विरोधों और मनुष्यस्वभाव की विचित्रता का रोचक चित्रण है। पहली ही कथा में भिक्षा माँगने के लिए एक सेठ के द्वार पर पहुँचा साधु उसके द्वार पर अनशन पर बैठ जाता है, क्योंकि सेठ ने उसको अपनी सेठानी को घूर-घूर कर देखने के कारण लताड़ दिया था। भरटक के मन में सेठानी को लेकर कोई ऐसी-वैसी बात न थी, पर सेठ का

कहना उसे लग गया, तो उसने ठान लिया कि सेठानी को साथ लेकर इस द्वार से उठ कर जाऊँगा। सेठ इस कारण बड़े संकट में फँस गया। अंत में सेठ उसके चरणों पर मस्तक रख कर सेठानी को उसे सौंपने तक को तैयार हो गया, तब संतुष्ट होकर और यह बता कर कि उसे कुछ नहीं चाहिये, भरटक उठ कर वहाँ से चलता बना। अनेक कथाएँ पाखंडी साधुओं और मूर्ख शिष्यों का चरित्र प्रस्तुत करती हैं। सातवीं कथा में लुंठक साधु का शिष्य कुंठक भिक्षा में बत्तीस बड़े प्राप्त करके पहले उनमें से आधे मार्ग में यह सोच कर खा लेता है कि गुरु उसे आधा हिस्सा तो देंगे ही, फिर उस आधे में से आधा भी वह यही सोच कर खा लेता है और अंत में केवल एक बड़ा लेकर गुरु के पास पहुँचता है, जिसे भी वह उनके देखते-देखते खा जाता है। नवीं कथा में एक भरटक किसी राजा के यहाँ पुरोहित बन जाता है। अपने घर में एक सूत्रधार के द्वारा नाट्यप्रस्तुति के समय 'कहिंसु भरटक जं जं कीउं' इस गीत को सुन कर उसे लगता है कि सूत्रधार उसके धोबी के घर भोजन करने का रहस्य जानता है, और उसी का भंडाफोड़ करने की धमकी देता रहा है। और सूत्रधार को पुरस्कार में धन देता जाता है। अंत में वह सब के सामने अपने मुँह से अपना रहस्य स्वयं ही उगल देता है।

भरटकद्वात्रिंशिका में देशज शब्दों की भरमार है। बीच-बीच में संस्कृत श्लोकों के साथ अपभ्रंश के गीत या गाथाएँ भी कहानियों में समाविष्ट हैं। अनेक गाँवों या नगरों के नाम कहानियों में आते हैं, जो उस समय प्रचलित रहे होंगे।

भोजप्रबंध

इसके प्रणेता बल्लालसेन हैं। इसमें भोज से संबद्ध कथाएँ हैं, जिनमें इतिहास अत्यल्प तथा किंवदंतियों व लोककथाओं का संकलन अधिक है। भोजप्रबंध में अनेक सरस पारम्परिक पद्य संकलित हैं, जिनके कारण साहित्यिक दृष्टि से यह कृति बहुत महत्त्वपूर्ण मानी गयी है।

कथार्णव

वेतालपंचविंशति के लेखक शिवदास का ही कथार्णव मूर्खों तथा चोरों से संबद्ध कथाओं का रोचक संग्रह है, जिसका समय १२०० ई० के आसपास माना गया है।

कथाप्रकाश

इसके प्रणेता लक्ष्मण के पुत्र जगन्नाथ मिश्र हैं। इनका समय सत्रहवीं शती है। इसमें विभिन्न विषय पर अलग-अलग स्रोतों से सामग्री ले कर लिखी गयी रोचक कहानियाँ हैं। चौथी कहानी में अपने ससुर के घर पर कवि भारवि की यंत्रणा का वर्णन है।

अन्य कथाएँ

राजवल्लभ पताक ने भोजप्रबंध के अतिरिक्त चित्रसेनपद्मावतीकथा की रचना की थी, जो लोककथा पर आधारित है। इसके नायक तथा नायिका चित्रसेन तथा पद्मावती पूर्वजन्म में हंसयुगल थे। यह कथा १५८० ई० में लिखी गयी।

संकलचंद्र के शिष्य समयसुंदर के द्वारा प्रणीत कालिकाचार्यकथा में जैन साधु कालिकाचार्य का चरित वर्णित है। इसमें विक्रम तथा शक राजाओं से सम्बन्धित आख्यान भी हैं।

राजशेखरचरित या सभारंजनप्रबंध के रचयिता कविकुंजर हैं। इसमें राजा राजशेखर की राजसभा में कही गयी उपदेशपरक कथाओं का संग्रह किया गया है।

मुद्राराक्षस नाटक के कथानक को पूर्वापर प्रसंगों को जोड़ते हुए सरल गद्य में अनेक रचनाकारों ने प्रस्तुत किया। इसमें १६०० ई० के आसपास महादेव के द्वारा विरचित मुद्राराक्षसकथा उत्तम रचना है। इसी की एक और कड़ी अनंत शर्मा कृत मुद्राराक्षसपूर्वकथानक है। अनंत शर्मा १७वीं शताब्दी में बुंदेलखंड के राजा चित्रभानु की राजसभा में रहे।

बारहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक विश्व के अन्य देशों के कथाचक्रों से रूपान्तर या नवीन प्रस्तुतीकरण करते हुए कथाओं के अनेक प्रबंध या संग्रह संस्कृत में तैयार किये गये। इनमें से उल्लेखनीय कथाएँ या कथासंग्रह निम्नलिखित हैं—

देलरामाकथासार—यह कथा राजानकभट्टाह्लादकवि ने लिखी है। इनका समय तथा देशकाल अनिर्णित है। कथा तेरह सर्गों में विविध छंदों में निबद्ध है। कथा के आरम्भ में ही कवि ने बताया है कि यह कथा उसने मुसलमानों की परम्परा से ग्रहण की है—

> **एषा कथा मौसलशास्त्रदृष्टा भूयिष्ठसद्वाच्यमहाविशिष्टा।**
> **मनोविनोदाय सतां जनानां गीर्वाणवाण्या क्रियते मयाद्य॥** (१/२)

कथा की नायिका देलरामा नामक धूर्त वेश्या है। नायक मुरादबख्श है। कथा अनेक रोमांचक किन्तु अस्वाभाविक या प्राकृतेतर घटनाओं से भरी हुई है, तथा इसमें अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जो भारतीय परम्परा और जीवनादर्शों के विपरीत हैं। संक्षेप में कथानक इस प्रकार है—सुलतान महमूद पुलिंदों के आक्रमण से मारा जाता है। उसकी पत्नी मेरभक्ता अपने दो बेटों को लेकर भागती है। उसे संयोग से ऐसी चिड़िया मिल जाती है, जो प्रतिदिन सोने का अंडा देती है। मेरभक्ता का अन्य नगर में पहुँच कर एक वणिक् से प्रेम हो जाता है। उसके प्रेम में पड़ कर वह अपने दोनों पुत्रों इब्राहिम और मुराद की हत्या करवाने और सोने का अंडा देने वाली चिड़िया का मांस खिलाने को तैयार हो जाती है, संयोग से उस चिड़िया के पके मांस में से मुराद सोना उगलने वाली हड्डी खा लेता है, और जो हत्यारा दोनों भाइयों को मारने के लिए लगाया गया था, वह मुराद से दीनारें पा कर इन दोनों को छोड़ देता है। दोनों भाई भाग कर अन्य नगर पहुँचते हैं, जहाँ एक मस्जिद में मिलने का निश्चय करके वे अलग-अलग हो जाते हैं। घटनाचक्र इस प्रकार घूमता है कि इब्राहीम तो इस नगर का बादशाह हो जाता है और मुराद देलरामा वेश्या के चंगुल में पड़ जाता है। वह प्रतिदिन उसे दीनारें देते देखकर एक दिन मदिरा पिलाकर उससे दीनार प्राप्ति का रहस्य जान लेती है और सोना उगलने वाली अस्थि वमन करा लेती है। देलरामा के घर से अपमान करके निकाला गया मुराद

भटकता हुआ एक स्थान पर तीन पुरुषों को विवाद करते देखता है। वे एक उड़ने वाली स्थलस्था (कालीन), दीनारें देने वाली भस्त्रा (धौंकनी) और भोजन लाने वाले शुक के स्वामित्व को लेकर विवाद कर रहे हैं। मुराद को देखकर वे उसे निर्णायक बना लेते हैं। मुराद उन्हें मूर्ख बनाकर उनकी तीनों चमत्कारिक वस्तुएँ लेकर चंपत हो जाता है, और फिर देलरामा के पास पहुँचता है। वह उड़ने वाले कालीन पर उसे बिठा कर समुद्र के बीच निर्जन द्वीप में ले आता है। वहाँ देलरामा कुछ दिन उसके साथ सुख से रहती है। पर वह मुराद को फिर बहका कर तीनों वस्तुओं का रहस्य जानकर उन्हें हथिया लेती है और मुराद को उस द्वीप पर अकेला छोड़कर तीनों वस्तुओं के साथ निकल भागती है। अब मुराद को तीन योगिनियाँ मिलती हैं, जो उसे तीन चमत्कारिक वस्तुएँ दे देती हैं। वह देलरामा के घर आकर उन चमत्कारिक डंडों में से एक के प्रभाव से देलरामा को गधी बना कर उस पर सवार होकर घूमता-फिरता है। अंत में योगिनियों के कहने पर वह देलरामा को मुक्त करता है, और विवाह करके सुखपूर्वक रहने लगता है। देलरामा उसकी और उसकी पत्नी की दासी बन जाती है और अपने बड़े भाई से भी उसकी भेंट हो जाती है।

भट्टाह्लाद ने अत्यन्त जटिल घटनाबहुल कथा को रोचक रूप में प्रस्तुत किया है, कहीं भी वर्णनों या काव्यात्मकता को उन्होंने कथाप्रवाह में बाधक नहीं बनने दिया है। यद्यपि अनेक स्थलों पर सौन्दर्यचित्रण या वर्णनकला से उनकी कवित्वशक्ति का पता चलता है। देलरामा के वर्णन में कवि कहता है—

लावण्यपाथोनिधिरत्नवीचिं तारुण्यहेमाद्रिहिरण्यवल्लीम्।
सुकान्तिगङ्गानलिनीं प्रफुल्लां शृंगारमद्भूमिरुहालवालाम्॥ (७/२२)

मसदा (मस्जिद), दन्तालिका (लगाम), स्थलस्था आदि अनेक नवीन शब्दों का निर्माण भी कथाकार ने किया है।

नंदोपाख्यान भी एक रोचक कथा है। यह नंदबत्तीसी या नंदबत्रीसी के नाम से लोक भाषाओं में भी मिलती है। यह कथा किस समय प्रचलित हुई, यह कहना कठिन है। वर्तमान में इस कथा पर आधारित तीन काव्य मिलते हैं—नंदोपाख्यान, नंदबत्रीसी तथा नंदनृपकथा। नंदोपाख्यानम् के रचयिता का नाम पता नहीं चलता। इसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रति संवत् १७३१ (१६५४ ई०) में तैयार की गयी थी, अत: निश्चित रूप से यह सोलहवीं शताब्दी की अथवा सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में लिखी गयी होगी, यह अनुमान किया जा सकता है। यह पद्यमिश्रित गद्य में है, तथा लोकभाषा के शब्दों का कहीं-कहीं रोचक प्रयोग इसमें किया गया है। बोलचाल की संस्कृत का आकर्षकरूप इसमें मिलता है। नंदबत्रीसी की हस्तलिखित प्रतियों में इसे तत्त्वविजयगणि के द्वारा प्रणीत बताया गया है। इसका शीर्षक असंस्कृत है तथा इसकी भाषा में भी अपभ्रंश के शब्दों का मिश्रण और अव्याकरणिक प्रयोग हैं। नंदनृपकथा का रचनाकाल संवत् १६६६ (१६०९ ई०) है। इसके प्रणेता स्यालकोट के निवासी सहस्त्रऋषि कहे गये हैं। इसमें सौ श्लोक हैं।

नंदकथा के उक्त तीनों रूपों में किंचित् परिवर्तन या परिवर्धन के साथ राजा नंद की कहानी कही गयी है। राजा नंद अपने मंत्री की पत्नी पर कुदृष्टि रखता था। मंत्री को इसका पता चला, तो उसने राजा की हत्या कर दी। अंत में मंत्री के षड्यंत्र का भी भंडाफोड़ हो गया। इस कथा से यह नैतिक संदेश दिया गया है कि परस्त्री पर कुदृष्टि रखना घातक होता है। नंदबत्रीसी में राजा के मंत्री वैरोचन की पत्नी पर आसक्त होने का कारण लोककथा के अभिप्रायों से संवलित एक प्रसंग के द्वारा बताया गया है। राजा देखता है कि हरी दूब पर भौंरे मँडरा रहे हैं। वह पास में कपड़े धो रहे धोबी से इसका कारण पूछता है। धोबी बताता है कि मंत्री वैरोचन की पत्नी के वस्त्र उस स्थान पर सूखने को डाले गये थे, वे वस्त्र स्वतः इतने सुवासित रहते हैं कि जहाँ उन्हें रखा जाये, भौंरे वहाँ आकर मँडराने लगते हैं। नंदोपाख्यान में मंत्री को राजा की हत्या करते हुए कोई बटुक देखता है। नंदबत्रीसी में उद्यान का माली देखता है।

बौद्धकथासाहित्य में साहित्यिक दृष्टि से सर्वाधिक लोकप्रिय आर्यशूरकृत जातकमाला है। इससे बोधिसत्त्व से संबद्ध ३४ प्रेरणाप्रद कथाएँ अलंकृत, ललित तथा सरस गद्य में निबद्ध हैं। प्रथमजातक व्याघ्रीजातक को छोड़ कर शेष सभी कथाएँ पालि जातकों से ली गयी हैं। आर्यशूर का समय ३५० ई० से ४०० ई० के लगभग माना जाता है।

जातकों और अवदानों का एक संग्रह सूत्रालंकार या कल्पनामंडितिका के नाम से खंडित रूप में प्राप्त होता है। दिव्यावदानशतक अवदानों (बुद्ध के महनीय कार्यों) की कथाओं का विशाल संकलन है। आगे चल कर क्षेमेंद्र ने इसके आधार पर अपनी बोधिसत्त्वावदानकल्पलता का प्रणयन किया।

जैनकथा साहित्य

बारहवीं शताब्दी में सिद्धार्थ ने उपमितिभावप्रपंचकथा का प्रणयन किया। तेरहवीं शताब्दी में नागदेव ने महावीर के द्वारा मदन को पराजित करने की प्रतीकात्मक कथा को सुंदर और रस गद्य में प्रस्तुत करते हुए मदनपराजय की रचना की।

जिनकीर्ति (१५वीं श०) ने चम्पक श्रेष्ठिकथानक तथा पालगोपालकथानक— इन दो कथा ग्रन्थों की रचना की। हेमविजयगणि का 'कथारत्नाकर' १७वीं शताब्दी में रचा गया।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में आख्यान, निदर्शना तथा लघुकथाओं की परम्परा संस्कृत में लोककथाओं और जातीय आख्यानों के समृद्ध दाय को प्रस्तुत करती हुई विकसित होती रही है।

✤

अध्याय १०

गद्य, गद्यकाव्य तथा चंपू

गद्य की परम्परा—संस्कृत भाषा में गद्य की एक संपन्न परम्परा वैदिक काल में आरम्भ हो गयी थी। यजुर्वेद में उस समय के गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। इसके पश्चात् ब्राह्मण ग्रंथ तथा अधिकांश उपनिषद् भी गद्य में रचे गये। ईसा के पहले की शताब्दियों में गद्य का उपयोग कथाकथन और राजाज्ञाओं के प्रसारण के लिए होता रहा। कथा कहने की परम्परा में ही गद्य को अधिक से अधिक काव्यात्मक बना कर प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता रहा होगा। इस प्रकार हमारे साहित्य में कथाकथन की परम्परा से ही गद्य के दो रूप विकसित हुए—एक रूप बोलचाल की भाषा के निकट था, तथा जिस प्रकार घर-घर में कहानी सुनायी जाती है, उस शैली में उसमें कथा को प्रस्तुत किया गया। दूसरे रूप में गद्य को कल्पना और काव्यात्मक अलंकरणों से मंडित कर प्रस्तुत किया गया, और इससे गद्यकाव्य की परम्परा का उदय हुआ। कुल मिलाकर इस विषयवस्तु की दृष्टि से प्राचीन काल में गद्य के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

(१) वैदिक गद्य—इसकी संरचना पर वैदिक भाषा का प्रभाव है। इस गद्य के भी दो रूप हैं—एक अनुष्ठानोपयोगी तथा याज्ञिक विधियों का प्रतिपादक तथा दूसरा चिंतन और ऊहापोह को व्यक्त करने वाला। पहले प्रकार का गद्य यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रंथों में व दूसरे प्रकार का ब्राह्मणों व उपनिषदों में मिलता है। यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रंथों का गद्य वेदमंत्रों के समान स्वरचिह्नांकित है, तथा इसका पाठ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों का प्रयोग करके किया जाता रहा है।

(२) शिलालेखीय गद्य—यह राजाज्ञाओं के प्रसारण के लिए उपादेय था। प्राचीन शिलालेखों में अनेक ऐसे हैं, जो गद्य ही नहीं, काव्य तथा पद्य का भी उत्कृष्ट रूप व्यक्त करते हैं, और संस्कृत कविता के इतिहास में इनका निर्विवाद महत्त्व है। विशेष रूप में रुद्रदामन् तथा समुद्रगुप्त के शिलालेख संस्कृत गद्य की विकासयात्रा में मील के पत्थर हैं।

हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति भी प्रौढ, परिष्कृत और उदात्त गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। वर्ण्यविषय (विजयस्तम्भ) के लिये पृथिवी के ऊपर उठे बाहु का मनोहर रूपक रचते हुए हरिषेण कहते हैं—

''सर्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्त निखिलावनितलां कीर्तिमितस्त्रिदशपतिभवन-गमनावाप्तललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रित) स्तम्भः।''

(३) शास्त्रीय गद्य—सूत्रात्मकता तथा साररूप में चिंतन को व्यक्त करने की क्षमता इस गद्य की विशेषता है। पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष को प्रस्तुत करने की विशेष शैली

इसमें विकसित हुई। इसके प्राचीन रूप सूत्र ग्रंथों तथा यास्क के निरुक्त जैसे ग्रंथों में देखे जा सकते हैं। आगे चल कर कौटिल्य के **अर्थशास्त्र**, पतंजलि के महाभाष्य आदि में इस प्रकार के गद्य का प्रांजल और परिष्कृत स्वरूप विकसित हुआ।

(४) वार्तालाप की शैली का संवादोपयोगी गद्य—उपनिषदों के गद्य में भी अनेकत्र वार्तालाप या संवाद की शैली मिलती है। आचार्य अपने शिष्यों से जिस तरह बातचीत करते होंगे, उसे उपनिषदों में अनेकत्र उसी प्रकार संगृहीत किया गया है। आगे चल कर नीतिकथाओं और लोककथाओं से प्रेरित कथारूपों में इस प्रकार के गद्य का अत्यधिक प्रयोग किया गया। इसी का एक रूप पौराणिक गद्य है, जिसके प्राचीनतम उदाहरण महाभारत में मिलते हैं।

(५) काव्यात्मक गद्य—उपर्युक्त सभी प्रकार के गद्यों का सरस व सौन्दर्यमंडित रूप काव्यात्मक गद्य के रूप में सामने आया और गद्यकाव्य की विधाएँ उससे विकसित हुईं। आगे चलकर आचार्यों ने गद्यकाव्य की दो विधाओं का निरूपण किया—कथा तथा आख्यायिका।

शैली की दृष्टि से गद्य के प्रकार—आचार्यों ने काव्यात्मक गद्य की विभिन्न शैलियाँ बतायी हैं। समास का प्रयोग व पदयोजना के आधार पर गद्य के चार प्रकार हैं—**(१) मुक्तक**—समासरहित गद्य, **(२) वृत्तगंधि**—छंदोवत् लययुक्त गद्य वृत्तगंधि है। **(३) उत्कलिकाप्राय**—दीर्घसमासों से युक्त गद्यरचना उत्कलिकाप्राय है। **(४) चूर्णक**—अल्पसमासों से युक्त गद्य चूर्णक है।

गद्य की परम्परा—पतंजलि ने अपने महाभाष्य में वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी—इन तीन कथाओं का उल्लेख किया है। ये तीनों कथाग्रंथ आज अप्राप्य हैं; और यह निर्णय नहीं किया जा सका है कि ये कथाएँ गद्य में थीं या पद्य में। भोज ने अपने शृंगारप्रकाश में वररुचि की चारुमती नामक कथा से एक पद्य उद्धृत किया है, पर चारुमती के सम्बन्ध में भी यह कहना कठिन है कि वह आद्यंत पद्य में ही थी या पद्यों का प्रयोग कहीं-कहीं करके उसे गद्य में रचा गया था। वल्लभदेव की **सुभाषितावली** में वररुचि की **चारुमती** से एक पद्य उद्धृत है। अन्य अनेक कथाएँ प्राचीन काल में लिखी गयीं। भोज के समकालीन महाकवि धनपाल ने **तरंगवतीकथा** का उल्लेख किया है, जो संभवतः कालिदास के पहले लिखी जा चुकी थी। तरंगवती के प्रसन्न गंभीर कथाप्रवाह की प्रशंसा करते हुए धनपाल कहते हैं—

प्रसन्नगम्भीरपथा रथाङ्गमिथुनाश्रया।
पुण्या पुनाति गङ्गेव गां तरङ्गवती कथा॥

(तिलकमंजरी, प्रास्ताविकपद्य २३)

रामिल और सौमिल ने शूद्रककथा नाम से एक कथा लिखी थी, जिसका उल्लेख राजशेखर ने किया है। बाणभट्ट ने अपने पूर्व के गद्याकाव्यकारों में भट्टारहरिचंद का नाम बड़े आदर से लिया है। इस प्रकार कथा की परम्परा छठी शताब्दी तक समृद्ध रूप में विकसित हो कर आगे फलती-फूलती रही।

रोहदे और वेबर नामक पश्चिमी पण्डितों ने सुबन्धु और बाण के गद्यकाव्यों पर ग्रीक गद्यकाव्यों का प्रभाव प्रतिपादित किया है, जो किसी भी प्रकार संगत नहीं है। कथानक, रूढियों और वर्णनकला में कुछ साम्य होते हुए भी ग्रीक और संस्कृत गद्य की आन्तरिक प्रकृति और परम्पराएँ बहुत भिन्न हैं। संस्कृत गद्यकाव्य आदर्शप्रवृणता निसर्गसृष्टि के निरूपण और सौन्दर्यचित्रण की विविधता तथा समग्रता में अनन्य है, तो ग्रीक गद्य चमत्कारपूर्ण वृत्तान्तों में।

कथा तथा आख्यायिका

गद्यकाव्य के दो भेद माने गये—कथा तथा आख्यायिका। अग्निपुराण, काव्यादर्श, रुद्रटकृत काव्यालंकार तथा साहित्यदर्पण आदि काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में ये भेद प्रतिपादित हैं। कथा की वस्तु काल्पनिक होती है। आख्यायिका में ऐतिहासिक वृत्तांत का निरूपण रहता है—मुख्य रूप से यही इनमें अंतर बताया गया है। आचार्य भामह ने इन दोनों का गद्यकाव्य की पृथक्-पृथक् विधाओं के रूप में प्रतिपादन किया था। दंडी ने कथा तथा आख्यायिका का लक्षण करके अंत में कहा कि वस्तुतः यह एक ही जाति या विद्या है, जिसको दो अलग-अलग नाम दे दिये गये हैं। तथापि परवर्ती आचार्यों ने कथा का उदाहरण बाणभट्ट की कादंबरी और आख्यायिका का उदाहरण उन्हीं के हर्षचरित को मानते हुए दोनों के लक्षण व परस्पर अन्तर इस प्रकार स्थापित किये हैं—

(१) कथा में विषयवस्तु कविकल्पित होती है, आख्यायिका में ऐतिहासिक।

(२) कथा में आरम्भिक पद्यों में सज्जनों की प्रशंसा, दुर्जनों की निन्दा तथा कवि के वंश का वर्णन रहता है। आख्यायिका में प्राचीन कवियों की प्रशंसा तो आरम्भिक पद्यों में रहती है, पर कविवंशवर्णन गद्य में ही रहता है।

(३) कथा का सर्ग या उच्छ्वास आदि में विभाजन नहीं होता, आख्यायिका उच्छ्वास, निःश्वास या आश्वास आदि में विभाजित रहती है।

(४) कथा में एक अवांतर प्रसंग से आरम्भ करके मुख्य कथा का उपक्रम किया जाता है। आख्यायिका में कवि अपना परिचय देकर उसके माध्यम से मुख्य कथा का आरम्भ करता है। इस प्रकार आख्यायिका का आरम्भ आत्मकथात्मक होता है, यद्यपि कवि अपने लिए इसमें अन्यपुरुष का ही प्रयोग करता है। भामह के मत से नायक स्वयं अपना चरित वर्णन करे तो भी आख्यायिका कही जाती है।

(५) आख्यायिका में वक्त्र तथा अपरवक्त्र छंदों का प्रयोग होता है, कथा में नहीं।

(६) कथा संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत या अपभ्रंश में भी रची जा सकती है, आख्यायिका संस्कृत में ही होती है।

सुबंधु

सुबंधु की एकमात्र रचना वासवदत्ता कथा प्राप्त होती है। अनुमान है कि सुबंधु बाण (सातवीं शताब्दी) के पहले हो चुके होंगे, क्योंकि बाण ने अपने से पूर्ववर्ती सुबंधु नामक कवि का उल्लेख करते हुए कहा कि सुबंधु की वासवदत्ता ने कवियों के दर्प को

गला दिया—'कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया' (हर्षचरित १/११)। तथापि अनेक विद्वान् बाण के द्वारा उल्लिखित वासवदत्ता कथा को प्रस्तुत सुबंधु कवि की रचना न मानकर पतंजलि द्वारा उल्लिखित वासवदत्ता कथा मानते हैं। तथापि बाण सुबंधु का ही उल्लेख कर रहे हैं, इसकी पुष्टि में एक अन्य प्रमाण उनके द्वारा अपनी रचना के लिए प्रयुक्त 'अतिद्वयी कथा' यह विशेषण भी माना जाता है। अतिद्वयी कथा से आशय है, पहले लिखी गयी दो कथाओं को पीछे छोड़ने वाली कथा। बाण अपने पूर्व में रची गयी जिन दो कथाओं का यहाँ संकेत दे रहे हैं, टीकाकार भानुचंद्र सिद्धचंद्र के अनुसार वे हैं—गुणाढ्यकृत बृहत्कथा तथा सुबंधु की वासवदत्ता। इसके साथ ही सुबंधु के रचनाकाल के सम्बन्ध में अन्य प्रमाण उनके द्वारा श्लेष में नैयायिक उद्योतकर तथा धर्मकीर्तिकृत बौद्धसंगत्यलंकार नामक ग्रंथ का उल्लेख है—'न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्, बौद्धसङ्गतिमिवालङ्कारभूषिताम्।' उद्योतकर तथा धर्मकीर्ति का समय छठी शताब्दी है, अतः सुबंधु छठी शताब्दी के पश्चात् हुए—यह कहा जा सकता है। ७३६ ई० में विरचित प्राकृत महाकाव्य गौडवहो में सुबंधु का उल्लेख है, पर बाण का नहीं। अतः यह कहा जा सकता है कि इस महाकाव्य की रचना के समय सुबंधु प्रसिद्ध हो चुके थे, बाण को उतनी ख्याति नहीं मिल पायी थी। सुबंधु का उल्लेख करने वाले अन्य कवियों में कविराज (१२०० ई०) ने अपने राघवपांडवीय में और मंख (११५० ई०) ने अपने श्रीकंठचरित में सुबंधु का नाम बाण से पहले लिया है। सुबंधु ने अपनी कथा के आरम्भिक पद्यों में राजा विक्रमादित्य के निधन पर गहरा दुःख प्रकट किया है—

सारसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कङ्कः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥ (१०)

(जिस प्रकार सरोवर सूख कर स्थल-मात्र रह जाये, तो सारसवत्ता (सारसों का होना) नहीं रह जाती, न बक (बगुले) वहाँ रहते हैं, न कंक पक्षी ही, उसी प्रकार विक्रमादित्य के कीर्तिशेष हो जाने पर सारसवत्ता (वह रसमयता) समाप्त हो गयी, नवक (नये कवि या राजा) विलास करने लगे और कौन किसको नहीं खा रहा या पीड़ित कर रहा?)

इससे संकेत मिलता है कि सुबंधु को राजा विक्रमादित्य के निधन का बड़ा दुःख था। इतिहास में दो ही विक्रमादित्य विशेष प्रसिद्ध हैं—एक प्रथम शताब्दी ई० पू० में हुए विक्रमादित्य और दूसरे गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त, जिन्होंने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। संभवतः सुबंधु का संकेत द्वितीय विक्रमादित्य से हो सकता है।

कुछ विद्वान् सुबंधु को बाण और यहाँ तक कि भवभूति से भी परवर्ती मानने के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि सुबंधु बाण तथा भवभूति के ऋणी हैं। वासवदत्ता में इंद्रायुध नाम का उपयोग उन्होंने बाण के इंद्रायुध अश्व के वर्णन से प्रेरित होकर किया है। भवभूति के निम्नलिखित पद्य को सुबंधु ने अपनी वाक्यावली में रूपान्तरित किया है—

लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव सा
प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितोवान्तर्निखातेव च।

सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
श्चिन्तासन्ततितन्तुजालनिविडस्यूतेव लग्ना प्रिया॥

सुबंधु ने भवभूति की उत्प्रेक्षाओं को यथावत् प्रस्तुत करते हुए कहा है—

हृदये विलिखितमिव, उत्कीर्णमिव, प्रत्युप्तमिव, कीलितमिव, निगलितमिव, वज्रलेपघटितमिव, अस्थिपञ्जरप्रविष्टमिव, मर्मान्तरस्थितमिव, मज्जाशबलितमिव कन्दर्पकेतुं मन्यमाना।

यह मत अप्रामाणिक है। बाण और भवभूति दोनों सुबंधु से प्रेरित और प्रभावित हैं—यह भी कहा जा सकता है।

कथावस्तु—वासवदत्ता कथा का नायक राजा चिंतामणि का पुत्र कंदर्पकेतु है। नायक और नायिका प्रत्यक्ष मिलन के पूर्व एक-दूसरे को स्वप्न में देखते हैं। नायक अपने मित्र मकरंद के साथ प्रिया की खोज में निकल पड़ता है। वह विंध्याचल पर पहुँचता है और वहाँ एक वृक्ष के नीचे स्थित रहकर ऊपर बैठे दो पक्षियों की बातचीत सुनता है। पक्षियों की बातचीत से उसे पता चलता है कि राजकुमारी वासवदत्ता की सारिका भी उसकी खोज में निकली है। इस प्रकार पक्षियों की सहायता से नायक और नायिका का मिलन होता है। पर वासवदत्ता का पिता शृंगारशेखर उसका विवाह कंदर्पदेतु के साथ न करके अन्य विद्याधर से करना चाहता है। तब दोनों प्रेमी एक जादू के घोड़े पर सवार होकर विंध्याटवी की ओर भाग निकलते हैं। पर परिस्थितिवशात् उनका फिर वियोग हो जाता है। राजकुमार कंदर्पकेतु सोया हुआ है। वासवदत्ता वन में भ्रमण करने निकल पड़ती है। उसे किरात (एक भील जैसी जंगली जनजाति) उसे घेर लेते हैं और उसका पीछा करते हैं। पर किरातों के बीच दो दल हो जाते हैं और वे उसे पाने के लिए आपस में ही लड़ने लगते हैं। वासवदत्ता इस बीच किसी तरह उनके चंगुल से निकल भागती है। पर वह एक ऋषि के आश्रम में अनधिकृत प्रवेश कर लेने के कारण शापग्रस्त होकर पत्थर बन जाती है। कंदर्पकेतु बावला होकर उसे खोजता फिरता है और आत्महत्या करने को तैयार हो जाता है। आकाशवाणी उसे आत्महत्या करने से रोकती है। अंत में वह भटकता हुआ उसी आश्रम में पहुँच जाता है, जहाँ वासवदत्ता पत्थर बन कर पड़ी हुई है, और उसका स्पर्श पाकर वासवदत्ता अपने वास्तविक रूप में आ जाती है।

कथानक की विशेषताएँ—वासवदत्ता लोककथा पर आधारित है। लोककथाओं की रूढ़ियों और अभिप्रायों का इसमें भरपूर प्रयोग किया गया है। ये रूढ़ियाँ हैं—(१) नायक और नायिका का प्रत्यक्ष मिलन के पहले एक-दूसरे को स्वप्न में देखना, स्वप्न में ही एक-दूसरे का नाम जान लेना, (२) नायक द्वारा पक्षियों की बातचीत सुन कर नायिका से मिलने का उपाय खोज लेना, तथा उनके मिलन में शुक और सारिका पक्षियों की सहायता। (३) कथा का एक अंश शुक के मुख से कहलाया जाना, (४) जादू के घोड़े पर सवार होकर नायक और नायिका का पलायन, (५) आकाशवाणी का आत्महत्या करने से नायक को रोकना।

शैली—सुबंधु गौडी रीति के कवि हैं। ओजोगुण उनकी रचना में भरपूर है। लम्बे समासों की लड़ियाँ वे निरन्तर गूँथते चलते हैं। चमत्कारप्रदर्शन का आग्रह तथा प्रत्येक वाक्य में हर एक पद में श्लेष लाने के लिए आयास ने उनकी रचना की सहजता और प्रासादिकता को नष्ट कर उसे जटिल और क्लिष्ट बना दिया है। सुबंधु को अपनी श्लेषगुंफन की कुशलता पर गर्व है। वे अपने आपको 'प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्ध-विन्यासवैदग्ध्यनिधि' कहते हैं। श्लेष के साथ विरोध और परिसंख्या अलंकारों का संकर रचने में सुबंधु की पटुता प्रशंसनीय है। संभवतः बाण ने अपने गद्य में श्लेष, विरोध और परिसंख्या के निर्वाह की कला उन्हीं से अपनायी होगी। शाब्दीक्रीडा में सुबंधु का रचनाकार अधिक रमा है, उनका भावपक्ष इस कारण से दुर्बल हो गया है। श्लेष और विरोध अलंकारों पर आधारित परिसंख्या के प्रयोग में वे संस्कृत कवियों के पथप्रदर्शक कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ—

"यस्य च रिपुवर्गः सदा पार्थोऽपि न महाभारतरणयोग्यः, भीष्मोऽप्यशान्तनवे हितः, सानुचरोऽपि न गोत्रभूषितः" (जिस राजा चिंतामणि के शत्रु पार्थ (अर्जुन) होकर भी महाभारत युद्ध लड़ने में असमर्थ थे, अन्य अर्थ में अपार्थ होते हुए महाभारत युद्ध नहीं कर सकते थे। भीष्म (महाभारत के पात्र, भयंकर) होते हुए भी शान्तनु (भीष्म के पिता) के शुभचिंतक न थे या अन्य अर्थ में अशांतनु अर्थात् क्रुद्ध चिंतामणि राजा के हितकारक थे। सानुचर (पहाड़ पर घूमने वाले, अनुचरों के साथ घूमने वाले) होकर भी गोत्ररहित (पर्वत से रहित, कुलनाम से रहित) थे—इत्यादि। यह श्लेषमूलक विरोध का उदाहरण है। इसी प्रकार श्लेष पर आधारित परिसंख्या अलंकार के इस प्रकार के प्रयोग वासवदत्ता में पदे-पदे मिलते हैं—

शृंखलाबन्धो वर्णग्रथनासु, उत्प्रेक्षाक्षेपः काव्यालङ्कारेषु, लक्षदानच्युतिः सायकानाम्, क्विपां सर्वविनाशः, कोषसङ्कोचः कमलाकरेषु न जनेषु, जातिविहीनता मालासु न कुलेषु—इत्यादि। अर्थात् उस राजा के राज्य में शृंखलाबंध (चित्रकाव्य का एक भेद) केवल कविता में ही होता था, लोगों को शृंखला से नहीं बाँधा जाता था। उत्प्रेक्षा और आक्षेप काव्य के अलंकार के बीच ही होते थे, प्रजाओं में किसी की भर्त्सना या निन्दा नहीं होती थी। लक्ष्य के भेद का काम बाण ही करते थे, प्रजा में लक्षच्युति (लोगों का दान से च्युत होना) नहीं थी। क्विप् प्रत्यय का विनाश व्याकरण में ही होता था, पक्षियों का विनाश नहीं होता था। कोष का संकोच कमलों में ही होता था, प्रजा के कोष या खजाने का नहीं, जातिविहानता (मालती के फूल का न होना) मालाओं में ही पायी जाती थी, प्रजाओं में नहीं।

अनुप्रास का चमत्कार तो लगातार सम्पूर्ण रचना में सुबंधु ने बनाये रखा है, फिर भी कथनोपकथन में प्रायः छोटे-छोटे वाक्यों व अल्पसमासमय पदावली का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

सुकान्ते कान्तिमति, त्वं मन्दमन्दमपनय वाष्पबिन्दून्। यूथिकालङ्कृते यूथिके, सञ्चारय नलिनीदलवृन्तेनार्द्रवातान्। एहि भगवति निद्रे अनुगृहाण माम्।

धिगिन्द्रियैरपरैः, किमिति लोचनमयानि न कृत्यान्यङ्गानि विधिना। भगवन् कुसुमायध, अनुवशो भव भाववति मादृशे जने।

सुबंधु की वर्णनकला में नवोन्मेष और मौलिकता कम, बँधे बँधायी लीक पर अधिकाधिक चमत्कारप्रदर्शन का आग्रह अधिक है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे कल्पना और अर्थ का चमत्कार भी उसी प्रकार करने में पटु हैं जिस प्रकार भाषा और पदावली के विन्यास का चमत्कार दिखाने में। इसलिए विविध अर्थांकारों की निराली छटाएँ और विच्छित्तियाँ उनकी रचना में उभरती हैं। मालादीपक का यह विन्यास उदाहरणीय है—**यस्य च समरभुवि भुजदण्डेन कोदण्डं, कोदण्डेन शराः, शरैररिशिरः अरिशिरसा भूमण्डलं, भूमण्डलेनानुभूतपूर्वो नायकः, नायकेन कीर्तिः, कीर्त्या च सप्त सागराः सागरैश्च कृतयुगादिराजचरितस्मरणम्, स्मरणेन स्थैर्यं, स्थैर्येण प्रतिक्षणमाश्चर्यमासादितम्।**

वर्ण्य विषय के अनुसार लम्बे वाक्यों के प्रतान भी सुबंधु गूँथते हैं। स्वप्न में देखी गयी नायिका का वर्णन पूरे बीस पृष्ठों के एक वाक्य में उन्होंने किया है। इसी तरह के अन्य वर्णन उनकी रचना में हैं—विंध्याटवीवर्णन, रेवावर्णन तथा स्वप्नदृष्ट नायक का वर्णन। वर्णनों में चमत्कार-प्रदर्शन पर ही कवि का आग्रह प्रबल रूप में प्रकट हुआ है। वह नायिका को रक्तपाद बताकर श्लेष के द्वारा उसकी तुलना व्याकरणशास्त्र से कर देता है, क्योंकि नायिका का पाद (चरण) रक्त या लाल है, तो पाणिनि की अष्टाध्यायी में एक पाद (ग्रंथ का भाग) 'तेन रक्तं रागात्' इस सूत्र से आरम्भ होता है, अतः अष्टाध्यायी भी रक्तपाद है। इसी प्रकार सुबंधु नायिका को 'छन्दोवीचिति' (छन्दःशास्त्र का एक ग्रंथ) भी बता देते हैं, क्योंकि नायिका भी 'भ्राजमानतनुमध्या' है, और 'छन्दोवीचिति' भी तनुमध्या नामक छंद से भ्राजमान या सुशोभित है। इस प्रकार नायिका उपनिषद् की भाँति ब्रह्मानंद देने वाली, द्विजकुल की मर्यादा के समान सदाचरण (अच्छे आचरण, सुंदर पाँव) से युक्त, विंध्याचल के समान सुंदर नितंबों वाली, या व्रज की भाँति मुष्टिग्राह्यमध्या हो जाती है—

उपनिषदमिवानन्दमेकमुद्योतयन्तीम्, द्विजकुलस्थितिमिव चारुचरणाम्, विन्ध्यगिरिमिव सुनितम्बाम्, तारामिव गुरुकलत्रतयोपशोभिताम्, शतकोटिमुष्टिमिव मुष्टिग्राह्यमध्याम्, प्रियङ्गुश्यामासखीमिव प्रियदर्शनाम्, ब्रह्मदत्तमहिषीमिव सोमप्रभाम्, दिग्गजरेणुकामिवानुपमाम्, रेवामिव नर्मदाम्, वेलामिव तमालपत्रप्रसाधिताम्, अश्वतरकन्यामिव मदालसां वासवदत्तां ददर्श।

कहीं-कहीं सुबंधु प्रसंगानुसार भावाभिव्यक्ति में समर्थ रसमय वचोविन्यास में भी निपुणता प्रकट करते हैं। ऐसे अवसरों पर वे प्रसादगुण से सम्पन्न छोटे-छोटे वाक्य निर्मित करने वाली सरल पदावली का रमणीय प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए—''रविविरहविधुरायाः कमलिन्या हृदयमिव द्विधा पपाट चक्रवाकमिथुनम्। आगमिष्यतो हिमकरदयितस्य पार्श्वे सञ्चरन्ती कुमुदिन्या भ्रमरमाला दूतीवालक्ष्यत।''

बाण

बाण ने अपने हर्षचरित में अपनी आत्मकथा लिखते हुए अपना परिचय दिया है, तथा अन्य स्रोतों से भी इनके जीवन और कृतित्व के विषय में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध है। तदनुसार ये वत्स गोत्र के ब्राह्मण थे। इनके एक पूर्वज का नाम कुबेर था। कुबेर की विद्वत्ता का परिचय देते हुए बाण ने बताया है कि उनके यहाँ बहुसंख्य छात्र यजुर्वेद और सामवेद का पाठ सीखते थे, और पाठ करते समय उनमें से कोई अशुद्धि करता तो उनके घर में पाले हुए तोते और मैनाएँ उसे टोक कर पाठ सुधरवा देते थे। बाण का जन्म प्रीतिकूट नामक गाँव में हुआ था, जो शोण और गंगा के संगम पर बसा था। बाण के पिता का नाम चित्रभानु और माता का नाम राजदेवी था। इनकी माता का देहावसान इनके शैशव में ही हो गया तथा पिता भी उस समय चल बसे, जब ये चौदह वर्ष के थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् बाण कुछ उच्छृंखल होकर देशाटन करते रहे और कई प्रकार के लोगों से इनकी मित्रता हुई। हर्षचरित में अपने मित्रों की उन्होंने जो लम्बी सूची दी है उसमें भाषा कवि ईशान, विद्वान् वारबाण तथा वासबाण, प्राकृतकवि वायुविकार और पुराणवाचक सुदृष्टि के साथ बौद्धभिक्षुणी, विषवैद्य, पानविक्रेता, स्वर्णकार, मृदंगवादक, मिट्टी के खिलौने बनाने वाले, गायक, प्रसाधिका, संवाहिका, नर्तक, जुआरी, नर्तकी, संन्यासी, जैन साधु, कथावाचक, मंत्रसाधक आदि सभी प्रकार के लोग हैं। बाद में घर आ कर बाण ने अपना अध्ययन फिर से प्रारम्भ किया और कुलोचितरीति का निर्वाह करते हुए गाँव में रहने लगे। एक बार राजा हर्ष के छोटे भाई कृष्ण का पत्र उनके पास आया, जिसमें संदेश दिया गया था कि उन्हें महाराज हर्ष ने बुलाया है। बाण हिचकते हुए भी कृष्ण के अनुरोध को स्वीकार करके राजसभा में गये। राजसभा में हर्ष ने उनका अपमान किया, तो बाण ने भी तमक कर स्वाभिमान के साथ उन्हें प्रत्युत्तर दे दिया। बाद में हर्ष बाण पर प्रसन्न हुए और उन्हें यथोचित सम्मान दिया। कुछ समय के पश्चात् बाण अपने गाँव प्रीतिकूट लौट गये।

बाण के समय के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। वे राजा हर्ष (६०६-६४७ ई०) के समकालीन थे, उनके साथ मयूर तथा भक्तामरस्तोत्र के प्रणेता दिवाकमातंग भी हर्ष की सभा में रहे थे। किवदंतियों में बाण को मयूर का बहनोई भी बताया गया है।

कृतियाँ—बाण की निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं—हर्षचरित आख्यायिका तथा कादंबरी कथा—ये दोनों गद्यकाव्य; तथा चंडीशतक स्तोत्रकाव्य। इनके अतिरिक्त सुभाषित संग्रहों में इनके रचे अनेक मुक्तक उद्धृत हैं, जो बाण ने अपनी घुमक्कड़ी के दिनों में लिखे होंगे। इन मुक्तकों में ग्रामांचलों और निम्नवर्ग या मध्यवर्ग के जीवन का सरस वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त मुकुटताडितक नामक रूपक का प्रणेता भी बाण को माना गया है। यह रूपक अप्राप्त है। भोज के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि यह नाटक महाभारत पर आधारित था।

हर्षचरित—हर्षचरित आख्यायिका है। इसमें आठ उच्छ्वास हैं। बाण इसे पूरा नहीं कर सके। इसके नायक स्थाण्वीश्वर (थानेसर) के राजा हर्ष हैं। कथा का आरम्भ

कवि ने अपने स्वयं के वंशवर्णन तथा परिचय से किया है। लोककथाओं तथा मिथकों का भी उसने अपने पूर्वजों तथा कथानायक के वंश के आरम्भ का वर्णन करने में भरपूर किया है, जिससे ऐतिहासिकता के स्थान पर अलौकिक या काल्पनिक वृत्तांतों का समावेश कथा में हो गया है। हर्ष के वृत्तांत की वास्तविक कथा चतुर्थ उच्छ्वास से आरम्भ होती है। रानी यशोवती एक बार स्वप्न में दो राजकुमारों तथा एक कुमारी को सूर्यमंडल से निकल कर अपने उदर में प्रवेश करता देखती है। कुछ समय पश्चात् वह राज्यवर्धन, हर्षवर्धन तथा राज्यश्री—इन तीन संतानों को जन्म देती है। राज्यश्री का विवाह मौखरी नरेश गृहवर्मा के साथ होता है। राज्यवर्धन हूणों पर विजय के लिए प्रस्थान करता है, तथा राजकुमार हर्ष भी उसके साथ जाता है। यहाँ तक का प्रसंग चौथे उच्छ्वास में निबद्ध है। हर्ष को अचानक पिता के अस्वस्थ होने का समाचार मिलता है और वह राजधानी लौटता है। पंचम उच्छ्वास में गहरे विषाद और करुणा के उद्रेक के साथ कवि ने रानी यशोवती के सती होने तथा प्रभाकरवर्धन के दुःखद निधन का वर्णन किया है। षष्ठ उच्छ्वास में राज्यवर्धन हूणों पर विजय प्राप्त करके लौटता है, और दुखी होकर राज्यभार हर्ष को सौंप देना चाहता है। इसी बीच समाचार मिलता है कि बहनोई गृहवर्मा को मालवराज ने मार डाला है। राज्यवर्धन मालवराज से जूझने के लिए चल देता है। वह मालवराज पर विजय प्राप्त कर लेता है, पर वापसी की यात्रा में गौड़ देश के राजा के द्वारा छल से मारा जाता है।

सातवें उच्छ्वास में हर्ष विजय अभियान की तैयारी करता है। आठवें उच्छ्वास में यह पता चलने पर कि बहिन राज्यश्री विंध्य के वन में सती होने की तैयारी कर रही है, वह ठीक समय पर पहुँच कर राज्यश्री को सती होने से बचा लेता है। दिवाकरमित्र के द्वारा राज्यश्री को दिये गये प्रबोधन और हर्ष की राज्यश्री को लेकर वापसी तक के प्रसंग का निरूपण इस उच्छ्वास में किया गया है। कुछ विद्वानों के मत से हर्षचरित अपने वर्तमान रूप में अपूर्ण है। अन्य विद्वानों का विचार है कि बाण को हर्ष का यहीं तक का चरित लिखना अभीष्ट था, और इसे अष्टम उच्छ्वास के साथ ही पूर्ण माना जाना चाहिये।

कथावस्तु की विशेषता—बाण ने हर्षचरित में राजा हर्ष का ही चरित नहीं लिखा, अपने समय के जनजीवन, समाज और संस्कृति को लोककथा, आख्यान, लोकाचार, लोकविश्वास के साथ गूँथ कर प्रस्तुत कर दिया है। वनग्रामों और बीहड़ वनों में बाण भटकते हैं, वहाँ के पूरे पर्यावरण को एक-एक ब्यौरे के साथ अंकित करते हैं, विंध्याचल के आदिवासियों का रहनसहन, उनका चावल के भूसे में आग लगाना, गायों के लिए बाड़ा बनाना, वनग्रामों में बाघ आदि हिंसक पशुओं का आतंक, गाँव के लोगों का बाघ को फँसाने के लिए जाल लगाना, वनपालों का लकड़ी काटते लोगों से कुल्हाड़ी छीन लेना आदि असंख्य दृश्यों की माला हर्षचरित में पिरोते हुए भारत के ऐतिह्य और वैविध्य को सजीव रूप में बाण ने साकार कर दिया है।

कादंबरी—कादंबरी कथा विधा का गद्यकाव्य है। हर्षचरित की भाँति यह भी बाण के द्वारा अधूरी ही छोड़ दी गयी, जिसे उनके पुत्र ने पूर्ण किया। पुत्र का नाम कहीं पुलिंदभट्ट मिलता है, तो कहीं भूषण। दो कवियों की रचना होने से यह पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में विभक्त की गयी है। पूर्वार्ध बाण की रचना है, उत्तरार्ध उनके पुत्र की। बाण के पुत्र ने अधूरी कथा आरम्भ करते हुए यह तो लिखा है कि मेरे पिता के अकस्मात् निधन हो जाने से यह महान् कथाप्रबंध अधूरा रह गया, मैं इसको पूरा करने का प्रयास कर रहा हूँ; पर उन्होंने स्वयं अपना नाम तक कहीं प्रकट नहीं किया। महाकवि धनपाल के अनुसार बाण के इस पुत्र का नाम पुलिंध्र है। पुलिंध्र के द्वारा बाण के काव्य की पूर्ति के प्रयास की प्रशंसा में धनपाल कहते हैं—

केवलोऽपि स्फुरन् बाणः करोति विमदान् कवीन्।
किं पुनः क्लृप्तसन्धानपुलिन्ध्रकृतसन्निधिः॥

(तिलकमंजरी, प्रास्ताविकपद्य-२६)

कादंबरी की कथा में नायक चंद्रापीड तथा उसके सहायक वैशंपायन के तीन-तीन जन्मों की कहानियाँ हैं। प्रारम्भ में राजा शूद्रक का विस्तार से वर्णन है। एक बार शूद्रक की राजसभा में एक चांडाल कन्या एक बोलने वाले तोते को लेकर आती है। तोते का नाम है वैशंपायन। राजा के आग्रह पर वैशंपायन अपनी कथा सुनाता है। इस कथा के भीतर भी जाबालि ऋषि वैशंपायन के पूर्वजन्म की कथा सुनाते हैं। जाबालि के द्वारा सुनायी गयी कथा में नायक चंद्रापीड है। चंद्रापीड की कथा के साथ अविभाज्य रूप से महाश्वेता और पुंडरीक की करुण प्रणय गाथा जुड़ी हुई है, जिसे स्वयं महाश्वेता चंद्रापीड को सुनाती है। महाश्वेता चंद्रापीड को अपनी सखी गंधर्वराजकुमारी कादंबरी से मिलवाती है। नायिका कादंबरी से उसका प्रेम होता है। इसी समय चंद्रापीड को उज्जयिनी वापस लौटना पड़ता है। उसकी तांबूलकरंकवाहिनी पत्रलेखा बाद में उज्जयिनी आकर कादंबरी का संदेश उसे देती है। यहीं पर बाण के द्वारा विरचित कादंबरी का पूर्वभाग समाप्त हो जाता है। उत्तरभाग में चंद्रापीड कादंबरी से मिलने के लिए जाता है। वह महाश्वेता से मिलता है। महाश्वेता से उसे अपने मित्र वैशंपायन की दुःखद आकस्मिक विपत्ति का पता चलता है। वैशंपायन महाश्वेता पर मुग्ध होकर उसके प्रेम में बावला हो गया था। महाश्वेता उसके प्रणय प्रस्ताव से खिन्न होकर उसे शाप दे बैठी, जिससे वह तोता बन गया। मित्र की विपत्ति सुनकर चंद्रापीड का प्राणांत हो जाता है। पर उसका शरीर मृत्यु के बाद भी विकाररहित बना रहता है। कादंबरी अपने प्रिय के निधन पर विलाप करती है। तारापीड और देवी विलासवती पुत्र की मृत्यु का समाचार पाकर अत्यन्त दुःखी होते हैं। जाबालि के द्वारा सुनायी गयी कथा यहीं समाप्त हो जाती है। इसके पश्चात् वैशंपायन नामक तोता अपनी कथा जारी रखता है। इस कथा में पुंडरीक का मित्र कपिंजल अपने मित्र को खोजता हुआ जाबालि के आश्रम में आता है। एक दिन तोता जाबालि के आश्रम से उड़ जाता है और एक चांडाल के हाथों में पड़ जाता है। चांडाल उसे अपनी लाड़ली बेटी को दे देता है। यही

चांडालकन्या उसे लेकर शूद्रक की राजसभा में आती है। इसके पश्चात् चांडालकन्या भी अपना वास्तविक परिचय देते हुए बताती है कि वह पुंडरीक की माता लक्ष्मी है, तथा पुंडरीक ही इसके पहले के जन्म का वैशंपायन तथा वर्तमान जन्म का शुक है। शूद्रक स्वयं पिछले जन्म में चंद्रापीड ही था। चंद्रापीड भी उसके पहले जन्म में चंद्रमा था, जिसे कामदाह से दग्ध पुंडरीक ने धरती पर अतवरित होने का शाप दिया था। यह सब वृत्तांत जान कर लक्ष्मी के जाने पर शूद्रक तथा वैशंपायन शुक अपना देह छोड़ देते हैं और चंद्रापीड का अविनाशी शरीर सजीव हो उठता है। आकाश से पुंडरीक भी आ उतरता है और अंत में सबका मिलन हो जाता है।

कादंबरी की यह कथा मूलतः बृहत्कथा या लोककथाओं की परम्परा से प्रेरित होती है। एक कथा के भीतर अन्य कथा तथा उसके भीतर तीसरी कथा—इस प्रकार की कथागुंफन शैली का प्रयोग बृहत्कथा तथा उसकी परम्परा में प्रचुरता से हुआ है। कादंबरीकार ने भी यह शैली अपनायी है। बोलने वाला तोता; त्रिकालदर्शी महर्षि जाबालि के द्वारा भूत, भविष्य व वर्तमान की घटनाओं का प्रत्यक्षदृष्ट के समान वर्णन; मर्त्यलोक से परे हिमालय के दिव्य वातावरण में अप्सराओं और गंधर्वों के बीच दिव्य प्रेम; शाप से जन्मांतर की प्राप्ति; अन्य जन्म में भी पूर्वजन्म का स्मरण आदि प्रसंगों में लोककथाओं के अभिप्राय गुँथे हुए हैं।

बाणभट्ट की कथानिरूपण की शैली में समय थम जाता है, हम अपने समय से उठ कर एक अन्य दिक्काल में पहुँच जाते हैं, जहाँ समय की अपनी गति है। कादंबरी की कथादृष्टि का मार्मिक विवेचन करते हुए महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसकी तुलना एक विलम्बित में प्रस्तुत किये जाते वाद्यवृंद (कंसर्ट) से की है। कहते हैं—"वर्णन, तत्त्वों की आलोचना और अवांतर प्रसंगों से कथाप्रवाह पग-पग पर खंडित होने पर भी उससे प्रशांत भारत के धैर्य में किसी प्रकार का अंतर नहीं देखा जाता।........ कादंबरी में हम देखते हैं कि बाणभट्ट ने संस्कृत भाषा को अनुचरसहित सम्राट् की तरह आगे बढ़ाया है। कथाभाग उसके पीछे छत्र लगाये हुए दास की तरह सकुचा हुआ चल रहा है। .....संस्कृत कवियों में चित्र खींचने में बाण की बराबरी करने वाला दूसरा कवि नहीं है। सारा कादंबरी काव्य एक चित्रशाला है। साधारणतः घटना का वर्णन करके किस्से कहे जाते हैं। परन्तु बाणभट्ट ने उत्तरोत्तर चित्र सजा कर किस्सा कहा है" (प्राचीन साहित्य, पृ० ६७)।

कादंबरी की कथा की विशेषता यह है कि उसमें बाण ने अपने जीवन के मार्मिक अनुभवों को कल्पना और यथार्थ के अद्भुत समन्वय के साथ गूँथ दिया है। वैशंपायन तोते का अपने पिता के स्नेह का अनुभव बड़ा कारुणिक है। उसकी असहाय निरीह दशा, जिजीविषा, उत्कट पिपासा और भटकाव में बाण ने एक बार फिर अपनी आपबीती को करुणा और विषाद की गहरी छाया में रच दिया है। बाण का व्यक्तित्व और उनके भारतीय समाज की पहचान कादंबरी में गहरे स्तरों तक संक्रांत हुई है। एक ओर उनका आभिजात्य और महान् वंश-परम्परा है, जिसके कारण उनकी शैली में

औदात्य और शास्त्रज्ञ की प्रामाणिकता संभव हुई, दूसरी ओर समाज के मध्य वर्ग और निम्न वर्ग से जुड़ने और उसके बीच रमने की तीव्र अभिलाषा ने उनकी रचना को गहरी मानवीय अर्थवत्ता दी है। वे मानव-समाज की व्यथाकथा के अनुपम कथाकार हैं। टॉल्स्टॉय जैसी कुलीनता और आर्ष दृष्टि वाले बाण यदि उन्नीसवीं शताब्दी में जन्मे होते, तो 'वार एंड पीस' जैसी महान् रचना की सृष्टि करते। पर सातवीं शताब्दी की रचना होकर भी उनकी कादंबरी मनुष्य की महागाथा को इस रूप में प्रस्तुत करती है कि वह आज के उपन्यास का भी आस्वाद देती है। बाण उपन्यासविधा के अग्रदूत कहे जा सकते हैं। मराठी में तो कादंबरी शब्द व्यक्तिवाचक या ग्रंथविशेष की संज्ञा के स्थान पर उपन्यास के अर्थ में जातिवाचक संज्ञा के रूप में रूढ़ हो गया, जिसके पीछे कादंबरी का औपन्यासिक कलेवर ही कारण है।

बाण की गद्यशैली की विशेषताएँ—बाण की रीति पांचाली मानी गयी है, जिसमें वैदर्भी तथा गौडी दोनों रीतियों की विशेषताएँ समाहित हो जाती हैं। कहीं तो बाण कई-कई पृष्ठों में चलने वाले एक वाक्य में अगणित विशेषणों तथा दीर्घ दीर्घतर समासबंधों के द्वारा वर्ण्यविषय के एक-एक पक्ष को साकार कर देते हैं, तो कहीं भावतरंगों या विचारकणों को व्यक्त करने के लिए दो-तीन पदों वाले अत्यन्त छोटे-छोटे वाक्यों के द्वारा अर्थ को हृदय में उतारते जाते हैं। उनका गद्य उत्कलिकाप्राय के रूप में तो अद्वितीय है ही, कहीं वह चूर्णक बन जाता है तो कहीं मुक्तक। पांचाली रीति के सबसे श्रेष्ठ प्रयोक्ता के रूप में बाण को साहित्यिक परम्परा ने मान्यता दी है। कहा गया है—

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते।
शीलाभट्टारिकावाचि बाणस्योक्तिषु सा यदि॥

चांडालकन्या, विंध्याटवी आदि के वर्णनों में बाण का एक-एक वाक्य ही कई-कई पृष्ठों में जाकर समाप्त होता है। दूसरी ओर अनेक स्थलों पर बाण के वाक्यों का विन्यास वार्तालाप की शैली में हो जाता है। इसका सुंदर उदाहरण कादंबरी में शुकनासोपदेश में है। इसी प्रकार पुंडरीक को प्रबोध देते हुए कपिंजल के ये कथन भी उदाहरणीय हैं—"सखे पुण्डरीक, नैतदनुरूपं भवतः। क्षुद्रजनक्षुण्ण एष मार्गः। धैर्यधना हि साधवः। ....क्व ते तद् धैर्यम्। क्वासाविन्द्रियजयः। क्व तद् वशित्वं चेतसः। क्व सा प्रशान्तिः। ....सर्वथा निष्फला प्रज्ञा। निर्गुणो धर्मशास्त्राभ्यासो, निरर्थकः संस्कारो, निरुपकारको गुरूपदेशविवेको, निष्प्रयोजना प्रबुद्धता" आदि।

अलंकार—उपमा, श्लेष, रूपक, परिसंख्या तथा विरोध जैसे अलंकारों की लड़ी गूँथने में बाण की विलक्षणता अप्रतिम ही है। वर्ण्यविषय के असंख्य पक्षों को वे उपमाओं, रूपकों या उत्प्रेक्षाओं की लम्बी लड़ियाँ बना-बना कर समेट लेते हैं, या परिसंख्या अथवा विरोध के द्वारा उसे नवीन विन्यास देते हैं।

वर्णनकला—अपने वर्णनों में बाण विराट् परिदृश्य को अंकित करते हैं। वे वर्ण्यविषय की सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं को साकार करते हैं। संसार के विषय में उनका ज्ञान अगाध है। वनों, वनस्पतियों, नगरों, प्रासादों, वेशभूषा, अलंकार, लोकाचारों

आदि के विषय में वे इतनी सूचनाओं और जानकारियों का अंबार लगा देते हैं कि उनके विश्वकोशात्मक ज्ञान पर विस्मय से स्तब्ध रह जाना पड़ता है। इसीलिए बाण के विषय में कहा गया है कि संसार की कोई वस्तु न होगी, जिसको उन्होंने अपने वर्णनों का विषय न बनाया हो—'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्'—अर्थात् बाण ने सारे संसार को उच्छिष्ट बना दिया है। वस्तुतः उनके वर्णनों में चांडालकन्या, विंध्याटवी, शबरसैन्य, जाबालितपोवन, महाश्वेता तथा कादंबरी के वर्णन विश्वसाहित्य के सर्वश्रेष्ठ वर्णनों में परिगणनीय हैं। बाण अपनी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के द्वारा इतिहास, पुराण, आख्यान, तीर्थ आदि का विस्तृत फलक उपस्थित कर देते हैं। विंध्याटवी उन्हें प्रलय की बेला के समान लगती है, जिसमें महावराह धरणीमंडल को उखाड़ रहे हैं, या दशमुख की नगरी लंका जैसी है, जिसमें चपल वानरवृंद उत्तुंग शालो (शालाओं) की तोड़-फोड़ कर रहे हैं, कहीं वह विवाह भूमि प्रतीत होती है, जिसमें हरे कुश, समिधाएँ, फूल, शमी और पलाश शोभित हो रहे हैं, कहीं वह मतवाले मृगपति के गर्जन से कंटकित (काँटों से भरी, भयभीत) रमणी लगती है। छोटी से छोटी वस्तु को बाण अनंत सौन्दर्य से मंडित कर देते हैं। राजा शूद्रक व्यायाम करता है, तो उसके वक्ष से गिरती पसीने के बूँदें टूट गयी मुक्तामाला के मोतियों-सी लगती हैं।

चांडालकन्या को उन्होंने अनुपम सौन्दर्य से मंडित करके साकार कर दिया है। उपमानों और उत्प्रेक्षाओं के द्वारा संसार के सारे सौन्दर्य से उसका कमनीय चित्र वे खड़ा करते हैं। कुछ अंश उद्धत हैं—

असुगृहीतामृतापहरणकृतकपटपटुवेशविलासिनीवेशस्य श्यामतया भगवतो हरेरिवानुकुर्वतीम्, सञ्चारिणीमिवेन्द्रनीलमणिपुत्रिकाम्, आगुल्फावलम्बिना नीलकञ्चुकेनाच्छन्नशरीराम्, उपरिरक्तांशुकविरचितावगुण्ठनां नीलोत्पलस्थली-मिव निपतितसन्ध्यातपाम् एककर्णावसक्तदन्तपत्रप्रभाधवलितकपोलमण्डलाम् उद्यदिन्दुकिरणच्छुरितमुखीमिव विभावरीम्—(वह कन्या अपने साँवले रंग के कारण राक्षसों के द्वारा गृहीत अमृत का अपहरण करने के लिए माया के द्वारा मोहिनीरूप धरने वाले भगवान् विष्णु की तरह लगती थी, श्यामता के कारण वह इंद्रनील (नीलम) मणि से बनी चलती-फिरती पुतली- सी प्रतीत होती थी, घुटनों तक लटकने वाले नीले कंचुक से आच्छादित शरीर वाली वह माथे पर लाल रेशमी अंशुक (दुपट्टे) से घूँघट रचाये हुए थी, तो नीलकमल से भरी धरती की तरह लगती थी, जिस पर साँझ के समय की धूप पड़ रही हो। एक कान में वह हाथी दाँत का बना झुमका पहने हुए थी, जिसकी कांति से उसका कपोल धवल हो गया था; जिससे वह उस रात की तरह लगती थी जिसका मुख (पहला प्रहर) उदय होते चंद्रमा की किरणों से प्रकाशित हो रहा हो।)

महाश्वेता का वर्णन तथा उसकी आपबीती बाण के साहित्य में सबसे सुन्दर, मार्मिक और सौन्दर्यमय प्रसंग है। अपने नवयौवन के अनुभव का वर्णन करती हुई महाश्वेता कहती है—

क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन, नवयौवनेन पदम्।

(धीरे-धीरे मेरे देह में नवयौवन आया जैसे वसंत में चैत का महीना आता है, चैत के महीने में नयी कोंपलें आती हैं, नयी कोंपलों के बीच फूल आते हैं, फूलों पर भौंरे आते हैं और भौंरों में मद आता है।)

चरित्रचित्रण कला की दृष्टि से बाण की कादंबरी उनके हर्षचरित से अधिक परिपक्व रचना है। दूरदर्शी तथा नापतौल कर बोलने वाला शास्त्रज्ञ मंत्री शुकनास, अपने मित्र पर प्राण निछावर करने वाला वैशंपायन, अत्यन्त सहृदय प्रेमी चंद्रापीड जो अपने मित्र के प्राणांत को झेल नहीं पाता, करुणा की मूर्ति महाश्वेता और प्रणय के राग का साकार रूप कादंबरी, ये सभी चित्र अत्यन्त सजीव हैं।

प्रणय के चित्रण में अनुभवों के द्वारा मनोदशा का बारीक अंकन करने में बाण ने अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। युवा चंद्रापीड को पहली बार देखने पर कादंबरी की दशा का यह चित्र उदाहरणीय है—

अथ तस्याः कुसुमायुध एव स्वेदमजनयत्, सम्भ्रमोत्थानश्रमो व्यपदेशमभवत्। उरुकम्प एव गतिं रुरोध, नूपुररवाकृष्टहंसमण्डलमपयशो लेभे। निःश्वासप्रवृत्तिरेवांशुकं चलं चकार, चामरानिलो निमित्ततां ययौ। अन्तःप्रविष्टचन्द्रापीडलोभेनैव पपात हृदये हस्तः, स एव करः स्तनावरणव्याजो बभूव। इत्यादि।

(चंद्रापीड के अनुपम सौन्दर्य और आकर्षक रूप को देख कर कादंबरी को पसीना छूट गया, इस पसीने के लिए बहाना बन गया हड़बड़ी में उठने का श्रम। पाँवों के काँपने के कारण ही गति अटक गयी, पर अपकीर्ति का ठीकरा फूटा पायलों की झंकार से आकर्षित हंस की मंडली पर। साँसें तेजी से चलने के कारण ही अंशुक गति करने लगा, पर उसका निमित्त चँवर की वायु को बना दिया गया। मन में जा बसे चंद्रापीड को छूने के लिए ही वक्ष पर हाथ चला गया, पर बहाना वक्ष को ढँकने का बन गया।)

महाश्वेता और कादंबरी ने अपने प्रिय के अवसान पर विलाप हृदयद्रावक है, तो जरद्रविडधार्मिक का वर्णन शिष्ट हास्य की सरस पुष्टि करता है।

वातावरण तथा वर्ण्यविषय के अनुरूप बिम्बों की शृंखलाएँ गूँथने में बाण का कौशल पाठक को चकित कर देता है। नगर और राजसभा के दृश्यों का चित्रण करते समय वे विलासमय तड़क-भड़क से भरे उपमानों और अप्रस्तुतविधानों की सुदीर्घ सृष्टि करते चलते हैं, तो तपोवनो के शांत पावन परिवेश के चित्रण में अपनी लेखनी को अद्‌भुत गरिमा और पावनता से सम्पृक्त कर देते हैं। कादंबरी कथामुख में जाबालि के तपोवन में संध्या का यह वर्णन द्रष्टव्य है—

क्वापि विहृत्य दिवसावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्तमाना सन्ध्या तपोधनैरदृश्यत। अचिरप्रोषिते सवितरि शोकविधुरा कमलमुकुलकमण्डलुधारिणी हंसपतिदुकूलपरिधाना मृणालधवलयज्ञोपवीतिनी मधुकरमण्डलाक्षवलयमुद्वहन्ती कमलिनी दिनपतिसमागमव्रतमिवाचरत्। अपरसागराम्भसि पतिते दिवाकरे वेगोत्थितमम्भःसीकरमिव तारागण-

मम्बरमधारयत्। अचिराच्च सिद्धकन्यकाविक्षिप्तसन्ध्यार्चनकुसुमशबलमिव तारकितं वियदराजत। क्षणे चोन्मुखेन मुनिजनेनोर्ध्वविप्रकीर्णैः प्रणामाञ्जलिसलिलैः क्षाल्यमान इवागलदखिलः सन्ध्यारागः।

("साँझ उतरी, तो लगा जैसे दिनभर घूम-घाम कर लाल तारों (पुतलियों) वाली तपोवन की कपिला गाय तपोवन लौट आयी है। कमलिनी परदेश चले गये अपने प्रिय सूर्य के वियोग से दुखी होकर कमल की बंद कली के कमंडलु को लिये हुए, हंसों के धुले कपड़े पहने मृणाल का सफेद यज्ञोपवीत धारे हुए भौंरो के रुद्राक्ष पहन कर मानो उससे पुनर्मिलन के लिए तप साधने लगी। सूर्य झट से पश्चिम के भाग में गिरा, तो उससे जो बूँदें ऊपर उछलीं, वे आकाश में तारे बन कर चमक पड़ीं। कुछ देर में आकाश तारों से जगमगा उठा, जैसे सिद्ध कन्याओं के संध्या की पूजा-आरती के फूल ऊपर बिखेर दिये हों। क्षण भर में संध्या की लालिमा ऐसे धुल गयी जैसे मुनियों ने अर्घ्य दे-देकर उसके जल से उसे धो दिया हो।")

बाण अपनी कल्पना और स्वप्नलोक को इतना वास्तविक बना देते हैं कि हम उनके पात्रों के साथ अपने आपको उठता-बैठता, वार्तालाप करता और रमता हुआ अनुभव करने लगते हैं। हमें लगने लगता है कि कादंबरी में वर्णित संसार यथार्थ है। यही स्थिति महाकवि बिल्हण की थी जब उन्होंने अपने ऐतिहासिक महाकाव्य 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' में अपने कथानायक को इतिहास के देशकाल से कादंबरी के देशकाल में पहुँचा दिया। राजा कलश की दिग्विजय के वर्णन में वे कहते हैं—"अपनी दिग्दिगंत की विजय-यात्राओं से वह राजा स्फटिक विशद अच्छोद सरोवर के किनारे पहुँचा। वहाँ पर इंद्रायुध अश्व के खुरों से उट्टंकित धरती पर घूमता रहा। मनुष्य लोक के इस चंद्र को देख कर कादंबरी के परिजनों का वाणीविलास चंद्रापीड की स्तुति में संकुचित हो चला।"

दिग्यात्रासु स्फटिकविशदच्छायमच्छोदमेत्य
भ्राम्यन्निन्द्रायुधखुरपुटोट्टङ्कितासु स्थलीषु।
कादम्बर्याः परिजनमसौ मर्त्यलोकैकचन्द्र-
श्चन्द्रापीडस्तुतिषु विदधे सङ्कुचद्वाग्विलासम्॥ (विक्रमा०, १८/१३)

(बाण के रसमय विश्व में वक्रोक्तियों और व्यंजनाओं की निराली छटा, दीपक, उपमा, उत्प्रेक्षा और परिसंख्या की लड़ियाँ अपार काव्यसमृद्धि की सृष्टि करते हैं।

बाण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का बहुवर्णी बहुआयामी संसार विविध विच्छित्तियों के साथ जीता-जागता हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। कई प्रकार की ध्वनियाँ, कई प्रकार के वर्णों की विच्छित्तियाँ उनकी गद्यरचना सहज रूप में प्रस्तुत कर देती हैं। मनुष्यों की विभिन्न चेष्टाएँ, भावभंगिमाएँ और जगत् के नाना कार्यव्यापार इनमें एकसाथ सम्मिश्रित हो जाते हैं। उनके वर्णनों को पढ़ते हुए विराट् का स्पंदन हम अनुभव करते हैं। सृष्टि निरन्तर लयमय गति करती रहती है। जगत् की गतिमयता में मनुष्य की स्थिति और मनुष्य के साथ जंगम संसार का प्रत्यय बाण की रचना में निरन्तर बना हुआ है।

बाण के सौन्दर्यबोध में रंगों की निराली छटा का संसार उकेर दिया गया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बाण के विषय में सत्य ही कहा है कि "इस प्रकार वर्ण सौन्दर्य के विकास की क्षमता संस्कृत का दूसरा कोई कवि नहीं दिखा सका" (प्राचीन साहित्य, पृ० ६२)। उदाहरण के लिए सामान्य कवि लाल रंग को लाल रंग कहेगा। परन्तु बाणभट्ट के वर्णन में अनेक प्रकार के लाल रंग हैं। उनका कोई लाल रंग है लाख के समान, कोई लाल रंग है कबूतर के पैर के समान तो कोई लाल रंग खूनभरे सिंह के नख के समान है—**एकदा तु प्रभातसन्ध्यारागलोहिते गगनतले कमलिनीमधुरक्तपक्षसम्पुटे वृद्धहंस इव मन्दाकिनीपुलिनादपरजलनिधितटमवतरति चन्द्रमसि, परिणतरङ्कुरोमपाण्डुनि व्रजति विशालतामाशाचक्रवाले गजरुधिर-रक्तहरिसटालोमलोहिनीभिः आतप्तलाक्षिकतन्तुपाटलाभः आयामिनीभिरशिशिर-किरणदीधितिभिः पद्मरागशलाकासम्मार्जनीभिरिव समुत्सार्यमाणे गगनकुट्टिम-कुसुमप्रकरे तारागणे....**

केवल रंग ही नहीं, एक समय में घट रही तरह-तरह की ध्वनियों, नाना प्रकार के कोलाहलों का वर्णन करते हुए बाण हमें अपने शब्दों से वे सारी ध्वनियाँ और कोलाहल एकसाथ सुनवा देते हैं। इसी प्रकार वे एक समय में असंख्य लोगों के द्वारा की जा रही भाँति-भाँति की चेष्टाओं का वर्णन भी उसी कौशल के साथ करते हैं। राजा शूद्रक की सभा के विसर्जन के समय होने वाली ध्वनियों और विभिन्न प्रकार की चेष्टाओं के चित्रण में उस समय के वातावरण का कितना सूक्ष्म और सटीक अध्ययन कवि ने किया है—

अथ चलति महीपतावन्योन्यमतिरभससञ्चलनचालिताङ्गपत्रभङ्गकरकोटि-पाटितानेकपटानाम्, आक्षेपदोलायमानकण्ठदाम्नाम्, अंसस्थलोल्लसितकुङ्कु-मपटवासधूलिपटलपिञ्जरीकृतदिशाम्, आलोलमालतीकुसुमशेखरोत्पतदलिक-दम्बकानाम्, अर्धावलम्बिभिः कर्णोत्पलैश्चुम्ब्यमानगण्डस्थलानाम्, गमनप्रणाम-लालसानाम्, अहमहमिकया वक्षःस्थलप्रेङ्खोलितहारलतानाम्, उत्तिष्ठतामा-सीदतिमहान् सम्भ्रमो महीपतीनाम्। (राजा शूद्रक के चल पड़ते ही अपने-अपने आसनों से उठ खड़े हुए सामंतों में खलबली मच गयी, अत्यन्त वेग के कारण उनके हिलते हुए केयूरों पर उत्कीर्ण मछलियों की नोकें रगड़ जाने से कइयों के कपड़े फट गये। आपस की धक्कामुक्की से उनके गले के हार हिलने-डुलने लगे। उनके कंधे परस्पर टकराये और उससे उठी केसर और सुवासित चूर्ण की धूलि से समस्त दिशाएँ लाल और पीले रंग की हो गयीं। उनके माथे पर सजे चमेली के शेखरों पर मँडराते भ्रमर उड़ने लगे। उनके कानों में आधे लटके कमल डोलते हुए उनके कपोलों को चूमने लगे। चलते समय राजा को प्रणाम करने की लालसा से उनके वक्षःस्थल के हार हिलने लगे।) इसी प्रसंग में बाण भगदड़ और विभिन्न स्वरों का सूक्ष्म चित्र खींचते हैं।

बाण के टीकाकार—बाण के दोनों गद्यकाव्य अपनी साहित्यिक श्रेष्ठता के कारण संस्कृत साहित्य की परम्परा में समादृत हुए और उन पर अनेक टीकाकारों ने

लेखनी चलायी। हर्षचरित पर कश्मीर के शंकर ने ग्यारहवीं शती में टीका लिखी। रंगनाथ की मर्मावबोधिनी टीका भी इस पर प्रकाशित है।

पारम्परिक समीक्षा में बाण—बाण का काव्यशास्त्र के आचार्यों में उल्लेख करने वाले प्रथम आचार्य वामन हैं, जिन्होंने अपने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति नामक ग्रंथ में बाण की कादंबरी से 'अनुकरोति भगवतो नारायणस्य'—यह उद्धरण दिया है। वामन ने उत्कलिकाप्राय गद्य के सफल प्रयोक्ता के रूप में भी बाण का स्मरण करते हुए कादंबरी से एक गद्यांश इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य आनंदवर्धन ने बाण की दोनों गद्यकृतियों की सराहना करते हुए उनका उल्लेख किया है। धनिक ने अपने दशरूपकावलोक में योषिदलंकारों में कांति का उदाहरण बाण के महाश्वेतावर्णन को माना है तथा शापजन्य विप्रलंभ श्रृंगार का उदाहरण कादंबरी में वैशंपायन के वृत्तांत को बताया है। भोज ने अपने सरस्वतीकंठाभरण में अनेक स्थलों पर बाण की चर्चा की है, तथा उनके गद्य और पद्य दोनों के बंध को सराहनीय मानते हुए कहा है—"यादग् गद्यविधौ बाण: पद्यबन्धेऽपि तादृश:।" उन्होंने कादम्बरी में प्रथमानुराग, प्रवास और करुणा—इन तीनों अवस्थाओं का चित्रण प्रशंसनीय माना है। रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में कथा और आख्यायिका के लक्षण में बाण की दोनों गद्यरचनाओं को उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। क्षेमेंद्र ने भी बाण के अनेक पद्यों को उद्धृत किया है।

राजशेखर ने बाण की कादंबरी की स्वच्छंद शैली को सराहते हुए कहा है—

श्रीहर्षचरितारब्धाऽद्भुता कादम्बरी कथा।
बाणस्य वारनार्येव स्वच्छन्दा भ्रमति क्षितौ॥

महाकवि धनपाल ने कादंबरी तथा हर्षचरित दोनों रचनाओं की समाशंसा करते हुए बाण की शैली को सुधा के सदृश तथा उनकी कीर्ति को सागर के समान अक्षय बताया है—

कादम्बरीसहोदर्या सुधया वैबुधे हृदि।
हर्षाख्यायिकया ख्यातिं बाणोऽब्धिरिव लब्धवान्॥

संस्कृत साहित्य की श्रेष्ठ कवयित्री गंगादेवी ने बाण की भावपूर्ण प्रशंसा में कहा है—

वाणीपाणिपरामृष्टवीणानिक्वाणहारिणीम्।
भावयन्ति कथं वान्ये भट्टबाणस्य भारतीम्॥

चंद्रदेव नामक कवि ने बाण की रचना को श्लेष, रसाभिव्यक्ति, अलंकार, अर्थनिरूपण, कथावर्णन—सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ बताते हुए उन्हें कविताविंध्याटवी का पंचानन (सिंह) कहा है—

श्लेषे केचन शब्दगुम्फविषये केचिद्रसे चापरेऽ-
लङ्कारे कतिचित् सदर्थविषये चान्ये कथावर्णने।
आ सर्वत्रगभीरधीरकविताविन्ध्याटवीचातुरी-
सञ्चारीकविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चानन:॥

(शार्ंगधरपद्धति, १७७)

विदग्धमुखमंडनकार धर्मदास ने बाण की वाणी की तुलना मनोहारिणी तरुणी से करते हुए कहा है—

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनोहरति।
सा किं-तरुणी? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य॥

दंडी

संस्कृतगद्यकारों में दंडी का विशिष्ट स्थान है। अपने गद्यबंध की अपूर्वता के कारण उन्हें कविपरम्परा में सर्वोच्च पद पर स्थापित किया गया है। कहा भी गया है—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

(अर्थात् संसार में वाल्मीकि के अवतरण होने पर ही कवि यह संज्ञा प्रचलन में आयी, व्यास के होने पर कवी (दो कवि) यह प्रयोग संभव हुआ तथा दंडी के होने पर कवय: (तीन या अनेक कवि) यह प्रयोग संभव हो सका।

दंडी के सम्बन्ध में कवि-परम्परा में किंवदंती है कि एक बार कवियों में विवाद हुआ कि उनमें कौन श्रेष्ठ है। दंडी ने अपना निर्णायक भगवती को बनाया। भगवती के मंदिर में कवियों ने अपनी-अपनी रचना रख दी और मंदिर के कपाट बंद कर दिये गये। कुछ समय के पश्चात् मंदिर से यह स्वर गूँजा—"कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशय:"—अर्थात् कवि तो केवल दंडी हैं—इसमें संदेह नहीं।

वंश, देश तथा रचनाकाल—दंडी के रचनाकाल के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार वे छठी शताब्दी में हुए, अन्य विद्वान् उनका समय ७०० ई० के लगभग मानते हैं। पहले मत के समर्थन में कहा जाता है कि दंडी ने अपने दशकुमारचरित में जिस देशकाल या समाज का चित्रण किया है, वह गुप्तकाल के अवसान के समय का है। अत: उनका समय ५५० ई० के आसपास होना चाहिये। बाण की शैली का कोई प्रभाव दंडी की रचना पर नहीं है, अत: वे बाण के पूर्व हो चुके थे। दंडी ने अवंतिसुंदरी कथा में अपना परिचय दिया है। उसके अनुसार उनके पूर्वज कौशिक गोत्र में उत्पन्न हुए थे, तथा आनंदपुर (गुजरात) उनका मूल स्थान था। वहाँ से उनका कोई पूर्वपुरुष नासिक्य देश के अचलपुर में जा बसा। दंडी के पितामह भारवि के मित्र दामोदर थे। भारवि की सहायता से उन्हें चालुक्यनरेश विष्णुवर्धन की सभा में प्रवेश मिला था। दंडी के पिता का नाम मनोरथ तथा माता का नाम गौरी था। कहीं-कहीं पिता का नाम वीरदत्त बताया गया है। दंडी का जन्म अनेक पुत्रियों के पश्चात् हुआ था। वे अपने पिता की संतानों में सबसे छोटे थे। सात वर्ष की अवस्था में उनका उपनयन हुआ तथा उन्होंने विद्यारम्भ किया। पर बाल्यकाल में ही इनके पिता की मृत्यु हो गयी, उसके साथ ही कांची पर शत्रु राजा ने आक्रमण कर दिया। अत: दंडी को वहाँ से भागना पड़ा। बाण की भाँति ही विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करते हुए कुछ वर्ष पश्चात् वे पुन: कांची लौटे। उन्हें भारवि या भारवि के मित्र दामोदर का प्रपौत्र कहा गया है। इस आधार पर दंडी का समय ७०० ई० के आसपास सिद्ध होता है।

स्थान—दंडी का सम्बन्ध भारत के अनेक स्थानों से सिद्ध होता है। काव्यादर्श में संख्यात नामक प्रहेलिका के उदाहरण में उन्होंने कांची में पल्लवों से सम्बन्ध का संकेत दिया है। अन्यत्र काव्यादर्श में राजवर्मन् नामक राजा का उल्लेख है, जिसे कांची के शासक नरहरिवर्मन् द्वितीय (६८०-७२२ ई०) से अभिन्न माना गया है।

रचनाएँ—पारम्परिक मान्यता है कि दंडी की तीन रचनाएँ साहित्य-संसार में प्रसिद्ध रही हैं—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥

इन तीन रचनाओं में से दो रचनाएँ तो **दशकुमारचरित** गद्यकाव्य तथा काव्यशास्त्र का सुपरिचित ग्रंथ **काव्यादर्श** हैं। तीसरी रचना कौन सी थी—इसके विषय में इस समय विद्वानों में अलग-अलग मत हैं। कुछ विद्वान् 'छन्दोवीचितिः' नामक छंदःशास्त्र के ग्रंथ को, कुछ काव्यादर्श में उल्लिखित **कलापरिच्छेद** नामक कलाविषयक ग्रंथ को तो कुछ मृच्छकटिक को दंडी की रचना मानते हैं। १९२४ ई० में अवंतिसुंदरीकथा नाम से एक गद्यकाव्य की हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई। इसमें ग्रंथकार का नामोल्लेख नहीं है, पर अंतरंग प्रमाणों के आधार पर यह दंडी की ही रचना मानी गयी। इस प्रकार दंडी की तीन रचनाएँ हैं—**दशकुमारचरित** तथा **अवंतिसुंदरीकथा**—ये दो गद्यकाव्य और **काव्यादर्श**।

अवंतिसुंदरीकथा अलंकृतगद्य का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। इसमें कथानक के पात्र दशकुमारचरित के ही हैं। लक्ष्मीवर्णन में बाण के शुकनासोपदेश की छाया देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ—

विदितमेव खलु वेदितव्यस्य यथेमाः प्रतिपदसुलभान्तराया दुर्योजनसाधनसमवायाश्च सम्पत्तयः। प्रार्थ्यमाना दुरवापा, समाराध्यमाना दुःखशीला, रक्ष्यमाणा प्रपलायिनी च लक्ष्मीः। प्रत्यक्षमेव चास्याश्चापलम्। एषा खलु देवस्य पितृपैतामहसंवर्धितापि रिपुषड्वर्गसम्बाधमुक्तचित्तेन सुचिरलालितापि प्रवीरकरदण्डमण्डलीकृतप्रचण्डचापचक्रटङ्कारमुखरितेषु समरेषु शरीरं जीवित-मनपेक्ष्य रक्षितापि, यथेष्टलाभसंवर्धिता तुष्टद्विजवराशीर्वादनन्दितापि नित्या-राधनप्रसन्नकुलदेवताधिष्ठानापि नित्योद्युक्तविद्याधरसमाजाजस्त्रग्राह्यमाणविनयापि चतुरुदधिवलयमध्यवर्तिसकलनरपतिकुलविरचिताञ्जलिकमलवनविहारमानितमनोरथापि, स्वभावदोषेण दुर्मतिरपरिचिता जीवत्येव तस्मिन्नरिजीवितलोहखड्गजिह्वे महाहिभोगभीषणे सङ्ग्रामे तस्यामिन्दुकरदलितकुमुदकुड्मलोदरदलावदातायाम्—अपि चेयं पतंगरथमयीव भुजङ्गभोगिनी मुहूर्तमप्यविश्रम्य परिभ्रमति। उपनतापि दैवादुरसि प्रमदमूर्च्छितेव हठान्निष्पतति।

दशकुमारचरित

ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण दशकुमारचरित दंडी का लिखा हुआ नहीं है। वर्तमान में जिस रूप में यह ग्रंथ प्राप्त है, उसमें तीन भाग हैं—पूर्वपीठिका—इसमें पाँच

उच्छ्वास हैं। (२) मुख्य ग्रंथ या मध्य भाग—इसमें आठ उच्छ्वास हैं। (३) उत्तरपीठिका या उपसंहार। इसमें से मध्य भाग ही दंडी का रचा हुआ माना जाता है। संभवत: दंडी ने जिस रूप में दशकुमारचरित लिखा था, उसमें से आरम्भ और अंत के अंश कालकवलित हो जाने से अनेक कवियों ने इसकी लोकप्रियता देख कर इसकी पूर्ति का प्रयास किया। भट्टनारायण, विनायक, चक्रपाणि तथा गोपीनाथ—ये चार नाम इसमें परिवर्धन या पूर्ति करने वाले कवियों के प्राप्त होते हैं।

कथानक—दशकुमारचरित के नाम से स्पष्ट है कि इसमें दस राजकुमारों की कथाएँ हैं। इन कथाओं की पीठिका में बताया गया है कि मगध के राजा राजहंस ने मालवनरेश मानसार से पराजित होकर अपनी रानी वसुमती के साथ विंध्य के वनों में आश्रय लिया। वहाँ वसुमती ने राजवाहन को जन्म दिया। राजवाहन के नौ मित्र थे, उनमें से सात तो राजा राजहंस के विभिन्न मंत्रियों के पुत्र थे तथा शेष दो मिथिला के राजा प्रहारवर्मा के बेटे थे। दसों कुमारों की शिक्षा-दीक्षा एकसाथ हुई। फिर ये दसों युवा होने पर दिग्विजय के लिए निकल पड़े। अपने-अपने अभियान में एक-दूसरे से अलग-अलग हो गये। फिर अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हुए तथा विविध साहसिक कार्य सम्पादित कर एक-एक करके वे राजवाहन से मिलते गये और राजवाहन के कहने पर उन्होंने आपबीती उसे सुनायी। ये आपबीतियाँ राजकुमारों की आत्मकथाएँ ही दशकुमारचरित का मुख्य कलेवर हैं। पूर्वपीठिका के तृतीय और चतुर्थ उच्छ्वासों में सोमदत्त और पुष्पोद्भव का चरित है। पंचम उच्छ्वास में राजवाहन का मालवनरेश मानसार की पुत्री अवंतिसुंदरी से प्रणय तथा परिणय का वृत्तांत है। अवंतिसुंदरी का भाई चंडवर्मा राजवाहन को बंदी बना लेता है और वह उसे चंपा नगरी पर आक्रमण में साथ ले जाता है। मध्यभाग में पहले उच्छ्वास तक राजवाहन की यह कथा चलती है। चंपाविजय का उत्सव चल रहा है। उसमें राजवाहन का मित्र अपहारवर्मा आक्रमण करके चंडवर्मा को मार डालता है, और फिर चंपा में ही बिछड़े हुए शेष मित्र एक-एक करके मिलते हैं। उत्तरपीठिका में ये सभी मिल कर राजवाहन के पिता राजहंस के पास जाते हैं। वे इन कुमारों को उनके द्वारा अपने अभियानों में जीते गये राज्यों का राजा बना कर स्वयं वानप्रस्थ ले लेते हैं।

कथानक की विशेषताएँ—दंडी की इस रचना में लोककथाओं के अभिप्रायों का अनेकत्र रोचक रूप में प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ—नायक का स्त्री के वेष में रह कर नायिका से मिलना, ब्रह्मराक्षस का प्रश्न पूछना, कापालिक के द्वारा नवयौवना कुमारी का बलि चढ़ाने के लिए अपहरण आदि। पर दंडी ने लोककथाओं को काव्यात्मकता और कल्पना के साथ रमणीय विन्यास दिया है। रोमांचक घटनाओं, रोचक प्रसंगों और साहसिक कार्यों के निरूपण के कारण दण्डी की यह रचना निरन्तर बाँधे रखती है।

अद्भुतरस की सृष्टि और कौतुक की अभिवृद्धि में दंडी अप्रतिम हैं। आकस्मिकता उनके निरूपण का विशेष गुण है। रचना का आरम्भ ही राजहंस पर

सहसा आयी घनघोर विपत्ति से होता है। फिर एक-एक करके उसके सहायक बिछड़ते जाते हैं, और उसी तरह अप्रत्याशित रूप से उसे खोये हुए कुमार मिलते भी जाते हैं। ये कुमार भी बड़े होकर अभियान पर निकलते हैं, तो बिछड़ जाते हैं, और फिर सहसा इनकी भेंट परस्पर होती है। उनके कथाजगत् में रमे हुए हम अनेक स्थलों पर साँस बाँधे रह जाते हैं, कथा अचानक अप्रत्याशित रूप से सर्वथा भिन्न दिशा में मुड़ जाती है। आश्चर्य और भय के साथ-साथ असाधारण पराक्रम और साहस का चित्रण रोंगटे खड़े कर देने वाला है। श्रृंगार के साथ हास्य, उपहास या व्यंग्य का जो पुट दशकुमारचरित में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है।

कथानक के भीतर दूसरा कथानक तथा अवांतर कथाओं के कहीं-कहीं समायोजन ने दशकुमारचरित की मूल कथा को और आकर्षक बना दिया है। अपहारवर्मा के वृत्तांत में गणिका काममंजरी की कथा अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है, पर वह स्वतंत्र कहानी का भी आनन्द देती है। इसी प्रकार मित्रगुप्त की कथा में धूमिनी, गोमिनी और निम्बवती की कहानियाँ स्वतंत्र रूप से प्रचलित लोककथाओं का आस्वाद देती हैं। दंडी ने लोककथाओं के अनमोल खजाने का बड़ा रचनात्मक उपयोग करते हुए उसे कल्पना और काव्यात्मकता से उद्दीप्त कर दिया है।

विधा—दशकुमारचरित को कथा माना जाये या आख्यायिका? इसमें कथानक पूरा कल्पित है, जब कि आख्यायिका में कथानक ऐतिहासिक होता है। कथा को उच्छ्वासों में विभक्त नहीं किया जाता, जबकि दशकुमारचरित उच्छ्वासों में विभक्त है। कथा में कवि स्वयं तटस्थ होकर प्रसंग का वर्णन करता है, नायक अपना चरित नहीं सुनाता, दशकुमारचरित में कई नायक अपना-अपना वृत्तांत सुनाते हैं। कथा में वक्त्र तथा अपरवक्त्र छंदों का प्रयोग होता है, दशकुमारचरित में कहीं-कहीं आर्या छन्द प्रयुक्त है। वस्तुतः दशकुमारचरित पर कुछ लक्षण कथा के घटित होते हैं और कुछ आख्यायिका के।

वर्णनकला—कथानक की रोचकता की दृष्टि से दशकुमारचरित अत्यन्त आकर्षक रचना है। परवर्ती महाकाव्यों अथवा बाण या सुबंधु के गद्यकाव्यों की भाँति लम्बे-लम्बे वर्णनों से कथा की गति इसमें बाधित नहीं हुई है। तथापि निसर्ग या प्रकृति के चित्रण तथा मानवसौन्दर्य के निरूपण के द्वारा दंडी ने अपनी रचना की रसमयता को समृद्ध बनाया है। पूर्वपीठिका के प्रथम उच्छ्वास में रानी वसुमती का संक्षिप्त सौंदर्य वर्णन प्रभावशाली रूप में हुआ है, इसी प्रकार पाँचवें उच्छ्वास का वसंतवर्णन उल्लेखनीय है। दंडी की लेखनी यथार्थपरक वर्णनों में विशेष दक्ष है। द्वितीय उच्छ्वास में राजकुमारी का सौन्दर्यवर्णन तथा षष्ठ उच्छ्वास में गोमिनी के रूप का चित्रण भी आकर्षक है। तृतीय उच्छ्वास में सूर्योदय का वर्णन प्रकृतिसौन्दर्य की निराली छटा उकेरता है। छठे उच्छ्वास में त्रिगर्त जनपद के अकाल का वर्णन अथवा आठवें उच्छ्वास में राजनीति का चित्रण इसके मार्मिक उदाहरण हैं।

यथार्थ दृष्टि—दशकुमारचरित अत्यन्त निर्ममता के साथ दंडी के समय के यथार्थ का चित्रण प्रस्तुत करता है। मृच्छकटिक जैसी इनी-गिनी रचनाओं को छोड़कर

संस्कृत साहित्य में सामाजिक यथार्थ और भौतिक संसार का इस प्रकार हूबहू चित्र उकेरने वाला अन्य कोई प्रबन्ध नहीं है। यह जुआरियों, धूर्तों, ठगों, क्रूर और दुष्ट लोगों तथा अवैध प्रेम में लिप्त प्रेमियों के दुस्साहस और प्रवंचनाओं की क्रूर कथा है, कई स्थानों पर तो करुणा और मानवीय मूल्यों के क्षरण की जैसे स्वयं प्रबन्धकार भी उपेक्षा करता रहता है। पश्चिमी विद्वानों ने दशकुमारचरित को 'धूर्तों का रोमांस' कहा है, जो उचित ही है। रचनाकार की व्यंग्यपरक दृष्टि सर्वत्र इस ग्रंथ में प्रतिफलित है। पहली कथा अपहारवर्मा के वृत्तांत में ही अपहारवर्मा जुआरियों के बीच रहता है, चोरी करता है तथा चंपा के कंजूस श्रेष्ठियों का धन चुरा-चुरा कर उन्हें संसार की नश्वरता का पाठ सिखाता है। इसी वृत्तांत में गणिका काममंजरी की धूर्तता का प्रसंग चकित कर देने वाला है। दशकुमारचरित के नायक अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए छल, कपट और हत्या करने में नहीं हिचकिचाते। प्रमति नामक कुमार तो अपनी प्रेमिका से मिलने के लिए स्त्री का वेष धारण करके रनिवास में जा घुसता है। इसी कहानी में कुक्कुटों (मुर्गों) की लड़ाई का रोचक वर्णन है। गोमिनी की कथा में तो उस समय की घर-गृहस्थी का संसार ही दंडी ने छोटी-छोटी वस्तुओं का विवरण देते हुए मूर्त कर दिया है।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से भी दशकुमारचरित अनूठी रचना है। इसके मुख्य पात्र भावनाओं में बहने वाले या पदे-पदे विलाप करने वाले धीरोदत्त नायक नहीं हैं, वे तो हर प्रकार के ऊँच-नीच काम करके अपना प्रयोजन सिद्ध करने वाले तथा विकट बुद्धिमत्ता या चालाकी का परिचय देने वाले नवयुवक हैं। दंडी मनुष्य के मनोविज्ञान के गहरे पारखी हैं। अपने पति विदेहराज विकटवर्मा को छोड़ कर उपहारवर्मा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर पति के साथ विश्वासघात करने वाली कल्पसुंदरी (तृतीय उच्छ्वास) दुःख में सहायता करने वाले अपने सज्जन पति को त्याग कर लूले-लँगड़े व्यक्ति से प्रणय निवेदन करने वाली धूमिनी, धूर्त नागरिक कलहकंटक के चंगुल में आकर अपना शील गँवाने वाली भोली-भाली निम्बवती—इन स्त्री-चरित्रों के प्रस्तुतीकरण में उन्होंने मनुष्य के मनोविज्ञान की बारीकियाँ और जटिलताएँ गहराई से प्रकट की हैं।

गद्यशैली—गद्य में पदलालित्य दंडी की सबसे बड़ी विशेषता मानी गयी है। दंडी कुंतक के द्वारा निरूपित सुकुमार मार्ग के सफल यात्री हैं। अनुप्रास तथा नादसौन्दर्य के निर्वाह में उन्होंने असाधारण कौशल का परिचय दिया है। सातवें उच्छ्वास में मंत्रगुप्त प्रेयसी के अनियंत्रित समागम के कारण ओठों के क्षत हो जाने से ओष्ठ्य वर्णों के प्रयोग के बिना अपना वृत्तांत सुनाता है, वहाँ से सुंदर से सुंदर निरोष्ठ्य वर्णों का विन्यास चकित कर देने वाला है। उदाहरणार्थ—

तस्या नात्यासन्ने सलिलराशिसदृशस्य कलहंसगणदलितनलिनदलसंहतिगलितकि-ञ्जल्कसकलशारस्य सारसश्रेणिशेखरस्य सरस्तीरकानने कृतनिकेतनः स्थितः।

दंडी की रचना चूर्णक श्रेणी के गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। लयात्मकता इसका प्राण है। पदविन्यास की विलक्षणता के द्वारा दंडी वाक्यावली के आवर्त, तरंगें और वीचियाँ बनाते हुए कथाप्रवाह को मनोहारी गति से आगे बढ़ाते हैं। इसके लिए कहीं वे

यमक का प्रयोग करते हैं, तो कहीं अनुप्रास के विभिन्न प्रकारों का। उदाहरणार्थ—(१) घनदर्पकन्दर्पसौन्दर्यसोदर्यहृद्यनिरवद्यरूपो भूपो बभूव। (२) कुमारा माराभिरामा रामाद्यपौरुषा रुषा भस्मीकृतारयो रयोपहसितसमीरणा रणाभियानेन यानेनाभ्युदयाशंसं राजानमकार्षुः; तेषु जीवत्सु न ववर्ष वर्षाणि द्वादश दशशताक्षः। (३) निजनिलयनिलीननिःशेषजने नितान्तशीते निशीथे—इत्यादि।

संदेश—दंडी ने समाज के घिनौने पक्ष को बिना हिचक के साफ-साफ कह दिया है। धोखाधड़ी तथा कामुक प्रवृत्तियों का जैसा लेखा-जोखा उन्होंने दिया है, वह क्षेमेंद्र की रचनाओं को छोड़ कर अन्यत्र कदाचित् ही मिले। पर दंडी स्वयं अनैतिकता का समर्थन करते हों, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः दशकुमारचरित अर्थ पुरुषार्थ का निरूपण करता है। काम और धर्म का भी प्रसंगतः उसमें निरूपण हुआ है। उसे हम पौरुष और कर्मठता की प्रेरणाप्रद कथा कह सकते हैं। दंडी का प्रतिज्ञावाक्य है—**अवज्ञासौदर्यं दारिद्र्यम्**—वे मनुष्यता को अपनी दरिद्रता दूर कर भौतिक दृष्टि से सम्पन्न बनाना चाहते हैं। **अर्थो हि नाम महात्मनामनुच्छिन्नसन्ततिर्यशःप्रवाहः; अर्थमूला हि दण्डविशिष्टकर्मारम्भाः**—आदि कथनों में जीवन में भौतिक आधार की अपेक्षा को उन्होंने रेखांकित करते हुए अपने नायकों के चरित के द्वारा उसे बहुत प्रभावशाली रूप में सत्यापित भी किया है।

परवर्ती गद्यकाव्य

धनपालकृत तिलकमंजरी—तिलकमंजरी नामक कथा के प्रणेता महाकवि धनपाल धारा में राजा मुंज तथा भोज की छत्रछाया में रहे। इनका समय ९५२ ई० से १०३३ ई० तक माना जा सकता है। मुंज ने इन्हें सरस्वती की उपाधि से अलंकृत किया था। इनके पितामह देवर्षि का जन्म मध्यप्रदेश में सांकाश्य नामक नगर में हुआ। उनके पुत्र सर्वदेव सभी शास्त्रों के प्रकांड पंडित थे। ये सांकाश्य नगरी से आकर उज्जयिनी में बस गये। इनके धनपाल तथा शोभन ये दो पुत्र हुए। दोनों को सभी शास्त्रों में पारंगत बनाने के लिए शिक्षा दी गयी। धनपाल का धनश्री नामक विप्रकन्या से विवाह हुआ। मेरुतुंग के प्रबंधचिंतामणि में दिये गये धनपालप्रबंध में बताया गया है कि धनपाल के एक ही संतान हुई। पिता सर्वदेव ने जैन मुनि महेन्द्रसूरि के प्रभाव से अपने छोटे बेटे को जैन साधु बनने के लिए प्रेरित किया। पिता की इच्छा के अनुसार शोभन जैनधर्म में दीक्षित हो गये। धनपाल पिता तथा अपने अनुज के इस निर्णय से प्रसन्न नहीं थे, सम्भवतः इसीलिए वे उज्जयिनी छोड़कर धारा नगरी आ गये। बाद में स्वयं धनपाल भी छोटे भाई से प्रभावित हुए और जैनधर्म के प्रति आस्थाशील बने। शोभन का लिखा एक स्तुति काव्य मिलता है। शरीर-त्याग के समय इन्होंने अपने अग्रज से अपने काव्य की टीका लिखने का अनुरोध किया था, धनपाल ने अपने अनुज की अंतिम इच्छा पूरी की।

रचनाएँ—धनपाल की कुल नौ रचनाओं का पता चलता है। इनमें संस्कृतनाममाला तथा पाइअलच्छीनाममाला (रचनाकाल वि०सं० १०२९) भाषाशास्त्र

और व्याकरण के ग्रंथ हैं; ऋषभपञ्चाशिका (प्राकृत भाषा में, संस्कृत टीका सहित), श्रीवीरस्तुति तथा वीरस्तुति—ये स्तोत्र हैं।

चतुर्विंशतिजिनस्तुतिटीका शोभनमुनि के स्तोत्र की टीका है। सत्यपुरीय-श्रीमहावीरउत्साह (अपभ्रंश में) तथा श्रावकविधि—ये जैनधर्म से संबद्ध ग्रंथ हैं। तिलकमंजरीकथा धनपाल की कीर्ति का अक्षय स्तम्भ है। इसके आरम्भ में उन्होंने बताया है कि इस कथा की रचना उन्होंने राजा मुंज के भतीजे राजा भोज के विनोद के लिए की है।

कथावस्तु—तिलकमंजरी का नायक अयोध्या के चक्रवर्ती सम्राट् मेघवाहन का पुत्र हरिवाहन है और नायिका दक्षिण में वैताढ्य पर्वत पर स्थित रथनूपुरचक्रवाल नगरी के विद्याधरचक्रवर्ती चित्रसेन की पुत्री तिलकमंजरी है। सिंहल द्वीप के राजा चंद्रकेतु का पुत्र समरकेतु इस कथा में सहनायक है और कांची के राजा कुसुमशेखर की पुत्री मलयसुंदरी सहनायिका। कथा के आरम्भ में मंगल श्लोकों तथा कविप्रशस्ति पद्यों के अनन्तर राजा मेघवाहन और उनकी रानी मदिरावती का वर्णन है। फिर दोनों के निस्संतान होने के दुःख का चित्रण किया गया है। राजा मेघवाहन संतान प्राप्ति के लिए तप करने का निश्चय करते हैं। पर एक विद्याधरमुनि के उपदेश से वे राजप्रासाद में रह कर ही मुनिजनोचित आचार-विचार अंगीकार करके रहने लगते हैं। मुनि उनको अपराजिता चिंतामणि नामक विद्या का उपदेश भी देते हैं। राजकुमार हरिवाहन का जन्म होता है। कांचीनरेश के साथ युद्ध की विचित्र परिस्थितियों में राजकुमार समरकेतु महाराज मेघवाहन के सेनापति को मिलता है। हरिवाहन और समरकेतु में मित्रता हो जाती है। एक बार सरयूतीर पर मत्तकोकिल नामक उद्यान में दोनों मित्र भ्रमण कर रहे होते हैं, उस समय किसी नायिका की ओर से आर्या छंद में लिखा प्रेमपत्र इन्हें मिलता है। इसके पश्चात् समरकेतु दक्षिणापथ में अपने युद्ध के अभियान और इस क्रम में राजकुमारी मलयसुंदरी से प्रेम की कथा बताता है। उसकी कथा चल ही रही है, इसी समय एक दिव्य कन्या का चित्र राजकुमार हरिवाहन के सम्मुख लाया जाता है। चित्रकार चित्र में निर्मित राजकुमारी तिलकमंजरी की कथा सुनाता है और इसके साथ ही हरिवाहन का तिलकमंजरी के साथ प्रणय-प्रसंग आरम्भ हो जाता है। दोनों मित्र अपने साम्राज्य का निरीक्षण करने के लिए यात्रा पर निकलते हैं और कामरूप पहुँच जाते हैं। वहाँ कामदत्त हाथी को वश में करने के लिए हरिवाहन वीणा बजाता है। हाथी वश में हो जाता है, पर वह हरिवाहन को बिठा कर अन्य लोगों के देखते-देखते और पीछा करते रहने पर भी भाग कर लुप्त हो जाता है। समरकेतु अपने मित्रों को खोजता-खोजता एक दिव्य सरोवर के तट पर पहुँचता है। अंत में विचित्र घटना प्रसंगों के बीच दोनों मित्र अपनी-अपनी प्रियाओं से मिलते हैं और दाम्पत्य सूत्र के बंधन में बँध जाते हैं।

कथानक की विशेषताएँ—तिलकमंजरी का कथानक मूलतः जैनागमों पर आधारित है। जैन-परम्परा के प्रभाव से उसमें आध्यात्मिक व दार्शनिक तत्त्वों का समावेश किया गया है। कथावस्तु जटिल और विचित्र रोमांचक घटनाओं, अतिप्राकृत वृत्तांतों से भरी हुई है। अनेक अवांतर कथाओं की धाराएँ इसके महाप्रवाह में सम्मिलित

हो गयी हैं। कादंबरी की ही भाँति तिलकमंजरी में कहानी को विभिन्न पात्रों की आपबीती सुना कर आगे बढ़ाया गया है, तथा एक कथा के भीतर दूसरी कथा का तानाबाना भी बुना गया है। जैन-धर्म और दर्शन की पदावली इसमें अनेक स्थानों पर प्रयुक्त है। इसके साथ ही उस समय का वाणिज्य और समुद्रयात्रा, सामुद्रिक व्यापार तथा उससे जुड़े अनेक रोचक प्रसंग हैं।

शैली—धनपाल की रीति वैदर्भीमिश्रित पांचाली है। बाणभट्ट का सर्वातिशायी प्रभाव उनके रचनाविन्यास व गद्य पर पड़ा है।

तिलकमंजरी के प्रभाव से अनेक रचनाएँ संस्कृत गद्यपरम्परा में की गयीं। इनमें पल्लीपाल धनपाल का तिलकमंजरीसार विक्रम सं० १२६१ में तथा लक्ष्मीधर का तिलकमंजरीकथासार वि०सं० १२८१ में लिखे गये। ये दोनों पद्यबद्ध रचनाएँ हैं, तथा दोनों के रचयिता गुजरात में अनहिल्लपाटण के निवासी थे। तिलकमंजरीकथोद्धार के रचयिता पद्मसागर माने गये हैं। यह ग्रंथ अप्रकाशित है, तथा इसकी रचना तेरहवीं शती के आसपास हुई। कृष्णमाचार्य (१८६९-१९२४ ई०) ने तिलकमंजरीसंग्रह नामक गद्यरचना का निर्माण किया।

वादीभसिंहकृत गद्यचिंतामणि—दिगम्बर सम्प्रदाय के साधु वादीभसिंह मुनि पुष्पसेन के शिष्य थे। इनका वास्तविक नाम ओडयदेव था। इनकी शास्त्रार्थ पटुता के कारण इन्हें वादीभसिंह (वादी या शास्त्रार्थ में प्रतिपक्षीरूपी इभ अर्थात् हाथी के लिए सिंह के समान) कहा जाने लगा। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी है। ये दक्षिण में तमिलराज्य के निवासी थे। गद्यचिंतामणि के अतिरिक्त स्याद्वादसिद्धि, नवपदार्थनिश्चय आदि दार्शनिक कृतियों की रचना भी इन्होंने की। गद्यचिंतामणि आख्यायिका कोटि की रचना है। यह गुणभद्रकृत उत्तरपुराण पर आधारित है। यह ग्यारहण लंभकों में विभाजित है। इसके नायक महाराज जीवंधर हैं। शैली और वर्णनकला की दृष्टि से बाणभट्ट की कादंबरी का अत्यधिक अनुकरण वादीभसिंह ने किया है।

वामनभट्टबाणकृत वेमभूपालचरित—वामनभट्टबाण पंद्रहवीं शताब्दी के महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं। वेमभूपालचरित के अतिरिक्त इनकी रचनाएँ हैं—नलाभ्युदय काव्य, रघुनाथचरित महाकाव्य तथा पार्वतीपरिणय नाटक, शब्दचंद्रिका और शब्दरत्नाकर। इन्होंने १४५०ई० में अपने आश्रयदाता वेमभूपाल के जीवनवृत्त को आधार बना कर वेमभूपालचरित नामक आख्यायिका की रचना की। बाण के हर्षचरित का इस पर प्रभाव है।

सकलविद्याचक्रवर्तीकृत गद्यकर्णामृत—गद्यकर्णामृत के प्रणेता सकलविद्या-चक्रवर्ती होयसल राजा सोमेश्वर (१२५६ ई०) के आश्रय में रहे। गद्यकर्णामृत में इन्होंने बाणभट्ट की परिष्कृत गद्यशैली का अनुकरण करते हुए अपने आश्रयदाता का चरित लिखा है। इसमें होयसल राजा नरसिंह द्वितीय के पांड्य, मगध तथा पल्लवों से ९० दिन तक चलने वाले युद्ध का वर्णन है। विद्याचक्रवर्ती ने ऐतिहासिक वृत्त में पौराणिक आख्यानों का मिश्रण किया है।

लुप्त गद्यकाव्यों में धनपाल ने त्रैलोक्यसुन्दरी कथा की बड़ी प्रशंसा की है।

अठारहवीं से बीसवीं शताब्दी के गद्यकाव्य—अहोविल नरसिंह राजा कृष्णराज (जन्म १७९५ ई०) के आश्रय में रहे। अभिनवकादंबरी में इन्होंने बाणभट्ट की गद्यशैली का अनुकरण करते हुए अपने आश्रयदाता का चरित्र लिखा है। पंडितराज की आसफखानविलास आख्यायिका अपूर्ण मिलती है। इसमें भी अत्यन्त अलंकृत गद्य में नवाब आसफखान के गुणों का वर्णन है। रंगनाथ दीक्षित ने वि०सं० १७०७ (१६५० ई०) में गुणमंदारमंजरी नामक कथा की रचना की। यह कथा अद्‌भुत घटनाओं और रहस्य, रोमांच से भरी हुई है। श्रीकृष्ण शर्मा ने इसी परम्परा में मंदारवती कथा की रचना १९२६ ई० में की।

बाणभट्ट की कादंबरी के अनुकरण पर लिखी अंतिम उल्लेखनीय रचना विश्वेश्वर पांडेय की मंदारमंजरी कही जा सकती है। विश्वेश्वर पांडेय का समय अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। इनकी अन्य रचनाओं का परिचय मुक्तककाव्य/गीतिकाव्यविषयक अध्याय में दिया गया है। मंदारमंजरी कादंबरी के समान पूर्व तथा उत्तर दो भागों में विभाजित है। इसमें पुष्पपुर के राजा राजशेखर तथा रानी मलयवती का पुत्र चित्रभानु नायक है। तथा विद्याधर चंद्रकेतु और रानी चंद्रलेखा की पुत्री मंदारमंजरी नायिका है। बाणभट्ट की शैली तथा कथावस्तुविन्यास का गहरा प्रभाव इस प्रबंध पर है।

उन्नीसवीं शताब्दी में बाण के अनुकरण पर गद्यकाव्य लिखने की प्रवृत्ति जारी रही। श्रीशैल दीक्षित तिरुमलाचार्य (१८०९-१८८७ ई०) ने दो भागों में श्रीकृष्णाभ्युदय की रचना करके भक्तिभाव की गद्य के विधा में सांद्र रागात्मक अभिव्यक्ति दी।

विश्वेश्वर पांडेय के पश्चात् उन्नीसवीं और बीसवीं शती में लिखे गये गद्यकाव्य आधुनिक उपन्यास की विधा में अधिक समीप हैं। इनमें अंबिकादत्त व्यास (१८५८-१९०० ई०) के शिवराजविजय का संस्कृत साहित्य के इतिहास में अमिट स्थान है। व्यास जी हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार भारतेंदु के समकालीन थे तथा ये उनके मंडल में सम्मिलित रहे। हिन्दी तथा संस्कृत में इन्होंने लगभग ७७-७८ पुस्तकों की रचना की। शिवराजविजय की रचना १८९८ ई० में हुई। शिवराजविजय बंगला उपन्यास की धारा से प्रेरित है। स्वयं व्यास जी ने अपनी इस रचना को उपन्यास कहा है, तथापि बाणभट्ट की गद्यशैली और वर्णन-कला की गहरी छाप उनकी रचना में है। शिवराजविजय तीन विरामों में विभाजित है। प्रत्येक विराम में चार-चार नि:श्वास हैं। शिवाजी इसके नायक हैं, तथा औरंगजेब प्रतिनायक। शिवाजी का चरित्रचित्रण अत्यन्त उदात्त रूप में किया गया है। अधिकांश घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। राष्ट्रीयता का भाव इसमें आद्यंत स्फूर्त बना हुआ है।

चंपूकाव्य

चंपूकाव्य का स्वरूप—चंपू गद्य से तथा पद्य मिश्रित रचना है। परम्परा में इसका यह लक्षण प्रसिद्ध है—

गद्यपद्यमयी साङ्का सोच्छ्वासा कविगुम्फिता।
उक्तिप्रत्युक्तिविष्कम्भकशून्या चम्पूरुदाहृता॥

इस पारम्परिक लक्षण के अनुसार रूपक में से उक्तिप्रत्युक्ति या संवादों की शैली को हटा दिया जाये, तो चंपू काव्य बन जाता है। अनेक अभिनेताओं के द्वारा प्रस्तुत न होकर चंपूकाव्य एक ग्रंथवाचक के द्वारा जन समाज के समक्ष पाठ करके या गा कर सुनाने के लिए होता है। यद्यपि काव्य श्रव्य काव्य की विधाओं में परिगणित है, पर इसका दृश्य काव्य या नाटक से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। चंपू के लक्षणों में सांका या अंक सहित होने का उल्लेख यह इंगित करता है कि इसके उद्भव में दृश्य और श्रव्य काव्यों का संगम हुआ है। केरल में चंपू काव्यों को प्रबंध कहा जाता है। ये प्रबंध काव्य गा-गा कर पाठ कर-करके या अभिनय के साथ जनसमाज के समक्ष सुनाने के लिए रचे जाते रहे हैं। इस प्रकार चंपूकाव्य वास्तव में वैदिक काल से चली आ रही आख्यान और उपाख्यान की शैली का पुनराविष्कार है। आख्यान और उपाख्यान साहित्य का जितना सम्बन्ध श्रव्यकाव्य की विद्या से है, उतना ही दृश्यकाव्य से भी।

वैदिक काल से ही पद्य के साथ गद्य का प्रयोग किया जाता रहा है। भोज ने अपने रामायणचंपू में इसकी विशेषता को सुंदर रूप में निरूपित करते हुए कहा है—

गद्यानुबन्धरसमिश्रितपद्यसूक्ति-
र्हृद्या हि वाद्यकलया कलितेव गीतिः।

(गद्य के जोड़ देने से रसमयी पद्यसूक्तियाँ उसी प्रकार हृद्य बन जाती हैं, जैसे गीत के साथ वाद्य जुड़ने से गीत।)

चंपू काव्य की विशेषता यह कही जा सकती है कि इसमें गद्य और पद्य में से किसी एक की प्रधानता नहीं रहती, न यह निर्धारित होता है कि कितने अंश में कितना गद्य या पद्य प्रयुक्त होगा। रचनाकार अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रसंग, घटना या वर्णन के अनुकूल पद्य या गद्य का प्रयोग करता है। इससे रचनाकार को दोनों विधाओं में अपना कौशल दिखाने की स्वतंत्रता मिल जाती है, तथा रचना में द्विविध चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। दसवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक बड़ी संख्या में चंपूकाव्यों की रचना हुई। विदित चंपूकाव्यों की संख्या लगभग २५० है।

नलचंपू

संस्कृत का प्रथम उपलब्ध चंपूकाव्य नलचंपू है। इसके रचयिता त्रिविक्रम भट्ट हैं। इनके पिता शांडिल्यगोत्रीय नेमादित्य थे। ये राष्ट्रकूट राजा इंद्रराज तृतीय के आश्रय में रहे। इंद्रराज का राज्याभिषेक ९१५ ई० में हुआ था, और उसके एक शिलालेख की रचना भी स्वयं त्रिविक्रम भट्ट ने की थी। इंद्रराज ने कन्नौज के राजा महीपाल को हराया था। इस प्रकार त्रिविक्रम भट्ट सुप्रसिद्ध आचार्य तथा कवि राजशेखर के समकालीन थे। इनकी अन्य रचना **मदालसाचंपू** है।

नलचंपू सात उच्छ्वासों में विभक्त है। श्रीहर्ष के नैषधचरित की भाँति यह अपूर्ण मिलता है। नल देवों का संदेश लेकर दमयंती के पास पहुँचते हैं—यहाँ तक का कथाभाग ही उपलब्ध अंश में प्राप्त होता है। त्रिविक्रमभट्ट भाषा पर अपने असाधारण अधिकार और अभिव्यक्ति की प्रांजलता के लिए जाने जाते हैं। श्लेष के प्रयोग में इनका कौशल विलक्षण है। सभंग और अभंग दोनों प्रकार के श्लेषों का इन्होंने समान निपुणता

से प्रयोग किया है, फिर भी इनकी रचना में क्लिष्टता या आयास का अनुभव नहीं होता। उदाहरण के लिए वाणी और सद्गृहिणी की तुलना दीपक अलंकार के द्वारा प्रस्तुत करते हुए त्रिविक्रम ने अपने चंपू के आरम्भिक पद्यों में दोनों के लिए सुंदर श्लिष्ट विशेषणों का यह विन्यास किया है—

प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
भवन्ति कस्यचित् पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः॥ (१/४)

प्रसन्न (प्रसाद गुण से सम्पन्न, खुश रहने वाली) कान्ति (एक काव्यगुण, आभा) से मन हरने वाली, नाना प्रकार के श्लेष (श्लेष अलंकार, जमावट) में विचक्षण—ऐसी वाणी और गृहिणी किसी के पुण्य से ही मुख में और घर में रहती है।)

श्लेष पर आधारित विरोधाभास के प्रयोग में त्रिविक्रमभट्ट का कौशल सराहनीय है। वाल्मीकि की प्रशस्ति में उन्होंने कहा है—

सदूषणाऽपि निर्दोषा सखराऽपि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा॥ (१/११)

उन आदिकवि को नमन है जिन्होंने ऐसी रम्य रामायणी कथा का प्रणयन किया, जो सदूषण होते हुए भी दूषणरहित, सखर होते हुए भी सुकोमल है। यहाँ सदूषणा का दूषणयुक्त यह अर्थ लेने पर विरोध होता है, और दूषण नामक राक्षस जिसमें एक पात्र है—ऐसा अन्य अर्थ लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है। इसी प्रकार सखर का कठोर अर्थ लेने से विरोध तथा खर नामक राक्षस जिसमें एक पात्र है—ऐसा अर्थ लेने पर विरोध मिट जाता है।

जीवंधरचंपू

जीवंधरचंपू के प्रणेता हरिश्चन्द्र हैं। इसकी कथा गुणभद्र के उत्तरपुराण में वर्णित जीवंधरवृत्तांत पर आधारित है। जीवंधरचंपू का आकार विशाल है। इसमें ११ लंभक हैं। हरिश्चन्द्र माघ तथा वाक्पतिराज से विशेष प्रभावित हैं। जैनधर्म व दर्शन के सिद्धान्तों को कवि ने कथा के माध्यम से यहाँ बोधगम्य बनाया है।

यशस्तिलकचंपू

इस चंपू के प्रणेता सोमदेव हैं। ये राष्ट्रकूट राजा कृष्ण के सामंत चालुक्यराज अरिकेसरी तृतीय के आश्रय में रहे। यशस्तिलकचंपू की रचना ९५९ ई० में हुई। इसमें आठ आश्वासों में कवि पुष्पदंत द्वारा अपभ्रंश काव्य जसहरचरिउ तथा यशोधरपुराण में वर्णित राजा यशोधर का वृत्तांत प्रस्तुत किया गया है। इस चंपू में आठ आश्वास हैं। इनमें से प्रथम पाँच में राजा यशोधर की कथा है, अंतिम तीन आश्वासों में जैनधर्म के उपदेश हैं। ये तीन आश्वास श्रावकाध्ययन के नाम से भी जाने जाते हैं। राजा यशोधर की रानी व्यभिचारिणी है। एक दिन राजा उसे रात में अपने एक सेवक के घर जाती हुई देख लेता है। इससे उसे वैराग्य हो जाता है। मृत्यु के पश्चात् वह आठ योनियों में भ्रमण करता हुआ अंत में जैनधर्म में दीक्षा ग्रहण करता है।

रामायणचंपू

रामायणचंपू के रचयिता राजा भोज (१०५०-१०५४ ई०) हैं। इन्होंने विभिन्न विषयों पर २१ ग्रंथों का प्रणयन किया था। इनमें उल्लेखनीय हैं—काव्यशास्त्र पर सरस्वतीकंठाभरण तथा शृंगारप्रकाश, व्याकरण पर सरस्वतीकंठाभरण, आयुर्वेद पर राजमृगांक, वास्तु तथा शिल्पशास्त्र पर समरांगणसूत्रधार और युक्तिकल्पतरु; तथा धर्मशास्त्र पर व्यवहारसमुच्चय। काव्यात्मक सौष्ठव की दृष्टि से यह चंपू एक उत्कृष्ट रचना है। भोज ने किष्किंधाकांड तक ही इसकी रचना की थी। लक्ष्मणसूरि ने युद्धकांड तथा वेंकटराज ने इसमें उत्तरकांड जोड़ा। वाल्मीकि रामायण की सम्पूर्ण कथा को अविकलरूप में यह चंपू प्रस्तुत करता है। आरम्भ में ही वाल्मीकि के प्रति अगाध आस्था प्रकट करते हुए भोज कहते हैं—

वाल्मीकिगीतरघुपुङ्गवकीर्तिलेशै-
स्तृप्तिं करोमि कथमप्यधुना बुधानाम्।
गङ्गाजलैर्भुवि भगीरथयत्नलब्धैः
किं तर्पणं न विदधाति नरः पितॄणाम्॥ (१/४)

सम्पूर्ण प्रसंगों व पात्रों के चरित्रचित्रण में भोज ने वाल्मीकि की कथा में यत्किंचित् भी परिवर्तन नहीं किया। उनका गद्य अत्यन्त ललित और कथावाचन की शैली की लय को समाहित किये हुए है। कल्पनाएँ मनोहारिणी हैं। कालिदास, बाण और श्रीहर्ष की शैली विशेषताओं का रुचिकर समागम भोज के गद्यपद्यगुंफन में हुआ है।

राम सीता को वनवास का समाचार सुनाते हैं। सीता की मनःस्थिति का निरूपण करते हुए भोज कहते हैं—

कल्याणवादसुखितां सहसैव कान्तां
कान्तारचारकथया कलुषीचकार।
अम्भोदनादमुदितां विपिने मयूरीं
सन्त्रासयन्निव धनुर्ध्वनिना पुलिन्दः॥ (२/३१)

(राज्याभिषेक के शुभ समाचार से सुखी प्रिया को राम ने अचानक अपने वनवास की बात बता कर ऐसे ही व्यथित कर दिया जैसे वन में मेघ का गर्जन सुनकर प्रमुदित हुई मयूरी को कोई बहेलिया अपने धनुष की टंकार से डरा देता है।)

रामायणचंपू की रचना भोज के द्वारा बताये गये चंपूकाव्य के मानदंड पर खरी उतरती है। उन्होंने पद्य के साथ गद्य की संगति गायन के साथ वादन की भाँति करते हुए लय और गेयता में रागात्मकता और ओजस्विता का अंतर्गुंफन कर दिया है। उनके गद्यबंध आख्यानपद्धति के अनुकूल हैं, तथा कथागायन की विशेषता का अनभव कराते हैं। उदाहरण के लिए अरण्यकांड में राम और लक्ष्मण को देख कर विराध राक्षस का यह कथन—

कौ युवां युवानौ, कुतस्त्यौ, वामाचारवत् प्रतिभाति वामाचारः। चीरं वपुषि, जटा शिरसि, करे च चण्डकोदण्डः। क्वायमाकल्पः, क्व च कल्पलताकल्पेय-मनल्पाभरणा तरुणीति।

भोज ने इस चंपू में अनेक रमणीय वर्णनों की मालाएँ गूँथी हैं। बालकांड में रावण के क्रीडाशैल का वर्णन उनके राजसी वैभव के अनुभव की प्रामाणिकता से ओतप्रोत है। अरण्यकांड में शूर्पणखा के आगमन के समय का हेमंतवर्णन काव्यात्मक गद्य तथा कल्पनाप्रवणता का उत्कृष्ट निदर्शन है।

उदयसुंदरीकथा

उदयसुंदरीकथा की रचना बाण से प्रभावित होकर की गयी। इसके प्रणेता सोड्ढल हैं। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी है। ये गुजरात के चालुक्य राजा वत्सराज के आश्रित थे। कुछ विद्वानों ने इन्हें गुजरात के राजा मुम्मुणिराज का आश्रित माना है। उदयसुंदरीकथा में आठ उच्छ्‌वास हैं। इसकी नायिका नागवंश की राजकुमारी उदयसुंदरी है। मुख्यत: प्रतिष्ठान के राजा मलयवाहन से उसका प्रेम तथा विवाह इसकी कथा है। कहीं-कहीं सोड्ढल कल्पना की उड़ान भरते हुए दूर की कौड़ी लाने के फेर में हास्यास्पद निरूपण भी करते हैं। उदाहरण के लिए चाँदनी रात में वियोगियों की दशा का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

चान्द्रं महीमण्डलभाजनस्थं दुग्धं यथा यामवतीमहिष्याः।
वियोगिनां दृग्दहनोग्रतापैरुल्लासितं व्योमतले लुलोठ॥

(धरती एक कड़ाही है, चंद्रमा उसमें भरा हुआ दूध है, जिसे रातरूपी भैंस से दुहा गया है, वियोगियों के संताप की आँच से यह दूध उफन रहा है और उफन कर जो बाहर गिर रहा है वही चाँदनी है।)

भारतचंपू

महाभारत की कथा को लेकर अनेक चंपूकाव्य लिखे गये हैं। इनमें अनंतकवि का भारतचंपू श्रेष्ठ माना जाता है। इस चंपू की रचना पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुई। चंपूकार अनंतभट्ट का परिचय प्राप्त नहीं होता। परम्परा है कि भागवतचंपू के निर्माता अभिनवकालिदास की प्रतिस्पर्धा में इन्होंने एक भागवतचंपू की रचना भी की थी। अभिनवकालिदास का समय ग्यारहवीं शताब्दी माना गया है। मालावार निवासी नारायणभट्टात्रि ने अपने प्रबंधों में भारतचंपू को उद्धृत किया है। नारायणभट्टात्रि का समय सोलहवीं शती का अंत और सत्रहवीं शती का आरम्भ है।

भारतचंपू में १२ स्तबक, १०४१ पद्य तथा दो सौ से अधिक गद्यांश हैं। आद्यंत वैदर्भी रीति का सरस प्रयोग किया गया है। इस चंपू पर पाँच टीकाएँ प्राप्त हैं।

यह चंपू महाभारत की कथा के मूल भाग की रोचक प्रस्तुति है। सभी प्रसंग मूल महाभारत के अनुसार हैं। केवल महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व की कथा का समावेश कवि ने अपने चंपू में न करते हुए युधिष्ठिर के राज्याभिषेक और उनके सुखपूर्वक राज्य करते रहने के उल्लेख के साथ अपनी रचना को समाप्त कर दिया है। इस प्रकार व्यास के महाभारत के समान भारतचंपू का पर्यवसान निर्वेद में नहीं हुआ है। और इसमें शांतरस के स्थान पर वीररस की ही प्रधानता है। प्रबंधवक्रता का अच्छा निर्वाह करते

हुए अनंत भट्ट ने अंत में एक शिष्ट हास्य का रोचक प्रसंग प्रस्तुत किया है। राजा युधिष्ठिर उद्यान में जाते हैं, जहाँ शुकांगनाएँ पूर्व के अभ्यास से शकुनि के उस हाथ की जय बोल रही हैं, जिसने उनके स्वामी को अपार संपदा दिलायी, तो युधिष्ठिर को तोतों की इस रटंत विद्या पर हँसी आ जाती है—

क्षोणीं कोशगृहाणि गोधनततिं घोटान् रथान् कुञ्जरा-
नन्यां सम्पदमप्यददात् पणमिषादस्माकमीशाय यः।
तादृक्षः शकुनेः करो विजयतामित्यालपन्तीः शुकी-
रुद्याने स निशम्य धर्मतनयो मन्दं जहासानुजैः॥ (१२/२९)

अनंत कवि घटनाओं और प्रसंगों को चित्रोपम शैली में निरूपित करने में निपुण हैं। उनकी कल्पनाशक्ति उर्वर है। द्रौपदी, स्वयंवर के समय रंगशाला में प्रवेश करती है। इस दृश्य का उन्होंने रमणीय चित्र अंकित किया है—

जाग्रत्सोमककीर्तिसोमनिमिषत्पद्मावकाशात्ययात्
प्राप्तेन्दीवरनित्यवासघटितश्यामप्रभाश्रीरिव।
पाञ्चालस्य सुता ततः परिजनैः सार्धं पुरः पश्यतां
राज्ञां बुद्धिमिवाधिरुह्य शिबिकां रङ्गस्थलीं प्राविशत्॥

राज द्रुपद का यशश्चंद्र नित्य चमकता रहता है, इससे कमल खिल नहीं पाते, तो लक्ष्मी को इंदीवर या नीलकमल में रहना पड़ता है। इसके कारण लक्ष्मी श्यामा या साँवली हो गयी है। द्रौपदी को उसी लक्ष्मी से उपमा देते हुए कवि कहता है कि वह शिविका या पालकी पर चढ़ कर रंगस्थली में इस तरह आयी, जैसे स्वयंवर में बैठे राजाओं की बुद्धि पर अधिरूढ़ हो कर आयी हो। चलती हुई पालकी भी डोलती है और राजाओं की बुद्धि भी डोल रही है, राजाओं की बुद्धि में केवल द्रौपदी को लेकर ही उत्सुकता है। इस प्रकार शिविका के लिए राजाओं की बुद्धि का उपमान बड़ा सटीक है।

अनंतभट्ट का गद्य अनुप्रासों की झंकार तथा ओजस्विता से संवलित है। पद्यों में कल्पनाशीलता और गति की मंदता है, जो उनकी गद्य कथा को क्षिप्रता देते चलते हैं। पांडु की मृगया के प्रसंग में वे कहते हैं—

तत्र स तावदतिक्षुल्लकवनमल्लिकामतल्लिकोद्वेल्लितधम्मिल्लोऽवलग्न-दृढलग्नकच्छपुटविच्छुरितच्छुरिको निषङ्गानुषङ्गमांसलितमांसललितः परनिरासनपरं शरासनवरं करे कुर्वाणो गीर्वाणचक्रवर्तिविक्रमः क्रमेण विविधमृगवधं विधातुमुपचक्रमे।

इसी प्रसंग में पद्यबंध की यह सरसता तथा वर्णविन्यासवक्रता दर्शनीय है—

क्षोणीपतौ मदकलं प्रति कृष्णसारं
तूणीमुखे पतितपाणिनखाङ्कुरेऽस्मिन्।
एणीकुलानि तरलैर्यमुनाजलानां
वेणीमिवाक्षिवलनैर्विपिने वितेनुः॥ (१/१७)

(पांडु जब मतवाले कृष्णसार पर बाण चलाने के लिए तरकस में से बाण निकाल रहे थे, तभी हरिणियों ने अपनी भयचकित आँखों के संचार से यमुना के जलों की वेणियाँ-सी वहाँ फैला दीं।)

छंदों की विविधता से भारतचंपू की रोचकता बढ़ी है। प्रसंगानुरूप छंदों का चयन करने में चंपूकार ने विवेक का परिचय दिया है। कहीं-कहीं अनुष्टुप् का प्रयोग काव्यात्मकता तथा कथा-प्रवाह दोनों की दृष्टि से उत्तम है। उदाहरण के लिए, खांडव वन को जलाते अर्जुन के वर्णन में अनंतभट्ट कहते हैं—

हुताशनपरित्रासादुच्चलन्त्या वनश्रियः।
कबरीव श्लथा वेगात् कापि धूम्या खमानशे॥ (३/११६)

(जंगल में लगी आग के भय से जैसे वनलक्ष्मी भाग रही थी, तो ऊपर-ऊपर फैलती धुएँ की राशि उसकी केश-राशि-सी लगती थी।)

वरदांबिकापरिणयचंपू

इस चंपू की रचयित्री तिरुमलांबा हैं। ये विजयनगर के सम्राट् अच्युतराय (१५२९-४२ई०)की रानी थीं। वरदांबिका के नाम से वस्तुतः रानी तिरुमलांबा ने अच्युतराय के साथ अपने ही परिणय की कथा को काव्यात्मक रूप में निबद्ध किया है। अपने राज्याभिषेक के पश्चात् एक बार कात्यायनी के मंदिर में राजा अच्युतराय वरदांबिका नामक कन्या को देखकर उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाते हैं। फिर वे उससे विवाह कर लेते हैं। कुल इतना ही ऐतिहासिक वृत्तांत इस चंपू में है। इस चंपू में पद्यों की अपेक्षा गद्य भाग अधिक है।

आनंदवृंदावनचंपू

इस चंपू के प्रणेता सुप्रसिद्ध कवि कर्णपूर हैं। इनका परिचय महाकाव्यविषयक अध्याय में दिया जा चुका है। इस चंपू में कर्णपूर ने कृष्ण की वृंदावन में की गयी नित्य लीलाओं का भक्ति-भाव में डूब कर सरस चित्रण किया है। कवि का प्रेरणास्रोत श्रीमद्भागवत है, पर होलिका और दोला उत्सव के अवसर की लीलाएँ उसने अपनी उद्भावना से जोड़ी हैं। संपूर्ण चंपू २२ स्तवकों में विभाजित है। प्रथम स्तवक में वृंदावन तथा वहाँ के निवासियों का अतिरंजित शैली में वर्णन है। द्वितीय से लेकर सप्तम स्तवक तक बाललीलाओं का वर्णन है तथा अष्टम से लेकर अंतिम स्तवक तक किशोर लीलाओं का। दीर्घसमासबहुल उत्कलिकाप्राय, अल्पसमासमय चूर्णक तथा समासरहित आविद्ध इन तीनों प्रकार की गद्य शैलियों का कर्णपूर ने प्रयोग किया है। विशेषरूप से भक्तों को रसविभोर कर देने वाली कथावाचन की सरस शैली इसमें गृहीत है। गद्यबंधों का लालित्य और सुपाठ्यता मनोहारी है। वृंदावन का यह चित्र उदाहरणीय है—

स्वतेजसा तु सुभास्वत् सुपीयूषकिरणं सुमङ्गलं सुबुधं सुजीवं सुकविगम्यं सुमानवं, भूविशेषकमपि न भूविशेषकम्, सदा सक्षणमपि क्षणरहितम्, व्यापकमपि नव्यापकं किञ्चन निखिलगुणवृन्दावनं वृन्दावनं नाम वनम्।

पारिजातहरणचंपूः

सोलहवीं शताब्दी के चंपूकाव्यों में शेष श्रीकृष्ण के पारिजातहरणचंपूः, उषापरिणय तथा सत्यभामाविलास उल्लेखनीय हैं। शेष श्रीकृष्ण के पिता नरसिंह तथा आश्रयदाता काशीनरेश गोविंदचंद्र थे। अपने समय के श्रेष्ठ पंडितों व पंडित परिवार से इनका सम्बन्ध था। इनके द्वारा स्थापित काशी की व्याकरण परम्परा में ही भट्टोजी दीक्षित तथा नागोजी भट्ट जैसे प्रकांड पंडित हुए। इनकी अन्य रचनाओं में कंसवध नाटक प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने मुरारिविजय, मुक्ताचरित तथा सत्यभामापरिणय नामक रूपकों की भी रचना की थी। श्रीकृष्ण कवि की भाषा-शैली, घटनाओं की क्षिप्रता तथा आकस्मिकता का बोध कराने में समर्थ हैं। युद्ध के संरंभ का चित्रण करने में वे सफल हैं। पारिजातहरण की घटना का चित्रण करते हुए उन्होंने आकस्मिकता का अनुभव कराते हुए लिखा है—

इतीन्द्रेण विसृष्टः स्त्रष्टुः सुतः समेत्य वासुदेवाय सर्वमिदमावदयाञ्चक्रे। सोऽप्यशेषमिदमाकलय्य मनसोपहूतं गरुडमारूढः प्रद्युम्नसात्यकिसनाथेनान्तरिक्षगामिना रथेनानुगम्यमानो विमानवर्त्मावजगाहे। ततश्च—

अनिमिषपुरमीयुषा निमेषादथ मिषतां द्विषतां खगेश्वरेण।
समगमि वसुदेवनन्दजनस्तं तरुमधिनन्दनमेष पारिजातम्॥

वेंकटाध्वरी के चंपूकाव्य

वेंकटाध्वरी का समय सत्रहवीं शताब्दी है। ये दार्शनिक, उद्भट कवि और नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके पिता का नाम रघुनाथ तथा माता का नाम सीतांबरा था। इनका निवास कांची नगरी में था। यादवराघवीय द्विसंधान काव्य तथा लक्ष्मीस्तोत्र इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इनके नाम से चार चंपू काव्य मिलते हैं— विश्वगुणादर्शचंपू, वरदाभ्युदयचंपू, उत्तरचंपू तथा श्रीनिवासविलासचंपू। विश्वगुणादर्शचंपू में विश्वावसु और कृशानु नामक दो गंधर्व आकाश से सारी पृथिवी को देखते हैं और उसका वर्णन करते हैं। विश्वावसु प्रत्येक विषय के गुणों पर प्रकाश डालता है तो कृशानु उसके दोषों का उद्घाटन करता है। सारे भारत की नदियों, पर्वतों और विशेषरूप से तीर्थस्थलों का ऐसा विशद और सुंदर वर्णन अन्य किसी चंपू काव्य में नहीं मिलता। इसके साथ ही यह चंपू काव्य उस समय के समाज और धार्मिक तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का भी विवरण प्रस्तुत करता है। धर्म के नाम पर होने वाले पाखंड और आडंबर पर करारा व्यंग्यप्रहार इसमें वेंकटाध्वरि ने किया है। यही नहीं, पुरोहित, ज्योतिषी, वैद्य, सङ्गीतकार आदि विभिन्न व्यवसायों में लगे लोग किस प्रकार कपट के द्वारा लोगों को ठगते हैं, या मूर्ख बनाते हैं—इसका भी रोचक चित्रण कृशानु के संवादों में है। यह पूरा का पूरा चंपू एक रोचक आलोचना है।

वरदाभ्युदयचंपू में कांची में अधिष्ठित लक्ष्मी और नारायण के विवाह का वर्णन है। इसमें गद्य भाग अधिक है। उत्तरचंपू में रामायण के उत्तरकांड की घटनाएँ वर्णित हैं।

श्रीनिवास चंपू तिरुपति के वेंकटेश्वर भगवान् की प्रशंसा तथा स्तुति है। इसके वेंकटाध्वरिकृत होने में संदेह प्रकट किया गया है।

नीलकंठविजयचंपू

नीलकंठ दीक्षित के नीलकंठविजयचंपू: की रचना १६३७ के आसपास हुई। इसमें महाकवि नीलकंठ दीक्षित ने शिव के प्रति अपनी भक्ति-भावना को व्यक्त करते हुए समुद्रमंथन के वृत्त को प्रभावशाली रूप में निरूपित किया है।

आनंदकंदचंपू

इस चंपू के प्रणेता मित्रमिश्र हैं। ये ओरछा के राजा वीरसिंह (१६०५-१६२७ई०) के आश्रित थे। इनका बनाया धर्मशास्त्र का ग्रंथ वीरमित्रोदय विख्यात है। आनंदकंदचंपू में आठ उल्लास हैं। इसमें कृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन किया गया है। यह श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध पर आधारित है। अंतिम उल्लास में मित्रमिश्र ने अपने आश्रयदाता के वंश और चरित का वर्णन भी किया है।

अन्य चंपूकाव्य

चंपूकाव्य प्राय: पौराणिक कथाओं को लेकर ही लिखे गये हैं। भागवतचंपू के नाम से पाँच से अधिक चंपू-प्रबंध प्राप्त हैं, जिनमें से चार के रचनाकार क्रमश: अभिनवकालिदास, चिदंबर, रामभद्र और रामनाथ हैं। राघवीय तथा विष्णुविलास महाकाव्यों के कर्ता रामपाणिवाद का भागवतचंपू भी इनमें जोड़ा जा सकता है। नृसिंहचंपू के नाम से केशवभट्ट और संकर्षण के लिखे दो अलग-अलग चंपू मिलते हैं। ऊपर उल्लिखित अनंतकृत भारतचंपू के अतिरिक्त महाभारत की कथा पर राजचूडामणि दीक्षित (परिचय के लिए नाटकविषयक अ० १२ द्र०) ने भी 'भारतचंपू:' की रचना की थी। अनेक कवियों ने जैनधर्म और तीर्थंकरों आदि के चरित्र को लेकर चंपूकाव्य लिखे हैं। आशाधर सूरि ने १२४३ ई० में तीर्थंकर आदिनाथ के पुत्र भरत के जीवन पर 'भारतेश्वरचंपू:' की रचना की। इसी प्रकार अर्हद्दास का पुरुदेवचंपू तथा दिवाकर का अमोघराघवचंपू भी उल्लेख्य हैं। 'यतिराजविजयचंपू:' तथा 'विरूपाक्षवसन्तोत्सवचंपू:' के कर्ता अहोबल का समय चौदहवीं शताब्दी है। अनेक चंपूकाव्य ऐतिहासिक चरितनायकों के चरित प्रस्तुत करते हैं। १५७७ ई. में पद्मनाभ द्वारा रचित 'वीरभद्रदेवचंपू:' में रीवाराज्य का वर्णन है। सोलहवीं शताब्दी में नारायणभट्ट ने विभिन्न पौराणिक विषयों पर चौदह चंपू काव्यों की रचना की। अठारहवीं शताब्दी में रचित शंकर कवि के 'चेतसिंहविलासचंपू:' में काशीनरेश चेतसिंह का वर्णन है, इन्हीं का एक अन्य चंपू 'गङ्गावतरणचम्पू:' है। अठारहवीं शताब्दी का एक अन्य चंपू 'आनन्दचंपू:' ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसके रचयिता श्रीनिवास कवि हैं। इसमें तमिलनाडु के राजा आनंदरंग पिल्लै का चरित है। इसमें अंग्रेजी शासन के आरम्भ का भी वर्णन है। आनंदरंग पिल्लै के द्वारा अंग्रेजी के विरुद्ध फ्रेंच शासक डुप्ले की

सहायता, उसके द्वारा पांडिचेरी में विशाल भवन का निर्माण तथा उसमें ऊपर घड़ी लगवाना आदि ऐतिहासिक घटनाओं के साथ चंपूकार ने उस समय की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति का अच्छा परिचय इस कृति में दिया है।

कुछ कवियों ने चंपूकाव्य में नये विषयों का समावेश किया। सत्रहवीं शताब्दी में समरपुंगव ने यात्राप्रबंधचंपूः की रचना की। इसमें सारे देश की यात्रा का वर्णन है। विश्वगुणादर्शचंपूः का अनुकरण करते हुए अठारहवीं शताब्दी में अण्णयार्य ने तत्त्वगुणादर्शचंपूः लिखा, जिसमें जय तथा विजय इन दो पात्रों के वाद-विवाद और संवाद में शैव और वैष्णव संप्रदायों का प्रतिपादन किया गया है। कुछ पंडितों ने तो अपने शास्त्रीय ग्रंथों को भी चंपूकाव्य का नाम दे दिया है। ऐसे ग्रंथों में उल्लेखनीय हैं—आचार्यविजयचंपू, विद्वन्मोदतरंगिणी तथा 'मन्दारमरन्दचंपूः'।

आधुनिककाल में लिखे गये चंपूकाव्यों में सदाशिवशास्त्री मुसलगाँवकर का १९२९ ई० में रचित शिन्देविलासचंपूः सिंधियाराजाओं की प्रशस्ति है। रघुनंदन त्रिपाठी का १९३७ में विरचित हरिहरचरित पौराणिक विषयवस्तु पर आधारित है।

✤

अध्याय ११

ऐतिहासिक महाकाव्य, चरितकाव्य तथा इतिहासविषयक विविध साहित्य

इतिहास की अवधारणा

इतिहास शब्द का संस्कृत भाषा में अर्थ है—इति ह आस—जो होता आया है। इतिहास का अर्थ वह वृत्त है, जो पहले होता आया है, और आगे भी होता रह सकता है। पुराण उसकी पुनर्व्याख्या है। न्यायभाष्य में वात्स्यायन कहते हैं कि इतिहास का विषय लोकवृत्त है। अंग्रेजी में जिसे 'हिस्ट्री' कहा जाता है, उसकी अपेक्षा इतिहास घटनाओं का यथावत् विवरण प्रस्तुत नहीं करता है, वह जो घटनाएँ हो चुकी हैं, उनमें अंतर्निहित शाश्वत तत्त्व का निरूपण करता है। इस दृष्टि से रामायण और महाभारत को हमारी परम्परा में इतिहास का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माना गया तथा ये दोनों काव्य इतिहास के नाम से प्रसिद्ध भी हुए। पुराणों में भी इतिहास का प्रचुर पल्लवन मिलता है।

इतिहास की प्राचीन परम्परा

यह समझना भूल है कि आधुनिक अर्थ में इतिहास चेतना का प्राचीन भारत में सर्वथा अभाव था। इतिहास के बीज ऋग्वेद में मिलते हैं। उदाहरण के लिए, इसमें भरतवंशीय राजा सुदास का पुरोहित बनने के लिए वसिष्ठ और विश्वामित्र के बीच हुई प्रतिस्पर्धा का उल्लेख है। इस प्रतिस्पर्धा में वसिष्ठ कुल की विजय हुई। पर युद्ध में जीत कर लौटते समय विपाशा और शुतुद्रि नदियों को पार करने में विश्वामित्र ने भरतों की सहायता की। ऋग्वेद में ही दाशराज युद्ध का वर्णन आता है, इस युद्ध में विजय प्राप्त करके राजा सुदास दाशराज कहलाया। इस प्रकार ऋग्वेद से चली आ रही इतिहास की रचना की प्रवृत्ति का पल्लवन ब्राह्मणों और उपनिषदों में आख्यानों तथा उपाख्यानों के रूप में हुआ। यही परम्परा आगे चल कर ऐतिहासिक काव्यों के रूप में विकसित हुई। मीमांसा दर्शन में अतीत की रचनाओं के विवेचन को अर्थवाद के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। कुछ दर्शनों में तो ऐतिह्य (अतीत) को अपनी प्रमाणमीमांसा में एक प्रमाण के रूप में भी स्थान दिया था। तैत्तिरीय आरण्यक में ऐतिह्य को ज्ञान का एक प्रमाण बताया गया है।

पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय लोगों में इतिहास-बोध का अभाव माना है, जो उचित नहीं है। वास्तव में इतिहास की हमारी दृष्टि अपनी परम्पराओं और सांस्कृतिक विरासत के संदर्भ से विकसित हुई है, और उसके अनुरूप भारत में हर जाति, वंश,

परिवार अपना-अपना इतिहास सँजोते और सुरक्षित रखते आये हैं। राजा अपनी वंशावलियों को लेखबद्ध करवा कर सुरक्षित रखते थे। मठों, विहारों और मंदिरों में वहाँ की गुरुपरम्परा, दान, उत्सव आदि के विवरण लिख कर रखे जाते थे। पंडों के पास अनेक कुटुंबों और घरानों का पीढ़ी-दर-पीढ़ी इतिहास रहता था। इस प्रकार इतिहास हमारी परम्परा में आत्मावबोध के लिए था—अपने आपको अपने वंश, परिवार, जाति और देश को पहचानने के लिए जो संदर्भ या विवरण अपेक्षित थे, उन्हें इतिहास-लेखन के द्वारा सुरक्षित रखना भारतीयों ने उचित समझा। इसलिए केवल राजनीतिक घटनाओं का विवरण इतिहास नहीं कहा गया। इतिहास के माध्यम से उन स्मृतियों को सुरक्षित रखा जाना चाहिये, जो आने वाली संततियों को प्रकाश और प्रेरणा दें। यही कार्य ऐतिहासिक महाकाव्यों की परम्परा ने भी किया।

ऐतिहासिक महाकाव्य के प्रणेताओं ने प्रायः घटनाओं का भौतिक स्तर पर जैसा रूप था उसका यथावत् चित्रण न करके अपने समय की पुनःसृष्टि की है। वे अपने नायक को जैसा वह था, वैसा न दिखा कर, जैसा उसे होना चाहिये, वैसा प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार वे इतिहास को अपने आदर्शों तथा स्वप्नों के आलोक में संस्कारित करके प्रस्तुत करते हैं। प्रो० विश्वम्भर सहाय पाठक ने संस्कृत-कवियों की इस प्रवृत्ति को इतिहास का दैवीकरण कहा है। राजा में ईश्वर का अंश रहता है—यह पारम्परिक मान्यता भी इसके पीछे कारण रही है।

ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा—प्राचीन ऐतिहासिक काव्यों में शंकुक का भुवनाभ्यदय प्राप्त नहीं होता है। ऐतिहासिक महाकाव्यों में राजतरंगिणी सबसे विशाल और प्रामाणिक माना जाता है। इसके रचयिता कल्हण ने भुवनाभ्युदय तथा अपने स्त्रोतों का उल्लेख करते हुए क्षेमेंद्र की नृपावली, हेलाराज की पार्थिवावली तथा पद्ममिहिर और छविल्लाकर के इतिहासों का उल्लेख किया है। नीलमतपुराण में भी कल्हण को कश्मीर के इतिहास पर प्रामाणिक सामग्री मिली थी। इस प्रकार ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही थी। विश्वम्भर सहाय पाठक ने तो इतिहासकारों की परम्परा का वैदिक काल में भृग्वंगिरस गोत्रीय ऋषयो में संधान किया है।

नवसाहसांकचरित

इस महाकाव्य के प्रणेता परिमल पद्मगुप्त हैं। ये धारा नगरी में मुंज तथा सिंधुराज के आश्रय में रहे। इनके पिता का नाम मृगांक था। मुंज का इन्होंने अपने महाकाव्य के आरम्भ में वाक्पतिराजदेव कह कर श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है, तथा उनकी मृत्यु का उल्लेख भी किया है (नवसाहसांकचरित, १/७,८)। मुंज की मृत्यु से कवि को बड़ा आघात लगा था। मुंज की मृत्यु ९९३ ई० के लगभग हुई ऐसा माना जाता है। तत्पश्चात् सिंधुराज राजा बना और उसकी मृत्यु १००९ ई० में हुई। इस प्रकार नवसाहसांकचरित का रचनाकाल १००५ ई० के आसपास माना जा सकता है।

नवसाहसांकचरित में अठारह सर्गों में मुंज के अनुज सिंधुराज का चरित्र वर्णित है। इस महाकाव्य के अनुसार उसने अपने भाई की हत्या का प्रतिशोध लिया।

विशेषरूप से नागकन्या शशिप्रभा से सिंधुराज का प्रेम और विवाह इसका मुख्य वृत्त है। सिंधुराज नागों के शत्रु वज्रांकुश को मार डालता है, और उसकी स्वर्णवाटिका से हेमकमल लाकर शशिप्रभा के पिता शंखपाल को देता है, पुत्री के विवाह के विषय में पिता की प्रतिज्ञा पूर्ण होती है, और वे सिंधुराज के हाथ में उसका हाथ दे देते हैं। अपने नायक को चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में चित्रित करते हुए कवि ने अतिशयोक्ति के द्वारा हूण, बागड़, मुरल, लाट, कर्नाटक व कोसल तक पर उसकी विजय दिखा दी है।

मृगयाविहार, विंध्याटवी, नागों और गंधर्वों की सेना के सहयोग से सिंधुराज का युद्ध तथा नर्मदा नदी के साथ अनेक तीर्थों, नगरों आदि के मनोहारी वर्णन से यह महाकाव्य अलंकृत है।

ऐतिहासिक महाकाव्यों में यही एक महाकाव्य ऐसा है, .जिसमें अंगीरस वीर न होकर शृंगार है। अपने नायक सिंधुराज का नागकन्या से परिचय, वार्तालाप, प्रणय, विरह आदि के चित्रण में कवि ने अपनी वाणी को विस्तार अधिक दिया है, युद्ध का वर्णन तथा उसके द्वारा वीररस का उद्रेक अपेक्षाकृत गौण हो गया है।

कवि परिमल की भाषा-शैली, अभिव्यक्ति तथा कल्पना की उड़ान पदे-पदे कालिदास का स्मरण कराती है। अनेक ऐतिहासिक तथ्य इस महाकाव्य से प्रकट होते हैं, जिनकी पुष्टि शिलालेखों व अन्य स्रोतों से होती है। परमार वंश के विषय में इससे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध होते हैं।

काव्य के रूप में नवसाहसांकचरित को आरम्भ से ही बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। भोज ने सरस्वतीकंठाभरण, क्षेमेंद्र ने औचित्यविचारचर्चा तथा वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में इसके उद्धरण दिये हैं। मम्मट ने इनके अनेक पद्य अलंकारों के उदाहरण में प्रस्तुत किये हैं। भर्तृमेंठ तथा कालिदास पद्मगुप्त के आदर्श कवि हैं। कालिदास पर तो कवि की इतनी आस्था है कि उसने अपने नायक के सौन्दर्य के चित्रण में कालिदास की कविता को उपमान बना दिया है—

प्रसादहृद्यालङ्कारैस्तेन मूर्तिरभूष्यत।
अत्युज्ज्वलैः कवीन्द्रेण कालिदासेन वागिव॥ (९२/९३)

(उस राजा ने प्रसन्नतादायक मनोहर अलंकारों से अपने शरीर को उसी प्रकार सजाया, जिस प्रकार कविवर कालिदास ने अपनी कविता को प्रसादहृद्य अलंकारों से अलंकृत किया था।)

नायिका के सौन्दर्य कथा-विरह के वर्णन में पद्मगुप्त की कल्पना ने नवोन्मेष प्रकट किया है। शशिप्रभा के विरहवर्ण की यह उक्ति उदाहरणीय है—

शिरीषादपि मृद्वङ्गी केयमायतलोचना।
एष क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानलः॥ (१६.२८)

(कहाँ तो शिरीष से भी अधिक सुकुमार अंगों वाली यह विशालाक्षी और कहाँ दहकते भूसे की आग जैसा कर्कश यह कामज्वर?) यह विषम अलंकार का उदाहरण

है। ओजोगुण के आधान तथा वीररस की अभिव्यक्ति में भी कवि ने प्रवीणता दिखलायी है। अभिनव कल्पनाएँ तथा अलंकारों की छटा पद्मगुप्त के काव्य में रस का परिपोष करते हैं। वीररस का यह उदाहरण देखिये—

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते॥ (१६.२८)

(उस राजा के हाथ का स्पर्श पाकर तमाल के समान नील वर्ण की होकर भी कृपाण की धार शरद् के चन्द्रमा के समान शुभ्र वर्ण की ऐसी धारा को बहाने लगती है, जो तीनों लोकों का आभरण बन जाता है।)

यमक और श्लेष के सहज अक्लिष्ट प्रयोग में परिमल दक्ष हैं। साहित्यरस (साहचर्य का आनन्द, पारे या पारद का रस, तथा काव्यरस) की वन्दना करते हुए निम्नलिखित पद्य में सुवर्ण (सोना, अच्छे अक्षर) तथा दुर्वर्ण (बुरा रंग, बुरे अक्षर) के श्लेष से चमत्कार ला दिया है—

नमोऽस्तु साहित्यरसाय तस्मै निषिक्तमन्तः पृषतापि यस्य।
सुवर्णतां वक्त्रमुपैति साधोर्दुर्वणतां याति च दुर्जनस्य॥ (१/१४)

विक्रमांकदेवचरित

विक्रमांकदेवचरित के प्रणेता महाकवि बिल्हण का जन्म कश्मीर के प्रवरपुर (आधुनिक श्रीनगर) से तीन कोस की दूरी पर जयवन नामक स्थान के पास खोनमुष गाँव में हुआ था। (आजकल इस गाँव का नाम खुमोह है।) इनके महाकाव्य का रचनाकाल १०८५ ई० के आसपास है। इनके पिता अपने समय के प्रकांड पंडितों में एक थे, और उन्होंने महाभाष्य पर टीका लिखी थी। कल्हण ने अपने महाकाव्य राजतरंगिणी में लिखा है कि कश्मीरनरेश हर्ष (१०८४-११०१ ई०) के शासनकाल में बिल्हण विद्यमान थे और वे उस समय चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ की सभा में थे। इस प्रकार बिल्हण का समय १०५० ई० से ११०० ई० के बीच माना जा सकता है।

अपने महाकाव्य के अंतिम सर्ग में इन्होंने अपने वंश तथा जीवन का विस्तृत परिचय दिया है, जिसके अनुसार कश्मीर के राजा गोपादित्य ने उनके प्रपितामह मुक्तिकलश को मध्यदेश से आकर कश्मीर में रहने के लिए आमंत्रित किया था। बिल्हण के पितामह का नाम राजकलश था और पिता का ज्येष्ठकलश। ज्येष्ठकलश के तीन पुत्र हुए, जिनमें बिल्हण मँझले थे। इनकी माता नागदेवी थीं। बिल्हण ने वेद तथा शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया। इन्होंने अपने परिचय में बताया है कि युवावस्था में ही इनके काव्यों की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी थी और नगर-नगर, गाँव-गाँव, घर-घर में स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े तथा विद्वान् और मूर्ख सभी इनके काव्यों को पढ़ते थे—

ग्रामो नासौ न स जनपदः सास्ति नो राजधानी
तन्नारण्यं न तदुपवनं सा न सारस्वती भूः।
विद्वान् मूर्खः परिणतवया बालकः स्त्रीपुमान् वा
यत्रोन्मीलत्पुलकमखिला नास्य काव्यं पठन्ति॥

बिल्हण को अपनी जन्मभूमि पर बड़ा अनुराग तथा गर्व था। उन्होंने कश्मीर के सौन्दर्य और वहाँ के साहित्यिक अभ्युदय का चित्रण करते हुए लिखा है कि इस शारदा देश (कश्मीर) में कुंकुम और केसर की तरह कविता प्रस्फुटित होती है—

सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥ (१/२१)

राजा कलश के राज्यकाल (१०६२-८० ई०) में बिल्हण ने देशाटन, शास्त्रार्थ और अपनी कविता के प्रसार के लिए कश्मीर छोड़ दिया। कन्नौज, काशी और प्रयाग के पंडितों से शास्त्रार्थ करते हुए तथा अपने काव्य रस के रसिकों को आनंदमग्न बनाते हुए वे गुजरात के अनहिलवाड़ में राजा कर्णदेव की सभा में पहुँचे। यहाँ राजा कर्णदेव ने बिल्हण को अपनी राजसभा में विद्यापति बना दिया। फिर सोमनाथ और रामेश्वरम् की यात्रा से लौटते हुए बिल्हण कल्याण की राजसभा में रहे।

बिल्हण के नाम से तीन रचनाएँ प्राप्त होती हैं—**विक्रमांकदेवचरित** महाकाव्य, **कर्णसुंदरी** नाटिका तथा **चौरसुरतपंचाशिका** खंडकाव्य। विक्रमांकदेवचरित के अतिरिक्त शेष दो रचनाओं को परिचय नाटक तथा मुक्तक काव्य से संबद्ध अध्यायों में दिया गया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन सुभाषित संग्रहों में अनेक पद्य बिल्हण के नाम से उद्धृत हैं, जिससे प्रतीत होता है कि इन्होंने उक्त तीनों कृतियों के अतिरिक्त स्फुट काव्य भी बड़ी संख्या में लिखे होंगे। इनके अतिरिक्त प्रो० रामजी उपाध्याय ने उल्लेख किया है कि बिल्हण ने शिवस्तोत्र व राम के चरित पर भी काव्यरचना की थी।

विषयवस्तु—विक्रमांकदेवचरित में १८ सर्ग हैं। इसका नायक चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ है। ब्रह्मा के द्वारा छोड़े गये चुल्लू के जल से उत्पन्न वीर पुरुष से चालुक्य वंश की उत्पत्ति बताते हुए इस वंश के अनेक वीर राजाओं का उल्लेख करके कवि ने राजा आहवमल्ल (१०४०-६९ ई०) के चरित का विस्तार से निरूपण किया है। आहवमल्ल का दूसरा नाम त्रैलोक्यमल्ल भी था। इसके तीन पुत्र हुए—सोमेश्वर, विक्रमादित्य और जयसिंह। दूसरे तथा तीसरे सर्गों में इन तीनों पुत्रों के जन्म तथा बाल्यकाल का वर्णन है। विक्रमादित्य (विक्रमांकदेव) की योग्यता देख कर पिता राजा उसी को बनाना चाहते हैं, पर वह राजपद पर अपने बड़े भाई का अधिकार मानकर उसको अस्वीकार कर देता है। तथापि सोमेश्वर के राजा रहते हुए भी अपने प्रताप के कारण वस्तुत: विक्रमांकदेव ही शासन का संचालन करता है। चौथे सर्ग में आहवमल्ल देव की मृत्यु तथा राजा सोमेश्वर के अहंकार और दुर्गुणों का निदर्शन कवि ने किया है। विक्रमांकदेव दिग्विजय पर निकल पड़ता है। अनेक राजाओं को परास्त करके जब वह लौटता है, तो राजा सोमेश्वर को भ्रम होता है कि उसका छोटा भाई उसी पर आक्रमण करने आ रहा है। और वह विक्रमांकदेव से लड़ने के लिए सेना भेज देता है। घमासान युद्ध में सोमेश्वर की सेना को परास्त करके विक्रमांक उसे बंदी बना लेता है। छठे सर्ग में विक्रमांकदेव के राजपद पर प्रतिष्ठित होने तथा अपने अनुज को दक्षिण में वनवासमंडल का राजा बनाने के प्रसंग वर्णित हैं। सातवें सर्ग में नायक का राजकुमारी

चंदेलदेवी के स्वयंवर में गमन तथा उसके साथ परिणय चित्रित है। आठवें से तेरहवें सर्गों तक वसंत, पुष्पावचय, जलविहार, मधुपान, वर्षा आदि महाकाव्योचित वर्णनों का शृंगारमय विस्तार है। चौदहवें और पंद्रहवें सर्गों में विक्रमांकदेव के अनुज जयसिंह का विद्रोह तथा नायक द्वारा उसका दमन वर्णित है। सोलहवें सर्ग में शरद् ऋतु तथा नायक का मृगयाविहार निरूपित है। अंत में चोलों के उपद्रव का दमन और कांची तक विक्रमांकदेव के अधिकार होने का वर्णन करते हुए अठारहवें सर्ग में आत्मपरिचय के साथ बिल्हण ने विक्रमांकदेवचरित समाप्त किया है।

बिल्हण का स्वाभिमान और मनस्वी व्यक्तित्व उनके काव्य में व्यक्त हुआ है। राजाओं के दर्प का प्रत्याख्यान करते हुए उन्होंने बड़ी तीखी उक्तियाँ लिखी हैं।

ऐतिहासिकता—यद्यपि बिल्हण ने अपने चरित नायक को उदात्त रूप में प्रस्तुत करते हुए उनके दोष प्रच्छादित कर लिये हैं, पर कल्याणी चालुक्यों के सत्तासंस्थापक राजा तैलप के द्वारा राष्ट्रकूटों का उन्मूलन, मालवनरेश पर आक्रमण, आहवमल्लदेव के द्वारा कल्याणनगर की स्थापना, भोज, कर्ण तथा चोल राजाओं पर उसकी विजय आदि अनेक घटनाएँ जो बिल्हण ने निरूपित की हैं, इतिहास से प्रमाणित हैं।

काव्यसौन्दर्य—बिल्हण वैदर्भी रीति के सरस कवि हैं। कालिदास की कविता का वैशिष्ट्य आत्मसात् करके उन्होंने अपनी काव्यकला को परिष्कृत और समृद्ध बनाया है। उनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता अप्रस्तुतविधान की नवीनता है। सूर्यास्त के वर्णन में उन्होंने सूर्य के बिम्ब को तुष (छिल्का) उतारी गयी मसूर से उपमा दी है—

मज्जतः पयसि पश्चिमसिन्धोः स्निग्धमम्बरतलं परिरभ्य।
भास्वतस्तुषवियुक्तमसूरक्षोदपाटलमलक्ष्यत धाम॥ (११/३)

कल्पना की ऊँची उड़ान और पांडित्य के प्रदर्शन में बिल्हण नैषधकार हर्ष की रचना के अग्रदूत प्रतीत होते हैं। जनजीवन के चित्रण की दृष्टि से भी बिल्हण की रचना उल्लेखनीय है। अभिसारिका का यह चित्र अनोखा ही है—

रासभेन सहिता रजकस्त्रीरूपधारि विरचय्य शरीरम्।
कापि वञ्चितवती जनबाधां कं विडम्बयति नो कुसुमेषुः॥ (११/२४)

(कोई अभिसारिका गधे को साथ लेकर धोबिन का वेष बनाकर लोगों को धोखा दे रही थी।) कश्मीर में लोगों का अँगीठी जलाकर घर गर्म करना, ग्रीष्म में प्रपापालिकाएँ, कश्मीर की नैसर्गिक छटा आदि के वर्णन बिल्हण-काव्य में बड़े सरस हैं। कल्याणनगरी के वर्णन में कल्पना की मनोहारी छटा प्रकट करता हुआ कवि कहता है—

प्रकर्षवत्या कपिशीर्षमालया यदुद्भटस्फाटिकवप्रसंहति।
विलोकयत्यम्बरकेलिदर्पणे विलासधौतामिव दन्तमण्डलीम्॥ (२/७)

(कल्याणनगरी के भवनों की दीवारें स्फटिक मणि से बनी थीं, उनके गुम्बद सफेद रंग के थे, ऐसा लगता था मानो वह नगरी आकाशरूपी केलि दर्पण में उन गुम्बदों के द्वारा अपनी श्वेत धवल दंतपंक्ति को निहार रही है।)

निसर्गचित्रण में कवि ने सौन्दर्य और कल्पनाओं की मनोहारी सृष्टि की है। वर्षा के वर्णन में वह कहता है—

तृणानि भूभृत्कटकेषु निक्षिपन् न कैः स्फुरद्गोरमृदङ्गनिःस्वनः।
तडित्प्रदीपैश्चलदङ्गलीलया निदाघमन्विष्यति वारिदागमः॥ (१३/३६)

(घोर मृदंग के समान गूँज उत्पन्न करती हुई यह वर्षा ऋतु बिजली के दीप साथ में लेकर पर्वतों की घाटियों में खोजती फिर रही है कि कहीं ग्रीष्म ऋतु वहाँ छिप कर तो नहीं बैठी है?)

राजतरंगिणी

परिचय—राजतरंगिणी के प्रणेता महाकवि कल्हण हैं। कल्हण का वास्तविक नाम कल्याण था, कल्हण कश्मीरी भाषा में उसका अपभ्रंश प्रतीत होता है। इन्होंने अपने पिता का नाम महामात्य चंपक प्रभु बताया है। कश्मीर के १०९८ ई० के लगभग परिहासपुर में इनका जन्म हुआ था। जोनराज के अनुसार ये कुलीन ब्राह्मण थे। महाभारत जैसा यह विशाल कलेवर वाला ग्रन्थ कल्हण ने ११४८ ई० में लिखना आरम्भ करके दो या तीन वर्षों में पूरा किया, इसकी पूर्ति सन् ११५० ई० में हुई।

कश्मीर से उन्हें बहुत प्यार था। वे कहते हैं—बड़े-बड़े गुरुकुल, केसर और ठंडा जल—ये चीजें स्वर्ग में भी दुर्लभ हैं, जो यहाँ आम हैं। तीनों लोकों में यह धरती सबसे सुन्दर है, इस धरती पर भी उत्तर दिशा सबसे सुन्दर है, उत्तर दिशा में भी गौरीगुरु हिमालय सबसे रमणीय है और उस हिमालय के क्षेत्र में भी कश्मीर मण्डल सबसे सुन्दर है (राज० १/४२-४३)।

विषयवस्तु—प्रथम तरंग में कल्हण ने गोनंद प्रथम के वर्णन से काव्य का आरम्भ करते हुए युधिष्ठिर के समय तक का इतिहास लिखा है वह ७५ राजाओं का वर्णन किया है। द्वितीय तरंग में उसके आगे का १९२ वर्ष का इतिहास है। तृतीय तरंग में गोनंदवंश के अंतिम राजा बालादित्य तक का ५३६ वर्षों का इतिहास दिया गया है। चतुर्थ तरंग में २६० वर्षों में हुए १७ राजा वर्णित हैं। पाँचवें तरंग से कल्हण का इतिहासज्ञान परिपक्व व प्रामाणिक होता हुआ दिखायी देता है। इसमें अवंतिवर्मा, संकटवर्मा, सुगंधादेवी, शंकरवर्धन आदि के शासनकाल का विस्तृत वर्णन है। षष्ठ से अष्टम तरंगों में कल्हण ने अपने समय की घटनाओं का जो लेखाजोखा प्रस्तुत किया है, वह सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में अप्रतिम है। यद्यपि कल्हण की कृति मुख्य रूप से कश्मीर को केन्द्र में रखती है, पर इसमें सारे देश के इतिहास, भूगोल और संस्कृति का जितना विशद विस्तृत परिचय मिलता है, उतना रामायण के पश्चात् अन्य किसी ग्रंथ में नहीं मिलता।

ऐतिहासिक दृष्टि तथा रचनाप्रक्रिया—राजतरङ्गिणी का अर्थ राजाओं की नदी है। इस नदी में हम राजाओं की उत्थान और पतन, आना और जाना उसी तरह देख सकते हैं जैसे हम नदी के किनारे खड़े होकर उसकी लहरों का उठना और गिरना देखते हैं। इसका विभाजन सर्गों के स्थान पर तरंगों में किया गया है। इतिहासकार के रूप में कल्हण भूतार्थकथन (सच्ची-सच्ची बात कहना) को अपना आदर्श मानते हैं। उन्होंने आरम्भ में ही अपने काव्य का मानदंड विवृत किया है—

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥ (१/७)

(वही गुणवान् प्रशंसनीय है, जिसकी सरस्वती राग और द्वेष से रहित होकर भूतार्थकथन में स्थिर है।)

राजतरङ्गिणी की रचना आरम्भ करने के पूर्व कल्हण ने वह सारी तैयारी की थी, जो एक अच्छे इतिहासकार को करनी चाहिये। उन्होंने प्राचीन अभिलेखों, दानपत्रों, पुराणों और साहित्यिक ग्रंथों का अध्ययन किया था, किंवदन्तियों और जनश्रुतियों की जानकारी प्राप्त की थी, और सारे देश में भ्रमण करके अपने समय के भूगोल और इतिहास को प्रत्यक्ष भी जाना था। राजा हर्ष इतिहास के सबसे क्रूर और आततायी राजाओं में से एक था। अपने पिता की राजा हर्ष पर अत्यधिक श्रद्धा से कल्हण को अरुचि थी। कल्हण के पिता ने दरद के मोर्चे पर हर्ष की ओर से लड़ते हुए बड़ा पराक्रम प्रदर्शित किया था। वे जीवन के अंतिम पड़ाव पर सर्वथा असहाय होकर आत्मत्राण के लिए छटपटाते हर्ष के इने-गिने विश्वासपात्र अधिकारियों में से एक थे। राजा हर्ष जब अपने जीवन की रक्षा के लिए भागा, तो उसका साथ देने वाले दो सेवकों में एक-मुक्त-चंपक का नौकर था। यह संभव है कि कल्हण को हर्ष की दारुण हत्या तथा उस समय घटी अनेक घटनाओं की जानकारी इस मुक्त से प्राप्त हुई हो। श्रीकंठचरित के प्रणेता महाकवि मंख कल्हण के समकालीन थे। उन्होंने अपने महाकाव्य के अंत में वर्णित कविगोष्ठी में कल्हण को उपस्थित दिखाया है, तथा कल्हण ने भी उनका राजा जयसिंह के विदेश मंत्री के रूप में उल्लेख किया है। कल्हण अपने समय की सारी राजनीतिक उथल-पुथल के तटस्थ द्रष्टा बने रहे, तभी वे राजतरङ्गिणी की रचना कर सके। उन्होंने राजा सुस्सल के शासनकाल (१११२-२० ई०), राजा हर्ष के अमानुषिक कृत्यों तथा हर्ष के बेटे भिक्षाचर के सैनिकों के द्वारा जनता पर किये गये भयावह अत्याचारों का जो वर्णन किया है, वह आँखो देखा यथार्थ है। राजा हर्ष की निर्मम हत्या (११०१ ई०), डामरों का भयानक आतंक, सामन्तों और अमात्यों के षड्यन्त्र तथा कुचक्र, उच्चल, सुस्सल, रड्ड, सल्हण, भिक्षाचर आदि का राजसत्ता हथियाने के लिए दारुण प्रयत्न, इनका थोड़े-थोड़े समय के लिए शासक बन कर फिर राजनीति के खिलवाड़ में पदच्युत होना—इन सब घटनाओं के कल्हण साक्षी रहे, और इनका प्रामाणिक निरूपण उन्होंने किया। अपने समय के चित्रण में कल्हण बहुत निर्भीक होकर सचाई उघाड़ते हैं, अपने से पहले के समय को वे अनुश्रुतियों, आख्यानों-उपाख्यानों तथा अन्य अनेक स्रोतों से पहचानने का यत्न करते हैं। कुरुवंश के युधिष्ठिर के समय या कलिकाल के अवतरण से लगा कर अपने समय की जो कथा कल्हण कहते हैं, उसमें हम अपना इतिहास भी पहचान सकते हैं और इतिहास हमने किसे माना यह भी जान सकते हैं।

इस तरह के वर्णनों में कल्हण राजतन्त्र और अर्थशास्त्र की प्रामाणिक जानकारी भी प्रस्तुत करते चलते हैं। वे यह बताते हैं कि किस तरह अकाल के समय राजा तुंजीन और राजा उच्चल ने व्यापारियों से थोक में सारा अनाज खरीद लिया और फिर उसे

बहुत सस्ते दामों पर आम लोगों के बीच बिकवाया। जब तुंजीन ने देखा कि कौड़ियों के मोल पर भी अनाज खरीदने की दरिद्र लोगों में शक्ति नहीं है, तो उसने भण्डारे खोल कर अपना सारा कोश ही खाली कर डाला।

एक ओर तो तुंजीन जैसे राजाओं के प्रजावात्सल्य की यह पराकाष्ठा है कि राजकोश रीता करके भी जब वे भुखमरी न मिटा सके, तो वे हताशा में आग में जलकर प्राण दे डालने का प्रयास करते हैं। दूसरी ओर हर्ष जैसे क्रूर, मदोन्मत्त राजाओं का अनाचार है। कल्हण ने तुंजीन और उच्चल जैसे राजाओं के लोककल्याणकारी कार्यों का वर्णन बहुत सराहना के साथ तन्मय होकर किया है, तो प्रजाद्रोही राजाओं के वहशीपन का कच्चाचिट्ठा भी बिना किसी लाग-लपेट के खोल कर रख दिया है। राजा हर्ष के राज्य का वर्णन आतंक और दमन की दारुण कथा है। ''उस राजा के अतिचारों के कारण राज्य में महामारी फैल गई। चारों ओर चीख-पुकार सुनाई देती थी, तथा शवयात्रा के समय बजाये जाने वाले वाद्यों का स्वर थमने को नहीं आता था। इसके साथ ही राज्य में भयंकर बाढ़ आ गई। कश्मीर के गाँव के गाँव पानी में डूब गये। जीवनोपयोगी वस्तुओं का अकाल पड़ गया। पाँच सौ दीनार में एक खारी चावल और एक दीनार में दो तोले अंगूर मिलने लगे। छह दीनारों का एक तोला ऊन मिलता था। नमक, मिर्च और हींग का तो नामोनिशान तक न था। पानी में फेंके गये और सड़ कर फूले हुए शवों से नदियाँ पटी हुई थीं। .....इसी समय उस मूर्ख राजा के दिमाग में यह बात आई कि चारों ओर से जंगल से घिरी होने के कारण राजधानी दिखाई नहीं देती है, तो उसने जंगल साफ करने का आदेश दे डाला। आदेश मिलते ही हरे-भरे और फलों से लदे पेड़ धराशायी किये जाने लगे। ......तिस पर दुखियारी प्रजा पर वह ऐसे अत्याचार ढहा रहा था, जैसे जीवनभर बोझा ढोते-ढोते बुढ़ा गये कृशकाय हुए बैल के सिर पर पत्थर बरसाये जा रहे हों। उसने अपने कायस्थ (बाबू) कर्मचारियों की सलाह पर तरह-तरह के कर लगा कर जनता को इतना सताया कि गाँव और नगरों की मिट्टी भी राजकीय कर से बच नहीं पाई'' (राज०, ७/११९७-२६)। विट या दलाल किस तरह हर्ष जैसे राजाओं को मूर्ख बनाते हैं, यह कल्हणं अच्छी तरह जानते और बताते हैं। वे कहते हैं—''जैसे लोग हँसी-ठट्ठे के लिए कुत्तों को एक-दूसरे पर भौंकने और लड़ाई करने के लिए उकसाते हैं, वैसे ही इस तरह के जड़मति राजाओं को अपने क्षुद्र अभिप्राय से विट लोग उकसाते रहते हैं'' (वही, ५.११२०)। यही राजा हर्ष गीधों की तरह प्राणों पर घात लगाये हुए अपने ही भाइयों से छिपता फिरता है और उसका अन्त बहुत करुण होता है। राजतरङ्गिणी में राजवंशों का जितना बड़ा ब्यौरा है, उतनी ही बड़ी वह आगजनी, लूटमार और रजवाड़ों, सामन्तों तथा राजाधिकारियों के अतिचारों और अन्यायों का त्रास झेलती जनता की कथा भी है। बनियों-बक्कालों, वेश्याओं और राजतन्त्र से जुड़े तरह-तरह के लोगों की भूमिकाएँ कल्हण ने यहाँ पहचानी और रेखांकित की हैं। कल्हण की रुचि वंशावलियों में, तिथियों में और राजाओं में उतनी नहीं है, जितनी इस जनता के पक्षधर बनने में। राजा और प्रजा के सम्बन्धों की वे छानबीन करते हैं और उन शक्तियों की पहचान भी करते हैं, जो इन सम्बन्धों को

संचालित कर रही हैं। ये शक्तियाँ राजनीति को कितना अमानवीय, क्रूर और निर्मम बना देती हैं—यह बोध कल्हण में राजा हर्ष, सुस्सल आदि के शासन के विवरण में निरन्तर बना रहा है। सत्ता की इस निर्मम राजनीति को कल्हण धिक्कारते हैं। जो पिता सुस्सल अपने बेटे सिंहदेव को ममता में भर कर कुछ समय पहले गले से लगा रहा था, वही अपने पुत्र को कैद करके कारागार में डालने का निर्णय ले लेता है। सत्ता की भूख और जनता के दमन वाली राजनीति के प्रति कल्हण लगातार जुगुप्सा को जाग्रत् करते हैं। वे ऐसे प्रसंगों में यही कहते चलते हैं—

धिग्राज्यं यत्कृते पुत्राः पितरश्चेतरेतरम्।
शङ्कमाना न कुत्रापि सुखं रात्रिषु शेरते॥
पुत्रपत्नीसुहृद्भृत्या येषां शङ्कानिकेतनम्।
विस्रम्भभूर्भूपतीनां कस्तेषामिति वेत्ति कः॥

राजतरङ्गिणी, ८.१२४४

(उस राज्य को धिक्कार, जिसके लिए पुत्र और पिता एक-दूसरे पर शंका करते हुए रातभर सो नहीं पाते। जो अपने बेटों, पत्नियों, मित्रों और सेवकों पर शंका की निगाह गड़ाये रहते हैं, ऐसे राजाओं का कभी कोई विश्वासपात्र भी हो सकेगा, यह किसे पता है?)

संदेश—राजतरङ्गिणी सत्ता के भूखे नरपिशाचों की क्रूर लीलाओं के वृत्तान्तों से भरी पड़ी है। राजा हर्ष और सुस्सल की हत्याएँ जिस तरह से की गईं, वह सब तटस्थ और निर्लिप्त होकर बयान करते हुए कल्हण हमें सोचने और समझने के लिए भी प्रेरित करते हैं। राजाओं के अधःपतन की पराकाष्ठा को परत-दर-परत उघाड़ते हुए वे कहते हैं कि कुछ रूपसियों, घोड़ों की साँसों, विटों (दलालों) की कुत्सित बातों तथा वैतालिकों (भाटों) की डींग, इन सब वस्तुओं को खरीदने के लिए ही राजा लोग लक्ष्मी को बर्बाद करते रहते हैं, बच्चों की तरह ये अपना समय कभी सुन्दरियों को मनाने-रिझाने में, घोड़ों की नस्लों के विषय में चर्चा करने में, सेवकों की लल्लो-चप्पो में या शिकार की चर्चा में बिताते रहते हैं (राज०, ७/११०९-१०)। कल्हण के महाकाव्य में गर्भ कहाँ कैसे रहता है, इस उत्सुकता में गर्भवती स्त्रियों के पेट चिरवा कर देखने का क्रूर कर्म करने वाले राजा भी हैं, और ऐसे राजाओं का अन्त भी उतनी दारुणता से होते हुए हम देखते हैं। राजा हर्ष और सुस्सल की हत्याएँ बहुत क्रूर ढंग से की गईं। राजा चक्रवर्मा अपनी चांडाल प्रेमिका के घर पर हत्यारों से प्राण-रक्षा के लिए शौचालय में जा छिपता है। और वहीं पकड़ कर मारा भी जाता है। कल्हण लिखते हैं—श्वपाकभोग्यः स श्वेवावस्करे तस्करैर्हतः—'श्वपाकी अर्थात् चांडाली का भोग्य वह श्वा (कुत्ते) की तरह अवस्कर (कचरे या मल) के ऊपर तस्करों के द्वारा मार डाला गया' (राज०, ५.४१३)। भारतीय साहित्य की परम्परा में महाभारत के बाद कदाचित् और किसी दूसरे काव्य में इतने विराट् फलक पर जीवन और समाज को फैला कर नहीं रखा गया। महाभारत की ही तरह राजतरङ्गिणी भी जीवन के संशय, द्वन्द्व और विकट संग्राम का वृहद् कथानक या

वंशानुवंशचरित प्रस्तुत करती है, और परिणति में जागरित विवेक का प्रत्यय देती है। आचार्यों ने महाभारत में शान्तरस को प्रधान माना है, क्योंकि छल, कपट, विकट पराक्रम, महायुद्ध इन सबके पीछे महामति व्यास जीवन की निरन्तर जो मीमांसा करते चलते हैं, वह निर्वेद या तटस्थता को अव्याहत रूप में बनाये रखती है, तथा अपने अवसान में तत्त्वज्ञान को स्थापित करती है। अत: महाभारत मूलत: एक शान्तरस की कृति कही गई है। कल्हण तो जीवन और जगत् में व्याप्त हिंसा लिप्सा और सारी नश्वरता का प्रत्यय देते हुए स्पष्ट रूप से शान्तरस की प्रधानता का उद्घोष स्वयं भी करते हैं—

क्षणभङ्गिनि संसारे स्फुरिते परिचिन्तिते।
मूर्धाभिषेकः शान्तस्य रसस्यात्र विचार्यताम्॥ (राज०, १.२३)

कविता के क्षेत्र में शान्तरस की जो अवधारणा अश्वघोष आदि महाकवियों के काव्यों के द्वारा स्थापित हुई उसमें काव्यानुभव में विवेक और तत्त्वबोध या विचारप्रवणता को बनाये रखने का आग्रह था। शान्तरस की यही अवधारणा उन ग्रन्थों या काव्यों में भी प्रतिफलित होती है, जिन्हें इतिहास कहा गया। इतिहास का अनुभव उस तत्त्वज्ञान की तरफ ले जाता है, जो क्षुद्रताओं के ऊपर उठ कर उदात्त पर हमें प्रतिष्ठित करे। कल्हण स्वयं अपनी इतिहास-रचना को समाज के लिए एक कड़वी दवा की तरह मानते हैं—'भैषज्यभूतसंवादिकथायुक्तोपयुज्यते' (वही०, १,२१)। प्रजा को सताने वाले राजा समूल नष्ट हो जाते हैं, यह सन्देश भी कल्हण अपने इतिहास के द्वारा देना चाहते हैं—**ये प्रजापीडनपरास्ते विनश्यन्ति सान्वयाः** (वही, १.१८)।

लोकदृष्टि—कल्हण की स्पृहणीय विशेषता है जनसामान्य के प्रति उनकी अकृत्रिम सहानुभूति। वे कहते हैं—"एक ओर तो प्रजाओं के ऊपर गिरने वाली दुर्भिक्ष, महामारी आदि व्याधियाँ हैं और दूसरी ओर है राजा का लालच" (राज०, ५/१८७)। प्रजा को सताने वाले राजाधिकारियों के विरुद्ध कल्हण के हृदय में गहरा आक्रोश है। वे कहते हैं—"(इस तरह के) अधिकारीगण हत्यारे, पापी तथा दूसरों के सर्वस्व को हड़पने वाले होते हैं, इनसे प्रजा को बचायें" (वही, ८.८६)। अकाल, महामारी, राजाओं तथा राजाधिकारियों के त्रास के कारण घोर संकटो से जूझती जनता का कल्हण ने जो वर्णन किया है, वह हृदयद्रावक है। दूसरे तरंग में लोगों की गरीबी और लाचारी का इस प्रकार विस्तृत चित्रण करते हुए कल्हण ने एक संवेदनशील प्रजावत्सल राजा तुंजीन के द्वारा सारी औपचारिकताएँ त्याग कर प्रजाहित में लग जाने का जो विवरण दिया है, वह बड़ा मार्मिक तथा प्रेरणाप्रद है। आठवें तरंग में राजा उच्चल के वर्णन में भी यही बात हम पाते हैं—"किसी दु:खी व्यक्ति का आर्त, करुण, क्रन्दन सुन कर वह राजा अपने आपको काबू में नहीं रख पाता था। बात करते-करते जैसे उसके मुख से अमृत बरसता था। इस कारण वह प्रजा में बहुत लोकप्रिय हो गया था। अपनी प्रजा के दु:खों के विषय में पता चलते ही वह उनके दैन्य का निवारण इस तरह करता था, जैसे पिता पुत्र के दु:ख दूर करता है" (वही, ८.५२.५७)। राजतरङ्गिणी के एक प्रसंग में न्यायप्रिय राजा चन्द्रापीड त्रिभुवनस्वामी का मन्दिर बनवा रहा है, मन्दिर की हद में एक चर्मकार की झोंपड़ी आ

गयी है। चर्मकार अपनी झोंपड़ी छोड़ने को तैयार नहीं है। मन्दिर बनवाने के काम में लगे अधिकारियों ने उसे खूब समझाया, हर तरह के मुआवजे का लालच दिया, पर चर्मकार था कि टस से मस न हुआ। बात राजा तक पहुँची। सारी बात जान कर राजा ने अधिकारियों को ही झिड़का कि उस चर्मकार की अनुमति लिये बिना तुम लोगों ने मन्दिर बनवाने के काम में हाथ ही क्यों लगाया? अन्त में राजा स्वयं उस चर्मकार के द्वार पर गये, और उससे झोपड़ी छोड़ने की प्रार्थना की। चर्मकार भी संतुष्ट और प्रसन्न होकर अन्य गृह में चला गया।

वास्तव में कल्हण आम जनता के कवि हैं। उनकी गहरी सहानुभूति सामान्य जनों के साथ है।

साहित्यिक व सांस्कृतिक परम्परा के अछूते पक्ष—कल्हण ने अपने समय के तथा प्राचीनकाल के अनेक कवियों का राजतरङ्गिणी में उल्लेख किया है। इनमें से अनेक कवि ऐसे हैं जिनके महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व का पता केवल राजतरङ्गिणी से ही चलता है। राजा तुंजीन के शासनकाल में हुए चंद्रक कवि के विषय में उन्होंने लिखा है कि वह द्वैपायन मुनि का अवतार महान् कवि था, जिसने ऐसे नाटकों की रचना की जिनका अभिनय सारी जनता के देखने के योग्य होता था (राज०, २.१६)। इसी प्रकार महाकवि मातृगुप्त की अद्‌भुत गाथा का स्रोत भी राजतरङ्गिणी ही है। मातृगुप्त कश्मीर के कवि थे। वे एक वर्ष तक उज्जयिनी में राजा विक्रमादित्य के यहाँ पहरुए रहे। कल्हण ने बड़ी संवेदनाप्रवण दृष्टि के साथ उनकी दीन-हीन अवस्था का मार्मिक चित्रण किया है। कड़कड़ाती सर्दी में आधी रात को पहरे पर उन्हें देख कर राजा ने उनसे समय पूछा और बातचीत में मातृगुप्त ने अपना रचा हुआ एक करुण पद्य सुना दिया। प्रभावित होकर राजा विक्रमादित्य ने अगले दिन ही उनको कश्मीर का शासक नियुक्त करते हुए अपने दूतों से कश्मीर संदेश भेजा, पर मातृगुप्त के साथ ठिठोली करते हुए मुहरबंद आज्ञापत्र को कश्मीर तक ले जाने का काम स्वयं मातृगुप्त को ही सौंप दिया। मातृगुप्त को लगा कि इतने अपार कष्ट झेल कर जो राजसेवा अब तक की है, वह सब व्यर्थ गई। मातृगुप्त के निर्वेद, विषण्णता और आत्मग्लानि का यहाँ कल्हण ने बड़ी सहानुभूति के साथ चित्रण किया है। इसी प्रकार दुर्गम कश्मीर-यात्रा पूरी करके कश्मीर के मन्त्रियों को राजाज्ञापत्र सौंपने के बाद तत्काल अपने राज्याभिषेक की तैयारी देख मातृगुप्त को अप्रत्याशित रूप से होने वाले कौतुक का भी चित्रण हृदयावर्जक है।

मातृगुप्त के शासनकाल से जुड़े हुए दो साहित्यिक विभूतियों—भर्तृमेण्ठ तथा प्रवरसेन के भी रोचक वृत्तान्त कल्हण ने दिये हैं।

वस्तुतः कश्मीर ही नहीं, भारतवर्ष की एक सहस्र से अधिक वर्षों की सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों के ज्ञान के लिए राजतरङ्गिणी परम उपादेय प्रामाणिक काव्य है। कश्मीर के उस समय के अनेक प्रसिद्ध मन्दिरों का वर्णन कल्हण ने किया है। तक्षक मन्दिर की यात्रा का वर्णन (२/२२०-२२) या चन्द्रापीड, मातृगुप्त जैसे राजाओं के द्वारा बनवाये गये मन्दिरों के वर्णन इस दृष्टि से उस

काल के सांस्कृतिक वैभव की झलक देते हैं। कश्मीर के उस समय के अनेक तीर्थों का वर्णन राजतरङ्गिणी में प्रामाणिक रूप में है। उस समय की यान्त्रिक तथा तकनीकी प्रगति का भी इस कृति से परिचय मिलता है। राजा के रूप में मातृगुप्त के त्याग और शौर्य का चित्रण करते हुए वे उसके सत्कार्यों की परम्परा को चर्खे से लगातार निकलने वाले सूत से देते हैं (३/२५४)। इससे चरखों के द्वारा सूत कात कर कपड़ों का व्यवसाय कल्हण के समय होता था, यह स्पष्ट है। सुय्य उस समय का श्रेष्ठ इंजीनियर था, जिसने कश्मीर में बाढ़ रोकने के लिए वितस्ता पर बड़ा बाँध बनवाया और अनेक तालाबों में पानी के निकास की समुचित व्यवस्था कराई, अनेक नये प्रवाहमार्ग बनवाये। इससे नदियों के संगमस्थल बदल गये (राज०, ५/८३-१०१)। सुय्य की प्रशंसा करते हुए कल्हण ने लिखा है कि जैसे मान्त्रिक मन्त्रबल से नागिन को अपने वश में कर लेता है, वैसे ही बुद्धिमान् सुय्य ने लपलपाती तरंगरूपी जिह्वाओं से युक्त नागिन जैसी नदियों को वश में करके उनके बहने के नये रास्ते बना दिये।

काव्यसौन्दर्य, भाषा-शैली तथा वर्णनकला—कल्हण की भाषा भी रामायण और महाभारत की सहज, प्रासादिक शैली को पुनः स्थापित करती है। उनका एक-एक पद हृदयंगम होता चलता है। कही भी अतिरिक्त और क्लिष्टता का आभास उसमें नहीं होता। राजतरङ्गिणी में कल्हण ने अपने समय की बोलचाल की भाषा से उठा कर नये-नये मुहावरे संस्कृत में प्रयुक्त किये हैं। **क्षुरं क्षौद्रोपलिप्तम्** (८.१४८)—शहद में लिपटी छुरी, **स्फिक्क्षणं नखैः** (८.७०७)—नखों से नितम्ब नोंचना—इस तरह के अनेक मुहावरे कल्हण के आम जनता से जुड़ाव को प्रमाणित करते हैं।

कश्मीर की मनोरम नैसर्गिक सुषमा का चित्रण कल्हण ने अनेकत्र किया है। सहज सौन्दर्य के प्रति वे आकृष्ट हैं। कश्मीर की अधित्यकाओं और उपत्यकाओं में वे खूब रमे हैं। सुन्दर कल्पनाओं और कवित्व का अनूठापन कल्हण में है।

राजतरङ्गिणी की परम्परा

राजतरङ्गिणी का अपने महनीय अवदान के कारण साहित्यिक जगत् में इतना समादर हुआ कि उसके अनुकरण पर अन्य अनेक परवर्ती कवियों ने राजतरङ्गिणी लिख कर कल्हण की इतिहास-रचना के उपक्रम को आगे बढ़ाया। कश्मीर के ही जोनराज ने अपनी राजतरङ्गिणी में १४५९ तक की घटनाओं का वर्णन किया। जोनराज के समय कश्मीर में सुल्तान जैनुल आबदीन का शासन था। इस सुल्तान ने संस्कृत के पंडितों और कवियों को बहुत प्रश्रय दिया। जोनराज ने जेनुल आबदीन के शासन का प्रामाणिक वर्णन किया है। तत्पश्चात् जोनराज के शिष्य श्रीवर ने १४८६ तक का इतिहास अपनी राजतरङ्गिणी में संकलित किया। प्राज्य भट्ट तथा उनके शिष्य शुक ने एक सहस्र पद्यों में कश्मीर पर अकबर के आधिपत्य (१५८६ ई०) तक का इतिहास प्रस्तुत किया।

बीसवीं शताब्दी में श्री काशीनाथ मिश्र ने कार्णाटराजतरङ्गिणी का प्रणयन कर राजतरङ्गिणी की विधा का नवोन्मेष किया है। ग्यारहवीं शताब्दी से कार्णाट क्षत्रिय राजाओं का शासन मिथिला में स्थापित हुआ। कार्णाटराजतरङ्गिणी में श्री काशीनाथ

मिश्र ने मिथिला में कार्णाट राजाओं के शासन-काल का अनेक प्रामाणिक स्रोतों से अध्ययन करके उसका पद्यबद्ध काव्यात्मक निरूपण यहाँ प्रस्तुत किया है। पर कार्णाटराजतरङ्गिणी सर्वतोभावेन आधुनिक दृष्टि से एक इतिहास-ग्रन्थ हो—ऐसी बात नहीं है। रचनाकार ने जनश्रुतियों, किंवदन्तियों, लोकविश्वासों, स्थानीय परम्पराओं तथा प्राचीन उपाख्यानों की भी गवेषणा यहाँ की है। इस दृष्टि से उन्हें हमारे समय का कल्हण कहा जा सकता है। इतिहास की भारतीय अवधारणा की कसौटी पर मिश्र जी की यह कृति खरी उतरती है। कार्णाटराजतरङ्गिणी राजनीतिक घटनाओं का ही लेखा-जोखा नहीं है, वह विराट् फलक पर युग और संस्कृति का भी दस्तावेज है, तथा जातीय विरासत का आख्यान भी है।

ग्यारह तरंगों में, लगभग एक हजार अनुष्टुप् छन्दों में विन्यस्त इस ग्रंथ में भाषा-शैली की दृष्टि से भी मिश्र जी ने महाकवि कल्हण की सहज, प्रांजल, प्रासादिक शैली को ही आदर्श बनाया है। कल्पना और दृष्टि का उन्मेष भी कवि में है। मगध की लोकपरम्पराओं को बड़ी आस्था से उन्होंने यहाँ सहेजा है।

रामपालचरित

इस महाकाव्य की चर्चा तेरहवें अध्याय में द्विसंधान महाकाव्य के अन्तर्गत की गयी है। इसके प्रणेता संध्याकर नंदी हैं। इसका रचनाकाल बारहवीं शती का उत्तरार्ध है। यह द्व्याश्रय काव्य भी है। इसमें रामायण की कथा के साथ राजा रामपाल (१०७०-११२० ई०) का इतिवृत्त १२० आर्याओं में चार परिच्छेदों में वर्णित है। बंगाल के पालवंशीय राजाओं के विषय में इस महाकाव्य से महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। श्लेष के द्वारा रामकथा तथा रामपाल का चरित्र एकसाथ प्रस्तुत किया गया है।

कुमारपालचरित

कुमारपालचरित का दूसरा नाम द्व्याश्रयकाव्य भी है। इसके प्रणेता हेमचंद्र हैं। इनका जन्म १०८९ ई० में गुजरात में एक वैश्य परिवार में हुआ। पाँच वर्ष की आयु में ये देवचंद्र सूरि नामक जैन साधु से दीक्षित हो गये। हेमचंद्र अन्हिलवाड़ के राजा जयसिंह सिद्धराज (१०९४-११४३ ई०) तथा उनके पुत्र कुमारपाल के धर्मोपदेशक रहे। कुमारपालचरित के अतिरिक्त त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित इनका सुप्रसिद्ध चरितकाव्य है, जिसमें महापुरुषों की चरितकथाएँ हैं। व्याकरण, दर्शन, धर्म तथा काव्यशास्त्र पर इनके अनेक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। कुमारपालचरित २८ सर्गों का महाकाव्य है, जिसके अंतिम ८ सर्ग प्राकृत में हैं। इसमें चालुक्यवंशीय राजाओं का इतिहास विस्तार से प्रस्तुत करने के पश्चात् हेमचंद्र ने पंद्रहवें सर्ग में कुमारपाल का जीवनचरित निबद्ध किया है। प्रथम आठ सर्गों में मूलराज से आरम्भ करके राजा भीम तक के राजाओं का चरित्र है। भीम के पुत्र कर्ण, कर्ण के पुत्र जयसिंह के विचित्र और अतिप्राकृतिक घटनाओं से संवलित चरित्रों का निरूपण नवें से पंद्रहवें सर्गों तक किया है। सोलहवें सर्ग में जयसिंह के पुत्र कुमारपाल के राज्याभिषेक का वर्णन है। कुमारपाल के विविध युद्ध, राजा के रूप में उसकी दिनचर्या तथा उसके लोकोपकार के कार्यों का हेमचंद्र ने प्रत्यक्षदृष्ट वर्णन किया है।

मूषकवंश

इस महाकाव्य के प्रणेता अतुल कवि तथा रचनाकाल बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इसमें पंद्रह सर्गों में केरल के राजवंश का इतिहास है। परशुराम के द्वारा क्षत्रियों के संहार के पश्चात् मूषकपर्वत में मूषक रामक नामक राजा की उत्पत्ति के साथ महाकाव्य का आरम्भ होता है और बारहवीं शताब्दी के राजा श्रीकंठ के वर्णन के साथ महाकाव्य समाप्त होता है। इस महाकाव्य में उत्कृष्ट कवित्व और इतिहास दोनों की प्रस्तुति सराहनीय है।

पृथ्वीराजविजय (१)

आठ सर्ग तक अपूर्ण रूप में यह प्राप्त महाकाव्य भी बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रचा गया। इसके रचयिता चंडकवि हैं। जोनराज के द्वारा विरचित इसकी टीका भी प्राप्त होती है। इसमें ११९१ ई० में पृथ्वीराज की शहाबुद्दीन गोरी पर विजय का वर्णन है। ऐतिहासिक तथ्यों के प्रामाणिक उल्लेख के साथ यह महाकाव्य उत्कृष्ट काव्यसौन्दर्य से भी समन्वित है। बिल्हण की शैली की चंड कवि की रचना पर विशेष छाप है।

पृथ्वीराजविजय (२)

अज्ञातकर्तृक पृथ्वीराजविजय महाकाव्य अप्रकाशित है। इसके कुल १५६ श्लोक ही उपलब्ध हैं। इसकी हस्तलिखित प्रति कलकत्ता की एशियाटिक सोसायटी में है।

पृथ्वीराजविजय (३)

इसके रचयिता जयानक हैं। इसके बारह सर्ग मिलते हैं, पर उनमें यह अपूर्ण है। अंत:साक्ष्य से प्रमाणित होता कि इस महाकाव्य के प्रणेता पृथ्वीराज के राजकवि थे। ११९१ ई० में पृथ्वीराज की मुहम्मद गोरी पर विजय के वृत्तांत को केन्द्र में रख कर उन्होंने इस महाकाव्य की रचना की।

सुकृतसंकीर्तन

ग्यारह सर्गों के इस महाकाव्य की रचना लवणसिंह के पुत्र अरिसिंह ने १२२५ ई० में की। अरिसिंह वस्तुपाल के आश्रय में रहे। ये बालभारत के प्रणेता अमरसिंह के सहयोगी व मित्र थे, दोनों ने कविकल्पलता नामक ग्रंथ मिल कर लिखा था। कवितारहस्य अरिसिंह का काव्यशास्त्रविषयक अप्राप्त ग्रंथ है। सुकृतसंकीर्तन में वस्तुपाल का जीवन- चरित निबद्ध करते हुए कवि ने गुजरात के तत्कालीन इतिहास की विशद झाँकी प्रस्तुत की है। इसके पहले तथा दूसरे सर्गों में चापोत्कट तथा चालुक्य वंश के राजाओं की वंशावली व परिचय भी दिया गया है। चालुक्यवंश के राजाओं का इतिहास मूलराज से लेकर भीमदेव द्वितीय के समय तक का प्रस्तुत किया गया है।

वसंतविलास

मंत्री वस्तुपाल के ही जीवन-चरित पर आधारित १४ सर्गों के इस महाकाव्य के कर्ता बालचंद्र सूरि हैं। वस्तुत: वसंतपाल वस्तुपाल का ही साहित्यिक नाम है।

महाकाव्य की १२४२ ई० में रचना वस्तुपाल के निधन के पश्चात् उसके पुत्र जैत्रसिंह के प्रीत्यर्थ में की गयी।

मधुराविजय

गंगादेवी का मधुराविजय सरस प्रांजल वैदर्भी रीति से समन्वित ऐतिहासिक महाकाव्य है। कवयित्री गंगादेवी का मूल निवास आंध्र में एकशिलानगर के निकट था। सौगंधिकाहरण के प्रणेता विश्वनाथ इनके गुरु थे। मधुराविजय का अन्य नाम 'वीरकम्परायचरितम्' भी है। इस महाकाव्य में कवयित्री ने अपने पति की मधुरा (मदुराई) नगरी पर विजय तथा उनके पराक्रम और अवदान का चित्रण किया है। इसकी रचना १३४० ई० से १४०० ई० के बीच हुई।

विषयवस्तु तथा ऐतिहासिकता—कंपराय की दिग्विजय का वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक है। विजयनगर का चित्रण भी कवयित्री ने यथार्थ की भूमि पर किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से विजयनगर साम्राज्य के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी इस महाकाव्य से मिलती है। राजा हरिहर और उनके अनुज बुक्कराय का आरम्भ में कवयित्री ने वर्णन किया है। फिर बुक्कराय की पत्नी देवायी से कंपराय के जन्म और उनके बाल्य तथा शिक्षा आदि का विवरण दिया है। अनेक पत्नियाँ होने पर भी कंपराय के गंगादेवी (कवयित्री स्वयं) के ऊपर अत्यधिक अनुराग की चर्चा भी यहाँ की गयी है। कांची नगरी के शासक चंपराय से युद्ध और कांची पर अधिकार के पश्चात् मधुरा नगरी की अधिष्ठात्री देवी के कंपराय के स्वप्न में प्रकट होकर यवनशासन से अपना उद्धार करने की कारुणिक प्रार्थना और फिर मधुरा अभियान का ओजस्वी चित्रण इस महाकाव्य में मिलता है। विशेषरूप से नगर के मंदिर की नयनाभिराम शोभा को साकार करते हुए देश की सांस्कृतिक समृद्धि का परिचय दिया गया है। वस्तुतः सांस्कतिक बोध इस महाकाव्य की एक और स्पृहणीय विशेषता है। कांची की देवी रात्रि में नायक के सम्मुख स्वप्न में प्रकट होकर विनष्ट होते सांस्कृतिक वैभव की रक्षा करने का आदेश देती हैं। कंपराय मधुरा पर आक्रमण करके वहाँ के सुलतान को मार देता है और वहाँ के मंदिरों का पुनरुद्धार करता है। सरस कविता के साथ ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए गंगादेवी ने महाकाव्य का उत्कृष्ट निदर्शन प्रस्तुत किया है।

गंगादेवी ने अपने महाकाव्य को सरस वर्णनों से भी सँवारा है। पंचम, षष्ठ व सप्तम सर्ग वर्णनात्मक हैं।

शैली—कालिदास की रचना-शैली की गंगादेवी के कवित्व पर गहरी छाप है। गंगादेवी ने अपने से पूर्व के श्रेष्ठ महाकवियों के काव्यों का अच्छा अध्ययन किया था। इस महाकाव्य में वीररस का अच्छा परिपाक हुआ है। शृंगाररस भी अंग के रूप में समाविष्ट है। राजा के विलास का वर्णन सरस है। उदाहरणार्थ—

परिलसन्नवलोध्ररजोभरच्छुरणपाण्डरगण्डतलैर्मुखैः।
मृगमदद्रवचारुविशेषकैर्मृगदृशो नृपतेरहरन्मनः॥ (५/५८)

कल्पनाओं की नवीनता, प्रकृतिचित्रण या नगर आदि के वर्णनों की रमणीयता तथा अप्रस्तुतविधान की कमनीयता की दृष्टि से गंगादेवी की रचना आकर्षक है। वसंत के वर्णन में उन्होंने चंपक मंजरी को कामदेव के उत्सव की दीपपरम्परा बना दिया है—

चटुलषट्पदकज्जलपातिनो विरुरुचे नवचम्पकमञ्जरी।
प्रकटितेव हिमापगमश्रिया स्मरमहोत्सवदीपपरम्परा॥ (५/६५)

गंगादेवी की रचना शैली पर कालिदास का गहरा प्रभाव है। रघुवंश का अनुकरण करते हुए उन्होंने आरम्भ में शिव पार्वती की वन्दना की है, पर अपनी पंक्ति में दार्शनिकता का पुट देकर उसे और उज्ज्वल बना दिया है—

स्त्रष्टुः स्त्रीपुंसनिर्माणमातृकारूपधारिणौ।
प्रपद्ये प्रतिबोधाय चित्प्रकाशात्मकौ शिवौ॥

अलङ्कारों की छटा ने गंगादेवी की रचना में रसपरिपाक को और भी हृद्य बना दिया है। बुक्कराय की वीरता के ओजस्वी वर्णन में उन्होंने रूपक बाँधी है—

विवेकमेव सचिवं धनुरेव वरूथिनीम्।
बाहुमेव रणत्साहे यस्सहायममन्यत॥

निश्चित रूप से मधुराविजय संस्कृत के श्रेष्ठ महाकाव्यों में परिगणनीय है।

हम्मीरमहाकाव्य

इस महाकाव्य के रचयिता अपने समय के श्रेष्ठ पंडित तथा बहुभाषाविद् नयचंद्र हैं। प्रख्यात जैनाचार्य महेन्द्रसूरि की शिष्य परम्परा में दीक्षित नयचंद्र सूरि जैनधर्म के आचार्य, धर्मगुरु तथा सन्त थे। हम्मीरमहाकाव्य के प्रणयन की प्रेरणा उन्हें ग्वालियर के तोमरवंशीय राजा वीरम (१३८२ से १४२२ ई० लगभग) से प्राप्त हुई। हम्मीर की मृत्यु (१३०१ ई०) के लगभगसौ साल बाद नयचंद्र ने एक राष्ट्रवीर के कारुणिक चरित का निरुपण अपने महाकाव्य में किया। इसकी रचना पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई। नयचंद्र ने आरम्भ में ही महाकाव्य की रचना की पृष्ठभूमि बतलायी है। चरितनायक हम्मीर ने स्वप्न में प्रकट होकर उनसे अपने चरित को महाकाव्यबद्ध करने का अनुरोध किया था। इसके साथ ही, तोरमवीरम् के सभासदों ने कवि को चुनौती दी थी कि आजकल के कवि पुराने कवियों के जैसी श्रेष्ठ रचना नहीं कर सकते। नयचंद्र ने हम्मीरमहाकाव्य के द्वारा इस चुनौती को स्वीकार करते हुए अपनी प्रतिभा की उत्कृष्टता प्रमाणित की। महाकाव्य का नायक हम्मीर रणस्तंभपुर (रणथंभौर) का राजा है। मुगल सैनिकों को शरण देने के कारण अलाउद्दीन से उसका युद्ध होता है। युद्ध में हम्मीर मारा जाता है और उसकी रानियाँ सती हो जाती हैं।

इस महाकाव्य में १४ सर्ग हैं तथा विविध छन्दों का प्रयोग है। सगन्ति में 'वीर' शब्द का प्रयोग है। ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा की गई है। हम्मीर के पूर्वजों में पृथ्वीराज चौहान का वर्णन १०० श्लोकों में है। चतुर्थ सर्ग के उत्तरार्ध से हम्मीर का चरित आरम्भ किया गया है। नवम सर्ग में दिल्ली के सुलतान जलाउद्दीन खिलजी तता १० से १३वें सर्ग तक हम्मीर से उसके विकट युद्धों का वर्णन है। हम्मीर की शूरता,

शरणगितवत्सलता और प्रतिज्ञापरायणता का चित्रण प्रभावशाली है। अन्तिम सर्ग हम्मीर के करुणप्राणोत्सर्ग पर एक मार्मिक शोककाव्य है।

करुणरस में पर्यवसान के कारण यह महाकाव्य अपनी एक अलग ही पहचान बनाता है। पाँचवें से सातवें सर्ग तक कवि ने ऋतुओं और उपवनादि का वर्णन करके शृंगाररस को भी समाहित किया है।

अन्य ऐतिहासिक महाकाव्य

विद्यापति (परिचय के लिए द०—अध्याय ९ में पुरुषपरीक्षा) ने भूपरिक्रमा नामक काव्य का प्रणयन किया था। इस काव्य में बलराम के द्वारा पृथ्वी की परिक्रमा का चित्रण करते हुए ५६ देशों का वर्णन किया है। सरस्वती नदी के तट पर बलराम की यात्रा के वर्णन में कवि ने अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण भी दिया है, जिनमें विद्यापति के अपने समय तक का इतिहास समाविष्ट कर लिया है। हम्मीर और अलाउद्दीन का युद्ध भी भूपरिक्रमा में वर्णित है।

पंद्रहवीं शताब्दी के अन्य महाकाव्यों में उद्दण्डदेव के शिष्य षडक्षरीदेव का महाचोलराजीय दस सर्गों में चोल राजाओं का इतिहास प्रस्तुत करता है। सुप्रसिद्ध टीकाकार अरुणगिरिनाथ के पुत्र **राजनाथ** द्वितीय का सलुवाभ्युदय अपना आश्रयदाता विजयनगर के सम्राट् सलुव का १३ सर्गों में चरित्र प्रस्तुत करता है। सलुव के द्वारा कलिंग और दक्षिण की विजय, बहमनी के सुलतान को पराजित करना, काशी तक उसकी विजययात्रा, तिरुपति का आराधन आदि ऐतिहासिक घटनाओं का इसमें चित्रण है।

सोलहवीं शताब्दी के ऐतिहासिक महाकाव्यों में चंद्रशेखरकृत सुर्जनचरित महत्त्वपूर्ण है। इसमें बूँदी के चौहानवंशी राजा राव सुर्जन का चरित्र निरूपित है। इसके रचयिता चंद्रशेखर जितामित्र के पुत्र व सुर्जन के सभाकवि थे। राव सुर्जन के आग्रह पर काशी में रह कर उन्होंने यह महाकाव्य लिखा। उन्होंने राव सुर्जन के पूर्व इतिहास का भी अच्छा अध्ययन किया है तथा राव सुर्जन के पुत्र **भोज** के समय तक वे रहे, अत: उनके बाद तक के इतिहास का भी इन्हें ज्ञान है। चंद्रशेखर की सरस प्रांजल प्रासादिक शैली में कहीं कालिदास के काव्य की सकुमारता और तो कहीं माघ का कल्पनासौंदर्य और शब्दसंपदा का वैभव मिलता है, कहीं हर्ष की विदग्धता और वाग्मिता। बीस सर्गों का यह महाकाव्य चौहान कुल के प्रथम राजा वासुदेव के वर्णन से आरम्भ होता है। दूसरे से चौथे तक राजा विश्वपति का चरित्र, उसके द्वारा देवी की आराधना उससे शाकंभरी प्रदेश तथा शाकंभरी लवणसागर (साँभर झील) की उत्पत्ति की कथा दी गयी है। आगे के सर्गों में विश्वपति के पुत्र हरिराज, भतीजे भीमराज, उसके पुत्र विग्रहदेव, गुंजदेव, वल्लभदेव, रामनाथ, दुर्लभदेव, दुलसराज, बीसलदेव, पृथ्वीराज, अनलदेव, जगदेव, युगदेव, अजयपाल, सोमेश्वर आदि राजाओं का वर्णन है। पृथ्वीराज के द्वारा शहाबुद्दीन गोरी के साथ युद्ध का रोमांचक वर्णन तथा पृथ्वीराज के शौर्य का ओजस्वी चित्रण कवि ने किया है। पृथ्वीराज को गोरी कैद करके अपने देश ले जाता है, वहाँ कवि चंद से समागम होने पर पृथ्वीराज उसकी सहायता से गौरी का वध करता है और

फिर वापस अपने देश लौट कर उसकी मृत्यु होती है—यह कथानक चंद्रशेखर ने पृथ्वीराजरासो के समान वर्णित किया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से असत्य है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें सर्ग में हम्मीर का चरित्र, रणथंभौर के युद्ध तथा हमीर के यज्ञ आदि का विस्तार से कवि ने वर्णन किया है। तेरहवें सर्ग से कथा-नायक सुर्जन महाराज का जन्म तथा प्रताप का वर्णन प्रारम्भ होता है। चौदहवें सर्ग में उनके विवाह, पंद्रहवें में विहार, सोलहवें में राजकुमार भोज के पराक्रम, सत्रहवें में सुर्जन तथा अकबर के तुमुल युद्ध और सुर्जन के पराक्रम, अठारहवें में अकबर के संधिप्रस्ताव तथा सुर्जन की विभिन्न यात्राओं और तीर्थस्थलों का वर्णन है। उन्नीसवें सर्ग में काशी में सुर्जन के देहत्याग और बीसवें में भोज के राज्याभिषेक और उनके प्रताप के वर्णन के साथ महाकाव्य समाप्त होता है।

माधव उरव्य का वीरभानूदय महाकाव्य १५४० ई० के आसपास लिखा गया। इसमें १२ सर्ग हैं। यह बघेलखंड के राजाओं का इतिवृत्त प्रस्तुत करता है।

साहित्यरत्नाकर सत्रहवीं शताब्दी के सुविदित कवि यज्ञनारायण दीक्षित का महाकाव्य है। दीक्षित के रघुनाथविलास नाटक की चर्चा नाटकविषयक अध्याय में की गयी है। इनके पिता का नाम गोविंद दीक्षित तथा माता का नाम मागांबा था। ये सुकवि नीलकंठ दीक्षित तथा राजचूडामणि दीक्षित के विद्यागुरु तथा वेंकटेश्वर दीक्षित के अनुज थे। इनके पिता गोविंद दीक्षित तंजौर के मंत्री थे। तंजौरनरेश रघुनाथ नायक का इन पर स्नेह था। साहित्यरत्नाकर में सोलह सर्गों में राजा रघुनाथ का चरित्र है। चोलवंश, तंजापुरी, नायकवंशीय राजाओं की वंशावली, आदि का वर्णन करके चतुर्थ सर्ग में रघुनाथ के जन्म और बाल्य का चित्रण है। अंतिम सर्गों में शत्रुराजा के दुश्चरित्र और रघुनाथ नायक के उसके साथ युद्ध का वर्णन है। यज्ञनारायण की रीति सरस वैदर्भी है।

रामभद्रांबा के रघुनाथाभ्युदय महाकाव्य में भी तंजौर के राजा रघुनाथनायक को ही चरितनायक बनाया गया है। इस महाकाव्य में १२ सर्ग तथा ९०० श्लोक हैं। चोलदेश, तंजापुरी तथा रघुनाथनायक के महनीय कार्यों का उदात्त अलंकार के सम्यक् निर्वाह के साथ कवयित्री ने वर्णन किया है। रघुनाथ की दिनचर्या, वेशभूषा, व्यक्तित्व का आँखों-देखा वर्णन रामभद्रांबा की सरस लेखनी से प्रस्तुत है। रामभद्रांबा रघुनाथनायक की साहित्यसभा की सम्मानित विदुषी थीं। भ्रमवश कुछ इतिहासकारों ने इन्हें राजा रघुनाथ की पत्नी बता दिया है।

सत्रहवीं शताब्दी के महाकाव्यों में सदाशिव नागर का राजरत्नाकर महाकाव्य मेवाड़ के महाराणाओं का ऐतिह्य काव्यात्मक सौष्ठव के साथ प्रस्तुत करता है। इसमें प्रधान चरित्र महाराज राजसिंह का है। यह महाकाव्य अप्रकाशित है। इसमें २३ सर्ग तथा ८५५ श्लोक हैं। कुंभा, राणा साँगा, राणा प्रताप, अमरसिंह, जगत्सिंह, राजसिंह—इन राजाओं का वृत्तांत इस महाकाव्य में प्रस्तुत किया गया है। औरंगजेब का भी इतिहास प्रासंगिक रूप में वर्णित है।

कश्मीर की भाँति राजस्थान में भी ऐतिहासिक महाकाव्यों के प्रणयन की बड़ी समृद्ध परम्परा रही है। जगज्जीवन भट्ट का अजितोदय महाकाव्य, बालकृष्ण भट्ट का

इसी नाम का महाकाव्य, श्रीकृष्ण भट्ट का ईश्वरविलास महाकाव्य, सीताराम पर्णीकार का जयवंश महाकाव्य, श्रीकृष्ण राम का कच्छवंश तथा रणछोड़ भट्ट (सत्रहवीं श०) के अमरमहाकाव्य और राजप्रशस्ति आदि महाकाव्य उल्लेखनीय हैं। जोधपुर के राजा अजीतसिंह (१७०७-२४ ई०) के आश्रय में तीन ऐतिहासिक महाकाव्य लिखे गये—बालकृष्ण दीक्षित का **अजितचरित्र** दस सर्गों में (अप्रकाशित), भट्ट जगजीवन का **अजितोदय** ३२ सर्गों तथा १६६९ श्लोकों में; तथा इन्हीं का **अभयोदय** (अप्रकाशित) दस सर्गों और ४०९ श्लोकों में। कलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट के ईश्वरविलासमहाकाव्य में महाराज सवाई जयसिंह तथा राजा ईश्वरीसिंह के चरित्र का सरस वर्णन है। महाराजा रामसिंह द्वितीय के समय श्रीकृष्णभट्ट ने ही १७ सर्गों में २७१६ श्लोकों में कच्छवंश महाकाव्य (अप्रकाशित) भी लिखा। महाराज जयसिंह तृतीय के आश्रित सीताराम पर्वणीकर ने १९ सर्गों में महाराजा सोढदेव से लेकर अपने आश्रयदाता का १८३५ ई० तक का इतिहास जयवंश महाकाव्य में प्रस्तुत किया है। इस परम्परा की अंतिम कड़ी पं० सूर्यनारायण (१८८३-१९५१ ई०) का लिखा **मानवंश महाकाव्य** कहा जा सकता है। इसमें १७ सर्गों व ५०८ श्लोकों में सूर्यवंश के राजा रामचंद्र से आरम्भ करके जयसिंह द्वितीय तक के शासन का वर्णन है। पं० गिरिधारीलाल शास्त्री (जन्म १८८३ ई०) ने मेदपाटेतिहास में मेवाड़ का इतिहास प्रस्तुत किया है।

शिवाजी के चरित को आधार बना कर लिखे गये ऐतिहासिक काव्यों में उनके समकालीन कवीन्द्र परमानन्द का शिवभारत सबसे प्रामाणिक तथा महत्त्वपूर्ण है। इसमें ३२ अध्याय हैं। इसकी रचना १६६१ ई० के पश्चात् हुई। कवि की शैली पर महाभारत का प्रभाव है। हरि कवि के **शम्भुराजचरितम्** में शिवाजी के पुत्र शम्भाजी का चरित है।

शाहजी राजा (१६८४-१७१० ई०) को तंजौर का भोज कहा जाता है। इनका चरित इनकी सभा में सम्मानित कवि तथा विद्वान् श्रीधर वेंकटेश ने शाहेन्द्रविलास में प्रस्तुत किया है। **शाहेंद्रविलास** आठ सर्गों का सुन्दर महाकाव्य है। इसमें भोंसला राजाओं की वंशावली, शाहजी के पिता मालोजी का चरित तथा शाहजी के विविध कार्यों का वर्णन है। अहमदनगर के निजामशाही तथा समकालीन अन्य राजाओं का भी विवरण दिया गया है।

शाहेंद्रविलास के अतिरिक्त वेंकटेश कवि ने अनेक स्तोत्रकाव्यों तथा विविध ग्रंथों की रचना की थी।

केरल वर्मा का विशाख विजय १८४५ से १९१५ के बीच लिखा गया। यह बीस सर्गों में राजा तिरुनाल का प्रामाणिक वृत्तांत प्रस्तुत करता है।

चरितकाव्य

ऐतिहासिक महाकाव्यों की एक परम्परा चरितकाव्यों के रूप में विकसित हुई। चरितकाव्यों में किसी एक इतिहासपुरुष या युगनिर्माता का चरित प्रस्तुत किया जाता है। आधुनिक साहित्य में जीवनी (Biography) की विधा के ये निकट हैं।

शंकराचार्य के चरित को लेकर अनेक चरितकाव्य या महाकाव्य लिखे गये हैं। बारह सर्गों में व्यासाचल का **शंकरदिग्विजयमहाकाव्य** इनमें सर्वप्रथम परिगणनीय है। व्यासाचल कांचीकामकोटि पीठ के शंकराचार्य (१४९८-१५०७ ई०) रहे। इनका महाकाव्य शंकराचार्यविषयक अनेक परवर्ती महाकाव्यों का उपजीव्य है। सायण के अग्रज माधव के द्वारा रचित संक्षेपशंकरविजय में व्यासाचल का ऋण कंठतः स्वीकार किया गया है। शंकरदिग्विजय अथवा संक्षेपशंकरविजय महाकाव्य का कर्तृत्व संदिग्ध है, परम्परा में इसके प्रणेता माधवाचार्य अर्थात् शृंगेरी के शंकराचार्य स्वामी विद्यारण्य (१३००-१३५८ ई०) माने गये हैं। शंकरविषयक जीवनीसाहित्य में इस महाकाव्य को सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली। मंडनमिश्र के साथ हुए शास्त्रार्थ और देवी भारती के प्रश्नों का इस महाकाव्य में विशद वर्णन है। बृहच्छंकरविजय काव्य के कर्ता आदिशंकराचार्य के साक्षात् शिष्य स्वामी चित्सुखाचार्य माने गये हैं। इसी प्रकार अनंत (?) कवि का शंकराचार्यचरित, आनंदगिरि का प्राचीनशंकरविजय, राजचूड़ामणि दीक्षित का शंकराभ्युदय आदि महाकाव्य भी उल्लेखनीय हैं।

सर्वानंद ने चौदहवीं शताब्दी में जगडूचरित की रचना की। यह लीक से हट कर लिखा गया महाकाव्य है। जगडू एक धार्मिक सद्गृहस्थ श्रेष्ठी हैं, जिसने गुजरात के १२२५ से १२५८ ई० में हुए भीषण दुर्भिक्ष में अपनी सारी संपत्ति लुटा कर गरीबों की सहायता की थी। जगडू के उदार और लोकोपकारक व्यक्तित्व के चित्रण तथा अकाल की दारुण दशा के चित्रण के कारण यह महाकाव्य अभूतपूर्व कहा जा सकता है। इस समय के अनेक ऐतिहासिक व्यक्तित्वों का परिचय भी इससे मिलता है। जयसिंह सूरि का भूपालचरित भी चौदहवीं शताब्दी की रचना है, जिसमें राजा कुमारपाल और उनके गुरु हेमचंद्र की वंशपरम्परा और जीवन का निरूपण है। राजवल्लभ ने १४४० ई० के आसपास **भोजचरित्र** की रचना की। यह प्रायः अनुष्टुप् छंद में आख्यान शैली में विरचित है। इसमें पाँच प्रस्ताव तथा १५७५ पद्य हैं। तैलप से युद्ध आदि अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश होते हुए भी इसमें अनुश्रुतियों का संग्रह अधिक है। कल्याणमल्ल (सोलहवीं शताब्दी) ने **सुलैमच्चरित** में अयोध्या के शासक लाडखान का गुणगान करते हुए सुलेमान और दाऊद (बाइबिल में डेविड और सॉलोमन) की कथा लिखी है। सत्रहवीं शताब्दी के ऐतिहासिक काव्यकारों में रुद्र कवि सबसे महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। ये स्वयं दक्षिण के थे। इनके **राष्ट्रौढवंश** में गुजरात के नारायणशाह के जीवन-चरित के साथ-साथ तत्कालीन इतिहास के अनेक अज्ञात अध्याय उन्मीलित किये गये हैं। इनका दूसरा महाकाव्य जहाँगीरचरितम् खंडित रूप में मिलता है। **कीर्तिसमुल्लास** में रुद्रकवि ने जहाँगीर के पुत्र खुर्रम का चरित्र लिखा है। खानखानाचरितम् रुद्र कवि के काव्यों में विशेष उल्लेखनीय है। इसमें अब्दुलरहीम खानखाना के जीवन का अतिशयोक्तिमय पर अत्यन्त सरस काव्यात्मक वर्णन है। गद्य के साथ-साथ पद्यों की सम्मिश्र छटा इसमें है, तथा बाण की शैली का गहरा प्रभाव रुद्र कवि की रचना में मिलता है। रुद्र कवि का ही अन्य काव्य दानियालचरित है, जिसमें अकबर के पुत्र दानियाल की प्रशस्ति है।

गुरु गोविंदसिंह (१६६६-१७०८ ई०) के समकालीन देवराज शर्मा का नानकचंद्रोदय महाकाव्य नानक के साक्षात् शिष्य द्वारकादास के मुख से नानक की कथा सुन कर तथा गुरुग्रंथ साहिब का स्वयं अध्ययन करके लिखा गया। नानक के जीवन-चरित के अतिरिक्त इसमें नौ सिख गुरुओं का चरित और उनके उपदेश भी वर्णित हैं। इस महाकाव्य का विभाजन सर्गों के स्थान पर प्रस्तावों में हुआ है। २१ प्रस्तावों में कुल ३५७९ पद्यों में नानक का एक क्षण में मक्का से चलकर अपने आवास पर पहुँच जाना, सशरीर वैकुंठ जाना और भगवान् विष्णु से उनका उपदेशग्रहण, समुद्र पार करना, ध्रुव से वार्तालाप आदि अलौकिक घटनाओं का भी वर्णन कवि ने किया है। उदासी मत का प्रतिपादन प्रभावशाली रूप में किया गया है।

परवर्ती ऐतिहासिक काव्य तथा चरितकाव्य

ऐतिहासिक तथ्यों के संकलन और उत्तरमुगल काल के इतिहास के अनेक अज्ञात पक्षों को उन्मीलन करने वाला काव्य **अब्दुल्लाहचरितम्** है, जिसके प्रणेता लक्ष्मीपति या लक्ष्मीधर हैं। इस काव्य में १६०० अनुष्टुप् पद्यों तथा बीच-बीच में गद्य का प्रयोग करते हुए औरंगजेब के प्रपौत्र मुहम्मदशाह तथा उसके मंत्री अब्दुल्लाह का चरित्र विस्तार से प्रतिपादित किया गया है। अब्दुल्लाह और उसका अनुज हुसैन अली इतिहास में सैय्यद बंधुओं के नाम से विख्यात हैं। इन दोनों ने कई बादशाहों को गद्दी पर बिठाया और गद्दी से उतारा भी। राजतरङ्गिणीकार कल्हण के समान लक्ष्मीपति ने अपने समय की उथल-पुथल और सामाजिक तथा राजनैतिक अध:पतन को तटस्थ होकर देखा है और उसका कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत किया है। अकबर, ज़हाँगीर, शाहजहाँ और औरगंजेब के भी संदर्भ इस कृति में हैं। विशेषरूप से मुहम्मदशाह के समय का तो आँखों देखा हाल रचनाकार ने प्रस्तुत किया है। उस समय के अनेक ऐतिहासिक व्यक्तित्वों—फर्रुखसियर, जोधपुर नरेश जसवंतसिंह के पुत्र अजीतसिंह, छत्रसाल आदि की चर्चा प्रसंगवश इसमें आयी है, तथा अनेक छोटे-मोटे युद्धों का भी वर्णन है। भाषा की दृष्टि से अब्दुल्लाहचरितम् में अनेक व्याकरणविरुद्ध प्रयोग हैं तथा कहीं-कहीं उर्दू-फारसी के शब्द भी हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के ऐतिहासिक महाकाव्यों में राजराज वर्मा का **आंग्लसाम्राज्यम्** अंग्रेजी शासन का वर्णन प्रस्तुत करता है। श्रीश्वर विद्यालंकार का **दिल्लीमहोत्सव** लॉर्ड कर्जन के शासनकाल की घटनाओं तथा उन्हीं का **विजयिनीचरितकाव्य** महारानी विक्टोरिया का चरित है। वासुदेव शर्मा लाटकर ने गद्य में **शाहुचरितम्** (१९३९) में शाहु राजाराम (१८७४-१९२२) की जीवनी लिखी है। महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा का पद्यबद्ध 'भारतीयमितिवृत्तम्' भारत के समग्र इतिहास की तथा 'देशान्तरीयेतिवृत्तम्' विश्व के इतिहास की झलक प्रस्तुत करने वाली रचनाएँ हैं। परवस्तु लक्ष्मी नरसिंह शास्त्री का चालुक्यचरित (१९३८) चालुक्य राजाओं के इतिहास को शिलालेखों के अध्ययन के आधार पर प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करता है। महापुरुषों के जीवन पर बीसवीं शताब्दी में संस्कृत में सैंकड़ों महाकाव्य लिखे गये हैं, जिनमें से कुछ की चर्चा गत अध्याय में की जा चुकी है। इन चरितकाव्यों या

महाकाव्यों में प्राचीन महाकाव्यों की तुलना में राष्ट्रीय भावधारा तथा राजनीतिक स्थितियों का चित्रण विशेषरूप से मिलता है। बीसवीं शताब्दी के चरितकाव्यों में पंडिता क्षमा राव के तुकारामचरितम्, रामदासचरितम्, सन्तज्ञानेश्वरचरितम्,—ये तीन महाकाव्य उल्लेखनीय हैं।

बीसवीं शताब्दी में लिखे गये इतिहासविषयक ग्रंथों में इतिहासतमोमणि: उल्लेखनीय है। इसकी रचना १८१३ ई० में हुई। विनायकभट्ट ने १८०१ ई० में **अंगरेजचंद्रिका** के द्वारा अंग्रेजों के शासन का वर्णन प्रस्तुत किया। भास के नाटकों के उद्धार के लिए सुविश्रुत विद्वान् गणपति शास्त्री ने श्रीमूलचरित में त्रावणकोर के राजाओं का इतिहास प्रस्तुत किया।

बीसवीं शताब्दी में विरचित इतिहासग्रंथों में प्रख्यात विद्वान् म०म०टी० गणपति शास्त्री का **भारतानुवर्णन** तथा म०म० रामवतार शर्मा का **भारतीयमितिवृत्तम्**—ये दो ग्रंथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। कवि कृष्ण कौर ने १६ सर्गों में **'श्रियां काव्यम्'** में सिक्खों का इतिहास पद्यबद्ध किया है। श्रीपाद हसूरकर ने महान् नारियों, संतों और राष्ट्रीय नेताओं के जीवन पर अनेक पुस्तकों का प्रणयन किया। क्षमा राव ने अपने पिता शंकर पांडुरंग पंडित का जीवनचरित **'शङ्करजीवनाख्यानम्'** सरल, सुंदर प्रवाहपूर्ण भाषा में अनुष्टुप् छंद में निबद्ध किया है, जिसमें चरित्रचित्रण कला के साथ अपने समय और समाज के चित्रण में भी कवयित्री की निपुणता परिलक्षित होती है। विचित्रपरिषद्यात्रा क्षमा राव का आत्मकथात्मक यात्रावृत्त है। यह भी अनुष्टुप् छंद में रचा गया है। महाकाव्यात्मक जीवनियों में दक्षिण के दो संगीतज्ञ संतों—त्यागराज और मुत्तुस्वामी पर सुंदरसेन शर्मा और वेंकटरामराघवन् ने त्यागराजचरितम् और मुत्तुस्वामिदीक्षितचरितम् की रचना की।

✤

अध्याय १२

नाटक का विकासकाल : दसवीं से बीसवीं शताब्दी

भारतीय नाट्य-परम्परा में भास, कालिदास और भवभूति ये तीन शिखर हैं। भवभूति के पश्चात् आज तक संस्कृत में नाट्यरचना की प्रवृत्ति निरन्तर विकसित होती रही और अनेक दिशाओं में सम्पन्न रचनात्मकता को प्रकट करती रही है।

भवभूति के उत्तराधिकारियों में मुरारि, शक्तिभद्र, कुल शेखर, क्षेमीश्वर, राजशेखर आदि ने रंगशिल्प, नाट्यशिल्प तथा रचना शैली के स्तर पर नये प्रयोग किये और संस्कृत नाट्य परम्परा को नवीन आयाम दिये।

मुरारि : अनर्घराघव

परिचय—मुरारि का लिखा नाटक अनर्घराघव प्राप्त है। मुरारि के पिता मौद्गल्यगोत्रीय श्रीवर्धमान भट्ट थे। इनकी माता का नाम तंतुमती था। अपने पांडित्य के प्रकर्ष और कवित्व के द्वारा उन्होंने महाकवि और बालवाल्मीकि की उपाधि प्राप्त की थी। मुरारि का उल्लेख कश्मीरी कवि रत्नाकर ने अपने महाकाव्य हरविजय (३८/७८) में किया है। हरविजय की रचना ८५९ ई० के आसपास हुई। अतएव मुरारि का समय ८०० ई० के आसपास माना जा सकता है। अनर्घराघव का अभिनव पुरुषोत्तम (पुरी) के मंदिर की यात्रा के अवसर पर हुआ था। मुरारि नवीं-दसवीं शताब्दी के आसपास सारे भारत में ख्याति पा चुके थे। क्योंकि दशरूपकावलोक के कर्ता धनिक ने भी मुरारि के नाटक से पद् उद्धृत किया है।

अनर्घराघव में माहिष्मती के उल्लेख के आधार पर कुछ विद्वानों ने इन्हें कलचुरी के राजा का आश्रित माना है। कुछ विद्वानों के मत से तो इनका जन्म ही माहिष्मती में हुआ। यह सत्य है कि मुरारि माहिष्मती की ऐतिहासिक भौगोलिक परिस्थिति से साक्षात् परिचित प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए, उनका यह उल्लेख उद्धृत किया जा सकता है—

इयं च कलचुरिनरेन्द्रसाधारमनाग्रमहिषी
माहिष्मती नाम चेदिमण्डलमुण्डमाला नगरी॥

कथावस्तु—अनर्घराघव नाटक रामकथा पर आधारित है तथा भवभूति के महावीरचरित से प्रभावित है। इसमें सात अंक हैं। इसमें विश्वामित्र के द्वारा राम और लक्ष्मण को यज्ञ की रक्षा के लिए ले जाने के प्रसंग से लेकर रावण-वध के पश्चात् राम के अयोध्या लौटने तक की कथा नाटकीय रूप में प्रस्तुत की गयी है। पहले अंक में राम और लक्ष्मण का विश्वामित्र के साथ तपोवन में जाना, दूसरे अंक में ताटका आदि का वध, तीसरे अंक में धनुर्भंग के पश्चात् सीता का राम के साथ विवाह तथा उर्मिला

आदि बहनों का भी परिणय; चौथे अंक में परशुराम से भिड़न्त, पाँचवें में वनवास, सीताहरण और जटायु के साथ रावण के संग्राम और बालिवध के प्रसंग हैं। षष्ठ अंक में राम-रावणयुद्ध का वर्णन और सातवें अंक में पुष्पक विमान से राम के अयोध्या लौटने का प्रसंग है।

भवभूति का प्रभाव—रामकथा को नाटकीय रूप देने के लिए मुरारि ने भवभूति के मालतीमाधव का अत्यधिक अनुवर्तन किया है। महावीरचरित के दूसरे अंक में विष्कंभक में माल्यवान् का शूर्पणखा के साथ राम से द्वन्द्व के विषय में संवाद है, जिसकी छाया अनर्घराघव में चौथे अंक के विष्कंभक में देखी जा सकती है। इसी प्रकार महावीरचरित का तीसरे अंक का राम-परशुराम-संवाद भी अनर्घराघव के चौथे अंक में अनुहृत हुआ है। धनुर्भंग का प्रसंग भी अनर्घराघव में महावीरचरित के समान है।

मौलिक कल्पनाएँ—मुरारि ने भवभूति के द्वारा रामकथा में की गयी उद्भावनाओं का परिष्कार करने का भी प्रयास किया है। उन्होंने राम-परशुराम-संवाद में अपने राम को भवभूति के राम की अपेक्षा अधिक संयत और विनम्र प्रदर्शित किया है, तथा परशुराम को भड़काने के लिए नेपथ्य से आने वाले अन्य पात्रों के संवाद का अच्छा उपयोग किया है। भवभूति के नाटक में शिव का धनुष विश्वामित्र के आश्रम में ही प्रकट हो जाता है और राम उसका भंग वहीं कर देते हैं। मुरारि के नाटक में विश्वामित्र राम व लक्ष्मण को लेकर जनकपुरी जाते हैं, और वहाँ जनक आदि के सामने राम धनुर्भंग करते हैं। रावण की बालि के साथ मित्रता से जाम्बवान् का खिन्न होना, जाम्बवान् से और माल्यवान् की परस्पर मंत्रणा, जाम्बवान् से प्रेरित शबरी का कूटमंथरा बनकर कैकेयी का पत्र दशरथ को देना, गुह की रक्षा, लक्ष्मण-कबंधयुद्ध, बालि का स्वयं क्रुद्ध होकर राम से संग्राम के लिए प्रस्तुत हो जाना आदि कल्पनाएँ मुरारि के नाटक में नवीन हैं। मुरारि ने राम के चरित्र पर लगे इस आक्षेप को भी मिटाने का प्रयास किया है कि उन्होंने बालि को छिप कर मारा।

इसके अतिरिक्त मुरारि की काव्यात्मक कल्पना बड़ी उर्वर है और उन्होंने अछूते उपमानों से संस्कृतकाव्यधारा को समृद्ध करने का प्रयास किया है। प्रभात के वर्णन में वे कहते हैं—

जाताः पक्वपलाण्डुपाण्डुमधुरच्छायाकिरस्तारकाः
प्राचीमङ्कुरयन्ति किञ्चन रुचो राजीवजीवातवः।
लूतातन्तुवितानवर्तुलमितो बिम्बं दधच्चुम्बति
प्रातः प्रोषितरोचिरम्बरतलादस्ताचलं चन्द्रमाः॥ (२/३)

यद्यपि सर्वत्र पदावली सायास चुन-चुन कर लायी गयी लगती है, पर भावोद्बोध के प्रसंगों में कहीं-कहीं मुरारि भवभूति के समान करुणा का निरर्गल प्रवाह बहा देते हैं।

सीता के वियोग में राम के मुख से उन्होंने कहलाया है—

स्फुरति जडता बाष्पायेते दृशौ गलति स्मृति-
र्मयि रसतया शोको भावश्चिरेण विपच्यते॥ (५/२२)

श्रृंगाररस में मुरारि की सर्वाधिक रुचि है। विश्वामित्र जैसे ऋषि के मुख से भी वे श्रृंगारमयी चर्चा करा देते हैं (५/६५), जो मर्यादा का भंग है। इस अभिनिवेश के कारण राम को मर्यादापुरुषोत्तम रूप की, जो भवभूति में अविहत बना रहा है, मुरारि ने क्षति की है।

मुरारि अपने पदसौष्ठव तथा व्याकरण के पांडित्य के लिए विशेषरूप से सराहे जाते हैं। अनुप्रास तथा श्लेष इन्हें विशेष प्रिय हैं। इनकी प्रशस्तियों में कहा गया है कि पदवैभव में इन्होंने माघ तथा भवभूति को भी पीछे छोड़ दिया है—

मुरारिपदचिन्ता चेत् तदा माघे रतिं कुरु।
मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा॥

किन्तु अवसरोचित अत्यन्त प्रासादिक तथा सरल भाषा में रचना करने में भी मुरारि ने पटुता प्रदर्शित की है। उदाहरण के लिए राम के धनुर्भंग के पूर्व जनक की यह उक्ति—

इदं वयो मूर्तिरियं मनोज्ञा वीराद्भूतोऽयं चरितप्ररोहः।
इमौ कुमारौ बत पश्यतो मे कृतार्थमन्तर्नटतीव चेतः॥ (३/२४)

पद्यों की प्रचुरता से अवश्य अनर्घराघव की नाटकीयता की क्षति हुई है। पूरे नाटक में लगभग ५०० पद्य हैं।

पारम्परिक समीक्षा—मुरारि की प्रशंसा आचार्य-परम्परा में भाषा के सौष्ठव व अर्थ की अगाधता के कारण की जाती रही है। रुचक या रुय्यक ने तो यहाँ तक कहा है कि मुरारि सरस्वती के सार को उसी प्रकार जानते हैं, जिस प्रकार मंदर पर्वत सागर की गहराई को—

अब्धिर्लङ्घित एव हि वानरभटैः किन्त्वस्यगम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः।
दैवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः॥

(राघवभट्ट द्वारा अर्थद्योतनिका में उद्धृत)

दशरूपक के टीकाकार बहुरूप मिश्र ने अनर्घराघव को भास्वर कोटि का नाटक बताया है।

शक्तिभद्र : आश्चर्यचूडामणि

आश्चर्यचूडामणि नाटक के प्रणेता शक्तिभद्र केरल प्रदेश के निवासी थे। ये केरल के ही एक अन्य नाटककार कुलशेखर से पूर्ववर्ती हैं। कुलशेखर ९०० ई० के लगभग हुए। इस प्रकार शक्तिभद्र का समय ९०० ई० के कुछ पहले माना जा सकता है। प्रयोग की दृष्टि से आश्चर्यचूडामणि केरल के चाक्यारों के बीच भास के नाटकों की भाँति लोकप्रिय रहा है, और यह केरल के कूड़ियाट्टम् रंगमंच पर प्रायः खेला जाता रहा है। प्रयोग की दृष्टि से यह नाटक इतना लोकप्रिय हुआ कि उत्तरभारत में भी इसके अभिनय होते रहे। शक्तिभद्र भट्टनारायण के वेणीसंहार से परिचित प्रतीत होते हैं,

उनके नाटक में राम के द्वारा सीता के प्रति कहे गये निम्नलिखित संवाद में वेणीसंहार में भीम के द्वारा द्रौपदी के प्रति कहे गये कथन की छाया है—

रक्षोवधाद् विरतकर्म विसृज्य चापं
गोधाङ्गलित्रपदवीषु धृतव्रणेन।
रेखातपत्रकलशाङ्कितलेन रामो
वेणीं करेण तव मोक्ष्यति देवि देवः॥ (६/२१)

आश्चर्यचूडामणि नाटक रामकथा पर आधारित है। इसका आरम्भ शूर्पणखा के पहले लक्ष्मण और फिर राम के पास आकर उनसे विवाह के प्रस्ताव तथा उसके नाक-कान काटे जाने के प्रसंग से होता है। खर और दूषण के वध के पश्चात् वन में रहने वाले ऋषि प्रसन्न होकर लक्ष्मण को एक मणि की अँगूठी देते हैं, जिन्हें पहन कर मायावी को छू दिया जाये, तो उसकी माया टूट जाती है। यह मणि ही आश्चर्यचूडामणि है और इसी पर शक्तिभद्र ने अपने नाटक का नामकरण किया है। राम अँगूठी स्वयं पहन लेते हैं, तथा मणि को सीता के जूड़े में लगा देते हैं। सीताहरण के लिए रावण राम का तथा उसका सारथि लक्ष्मण का वेष बना कर जाते हैं, और इसी प्रसंग में रावण के द्वारा भेजी गयी शूर्पणखा माया सीता के रूप में राम को दिग्भ्रांत कर देती है। मारीच स्वर्ण मृग बन कर नहीं, मायाराम बन कर आता है। वास्तविक सीता मायाराम (रावण) के साथ आकाश-मार्ग से जा रही हैं, और धरती पर चलते वास्तविक राम को देख कर उन्हें संदेह होने पर रावण उन्हें यह कर कर भ्रमित कर देता है कि इस समय राम का रूप धर कर अनेक राक्षस घूम रहे हैं। लक्ष्मण मायाराम बने मारीच को लगा बाण निकाल रहे होते हैं, उसी समय उन्हें खोजते हुए राम वहाँ आ जाते हैं। लक्ष्मण उन्हें राक्षस समझ कर क्रुद्ध होकर मारने को तैयार हो जाते हैं। राम के द्वारा मायानिवारक अँगूठी दिखाने पर ही लक्ष्मण उन्हें पहचान पाते हैं। उसी अँगूठी से मारीच की माया भी टूट जाती है। मारीच लक्ष्मण के चरणप्रहार से मर जाता है, और उसे मरा हुआ देख कर मायासीता बनी शूर्पणखा रोने लगती है। राम उसके आँसू पोंछने के लिए उसका स्पर्श करते हैं, तो स्पर्श करते ही अँगूठी के प्रभाव से वह अपने वास्तविक रूप में आ जाती है। इसी प्रकार सीता को हर कर ले जा रहा रामवेषधारी रावण आकाश-मार्ग पर उनके केश सँवारने के लिए उनका स्पर्श कर देता है और स्पर्श करते ही उसका वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है। अंत में सीता की अग्निपरीक्षा और राम की अयोध्या लौटने के प्रसंग के साथ नाटक समाप्त होता है।

आश्चर्यचूडामणि आश्चर्यजनक प्रसंगों का चूडामणि ही है। संवाद नाटकीय और रोचक है। भाषा रंगमंच के लिए उपयुक्त तथा सर्वत्र सरल और सहज है। लोकोक्तियों का भी प्रयोग संवादों में प्रचुर मात्रा में हुआ है। उदाहरण के लिए—

आकाशः प्रसूते पुष्पम्।
सिकतास्तैलमुत्पादयन्ति।
गुणाः प्रमाणं न दिशां विभागाः।
कथमौष्ण्यमग्नेश्छाद्यते ?

बालेन बद्धो मुसलेन हन्यते।
क्षीराहुतिं चिताग्निः कथमर्हति ?
पयो मद्यस्पर्शेन शङ्क्यते।
कथं दीपिकां तमः कलङ्कयति। इत्यादि।

अनंगहर्ष मायुराज

अनंगहर्ष मायुराज कलचुरि नरेश नरेन्द्रवर्धन के पुत्र थे। इन्होंने दो नाटकों का प्रणयन किया—तापसवत्सराज तथा उदात्तराघव। दूसरा नाटक अभी तक अप्राप्य है। तापसवत्सराज नाटक का उल्लेख सुप्रसिद्ध आचार्य आनंदवर्धन ने किया है। अतः मायुराज आनंदवर्धन (८५० ई०) से पहले हो चुके थे। मायुराज भवभूति से प्रभावित प्रतीत होते हैं। अतः उनका समय ८०० ई० के आसपास माना जा सकता है। एक नाटककार के रूप में अनंगहर्ष ने शीघ्र ही इतनी प्रतिष्ठा अर्जित कर ली थी कि उनके कुछ समय पश्चात् हुए आचार्य राजशेखर ने उनकी प्रशंसा में कहा—

मायुराजसमो जज्ञे नान्यः कलचुरिः कविः।
उदन्वतः समुत्तस्थुः कति वा तुहिनांशवः॥

(कलचुरि वंश में मायुराज के जैसा अन्य कोई कवि नहीं हुआ। सागर के भला कितने चंद्रमा उत्पन्न हो सकते हैं?)

तापसवत्सराज नाटक की प्रस्तावना में मायुराज के आदर्श व्यक्तित्व का परिचय देते हुए कहा गया है—

सद्वृत्तानुगतो गतो गुणवतामाराधनेऽनुक्षणं
कर्तुं वाञ्छति सर्वदा प्रणयिनां प्राणैरपि प्रीणनम्।
मात्सर्येण विनाकृतः परकृतीः शृण्वन् वहत्युच्चकै-
रानन्दाश्रुजलप्लवाप्लुतमुखो रोमाञ्चपीनां तनुम्॥

मायुराज पंडितों तथा कवियों के आश्रयदाता थे, तथा इनकी मंडली में रस लेते रहते थे। उन्होंने अपने आपको 'स्वगोष्ठीभावितात्मा' कहा है। अपनी गोष्ठी की पंडितमंडली की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं—

पदवाक्यप्रमाणेषु सर्वभाषाविनिश्चये।
अङ्गविद्यासु सर्वासु परं प्रावीण्यमागता॥

उदात्तराघव—उदात्तराघव जैसे उत्कृष्ट नाटक का लुप्त होना संस्कृत साहित्य की अपूरणीय क्षति है। यह नाटक रामायण की कथा पर आधारित था। इसके दशरूपक तथा नाट्यदर्पण आदि ग्रंथों में अनेक उद्धरण मिलते हैं, जिससे इसकी श्रेष्ठता व विशेषता का परिचय मिलता है। दशरूपक में दिये गये उद्धरण के अनुसार इस नाटक की प्रस्तावना में सम्पूर्ण नाटक का सार इस प्रकार बताया गया है—

रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो-
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम्।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां सम्पदं
प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ताः द्विषः॥

(राम गुरु (पिता) की आज्ञा को माला की तरह मस्तक पर धर कर वन चले गये, उनकी भक्ति के कारण भरत ने पिता के साथ राज्य भी छोड़ दिया, राम ने अपने अनुगत सुग्रीव और विभीषण को परम सम्पदा प्रदान की, रावण आदि को उखाड़ फेंका और समस्त शत्रुओं को ध्वस्त कर दिया।)

राम के वनवास का समाचार सुनने पर लक्ष्मण की व्यथा और वितृष्णा का चित्रण करते हुए कहा गया है—

किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
मात्रा, स्त्रीलघुतां गता किमथवामातैव मे मध्यमा?।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरुः
माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम्॥

(क्या भाई भरत लोभ के वश में हो गये, जो उन्होंने माँ के द्वारा ऐसा कुछ कर डाला? या मेरी मँझली माँ ही स्त्री के ओछेपन को प्राप्त हो गयी? अथवा मेरा ऐसा सोचना व्यर्थ है, राम के अनुज मेरे बड़े भाई हैं। मुझे तो लगता है कि माता, पिता और पत्नी को दोष देना अनुचित है, यह सब विधाता ने किया है।)

मायुराज कल्पनाशीलता तथा भाषाशैली पर असाधारण अधिकार के द्वारा प्रभावित करते हैं। नाट्यदर्पण में इस नाटक से आक्षेपिकी ध्रुवा का यह उदाहरण नाटक में ओजस्वी वातावरण निर्मित करने की दृष्टि से सफल रचना है—

स्वसुर्मम पराभवप्रसव एकदत्तव्यथः
खरप्रभृतिबान्धवोद्दलनवातसन्धुक्षितः।
तवेह विदलीभवत्तनुसमुच्चलच्छोणित-
च्छटाच्छुरितवक्षसः प्रशममेतु कोपानलः॥

इस श्लोक में राम को चुनौती देते रावण के वचनों में ओजस्विता तथा गौडी रीति का विन्यास प्रभावशाली है।

अनेक आचार्यों ने इस नाटक में मायुराज की नवीन उद्भावनाओं की प्रशंसा की है। राम के द्वारा छल से बालि को मारने के प्रसंग को मायुराज ने परिवर्तित करके राम को अपयश से बचा लिया है—इसके लिए कुंतक तथा धनिक ने उनकी सराहना की है। अभिनवगुप्त, भोज, हेमचंद्र आदि अन्य सुविख्यात आचार्यों के द्वारा इस नाटक का उल्लेख किया गया है या इससे उद्धरण दिये गये हैं, जिससे इसकी प्रतिष्ठा का पता चलता है।

तापसवत्सराज

तापसवत्सराज उदयनकथा पर आधारित है। इसकी कथासंरचना स्वप्नवासवदत्तम् से प्रेरित कही जा सकती है। इसमें आरुणि के द्वारा अपहृत राज्य को वापस प्राप्त करने के लिए यौगंधरायण का महासेन और वासवदत्ता को विश्वास में लेकर योजना बनाना, राजा उदयन के मृगया पर जाने के पश्चात् अंतःपुर में आग लगाया जाना, वासवदत्ता के जल कर मर जाने का मिथ्या वृत्तांत सुन कर उदयन का दारुण शोक, रुमण्वान् के समझाने पर

उदयन का प्रयाग जाना और वहाँ संन्यासी होकर रहना, सांकृत्यायनी का उदयन का चित्र लेकर मगध जाना और राजकुमारी पद्मावती को उदयन के प्रति आकृष्ट करना, पद्मावती द्वारा उस चित्र की पूजा व उदयन को वर के रूप में पाने के लिए स्वयं तपस्विनी बन जाना, संन्यासी-वेष में राजा उदयन की पद्मावती से भेंट, और अंत में वासवदत्ता, पद्मावती और उदयन सबका मिलन—इस कथा को नाट्यकार ने अनेक नवीन प्रसंग जोड़ कर यहाँ प्रस्तुत किया है। जोड़े गये प्रसंगों में करुणा का विशेष उद्रेक हुआ है अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने इस नाटक में करुण रस की प्रधानता मानते हुए मायुराज के करुणरस के निरूपण की विशेष प्रशंसा की है।

ध्वनि या व्यंजनावृत्ति तथा अलंकारों के सटीक प्रयोग में मायुराज विशेष दक्ष हैं। दूसरे अंक में वासवदत्ता की मृत्यु पर विलाप करते हुए उदयन का यह कथन भावाभिव्यंजक भाषा के प्रयोग में उनकी असाधारण निपुणता का उदाहरण है—

उत्कम्पिनी भयपरस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि॥ (२/१६)

(काँपती हुई तथा भय के कारण खिसक गये वस्त्रांचल वाली अपने व्याकुल उन नयनों को सहायता की खोज में चारों ओर दौड़ाती हुई तुम्हें धुँए से अंधे उस अग्नि ने देखा नहीं, बस उस क्रूर से दारुणता के साथ अचानक जला डाला।) यहा लोचने (दोनों नयन) के लिए 'ते' सर्वनाम विशेषण के रूप में आया है। मम्मट आदि आचार्यों ने सर्वनाम की व्यंजकता के उदाहरण में इस पद्य को प्रस्तुत करते हुए कवि की व्यंजनाप्रवणता की प्रशंसा की है। 'ते लोचने' (वे आँखें) कहने से राजा के द्वारा वासवदत्ता के साथ बिताये हुए दिनों की स्मृतियाँ, इन दोनों के बीच प्रेम की व्यंजना होती है। कवि यह भी व्यंजना करा रहा है कि अग्नि धुएँ से अंधा था, अत: वह देख न सका कि किसे जला रहा है, देख सकता तो वासवदत्ता जैसी श्रेष्ठ रमणी को इस तरह न जला डालता। वस्तुत: मायुराज कोमल भावनाओं, रमणीय कल्पनाओं और सरस भाषा-शैली के समर्थ कवि हैं। तीसरे अंक में छाया के वर्णन में उन्होंने तरुच्छाया और प्रिया के बीच मधुर साम्य दिखाते हुए उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा की निराली छटा प्रकट की है—

आदौ मानपरिग्रहेण गुरुणा दूरं समारोपिता
पश्चात्तापभरेण तानवकृता नीता परं लाघवम्।
उत्सङ्गान्तरवर्तिनीमनुगमात् सम्पिण्डिताङ्गीमिमा-
सर्वाङ्गप्रणयां प्रियामिव तरुश्छायां समालम्बते॥ (३/१७)

(छाया पहले तो रूठ कर बहुत दूर चली गयी। फिर पछतावे के ताप से दुबला गयी, और अंक में आ जाने से सिकुड़ कर बहुत छोटी-सी दिखने लगी, इस प्रकार अपनी सर्वांगप्रणयिनी छाया को प्रेमी पेड़ आश्रय दे रहा है।)

अपने लोकोक्तियों का उदाहरण भी मायुराज ने इस नाटक में प्रस्तुत किये हैं, जैसे—कथमयं क्षते क्षारावसेक: (यह कटे पर नमक क्यों छिड़क रहे हो?), अग्नि

परित: पलालभारं परिनिक्षपसि (आग के पास पुआल का ढेर रख रहे हो), असूत्र: पट: क्रियते (बिना सूत के कपड़ा बुन रहे हो?)

ध्वन्यालोक, अभिनवभारती, वक्रोक्तिजीवित, शृंगारप्रकाश, सरस्वतीकंठाभरण, काव्यप्रकाश आदि काव्यशास्त्र के ग्रंथों में इस नाटक से लगभग ३५ पद्य उद्धृत किये गये हैं, जिससे प्राचीनकाल में इसकी लोकप्रियता का पता चलता है।

हनुमन्नाटक

हनुमन्नाटक रामभक्त हनुमान् का रचा हुआ माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाटक का अत्यन्त प्राचीन रूप रंगमंच पर लोकप्रिय रहा होगा। यह रामलीला के रंगमंच की परम्परा का नाटक है। बाद में यह नाटक लुप्त हो गया, तथा भोज ने इसका उद्धार कराया ऐसी अनुश्रुति है। यह तो निश्चित है कि हनुमन्नाटक लोकरंगमंच पर लीलानाट्य के रूप में लोकप्रिय रहा होगा और वाचिक परम्परा में इसका प्रचलन रहा। बाद में इसे लिखित रूप में संकलित किया गया। अत: इसके दो प्राचीन पाठ मिलते हैं, जिनमें परस्पर अत्यधिक भिन्नता है। एक पाठ पश्चिम भारतीय संस्करण कहा जाता है, जो दामोदर मिश्र के द्वारा संकलित किया गया। इसके संकलन का समय ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास है। इसमें चौदह अंक तथा ५७८ पद्य हैं। दूसरा पाठ बंगाली संस्करण के रूप में जाना जाता है। इसके संकलनकर्ता मधुसूदन मिश्र हैं। यह महानाटक के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें नौ अंक तथा ७७८ पद्य हैं। इसके संकलन का समय बारहवीं शताब्दी के आसपास है। पूरा नाटक कथागायन तथा लीलानाट्य की शैली में है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के मानदंडों पर यह नाटक खरा नहीं उतरता। सूत्रधार और विदूषक इसमें अनुपस्थित है, और विष्कंभक तथा प्राकृत भाषा का प्रयोग नहीं किया गया है। नाटक के दोनों संस्करणों में श्लोकों में भेद है, कथा का क्रम एक ही है। राम के विश्वामित्र के आश्रम में जाने के प्रसंग से लेकर उनके महाप्रयाण तक की कथा इनमें प्रस्तुत की गयी है।

दामोदर तथा मधुसूदन दोनों के द्वारा संकलित हनुमन्नाटक की अलग-अलग वाचनाओं की पृष्ठभूमि में दो भिन्न कथाएँ जुड़ी हुई हैं। दामोदरमिश्र द्वारा संस्कृत नाटक के टीकाकार मोहनदास ने इसकी प्राप्ति की कथा बताते हुए कहा है कि इस नाटक की रचना हनुमान् ने की थी, वाल्मीकि को विदित हुआ कि हनुमान् जी ने रामचरित पर एक उत्तम नाटक लिख डाला है, तो वे खिन्न हुए कि अब उनकी रामायण को कौन पढ़ेगा? तब हनुमान् ने उनकी प्रसन्नता के लिए पत्थर की शिलाओं पर लिखे अपने नाटक की प्रति समुद्र में बहा दी। कई शताब्दियों के बाद राजा भोज को सागर से ये शिलाएँ मिलीं, जिन पर यह नाटक उत्कीर्ण था और उन्होंने दामोदर मिश्र से उसका उद्धार करवाया। मधुसूदन के संस्करण के साथ दी गयी कथा में बताया गया है हनुमान् के द्वारा लिखे गये इस नाटक के लुप्त होने के पश्चात् कालांतर में इसकी प्रति राजा विक्रमादित्य को मिली।

हनुमन्नाटक के ये दोनों ही संस्करण लीलानाट्य में प्रचलित रामकथा का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं, तथा दोनों में प्राचीन या उस समय के कवियों के अनेक पद्य जोड़ लिये गये हैं। वस्तुतः लीला दिखाने वाली नटमंडलियाँ विभिन्न स्रोतों से सुंदर पद्यों को अपनी प्रस्तुति में जोड़ लेती होगीं, और इसी परम्परा में हनुमन्नाटक विकसित हुआ। इसलिए इसमें वाल्मीकि रामायण तथा अन्य रामायणों, रघुवंश, अभिज्ञान-शाकुंतल, उत्तररामचरित, प्रसन्नराघव, अनर्घराघव, बालरामायण आदि काव्यों या नाटकों से भी पद्य ले लिये गये हैं। इनके अतिरिक्त रामलीला की नाट्यपरम्परा में गाये जाने वाले अनेक अत्यन्त मार्मिक पद्य हनुमन्नाटक में मिलते हैं। विरही राम की यह उक्ति मन को छूने वाली है—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।
इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः॥ (५/२५)

(सीता से दूर न हो जाऊँ इस भय से मैं उससे आलिंगन के समय कंठ में हार भी नहीं पहनता था, आज उसके और मेरे बीच कई पर्वत, नदियाँ और पेड़ हैं।)

इस प्रकार शक्ति लगने से मूर्च्छा के पश्चात् लक्ष्मण जब सचेत होते हैं, तो राम को दुखी देख कर कहते हैं—वेदना राघवेन्द्रस्य केवलं व्रणिनो वयम्—हमें तो केवल चोट लगी है, पीड़ा तो राघवेन्द्र को हुई है।

पूरे नाटक में पद्यों की भरमार है। सूत्रधार या विदूषक जैसे पात्रों का उल्लेख नहीं है, पर पूरा नाटक कथागायन या कथा-कथन की शैली में है। केवल पाँचवें अंक में समासबहुल वर्णनात्मक गद्य का प्रयोग हुआ है, अन्यत्र गद्यांश अत्यल्प है। पद्यों में बहुसंख्य पद्य ऐसे हैं, जिनके लिए यह निर्देश नहीं है कि ये किस पात्र के द्वारा बोले जायेंगे। वस्तुतः ऐसे पद्य सूत्रधार या कथागायक के द्वारा पढ़े अथवा गाये जाने के लिए हैं। उदाहरण के लिए, शिवधनुष तोड़े जाने के समय का यह पद्य—

गृहीतहरकोदण्डे रामे परिणयोन्मुखे।
पस्पन्दे नयनं वामं जानकीजामदग्न्ययोः॥ (१/२०)

(परिणयोन्मुख राम ने शिव का धनुष उठाया, तो जानकी और जामदग्न्य के बायें नेत्र फड़क उठे।)

हनुमन्नाटक का तुलसीदास के रामचरितमानस और केशवदास की रामचंद्रिका पर गहरा प्रभाव है। मैक्समूलर के अनुसार हनुमन्नाटक मूलतः नाटक के विकास की प्रारम्भिक अवस्था की कृति है। पिशेल और ल्यूडर्स इसे छाया नाटक का आरम्भिक रूप मानते हैं।

राजशेखर

राजशेखर एक कवि तथा आचार्य के रूप में संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध हैं। वे यायावर वंशीय ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए। प्राचीन काल में ऋषियों के दो वर्ग थे—एक यायावरीय, दूसरे शालीय। यायावरीय एक स्थान पर न टिक कर निरन्तर यात्रा करते रहते थे। राजशेखर के पूर्वज मूलतः महाराष्ट्र के निवासी थे। इनमें अकालजलद

अपने समय के श्रेष्ठ आचार्य तथा कवि थे। राजशेखर के पिता दर्दुक किसी राजा के मंत्री थे। इन्होंने अपनी माता का नाम शीलवती बताया है। चौहानवंशीय राजकुमारी अवंतिसुंदरी के साथ राजशेखर का विवाह हुआ, जो स्वयं विदुषी और साहित्य की मर्मज्ञ थी। राजशेखर कान्यकुब्ज में प्रतिहारवंशीय राजा महेंद्रपाल (८८५-९१० ई०) के गुरु रहे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें उस समय महेन्द्रपाल को शिक्षा देने के लिए कान्यकुब्ज में आमंत्रित या नियुक्त किया गया होगा, जब महेन्द्रपाल राजकुमार तथा किशोर या तरुण रहा होगा। इनके बालभारत नाटक का अभिनय राज महीपाल (९१२-९४४ ई०) के समक्ष हुआ। विद्धशालभंजिका नाटिका का अभिनय त्रिपुरी के कलचुरी राजा युवराज प्रथम केयूरवर्ष की सभा में हुआ। इस प्रकार राजशेखर तीन राजाओं से संबद्ध रहे और इनका समय नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच माना जा सकता है।

अपने बालरामायण नाटक की प्रस्तावना में राजशेखर ने अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेंठ और भवभूति का अवतार बताया है। उन्होंने यह भी सूचित किया है कि उस समय के एक सभासद कृष्णवर्मा ने उनकी प्रशस्ति में यह पद्य रचा था—

पातुं श्रोतृरसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मता
व्युत्पत्तिं परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः।
भोक्तुं स्वादुफलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं
तद् भ्रातः शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः॥

(बालरामायण, १/१७)

अपने बालरामायण नाटक में राजशेखर ने स्वयं को छह प्रबंधों का प्रणेता बताया है। इन छह प्रबंधों में से चार रूपक सुविदित हैं—बालरामायण, बालभारत या प्रचंडपांडव, कर्पूरमंजरी तथा विद्धशालभंजिका। पाँचवीं कृति काव्यमीमांसा नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है, जो अधूरा मिलता है। राजशेखर का छठा प्रबंध कौन सा है—इसका निर्णय नहीं हो सका है। हेमचंद्र तथा उज्ज्वलदत्त के अनुसार राजशेखर ने हरविलास नामक एक महाकाव्य की रचना की थी, जबकि स्वयं राजशेखर ने काव्यमीमांसा में अपनी एक अन्य रचना में भुवनकोश का उल्लेख किया है जिसमें सारे भुवन या संसार का भौगोलिक वर्णन किया गया था। इन प्रबंधों के अतिरिक्त राजशेखर ने अनेक स्फुट मुक्तकों की भी रचना की थी, जो सुभाषित संग्रहों में उपलब्ध हैं। आचार्य कुंतक ने इनके मुक्तकों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

कर्पूरमंजरी—यह सट्टक कोटि का उपरूपक है। आद्यंत प्राकृत भाषा में रचा गया है। इसका नायक चंद्रपाल तथा नायिका कर्पूरमंजरी है। कथावस्तु नाटिकाओं के समान है, तथा कालिदास के मालविकाग्निमित्र तथा हर्ष की रत्नावली से स्पष्टतः प्रभावित है। तांत्रिक भैरवानंद अपने तंत्र के प्रभाव से स्नान करती हुई एक सुंदरी को राजा के सामने उपस्थित कर देता है। यह सुंदरी वास्तव में कर्पूरमंजरी ही है। राजा उससे प्रेम करने लगता है। कर्पूरमंजरी तथा राजा दोनों छिप कर मिलते हैं, रानी इस पर

क्रुद्ध होकर कर्पूरमंजरी को कारागार में डाल देती है। राजा एक सुरंग में से जाकर नायिका से मिलता है। नाटक के अंत में भैरवानंद के द्वारा यह बताने पर कि राजा का विवाह लाट देश की राजकुमारी के साथ करने पर वे चक्रवर्ती बन जायेंगे, रानी राजा का विवाह कर्पूरमंजरी के साथ कराने पर तैयार हो जाती है।

कर्पूरमंजरी में वसंत, नायिका के सौन्दर्य, दोला (झूला) तथा चर्चरी नृत्य के काव्यात्मक और मनोहारी वर्णन हैं। नृत्य और संगीत के आद्यंत समायोजन ने इसे रंगमंच के लिए आकर्षक बना दिया है।

बालभारत या प्रचंडपांडव—इस नाटक के दो ही अंक प्राप्त हुए हैं। यह महाभारत की कथा पर आधारित नाटक है। प्राप्त दो अंकों में द्रौपदी का स्वयंवर तथा द्यूतक्रीड़ा और द्रौपदी के वस्त्रहरण की घटनाएँ चित्रित हैं।

विद्धशालभंजिका—यह नाटिका है। वासुदेव विष्णु मिराशी ने इसके कतिपय प्रसंगों को ऐतिहासिक माना है। इसमें उल्लिखित पयोष्णी नदी के तट पर हुआ युद्ध युवराजदेव और राष्ट्रकूट नरेश गोविंद चतुर्थ के बीच ९६६ ई० में हुआ। नाटिका में उल्लिखित वीरपाल युवराजदेव का जामाता अमोघवर्ष है, जिसका पक्ष लेते हुए युवराजदेव ने युद्ध किया। इसमें चार अंकों में लाटदेश के राजा चंद्रवर्मा की पुत्री मृगांकवती तथा राजा विद्याधरमल्ल के गुप्त विवाह की कथा निरूपित है। राजा चंद्रवर्मा ने अपनी पुत्री मृगांकवती को नायक त्रिपुरी के कलचुरी सम्राट् विद्याधरमल्ल के यहाँ मृगांकवर्मा के नाम से लड़के के वेश में भेज रखा है। रानी खेल-खेल में विदूषक का ब्याह एक दास को दासी का वेष बनवा कर उसके साथ कराती हैं। विवाह के समय दास डमरुक बोल पड़ता है कि मैं तो डमरुक हूँ। विदूषक लज्जित होता है और रानी से इस हँसी का बदला लेने के लिए रानी की दासी मेखला को अपने पाँवों के नीचे से निकाल देता है। रानी मृगांकवर्मा को वास्तव में लड़का समझ कर उसे कन्या का वेश धारण कराती हैं, और राजा के साथ हँसी में उसका विवाह करा देती हैं। नायिका का कभी शालभंजिका (पुतली या प्रतिमा) तो कभी किशोर के रूप में दिखायी पड़ना इस नाटिका में एक अभिनव और चमत्कारपूर्ण कल्पना है। नाटिका के अंत में ज्येष्ठा नायिका अपने पति का विवाह मृगांकवती तथा कुंतलराजकुमारी कुवलयमाला दोनों को साथ करा देती हैं।

बालरामायण—यह दस अंकों का महानाटक है। इसमें रामायण की सम्पूर्ण कथा प्रस्तुत है। यह रामलीला की प्राचीन परम्परा का स्वरूप भी प्रस्तुत करता है। इसके सभी दस अंक दीर्घाकार हैं, और पूरे नाटक का अभिनय एक दिन में होना संभव नहीं है। इसके प्रत्येक अंक का नाम एक-एक लीला पर किया गया है। अंक के प्रारम्भ में सूत्रधार के द्वारा की जाने वाली घोषणा दी गयी है। जैसे—**अतः परं परशुराम-रावणीयो भविष्यति** (द्वितीय अंक); **अतः परं विलक्षलङ्केश्वरो भविष्यति** (तृतीय अंक); **अतः परं भार्गवभङ्गो भविष्यति** (चतुर्थ अंक) इत्यादि। यह पद्धति भी रामलीला के समान है। अंकों के नाम कथावस्तु के अनुसार अलग-अलग दिये गये हैं। इस प्रकार दसो अंकों के नाम हैं—प्रतिज्ञापौलस्त्य, परशुरामरावणीय, विलक्षलङ्केश्वर, भार्गवभंग, उन्मत्तदशानन,

निर्दोषदशरथ, असमपराक्रम, वीरविलास, रावणवध तथा राघवानंद। प्रथम अंक में विश्वामित्र राम को अपने आश्रम में यज्ञ की रक्षा के लिए लेकर आते हैं, तथा अपने शिष्य शुनःशेप को अपना प्रतिनिधि बना कर जनक के पास भेजते हैं। शुनःशेप और राक्षस के संवाद में विश्वामित्र तथा अगस्त्य इन दोनों मुनियों के गुणों व चरित का बखान किया गया है। रावण और प्रहस्त विमान से मिथिला आते हैं। रावण के लिए शिव का धनुष मँगवाया जाता है। शिवधनुष का अपमान करने के कारण रावण और जनक में विवाद हो जाता है। द्वितीय अंक में परशुराम और रावण के विवाद का निरूपण है। तृतीय अंक में रावण के सम्मुख दिव्य पात्रों के द्वारा सीता-स्वयंवर नाटक का अभिनय किया जाता है। चौथे अंक में राम और सीता के विवाह के पश्चात् परशुराम का मिथिला में आना और उनका राम से संवाद चित्रित है। पाँचवें अंक में सीता के विरह में व्याकुल रावण का जी बहलाने के लिए यंत्र जानकी (सीता की कठपुतली) उसके सामने लायी जाती है। इसी अंक में शूर्पणखा रावण के सामने आती है। उसकी नासिका और कान काट दिये गये हैं। षष्ठ अंक में माल्यवान् की योजना के अनुसार शूर्पणखा और मायामय नामक राक्षस कैकेयी और दशरथ का वेष धर कर अयोध्या आते हैं। छद्म कैकेयी के द्वारा छद्म दशरथ से दो वर माँगे जाते हैं, और राम उसके कारण वनवास पर प्रस्थान करते हैं। इसके पश्चात् सीताहरण और जटायु के वध की सूचना जटायु के दूत के द्वारा दी जाती है। पंचम अंक में राम की सागर से मार्ग की याचना, सेतु का निर्माण, सेतु-बंधन में बाधा डालने के लिए आयी राक्षस सेना से राम की सेना का युद्ध, रावण के द्वारा कृत्रिम सीता का मस्तक काट कर राम के आगे फेंका जाना, राम का उसे वास्तविक सीता समझ कर विलाप, कृत्रिम सीता के मस्तक से निकली सारिका (मैना) का राम को प्रबोध, मंदोदरीपुत्र सिंहनाद की राम को चुनौती और राम का उससे समर के लिए प्रस्थान—ये घटनाएँ चित्रित हैं। अष्टम अंक में राम और रावण के बीच तुला-द्यूत होता है, जिसमें रावण का प्रतिनिधि नरांतक राम के प्रतिनिधि अंगद से युद्ध करता है। नरांतक मारा जाता है। पराजय के पश्चात् भी रावण तुलाद्यूत की शर्त स्वीकार न करके युद्ध करता रहता है। इस अंक में त्रिजटा सीता को युद्ध का वृत्तांत बताती है। नवम अंक में यमराज द्वारा लंका का लेखपट्ट माँगा जाता है, जिसके माध्यम से युद्ध की हो चुकी और हो रही घटनाओं का विवरण दिया गया है। इंद्र और दशरथ भी इस अंक में आते हैं। राम और रावण के युद्ध तथा रावणवध का भी इस अंक में चित्रण है। अंतिम दसवें अंक में राम पुष्पक विमान से अयोध्या लौटते हैं, लंका से अयोध्या तक के भारतवर्ष के दृश्यों का यहाँ कवि ने सुंदर वर्णन किया है।

बालरामायण में रामकथा में अनेक नये तत्त्व और नवीन उद्भावनाएँ नाटककार ने समायोजित की हैं। विश्वामित्र के शिष्य शुनःशेप की पात्र के रूप में उपस्थिति तथा रावण के गुप्तचर से उसका संवाद, दशरथ तथा कैकेयी दोनों को वनवास के प्रसंग में निर्दोष सिद्ध करने के लिए मायामय कैकेयी और मायामय दशरथ का अवतरण, शूर्पणखा की नासिका और कान अयोध्या में ही काटे जाना, रावण और परशुराम का विवाद, तुलाद्यूत का प्रकरण आदि अनेक वृत्तांत राजशेखर की कल्पना की उर्वरता के परिचायक हैं। तीसरे अंक में रावण् के मनोरंजन के लिए उसकी सभा में प्रदोष के

समय सीता स्वयंवर नामक प्रेक्षणक का अभिनय किया जाता है। गर्भांक या नाटक के भीतर नाटक की यह कल्पना भवभूति से प्रभावित प्रतीत होती है।

काव्यकला—राजशेखर की भाषा वक्रोक्ति की विच्छित्ति और शैली के निखार का मानदण्ड है। उनमें परिष्कार, सुकुमारता और ओजस्वी गाढबंध की रचना का सम्मिश्रण करने की विरल क्षमता है। बालभारत में उनकी अपनी शैली के विषय में यह गर्वोक्ति मिथ्या नहीं है—'अहो मसृणोद्धता सरस्वती यायावरस्य।' अर्थात् यायावर राजशेखर की वाणी में मसृणता तथा उद्धतता दोनों का संयोग है। अनुप्रासों के विन्यास की दक्षता उनमें देखते ही बनती है। उनका शब्दभण्डार अत्यन्त सम्पन्न है, तथा गद्य में अटूट लय है। **वत्स सोदर वृकोदर, परपुरञ्जय धनञ्जय, मण्डितपाण्डवकुलनकुल, द्विषद्दुःसह सहदेव इह हि महाराजसमाजे न जाने कमवलम्बिष्यते राधावेधकीर्तिवैजयन्ती** (प्रचंडपांडव); **कथमद्यापि पटिष्ठमाञ्जिष्ठं च मञ्जुमार्तण्डीयं तेजः, मरीचयोऽर्कस्य लुठन्ति कोमलाः** (बालरामायण)। इस प्रकार की वाक्यवलियाँ राजशेखर के रूपकों में वाचिक अभिनय या पाठ की दृष्टि से आकर्षण उत्पन्न करती हैं, तथा उनकी भाषा को विलक्षण सौन्दर्य से मंडित करती हैं।

अनुप्रास के कारण संगीत की झंकार भी उनकी गद्य और पद्य-रचना में गूँजती रहती है। उदाहरण के लिए—

द्युतिजितकरवालः सूतवंशीप्रवालः
स्फटितकुटजमालः स्पष्टनीलत्तमालः।
इह हि गतमरालः केतकाली कराले
शिखरिणि मम कालः सोऽभवन्मेघकालः॥ (बालरामायण, १०/५२)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि शैली का यह परिष्कार और चमत्कार आयासजन्य तथा कृत्रिम है। हृदय की सहज संवेदना, भवभूति जैसी रागात्मकता का राजशेखर में अभाव है।

राजशेखर के नाटकों में काव्यात्मक कल्पनाओं और प्रकृति के मानवीकरण ने विशेष आकर्षण उत्पन्न कर दिया है। बालरामायण में दिन और संध्या को वर-वधू के रूप में प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं—

दिवससन्ध्यावरवध्वोर्वहति विवाहाग्निविभ्रमं भानुः।
लाजायते च साक्षादुत्तरलस्तारकानिकरः॥ (३/८७)

(दिन और संध्या का विवाह हो रहा है, सूर्य विवाह की वेदी में जलती अग्नि जैसे लग रहे हैं। चमकते हुए तारे विवाह के समय छोड़े जाने वाले लाजा (लाई) प्रतीत हो रहे हैं।)

राम के साथ वनवास के समय चलती सीता का यह चित्र अत्यन्त करुणापूर्ण तथा सौकुमार्य और कारुण्य की पराकाष्ठा का निदर्शन है—

मुञ्चत्यग्रे किसलयचयं लक्ष्मणो याति सीता
पादाम्भोजे विसृजदसृजी तत्र सञ्चारयन्ती।

रामो मार्गं दिशति च ततस्तेऽखिलेनापि चाह्ना
शैलोत्सङ्गप्रणयिनि पथि क्रोशमेकं वहन्ति॥ (६/४७)

(लक्ष्मण सीता के आगे कोमल पत्ते बिछा रहे हैं। सीता उन पर अपने चरण-कमल रख कर चल रही हैं, फिर भी उनके चरणों से रक्त चू रहा है। राम मार्ग दिखाते हुए आगे-आगे चल रहे हैं। इस प्रकार पर्वतीय मार्ग को ये तीनों दिनभर में एक कोस पार कर पाते हैं।)

छंदो की दृष्टि से राजशेखर ने बड़े और छोटे सभी छंदों का प्रयोग अपने रूपकों में किया है। उनके शार्दूलविक्रीडित छंद की प्रशंसा करते हुए क्षेमेंद्र ने कहा है—'शार्दूलक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः।' सर्वाधिक श्लोक राजशेखर ने शार्दूलविक्रीडित छंद में ही लिखे हैं। बालरामायण में २०८, बालभारत में ४१, विद्धशालभंजिका में ३६ तथा कर्पूरमंजरी में २४ शार्दूलविक्रीडित हैं। इसके पश्चात् सर्वाधिक संख्या वसंततिलका छंद की है।

वह्निरेव वह्नेर्भेषजम्, पद्मा पद्मे निषीदतु, न विना हिमानीमचण्डो मार्तण्डः, अतथाविधो न तथाविधरहस्यवेदी, न सर्वदा सर्वस्य सदृशो दशापरिपाकः, क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः, अयमपरः क्षते क्षारावसेकः, चतुर्थीचन्द्रो दृष्टः, डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम्, पुराणपत्रमविदार्य पल्लवो न समुल्लसति, दृष्टा हरिश्चन्द्रपुरीव नष्टा, नटे दृष्टे मुण्डित उपविष्टः पतिर्मुण्डितः, इस प्रकार की सूक्तियाँ, मुहावरे या आभाणक राजशेखर की रचनाओं में भरे पड़े हैं।

राजशेखर का रंगमंच और उन पर लोकनाट्यपरम्परा का प्रभाव—राजशेखर ने सट्टक की रचना के साथ लोकनाट्य-परम्परा से जुड़ी एक रूपकविधा का दुर्लभ और पहला उदाहरण प्रस्तुत किया। कर्पूरमंजरी की प्रस्तावना में सूत्रधार के वचनों में वे नाट्यप्रस्तुति के पहले नेपथ्य में चल रही अभिनेताओं की तैयारी का सारा दृश्य उजागर कर देते हैं। बालरामायण में वे नाट्याचार्य कोहल के द्वारा सीतास्वंयवर नाम का गर्भ नाटक (नाटक के भीतर नाटक) रावण की सभा में प्रस्तुत कराते हैं। कोहल उपरूपकों या लोकनाट्यों की परम्परा के आचार्य हैं। कोहल को नाट्याचार्य के रूप में अपने नाटक में एक पात्र बनाना राजशेखर का लोकनाट्यपरम्परा से नैकट्य सूचित करता है। अपने रूपकों में वे ध्रुवाओं (नाट्यप्रयोग के समय गायकवृंद द्वारा गाये जाने वाले गीत) का प्रयोग भी बार-बार करते हैं। विद्धशालभंजिका में कठपुतलीनाट्य के अभिप्रायों का नाटकीय विन्यास प्रभावशाली रूप में उन्होंने किया है। नाट्यशास्त्र के अनेक विधानों का उल्लंघन भी राजशेखर ने लोकनाट्यपरम्परा से प्रभावित होने के कारण ही किया है। उदाहरणार्थ, रंगमंच पर उत्स्वप्नायित या शयन का दृश्य, बालरामायण में परशुराम और रावण के बीच युद्ध का प्रसंग, स्नान करती नायिका का प्रवेश आदि। कर्पूरमंजरी में उन्होंने चर्चरी का प्रवेश कराया है, जो लोकनाट्य करने वाला दल ही है।

पारम्परिक समीक्षा—राजशेखर ने अपने जीवनकाल में सहृदयों व कवियों के समाज में प्रतिष्ठा अर्जित कर ली थी। तभी तो उनके कुछ समय बाद हुए महाकवि

धनपाल ने उनकी समाधिगुणशालिनी तथा प्रसन्न परिपाक वाली वाणी की सराहना करते हुए कहा है—

समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः।
यायावरकवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः॥

(तिलकमंजरी, प्रस्ताविकपद्य-३३)

बालरामायण के एक पद्य (२.३७) को कुन्तक ने व्याकरण वक्रता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, तो राजशेखर के इस पद्य का उन्होंने सुकुमार गुण की दृष्टि से गहरा विश्लेषण किया है—

सद्यः पुरी परिसरेऽपि शिरीषमृद्वी
सीता जवात् त्रिचतुराणि पदानि गत्वा।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥

शारदातनय ने बालरामायण को भास्वर नाटक की कोटि में रखा है।

विद्धशालभञ्जिका केइस चमत्कारपूर्ण पद्य पर मम्मट, रुद्रट, महिमभट्ट, रुय्यक, वाग्भट, विश्वनाथ व शोभाकर मिश्र ने विचार किया है। विद्धशालभञ्जिका के एक अन्य पद्य (१.१५) भोज ने सरस्वतीकण्ठाकरण में स्मरण का व शृङ्गारप्रकाश में प्रत्यक्ष का उदाहरण माना है, तो १.३ में कुन्तक ने पदवक्रता का। विद्धशालभञ्जिका में एक अर्थदोष माना है।

क्षेमीश्वर

राजशेखर के समकालीन तथा राजा महीपाल देव की सभा के रत्न सुकवि क्षेमीश्वर ने दो नाटकों का प्रणयन किया—चण्डकौशिक तथा नैषधानंद। पहला नाटक विश्वामित्र के द्वारा राजा हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता की परीक्षा के कथानक को प्रस्तुत करता है। विघ्नराज वराह, पाप तथा चांडालवेषधारी धर्म जैसे प्रतीकात्मक चरित्रों, हरिश्चंद्र के द्वारा सत्य की रक्षा के लिए श्मशान में चांडाल बन कर रहना, अपने मृत पुत्र को भी श्मशानशुल्क न चुकाये जाने के कारण चिता पर चढ़ाने से रोक देना, हरिश्चन्द्र के गुरु उपाध्याय के उज्ज्वल चरित्र और विश्वामित्र की निर्ममता का चित्रण इस नाटक में बड़ा प्रभावशाली है।

प्रथम अंक में राजा अपने पुरोहित के निर्देश पर आने वाली विपत्ति को टालने के लिए रात्रि में अज्ञातवास पर रह कर अनुष्ठान करते हैं। रानी शैव्या उनके रात्रि में बिना बताये कहीं चले जाने से रूठ जाती है। राजा उसे मना रहे हैं, तभी वनेचर सूचना देता है कि एक महावराह ने उत्पात मचा रखा है। राजा मृगया करने चल पड़ते हैं। दूसरे अंक में राजा मुनि विश्वामित्र को तीन स्त्रियों की आहुति देते देखते हैं और उन्हें ऐसा करने से रोकते हैं। बाद में उन्हें अपनी भूल का पता चलता है, तो विश्वामित्र को प्रसन्न करने के लिए सारी पृथ्वी का राज्य उन्हें देने का संकल्प करते हैं। विश्वामित्र कहते हैं कि इसके ऊपर दक्षिणा भी दो। राजा एक मास के भीतर एक लाख स्वर्णमुद्रा

देने का वचन देते हैं, जो उसे अपने राज्य के बाहर से लानी है। हरिश्चन्द्र मुनि की दक्षिणा की व्यवस्था के लिए रानी शैव्या और पुत्र रोहित को लेकर काशी जाते हैं। वहाँ ये तीनों अपने आप को बेचते हैं। शैव्या को रोहिताश्व के साथ कोई उपाध्याय खरीद लेता है और हरिश्चन्द्र को एक चांडाल खरीदता है। श्मशान में विमान से तीन विद्यादेवियाँ उतरती हैं, जो हरिश्चन्द्र के अधीन रहने का संकल्प प्रकट करती हैं। राजा कहते हैं कि मैं तो दास हूँ, मेरा अपना कुछ नहीं, आप लोग मुनि विश्वामित्र के अधीन रहिये। श्मशान में सेवा करते हुए राजा को कुछ वर्ष बीत जाते हैं। चौथे अंक में रानी शैव्या साँप के काटने से मरे हुए पुत्र को लेकर आती है। वह श्मशान के वृक्ष से ही फाँसी लगा कर मरने का प्रयास करती है। हरिश्चन्द्र उससे कहते हैं कि जिसने अपने आपको बेच दिया, उसे मरने का भी अधिकार नहीं है—

मरणान्निवृतिं यान्ति धन्याः स्वाधीनवृत्तयः।
आत्मविक्रयिणः पापाः प्राणत्यागेऽप्यनीश्वराः॥ (५/१५)

शवकंबल (कफन) का शुल्क दिये बिना राजा अपने पुत्र को श्मशान में जलाने से मना कर देते हैं। रानी अपना वस्त्र फाड़ कर शवकंबल देती है। इसी समय आकाश से पुष्पवृष्टि होती है, धर्म अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो जाता है, रोहित जी उठता है।

प्रतीकात्मकता इस नाटक की वस्तुयोजना की एक दुर्लभ विशेषता है। जिस महावराह के कारण हरिश्चंद्र पहले अंक में मृगया के लिए निकल पड़ते हैं, वह वास्तव में विश्वामित्र से ब्रह्मा, विष्णु और शिव की तीन विद्याओं की रक्षा के लिए वराह का रूप धारण करने वाला विघ्नराट् है। स्त्रियाँ विश्वामित्र की सिद्धियाँ हैं। हरिश्चन्द्र को खरीदने वाला चांडाल धर्म है। शैव्या को खरीदने वाले शिव और पार्वती स्वयं हैं। पाप भी साकार होकर पात्र के रूप में नाटक में आता है।

क्षेमीश्वर की भाषा-शैली प्रसादगुणसंपन्न तथा प्रांजल है। धर्मवीर, दानवीर और सत्यवीर के रूप में हरिश्चन्द्र के चरित्र की अपूर्व प्रतिष्ठा करते हुए कवि ने इस नाटक में करुण, शांत और वीररसों की त्रिवेणी प्रवाहित की है। प्रथम अंक में रानी शैव्या के रूठने और हरिश्चन्द्र के उसे मनाने के प्रसंग में शृंगाररस की भी अभिव्यक्ति है।

नैषधानंद

नैषधानंद सात अंकों का नाटक है। यह महाभारत के नलोपाख्यान पर आधारित है। राजा नल के दमयंती से प्रेम और दमयंती के अपने स्वयंवर में नल को वर के रूप में चुनने से लेकर नल के अपने भाई पुष्कर से द्यूत में हारना और नल-दमयंती के वियोग की करुण कथा को उनके पुनर्मिलन के वृत्तांत तक कवि ने नाटकीयरूप में विन्यस्त किया है। सात अंकों के नाम हैं—महेंद्रसंदेश, दौत्यदमयंतीदर्शन, दमयंतीस्वयंवर, द्यूतप्रहृतसर्वस्व, अनलधर्म, दमयंतीपरिदेवन तथा उपसंहार। महाभारत की कथा को नाटकीय स्वरूप देने में कवि सफल है। कथा की मूल योजना में परिवर्तन न करते हुए भी कतिपय नये प्रसंगों की उद्भावना की गयी है। उदाहरणार्थ, पहले अंक में ही दमयंती के स्वयंवर में जाते नल को इंद्र का संदेश देने के लिए मातलि स्वर्ग से

उतर कर आता है, जबकि मूल कथा में देवता स्वयं नल के पास आते हैं, और दमयंती के पास अपना संदेश पहुँचाने के लिए कहते हैं। चौथे अंक में द्यूत में नल के हार जाने पर पुष्कर चाहता है कि वह दमयंती को भी दाँव पर लगा दे, और नल जब दमयंती को दाँव पर नहीं लगाता, तो पुष्कर दमयंती को पकड़ लेने की इच्छा से उसके प्रासाद में जा घुसता है। यह पता चलने पर नल रोषावेष में उससे युद्ध करने के लिए शस्त्र उठा लेते हैं। छठे अंक में राजा ऋतुपर्ण और उनकी रानी के समक्ष नल के चरित्र पर एक नाटक प्रस्तुत किया जाता है। इस नाटक को बाहुक के वेष में राजा ऋतुपर्ण के यहाँ सारथि का काम कर रहे स्वयं नायक नल भी देखते हैं। वास्तव में यह नाटक दमयंती की नल को खोजने की कूटयोजना का ही अंग है। नाटक करने वाला सूत्रधार और नटी नाटक की प्रस्तुति के समय बाहुक की चेष्टाओं को सूक्ष्मता से परखते हैं। इस गर्भनाटक के माध्यम से कवि ने बड़ी कुशलता के साथ पिछली घटनाओं को भी दिखा दिया है। अंतिम अंक में दमयंती स्वयंवर रचाती है। नल बाहुक का रूप छोड़ कर अपने वास्तविक रूप में आते हैं, तथा स्वयंवर वधू मान कर दमयंती की भर्त्सना कर डालते हैं, जिससे खिन्न होकर दमयंती अग्नि में अपने आपको होम कर देने को तत्पर हो जाती है। अग्नि उसकी पावनता का साक्ष्य देते हैं। इसके पश्चात् नल अपनी प्रिया को पुनः स्वीकार करते हैं। यह प्रसंग भी महाभारत की कथा में नहीं है, तथा क्षेमीश्वर की कल्पना से प्रसूत है।

रस और भाव की अभिव्यक्ति की दृष्टि से करुण, वीर तथा शृंगार रसों की त्रिवेणी का सुंदर संगम क्षेमीश्वर ने इस नाटक में रचा है। दमयंती और नल के विलाप और विषाद के प्रसंगों में ग्लानि, शंका, त्रास, संभ्रम आदि विविध संचारी भावों के विवर्त बनते हैं और करुणा की अजस्र धारा बहती प्रतीत होती है। नल का दमयंती के प्रति अनुराग का चित्रण भी प्रभावशाली है। वीररस का अच्छा परिपाक चौथे अंक में हुआ है, जहाँ अन्यायी पुष्कर से संघर्ष करने के लिए रोषाविष्ट नल शस्त्र लेकर उसे ललकारते हैं।

क्षेमीश्वर की वर्णन-कला तथा संवादों की भाषा सरस और सरल तथा प्रवाहपूर्ण है। कालिदास और भवभूति—इन दो कवियों का गहरा प्रभाव उनकी रचनाओं पर है। शाकुंतल के प्रथम अंक की भाँति नैषधानंद में भी नायक तीव्र गति से भागते रथ पर सवार होकर जा रहा है। रथ की गति का वर्णन है—

दृष्टं दृष्टिपथादपैति न पुनर्दृष्टं पुरो दृश्यते
पश्चाद्भूतमभूतवन्नयनयोर्मार्गे न सन्तिष्ठते।
वेगात् स्यन्दनमारुतैरिव परिक्षिप्तं द्वयोः पार्श्वयो-
रेतत् पश्य सकाननाद्रिनगरग्रामं जगत् धावति॥ (१/११)

(अभी दिखायी पड़ी वस्तु आँखों के आगे से तत्काल ओझल हो जाती है, सामने देखी वस्तु सामने नहीं रह जाती। पीछे छूट गये दृश्य ऐसे विलीन हो जाते हैं जैसे थे ही नहीं। रथ के भागने से चीरी गयी हवा दोनों ओर कानन, पर्वत, नगर और

गाँवों को जैसे उछाल रही है, तो सारा संसार भागता लग रहा है।) क्षेमीश्वर पात्र के अनुरूप भाषा और कथनभंगी का प्रयोग करते हैं। द्यूत में सर्वस्व हारा हुआ नल अपने आभूषण उतार कर वन की ओर प्रस्थान करता हुआ कहता है—

संसारजलधिवेले दशाघनालीतडिल्लते लक्ष्मि!
विरम तरलासि भद्रे मोहसरःशफरि वन्दे त्वाम्॥ (४/२४)

(हे संसारसागर की वेला (तट), मनुष्य की दशारूपी मेघसमूह की विद्युल्लता, लक्ष्मी! तुम यहीं ठहरी रहो, तुम चंचल हो। हे मोहरूपी सरोवर की मछली, मैं तुम्हारी वंदना करता हूँ।)

इसी प्रकार क्षेमीश्वर के सौन्दर्यवर्णन तथा प्रणय की अभिव्यक्ति रसपेशल और भावमयी है। माला गूँथती दमयंती को देख कर नल कहता है—

अलसमधुरैः क्षामक्षामैर्मयूरविपाण्डुभिः
प्रकृतिसुभगैरङ्गैर्नेत्रैश्चिरस्थिरतारकैः।
अनिबिडगुणग्रन्थिव्यस्तक्रमैर्ग्रथनैः स्रजां
सृजति सुमुखी कन्दर्पाज्ञासमाधिविधेयताम्॥ (२/२३)

(अलसाये, मधुर, दुबलाये, किरणों की तरह पांडुर, स्वभाव से सुंदर अंगों तथा स्थिर पुतलियों वाले नेत्रों से तथा घनी माला गूँथने के क्रम से सुमुखी कामदेव की आज्ञा में समाधि लीन-सी लगती है।) दमयंती को अकेली वन में छोड़ कर जाते हुए नल के अंतर्द्वंद्व को करुण मार्मिक अभिव्यक्ति देने में कवि सफल है। नल कहते हैं—

स्नेहेन नीयतेऽन्यत्र मोहेनान्यत्र नीयते।
मन्दस्य मम दोलेव मतिरायाति याति च॥ (५/४१)

(एक ओर स्नेह से खींची जाती है, दूसरी ओर मोह से कहीं और ले जायी जाती मेरी बुद्धि झूले की तरह कभी इधर डोलती है कभी उधर।)

चंडकौशिक नाटक की ही भाँति इस नाटक में भी कवि ने प्रतीकात्मक या अमूर्त पात्रों का प्रवेश कराया है। चतुर्थ अंक में मोह तथा माया आते हैं।

दोनों ही नाटकों में क्षेमीश्वर ने उदात्त जीवन मूल्यों और आदर्शों की प्रेरणामयी अभिव्यक्ति की है। नल के चरित्र के द्वारा नैषधानंद में उन्होंने शालीनता, मर्यादा और प्रेम की अनन्यता का संदेश देते हुए द्यूत जैसे व्यसन के दुष्परिणामों का सजीव चित्र अंकित किया है।

रंगमंच की दृष्टि से क्षेमीश्वर के नाटकों पर मध्यकाल की लोकनाट्य-परम्परा का प्रभाव सुस्पष्ट परिलक्षित होता है, यद्यपि इनके दोनों नाटकों का अभिनय राजसभा के मंच पर हुआ। चंडकौशिक के भरतवाक्य में बताया गया है कि यह नाटक राजा कार्तिकेय के आदेश पर खेला जा रहा है। जबकि प्रस्तावना में इसे राजा महीपाल देव के आदेश पर प्रस्तुत किया जाता हुआ बताया गया है। संभव है कि दो अलग-अलग राजाओं के यहाँ इसकी प्रस्तुतियाँ क्षेमीश्वर के जीवनकाल में हुई हों, जिससे रंगमंच पर इसकी लोकप्रियता का पता चलता है। राजा हरिश्चन्द्र की कथा पर लोकनाट्य-परम्परा में नाटक किया जाता रहा है, उसकी शैली व संरचना का क्षेमीश्वर के नाटक से गहरा

साम्य है। आगे चलकर भारतेंदु ने सत्यहरिश्चन्द्र नाटक की हिन्दी में रचना की, उस पर क्षेमीश्वर तथा उनकी लोकनाट्यपरम्परा का गहरा प्रभाव है।

कृष्णमिश्र : प्रबोधचंद्रोदय

प्रबोधचंद्रोदय के प्रणेता कृष्णमिश्र हैं। ये जेजाकभुक्ति के चंदेलराजा कीर्तिवर्मा के शासनकाल में हुए थे। कीर्तिवर्मा का शासनकाल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। १०६५ ई० में कीर्तिवर्मा के सेनापति गोपाल ने कलचुरि राजा कर्ण को पराजित किया था। इस घटना का उल्लेख प्रबोधचंद्रोदय की प्रस्तावना में किया गया है। इस प्रकार प्रबोधचंद्रोदय का रचनाकाल १०६५ ई० के लगभग तथा कृष्णमिश्र का समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है।

प्रबोधचंद्रोदय में छह अंक हैं, जिनके दार्शनिक तत्त्वचिंतन की दृष्टि से चौथे अंक को विवेकोद्योग, पाँचवें अंक को वैराग्यप्रादुर्भाव तथा अंतिम अंक को जीवन्मुक्तिविवेक कहा गया है। यह शांतरसप्रधान दार्शनिक तथा प्रतीकात्मक नाटक है। अश्वघोष के नाटक भी प्रतीकात्मक नाटकों की परम्परा का सूत्रपात करते हैं, पर वे उपलब्ध नहीं हैं। वस्तुतः प्रबोधचंद्रोदय संस्कृत का पहला उपलब्ध नाटक है, जिसे प्रतीकात्मक या दार्शनिक नाटक कहा जा सकता है। यह एक प्रवर्तक कृति भी है, क्योंकि इसके अनुकरण पर या इसकी परम्परा में बाद में संस्कृत में ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं में भी इस प्रकार के प्रतीकात्मक दार्शनिक रूपक रचे गये।

प्रबोधचंद्रोदय में मति, विवेक, श्रद्धा, विष्णुभक्ति, करुणा, शांति, उपनिषद्, क्षमा आदि अमूर्त पात्र हैं, जिनका द्वन्द्व महामोह, अहंकार, दंभ, काम, लोभ, मिथ्यादृष्टि, हिंसा, तृष्णा आदि पात्रों के साथ प्रदर्शित है। यह नाटक सत् और असत् प्रवृत्तियों के इस प्रकार प्रत्येक देशकाल में चलने वाले संघर्ष को प्रस्तुत करके सत् प्रवृत्तियों की विजय निरूपित करता है। अद्वैत वेदांत के दर्शन को इसमें नाटकीय व रोचक रूप में प्रस्तुत किया गया है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है—प्रवृत्ति और निवृत्ति ये मन की दो स्त्रियाँ हैं। प्रवृत्ति से मोह और निवृत्ति से विवेक का जन्म हुआ है। काम, लोभ, हिंसा, अहंकार आदि मोह के परिजन हैं। लोभ उसका पुत्र और तृष्णा पुत्रवधू हैं, जिनसे उसके दंभ नामक पौत्र का जन्म है। मोह की शक्ति के सामने नायक विवेक कुछ समय के लिए परास्त हो जाता है। अंत में मति, श्रद्धा, विष्णुभक्ति आदि के सहयोग से वह मोह की सेना को परास्त करता है। राजा मन अपनी पत्नी प्रवृत्ति तथा पुत्र-मोह के समाप्त होने से दुखी होता है, पर अंत में वह दूसरी पत्नी निवृत्ति को अपना कर निर्वृत्त हो जाता है। विवेक का विवाह उपनिषद् के साथ रचा दिया जाता है, जिससे प्रबोधचंद्रोदय का जन्म होता है और इसके साथ ही नाटक समाप्त होता है।

प्रबोधचंद्रोदय में तत्कालीन सामाजिक स्थितियों का यथार्थपरक निदर्शन किया गया है। वाराणसी में महाराज महामोह की आज्ञा से दंभ अपनी लीलाओं का विस्तार

करता है। परिणामस्वरूप जो विसंगत स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, उनका रोचक वर्णन कवि ने किया है—

वेश्यावेश्मसु सीधुगन्धिललनावक्त्रासवामोदितै-
र्नीत्वा निर्भरमन्मथोत्सवरतैरुन्निद्रचन्द्राः क्षपाः।
सर्वज्ञा इति दीक्षिता इति चिरात् प्राप्ताग्निहोत्रा इति
ब्रह्मज्ञा इति तापसा इति दिवा धूर्तैर्जगद् वञ्च्यते ॥ (२/१)

(वेश्याओं के कोठों पर मदिरा की गंध से महकती ललनाओं के मुख की मदिरा के पान से आमोदित, छक कर कामोत्सव में चटकती चाँदनी वाली रातें बिता कर दिन में वही धूर्त लोग अपने आपको सर्वज्ञ, दीक्षित, अग्निहोत्री, ब्रह्मज्ञ और तपस्वी बता-बता कर संसार को ठग ले रहे हैं।)

शृंगार रस का पूर्वपक्ष के रूप में इस नाटक में चित्रण उत्कृष्ट है। अमूर्त पात्रों के संवादों की सरसता और रोचकता प्रभावशाली है। इसके साथ ही कृष्णमिश्र ने इसमें अपने समय में व्याप्त कुरीतियों और पाखंड का बड़ा यथार्थ चित्रण किया है।

प्रबोधचंद्रोदय पर दो प्राचीन टीकाएँ मिलती हैं—चंद्रिका तथा प्रकाश। चंद्रिकाटीका के कर्ता नाण्डिल्लगोप मंत्रिशेखर हैं तथा प्रकाश व्याख्या रामदास दीक्षित ने लिखी है। रोचक शैली में वेदांत के तत्त्व को हृदयंगम बनाने के कारण भारतीय साहित्य में इस नाटक का महत्त्व स्वीकार किया जाता रहा है और इसीलिए इसके भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में रूपान्तर या अनुवाद भी होते रहे हैं। ब्रजभाषा में भावपूर्ण अनुवाद वृजवासीदास ने संवत् १८८८ (सन् १८३१ ई०) में किया। अनुवाद के प्रारम्भ में इस नाटक की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए वृजवासीदास कहते हैं—

नाम राषौ ग्रंथ कौ परबोधचंद्र उदोत।
सुनक मधुरौ श्रवन कौ अति समुझतै सुष होत॥
मथ निकारौ वेदनिधि तैं सुधा कैसो सोत।
रीत नाटक तासु पाठक सिष्य कीनौ पोत॥
सतसंग में ऐसी सुनी या ग्रंथ की उत्पत्ति।
रचना विचित्र प्रबोध सुंदर वसक वरनन नित्त॥
हान अरु मोह प्रापति ज्ञान की संपत्ति।
सुनै समुझैं पढ़ैं रुचि सों मिटै जगत विपत्ति॥

प्रबोधचंद्रोदय का फारसी में रूपान्तर दाराशिकोह के सहयोगी वनमाली वाली ने किया है। इस रूपान्तर का नाम गुलज़ार-ए-हाल है। यह रूपान्तर सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में किया गया।

प्रबोधचंद्रोदय से प्रभावित नाटक—संस्कृत साहित्य में प्रबोधचंद्रोदय ने दार्शनिक और प्रतीकात्मक नाटकों की परम्परा का सूत्रपात किया। तेरहवीं शताब्दी में जैन कवि यशःपाल का **मोहराजपराजय** तथा वेदांत के प्रख्यात आचार्य वेदांतदेशिक का संकल्पसूर्योदय, वरदाचार्यकृत वेदांतविलास (पंद्रहवीं शताब्दी), वादिचंद्रसूरि का

ज्ञानसूर्योदय (१५९२ ई०), दामोदर संन्यासी का पाखंडधर्मखंडन (१६३६ ई०), सत्रहवीं शताब्दी में गोकुलनाथ का अमृतोदय तथा आनंदराय मखी के विद्यापरिणय और जीवानंदन, नल्लाध्वरि के चित्तवृत्तिकल्याण और शिवकृत विवेकचंद्रोदय (१७६३ ई०) आदि बहुसंख्य नाटक संस्कृत में प्रबोधचंद्रोदय के अनुकरण पर या उसकी परम्परा में रचे गये। इन नाटको में कलियुग में बढ़ते भ्रष्टाचार के चित्रण के द्वारा समाज की तत्कालीन स्थितियों की झाँकी भी दी गयी है। बीसवीं शताब्दी तक संस्कृत प्रबोधचंद्रोदय से प्रस्फुटित प्रतीकनाटकों की परम्परा जारी है। वेंकटराम राघवन् का विमुक्ति: प्रहसन एक इसी श्रृंखला की एक कड़ी है।

जयदेव : प्रसन्नराघव

संस्कृत साहित्य के इतिहास में जयदेव नाम के दो महाकवि विशेष ख्यात हैं—एक प्रसन्नराघव नाटक के रचयिता जयदेव तथा दूसरे गीतगोविंद काव्य के प्रणेता जयदेव। प्रसन्नराघवकार जयदेव ललित कवि होने के साथ एक प्रखर पंडित और उच्चकोटि के तार्किक भी थे। न्यायदर्शन के आचार्यों में ये पक्षधरमिश्र के नाम से प्रख्यात हैं। ये कौडिन्यगोत्र के थे तथा कुंडिनपुर (विदर्भ) के निवासी थे। इनकी माता का नाम सुमित्रा तथा पिता का नाम महादेव था। पीयूषवर्ष के नाम से भी ये संस्कृत साहित्य में विख्यात हैं। जयदेव ने प्रसन्नराघव नाटक के अतिरिक्त अनेक मनोहर सूक्तियों तथा चंद्रालोक नामक सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्रग्रंथ की रचना भी की। जयदेव नैषधकार श्रीहर्ष से प्रभावित प्रतीत होते हैं, तथा अपने चंद्रालोक में वे मम्मट के काव्यस्वरूपविवेचन की कड़ी आलोचना करते हैं। इस आधार पर उनका समय बारहवीं शताब्दी के बाद माना जा सकता है। दूसरी ओर सिंहभूपालकृत रसार्णवसुधाकर तथा शार्ङ्गधरपद्धति—इन दो ग्रंथों में जयदेव को उद्धृत किया गया है, और ये दोनों ग्रंथ चौदहवीं शताब्दी में विरचित हैं। इस प्रकार जयदेव का समय १२०० ई० से १२५० ई० के लगभग स्वीकार किया जा सकता है।

प्रसन्नराघव नाटक रामकथा पर आधारित नाटकों में बहुत लोकप्रिय रहा है। इसमें सात अंक हैं। कथा का स्रोत वाल्मीकि रामायण है। बालकांड की कथा आरम्भ के चार अंकों में विन्यस्त है। चौथे अंक में राम-सीता विवाह तथा परशुराम के पराभव की कथा है। पहले अंक में रावण डींग हाँकता हुआ शिव के धनुष को उठाने का प्रयास करता है। इसी समय बाणासुर वहाँ आ जाता है, और दोनों में कहासुनी होती है। रावण यह देख कर प्रसन्न होता है कि बाणासुर भी शिवधनुष को न उठा सका। यह प्रसंग रामलीला के मंच पर शताब्दियों से इसी रूप में दिखाया जा रहा है। इस अंक का समापन मारीच की दूर से आती चीख के द्वारा होता है, और रावण मारीच को ढाँढस बँधाने के लिए प्रस्थान करता है। दूसरे अंक में पुष्पवाटिका में सीता-दर्शन का दृश्य है। इसमें सीता के सौन्दर्य का वर्णन बहुत लम्बा हो गया है, तथा कार्यव्यापार के स्थान पर वर्णन की बहुलता हो गयी है। तीसरे अंक में वामनक (बौने) और कुब्जक (कुबड़े)

का संवाद लीलानाट्य के हँसोड़ पात्रों का मनोरंजक रूप प्रस्तुत करता है। पाँचवें अंक में गंगा, यमुना तथा सरयू इन तीन नदियों की हंस के साथ बातचीत के द्वारा राम के वनवास और दशरथ के निधन की सूचना तथा हंस नामक पात्र के द्वारा सीता हरण की घटना का वर्णन कराया गया है। लोकप्रियता को ध्यान में रख कर ही कदाचित् जयदेव ने ग्रीष्म में वन के पथ पर जाती सीता का कारुणिक वर्णन किया है। जयदेव ने अपने नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना अपनी कृति को नाटकीय और रोचक बनाने के लिए की है। ऐसे प्रसंगों में पहले अंक में रावण और बाणासुर का परस्पर संघर्ष तथा दूसरे अंक में राम और सीता का पुष्पवाटिका में परस्पर अवलोकन के प्रसंग उदाहरणीय हैं। इनके पुष्पवाटिका-प्रसंग तथा लक्ष्मण-परशुराम-संवाद-प्रसंग का गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में अनुकरण किया है। छठे अंक में राम के वियोग का चित्रण भी है, तथा एक विद्याधर के इंद्रजाल के द्वारा राम और लक्ष्मण को अशोकवाटिका में हो रही घटनाओं को प्रत्यक्ष अवलोकन करते हुए भी प्रदर्शित किया गया है। सर्वथा अलग-अलग व दूरस्थ स्थलों पर चल रही घटनाओं को एकसाथ दिखाने के लिए विशेष पद्धति जयदेव ने अपनायी है, जिसका अनुकरण आगे चलकर और भी नाटककारों ने किया। इसी अंक में हनुमान् का अशोकवाटिका में सीता-दर्शन तथा सातवें अंक में विद्याधर और विद्याधरी के संवाद के माध्यम से राम-रावण-युद्ध का वर्णन है।

कथागायन की शैली का प्रयोग तथा काव्यात्मक वर्णनों की विपुलता के कारण प्रसन्नराघव की संरचना लीलानाटकों से साम्य रखती है। लालित्य तथा अनुप्रास की मधुर झंकार उत्पन्न करने में जयदेव की काव्यकला अत्यन्त सफल है। उदाहरण के लिए जनकपुरी की पुष्पवाटिका में सीता की सखी के मुख से वासंतीलता का यह वर्णन—

वासन्तीरसबिन्दुं सुन्दरमिन्दिन्दिरा इह चरन्ति।
चिरमन्दिरमरविन्दं मन्दं मन्दं परिहरन्ति॥ (२/१८)

इस प्रकार की पंक्तियों के द्वारा जयदेव अपनी पीयूषवर्ष उपाधि को सार्थक भी करते हैं, तथा गीतगोविन्दकार जयदेव का पदे-पदे स्मरण कराते हैं।

इसके साथ ही भाषा पर अपने असाधारण अधिकार के द्वारा कहीं एकदम बोलचाल की भाषा में भी जयदेव अपने आपको सटीक रूप से व्यक्त कर देते हैं। उदाहरण के लिए दूसरे अंक में तापस वेषधारी रावण के गुप्तचर राक्षस की यह उक्ति—

वार्ता च कौतुकवती विमला च विद्या
लोकोत्तरः परिमलश्च कुरङ्गनाभेः।
तैलस्य बिन्दुरिव वारिणि दुर्निवार-
मेतत् त्रयं प्रसरति स्वयमेव भूमौ॥ (२/२)

(आश्चर्यजनक समाचार, विमल विद्या तथा कस्तूरी मृग की असाधारण सुगंध—ये तीनों पानी में पड़ी तैल की बूँद की तरह स्वयं ही इस धरती पर फैलती हैं।)

जयदेव के संवादों में नाटकीयता मुग्ध करने वाली है। उन्होंने यह ध्यान रखा है कि यह नाटक सामान्य जन समुदाय के समक्ष खेला जायेगा। उक्ति-प्रत्युक्ति और संवादों का चुटीलापन देखते ही बनता है। दूसरे अंक में रावण के दो गुप्तचर बातचीत

कर रहे हैं, जिनमें एक भिखारी के वेश में है, दूसरा तापस के। बातचीत में एक कर्णाभूषण (ताटंक) के विषय में है। तापस बताता है कि विश्वामित्र ने प्रसन्न होकर दशरथ को एक दिव्य कर्णाभूषण दिया है, यह जान कर वह कर्णाभूषण अपनी माता के लिए लाने हेतु रावण ने ताटका को संदेश भेजा है।

तापस (सहर्षम्) तत्कथय तावत्। किं सताटङ्कमधुना ताटकावनम्? (क्या अब ताटकावन ताटंक से युक्त हो गया? अर्थात् क्या ताटका उस कर्णाभूषण को लाने में सफल हुई?)

भिक्षुः—सताटकमिति तावत् पच्छ। (यह पूछो कि ताटकावन ताटका से युक्त है या नहीं।)

तापसः—क्व पुनः सम्प्रति ताटका? (तो ताटका कहाँ चली गयी?)

भिक्षुः—पुरीं प्रविष्टा (वह पुरी में प्रवेश कर गयी है।)

तापसः—किं दशरथस्य? (क्या दशरथ की पुरी में?)

भिक्षुः—नहि, नहि अन्तकस्य। (नहीं, नहीं, मृत्यु की पुरी में।)

तापसः—केन पुनः प्रतीहारायितमन्तकपुरीप्रवेशे तस्याः? (उसके अंतकपुरी-प्रवेश में किसने प्रतीहार का काम कर दिया?)

भिक्षुः—रामबाणेनैव। (राम के बाण ने ही।)

संवाद में 'विषस्य विषमौषधम्' (विष का इलाज विष ही है), 'प्रकृतिभीरुः खल्वबलाजनः' (स्त्रियाँ स्वभाव से भीरु होती हैं।) 'को जानाति विधेः संविधानवैदग्ध्यम्' (विधाता की घटना रचने की चतुराई कौन परख पाता है?). 'दैवताधिष्ठितानि हि मुग्धवचनानि भवन्ति' (सुन्दर वचनों में देवता बसते हैं।)—ऐसे सहज और मनोरम सूक्तिसुमन उनकी काव्यवाटिका में बिखरे पड़े हैं।

वत्सराज के रूपक

वत्सराज कालंजर के राजा परमर्दिदेव (११६३-१२०२ ई०) तथा उनके पुत्र त्रैलोक्यवर्मदेव के अमात्य रहे। इन्होंने छह रूपकों की रचना करके डिम, समवकार और ईहामृग जैसे दुर्लभ रूपक प्रकारों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये। इनके छह रूपकों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) कर्पूरचरित भाण—यह एक अंक का भाण है। इसमें कर्पूरक नामक विट का आकाशभाषित में चंदनक नाम के अपने साथी से रोचक संवाद है, जिसमें उस समय के जुआरियों, गणिकाओं और ऐश्वर्यशाली लोगों के जीवन की यथार्थ झाँकी मिलती है। कर्पूरक विलासवती नामक गणिका को चाहता है। भाणसाहित्य के विटों में उसका चरित्र निराला ही है। वह हाथ में वीणा लिये हुए आता है। कर्पूरक मंजीरक तथा हारदत्त नामक विलासी नागरकों और गणिकाओं को मूर्ख बनाने की रोचक घटनाएँ चंदनक को सुनाता है।

मध्यकालीन दशार्ण देश के लोगों के रहन-सहन, बोलचाल और जीवन को जानने के लिए यह भाण अच्छी सामग्री उपलब्ध कराता है।

(२) हास्यचूडामणि—यह प्रहसन है। इस प्रहसन में पाखंडी साधु ज्ञानराशि के पाखंड, अर्थलिप्सा तथा लंपटता को उघाड़ा गया है और ज्ञानराशि के शिष्य के चरित्र के द्वारा भी समाज के अध:पतन का ऐसा चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो हमें जागरूक और विवेकसम्पन्न होने की प्रेरणा देता है। कपटकेलि एक लालची कुटनी है, जो अपनी बेटी गणिका मदनसुंदरी के कलाकरंडक नामक विलासी युवक के साथ प्रेम-संबंध से चिढ़ती है। मदनसुंदरी उसके घर से आभूषणों की पिटारी चुरा कर भाग कर अपनी प्रेमी के पास चली जाती है। कपटकेलि जानती है कि गहनों की पिटारी बेटी ही ले कर भागी है, फिर भी वह गहनों का पता लगवाने के लिए नगर के पुराने बगीचे में स्थित मठ में रहने वाले साधु ज्ञानराशि के पास पहँचती है। इसके बाद जो कुछ घटता है, उसमें ज्ञानराशि की केवली विद्या की पोल खुल जाती है। यही नहीं, ज्ञानराशि स्वयं मदनमंजरी पर आसक्त हो कर उसे रिझाने के लिए तंत्र का उपयोग करते हैं। शिष्य के द्वारा धूर्ततावश उनके बनाये ताबीज में मदनमंजरी के स्थान पर कपटकेलि नाम लिख दिये जाने से बजाय मदनमंजरी के स्थान पर बूढ़ी कपटकेलि उन पर रीझ उठती है। विसंगतियों के इस क्रम में जमीन में गड़े खजानों का दर्शन करा देने वाले लांगली रस के स्थान पर अन्य विषैला रस आँखों में आँजने से सारे पात्र कुछ समय के लिए अंधे हो जाते हैं। अंत में कलाकंरडक और मदनसुंदरी के समय पर पहुँच जाने से सबकी दृष्टि लौट आती है, और प्रहसन की सुखद समाप्ति होती है।

(३) त्रिपुरदाह—त्रिपुरदाह में चार अंक हैं। यह डिम कोटि का रूपक है। यह पुराणों में वर्णित शिव के द्वारा विष्णु की सहायता से त्रिपुरासुर की नगरियों के जलाने और त्रिपुरवध के प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान पर आधारित है। त्रिपुरासुर तीन भाई हैं, जिन्हें ब्रह्मा ने वर दिया है कि उन्हें एक ही बाण से एकसाथ कोई मारे, तभी उनकी मृत्यु होगी, अन्यथा नहीं। तीनों भाई एक-दूसरे से सौ-सौ योजन दूर रह कर निरन्तर घूमते रहते हैं। अब इनका वध कैसे हो?

इस रूपक में उक्त कथा को बहुत ओजस्वी रूप में प्रस्तुत किया गया है। नारद देवताओं को दानवों से युद्ध करने के लिए भड़काते हैं। देवता त्रिपुर दानव को नष्ट करने का संकल्प करते हैं। बृहस्पति त्रिपुर दानवों की विचित्रता के विषय में बताते हैं। वे त्रिलोकी के धूमकेतु हैं। तीन अलग-अलग नगरों में रह कर वे निरन्तर अंतरिक्ष की परिक्रमा करते रहते हैं। इसी समय पृथ्वी और शेष भी अपना दुखड़ा रोने वहाँ आते हैं। इधर राहु सूर्य को ग्रस लेता है। शंकर त्रिपुर के दाह के लिए प्रस्थान करते हैं। दानवों की ओर से कपटनारद या नारदवेषधारी एक असुर विष्णु और शिव तथा ब्रह्मा के बीच में ही कलह करवा देता है। किसी तरह इनका झगड़ा निपटता है। विष्णु अपनी माया से अंधकार फैला देते हैं, जिसमें दानव एक-दूसरे को ही मारने-काटने लगते हैं। देवों और त्रिपुरासुर की सेना में भयंकर संग्राम होता है। अंत में ब्रह्मा को सारथि, हिमालय को धनुष, शेषनाग को धनुष की डोर और विष्णु को बाण बना कर शिव युद्ध करते हैं। तीनों दानव स्वर्णपुर, रजतपुर और लौहपुर में अलग-अलग रहते हैं। ये तीनों पुर एक

वृत्त में घूमते हुए जब एक रेखा में एक-दूसरे के आगे-पीछे आते-जाते हैं, तभी शिव तीनों को एक ही बाण से एक साथ बींध देते हैं।

सेनासन्नाह, व्यूहरचना तथा युयुत्सा के भावों का स्फूर्त चित्रण इस रूपक में है। विष्णु शिव को अपना सेनापति मान कर कहते हैं—

गदा सदा दानवदारयित्री,
सौदर्शनं दर्शनमेव घोरम्।
न मन्दशक्तिर्मम नन्दकोऽयं
निदेशमेवैशमहं समीहे॥

(मेरी गदा सदा दानवों का दलन करने वाली है। सुदर्शन चक्र दर्शन में ही घोर है। मेरा नन्दक अस्त्र भी मन्दशक्ति वाला नहीं है। मैं बस ईश (शिव) का निदेश चाहता हूँ।)

त्रिपुरासुर के तीनों नगरों में आग लगने पर मचे कोहराम, भगदड़ और संभ्रम का चित्रण चित्रोपम भाषा में बड़े सटीक रूप में वत्सराज करते हैं। हास-परिहास, संभ्रम, आवेग, भगदड़ आदि के चित्रण में यह डिम अपूर्व है। रंगमंच पर रोंगटे खड़े कर देने वाले युद्ध का अभिनय नाटकार ने कराया है।

(४) किरातार्जुनीय—यह व्यायोग कोटि का रूपक है। अर्जुन के द्वारा पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए तप तथा शिव का उनकी परीक्षा लेने के लिए किरात बन कर आना—यह वृत्तांत इसमें चित्रित है। किरातार्जुनीय एक अंक का व्यायोग है। इसका मूल महाभारत की कथा है। अर्जुन पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए तप कर रहा है। अप्सराएँ उसका तपोभंग करने के लिए आती हैं। अर्जुन अपने चारों ओर बाणों का वितान रच देता है, जिससे वे उसके पास आ ही न सकें। फिर इंद्र अर्जुन की परीक्षा लेने के लिए मुनि का रूप धर कर आते हैं। अर्जुन उनको यथोचित उत्तर देकर संतुष्ट कर देता है, और इंद्र के द्वारा शिव की आराधना करने का परामर्श पाकर शिव की आराधना में लग जाता है। तभी विशालकाय वराह का रूप धर कर एक असुर वहाँ आता है। अर्जुन और किरातवेषधारी शिव के बाण उसे एकसाथ लगते हैं, जिसके कारण दोनों के पक्ष में विवाद छिड़ जाता है। किरातवेषधारी शिव देखते हैं कि अर्जुन वीरतापूर्वक युद्ध कर रहा है. पर क्रोध उसे बिल्कुल नहीं आ रहा है, तो वे उसे क्रोध दिलाने के लिए दुर्योधन का रूप धर लेते हैं। फिर तो दुर्योधनरूपधारी शिव और अर्जुन में युद्ध छिड़ जाता है। अंत में शिव अर्जुन पर प्रसन्न होकर उसे पाशुपत अस्त्र देते हैं।

अर्जुन के तापस और क्षात्ररूप का अत्यन्त प्रेरणाप्रद चित्र नाटककार ने खींचा है। उसके एक हाथ में अक्षमाला है, दूसरे हाथ में घोर धनुष है। उसका विग्रह ऐसा है जैसे कलिकाल से त्रस्त होकर धर्म श्रेष्ठ क्षत्रिय की शरण में आ पहुँचा हो।

एकः करः कलयति स्फटिकाक्षमालां
घोरं धनुस्तदितरश्च बिभर्ति हस्तः।
धर्मः कठोरकलिकालकदर्थ्यमानः
सत्क्षत्रियस्य शरणं किमिवानुयातः॥ (३९)

वीर, रौद्र, भयानक तथा अद्भुत रसों से यह व्यायोग ओतप्रोत है। नाटककार की भाषा भी इन रसों के सम्मर्द को वहन करने में सफल है। विशाल वराह के वर्णन में वह कहता है—क्रोडोऽयं कलितः क्रुधा कलिरिव क्रूराशयो धावति। उसकी डाढ़ो के वर्णन में कुदाल, कुठार, परशु के उपमानों का अच्छा प्रयोग है—

कुद्दालीयति सान्द्रकन्दपटले बाढं कुठारीयति
स्कन्धाग्रेषु परश्वधीयति शिखाशाखासु सम्पातिनी।
दंष्ट्रेयं विकटा किटैः प्रतिपदं मार्गद्रुमद्रोहिषु
क्रूरक्रूरपराक्रमप्रमथिनी किं किं न सम्पद्यते॥

(५) समुद्रमंथन—यह तीन अंकों का समवकार कोटि का रूपक है। देवताओं तथा असुरों के द्वारा अमृतप्राप्ति के लिए समुद्र मथने का प्रसंग इसमें अत्यन्त नाटकीय और प्रभावशाली रूप में चित्रित किया गया है। देवता और असुर अमृत-प्राप्ति के लिए समुदमंथन की योजना बनाते हैं। समुद्र में ही लक्ष्मी का निवास है। नाटक के आरम्भ में लक्ष्मी अपनी दो सखियों—लज्जा और धृति के साथ रुद्राणी की पूजा करने के लिए समुद्र से बाहर निकल कर आती हैं। इसी समय गंगा की ओर से उनको दिये गये कृष्ण के चित्र की पूजा करने का प्रसंग भी चित्रित है। इधर देवता शेषनाग को डोरी और मंदर पर्वत को मथानी बना कर असरों के साथ सागर को मथते हैं, जिससे क्रमशः वेद, ऐरावत, उच्चैःश्रवा अश्व, चन्द्रमा, औषधियाँ, रत्न, लक्ष्मी, अमृतकलश, अंकुश, सुरा और कालकूट विष की उत्पत्ति होती है। शिव इनका बँटवारा करते हैं। लक्ष्मी विष्णु को मिलती है। अमृत असुरों को देकर कालकूट विष शिव स्वयं लेते हैं। विष्णु मोहिनी का रूप धर कर गरुड़ को अपनी सखी निपुणिका के वेष के साथ लेकर असुरों को मोहित करने चल पड़ते हैं। असुरराज बलि मोहिनी पर लट्टू हो जाता है, और उसकी बातों में आकर अमृतकलश उसे सौंप देता है। शुक्राचार्य विष्णु की माया को समझ जाते हैं और वे देवों को अपनी माया से भरमाने के लिए शिव का रूप बनाकर उनके पास पहुँच जाते हैं। वे कालकूट पीने से मरणासन्न होने का अभिनय करते हुए विष्णु से अमृतकलश माँगते हैं। विष्णु भी शुक्राचार्य की माया समझ जाते हैं। अंत में समुद्र भी वहाँ आ जाता है, और समुद्रमंथन से मिले रत्नों का बँटवारा होता है।

ओजस्विता और गतिशीलता के द्वारा यह रूपक दर्शकों को निरन्तर बाँधे रहता है। कर्मठता का संदेश इसमें पिरोया हुआ है। शिव का यह रूप भी बड़ा प्रखर है—

शूलं शिरःशूरकरं न कस्य विपाककृत् कस्य न वा पिनाकम्।
ममेन्द्रसन्देशवशंवदस्य कं वा न कुर्यात् परशुः परासुम्॥ (१/२०)

(६) रुक्मिणीहरण—यह ईहामृग कोटि का रूपक है। इसमें चार अंक हैं। इसमें रुक्मिणी के आमंत्रण पर कृष्ण शिशुपाल तथा रुक्मी से युद्ध करके रुक्मिणी का हरण करते हैं। विदर्भ के राजा भीष्म की कन्या रुक्मिणी इसकी नायिका है। कृष्ण नायक हैं। रूपक के आरम्भ में रुक्मिणी की ओर से उसकी गुरु सुबुद्धि तथा धाय सुवत्सला कृष्ण के पास आती हैं, और उन्हें बताती हैं कि शिशुपाल रुक्मिणी से विवाह के लिए

उत्सुक है, जबकि वह आपको चाहती है। तभी रुक्मिणी के भाई रुक्मी का पत्र लेकर दूत प्रियंवद आता है। पत्र में दी गयी धृष्टतापूर्ण चुनौती से बलराम का क्रोध भड़क जाता है। तभी शिशुपाल का दूत भी इनके पास आता है। वह शिशुपाल और रुक्मिणी के विवाह का निमन्त्रण देता है। कृष्ण विवाह में सम्मिलित होने के लिए कुंडिनपुर जाते हैं। कृष्ण और रुक्मिणी एक-दूसरे के चित्र के द्वारा विवाह कर लेते हैं। अंत में इंद्राणी की पूजा के लिए निकली रुक्मिणी का कृष्ण हरण कर लेते हैं। कृष्ण और शिशुपाल के पक्ष में युद्ध होता है, जिसमें शिशुपाल और रुक्मी के पक्ष की पराजय होती है।

हरिवंशपुराण तथा अन्य पुराणों में दी गयी कथा में नाटककार ने अपनी उर्वर कल्पनाशीलता के द्वारा अनेक नये प्रसंगों की उद्भावना की है। कृष्ण और रुक्मिणी का एक-दूसरे के चित्रों के साथ विवाह रचा लेना, कृष्ण का खिड़की से झाँकती रुक्मिणी को देखना—इस प्रकार के प्रसंग वत्सराज की कथा को और आकर्षक बना देते हैं।

शृंगार और वीर रसों की धारा एकसाथ नाटककार ने इस रूपक में प्रवाहित की है। भावसंधि या दो विपरीत भावों की समवेत उपस्थिति भी उसने सफलतापूर्वक दिखायी है। श्रीकृष्ण रुक्मिणी के लिए उत्कंठा और रुक्मी के लिए रोष का एकसाथ अनुभव करते हुए कहते हैं—

तरलयतः स्मररोषौ दुर्मदरिपुदमनकेलिरमणीयौ।
मां पाणिपीडनविधौरुक्मिण्या असिलतायाश्च॥

यहाँ श्लेष के द्वारा रुक्मिणी तथा असिलता (तलवार) दोनों का पाणिपीडन करने की इच्छा कृष्ण की उक्ति में प्रकट करा कर नाटककार ने चमत्कार का आधान भी किया है तथा शृंगार और वीर रसों का संगम भी कर दिया है।

वत्सराज के रूपकों की सामान्य विशेषताएँ—वत्सराज का समय राजनीतिक अस्थिरता का काल था। वे उस कालंजर की भूमि में हुए, जो वीरों की जननी थी। उनके पूर्व धंग जैसे प्रतापी राजा सुबुक्तगीन से टक्कर ले चुके थे। महमूद गजनी ने भारत पर आक्रमण किया, उस समय यहाँ विद्याधर राज्य कर रहा था। गजनी ने कालंजर पर भी हमला किया। १२०२ ई० में कुतुबुद्दीन ने कालंजर को जीत लिया। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में वत्सराज ने अपने रूपकों में युयुत्सा और रणवीर होने का संदेश अपने समय के राजाओं को दिया है। उनकी कामना है—'औदार्यशौर्यरसिकाः सुखयन्तु भूपाः।' उन्होंने भारतभूमि पर आक्रमण करने वाले यवनों को अपने नाटकों में असुरों और दानवों के रूप में प्रस्तुत करते हुए उनसे जूझने का आह्वान किया है।

रंगमंच की दृष्टि से वत्सराज ने अपने रूपकों में नये प्रयोग किये तथा रंगमंच के भरतमुनि के द्वारा स्थापित प्रस्थान का नवाविष्कार किया। भरतमुनि ने आरभटी और सात्त्वती वृत्तियों से युक्त समुद्रमंथन समवकार तथा त्रिपुरदाह डिम के प्रयोग करवाये थे। वत्सराज ने भरत मुनि के लुप्त हो चुके रूपकों की नये रूप में पुनःरचना की। इनके रचे रूपकों में पाँच राजा परमर्दिदेव के सम्मुख खेले गये। किरातार्जुनीय व्यायोग परमर्दि के पुत्र त्रैलोक्यमल्ल के समक्ष प्रस्तुत किया गया। इन रूपकों का अभिनय कालंजर के

दुर्ग में नीलकंठ महादेव या चक्रपाणि विष्णु के मंदिरों के यात्रा-महोत्सवों के अवसर पर हुआ।

भाषा की दृष्टि से वत्सराज परिष्कार, वैचित्र्य विदग्धता का निर्वाह करते हैं, पर नाटकीयता तथा सहजता की क्षति नहीं होने देते। 'दिग्गजदूषणार्थं शशकानामेष मेलकः' (त्रिपुरदाह, द्वितीयांक)—इस प्रकार के मुहावरेदार वाक्य तथा सूक्तियाँ उनके रूपकों में अनेकत्र प्राप्त होती हैं।

अन्य नाटककार

दसवीं से बारहवीं शताब्दी के नाटक

केरल के राजा कुलशेखर वर्मा का संस्कृत नाटक तथा भारतीय रंगमंच को योगदान अविस्मरणीय है। इनका समय ९०० ई० के आसपास है। इन्होंने दो नाटक रचे—तपतीसंवरण तथा सुभद्राधनंजय। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'आश्चर्यमंजरी' नामक कथा का भी प्रणयन किया था, जो अनुपलब्ध है। तपतीसंवरण की प्रस्तावना में इसका उल्लेख है, तथा अनर्घराघव की टीका में रुचिपति उपाध्याय ने भी इसका उल्लेख किया है। कुलशेखर वर्मा स्वयं नाट्यशास्त्र के ज्ञाता और नाटकों के प्रयोक्ता थे। उन्होंने नाट्यप्रयोग की जिस शैली का संवर्धन किया, वह कूटियाट्टम् के नाम से केरल में एक सहस्र वर्षों से आज तक प्रचलित है, तथा वर्तमान में संस्कृत रंगमंच की सबसे प्रामाणिक और जीवित परम्परा है।

तपतीसंवरण में सूर्यकन्या तपती की हस्तिनापुरनरेश संवरण के साथ प्रेम और विवाह की कथा है। नायक और नायिका का छिप कर मिलना, नायिका के द्वारा विरह में आत्मघात का प्रयास, नाटक को प्रेमपत्र या संदेश भेजना आदि घटनाएँ इस नाटक में हर्ष की नाटिकाओं के समान हैं। नायिका तथा उसकी सखी तिरस्करिणी विद्या से अतंर्धान रह कर नायक की बातचीत सुनती हैं—यह प्रसंग कालिदास के विक्रमोर्वशीय पर आधारित प्रतीत होता है। नायक के द्वारा सूर्य की उपासना करने का वृत्तांत इसमें नवीन है, जिसके फलस्वरूप उसे सूर्यकन्या तपती प्राप्त होती है। एक राक्षसी के द्वारा नायक के विनाश के लिए मायाजाल रचने का वृत्तांत भी चमत्कारपूर्ण तथा नवीन संविधान प्रस्तुत करने वाला है।

कुलशेखर के दूसरे नाटक सुभद्राधनंजय में पाँच अंक हैं। इसकी कथा महाभारत में वर्णित अर्जुन और सुभद्रा के प्रेम और अर्जुन द्वारा कृष्ण की सम्मति से सुभद्रा के अपहरण के प्रसंग पर आधारित है। एक राक्षस के द्वारा अपहरण करके ले जायी जाती सुभद्रा को अर्जुन बचाते हैं और सुभद्रा उन पर अनुरक्त हो जाती है। सुभद्रा के प्रेम में पड़ कर उसे खोजता हुआ अर्जुन साधु बन जाता है और विदूषक उसके साथ शिष्य के रूप में चलता है। साधुवेष में उसकी ख्याति द्वारका तक पहुँचती है और कृष्ण उससे मिलने के लिए आते हैं। कृष्ण अर्जुन को पहचान लेते हैं, और उसके साधु बनने का कारण भी समझ जाते हैं। छद्मसाधु से प्रभावित हुए बलराम प्रस्ताव करते हैं कि साधु

महाराज को राजप्रासाद में लाया जाय। अर्जुन साधु के रूप में द्वारका के राजभवन में आ जाता है, जहाँ उसकी प्रिया सुभद्रा को ही उसकी सेवा में लगा दिया जाता है। सुभद्रा के भ्रम के कारण इस नाटक में बड़ी रोचक स्थिति निर्मित होती है। वह नहीं जानती कि उसे राक्षस से बचाने वाला और द्वारका में रह रहा साधु एक ही व्यक्ति है, और यह व्यक्ति अर्जुन है। वह बाल्यकाल से ही अर्जुन पर अनुरक्त थी। इस प्रकार वह अर्जुन, राक्षस से बचाने वाले व्यक्ति और साधु—तीनों को अलग-अलग व्यक्ति मान कर अपने आपको तीन पुरुषों के प्रति आकर्षित होने के पाप का भागी मानती है और इस मनोयंत्रणा से दु:खी होती हुई फाँसी लगाकर मरने को उद्यत हो जाती है, उसी समय अर्जुन वहाँ पहुँच कर उसकी भ्रांति दूर करते हैं। फिर कृष्ण, अर्जुन और सुभद्रा का गुपचुप विवाह करा कर दोनों के पलायन में सहायता करते हैं। विवाह के पश्चात् पुन: राक्षस के द्वारा सुभद्रा का अपहरण, द्रौपदी के वेष में काली और सुभद्रा के वेष में ग्वालिन का अर्जुन के सामने आना—इत्यादि अनेक रोचक नवीन वृत्तांत इस नाटक में सुभद्रा और अर्जुन के विवाह के पश्चात् घटित होते हैं।

नवीं या दसवीं शताब्दी के आसपास शीलांक नामक जैन कवि ने विवुधानंद नामक उत्सृष्टिकांक का प्रणयन किया। भास के ऊरुभंग के पश्चात् उपलब्ध होने वाला यह दूसरा उत्सृष्टिकांक है। इसमें लक्ष्मीधर नामक राजकुमार का राजा राजशेखर की राजधानी में आना, राजकन्या बंधुमती से उसका प्रेम, दोनों का विवाह होना तथा विवाह के पश्चात् आभूषणों की पेटी से निकले साँप के डँस लेने से नायक की मृत्य और उसके साथ बंधुमती का सती होना—यह दु:खांत वृत्त है। बेटी और जामाता दोनों के निधन से राजा राजशेखर भी प्रवज्या लेने का विचार करते हैं, पर अपने पुत्र के अल्पवयस्क होने के कारण रुक जाते हैं।

विवुधानंद की रचना जैनधर्म के निर्वेद का संदेश देने के लिए की गयी है। इसकी भाषा सरल है तथा रूपक अभिनेय है। श्रृंगार, हास्य और करुण रसों का इसमें परिपाक हुआ है और अवसान में शांत रस है।

केरल के निवासी नीलकंठ का कल्याणसौगंधिक व्यायोग महाभारत के वनपर्व की सुप्रसिद्ध कथा पर आधारित है, जिसमें भीमसेन द्रौपदी के लिए सुगंधित पुष्प लेने जाते हैं और वहाँ हनुमान् से उनकी मुठभेड़ हो जाती है। भीम अपने पूर्वपुरुष और अग्रज भ्राता हनुमान् को न पहचान कर उनसे युद्ध कर बैठते हैं। नाटककार ने इस कथा में पुष्पावचय के पहले भीम की एक राक्षस से भी मुठभेड़ करायी है। भीम और हनुमान् के बीच मल्लयुद्ध के अतिरिक्त वाक्कलह भी बड़ा रोचक है।

सोमदेव ने बारहवीं शताब्दी में ललितविग्रहराज तथा उनके आश्रयदाता विग्रहराज ने हरकेलि नाटक की रचना की। ये दोनों नाटक शिलाओं पर खुदवा कर मंदिरों में लगवाये गये थे, पर मंदिरों का ध्वंस करके उन पत्थरों को मस्जिद में लगवा दिया गया। ललितविग्रहराज नाटक शाकंभरीनरेश विग्रहराज को चरितनायक बनाकर लिखा गया। यह नाटक चौथे अंक तक ही मिल पाया है। इसमें सोमेश्वर पर आक्रमण

करने वाले यवनों से विग्रहराज के युद्ध का ऐतिहासिक कथानक है। हरकेलि नाटक ११५० ई० के आसपास लिखा गया। यह भी अधूरा प्राप्त है। इसमें किरात बने शिव से अर्जुन के युद्ध की कथा है।

बारहवीं शताब्दी के नाटककारों में रामचंद्र महत्त्वपूर्ण हैं। ये जैनाचार्य हेमचंद्र के शिष्य थे। इन्होंने २८ स्तोत्र काव्यों तथा अनेक शास्त्रीय ग्रंथों के अतिरिक्त ग्यारह रूपकों का प्रणयन किया, जिनमें से छह मिलते हैं—**नलविलास, सत्यहरिश्चंद्र, कौमुदीमित्रानंद, निर्भयभीमव्यायोग, रघुविलास** तथा **मल्लिकामकरंद**। कौमुदीमित्रानंद तथा मल्लिकामकरंद प्रकरण कोटि के रूपक हैं। कौमुदीमित्रानंद में दस अंक हैं। नायक मित्रानंद जिनसेन नामक वणिक् का पुत्र है। नायिका के पिता आश्रम में कुलपति हैं। वरुण द्वीप के निकट जलपोत (जहाज) टूट जाने से नायक विदूषक के साथ द्वीप पर पहुँचता है, और दोलाक्रीड़ा करती नायिका के प्रथम दर्शन में उस पर मुग्ध हो जाता है। नायक कुलपति के समक्ष नायिका से विवाह का प्रस्ताव रखता है और उसका विवाह हो जाता है। विवाह हो जाने पर नायिका उसे बताती है कि कुलपति नकली हैं, और वे उसके साथ विवाह करने वाले हर युवक की रात्रि में गड्ढे में गिरवा कर हत्या करवा देते हैं। नायक सिद्धराज को वरुण के पाश से मुक्त करता है, जागली देव से हालाहलहरी विद्या सीखता है और नायिका के साथ भाग कर सिंहल द्वीप आ जाता है। पर यहाँ भी उसे चोर समझ कर पकड़ लिया जाता है, और सिंहल के राजा का मंत्री कौमुदी पर आसक्त हो जाता है। यहीं पर नायक के मित्र मकरंद का प्रेम और विवाह वणिक्पुत्री सुमित्रा से होता है। इस प्रकार अनेक विपत्तियों को झेल कर नायक एकचक्रा नगरी में पहुँचता है। वहाँ एक कापालिक के कारण ये लोग संकट में पड़ जाते हैं। नायक के मित्र मकरंद की संपत्ति एक दूसरा वणिक् हड़प लेता है और उल्टे मकरंद को अपराध में फँसा कर फाँसी का दंड दिलवा देता है। इसके साथ सिद्धों का राजा कौमुदी और सुमित्रा का अपहरण करवा लेता है। अंत में बहुविध संकटों को पार करके सारे पात्र फिर से मिल जाते हैं। लोककथा के रस से अनुप्राणित तथा अनेक लोकविश्वासों व लोकाचारों के चित्रण से पूर्ण यह विशाल प्रकरण घटनाबाहुल्य और घटनावैविध्य के कारण रोमांचक और रुचिकर भी है।

मल्लिकामकरंद छह अंकों का प्रकरण है। इसमें नायिका मल्लिका को नायक मकरंद अर्धरात्रि के समय कामदेव के मंदिर में आत्महत्या करने से बचाता है। इसके पश्चात् नायक जुआरियों का ऋण न चुका पाने के कारण पकड़ा जाता है, तो नायिका के पिता उसका ऋण चुकता करके उसे छुड़वाते हैं। नायिका का अपहरण हो जाता है, और उसे बचाने के लिए नायक मकरंद विद्याधरों की नगरी पहुँचता है, मकरंद के स्पर्श से वैभल नगर का वणिक् वैश्रवण, जिसे गंधमूषिका नामकी उसकी प्रेमिका ने तोता बना कर पिंजरे में बंद कर रखा है, अपने वास्तविक रूप में आ जाता है। मल्लिका के माता-पिता उसका विवाह चित्रांगद से करना चाहते हैं, मल्लिका मकरंद से ही विवाह करने का अपना निश्चय प्रकट करती है। अंत में वह एक कपटयोजना के अंतर्गत

चित्रांगद से विवाह पर सम्मति दे देती है। विद्याधरों में परम्परा है कि किसी भी विद्याधर-कन्या के विवाह के अनुष्ठान में पहले उसका विवाह यक्षराज से औपचारिक रूप में कराया जाता है, और बाद में वास्तविक विवाह होता है। मकरंद यक्षराज की प्रतिमा बनकर बैठ जाता है, और उसके साथ मल्लिका का विवाह हो जाता है। अंत में माता-पिता को इस पर स्वीकृति देनी पड़ती है।

नलविलास नल-दमयंती की कथा पर आधारित सात अंकों का नाटक है। **निर्भयभीमव्यायोग** में भीमसेन और बकासुर का युद्ध चित्रित है। सत्यहरिश्चंद्र छह अंकों का नाटक है जो क्षेमीश्वर के नैषधानंद से प्रभावित है। इसमें काशी में महामारी और अकाल फैलने का प्रसंग नया है। इसी प्रकार छठे अंक में श्मशान में पिशाचनृत्य का संयोजन किया गया है। **रघुविलास** नाटक आठ अंकों—वनवास से लगा कर रावणवध—तक रामकथा को प्रस्तुत करता है।

रामचंद्र ने रामकथा को लेकर एक अन्य नाटक **राघवाभ्युदय** तथा कृष्णकथा को लेकर **यादवाभ्युदय** नाटक लिखा था। इन नाटकों के कतिपय उद्धरण उन्हीं के नाट्यदर्पण में मिलते हैं।

अतिशय भावुकता, पिष्टपेषण या पुनरावृत्ति आदि रामचंद्र के रूपकों के दोष हैं।

पार्थपराक्रम व्यायोग के प्रणेता परमार प्रह्लादनदेव मारवाड़ में बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में चंद्रावती के राजकुमार थे। इसमें विराट् की नगरी से कौरवों के द्वारा गायों के हरण और बृहन्नलारूपधारी अर्जुन के कौरवपक्ष से संग्राम की महाभारत में प्रतिपादित कथा को नाटकीय रूप दिया गया है। प्रह्लादनदेव ने गुजरात में पालनपुर नगर की स्थापना की थी, महाकवि सोमेश्वर ने अपनी आबू-प्रशस्ति में इन्हें सरस्वती का अवतार और कीर्तिकौमुदी महाकाव्य में सरस्वती का पुत्र कहा है। जल्हण ने सूक्तिमुक्तावली में उनके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। कोटीश्वर की प्रशस्ति में प्रह्लादनदेव को षड्दर्शनालंब और सकलकलाकोविद कहा गया है। पार्थपराक्रम में युद्ध का वर्णन अत्यन्त ओजस्वी है, तथा काव्यकला की दृष्टि से प्रह्लादनदेव ने अपनी उपर्युक्त प्रशस्तियों को चरितार्थ किया है। संग्रामरत अर्जुन के लिए निम्नलिखित उपमा का प्रयोग नाटककार के शास्त्रज्ञान का परिचायक है—

धृतराष्ट्रसुतैर्दृष्टः किरीटी विश्वतोमुखः।
एकोऽप्यनेकधा वल्गन्नात्मा नैयायिकैरिव॥

उपर्युक्त कथा को लेकर बारहवीं शताब्दी में ही कांचनाचार्य ने धनंजयविजयव्यायोग लिखा।

उषारागोदयनाटिका तथा **ययातिचरित** नाटक के रचयिता रुद्रदेव बारहवीं शताब्दी में काकतीयवंश के प्रतापी राजा थे। ये प्रतापरुद्र के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इन्होंने नीतिसार नामक ग्रंथ अमरुशतक की टीका की भी रचना की। विद्यानाथ ने इनकी प्रशस्ति में प्रतापरुद्रीय नाटक लिखा था। उषारागोदय नाटिका में उषा और अनिरुद्ध की सुप्रसिद्ध प्रेमकथा है। इस कथा को रुद्रदेव ने सर्वथा भिन्न रूप देकर

अनेक नवीन कल्पनाओं के साथ प्रस्तुत किया है। मूलकथा में उषा की सखी चित्रलेखा नायक अनिरुद्ध का अपहरण करके उषा के पास ले आती है, जबकि इस नाटिका में उषा को ही अपहृत करके द्वारिका लाया जाता है, और अनिरुद्ध के उसके प्रति आकर्षण के कारण अनिरुद्ध की अन्य प्रेमिका पट्टमहिषी डाह करती है। वर्णन तथा अलंकारों के विन्यास की दृष्टि से यह सुंदर रचना है। रुद्रदेव के ययातिचरित नाटक में सात अंक हैं। अपने गुरु विश्वामित्र की गुरुदक्षिणा के लिए श्यामकर्ण अश्वों की याचना करने वाले गालव के प्रसंग को भी नाटककार ने शर्मिष्ठा और देवयानी की कथा के साथ जोड़ दिया है, जो नयी परिकल्पना है। इसके साथ ही मूल कथा में ययाति का पुत्र पुरु अपने पिता के वार्धक्य को ग्रहण कर लेता है। यह कथांश भी रुद्रदेव के नाटक से निकाल दिया गया है। इसमें ययाति जराग्रस्त तो होता है पर अंत में महर्षि की कृपा से ही वह अपना यौवन पुनः प्राप्त करता है। देवयानी के विवाह के पश्चात् ययाति का शर्मिष्ठा से परिचय और अनुराग भी इस नाटक में चित्रित है। शुक्राचार्य के शाप से वृद्ध हुए ययाति को उसकी दोनों पत्नियाँ देवयानी और शर्मिष्ठा पहचान नहीं पातीं, और वे उससे झगड़ पड़ती हैं। ययाति भी क्रुद्ध होकर कहता है—

विवशो जराविपन्नो रोगानीकेन वा ग्रस्तः।
न खलु कुलबालिकानामवमान्यः शास्त्रतो भर्ता॥ (७/१८)

अंत में शुक्राचार्य के द्वारा ही शाप वापस ले लिए जाने के बाद ययाति फिर से युवा हो जाता है। इस प्रकार रुद्रदेव ने ययाति के आख्यान को भी एकदम नया रूप दे दिया है। रुद्रदेव की भाषा प्रासादिक और सरस है। संवादों में नाटकीयता तथा रोचकता है।

भगवदज्जुकीयम् तथा मत्तविलास प्रहसन के पश्चात् १२वीं शताब्दी में कान्यकुब्जनरेश गोविंदचंद्र के समकालीन कविराज शंखधर का **लटकमेलकम् प्रहसन** उल्लेखनीय है। लटकमेलकम् का अर्थ है—धूर्तों का सम्मेलन। इसमें दो अंक हैं। इसके मुख्य पात्र हैं—कुट्टनी दंतुरा तथा गणिका मदनमंजरी। मदनमंजरी के कंठ में मछली का काँटा फँस गया है, जिसे निकालने के लिए वैद्य जंतुकेतु आते हैं। उनके द्वारा किये जाने वाले मूर्खतापूर्ण उपचार के कारण उनकी जगहँसाई होती है और हँसने के कारण मदनमंजरी के गले में फँसा काँटा स्वयं निकल जाता है। मदनमंजरी का सौदा करने कई लोग आते हैं। इनमें कौलमतानुयायी सभासलि और दिगंबर साधु जटासुर सबसे आगे हैं। सभासलि जटासुर का विवाह दंतुरा से करवा देते हैं। बूढ़े और दिगंबर साधु का विवाह वृद्धा कुट्टनी से कराये जाने की हास्यास्पद विसंगति में मनुष्य की लिप्सा और मूर्खता का अच्छा चित्रण है। विवाह करने वाला पुरोहित गीता के 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'—आदि श्लोक के पाठ के द्वारा विवाह सम्पन्न करा देता है। कवि ने मदनमंजरी के असफल प्रेमियों—संग्रामविसर. झक्की दार्शनिक फुंकटमिश्र, मिथ्या शुक्ल, तथा बौद्ध भिक्षु व्यसनाकर को भी उपस्थित करके मानव स्वभाव की विचित्रता तथा मूर्खता का उद्घाटन किया है।

बारहवीं शताब्दी में ही यशःपाल ने पाँच अंकों के **मोहराजपराजय नाटक** की रचना की। यशःपाल गुजरात में राजा अजयदेव के आश्रित थे। मोहराजपराजय

प्रबोधचंद्रोदय की परम्परा का प्रतीकात्मक नाटक है। इसमें नायक तो राजा कुमारपाल हैं, पर उनका युद्ध प्रतीकात्मक पात्र मोहराज से होता है। मोहराज सदाचारदुर्ग के शासक विवेकचंद्र पर आक्रमण कर देता है, और दुर्ग में पानी पहुँचाने वाली नदी धर्मचिंता पर बाँध बाँध कर पानी रोक देता है। फिर वह सदागम नामक कुएँ को भी पुरवा देता है। राजा विवेकचंद्र गुप्तद्वार से निकल कर अपने दुर्ग से पलायन कर जाते हैं। राजा कुमारपाल अपने गुरु के आश्रम में उनकी बेटी कृपासुंदरी को देखता है। गुरु उसे उपदेश देते हैं कि कृपासुंदरी से विवाह करके तुम शत्रु मोहराज को जीत सकोगे। पर कृपासुंदरी पर राजा को आसक्त पाकर उनकी पटरानी राज्यश्री कुपित होती है। अंत में वह भी कृपासुंदरी से राजा के विवाह की सहमति दे देती है। पिता विवेकचंद्र अपनी बेटी का विवाह कुमारपाल के साथ करने के लिए शर्त रखते हैं कि राजा संतानहीन लोगों का धन हड़पना बंद कर दे, तथा हिंसा, द्यूत, मद्यपान, चोरी आदि सात पापों को छोड़ दे। राजा उनकी शर्तें मान कर कृपामंजरी से विवाह कर लेते हैं, पर इससे राज्य की शक्ति क्षीण हो जाती है और मोह अपनी सेना के साथ राज्य पर आक्रमण कर देता है। राजा की पहली पत्नी से जन्मी दो संतानें कीर्तिमंजरी और प्रताप भी मोह से जा मिले हैं। अंत में राजा योगशास्त्र का कवच पहन कर पुण्यकेतु, विवेकचंद्र और ज्ञानदर्पण को साथ लेकर मोहराज को युद्ध में पराजित कर देता है।

धर्मप्रचार के उद्देश्य से विरचित इसी प्रकार का एक अन्य रूपक मेघप्रभाचार्य का **धर्माभ्युदय** है। यह श्रीगदित कोटि का उपरूपक है। रंगमंच पर यतिवेशधारी प्रतिमा की स्थापना की परिकल्पना इसमें अभिनव है, जिसके कारण इसे छायानाट्य भी माना गया है। इसमें इंद्र तथा दशार्णराज की परस्पर स्पर्धा तथा संघर्ष चित्रित है, अंत में इंद्र से आगे बढ़ने के लिए दशार्णराज जिनेंद्र से दीक्षा ले लेता है।

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के रूपक

प्रबुद्धरौहिणेय मुनि रामभद्र का लिखा हुआ अत्यन्त रोचक और अभिनेय प्रकरण है। यह आधुनिक काल में मूल संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद में अनेक बार रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया है। इसका नायक रौहिणेय नामक डाकू है। वह चोरी, हत्या, लूट और अपहरण के अनेक कांड कर चुका है, पर राजा उसे पकड़ नहीं पाया। अंत में प्रजा राजा के समक्ष फरियाद लेकर जाती है, राजा क्रुद्ध होकर मंत्री अभयकुमार को आदेश देता है कि पाँच दिन के भीतर डाकू को पकड़ कर उपस्थित नहीं किया, तो फाँसी पर चढ़ा दिया जायेगा। मंत्री अभयकुमार अपने गुप्तचरों का जाल बिछा कर अंत में राजमहल में ही चोरी के लिए घुसते रौहिणेय को पकड़वा लेता है। पर रौहिणेय इतना चतुर है कि वह अपने को शालिग्राम का निवासी दुर्गचंड नामका किसान बताता है और शालिग्राम के निवासियों से इसकी पुष्टि के लिए गवाही भी दिलवा देता है। राजा जानते हैं कि यह वास्तव में डाकू ही है, छल कर रहा है, और वे उसे फाँसी पर चढ़ाये जाने का आदेश भी देना चाहते हैं, पर मंत्री अभयकुमार कहता है कि नीति के अनुसार अपराध सिद्ध हुए बिना दंड नहीं दिया जा सकता। वह यह चुनौती भी स्वीकार करता है कि रौहिणेय के

मुँह से उसका अपराध स्वीकार करवा लेगा। इसके लिए रौहिणेय को राजमहल में सत्कारपूर्वक ठहराया जाता है, उसे खूब मदिरा पिलायी जाती है और सोकर उठने के पश्चात् पहले से तैयार नटमंडली के लोग गायन-वादन करते हुए उसके आगे नाटक रच कर कहते हैं कि आप स्वर्ग में आ गये हैं, आपने भूलोक में कोई अपराध किया हो, तो इसे स्वीकार करने पर देवराज इंद्र आपसे भेंट करेंगे और स्वर्ग में आपको प्रवेश देंगे। मदमत्त होने के कारण रौहिणेय अपने अपराधी जीवन का सारा भंडाफोड़ करने ही वाला है कि उसका ध्यान इस बात पर जाता है कि अपने आपको गंधर्व और अप्सरा बताने वाले लोगों को पसीना आ रहा है, उनके द्वारा पहने हुए फूलों की मालाएँ कुम्हलायी हुई हैं और वे धरती पर खड़े हैं। उसे अनिच्छापूर्वक सुना हुआ महावीर स्वामी का यह वचन स्मरण आता है कि देवताओं को पसीना नहीं आता, उनके फूलों की मालाएँ नहीं कुम्हलातीं और उनके चरण धरती को स्पर्श नहीं करते। रौहिणेय तत्काल समझ जाता है कि यह सब छल है और वह फिर नाटक करता हुआ अपने आपको धर्मात्मा बताने लगता है। अंत में राजा मंत्री के कहने से उसके आगे हार मान कर उसे इस शर्त पर छोड़ देने का वचन देते हैं कि वह अपनी वास्तविकता बता दे। रौहिणेय अपना सच्चा परिचय देता है और अपने द्वारा चोरी-डकैती में पाया हुआ धन तथा अपहृत की गयी स्त्रियों को लौटा कर महावीर स्वामी की शरण में चला जाता है।

कपटजाल की रचना, भिन्न प्रकार के नायक की परिकल्पना तथा संवादों की रोचकता के कारण प्रबुद्धरौहिणेय संस्कृत नाट्यसाहित्य की अनमोल धरोहर है।

भोजवंशीय राजा अर्जुन की प्रशस्ति में मदन कवि ने **पारिजातमंजरी** नामक नाटिका लिखी थी, जिसके दो ही अंक धार में भोज के बनवाये सरस्वतीकंठाभरण प्रासाद की शिलाओं पर उत्कीर्ण लिपि का उद्धार करके प्राप्त किये जा सके हैं। इसकी रचना १२१३ ई० में हुई। मदन कवि गौड देश के थे तथा धारा की राजसभा में कविराज की उपाधि से विभूषित किये गये थे। राजा अर्जुन के तीन ताम्रपत्रों के लेख भी इन्होंने ही लिखे। इस नाटिका में राजा अर्जुन का नायिका पारिजातमंजरी से प्रणयव्यापार चित्रित है।

ज्योतिरीश्वर ठाकुर १३वीं शताब्दी में मिथिलानरेश हरिसिंहदेव के राजकवि थे। इनका लिखा **धूर्तसमागम** प्रहसनसाहित्य में उल्लेखनीय है। इसमें एक दुष्ट परिव्राजक (संन्यासी) विश्वनगर और उसके शिष्य दुराचार के बीच एक गणिका अनंगलेखा को लेकर कलह का चित्रण किया गया है। गणिका की सलाह पर ये दोनों असज्जाति नामक ब्राह्मण के पास निर्णय के लिए जाते हैं। विवाद में निर्णायक बनने वाले असज्जाति मिश्र भी अनंगसेना पर लट्टू हो जाते हैं, दूसरी ओर मूलनाशक नामक नापित (नाई) का अनंगसेना पर ऋण बाकी है, वह अपना ऋण माँगने आता है तो उसका ऋण चुका कर मिश्र अनंगसेना को अपने पास रख लेते हैं। फिर नापित से अपनी सेवा करने को कहते हैं, नापित उल्टे उन्हें बाँध कर चंपत हो जाता है। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के अनुयायियों के पाखंड पर इस प्रहसन में करारा व्यंग्य किया गया है।

प्राचीन प्रहसनों में तिरुमलनाथ का **कुहनाभैक्षव** अप्रकाशित और महत्त्वपूर्ण कृति है। तिरुमलनाथ शिंगभूपाल (१३८१-१४२१ ई०) के सभाकवि थे। आंध्र की लोकरीतियों और लोकाचार के चित्रण के कारण यह प्रहसन रुचिकर बन गया है। प्रस्तावना में ही विप्रश्निका नामक ओझाइन सूप से धान फटकने का प्रदर्शन करती हुई सूत्रधार की पुत्री के उसके दामाद से पुनर्मिलन की भविष्यवाणी करती है, तथा दक्षिणा में पान, सुपारी व आटा माँगती है। साधु आत्मयोनि तथा शिष्य दामोदर इस प्रहसन के मुख्य पात्र हैं। साधु के देवदासी चंद्ररेखा पर आसक्ति का चित्रण किया गया है। चंद्ररेखा राजा के छत्रधारी अहमदखान नामक मुसलमान के वश में है। उसकी शिष्या शंखकौशिकी अपने गुरु के उन्माद का उपचार करने का प्रयास करती है। गुरु का स्त्रीवेश बनाकर अपनी प्रिया से मिलने जाना और एक बंदर के द्वारा उन्हें डराया जाना, फिर अहमद खान के सेवक रजा खान के द्वारा उन्हें बंदर समझ कर उनकी पिटाई—इस प्रकार के हास्योत्पादक दृश्यों से यह प्रहसन भरपूर है। विडंबनापूर्ण स्थितियों तथा मुस्लिम पात्रों के प्रवेश के कारण कुहनाभैक्षव एक निराली रचना है।

गुजरात के प्रख्यात साहित्यकार तथा राजामात्य वस्तुपाल (वसंतपाल) के समकालीन और वसंतविलास महाकाव्य के प्रणेता बालचंद्र सूरि ने एक अंक का **करुणावज्रायुध** नामक श्रीगदित लिखा। इसकी रचना १२४० ई० के पूर्व हुई। इस उपरूपक में वज्रायुध नामक राजा का त्याग व बलिदान चित्रित है।

ऐतिहासिक नाटकों में **हम्मीरमदमर्दन** महत्त्वपूर्ण है। इसके रचयिता जयसिंह सूरि हैं। ये भी महामात्य वस्तुपाल के समय में हुए। इस नाटक में राजा वीरधवल का हम्मीर से युद्ध तथा हम्मीर की पराजय चित्रित है। उस समय की सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति पर भी इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। हम्मीर से हुए युद्ध में सौराष्ट्र का राजा भीमसिंह तथा मरुदेश के राजा सोमसिंह, उदयसिंह, धारावर्ष महीतट का राजा विक्रमादित्य और लाट देश का राजा सहजपाल वीरधवल की सहायता करते हैं। हम्मीर की सेना का पराजित मेवाड़ की जनता पर अत्याचार का चित्रण रोंगटे खड़े कर देने वाला है। बगदाद के खलीफा से भी मंत्री तेजःपाल की वार्ता का प्रसंग इस नाटक में है। राजनीति की चालों का निरूपण मुद्राराक्षस के समकक्ष है। मिथ्या वार्ता, छद्मवेश तथा गुप्तचरों के कार्यकलापों के कारण नाटक रोमांचक बन गया है। तुर्कों के आक्रमण का चित्रण उस समय की यथार्थ स्थितियों को सामने रखता है। नाटक में आद्यंत वीररस के प्रवाह, ओजस्वी भाषा तथा छंदों और लय के निर्वाह ने उत्कृष्टता प्रदान की है।

तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सुभट ने **दूतांगद नाटक** की रचना की। इस नाटक को स्वयं नाटककार ने छायानाटक बतलाया है। इसके प्रणेता सुभट राजा भीम द्वितीय (११७८-१२३९ ई०) के शासनकाल में रहे, पर दूतांगद नाटक की रचना इन्होंने भीम के उत्तराधिकारी त्रिभुवनपाल के आश्रय में रह कर की। महाकवि सोमेश्वर ने अपने सुरथोत्सव महाकाव्य में सुभट का उल्लेख किया है। सुरथोत्सव महाकाव्य की रचना १२२७ ई० के आसपास हुई। दूतांगद नाटक में इस नाटक का अभिनय कुमारपाल की

यात्रा के महोत्सव में सन् १२४३ ई० में होने की सूचना मिलती है। इससे सुभट का जीवनकाल बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लगा कर तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक निश्चित होता है।

महाकवि सोमेश्वर ने सुभट को कविप्रवर (श्रेष्ठ कवि) कहा है, तथा दूतांगद की प्रस्तावना में भी सुभट को पदवाक्यप्रमाणपारंगत बताया गया है। इससे सिद्ध होता है कि सुभट ने एक कवि तथा आचार्य के रूप में अपने जीवनकाल में ही प्रचुर ख्याति अर्जित की थी।

दूतांगद में चार अंक हैं। इसमें मायामयी सीता वास्तविक सीता का अभिनय करती है। इस छाया सीता के पात्र की परिकल्पना के कारण ही इस नाटक को सुभट ने छायानाटक कहा होगा। इस नाटक में राम के समुद्र पार करके सुवेल पर्वत पर पहुँचने से लेकर रावण से उनके युद्ध तक की कथा नाटकीय रूप में विन्यस्त है। मुख्य प्रसंग अंगद का राम का दूत बन कर रावण के पास जाना है। वहाँ मायामैथिली प्रहस्त के साथ आती है और अंगद के देखते देखते 'जयतु जयतत्वार्यपुत्रः' कह कर रावण के अंक में बैठ जाती है। अंगद समझ जाते हैं कि यह तो मायासीता है और वे कहते हैं— 'न खलु भवती जानकी।' अंगद का रावण के साथ संवाद बड़ा ओजस्वी तथा रोचक है। अंगद रावण को उसकी वास्तविकता बताते हुए कहते हैं—

रे रे रावण रावणाः कति बहूनेतान् वयं सुश्रुम
प्रागेकं किल कार्तवीर्यनृपतेर्दोर्दण्डपिण्डीकृतम्।
एकं नर्तनदापितान्नकवलं दैत्येन्द्रदासीजनै-
रेकं वक्तुमपत्रपामह इति त्वं तेषु कोऽन्योऽथवा ?॥ (२२)

(हे रावण, संसार में कितने रावण हैं। हमने भी कुछ रावणों के विषय में सुना है। इनमें से एक का तो पहले कार्तवीर्य राजा की भुजाओं ने कचूमर निकाल दिया था। दूसरे को दैत्यराज बलि की दासियाँ नचा-नचा कर अनाज के टुकड़े देती थीं। एक और रावण है, उसके विषय में तो हमें कहने में ही लज्जा आती है। तू इन रावणों में से कौन सा रावण है—या तू इनके अतिरिक्त कोई और रावण है ?)

इस प्रकार के संवादों की तुलसी के रामचरितमानस आदि में छाया देखी जा सकती है। नाटक के अंतिम अंक में दो गंधर्वों के द्वारा राम-रावण-युद्ध का वर्णन कराया गया है।

सुप्रसिद्ध कवि, विद्वान् तथा मंत्री वस्तुपाल के आश्रित महाकवि सोमेश्वर की ऊपर चर्चा की गयी है। इन्होंने **उल्लाघराघव नाटक** की रचना की थी। इस नाटक की प्रस्तावना के अनुसार वस्तुपाल ने इनकी प्रशस्ति में कहा था—

यस्यास्ते मुखपङ्कजे सुखमृचां वेदः स्मृतीर्वेद यः।
त्रेता सद्मनि यस्य यस्य रसना सूते च सूक्तामृतम्।
राजानः श्रियमर्जयन्ति महतीं यत्पूजया गूर्जराः
कर्तुं तस्य च संस्तुतिं जगति कः सोमेश्वरस्येश्वरः॥ (उल्लाघ०, १/८)

उल्लाघराघव की रचना सोमेश्वर ने अपने पुत्र लल्लशर्मा के आग्रह पर की तथा इसका अभिनय द्वारिका के मंदिर में प्रबोधिनी एकादशी के अवसर पर हुआ था। सुरथोत्सव तथा कीर्तिकौमुदी ये दो महाकाव्य, कर्णामृतप्रपा नीतिकाव्य तथा रामशतक, आबूमंदिरप्रशस्ति आदि सोमेश्वर की अन्य रचनाएँ हैं।

उल्लाघराघव नाटक में सीतास्वयंवर से लेकर रावण-वध तक की कथा निरूपित है। संवादों में संगीतात्मकता का निर्वाह सोमेश्वर ने निरन्तर किया है, जिससे इस नाटक में अभिनेयता की नयी दिशा उन्मीलित हुई है। कथानक में कतिपय नयी कल्पनाएँ जोड़ी गयी हैं, जैसे मंथरा कैकेयी को समझा रही है, और कैकेयी उसकी बात नहीं मानती, तो वह कैकेयी को मोहनमंत्र से अभिमंत्रित पान खिला देती है। रावण के अवलोकनार्थ राम और लक्ष्मण के चित्र बनवा कर प्रस्तुत किये जाते हैं। इसी प्रकार मथुरा के राजा लवणासुर के षड्यंत्र पर उसका एक गुप्तचर भरत को राम आदि के मारे जाने और सीता के सती हो जाने का मिथ्या समाचार दे देता है। इसी समय रावण-विजय के अनंतर विभीषण विमान से उतर कर वहीं पहुँचते हैं और भरत उन्हें भ्रम से रावण समझ कर उनसे भिड़ने को तैयार हो जाते हैं। राम के उदात्त चरित्र की प्रस्तुति तथा वर्णन-कला के सौन्दर्य के कारण नाटक प्रशस्य है।

तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में महाकवि हरिहर ने **शंखपराभव** व्यायोग की रचना की, जो ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित है। इसमें लाट देश के राजा शंख का देवगिरि के राजा सिंहण से विवाद तथा संघर्ष चित्रित है। खंभात का शासक वस्तुपाल शंख से युद्ध करता है, जिसमें राजा शंख पराजित होकर भाग जाता है। इस व्यायोग में युद्ध आदि के वर्णन बंदियों और मागधों के संवादों के द्वारा कराये गये हैं। संवादों की ओजस्विता और लयात्मकता मनोहारी है।

तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विरचित **द्रौपदीस्वयंवर** दो अंकों का श्रीगदित है। इसके प्रणेता महाकवि विजयपाल हैं। इनके पिता कविराज सिद्धराज तथा पितामह श्रीपाल चालुक्यनरेशों के द्वारा सम्मानित रहे। इसमें अर्जुन के द्वारा मत्स्यवेध करके स्वयंवर में द्रौपदी को पाने का महाभारतीय वृत्तांत निरूपित है।

तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही विद्यानाथ ने **प्रतापरुद्रकल्याण** नामक ऐतिहासिक नाटक की रचना की। विद्यानाथ काकतीय वंश के राजा प्रतापरुद्र (१२९६-१३२६ ई०) के सभाकवि थे। प्रतापरुद्रकल्याण की रचना इनके राज्याभिषेक के अवसर पर हुई। इस नाटक में प्रतापरुद्र की वंशावली तथा उनकी नानी रुद्रांबा का चरित्र प्रामाणिक रूप से चित्रित है, पर प्रतापरुद्र की प्रशस्ति और दिग्विजय के निरूपण में अतिशयोक्ति की गयी है। इसी के आदर्श पर महाकवि हस्तिमल्ल ने मैथिलीकल्याण और हस्तिमल्ल के पौत्र ब्रह्मसूरि ने ज्योति:प्रभाकल्याण नाटक लिखा। प्रतापरुद्र के ही अन्य आश्रित सभाकवियों में नरसिंह ने आठ अंकों में बाणभट्ट की अमर गद्यरचना पर आधारित कादंबरीकल्याण तथा नरसिंह के भाई विश्वनाथ ने **सौगंधिकाहरणव्यायोग** की रचना की।

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के कवियों में महाकवि हस्तिमल्ल उल्लेखनीय हैं। ये पांड्य राजा के आश्रित थे। इन्हें अपने जीवनकाल में अनेक सम्मान तथा उपाधियों से विभूषित किया गया। इनका रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी तक प्रसृत है। इनके लिखे हुए चार रूपक मिलते हैं—**विक्रांतकौरव** नाटक, **मैथिलीकल्याण, अंजनापवनंजय** तथा **सुभद्रा**। इनके अतिरिक्त भी हस्तिमल्ल ने कतिपय रूपक लिखे थे तथा कन्नड़ भाषा में इन्होंने **आदिपुराण** और **श्रीपुराण** की रचना की थी।

विक्रांतकौरव नाटक में कुरुराज जयकुमार तथा काशीनरेश अकंपन की कन्या सुलोचना के प्रेम की कथा है। शृंगार और वीर रसों की धारा इस नाटक में निरन्तर प्रवहमाण है। सुलोचना स्वयंवर में जयकुमार का वरण करती है, तब जयकुमार का अन्य राजाओं से युद्ध होता है। नाटक के तीसरे अंक में बाण की शैली में काशी के वारवाट (वेश्याओं के मुहल्ले) का वर्णन एक ही पात्र के कथन (एकालाप) के द्वारा कराया गया है। मैथिलीकल्याण नाटक रामकथा पर आधारित है। इसमें स्वयंवर के पूर्व उपवन में सीता राम को देख कर उन पर मोहित हो जाती हैं। इस प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कवि ने राम और सीता का माधवीवन में पुनः मिलना, सीता के मन में राम के प्रेम को लेकर शंका होना, उनका रूठना तथा राम का मनाना, फिर केतकी पत्र पर लिख कर राम को संदेश भेजना, विरहव्यथा में सीता का शीतोपचार, उनके मनोरंजन के लिए सखियों के द्वारा कामसंबंधी नाटक खेला जाना इस प्रकार की अनेक घटनाएँ चित्रित हैं, जिनमें अनावश्यक रूप से राम और सीता को शृंगारबहुल नाटिकाओं के नायक-नायिका जैसा बना दिया गया है। इसके पश्चात् सीता का स्वयंवर होता है। राम को कवि ने एक साधारण रसिक नागरिक की भाँति गणिका, वेषवनिता आदि की चर्चा करते हुए तथा मदनोपचार का सेवन करते हुए दिखा दिया है। हस्तिमल्ल के द्वारा रामकथा की मर्यादा का इस तरह भंग करना अशोभनीय तथा निंदनीय है।

सात अंकों के अंजनापवनंजय नाटक में महेंद्रपुर की राजकुमारी अंजना तथा विद्याधरकुमार पवनंजय के प्रेम की कथा है। यह विमलसूरि के पउमचरिउ पर आधारित है। अंजना स्वयंवर में पवनंजय का वरण करती है। इसके पश्चात् पवनंजय के पिता प्रह्लाद के द्वारा रावण के दो सेनापतियों खर और दूषण को छुड़ाने के लिए वरुण की नगरी पातालपुरी पर आक्रमण व पवनंजय का युद्ध तथा विजय वर्णित है। युद्ध से लौट कर आने पर पवनंजय को विदित होता है कि अंजना अपने पिता के घर चली गयी है। वह अंजना के वियोग में बावला हो जाता है। इसी बीच अंजना उसके पुत्र हनुमान् को जन्म देती है।

सुभद्रा नाटिका में विद्याधर राजा नमि की बहिन और कच्छराज की कन्या सुभद्रा तथा तीर्थंकर वृषभ के पुत्र भरत के प्रेम और विवाह की कथा है।

हम्मीरमहाकाव्य के प्रणेता नयचंद्र ने अपने आश्रयदाता जयसिंह (११७०-११९३ ई०) की प्रणयकथा को चित्रित करते हुए **रंभामंजरी** नाटिका की रचना की।

इस पर राजशेखर की कर्पूरमंजरी तथा लीलानाट्यों की शैली का गहरा प्रभाव है। लाटदेश की राजकुमारी रंभा के साथ जयसिंह का विवाह रंगमंच पर कराया गया है, जिसमें विवाह के लोकाचारों का रोचक चित्रण है। नायिका को उसके भवन की खिड़की के साथ लगे अशोक वृक्ष की डाल के सहारे उसकी सखी खिड़की से बाहर निकाल लाती है—यह दृश्य यहाँ दिखाया गया है, जो संस्कृत नाटक में अभूतपूर्व ही है। कवि सूत्रधार के रूप में नाटिका में चल रहे प्रसंगों का काव्यात्मक वर्णन करता चलता है। नायक और नायिका के सुरतव्यापार का निर्मयाद वर्णन भी वह करता है, जो साहित्य की अधोगति को ही प्रदर्शित करता है। फिर भी रंभामंजरी कई दृष्टियों से अपूर्व रचना है। इसमें वैतालिकों के गीत अपभ्रंश भाषा में हैं, जिनमें लयात्मकता और लोकभाषा के छंदों की बानगी मनोहारी है।

विंटरनित्स ने अपने संस्कृतसाहित्य के इतिहास में गुजरातनिवासी देवजीति के पुत्र रामकृष्ण के द्वारा विरचित लीला नाटक **गोपालकेलिचंद्रिका** का उल्लेख किया है। इसके रचनाकार का समय अज्ञात है। पर वह महानाटक तथा रामानुज से परिचित प्रतीत होता है, अतः इसकी रचना बारहवीं शती के पश्चात् हुई। यह पूरा नाटक रासलीला की शैली में रचा गया है। इसमें प्राकृत का कहीं भी प्रयोग न करके सारे संवादों को संस्कृत में ही निबद्ध किया गया है। संवादों में पद्यों की प्रचुरता है, तथा लयात्मकता और गेयता का सुंदर समन्वय है।

तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कुलशेखर रविवर्मा ने पाँच अंकों का प्रद्युम्नाभ्युदय नाटक लिखा है। रविवर्मा केरल में कोलंब (क्विलन) के राजा थे। उन्हें दक्षिण का भोज कहा जाता है। समुद्रबंध तथा कविभूषण आदि साहित्यकार इनके आश्रय में रहे। प्रद्युम्नाभ्युदय का अभिनय पद्मनाथ के मंदिर की यात्रा के अवसर पर हुआ। इसमें प्रद्युम्न और वज्रनाभ की कन्या प्रभावती के प्रेम और विवाह का कथानक है। यह कथा हरिवंश- पुराण पर आधारित है। नाटक में शृंगाररस की प्रधानता के साथ वीररस का उत्तम परिपाक हुआ है।

वेंकटनाथ का **संकल्पसूर्योदय** प्रतीकात्मक नाटक है। वेंकटनाथ अपने समय के एक महान् वेदांती और आचार्य तथा कवि के रूप में विख्यात हैं। इनका समय तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों का संधिकाल है। इनकी मृत्यु १३६९ ई० में हुई थी। रामानुजाचार्य इनके मामा थे। इन्होंने शताधिक ग्रंथों की रचना की है। अपने समय के अनेक दिग्गज पंडितों को इन्होंने शास्त्रार्थ में हराया। इनके शास्त्रार्थ को शतदूषणी तथा परमतभंग के नाम से ग्रंथों के रूप में उपनिबद्ध भी किया गया। अहींद्रनगर तथा विजयनगर के राजा ने इनका सम्मान किया।

संकल्पसूर्योदय में महाराज विवेक और उसकी पत्नी सुमति पुरुष को संसार के बंधनों से मुक्त करने का प्रयास कर रहे हैं। प्रतिनायक महामोह पुरुष को मोह में फँसाये रखने के लिए बौद्ध, जैन आदि मतों का प्रवर्तन करता है। वह काम, क्रोध, लोभ,

तृष्णा, वसंत आदि की सेना के द्वारा पुरुष पर आक्रमण कर देता है। विवेक महामोह के इस व्यूह का भेदन कर देता है। फिर वह अपने सारथि तर्क को पुरुष की समाधि के लिए उपयुक्त स्थान खोजने का आदेश देता है। महामोह का नाश होता है और पुरुष समाधि के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।

संकल्पसूर्योदय नाटक में साठ से भी अधिक प्रतीकात्मक पात्र हैं। प्रबोधचंद्रोदय के ही समान विवेक और महामोह के दो पक्षों का निरन्तर द्वन्द्व यहाँ प्रदर्शित किया गया है। गुरु, शिष्य, नारद, तुंबुरु आदि मानव या दिव्य पात्र भी इसमें हैं। शास्त्रचर्चा और पांडित्य का इस नाटक में प्रकर्ष हुआ है। शांतरस का अंगीरस के रूप में आद्यंत निर्वाह भी वेंकटनाथ ने किया है। एक आचार्य की दृष्टि से वे अन्य रसों की तुलना में शांत की श्रेष्ठता का अपने नाटक के आरम्भ में ही उद्घोष करते हैं—

असभ्यपरिपाटिकामधिकरोति शृङ्गारिता
परस्परतिरस्कृतिं परिचिनोति वीरायितम्।
विरुद्धगतिरद्भुतस्तदल्पसारैः परैः
शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्तखेदो रसः॥ (१/१९)

श्रृंगार रस की भी बाध्य रस के रूप में चर्चा इस नाटक में है। वेंकटनाथ ने बड़े कौशल से श्रृंगार के भीतर छिपे बीभत्स का दिग्दर्शन कराया है। अनेक सुंदर सूक्तियाँ इस नाटक में भरी पड़ी हैं।

वामनभट्टबाण के रूपक—वरदाग्निचित् के पौत्र तथा गोमतियज्वा के पुत्र वामनभट्टबाण वेदान्त के महान्आचार्य विद्यारण्य के शिष्य थे। १३८० ई० में उत्कीर्ण देवराय प्रथम के एक शिलालेख के वे प्रणेता हैं। उनकी रचनाओं में दो महाकाव्य, एक खण्डकाव्य, एक गद्यकाव्य चार रूपक तथा दो कोश ग्रन्थ उल्लेख्य है। उनकी नाट्य कृतियाँ हैं—श्रृंगारभूषण भाण, पार्वतीपरिणय नाटक, वाणासुरविजय नाटक तथा कनकलेखाकल्याण।

श्रृंगारभूषण भाण[१] में विलासशेखर विट नायिका अनंगमंजरी के प्रथमार्तव महोत्सव में सम्मिलित होने के लिये घर से निकलता है। वेशवाट के वातावरण, पिता के धार्मिक अनुष्ठानों का त्याग कर गणिका के घर रमने वाले ब्राह्मण पुत्र, गणिका के लिये शस्त्र से द्वन्द्व करने वाले प्रेमी गणिका की कन्दुक क्रीडा, डोला (झूला) आदि का सरस, सजीव, चित्ताकर्षक और यथार्थ वर्णन वामन भट्ट बाण ने यहाँ किया है, जिससे यह रचना चतुर्भाणी की भाँति महत्त्वपूर्ण बन गई है। अभिव्यक्ति की प्रांजलता और कल्पनाशीलता का इसमें मणि-काञ्चन-योग हुआ है। दक्षिण के रईसों का रहनसहन यह भाण बेबाक ढंग से निरूपित करता है, विशेषत: कलत्रपत्र (गणिका को पत्नी के रूप में घर में रखने का लिखित अनुबन्ध) का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है (पृ० १५) नये

---

१. अन्य रचनाओं के परिचय के लिये अ० देखें

२. काव्यमाला - ५८ में प्रकाशित।

मुहावरों के विन्यास से इसकी भाषा सप्राण बन गई है। उदाहरण के लिये—गन्तृच्छायां परित्यज्यागामिनी छाया गृहीतव्या (पृ० ८), काकोऽपि रटतु घटीयन्त्रं च प्रवर्तताम् (पृ० १०) वृद्ध वारविलासिनी वानरी भवति (पृ० १५) आदि।

पार्वती परिणय नाटक में पाँच अंकों में कालिदास के कुमार सम्भव का कथानक रूपान्तरित किया गया है। बाणासुर विजय में भी पाँच अंक हैं। इसमें उषा और अनिरुद्ध के प्रेम तथा श्रीकृष्ण द्वारा बाणासुर को परास्त करने का आख्यान है। कनक लेखाकल्याण नाटिका में राजा विजयवर्मा चार दाँत वाले हाथी की खोज में मृगया के लिये वन में जाता है और विद्याधर कन्या कनकलेखा के प्रणयपाश में बँध जाता है। पूरी नाटिका में वाक्यावली तथा प्रसंगों के विन्यास में कालिदास (विशेषत: उनके शाकुन्तल) व श्रीहर्ष की रत्नावली का गहरा प्रभाव है। अन्यच्छाया सौन्दर्य का रुचिकर निदर्शन यह नाटिका प्रस्तुत करती है। वन का सजीव व यथार्थ वर्णन बाण के विन्ध्याटवी और भवभूति के दण्डकारण्य के वर्णनों का स्मरण दिला देता है। नायकको नायिका से मिलाने के लिये विरूपाक्ष नामक सिद्ध राजशेखर की विद्धशालभञ्जिका के भैरवानन्द के जैसी भूमिका निभाता है। वस्तुत: वामनभट्ट बाण ने अपने पहले के साहित्यकारों से बहुत कुछ लिया है, तो उसमें अपनी उर्वर कल्पनाशीलता से बहुत कुछ जोड़ा भी है। भाषा और भावों की सम्पन्नता तथा विविध साहित्य विधाओं में रचना की दक्षता को देखते हुए निस्सन्देह उन्हें विस्तार काल के श्रेष्ठ रचनाकारों में परिगणित किया जा सकता है।

चौदहवीं शताब्दी के महाकवि उमापति का पारिजातहरण नाटक संस्कृत संवादों के साथ-साथ मैथिली भाषा के गीतों के विन्यास तथा लीलानाट्य की कीर्तनिया शैली के प्रयोग के कारण उल्लेखनीय है। उमापति उपाध्याय मिथिला के कोइलख गाँव में हुए थे। ये राजा हरिहरदेव की सभा में समादृत हुए। इनकी भाषा में जयदेव के गीतगोविंद की माधुरी भरी हुई है तथा अनुप्रासों की श्रुतिमधुर झंकृति सर्वत्र अनुगुंजित है। पारिजातहरण नाटक में सत्यभामा को प्रसन्न करने के लिए कृष्ण के द्वारा स्वर्ग के पारिजात वृक्ष लाने की कथा है।

हरिहर उपाध्याय का भर्तृहरिनिर्वेद नाटक चौंदहवीं या पंद्रहवीं शताब्दी के लगभग रचा गया। इसके प्रणेता हरिहर उपाध्याय संभवत: मिथिला के निवासी थे। भर्तृहरिनिर्वेद का एक पद्य बल्लालसेन ने भोजप्रबंध में उद्धृत किया है। भर्तृहरि की जीवनगाथा लोककथा लोकनाट्य की परम्पराओं में अनेक रूपों में प्रयुक्त होती आयी है। संस्कृत नाटकों का प्रचलित लीक से हट कर रचा गया भर्तृहरिनिर्वेद एक अर्थ में निर्वेदपर्यवसायी नाटक है।

चौदहवीं शताब्दी की अन्य रचनाओं में मोक्षादित्य का **भीमविक्रमव्यायोग,** सिंहभूपाल की **कुवलयावली नाटिका,** भास्कर कवि का उन्मत्तराघव प्रेक्षणक, विश्वनाथ की **चंद्रकला नाटिका,** पूर्ण सरस्वती का मानवीकरणात्मक नाटक

कमलिनीराजहंस, अज्ञात कवि का **विटनिद्रा भाण,** विद्यापति का कीर्तनिया शैली में गुरु गोरखनाथ के चरित पर आधारित **गोरक्षविजयनाटक** आदि उल्लेखनीय हैं। चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी के संधिकाल में हस्तिमल्ल के वंशज ब्रह्मसूरि ने **ज्योतिःप्रभाकल्याण** नाटक लिखा। इसमें वासुदेव (कृष्ण) की पुत्री ज्योतिःप्रभा के अमिततेज नामक विद्याधर से विवाह की कथा है। यह नाटक जैन-परम्परा से संबद्ध है।

पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के रूपक

पंद्रहवीं शताब्दी में रत्नपुर (आधुनिक रायचूर) में कलचुरि राजाओं के आश्रित रामदेव व्यास ने रामाभ्युदय, पांडवाभ्युदय, सुभद्रापरिणयन इन तीन नाटकों की रचना की। पंद्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में विरूपाक्ष ने उन्मत्तराघव नामक प्रेक्षणक की रचना की, जिसमें सीतावियोग में राम की दशा का चित्रण है। इस काल के प्रख्यात टीकाकार तथा कवि अरुणगिरिनाथ का सोमवल्लीयोगानंद एक महत्त्वपूर्ण प्रहसन है। इसमें योगानंद नामक संन्यासी की सोमवल्ली के साथ प्रणयकथा प्रस्तुत की गयी है। जैन तथा कापालिक साधुओं की लंपटता का भी इसमें चित्रण है। अवांतर प्रसंगों में अपनी पत्नी के भाग जाने से दुःखी ब्राह्मण दामोदर, वसंतदत्त व्यापारी, कामवल्ली वेश्या तथा एक नापित भी इसमें मंच पर आते हैं। कामवल्ली के विश्वासघात से चिढ़ कर वसंतदत्त नापित से उसका सिर मुड़वा देता है। सोमवल्ली और योगानंद वेश बदल कर एक-दूसरे से मिलने जाते हैं, और मिलन-स्थल पर एक-दूसरे को न पहचान कर झगड़ा करने लगते हैं। राजपुरुषो के द्वारा पकड़ कर राजा के सम्मुख प्रस्तुत किये जाने पर दोनों की कलइ खुलती है, और राजा की सलाह पर योगानंद संन्यास त्याग कर सोमवल्ली से विवाह करने को तैयार हो जाते हैं।

पंद्रहवीं शताब्दी में रचा गया नेमिनाथकृत **शामामृत** उत्सृष्टिकांक कोटि का निर्वेद-प्रधान रूपक है, जिसमें अपने ही वैवाहिक भोज में मारे जाने के लिए लाये गये हरिणों का विलाप सुन कर नायक नेमिनाथ को वैराग्य हो जाता है। हरिण अपनी हरिणी को बचाने के लिए उसे छेक कर खड़ा हो जाता है और अपनी रक्षा के लिए नायक के समक्ष गुहार लगाता है। पशुओं को मनुष्य की तरह बोलते हुए चित्रित करने के कारण इसे छाया नाटक भी कहा गया है।

गंगाधर ने १४४९ ई० के लगभग **गंगादासप्रतापविलास** नामक ऐतिहासिक नाटक लिखा, जो अहमदाबाद के सुलतान मुहम्मद द्वितीय तथा चांपानेर के राजा गंगादास के युद्ध की वास्तविक घटना प्रस्तुत करता है। इसका अभिनय नाटक के नायक की मोहम्मद शाह पर विजय के उपलक्ष्य में चांपानेर में काली के मंदिर में किया गया था। नाटक के दूसरे अंक में दक्षिण से आया हुआ नाट्यरसिक नामक नाट्याचार्य नायक की राजसभा में आकर उस (नायक) के ही जीवन पर आधारित नाटक खेलने की इच्छा प्रकट करता है, जिससे नाटक के भीतर एक नया नाटक बड़े

रोचक रूप से आरम्भ होता है। युद्ध के दृश्यों के प्रदर्शन के कारण इसमें रंगमंच की सर्वथा भिन्न परिकल्पना है। उर्दू-फारसी के अनेक शब्द इसके संवादों में यथावत् या संस्कृतिकरण करके व्यक्त किये गये हैं। उस समय के गुजरात की सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ स्थिति का भी यह नाटक निदर्शन है।

उद्दंड कवि का **मल्लिकामारुत** दस अंकों का प्रकरण है, जो भवभूति के मालतीमाधव से अत्यधिक प्रभावित है।

रूपगोस्वामी पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के मूर्धन्य कवि तथा आचार्य हैं। इनके काव्यशास्त्रीय ग्रंथ तथा रूपक गौडीय भक्ति संप्रदाय से प्रभावित हैं। इनके सत्रह ग्रंथों का उल्लेख मिलता है, जिनमें तीन रूपक हैं—**विदग्धमाधव** (रचनाकाल १५३२ ई०), **ललितमाधव** (रचनाकाल १५३७ ई०) तथा **दानकेलिकौमुदी** (रचनाकाल १५४९ ई०)। इनमें प्रथम दो नाटक तथा तृतीय भाणिका है। तीनों ही रूपक कृष्णभक्तिपरक हैं तथा इनमें कृष्ण, राधा, सत्यभामा, चंद्रावली आदि पात्र हैं। रूपगोस्वामी की ही भाँति कवि कर्णपूर भी एक आचार्य और कवि के रूप में ख्यात हैं।* इन्होंने चैतन्य के जीवन पर दस अंको में **चैतन्यचंद्रोदय** (रचनाकाल १५७२ ई०) नामक नाटक लिखा। चैतन्य के आविर्भाव से लेकर महानिर्वाण तक की सभी प्रमुख घटनाओं को इस नाटक में चित्रित किया गया है। भक्तिभाव की सरस अभिव्यक्ति तथा उस समय के समाज की विभिन्न प्रवृत्तियों के चित्रण की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है। कर्णपूर ने कृष्णमिश्र के प्रबोधचंद्रोदय की परम्परा को स्वीकार करके अनेक प्रतीकात्मक या अमूर्त पदार्थ पात्र के रूप में इस नाटक में प्रस्तुत किये हैं। दार्शनिक चर्चा की अधिकता तथा धार्मिक विवरणों के कारण नाटकीयता की क्षति हुई है। पहले अंक में ही कलि तथा अधर्म का वार्तालाप है। द्वितीय अंक में विराग और भक्ति की बातचीत है। तृतीय अंक में गर्भांक की योजना की गयी है, जिसमें राधा और कृष्ण पात्र के रूप में आते हैं। नदी-तट पर खेचरी मुद्रा में साधना करते साधुओं के पाखंड का यह वर्णन रोचक है—

> **जिह्वाग्रेण ललाटचन्द्रजसुधास्यन्दावरोधे मह-**
> **द्दाक्ष्यं व्यञ्जयतो निमील्य नयने बद्ध्वासनं ध्यायतः।**
> **अस्योपात्तनदीतटस्य किमयं भङ्गः समाधेरभूत्?**
> (इति सविस्मयं विचिन्त्य) अहो ज्ञातम्-
> **पानीयाहरणप्रवृत्ततरुणीशङ्खस्वनाकर्णनैः॥**

उत्कल प्रदेश के राजा गजपति रुद्र के आश्रित रामानंद ने जगन्नाथवल्लभ संगीत नाटक लिखा।

सोलहवीं शताब्दी में नोआखाली के माणिक्य रत्नाकर ने **कौतुकरत्नाकर** प्रहसन लिखा। इसमें पुण्यवर्जित नगर के दुरितार्णव नामक राजा की हास्यास्पद चेष्टाओं का चित्रण है। धर्मसूरि सोलहवीं शताब्दी के महत्त्वपूर्ण कवि तथा आचार्य हैं। इन्होंने

---

* परिचय के लिए अगला अध्याय (१३) देखें।

नरकासुरविजयव्यायोग तथा कंसवध नाटक के साथ अनेक लघुकाव्यों और साहित्यरत्नाकर नामक काव्यशास्त्र के ग्रंथ की रचना की।

महामहोपाध्याय गोकुलनाथ सोलहवीं शताब्दी के सबसे मूर्धन्य कवि और आचार्य कहे जा सकते हैं। गद्य, नाटक, स्तोत्र तथा शास्त्र आदि विविध विधाओं में लेखनी व्यापृत कर उन्होंने संस्कृत साहित्य के भण्डार को अपूर्व समृद्धि दी। ये मिथिला के निवासी थे, तथा मिथिला के राजा रघुवंशसिंह के आश्रय में रहने के पश्चात् ये गढ़वाल के राजा फतहशाह के राजकवि रहे। इनके दो नाटक प्रसिद्ध हैं—**मुदितमदालसा** तथा **अमृतोदय।** अमृतोदय दार्शनिक दृष्टि से विरचित एक प्रतीकात्मक नाटक है। यह प्रबोधचंद्रोदय की परम्परा में एक और महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसमें दार्शनिक नाटककार ने न्यायदर्शनसम्मत अपवर्ग की प्रतिष्ठा की है। प्रमिति, पक्षता, परामर्श, अनुमिति आदि न्यायदर्शन में प्रतिपादित कोटियों को इसमें पात्र बनाया गया है। परामर्श और पक्षता के बीच नाटककार ने नायक-नायिका-व्यवहार का निरूपण करते हुए शृंगाररस की भी निष्पत्ति की है। नाटक के अंतिम और पाँचवें अंक में विवेक का पुत्र अपवर्ग नायक पुरुष के समक्ष प्रकट होता है।

सोलहवीं शताब्दी की अन्य उल्लेखनीय रचनाएँ हैं—रत्नखेट श्रीनिवास का प्रतीकात्मक नाटक **भावनापुरुषोत्तम**, तिरुमल सठकोप का **वासंतिकापरिणय**, तथा कुमार ताताचार्य का **पारिजातनाटक** और रामानुज का **वसुमतीकल्याण**।

आमेर के राजा रामसिंह (१६६७-७५ ई०) के सभाकवि हरिजीवन मिश्र के लिखे छह महत्त्वपूर्ण प्रहसन ज्ञात हैं—अद्भुततरंग, प्रासंगिकप्रहसन, पलांडुमंडन, **सहृदयानंदप्रहसन, विवुधमोहन** तथा **घृतकुल्यावली**। अंतिम प्रहसन अपूर्ण मिला है। विषयों की विविधता और समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों के पाखंड और दोहरे आचरण के उद्घाटन के कारण ये प्रहसन पठनीय हैं। अद्भुततरंग में तीन अंक हैं तथा राजसभा का दृश्य है। हरिजीवन ने अपने अनुभव के आधार पर राजसभा के सभासदों की हास्यास्पद चेष्टाओं का इसमें चित्रण किया है। राजा मदानांगविक्रम गौडरसमिश्र नामक पंडित के आशीर्वाद देने से क्रुद्ध हो जाता है, और उसे दंड देने की व्यवस्था के विषय में विधवाविध्वंसक नामक ब्राह्मण से परामर्श करता है। अंत में गौडरस तथा राजवैद्य यमानुज को विचित्र दंड दिया जाता है, जिसमें स्त्री बने विदूषक के शयनागार में उन्हें भेज दिया जाता है। प्रासंगिक प्रहसन में सारे पात्र प्रायः हर शब्द को 'प्र' से प्रारम्भ करके वार्तालाप करते हैं। पात्रों के नाम भी 'प्र' से आरम्भ होने वाले हैं। प्रतापपंक्ति राजा, प्रेरक विदूषक तथा प्रकृष्टदेव पंडित आदि इसमें पात्र हैं, तथा वातावरण भी राजसभा का ही है। पलांडुमंडन प्रहसन हरिजीवन मिश्र की मौलिक प्रतिभा तथा हास्यसृष्टि की अद्भुत क्षमता का परिचायक है। इसमें प्रायः सभी पात्रों के नाम खाद्यपदार्थों पर हैं, जिनको वे पसंद करते हैं। पलांडुमंडन ब्राह्मण पलांडु (प्याज) का प्रेमी है। ब्राह्मण लिंगोजी भट्ट की पत्नी चिंचा के गर्भाधान संस्कार का अत्यन्त विकृतिपूर्ण चित्रण इस प्रहसन

में किया गया है। इस अवसर पर लिंगोजी भट्ट की पत्नी पूर्णपोलिका अपनी ननद क्वथिका को बताती है कि उसकी बेटी रक्तमूली गृञ्जनाद्रि से प्रेम करती है। पर बूढ़ा लशुनपंत रक्तमूलिका को चाहता है। अंत में भट्टाचार्य जी के लशुनपंत आदि से भक्ष्यभोज्य पदार्थों के विषय में विवाद के बीच गर्भाधान संस्कार के स्थगित होने की सूचना दी जाती है। विवुधमोहन प्रहसन एकदम भिन्न प्रकार का प्रहसन है, जो प्रहसन के लक्षण और विधान का सर्वथा उल्लंघन करता है। इसमें गृद्ध पंडित सकलागमाचार्य के बेटी पुष्पकलिका राजा प्रतापमार्तंड के आगे रत्नावली और मालतीमाधव के श्लोक सुनाती है। सूत्रधार बताता है कि वह अपनी पुत्री साहित्यमाला का विवाह सकलागमाचार्य के पुत्र अखंडानंद से करना चाहता है। इस प्रहसन में इन पात्रों के बीच प्रचुर शास्त्रीय चर्चा भी है। इसी प्रकार **सहृदयानंद प्रहसन** में तो काव्यशास्त्रविषयक चर्चा की भी भरमार है। अभिधा, लक्षणा, विलक्षणा, आलंकारिक आदि इसमें पात्र हैं।

प्रतिष्ठित विद्वत्कुल में जन्मे शेष श्रीकृष्ण एक कवि और नाटककार के रूप में समादरणीय हैं। इनके पिता नरसिंह व्याकरणशास्त्र के अपने समय के सर्वोच्च पंडितों में से एक थे। वे सोलहवीं शती के पूर्वार्ध में गोदावरी के तट से चल कर काशी आ गये थे। इन्हीं की परम्परा में भट्टोजी दीक्षित और नागोजी भट्ट जैसे प्रकांड वैयाकरण हुए। शेष श्रीकृष्ण ने काशीनरेश गोवर्धनधारी के आश्रय में रह कर बहुसंख्य ग्रंथों का प्रणयन किया। इनका **कंसवध** छह अंकों का नाटक है, जिसमें राधा की वियोग-व्यथा और सुदामा के सख्य का चित्रण करते हुए कवि ने कृष्ण के जन्म से लगा कर कंसवध तक की घटनाओं का चित्रण किया है। शेष श्रीकृष्ण की शैली में परिष्कार, पांडित्य और विदग्धता के साथ सरसता का मणिकांचन योग हुआ है।

इसी शती में यज्ञनारायण दीक्षित (राजचूडामणि) चोल शासक रघुनाथ के आश्रय में रहे तथा उन्होंने अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया। इनके **कमलिनीकलहंस** नाटक में सारे पात्र पक्षी या नैसर्गिक पदार्थ हैं। इसमें सीता और राम के विवाह का एक नाटक भी गर्भांक के रूप में सन्निविष्ट है, जिसमें मृणालिका को राम और कमलजा को सीता का अभिनय करना है। आनंदराघव राजचूडामणि का दूसरा नाटक है, जो रामकथा पर आधारित है। इसमें सीतास्वंयवर से लगा कर रामराज्याभिषेक तक का वृत्तांत निरूपित है। नाटक में पद्यों तथा वर्णनों की प्रचुरता है। 'घटघटायते मे हृदयम्', 'ठात्कृतम्', 'चटचटाध्वान:'—जैसे नये मुहावरे राजचूडामणि की भाषा में पदे-पदे मिलते हैं।

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के रूपक

माधवभट्ट का **सुभद्राहरण** एक अंक का श्रीगदित कोटि का उपरूपक है। इसे छाया नाटक भी कहा गया है। इसमें हास्य की सृष्टि के लिए मदिरा के मद में आघूर्णित बलराम के मुख से अटपटी बोली का प्रयोग कराया गया है, तथा मंच पर एक वानर के उत्पात का भी प्रदर्शन है।

सत्रहवीं शताब्दी के ही कवि रामानंद के हास्यसागर प्रहसन में कलहप्रिया नामक कुट्टनी बिंदुमती नामक ब्राह्मणवधू को मांदुरिक नाम के एक यवन से मिलवाती है। बिंदुमती का भाई इस दुर्वृत्त की सूचना राजा तक पहुँचा कर कुलकलंकिनी का भाँडाफोड़ कर देता है। इस प्रहसन में कवि रामानंद ने औरंगजेब के शासनकाल में हिंदुओं के प्रति होने वाले अनाचारों का चित्रण भी किया है। इस प्रहसन की दूसरी विशेषता यह है कि यद्यपि इसमें सारे संवाद संस्कृत में हैं, पर हीन पात्रों के मुख से कहीं-कहीं उस समय प्रचलित हिन्दी या हिन्दुस्तानी का प्रयोग भी कराया गया है। तत्कालीन राजनीतिक व सामाजिक स्थितियों के चित्रण की दृष्टि से यह प्रहसन यथार्थ का बोध कराता है। इसी तरह गोपीनाथ चक्रवर्ती के कौतुकसर्वस्व प्रकरण में दो अंकों में कलिवत्सल नामक राजा के द्वारा सत्याचार नामक ब्राह्मण पर किये जाने वाले अत्याचारों का वर्णन है। राजा स्वयं अध:पतित है। उसके राज्य में लोग पुराणों व ऋषियों के उपदेशों की हँसी उड़ाते हैं। वह अपने राज्य से सदाचारी ब्राह्मणों को निष्कासित कर देता है, तथा घोषणा कराता है कि सब लोग स्वच्छंद प्रेम और कामोपभोग में लिप्त हो जायें। यह प्रहसन लीक से हट कर बँधी-बँधाई पद्धति से अश्लील हास-परिहास के स्थान पर व्यंग्य तथा समाज के नैतिक स्खलन पर प्रहार करते हुए मनोरंजन करने में सफल है। तलवार से मक्खन की टिकिया काटने एवं मच्छर की उपस्थिति में भय से काँपने वाले सेनापति का चित्रण हास्य की शिष्ट रूप में सृष्टि करता है।

यज्ञनारायण दीक्षित ने राजा रघुनाथ के चरित्र पर ऐतिहासिक नाटक रघुनाथविलास की रचना की। इन्होंने इस नाटक के अतिरिक्त **साहित्यरत्नाकर** महाकाव्य तथा **रघुनाथभूपविजयकाव्य** की भी रचना की थी। इस नाटक में आरम्भ में रघुनाथ की राजसभा में आये नटों का विवाद बड़ा रोचक है। संवादों में दंडी और सुबंधु के समान समासहुल गद्य का प्रयोग है, जो अभिनेयता तथा प्रासादिकता का हनन करता है।

नेपाल के राजा जगज्ज्योतिर्मल्ल ने संगीतप्रधान नाटक **हरगौरीविवाह** की रचना की।

आनंदराय मखी का **विद्यापरिणयन** प्रतीक नाटकों की एक और कड़ी है। इसमें सात अंकों में अद्वैतवेदांत तथा शैवदर्शनों का समन्वय करते हुए नायक जीवराज की नायिका विद्या से परिणय चित्रित है। **सुबालावज्रतुंड** संस्कृत में अपने ढंग का निराला नाटक है। पूर्णसरस्वती के कमलिनीकलहंस की भाँति यह भी पशुपात्रों को लेकर लिखा गया है। किंतु कमलिनीकलहंस की भाँति इसमें गंभीर शृंगार के स्थान पर पंचतंत्र की कथाओं के समान हास्य और व्यंग्य की निराली छटा है। इस नाटक के रचयिता श्रीराम कहे गये हैं, जो अपने आपको किसी राजा का पुत्र बताते हैं। इनका समय अनिर्णीत है। इस नाटक का नायक वज्रतुंड नामक चूहा है, और नायिका सुबाला चुहिया है। इन दोनों के प्रणय व्यापार का चित्रण उसी शब्दावली में किया गया है, जिसमें नाटिकाओं में धीरललित नायक और मुग्धा नायिका का प्रणय चित्रित होता रहा

है। सुबाला का रक्तांग नामक साँप अपहरण कर लेता है, तो चूहों की सेना उससे युद्ध के लिए तैयार होती है। इस नाटक में पाँच अंक हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के विश्वनाथदेव की **मृगांकलेखा** नाटिका (१६०७ ई०) में कलिंगनरेश कर्पूरतिलक की कामरूप की राजकुमारी मृगांकलेखा के साथ प्रेम की कथा है। इस सदी के महाकवि नीलकंठ दीक्षित संस्कृत साहित्य में अपने महनीय अवदान के कारण एक अमिट हस्ताक्षर हैं।* नीलकंठ का नलचरित्र नाटक एक भावपूर्ण नाटक है। इसमें इंद्र का खलनायक के रूप में पुष्कर से मिल कर नल से प्रतिशोध लेने का वृत्तांत कविकल्पित है। दुर्भाग्य से यह नाटक अपूर्ण (छठे अंक तक) मिला है। छठे अंक में इंद्र और पुष्कर मिल कर नल को द्यूत में पराजित करने की योजना बना रहे हैं। नगर में आशंका और आतंक की छाया है, जिसका मार्मिक चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है—

वैधेयेष्वधुना बुधा विशसनाद्यंशेषु संशेरते
स्पृश्यन्ते किमपि द्विजाश्च शनकैः कोपेन लोभेन च।
लक्ष्यन्ते समुपेक्षिता इव पुनर्वीराश्च वीरश्रिया
जाने किं बहुना जगच्च निखिलं मालिन्यमालम्बते ?॥ (६/७)

नीलकंठ ने सर्वत्र प्रसादगुणमयी वैदर्भी रीति का आश्रय लिया है। कालिदास का उनकी शैली पर प्रभाव है। उन्होंने सुरभारती को अभिनव सूक्ति सौरभ से भी सुवासित किया है। उदाहरणार्थ—

अयमसौ कण्टकमुद्धृत्य शल्यप्रक्षेपः।
कः खलु मन्दधीरपि नाम करस्थं रत्नमुत्सृज्य काचं गवेषयते ?
करतले दर्पणे गृहीत्वा कीदृशं ते मुखमिति पृच्छसि ?
अधःपतितः सकृदधः पतति जनः।
कथमङ्गारः कर्णयोरस्य वर्षणीयः ?

नीलकंठ दीक्षित के छोटे भाई अतिरात्रयज्वा ने कुश और कुमुद्वती की प्रेमकथा को लेकर कुशकुमुद्वतीयम् नाटक की रचना की। इस नाटक में कुमुद्वती की जलक्रीड़ा या इस प्रकार के अनेक दृश्य हैं, जिनका अभिनय नाट्यशास्त्र की परम्परा में वर्जित है।

सत्रहवीं शताब्दी के साहित्यकारों में सामराज दीक्षित अपनी बहुमुखी प्रतिभा तथा विविध विधाओं में अपने लेखन के द्वारा सुविश्रुत हैं। ये मूलतः महाराष्ट्रीय ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम नरहरि दीक्षित था। इनके जीवन का उत्तरार्ध बुंदेलखंड के राजा आनंदराय की विद्वत्सभा में प्रधानपंडित के पद को सुशोभित करते हुए बीता। बिंदुपुरंदरे, चिरंतन मोरवडीकर तथा बांधवकर—ये इनकी कुलोपाधियाँ थीं। वार्धक्य काल में ये मथुरा चले गये थे और वहाँ इन्होंने अनेक शक्तिपीठों की स्थापना की। इनका दीक्षानाम सत्यानंदनाथ था। इनके सुपुत्र कामराजदीक्षित (१६८०-१७२०) तथा पौत्र हरदत्त (व्रजराज) दीक्षित और प्रपौत्र जीवनराम दीक्षित भी अपनी अनेक रचनाओं के कारण संस्कृत साहित्य में प्रख्यात हैं।

---

* परिचय के लिए अगला अध्याय (१३) देखें।

सामराज दीक्षित की आठ कृतियाँ प्राप्त होती हैं, जिनमें से दो रूपक हैं— **धूर्तनर्तकम्** (प्रहसन) तथा **श्रीदामचरितम्** (नाटक)। **त्रिपुरसुंदरीस्तोत्र, त्रिपुरसुंदरी-मानसपूजास्तोत्र, पूजारत्न, अक्षरगुंफ, आर्यात्रिशती** तथा **शृंगारामृतलहरी**—ये इनकी अन्य रचनाएँ हैं। कुछ इतिहासकारों ने चित्तवृत्तिकल्याण और जीवन्मुक्तिकल्याण—ये दो दार्शनिक-प्रतीकात्मक रूपक तथा शृंगारसर्वस्वभाण का भी सामराजदीक्षित की रचनाओं में उल्लेख किया है।

दीक्षित जी की नाट्यकृतियों में पांडित्य तथा विदग्धता दोनों का मणिकांचनयोग हुआ है। श्रीदामचरितम् का आधार श्रीमद्भागवत में निरूपित सुदामा की कथा है। इस नाटक के नायक श्रीदामा या सुदामा हैं। इसमें पाँच अंक हैं। भगवद्भक्ति तथा जीवनदर्शन की सरस अभिव्यक्ति के कारण यह कृति संस्कृत रूपकों में विशिष्ट स्थान रखती है। प्रथम अंक में ही दारिद्र्य और दुर्मति—इन दो पात्रों के प्रवेश और संवादों से नाटककार ने प्रतीकात्मक नाटकों के संविधान को भी अपनी रचना में गूँथ दिया है। प्रकृतिवर्णन, सौंदर्यचित्रण तथा भावाभिव्यक्ति के मनोहारी अवसर नाटककार ने श्रीदामचरितम् में सँजोये हैं। मध्याह्न के वर्णन में नायक के मुख से कहलाया गया है—

क्षणं मध्ये स्थित्वा गगनपरिमाणं तुलयति
त्रयीभूते तेजस्यभिहितनिजक्रीडनरसाः।
दलत्पद्माटव्यामभिसृमरमाद्यन्मधुकरी
मरन्दव्यात्यूक्षीमहह दधतेऽमी मधुलिहः॥ (३/११)

एक अंक का धूर्तनर्तक प्रहसन शैव साधुओं का उपहास करता है। साधु मूढेश्वर अपने दो शिष्यों—जगद्वंचक तथा मुखर के साथ वसंततिलका से मिलने जाते हैं। जगद्वंचक जल्दी पहुँच कर गणिका के साथ रागरंग में लिप्त हो जाता है। इसके पश्चात् राजपुरुषों से कहा-सुनी करके दोनों शिष्य अपने ही गुरु को कारागार में बंद करवा देते हैं। साधु को पापाचार नामक राजा के सामने प्रस्तुत किया जाता है। राजा स्वयं वसंततिलका पर मुग्ध होकर सुधबुध खो देता है। मूढेश्वर उसके समक्ष अपनी सिद्धियों का बखान करके उसे मूर्ख बना देता है और अंत में वसंततिलका उसी की मान ली जाती है।

महादेव ने १६६० ई० के लगभग **अद्भुतदर्पण** नाटक की रचना की, जिसमें रामायण की कथा में अद्भुतदर्पण (जादू के दर्पण) का अवतरण एक नयी परिकल्पना है। इस नाटक में शक्तिभद्र के **आश्चर्यचूडामणि** की भाँति पात्रों के बीच एक के बाद एक भ्रांतिजन्य स्थितियाँ निर्मित होती जाती हैं। शंबर असुर को वानर के वेष में राम के पक्ष के लोग पहचान नहीं पाते। मायानाटक इस नाटक में गर्भांक के रूप में समायोजित है, जिसमें रंगमंच चार भागों में विभाजित हो जाता है। पहले भाग में राम, रावण आदि का अभिनय करने वाले मायात्मक पात्र हैं। दूसरे भाग में इस मायानाटक को देखती हुई सीता और सरमा हैं। तीसरे भाग में इन दोनों भागों को छिप कर रावण और महोदर देख रहे हैं, और चौथे भाग में इन तीनों ही दृश्यों को अद्भुत दर्पण में राम देख रहे हैं। अद्भुतदर्पण में नाटकीयता भरपूर है तथा भाषा अभिनयोचित व सरस तथा सरल है।

रामकथाविषयक नाटकों में यह नाटक अंगीरस के रूप में अद्भुत को प्रस्तुत करता है—यह भी इसमें नवीनता है।

प्रभावतीपरिणय नाटक के प्रणेता हरिहर ऋषीकेश झा के पौत्र तथा राघव झा के पुत्र थे। **सूक्तिमुक्तावली या हरिहरसुभाषितम्** इनका प्रख्यात सुभाषितसंग्रह है। भर्तृहरि- निर्वेद नाटक के प्रणेता हरिहर से ये भिन्न हैं। इनका जन्म १५९५ ई० के लगभग हुआ। इसमें वज्रनाभ दैत्य की पुत्री प्रभावती और श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के प्रणय और विवाह की कथा है। इस कथा का मूल हरिवंशपुराण में मिलता है। प्रद्युम्न आदि का नटवेष में वज्रनाभ के पुर में जाना, अंत:पुर में इनका छद्मप्रवेश आदि वृत्तांत बड़े रोचक हैं।

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के साहित्यकारों में विश्वेश्वर पांडेय का नाम अविस्मरणीय है।* इन्होंने अनेक रूपकों की रचना की। इनमें रुक्मिणीपरिणयम् तथा अभिरामराघवम्—ये अनुपलब्ध हैं। नवमालिका इनकी नाटिका है तथा शृंगारमंजरी प्राकृत में विरचित सट्टक है।

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में लिखे संस्कृत नाटकों में चमत्कारप्रदर्शन की प्रवृत्ति कम हुई तथा भाषा की सरलता और विषयवस्तु को बोधगम्य बनाने पर रचनाकारों ने अधिक ध्यान दिया। अपभ्रंश या अवहट्ट भाषाओं का प्रयोग निम्न श्रेणी के पात्रों के संवादों में किया गया अथवा इन भाषाओं में लोकगीत इन नाटकों में जोड़े गये। लीलानाट्य तथा कीर्तनिया शैली का प्रभाव भी इन नाटकों पर पड़ा। संगीतनाटक की नयी विधा इस काल में लोकप्रिय हुई। व्यायोग, समवकार, डिम जैसे रूपकप्रकार प्राय: नहीं लिखे गये, पर प्रहसनों ने अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की। दूसरी ओर कृष्ण मिश्र के प्रबोधचंद्रोदय से प्रवर्तित प्रतीक नाटकों की परम्परा अनेक रूपों में विकसित होती रही। पशु-पक्षियों या वृक्ष-वनस्पतियों को पात्र बना कर नाटक-रचना करने की नई प्रवृत्ति इस काल में विकसित हुई। इस समय देश के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में लिखे गये साहित्य पर वैष्णवभक्ति आंदोलन और चैतन्य का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। नाट्य साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा। लीला-नाट्य तथा हरिकथागायन की शैली ने नाटकों की संरचना को प्रभावित किया। आसाम में दार्शनिक, संत, कवि और नाट्यकार राजा शंकरदेव (१४४९-१५६८ ई०) ने अंकीया नाट नामक रंगमंच के नये एक प्रस्थान को जन्म दिया। इसमें नाट्यशास्त्र और संस्कृत रंगमंच की परम्परा का लोकनाट्य तथा कथागायन की शैली के साथ समागम हुआ है। शंकरदेव ने स्वयं भी इस रंगमंच के लिए नाटक लिखे। शंकरदेव तथा उनके शिष्य माधवदेव के ब्रजभाषा में लिखे छह नाटक मिलते हैं। इन नाटको में सूत्रधार आद्यंत रंगमंच पर उपस्थित रहता है और वह मंच पर चल रही लीला या प्रसंग की व्याख्या करता चलता है। राग और ताल में निबद्ध गीतों की प्रचुरता इन नाटकों की दूसरी बड़ी विशेषता है। गीतों के साथ रागों और तालों का निर्देश भी रहता है।

---

* परिचय के लिए अध्याय १४ देखें।

अठारहवीं शताब्दी के संस्कृत साहित्यकारों में घनश्याम का कर्तृत्व बहुमुखी है। इनके द्वारा विविध विधाओं में सौ ग्रंथ लिखे जाने का उल्लेख मिलता है। उन्होंने दो प्रहसन लिखे—**चंडानुरंजन** तथा **डमरुक**। घनश्याम तंजौर के राजा तुक्कोजी (१७२९-३५) के मंत्री रहे। चंडानुरंजन प्रहसन में कवि ने हास्य की सृष्टि के लिए मनु, याज्ञवल्क्य, बोधायन आदि प्राचीन धर्मशास्त्रियों के ऐसे उद्धरण पात्रों के मुँह से कहलवाये हैं, जो उनके धर्मशास्त्रग्रंथों में वस्तुतः हैं ही नहीं। इस प्रहसन का नायक दीर्घशेफ नामक ब्राह्मण है। वह अपनी पत्नी स्थूलयोनि को अपने शिष्य को सौंप देता है और उससे किसी पवित्र व्यक्ति की पत्नी को लाने के लिए कहता है। इस प्रकार इसमें वैदिकों, कौल संन्यासियों व दिगंबरों की घृणास्पद जीवन और हास्यास्पद चेष्टाओं का चित्रण किया गया है। घनश्याम का दूसरा प्रहसन **'डमरुकम्'** शैली व संरचना में प्रचलित प्रहसन-परम्परा से भिन्न है। इसमें राजविप्रंजन, कलिदूषण, सुकविसंजीवन, कुकविसंतापन आदि दस अलंकार (अध्याय) हैं। घनश्याम के एक तीसरे प्रहसन कुमारविजय का उल्लेख मिलता है, पर यह प्रहसन प्राप्त नहीं है। तंजौरनरेश सरफोजी (१७११-१७२८ ई०) के आश्रित वेंकटेश्वर ने उन्मत्त कविकलश नामक प्रहसन की रचना की। उसमें एक बेडौल रूप वाले कविकलश की बेढब चेष्टाओं का चित्रण है, जो ऋण लेकर कभी लौटाता नहीं है। इस प्रहसन में भी सुरुचि को लाँघ कर नग्न कामुकता का चित्रण किया गया है। जगदीश भट्टाचार्य के प्रहसन हास्यार्णव की भी यही स्थिति है। इसमें कामोपभोग में लिप्त अनयसिंधु नामक राजा का चित्रण है। राजा अयथार्थवादी नामक चर से राज्य की गतिविधियों के विषय में सूचना प्राप्त करके कुमतिवर्मा नामक मंत्री की सलाह पर एक कुट्टिनी के घर में सभा बुलवाता है। इसमें राजा, मंत्री आदि सभी के अधःपतन पर छींटाकशी की गयी है।

इसी शताब्दी की रचनाओं में देवकवि का **विद्यापरिणय** और **जीवानंद** तथा भूदेवशुक्ल का **धर्मविजय**—ये तीन दार्शनिक-प्रतीकात्मक रूपक भी परिगणीय हैं। मलारी आराध्य का **शिवलिंगसूर्योदय** धार्मिक-दार्शनिक नाटक है।

अठारहवीं शताब्दी के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रहसनों में रामपाणिवाद (परिचय के लिए अगला अध्याय देखें) का **मदनकेतुचरित** उल्लेखनीय है। यह भगवदज्जुकीयम् से प्रभावित है। राजा मदनकेतु और विष्णुमित्र भिक्षु इसके प्रमुख पात्र हैं, तथा एक ही देह में दूसरे के जीव के प्रवेश से संभ्रम और हास्य की स्थिति निर्मित की गयी है। इसी शताब्दी में कृष्णदत्त का **सांद्रकुतूहल** प्रहसन लीक से हट कर रचा गया एक विचित्र प्रहसन है। इसमें चार अंकों में अनेक कौतुकों का वर्णन है। पहले अंक में सुखाकर, क्षपाकर, गुहाकर तथा सुधाकर नामक चार ब्राह्मणों की वाणी की चतुराई दिखायी गयी है। दूसरे अंक में प्रभाकर व क्षपाकर नामक दो कवि अपनी कविता का चमत्कार प्रदर्शित करते हैं। तीसरे अंक में पिता दिवाकर की अपने पुत्र गुहाकर से बातचीत है, जिसमें पुत्र स्मार्त, वैष्णव व पाशुपात संप्रदायों की निन्दा करता हुआ नारी को ही संसार का सार बताता है। चौथे अंक में दोषाकार और उनके पुत्र सुधाकर का जीवन-चरित और नीलपाद तथा कर्कशा के विवाह की कथा है। प्रधान वेंकप्प के **कुक्षिंभर** प्रहसन

में कुक्षिभर नामक बौद्ध भिक्षु के ढोंग का चित्रण है। इसमें बौद्ध भिक्षु का कापालिक, क्षपणक और शाक्त से हास्यास्पद संवाद भी है।

शंकरदेव के अंकिया नाट की परम्परा में कविचंद्र द्विज ने **कामकुमारहरण** नाटक की रचना की। कविचंद्रद्विज अठारहवीं शताब्दी में आहोम राजा शिवसिंह (१७१४-४४ ई०) के आश्रय में रहे। कामकुमारहरण उषा और अनिरुद्ध की प्रणयकथा पर आधारित छह अंकों का नाटक है। आहोम राजा कामेश्वरसिंह (१७९५-१८१० ई०) के समकालीन गौरीकांत द्विज का **विघ्नेशजन्मोदय** ब्रह्मवैवर्तपुराण से प्रेरित है। इसमें तीन अंकों में शिवपार्वती की प्रणयक्रीड़ा तथा गणेश के जन्म की अलौकिक घटना का चित्रण है। दीनद्विज का **शंखचूडवध** भी इसी समय लिखा गया। यह भी ब्रह्मवैवर्तपुराण में प्रोक्त कथा पर आधारित है।

उन्नीसवीं-बींसवीं शताब्दी के रूपक

उन्नीसवीं शताब्दी में राज्याश्रय के अभाव तथा संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन के अवसरों की कमी होने से संस्कृत नाट्य-रचना कुछ क्षीण होती लगती है। बंगाल के प्रख्यात पंडित पंचानन तर्करत्न का **अमरमंगल** इस शताब्दी की महत्त्वपूर्ण नाट्यकृति है। अंबिकादत्तव्यास का यौनपरिवर्तन की पौराणिक कथा पर आधारित **सामवतम्** भी उल्लेखनीय है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रहसनों में सुंदरराज का **स्नुषाविजय** मध्यवर्गीय भारतीय पारिवारिक जीवन का शिष्ट चित्रण प्रस्तुत करता है। सुंदरराज का जन्म केरल में त्रावणकोर जिले में १८४१ ई० में हुआ। १९०४ ई० में उनका निधन हुआ। उन्होंने संस्कृत में अनेक नाटक, काव्य तथा टीकाओं का प्रणयन किया है। उनके एकांकी रूपक स्नुषाविजय को डॉ० व्ही० राघवन् ने प्रहसन ही माना है। स्नुषाविजय में दुराशा नामक सास के अत्याचारों से उसकी बहू सच्चरित्रा त्रस्त है। दुराशा का बेटा सुगुण अपने नाम के अनुरूप माँ को भी क्रुद्ध नहीं करना चाहता और पत्नी से भी सहानुभूति रखता है। पति सुशील के समझाने-बुझाने पर भी दुराशा अपनी दुश्चेष्टाओं से बाज नहीं आती। अंत में अपनी दृढ़ता और शील से सच्चरित्रा उस पर विजय प्राप्त करती है, जिससे प्रहसन का नाम स्नुषाविजय (बहू की जीत) सार्थक बनता है।

महामहोपाध्याय लक्ष्मण सूरि का **दिल्लीसाम्राज्य** (१९१२ ई०) ऐतिहासिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण नाटक है। इसमें पाँच अंक तथा ५१ पात्र हैं, जिनमें जॉर्ज पंचम, इंग्लैण्ड की रानी, कर्जन आदि सम्मिलित हैं। सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् विंटरनित्स ने इस नाटक की प्रशंसा करते हुए कहा है कि कतिपय इतिहासविरुद्ध प्रसंग होते हुए भी यह पुरातन अलंकृत काव्य के बंध में आधुनिकतम तत्त्व के समावेश का उदाहरण है।

बींसवीं शताब्दी के नाटककारों में महामहोपाध्याय शंकरलाल (१८४४-१९१६ ई०) ने विशेषरूप से पौराणिक विषयों पर अनेक नाट्यकृतियों का प्रणयन किया, जिनमें **सावित्रीचरित्र, ध्रुवाभ्युदय, भद्रयुवराज, वामनविजय** आदि नाटक उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक नाटक की रचना के क्षेत्र में मूलशंकर माणिकलाल याज्ञिक

(१८८६) का नाम अग्रगण्य है। **क्षत्रपतिसाम्राज्य, प्रतापविजय, संयोगितास्वयंवर** आदि इनकी कृतियाँ हैं। म० म० मथुराप्रसाद दीक्षित (१८७८) ने ऐतिहासिक, राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक विषयों पर अनेक नाटक लिखे। छह अंकों का **भारतविजय** १९३७ ई० में प्रकाशित होते ही अंग्रेजी शासन के द्वारा जब्त कर लिया गया, क्योंकि इसमें स्वाधीनता संग्राम का चित्रण करते हुए नाटककार ने तिलक के आशीर्वाद से गांधी जी के सत्याग्रह आंदोलन के द्वारा भारत के स्वतंत्र होने का दृश्य प्रस्तुत किया था। दस वर्ष बाद जब इस नाटक की परिकल्पना वास्तविकता में परिणत हुई, तो इसका पुनः प्रकाशन किया गया। **वीरप्रताप, शंकरविजय, भक्तसुदर्शन, गान्धीविजय,** आदि दीक्षित जी की अन्य नाट्यकृतियाँ हैं। ऐतिहासिक विषयों पर नाटक-रचना में हरिदास सिद्धान्त वागीश (१८७६) का नाम भी स्मरणीय है। मेवाड़-प्रताप, बंगीयप्रताप, विराजसरोजिनी, आदि अनेक ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त पौराणिक आख्यानों पर भी इन्होंने अनेक नाटक लिखे।

काशीनरेश प्रभुनारायण सिंह ने **पार्थपाथेयम्** (१९२७ ई०) उल्लाप्यक के द्वारा उपरूपकों की परम्परा में एक दुर्लभ उदाहरण प्रस्तुत किया। साहित्यदर्पण में निरूपित उल्लाप्यक के सभी लक्षण (तीन अंक, एक धीरोदात्त नायक तथा चार नायिकाएँ, शृंगार, वीर तथा हास्य रसों का प्राधान्य) इस उल्लाप्यक पर लागू होते हैं। इसका नायक अर्जुन है तथा उलूपी, चित्रांगदा, वर्गा और सुभद्रा ये चार नायिकाएँ हैं। धर्मराज तथा द्रौपदी के एकांत कक्ष में प्रवेश करने के कारण पूर्वकृत समयानुसार अर्जुन के निर्वासन से लेकर सुभद्राहरण तक का वृत्तांत इसमें निरूपित है। प्रस्तावना में रागकाव्य का प्रयोग इसकी एक और विशेषता है। स्त्री पात्रों के मुख से प्राकृत भाषा का ही प्रयोग कराया गया है।

बड़े आकार के तथा पौराणिक या धार्मिक विषयों पर लिखे जाने वाले नाटकों की अपेक्षा इस शताब्दी के उत्तरार्ध में सामाजिक विषयों पर एकांकी या छोटे नाटक लिखने की प्रवृत्ति को बल मिला। वी० के० थंपी ने '**प्रतिक्रिया**', '**वनज्योत्स्ना**' तथा '**धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः**' में मध्यकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ आधुनिक रोमांटिक नाटकों की शैली का ग्रहण किया। जग्गु वकुल भूषण ने प्राचीन कथानकों पर नाटक रचे, पर उनमें नयी विषय-वस्तु का समावेश किया। साथ ही इन्होंने नयी शैली के लघु नाटकों की भी रचना की। महालिंग शास्त्री आधुनिक संस्कृत रचनाकारों में एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। इन्होंने भी पौराणिक कथानकों को नये अभिप्राय के साथ अपने नाटकों में प्रस्तुत किया, साथ ही नयी शैली में सामाजिक व आधुनिक विषयों पर भी नाटक लिखे। इनके 'प्रतिराजसूयम्' में महाभारत तथा 'उद्गातृदशानन' में रामायण की कथा को नवीन विन्यास दिया गया है। इनके 'उभयरूपकम्' प्रहसन में परम्परा और आधुनिकता के द्वन्द्व को प्रकट किया गया है। मद्रास में एक कॉलेज में पढ़ने वाले युवक छागल का अपने गाँव से रागात्मक संबंध टूट जाता है। वह शहर से गाँव आता है, तो अपने को सबसे अलग अनुभव करता है। प्रहसन में उसके द्वारा अचानक गाँव से जाते समय भूल से छूट गये एक कागज के टुकड़े के कारण हास्यास्पद व रोचक स्थिति निर्मित होती है। उस कागज पर वास्तव में एक नाटक का संवाद है, पर उसे छागल के परिवार के लोग उसकी ओर से

आत्महत्या की सूचना समझ लेते हैं, और छागल के द्वारा डाढ़ी बनाने के बाद एक पुड़िया में बाँध कर रख दिये गये डाढ़ी के बालों को उसके खाने के बाद बचा जहर का चूर्ण समझ लेते हैं। नाटक में शहर में पढ़ने वाले नवयुवकों की संकुचित मनोवृत्ति तथा गाँव के लोगों की अशिक्षा व अंधविश्वास का चित्रण रोचक है।

कौंडिन्य प्रहसन महालिंग शास्त्री का अन्य प्रहसन है। इसमें गृध्रनास तथा उसकी पत्नी जिह्मला भोजनलोलुप कौंडिन्य से बचने के लिए तरह-तरह का यत्न करते हैं, पर कौंडिन्य के आगे उनकी एक नहीं चलती। महालिंग शास्त्री के एक अन्य प्रहसन शृंगारनारदीय में नारद के मायावी सरोवर में डुबकी लगा कर एक बंदरिया बन जाने और विष्णु की कृपा से फिर अपने वास्तविक रूप को प्राप्त करने की कथा है। **अयोध्याकांड** भी शास्त्रीजी का प्रहसनात्मक रूपक है। इसमें बहू चारुमती अपनी सास से आतंकित होकर फाँसी लगा कर मरने का प्रयास करती है, पर मर नहीं पाती। स्नुषाविजय के समान नाटक का अंत परिवार के बँटवारे से होता है।

'आदिकाव्योद्यम्' महालिंग शास्त्री की श्रेष्ठ व सरस नाट्य कृति है, इसमें जनजीवन से रामायण की घटनाओं का गहरा सम्बन्ध निरूपित है।

आधुनिक नाटककारों में को०ला० शास्त्री ने संस्कृत में २५ लघु रूपक लिखे हैं, इनमें **लीलाविलास** प्रहसन उल्लेखनीय है। यह सात अंकों में विभक्त है। ये अंक वास्तव में आज के एकांकी नाटकों के छोटे-छोटे दृश्यों के समान हैं। इस प्रहसन में भारतीय मध्यवर्गीय परिवार में लड़की के विवाह की समस्या का चित्रण किया गया है। गौतम अपनी बेटी लीला का विवाह वेदांत भट्ट नामक मूर्ख के साथ करना चाहता है, उसकी पत्नी चंद्रिका उसे सोमिल नाम के शराबी के गले मढ़ना चाहती है। लीला का भाई सत्यव्रत अपनी बहिन का विवाह उसके मनपसंद विलास कुमार के साथ करने में सहयोग देता है। यहाँ माता-पिता के विसंगत आचरण तथा विवाह के इच्छुक उम्मीदवारों के चित्रण में हास्य की सृष्टि की गयी है।

विश्वेश्वर विद्याभूषण चट्टला नगरी के निवासी थे। इन्होंने **मणिमालिका** और **वनवेणु** नामक गीतिकाव्य, **'काव्यकुसुमाञ्जलिः'** तथा **'गङ्गासुरतरङ्गिणी'** नामक खंडकाव्य और **चाणक्यविजय, भरतमेलन** आदि १५ रूपकों का प्रणयन किया।

बींसवी शताब्दी के महत्त्वपूर्ण साहित्यकार वेंकटरामराघवन् ने अनेक रूपक लिखे, जिनमें **विमुक्ति** लीक से हटकर सर्वथा भिन्न स्तर का प्रहसन है। यह प्रतीकात्मक रूपक भी है। इसमें आत्मनाथ नामक एक अभागे ब्राह्मण के अपनी पत्नी त्रिवर्णिनी और छह पुत्रों—लटकेश्वर, उलूकाक्ष, चलप्रोथ आदि के बीच दुखी जीवन और गृहकलह का चित्रण है। नगर का शासक उनके पुराने जीर्णशीर्ण घर को ढहवा देता है, और परिवार नये घर में रहने आता है। राजा त्रिवर्णिनी की दो दुष्टा बहनों को भी नदी में फिंकवा देता है। स्वयं नाटककार ने विमुक्ति को प्रहसन कहा है, अन्यथा इसमें हास्य कम और दार्शनिकता अधिक है। आत्मनाथ जीवात्मा का प्रतीक है, नगर का राजा ईश्वर का, उसके छह पुत्र मन सहित पाँच इंद्रियों के, उसकी पत्नी त्रिवर्णिनी प्रकृति की, सास मायावती माया की, सालियाँ सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणों की तथा घर शरीर का प्रतीक है।

राघवन् का अन्य प्रहसन **प्रतापरुद्रविजय** या **विद्यानाथविडंबन** है। यह पैरोडी की शैली के रोचक प्रयोग के कारण उल्लेखनीय है। विद्यानाथ नामक आचार्य ने अपने आश्रयदाता प्रतापरुद्र की प्रशंसा में धरती-आकाश एक कर दिया था। नाटककार ने उनकी शैली की बड़ी सुंदर पैरोडी करते हुए संस्कृत के पुराने आचार्यों या कवियों की चाटुकारिता की प्रवृत्ति पर चुटीला व्यंग्य किया है।

आधुनिक संस्कृत नाटककारों में जीवन्यायतीर्थ का नाम अविस्मरणीय है। इन्होंने बड़ी संख्या में नाटक लिखे, जिनमें अधिकांश प्रहसन हैं। इनके प्रहसन सामाजिक समस्याओं और आज की विसगंतियों का चित्रण करते हैं। इनके कतिपय उल्लेखनीय प्रहसन या प्रहसनात्मक रूपक हैं—**दरिद्रदुर्दैव, भट्टसंकट, पुरुषरमणीय, विधिविपर्यास, चौरचातुरीय, चंडतांडव, क्षुतक्षेमीय, शतवार्षिक, चिपिटकचर्वण, वनभोजन, विवाहविडंबन, नष्टहास्य, रामनामदातव्य-चिकित्सालय** आदि। इनमें हास्य की सृष्टि कहीं-कहीं अशिष्ट या फूहड़ हो गयी है तथा जिन स्थितियों का चित्रण हैं, वे सतही हैं।

बींसवी शताब्दी के प्रहसन या प्रहसनात्मक रूपक आधुनिक नुक्कड़ नाटकों से प्रभावित भी हुए हैं तथा कुछ रूपककारों पर विसंगत नाट्य की शैली का भी प्रभाव पड़ा है। इनमें हास्य की अपेक्षा व्यंग्य (Satire) की प्रखर धार अधिक है। सिद्धेश्वर चट्टोपाध्याय के **धरित्रीपतिनिर्वाचनम्** में भवपांथशाला (दुनियारूपी सराय) के अध्यक्ष ईश्वर कान में रुई डाल कर बैठे रहते हैं। पांथशाला के चौकीदार विश्वकर्मा गाँजा पीकर धुत पड़े रहते हैं। धरित्री ईश्वर की कन्या है, जिसके पति का निर्वाचन होना है। आज की लोकतांत्रिक प्रणाली पर यह प्रहसन करारा व्यंग्य है। सिद्धेश्वर के अन्य व्यंगात्मक रूपक हैं—**अथ किम्, ननाविताडनम् तथा स्वर्गीयहसनम्**।

इस युग के प्रहसनात्मक या व्यंग्यप्रधान रूपक लिखने वाले साहित्यकारों में अभिराज राजेंद्र मिश्र का योगदान भुलाया नहीं जा सकता। इनके **चतुष्पथीयम्** में चार व्यंग्यात्मक एकांकी संकलित हैं। सामाजिक यथार्थ तथा आधुनिक नुक्कड़ नाटक की शैली के सफल प्रयोग के कारण ये रूपक रुचिकर और अभिनेय हैं, तथा कई बार खेले भी गये हैं। राधावल्लभ का **प्रेमपीयूषम्** पाँच अंकों में महाकवि भवभूति के जीवन और व्यक्तित्व की कल्पनाशील प्रस्तुति है। इनके **प्रेक्षणकसप्तकम्** में सात एकांकी संकलित हैं, जिनमें **मशकधानी**, गणेशपूजनम् तथा व्यंग्यात्मक या प्रहसनात्मक एकांकी हैं। ये रूपक भी मंच पर कई बार प्रस्तुत हुए हैं, या अभिनव परिकल्पनाओं व आज की स्थितियों के प्रामाणिक चित्रण, प्रतीकात्मक संविधान के कारण आधुनिक नाट्यसाहित्य में इनकी अलग छवि है। **तण्डुलप्रस्थीयम्** इनका दस अंकों का प्रकरण है, जो लोककथा की प्रतीकात्मक और जीवनदर्शनसमन्वित प्रस्तुति के कारण उल्लेखनीय है।

✤

अध्याय १३

परवर्ती महाकाव्य-परम्परा

शास्त्रकाव्य तथा द्विसंधान महाकाव्य

द्विसंधान (दो कथाओं को एकसाथ निरूपित करने वाले महाकाव्य) महाकाव्यों और शास्त्रकाव्यों की परम्परा में भट्टि काव्य के ही समान भट्टभीम का **रावणार्जुनीयम्** महाकाव्य उल्लेखनीय है। भट्टभीम को भौमक, भूभट्ट, भूमभट्ट, भीम या भूप आदि नामों से भी जाना जाता है। ये कश्मीर देश में उडू नामक स्थान के निवासी थे, जो आधुनिक बारामूला के समीप माना गया है। इनका समय निर्विवाद रूप में निर्णीत नहीं है। क्षेमेंद्र ने अपने **सुवृत्ततिलक** में कवि भौमक का उल्लेख किया है। दूसरी ओर इस महाकाव्य पर काशिका (६६१ ई०) का प्रभाव परिलक्षित होता है। अत: इस महाकाव्य का रचनाकाल सातवीं शताब्दी के पश्चात् तथा ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व कहा जा सकता है।

रावणार्जुनीयम् में कार्तवीर्य अर्जुन और रावण दोनों की कथा को २७ सर्गों में एकसाथ प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही पाणिनि की अष्टाध्यायी के नियमों का ज्ञान भी कवि ने कराया है। त्रिष्टुप्, पंक्ति, जगती आदि वैदिक छंदों का भी प्रयोग कवि ने यहाँ किया है।

बारहवीं शताब्दी में विद्यामाधव ने **पार्वतीरुक्मिणीय** और धनंजय ने **राघवपांडवीय** द्विसंधान महाकाव्यों की रचना की। धनंजय के राघवपांडवीय में १८ सर्ग हैं, तथा रामायण और महाभारत की कथा एकसाथ श्लेष के द्वारा प्रस्तुत की गयी है। इस महाकाव्य में दोनों कथाएँ जैन सम्प्रदाय के अनुसार हैं। **राघवपांडवीय** के नाम से ही एक अन्य महाकाव्य **कविराज** नामक कवि ने लिखा है। कविराज का वास्तविक नाम माधवभट्ट था। द्विसंधान महाकाव्यकारों में कविराज का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इनके पिता का नाम कीर्तिनारायण और माता का नाम चंद्रमुखी था। कीर्तिनारायण कादंब राजाओं के सेनापति थे। कविराज ने अपने आश्रयदाता जयंतपुरी (कर्नाटक) के कादंबवंशीय शासक कामदेव (११८२-११८७ ई०) को प्रसन्न करने के लिए यह महाकाव्य लिखा। इनके **पारिजातहरण** तथा **राघवपांडवीय** ये दो महाकाव्य भी प्राप्त होते हैं।

पारिजातहरण श्रीकृष्ण के द्वारा सत्यभामा की प्रसन्नता के लिए स्वर्ग से पारिजात वृक्ष लेकर आने की पौराणिक कथा पर आधारित दस सर्गों का महाकाव्य है। राघवपांडवीय में रामायण और महाभारत की कथाएँ एकसाथ समान श्लोकों के द्वारा प्रस्तुत की गयी हैं। श्लेष का आद्यंत निर्वाह करके द्विविधकथा प्रस्तुत करते हुए भी

कविराज ने रचना में प्रांजलता बनाये रखी है। उनकी वक्रोक्ति विशेष प्रशंसनीय मानी गयी है। यद्यपि इन महाकाव्यों में दो कथाओं को समान श्लोकों के द्वारा एकसाथ प्रस्तुत करने के आयास के कारण सहजता और काव्यात्मकता की क्षति हुई है, तथापि धनंजय और कविराज दोनों भाषा पर अपने असाधारण अधिकार के द्वारा अनेक स्थलों पर श्रेष्ठ कवित्व को प्रमाणित करते हैं। कविराज ने वनगमन के समय सीता और द्रौपदी का एक साथ वर्णन करते हुए कहा है—

निरस्तरत्नाभरणापि गेहाद् विनिर्गता सा निजयैव भासा।
विद्योतयामास नरेन्द्रमार्गं तडिल्लता मेघविनिर्गतेव॥
वाष्पाम्बुजम्बालितराजमार्गैः सगद्गदव्याहृतसाधुवादैः।
व्यलोकि सा पौरजनैरसूर्यम्पश्यापि मध्येनगरं व्रजन्ती॥ (३/३३-३४)

इस प्रकार के शास्त्रकाव्यों में **श्रेणिकचरित**, वासुदेवकृत **वासुदेवविजयम्** तथा **युधिष्ठिरविजयम्**, नारायणभट्ट का **धातुकाव्य**, हेमचंद्र का **कुमारपालचरित** या **द्व्याश्रयमहाकाव्य**, श्रीनारायण का **सुभद्राहरण** आदि महाकाव्य उल्लेखनीय हैं। ये सभी व्याकरण का ज्ञान कराने के लिए विरचित हैं। संध्याकर नंदी का रामपालचरित एक द्विसन्धान महाकाव्य है, पर द्विसन्धान महाकाव्यों में यह अनोखा ही है। इसमें उत्तरी बंगाल में हुई एक क्रान्ति का विवरण है। इस क्रान्ति में पालवंशीय राजा महीपाल को अपने प्राण गँवाने पड़े थे, तथा उसका छोटा भाई रामपाल शासक बना था। ऐतिहासिक तथ्यों के उल्लेख की दृष्टि से यह महाकाव्य अपने समय का एक दस्तावेज प्रस्तुत करता है। श्लेष के द्वारा सन्ध्याकर नंदी ने रामचरित तथा रामपालचरित दोनों को एकसाथ प्रस्तुत किया है। महाकाव्य के अन्त में सन्ध्याकर ने अपना परिचय दिया है, जिसके अनुसार वे बृहद्वटु ग्राम के निवासी थे। उनके पिता प्रजापति नंदी एक बड़े राजाधिकारी थे। पितामह पिनाकनन्दी राजा (सम्भवतः रामपाल) के सान्धिविग्रहिक थे। सन्ध्याकर नन्दी ने राजा के इतने बड़े अधिकारी के घर में जन्म लेने के कारण राजनीतिक उथलपुथल को निकट से देखा-परखा था, और उसका चित्रण इन्होंने अपने महाकाव्य में किया। महाकाव्य के अन्त में अपने परिचय में इन्होंने अपने विरोधियों को संकेत किया है, तथा यह भी बताया है कि महाकाव्य की रचना करने के पश्चात् बहुत समय तक वे इसे छिपा कर रखे रहे। इसका कारण महाकाव्य में समकालीन राजनीतिक घटनाओं का चित्रण ही था। रामचरित में पालवंशीय राजाओं का उद्भव से लगा कर महान् पराक्रमी नायक राजा रामपाल के अवसान तक का दसवीं शताब्दी तक का इतिहास है।

पौराणिक महाकाव्य : हरचरितचिंतामणि

हरचरितचिंतामणि महाकाव्य के प्रणेता जयद्रथ हैं। इस काव्य का रचनाकाल बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी है। जयद्रथ के पिता तथा पितामह कश्मीर के राजाओं के मंत्री रहे तथा इनके ज्येष्ठ भ्राता जयरथ काव्यशास्त्र के श्रेष्ठ आचार्य थे, जिन्होंने रुय्यक के अलंकारसर्वस्व पर विमर्शिनी नामक टीका का प्रणयन किया था।

हरचरितचिंतामणि पौराणिक शैली का महाकाव्य है। आकार में भी यह विपुल है तथा अपूर्ण मिलता है। इसमें शिवविषयक अनेक आख्यानों का समावेश किया गया है। इसकी शैली में प्रसाद गुण विशेष रूप से परिलक्षित होता है, तथा छंदों में अनुष्टुप् का प्रयोग कवि ने सर्वाधिक किया है।

नरनारायणानंद

महाकवि वस्तुपाल ने पाटण में जन्म लिया। इनके पिता का नाम अचराज (अश्वराज) और माता का नाम कुमारदेवी था। ये राजा वीरधवल के प्रधान अमात्य रहे। वे एक कुशल प्रशासक तथा सेनानी थे। विद्वानों और कवियों के आश्रयदाता के रूप में इनकी ख्याति संस्कृत साहित्य में अनेकत्र वर्णित है। १२२१ ई० में इन्होंने आबू की तीर्थ- यात्रा की तथा गुजरात में तीन विशाल ग्रंथागारों की स्थापना की। १२४२ ई० में इनका निधन हुआ। सोमेश्वर के ऐतिहासिक महाकाव्य कीर्तिकौमुदी में इनका जीवनचरित्र विस्तार से वर्णित है। सोमेश्वर ने वस्तुपाल को सरस्वती का पुत्र कहा है।

वस्तुपाल ने नरनारायणानंद महाकाव्य की रचना की। इसमें १६ सर्गों में नर और नारायण के अवतार अर्जुन तथा कृष्ण की मित्रता का चित्रण करते हुए अर्जुन के द्वारा सुभद्राहरण का प्रसंग वर्णित है। वस्तुपाल की शैली अत्यन्त सहज और प्रांजल है, माघ के कवित्व से वे प्रभावित हैं, पर पांडित्य और चमत्कार के प्रदर्शन का प्रलोभन उन पर हावी नहीं हुआ है। जीवनानुभव से समन्वित सूक्तियाँ उनके महाकाव्य में प्रचुर मात्रा में मिलती हैं।

सुरथोत्सव

इस महाकाव्य के प्रणेता सोमेश्वरदेव या सोमशर्मा हैं। सोमेश्वर के पूर्वज अन्हिलवाड़ के चालुक्यवंशीय राजाओं के यहाँ पौरोहित्य का कार्य करते थे। उस समय के प्रख्यात साहित्यिक तथा राजनैतिक शलाकापुरुष वस्तुपाल से सोमेश्वर की मित्रता थी। इस महाकाव्य के अतिरिक्त सोमेश्वर ने कीर्तिकौमुदी नामक चंपू काव्य में वस्तुपाल का चरित प्रस्तुत किया। उल्लाघराघव नाटक, रामाष्टक स्तोत्र, काव्यादर्श और काव्यप्रकाश की टीकाएँ तथा कुछ शिलालेखों का भी इन्होंने प्रणयन किया। सुरथोत्सव महाकाव्य चैत्रवंशीय राजा सुरथ के पुराणप्रसिद्ध आख्यान पर आधारित है। इसमें पंद्रह सर्ग हैं।

यमकभारत

यमकभारत महाकाव्य के प्रणेता माधवाचार्य आनंदतीर्थ मध्यकाल के दार्शनिकों व संतों में उल्लेखनीय हैं। इनका जन्म उडुपि के निकट वेल्ले ग्राम में ११९८ ई० में ब्राह्मण कुल में हुआ। इनका जन्म-नाम वासुदेव था। आसाधारण पांडित्य तथा प्रतिभा के कारण ये पूर्णप्रज्ञ की उपाधि से अलंकृत हुए। २५ वर्ष की आयु में इन्होंने संन्यास ले लिया। दीक्षा ग्रहण करने पर इनका नाम आनंदतीर्थ हुआ। समग्र भारत में भ्रमण करते हुए इन्होंने अद्वैत वेदांत का प्रचार किया। इनके लिखे ३७ ग्रंथ मिलते हैं जिनमें से अधिकांश दर्शनविषयक हैं। काव्यग्रंथों में आर्यास्तोत्र, कृष्णस्तुति तथा द्वादशस्तोत्र

प्रसिद्ध हैं। भागवततात्पर्यनिर्णय नामक शास्त्रीय ग्रंथ इनके गंभीर चिंतन का परिचायक है। कृष्णकर्णामृतमहार्णव, शंकरविजय और शंकराचार्यावतारकथा भी इनकी रचनाओं में परिगणित हैं। यमकभारत महाकाव्य में आद्यंत असाधारण कौशल से यमक अलंकार का निर्वाह करते हुए पूरे महाभारत की कथा प्रस्तुत की गयी है।

माधवाचार्य (११९८-१२६१ ई०) के शिष्य त्रिविक्रम की दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं—उषाहरण महाकाव्य तथा वायुस्तुति। उषाहरण महाकाव्य में कल्पनाओं की नवीनता कमनीय है। आरम्भ में ही कवि कहता है—

विज्ञानपाथेयवतां विपश्चितामागन्तुकानामहमात्मशक्त्या।
आतिथ्यकार्याय फलं रसार्द्रं काव्याभिधानं लिकुचं प्रसोष्ये॥ (१/३)

इस काव्य में उषा और अनिरुद्ध की प्रेमकथा है।

त्रिविक्रम के पुत्र नारायण ने **माधवविजय** महाकाव्य में अपने पिता की चरितावली निबद्ध की है।

यादवाभ्युदय

यादवाभ्युदय महाकाव्य के प्रणेता वेंकटनाथ वेदांतदेशिक महान् दार्शनिक, संत, कवि और पंडित हैं। इनका जन्म १२६८ ई० में कांची के टुप्पिल नामक स्थान पर हुआ। इनके पिता का नाम अनंतसूरि तथा पितामह का नाम पुंडरीकाक्ष था। ये विश्वामित्रगोत्रीय ब्राह्मण थे। मामा आत्रेय रामानुज के यहाँ इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। इन्हें वरदनाथ नामक पुत्र हुआ, जो आगे चलकर वेदांताचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने महनीय कृतित्व के कारण वेदांतदेशिक अपने समय में ही विष्णु के अवतार मान लिये गये थे। उनकी शिष्य-परम्परा में उनके रचे १२१ ग्रंथों का उल्लेख किया गया है। इनमें से अधिकांश ग्रंथ धर्म, दर्शन, परमार्थ या अध्यात्मविद्या से संबद्ध हैं। इनके साहित्यिक ग्रंथों में यादवाभ्युदय महाकाव्य के अतिरिक्त संकल्पसूर्योदय नाटक, हंससंदेश काव्य, दयाशतक, गोदास्तुति, यमकरत्नाकर तथा समस्यासहस्र प्रसिद्ध हैं। इनका स्वर्गवास श्रीरंगम् में १३६९ ई० में हुआ।

यादवाभ्युदय महाकाव्य में यदुवंश के पूर्वपुरुष ययाति के चरित से काव्य का आरम्भ किया गया है। काव्य का मुख्य विषय श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। श्रीमद्भागवत के लालित्य, भक्तिभाव की तन्मयता और वैष्णव आस्था को कवि ने गहरी अनुभूति के साथ नवसृष्टि की है। कृष्णावतार के अनुपम दृश्य को भावविभोर होकर चित्रित करता हुआ कवि कहता है—

अवतरति मकुन्दे सम्पदामेकवृन्दे
सुरभितहरिदन्तां साधुमाध्वीकदिग्धाम्।
अभजत वसुदेवस्थानमानन्दनिघ्नै-
रमरमिथुनहस्तैराहितां पुष्पवृष्टिम्॥

यशोदा के वात्सल्य, कृष्ण के गोपालरूप और बाल-लीलाओं के वर्णन में कवि का मन विशेष रमा है। उदाहरणार्थ—

कथं व्रजेच्छर्करिलान् प्रदेशान् पद्भ्यामसौ पल्लवकोमलाभ्याम्।
इति स्नुतस्तन्यरसा यशोदा चिन्तार्णवे न प्लवमन्वविन्दत्॥ (४/६६)
रोमाञ्चफेनाञ्चितसक्थिभागस्पन्दनैरर्धनिमीलिताक्षैः।
अनादृतस्तन्यरसैर्मुकुन्दः कण्डूयितैर्निर्वृतिमाप वत्सैः॥ (४/८४)

(कोंपल से कोमल पाँवों से कृष्ण पथरीले प्रदेश में कैसे चलेंगे—यह सोच कर वक्ष से दूध बहाती यशोदा चिंता के सागर में नाव न पा सकी।

कृष्ण उन बछड़ों की खुजली मिटा कर प्रसन्न हो रहे थे, जिनकी रोमांचित थूथन से फेन निकल रहा था, जो तन्मय हो कर आधी आँखें मूँदे मुँह हिला रहे थे तथा गायों का दूध पीना भूल गये थे।)

बालभारतम्

राजशेखर सूरि ने अपने प्रबन्धकोश (रचनाकाल १३४८ ई०) में बालभारत महाकाव्य के रचयिता अमरचन्द्र का जीवनचरित दिया है। तदनुसार अमरचन्द्र अणहिलपत्तन (गुजरात) के वायट नामक स्थान में रहने वाले आचार्य जिनदत्त सूरि के शिष्य थे। बालभारतम् के अन्त में कविप्रशस्ति के ४६ पद्यों में इन्होंने अपने गुरुजनों जिनदत्त सूरि, रासिल्ल सूरि तथा जीवदेवदेव सूरि आदि का विस्तृत परिचय दिया है। इन्होंने काव्यकल्पलता नामक कविशिक्षाविषयक ग्रंथ, कलाकलाप नामक शास्त्रग्रंथ तथा छन्दोरत्नावली और मुक्ताहारावली की रचना भी की थी। दही मथने वाली ग्वालिनों की वेणी के लिए कामदेव के कृपाण की उपमा देने के कारण (बालभारत, १.११.६) इन्हें वेणीकृपाण की उपाधि मिली थी। अमरचन्द्र गुजरात के राजा वीसलदेव के आश्रय में रहे। कीर्तिकौमुदी तथा सुरथोत्सव महाकाव्यों के प्रणेता महाकवि सोमेश्वर भी इसी राजसभा को सुशोभित करते थे। वीसलदेव की राजसभा में इस तरह के कवियों के बीच समस्यापूर्तियों की रोचक स्पर्धा होती रहती थी, जिसमें कवि अमरचन्द्र के द्वारा की गई समस्यापूर्तियों का विवरण राजशेखर सूरि ने दिया है। राजा वीसलदेव का शासनकाल तेरहवीं शताब्दी के आसपास है। बालभारतम् के अतिरिक्त अमरचंद्र ने पद्मानंद नामक एक अन्य महाकाव्य, चतुर्विंशतिजिनेन्द्रसंक्षिप्तचरितकाव्य की भी रचना की। पद्मानंद महाकाव्य में १९ सर्गों में १९ तीर्थंकरों का चरित वर्णित है। अमरचंद्र के अन्य ग्रंथ हैं—**काव्यकल्पलता, छंदोरत्नावली** तथा **मुक्तावली** और **कलाकलाप**।

अमरचन्द्र सूरि आस्था से जैनमतावलंबी थे, पर महाभारत की सम्पूर्ण कथा को इन्होंने यथावत् महाकाव्यात्मक सौष्ठव के साथ प्रस्तुत किया है, यह इनकी साम्प्रदायिक उदारता का प्रमाण है। महाभारत की उदात्तता से वे बहुत प्रभावित हैं। महामुनि व्यास के कर्तृत्व की स्पृहणीयता को लेकर उनका कहना है—

भवाकूपारपारद्रुः पाराशर्यमुनिर्ददे।
नैति तद्भारतीगुच्छस्तुच्छभाग्यस्य भोग्यताम्॥ (१४.१.१)

(भवसागर को पार करने वाले पराशरपुत्र मुनि व्यास ने वाणी का जो पुष्पगुच्छ हमें दिया है, वह तुच्छ भाग्य वालों को नहीं मिल सकता।)

बालभारत महाकाव्य में महाभारत के अठारह पर्वों के क्रम में उन्हीं नामों के अठारह पर्व हैं, तथा प्रत्येक पर्व में अनेक सर्ग हैं। महाकाव्य के अन्त में कवि ने स्वयं सर्गों और श्लोकों की संख्या दी है, जिसके अनुसार इस महाकाव्य में ४४ सर्ग तथा ६९५० श्लोक हैं। महाभारत के अनेक उपाख्यानों को भी कवि ने इस कलेवर में स्थान दिया है।

महाभारत के कथानक को आकर्षक रूप में प्रस्तुत करते हुए अमरचन्द्र ने उसके द्वारा भारतीय विभूतियों की गौरवगाथा और सांस्कृतिक वैभव को अपनी लेखनी का विषय बनाया है। महाभारत की गत्यात्मकता और जीवन के वैविध्यमय चित्रों की विपुलता को उनका यह महाकाव्य समेटे हुए है, पर भागवतभाव से भी यह अधिवासित है। अनुशासन पर्व में भीष्म के मुख से श्रीकृष्ण के स्वरूप का तथा श्रीकृष्ण के मुख से शिव के स्वरूप का जो वर्णन अमरचन्द्र ने कराया है, वह उनके दार्शनिकबोध तथा भक्तिभाव का उदात्त निदर्शन है।

अमरचन्द्र ने रूप के वर्णन में नई-नई कल्पनाओं से वर्णनीय विषय को आकर्षक बना दिया है। आदिपर्व में इला के सौन्दर्य-चित्रण में वे कहते हैं—उसके नयन उसके हृदयरूपी आलय के दो द्वार थे, जिसके ऊपर भौंहे वन्दनवार की तरह लगती थीं (१.१.२१)।

अमरचन्द्र सूरि ने संस्कृत कविता में नया अप्रस्तुतविधान रचा है, या पुराने उपमानों को नवीन कल्पना के द्वारा ताजा बना दिया है। दही मथती ग्वालिन की वेणी के लिए मदन के कृपाण की कल्पना चित्ताकर्षक है—

दधिमथनविलोलल्लोलदृग्वेणिदम्भा-
दयमदयमनङ्गो विश्वविश्वैकजेता।
भवपरिभवकोपत्यक्तबाणः कृपाण-
श्रममिव दिवसादौ व्यक्तशक्तिर्व्यनक्ति॥ (१.११.६)

परिष्कृत पदावली, लय और अनुप्रास का निर्वाह तथा कथानक को रुचिर रूप में प्रस्तुत करने की शैली के कारण बालभारतम् महाकाव्य-परम्परा में अनुत्तम स्थान के योग्य है। यमक और श्लेष जैसे अलंकारों का भी प्रयोग कवि ने किया है, पर अपनी रचना को उनसे दुरूह और बोझिल नहीं होने दिया है। उदाहरण के लिए—

अधत्त हयमेधाय मेधामयमिलाधवः। (१४.१.३)

महाकाव्य में यथास्थान व्यास तथा समास दोनों प्रकार की शैलियों का प्रयोग कवि ने किया है। कहीं पर वे संक्षेप में बहुत सी बातें कहते हुए अर्थ की प्रौढ़ता को व्यक्त करते हैं, तो कहीं व्यास शैली में वर्णनों का विस्तार करते हैं। मुनि व्यास के लिए समास शैली का यह प्रयोग रोचक है—

तमाप्नुहि महीनाथ समाप्नुहि महामखम्।
विधेहि विश्वमनृणं पिधेहि दुरितच्छटाः।
इत्युक्त्वा नृपमामन्त्र्य वन्द्यमानो विमानिभिः।
द्यां ययौ तडिदुल्लासः श्रीव्यासः शमिभिः स्वयम्॥ (१४.१.६-७)

वर्ण्य-विषय के अनुरूप भाषाशैली में माधुर्य या सौकुमार्य अथवा ओजस्विता का आधान अमरचन्द्र सफलतापूर्वक कर लेते हैं। अनुष्टुप् जैसे छन्दों के साथ शार्दूलविक्रीडित तथा शिखरिणी जैसे बड़े छन्दों का विन्यास भी उनके काव्य में यथोचित है।

अन्य महाकाव्य (१४वीं-१५वीं शताब्दी)

महाकवि वामनभट्टबाण चौदहवीं शताब्दी के अग्रगण्य साहित्यकार हैं। ये सुप्रसिद्ध वेदांती व संत विद्यारण्य के शिष्य थे। अपनी युवावस्था में ये विजयनगर में रहे, जहाँ महाप्रतापी सम्राट् हरिहर का शासन था। इनके शृंगारभूषण भाण का वहीं पर विरूपाक्ष के यात्रामहोत्सव में अभिनय हुआ। तीस वर्ष की आयु में इन्होंने राजा वेमभूपाल (१४०३-१४२० ई०) की राजसभा में प्रवेश पाया। इन्होंने **रघुनाथचरित** तथा **नलाभ्युदय** इन दो महाकाव्यों की रचना की। रघुनाथचरित में तीस तथा नलाभ्युदय में आठ सर्ग हैं। मेघसंदेश के अनुकरण पर इन्होंने हंससंदेश भी लिखा।

लगभग इसी समय सुकुमार कवि का **कृष्णविलास** महाकाव्य लिखा गया, जो कवि के नाम के अनुरूप सुकुमार और माधुर्य गुणों का अनुत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसकी कथा श्रीमद्भागवत पर आधारित है, तथा वर्णन-कला और शैली पर कालिदास की गहरी छाप है। पंद्रहवीं शताब्दी में केरल के राजा केरल वर्मा (१४२३-१४४६ ई०) के आश्रित महाकवि शंकर ने **कृष्णविजय** महाकाव्य की रचना की। उद्दंड कवि ने अपने कोकिलसंदेश में महाकवि शंकर की प्रशंसा में कहा है—

कोलानेलावनसुरभितान् याहि यत्र प्रथन्ते
वेलातीतप्रथितयशसः शङ्कराद्याः कवीन्द्राः ॥

मलयालम् के महाकाव्य **चंद्रोत्सव** में भी शंकर की कवित्वमाधुरी की भूरि-भूरि प्रशंसा है।

भरतचरित महाकाव्य के प्रणेता कृष्ण शंकर के समकालीन थे। भरतचरित बारह सर्गों का महाकाव्य है। इसकी कथा का आधार कालिदास का अभिज्ञानशाकुंतल है। १४९३ ई० में चतुर्भुज कवि ने बंगाल में रामकेलि नामक स्थान पर रह कर हरिचरितमहाकाव्य की रचना की। इस महाकाव्य में श्रीकृष्ण का चरित उदात्त धरातल पर चित्रित है। विजयनगर के राजा सुलुव नरसिंह (१४५६-१४८८ ई०) ने रामाभ्युदय महाकाव्य का प्रणयन किया। सलुव एक प्रतापी सम्राट् तथा कवियों के आश्रयदाता थे। इन्हीं कवियों के अनुरोध पर काव्यरचना में उनकी प्रवृत्ति हुई। रामाभ्युदय में २४ सर्गों में रामायण की कथा निरूपित है। कहीं-कहीं इसकी पुष्पिका में प्रणेता का नाम शोणाद्रिनाथ भी मिलता है। अज्ञातकर्तृक कुशाभ्युदय महाकाव्य भी पंद्रहवीं शताब्दी की उल्लेखनीय रचनाओं में से एक है। इस महाकाव्य की रचना क्विलन के राजा रामवर्मा के आश्रय में हुई थी। इसमें आठ सर्गों में महाभारत की कथा प्रस्तुत की गयी है। केरल के राजकुमार तथा राजा केरलवर्मा के भतीजे रामवर्मा के द्वारा प्रणीत **भारतसंग्रह** में संपूर्ण महाभारत की कथा प्रस्तुत है। यह महाकाव्य २२ सर्गों में अपूर्ण रूप में ही

मिलता है। रामवर्मा ने चंद्रिकाकलापीड नामक पाँच अंकों के एक नाटक का भी प्रणयन किया था। इसी शताब्दी में कवि शिवसूर्य ने महाभारत को ही आधार बना कर पांडवाभ्युदय महाकाव्य की रचना की।

चतुर्भुजकृत हरिचरितमहाकाव्य (१४९३ ई०) में कृष्ण द्वारा कंस के वध की कथा है। यमक और अन्त्यानुप्रास का चमत्कार चतुर्भुज ने इसमें दिखाया है। १४८३ ई० में रचित रामचन्द्र के गोपाललीला महाकाव्य में भी कंसवध का कथानक है।

कवि कर्णपूर के महाकाव्य

कवि कर्णपूर का जन्म बंगाल में कुमारहट्ट नामक ग्राम की कांचनपल्ली में १५२४ ई० अथवा १५२६ ई० में हुआ। यह ग्राम बंगाल के चौबीस परगनों में हालिसह परगने के अंतर्गत था। कर्णपूर के पिता का नाम शिवानंदसेन था। शिवानंदसेन अपने समय के प्रकांड पंडित तथा दार्शनिक थे, वे स्वयं एक कवि, भक्त तथा साधक भी थे। उनके रचे बंगाली के पद पदकल्पतरु और गौरपदतरंगिणी में संकलित हैं। शिवानंदसेन के तीन पुत्र थे—चैतन्यदास, रामदास और परमानंददास। इनमें से तीसरे पुत्र परमानंददास का ही स्वयं चैतन्य महाप्रभु के द्वारा दिया गया नाम कर्णपूर है। कर्णपूर ने अपने ज्येष्ठ भ्राताओं की गणना भी चैतन्य के भक्तों में की है। कर्णपूर के टीकाकार वृंदावन चक्रवर्ती के अनुसार इन्होंने पाँच वर्ष की आयु में चैतन्य का दर्शन किया था। चैतन्य के निर्वाण के समय इनकी आयु सात वर्ष की थी। कृष्णदास कविराज ने भी अपने 'चैतन्यचरितामृतम्' में नीलाचल में चैतन्य महाप्रभु से परमानंद (कर्णपूर) के मिलाप का वर्णन किया है। किन्तु उनके उल्लेख के अनुसार इस समय कर्णपूर की आयु सात वर्ष थी। अपने 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक में भी कवि ने बाल्यकाल में चैतन्य से भेंट होने का संकेत दिया है, पर उस समय अपनी आयु का उल्लेख नहीं किया।

कर्णपूर के नाम से अन्य अनेक कवि संस्कृत साहित्य में जाने जाते हैं। पदपारसीकप्रकाश नामक संस्कृत-फारसी कोश के निर्माता कर्णपूर मुगल सम्राट् जहाँगीर के समकालीन थे। पर इनके कामरूप के निवासी होने का उल्लेख मिलता है। अत: ये महाकवि कर्णपूर से भिन्न हैं। एक अन्य कर्णपूर वृत्तमाला नामक ग्रंथ के प्रणेता कामरूप के कोछ विहार के अंतर्गत राजा श्रीमल्लदेव (१५४०-८४ ई०) के आश्रित थे।

रचनाएँ—कर्णपूर ने **चैतन्यचरितामृतम्** तथा **पारिजातहरणम्**—ये दो महाकाव्य, **आर्याशतकम्, कृष्णाह्निककौमुदी, तत्त्वावली, श्रीकृष्णचैतन्य-सहस्त्रनामस्तोत्र**—ये तीन खंडकाव्य अथवा स्तोत्र, **चैतन्यचंद्रोदय** नामक नाटक, **आनंदवृंदावनचंपू** नामक चंपूकाव्य, **अलंकारकौस्तुभ** नामक **काव्यशास्त्रग्रंथ** तथा **गौरगणोद्देशदीपिका, बृहत्- कृष्णगौरगणोद्देशदीपिका** एवं **श्रीमद्भागवतटीका** इन तीन गौडीय भक्तिसंप्रदाय के सिद्धान्तों से संबद्ध शास्त्रीय ग्रंथों की रचना की। इसके अतिरिक्त इनकी प्रसिद्धि तथा प्रतिभा के कारण अन्य अनेक परवर्ती या संदिग्धकर्तृत्व वाली रचनाओं को इनके नाम से जोड़ा जाता रहा है। बंगाली भाषा में इनके कृष्णभक्तविषयक अनेक मधुर ललित पद विभिन्न ग्रंथों में संकलित हैं।

चैतन्यचरितामृतम्—इस महाकाव्य में बीस सर्ग तथा १९११ श्लोक हैं। चैतन्य महाप्रभु की ४७ वर्षों के जीवन की घटनाओं को कवि ने भक्तिभाव के साथ काव्यात्मक विन्यास देते हुए प्रस्तुत किया है। प्रथम दस सर्गों में चैतन्य के जन्म से लेकर संन्यास- ग्रहण तक के प्रसंग हैं, तथा शेष दस सर्गों में संन्यासग्रहण के बाद से महानिर्वाण तक के। यद्यपि चैतन्य पर अनेक चरितकाव्य संस्कृत तथा बंगाली भाषा में उस काल में लिखे गये, पर कवि कर्णपूर का महाकाव्य ऐतिहासिकता और भक्तिभाव के संतुलन के कारण सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है। वृंदावनचंद्र तर्कालंकार की विष्णुप्रिया तथा नित्यानंदाधिकारी की गौरभक्तिविनोदिनी—ये दो प्राचीन टीकाएँ इस पर मिलती हैं। कर्णपूर ने किशोरावस्था में ही इसकी रचना कर दी थी, अतः काव्यात्मक सौष्ठव की दृष्टि से इसमें कहीं-कहीं अपरिपक्वता का अनुभव अवश्य होता है। नवम-दशम सर्गों में सूर्यास्त, अंधकार, ऋतुओं आदि का सरस वर्णन हैं।

पारिजातहरणम्—यह हरिवंशपुराण तथा श्रीमद्भागवत पर आधारित १८ सर्गों का महाकाव्य है। भारवि और माघ का अनुकरण करते हुए कवि ने प्रत्येक सर्ग के अंतिम पद्य में यहाँ श्री शब्द का प्रयोग किया है।

दोनों ही महाकाव्यों में कवि कर्णपूर ने प्राचीन कवियों का अनुकरण करते हुए यमक तथा चित्रकाव्य का विनिवेश किया है। तथापि उनकी शैली ललित और सुकुमार मार्ग का अनुसरण ही अधिक करती है। विभिन्न अर्थालंकारों की छटा भी अलग-अलग रंग इनकी रचना में बिखेरती है। चंद्रमा को गगन की छत पर बैठी रात्रिनायिका का दर्पण बनाते हुए समासोक्ति के माध्यम से वे कहते हैं—

सङ्गार्थिनी ललितमन्मथवल्लभस्य रात्रिर्वियद्विमलतल्पतले निषण्णा।
संवीक्षितुं सुखमुदारतरं दधार प्रोद्दामदर्पणमिषेण शशाङ्कबिम्बम्॥

(पारिजातहरणम्, १२/१०)

नीलकंठ दीक्षित के महाकाव्य

सत्रहवीं शताब्दी के नीलकंठ दीक्षित संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ महाकवियों में एक हैं। ये प्रख्यात दार्शनिक, काव्यशास्त्री और वैयाकरण अप्पय दीक्षित के अनुज अच्चा दीक्षित के पौत्र तथा नारायण दीक्षित के पुत्र थे। अप्पय दीक्षित का स्नेह और अनुग्रह उन्हें प्राप्त हुआ था। स्वनिर्मित त्यागराजस्तव में नीलकंठ अप्पय के विषय में कहते हैं—योऽतनुतानुजसूनुजमनुग्रहेणात्मतुल्यमहिमानम्—अर्थात् जिन्होंने अपने भाई के पौत्र को अनुग्रह से अपने बराबर महिमा वाला बना दिया। अपने पुरखों का परिचय देते हुए नीलकंठ दीक्षित ने नलचरितनाटक की प्रस्तावना में लिखा है कि वे ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले, सर्वविद्यागुरु, छंदोग, सोमपीथी तथा अद्वैतवादी ब्राह्मण थे। इनमें अच्चन दीक्षित बहुत प्रसिद्ध हुए, जो अप्पय दीक्षित के पितामह थे। राजा कृष्णराज स्वयं इनके चरणों पर मस्तक नवाते थे। उन्होंने आठ यज्ञों, आठ शिवालयों, आठ तालाबों तथा सर्वविद्याविशारद अपने आठ पुत्रों के द्वारा आठों दिशाओं को अपने यश से उज्ज्वल बना दिया था। अद्वैतविद्यामुकुरविवरण तथा अन्य अनेक ग्रंथों के निर्माता श्रीरंगराजाध्वरी इनके

पाँचवें पुत्र थे। रंगराजाध्वरी के पुत्र अप्पय दीक्षित हुए, जिन्होंने विभिन्न विषयों पर १०८ ग्रंथों का निर्माण करके अपने अखंड पांडित्य से अपूर्व ख्याति पाई। वस्तुतः नीलकंठ का सारा परिवार महान् पंडितों और कवियों से परिपूर्ण था।

नीलकंठ का जीवन दिग्गज पंडितों, महाकवियों और शास्त्र के प्रकर्ष के युग में बीता। **शब्दकौमुदी, धातुरत्नावली** तथा **भाष्यरत्नावली** आदि के प्रणेता चोक्कनाथ मखीन्द्र, **रामचन्द्रोदय** महाकाव्य के कर्ता वेंकटेश्वर, कुशकुमुद्वतीय नाटक के प्रणेता तथा नीलकंठ के ही छोटे भाई अतिरात्र यज्वा, जिन्होंने चित्रमीमांसादोषधिक्कार तथा प्रतिरघुवंश आदि ग्रंथ भी लिखे; **चित्ररत्नाकर, रुक्मिणीपरिणय, जानकीपरिणय, गौरीपरिणय** आदि के रचयिता चक्र कवि, कवि तथा शास्त्रवित् श्री रामभद्र मखीन्द्र आदि नीलकंठ के समकालीन रहे। नीलकंठ के तीसरे पुत्र गीर्वाणेन्द्र ने शृंगारकोश नामक भाण लिखा था। **वार्तिकाभरण** के प्रणेता वेंकटेश्वर मखी भी इनके गुरु रहे। वेंकटेश्वर मखी **सङ्गीतसुधानिधि** के प्रणेता और तंजौरनरेश रघुनाथ के मंत्री गोविन्द दीक्षित के पुत्र थे।

नीलकंठ परम शैव थे, जिसका कंठतः उद्घोष उन्होंने अपनी रचनाओं में स्वयं भी किया है। अनुष्ठान या कर्मकाण्ड में पारंगत होने के कारण यज्वा अथवा मखीन्द्र की उपाधि अप्पय दीक्षित या उनके सगोत्रियों के नाम के आगे लगाई जाती थी। नीलकंठ मधुरा (मदुराई) नगरी में महाराज तिरुमल नायक की सभा में पण्डित सार्वभौम तथा अमात्य की पदवी पर प्रतिष्ठित रहे। अय्या दीक्षित नाम भी इनके लिए प्रयुक्त मिलता है। वाणी की महती साधना महाकवि नीलकंठ दीक्षित ने की। अपने लिए उन्होंने कहा है—

पश्यन् वाचा तपस्यामि काव्यसन्दर्भ रूपया।

तथा— **चन्द्रशेखरसव्याङ्गचरणोन्मार्जनाम्भसाम्।**
विवर्ता जगदुत्सङ्गे विहरन्ति मदुक्तयः॥ (गंगावतरण, १/५८)

इनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं—

लघुकाव्य—(१) कलिविडम्बनम्, (२) सभारञ्जनशतकम्, (३) अन्यापदेश-शतकम्, (४) शान्तिविलासः, (५) वैराग्यशतकम्, (६) आनन्दसागरस्तवः, (७) चण्डीशतक, (८) शिवोत्कर्षमञ्जरी, (९) रामायणसारसङ्ग्रहः अथवा रघुवीरस्तवः, (१०) चण्डीरहस्यम्, (११) गुरुतत्त्वमालिका।

महाकाव्य—(१) गङ्गावतरणम्, (२) शिवलीलार्णवः, (३) मुकुन्दविलासम्

दार्शनिक/शास्त्रीय ग्रन्थ—(१) कैयटव्याख्यानम्, (२) शिवतत्त्वरहस्यम्

नाटक—नलचरितम्;

चम्पू—नीलकण्ठविजयचम्पूः।

इनमें कृष्णचरित पर आधारित मुकुन्दविलास अपूर्ण मिलता है।

गंगावतरण महाकाव्य

इस महाकाव्य में आठ सर्ग तथा ५९७ श्लोक हैं। प्रथम सर्ग में कवि ने काव्यकला के विषय में अपने विचार अत्यन्त निर्भीक भाव से प्रकट करते हुए अपना

वंश-परिचय दिया है, और राजा भगीरथ के प्रताप और नीतिज्ञता का प्रभावशाली वर्णन किया है। द्वितीय सर्ग में भगीरथ तपस्या आरम्भ करते हैं तथा ब्रह्मा से गंगा के अवतरण का वर प्राप्त करते हैं। तृतीय सर्ग में भगीरथ का गंगा से अवतरणार्थ अनुरोध व गंगा की दर्पोक्ति और अहंकार का चित्रण है। चतुर्थ सर्ग में भगीरथ शिव की आराधना के लिए कठोर तप करना आरम्भ करते हैं और उससे प्रसन्न होकर शिव गंगा को अपने मस्तक पर झेलने के लिए तैयार हो जाते हैं। पंचम सर्ग में गंगा के शिव की जटाओं में अवतरण का अद्भुतरससमन्वित अत्यन्त आकर्षक चित्रण है। षष्ठ सर्ग में गंगा का शिव की जटाओं से निकल कर काशी में प्रवेश, सप्तम में भगीरथ के पीछे-पीछे जाती गंगा को देख कर स्त्रियों की कौतुकपूर्ण बातचीत तथा शिव की भावपूर्ण स्तुति है। अष्टम सर्ग में काशी से पाताल तक की गंगा की यात्रा और भगीरथ के प्रयास की सफलता का चित्रण है।

नीलकंठ ने पारिवारिक सम्बन्धों की माधुरी से इस महाकाव्य में विलक्षण रस घोल दिया है तथा मिथक को मानवीय राग से आविष्ट बना दिया है। मातृत्व का अनुभव और वात्सल्य यहाँ कविता को उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित करता है। गंगा का दर्प, शिव का फक्कड़पन और सहज प्रसन्न स्वभाव तथा भगीरथ की दृढ़ साधना और तपोबल का चित्रण रागात्मकता और गरिमा से युक्त प्रभाव उत्पन्न करता है।

वर्णनकला में नीलकंठ सिद्धहस्त हैं। मुहावरे, भणितिभंगियाँ और चित्रोपम विन्यास उनके वर्णनों को स्मरणीय बना देते हैं। ग्रीष्म के वर्णन में वे कहते हैं—

भानुभिः प्रलयपावकतीव्रैरापिबत्युदकमम्बुजराशौ।
दूरदूरमपदिश्य मरीचिर्द्दुरवुर्दिशि दिशीव सरस्यः॥ (२.३५)

(प्रलय पावक के समान तीखी किरणों से जब सूर्य जल पीने लगा, तो उसकी किरणों से बच कर दूर-दूर भागते सरोवर अलग-अलग दिशाओं में भागने लगे।) समीर या हवाओं के लिए उन्होंने इसी प्रसंग में विशेषण दिया है—सान्द्रमुर्मुरकिरः—(घने अंगारे बिखेरने वाले)। अन्यत्र कहा है—स्मरहुताशमुर्मुरचूर्णतां दधुः। गंगा के उत्प्लावन से हड़बड़ा उठे ब्रह्मा का यह वर्णन भाषा और शिल्प में निष्णात कवि की सिद्धि का दिग्दर्शन है—

अप्रतर्कितविधेयमपौढस्थैर्यमर्धविरतश्रुतिपाठम्।
शुष्कतालुवदनं च तदानीं पद्मभूरपि परिभ्रमति स्म॥

(क्या करना है यह समझ में न आ सका, स्थिरता चुक गई, श्रुति का पाठ अधूरा ही रुका का रुका रह गया, मुख और तालु सूख गये। ऐसी स्थिति में ब्रह्मा चकरा कर रह गये।)

वर्णनकला की दृष्टि से नीलकंठ एक सिद्ध कवि हैं, तो विषयनिरूपण की दृष्टि से एक स्वप्नदर्शी महाकवि हैं। गंगा का अल्हड़पन, ढिढाई का बड़ा रोचक चित्रण उन्होंने अपने महाकाव्य के आरम्भ में किया है। गंगा का प्रवाह शिव की जटाओं में समा जाता है, इसके लिए उपमा भी बड़ी समीचीन दी है—

अप्रतर्क्यमसमीक्षितावधिं तं कपर्दवलयं पिनाकिनः।
आपगा दिविषदामवाङ्मुखी पन्नगीव कलशं समाविशत्॥ (५/५७)

गंगा के प्रवाह के वर्णन में कवि की भारती वैसी प्रवाहमयी और एक के बाद एक कल्पना की ऊर्मियों का आलोड़न-विलोड़न प्रस्तुत करने वाली बन गयी है।

गंगावतरण महाकाव्य जीवन में साधना, संकल्प और तपोनिष्ठा के मूल्यों की प्रभविष्णु प्रस्तुति है। इसमें एक ओर भगीरथ के अडिग धैर्य का अत्यन्त समर्थ पदावली में चित्रण है, तो कालिदास के कुमारसंभव के पश्चात् शिव के मानवीय स्वरूप का गहरी भक्तिभावना के साथ इतना आत्मीय चित्रण भी पहली बार संस्कृत महाकाव्य में हुआ है। अपने परिष्कृत सौन्दर्यबोध और कल्पनाओं के समर्थ विन्यास से नीलकंठ अनूठा बिम्बविधान निर्मित करते हैं। ब्रह्मा के निवास से हिमालय के परिसर तक फैली गंगा की धाराएँ ऐसी लगती हैं, जैसे अप्सराओं ने सारा संसार देखने के लिए चारों ओर अपने कटाक्षों की रेखाएँ बिछा दी हों—

आविरञ्चिगृहमाहिमाचलं निर्मला रुरुचिरे तदूर्मयः।
स्वर्वधूभिरभितो दिदृक्षया पातिता इव कटाक्षरेखिकाः॥ (५.४६)

गंगा स्वर्ग से नीचे गिरती हैं, तो कवि को सारा ब्रह्माण्ड अलाबू (लौकी) के फल के खप्पर के समान गिरता लगता है (३.२)।

गंगा के बहने का वर्णन करते हुए कवि ने अपनी भाषा और पदावली को उसके प्रवाह, भटकाव, अटकाव, गति की क्षिप्रता के अनुरूप साध लिया है। विलंबित गति का बोध करती हुई यह पदावली पाठ्य है—

पथि विलम्ब्य विलब्य पदे पदे गिरगुहासु निलीय निलीय च।
उपजगाम कथञ्चिदुपान्तकं नववधूरिव नर्मसखस्य सा॥ (५/७)

द्रुतविलंबित छंद का सधा हुआ प्रयोग कवि ने यहाँ किया है।

शिवलीलार्णव महाकाव्य

इस महाकाव्य में २२ सर्ग तथा १९९८ श्लोक हैं। दक्षिण में प्रचलित शिवविषयक कथाओं को यहाँ काव्यात्मक विस्तार दिया गया है। मधुरा नगरी के सुंदरनाथ के नाम से विदित ईश्वर की ६४ लीलाएँ इसमें वर्णित हैं। अनुश्रुति है कि भगवान् शिव ने पांड्यवंश के राजा सुंदर पांड्य के रूप में अवतार लिया और विविध लीलाएँ कीं। उन लीलाओं का तथा पार्वती के मलयध्वजकन्या के रूप में अवतरण का वर्णन इस महाकाव्य में सरस मधुर रीति में किया गया है। दक्षिण की सांस्कृतिक परम्पराओं के ज्ञान की दृष्टि से यह महाकाव्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है। शिवलीलार्णव महाकाव्य में नीलकंठ ने पाण्ड्य देश के शासकों तथा उनसे जुड़ी कथाओं का विस्तृत फलक उठाते हुए सुन्दर पाण्ड्य, उग्र पाण्ड्य, अभिषेक पाण्ड्य, विक्रम पाण्ड्य तथा राजशेखर आदि राजाओं का गौरवपूर्ण चरित निरूपित किया है। अगस्त्य जैसे पौराणिक पात्र भी इसमें हैं, देवता भी और ऐतिहासिक चरित नायक तथा नायिका भी हैं।

लोकगाथाओं, लोकाचारों और लोकविश्वासों तथा किंवदंतियों का विपुल विश्व इसमें समाहित हो गया है। इस महाकाव्य में नायिका मलयध्वजकन्या तटातका है, जो गौरी की अवतार है। राजा मलयध्वज अपनी बेटी को राजपाट सौंप कर संन्यस्त हो जाते हैं। तटातका की बाल्य से लगा कर दिग्विजय तक की लीलाओं का बहुत तन्मय होकर भक्ति-भाव के साथ कवि ने वर्णन किया है। दिग्विजय के प्रसंग में तटातका कैलास तक जा पहुँचती है और कैलास पर आक्रमण करती है। शिव से उसका संग्राम होता है। फिर तो सुदरेश्वर के लिंग से भगवान् शिव मानव के रूप में निकलते हैं और तटातका से उनका विवाह होता है। विवाह के पश्चात् शंकर पांड्य देव के नाम से विख्यात हुए। इन्हीं से राजा उग्रपांड्य का जन्म हुआ। उग्र पांड्य के शासन-काल में इंद्र के कोप से पड़ने वाले सूखे का वर्णन हृदयद्रावक है। वस्तुतः शिवलीलार्णव कुमारसम्भव के समान ही नारीप्रधान महाकाव्य भी है, तथा रघुवंश के समान एक वंश के अनेक राजाओं का इतिहास भी प्रस्तुत करता है। लोककथा, आख्यान, मिथक, संस्कृति और ऐतिह्य का अद्‌भुत संगम इस महाकाव्य में कवि नीलकंठ ने रच दिया है। राजा अरिमर्दन के शासन-काल में मधुरा का बाढ़ से घिर जाना, शिव का एक वृद्धा हलवाइन के घर कर्मकर के रूप में चाकरी करना तथा राजा के अहंकार का भंजन—इस प्रकार की अवांतर कथाओं से शिवलीलार्णव की शोभा में वृद्धि हुई है।

सातवें सर्ग में मलयध्वज कन्या के शैशव का वर्णन वात्सल्य से सराबोर है। इसी में वर्षा तथा शरद् के वर्णन प्रकृतिचित्रण के मनोरम निदर्शन हैं। इसी प्रसंग में भौंरों के इस वर्णन में अछूती कल्पना है—

कमलवनमुपाश्रिता जरन्तः
करिकटिभित्तिमुपस्थिता युवानः।
इति मधुपगणा द्विधा विभिन्ना अपि
खलु कर्मकराः समं स्मरस्य॥

(जो भौंरे कमलवन में मँडराते-मँडराते बुढ़ा गये थे, वे हाथियों के कपोलों पर बैठ कर (उनके मदजल के आस्वादन से) तरुण हो गये। फिर तो कभी कमल वन का चक्कर लगाते तो कभी हाथी के ऊपर चक्कर काटते हुए वे मानो कामदेव के मजदूर बन गये थे।)

शिवलीलार्णव महाकाव्य पौराणिकता, राष्ट्रभाव, इतिहास और संस्कृति की अनूठी संगम स्थली है। श्रीमद्‌भागवत की भक्तिभाव की भागीरथी में नीलकंठ दीक्षित ने यहाँ राष्ट्रभाव की कालिन्दी का संगम कर दिया है। पांड्यकन्या को सुलाती हुई रानियाँ गीत गाती हैं—

प्रचलति यमपेक्ष्य भारतेऽस्मिन्
सकलमिदं शुभकर्म भूविभागे।
अजनि महीभृतस्ततः किलेयं
परमहिमाचलतो यशोऽवदातात्॥

(शुभ्र यश जैसे स्वच्छ उस राजा की यह सन्तान है, जिसकी अपेक्षा से इस भारतवर्ष की धरती पर सारा शुभ कर्म चल रहा है।) तटातका को अंक में खिलाते हुए माता-पिता का यह वर्णन उदाहर्तव्य है—

आनन्दत्रुटितविशीर्णकञ्चुकान्ताद् वक्षोजादथ मलयध्वजप्रियायाः।
अन्वस्यन्दत मधुरं पयः प्रभूतं बिभ्रत्यास्त्रिभुवनमातरं कुमारीम्॥
प्रेयस्याः सविधमुपेत्य दीयमानामुत्प्लुत्य स्वयमुपगूहितुं पतन्तीम्।
कन्यांताममृतमयीमाददानः कैवल्यं धरणिपतिस्तृणाय मेने॥

(६/७८-७९)

नीलकंठ ने लोकस्वभाव और लोकजीवन का रसमय निरूपण भी प्रसंगवश अपने काव्य में किया है। राजकुमारी मलयध्वजकन्या के लिए पाण्ड्य राजा के अन्तःपुर की सुन्दरियाँ लोरी गाती हैं, इस प्रसंग में लोरी गीत के भाव को कवि ने संस्कृत छन्द के लय में बहुत कर्णमधुर बना कर पिरो दिया है (७/८)। नायिका दिग्विजय के लिए निकली है। गाँव की स्त्रियाँ उसे देख कर जो कौतुकमयी बतकही करती हैं, उसके निरूपण में सहज सरस जीवन को कवि ने सूक्ष्म पर्यवेक्षण के साथ उकेरा है। ''किसी स्त्री ने कहा—हे सखी, मलयध्वज राजा की कन्या को देखो तो! दूसरी ने कहा—अरी कुब्जिके, यह तो अपने पिता पर गई है। एक और बोली—मेरी बेटी से पाँच महीने ही तो बड़ी है। अभी बच्ची ही तो है।'' (शिवलीला०, ८.४४)। कुछ और स्त्रियाँ राजकुमारी से बतियाने लगीं—''आपकी दया से हमारे पास सौ बकरियाँ, दस गायें और पाँच भैंसे हैं। आप यह गुनगुना दूध पी लीजिये। बड़ी दूर से भूखी-प्यासी आ रही हैं।'' अन्य स्त्री ने कहा—यह लप्सी बहुत अच्छी बनी है। ये और भी खाने की सामग्री है। ठंडा, गर्म जो भी भाये, खा कर जाना। बेटी, भूखी मत जाना। (वही, ८/४६.४७)।

देशज शब्दों के प्रयोग, लोकाचारो के विवरण तथा बोलियों में प्रचलित मुहावरों के उपयोग की दृष्टि से शिवलीलीर्णव महाकाव्य अनोखी कृति है। गुटिका, कन्तुक (?) (७/२०) आदि देशज शब्दों का प्रयोग भी इसमें मिलता है।

वस्तुतः शिवलीलार्णव नीलकंठ की सर्वाधिक प्रौढ़ और परिष्कृत रचना है। इसकी प्रांजलता तथा भाषा का प्रवाह कहीं भी आयास का बोध होने ही नहीं देता।

भवभूति की भाँति नीलकंठ ने पुराकथा को मानवीय राग और जीवन के उदात्त भावों के संपृक्त बनाया है। जीवनदृष्टि के साथ भक्तिप्रवणता और भाव की अटूट धारा उन्होंने प्रवाहित की है।

शिवलीलार्णव महाकाव्य में यज्ञवेदिका से उठी कन्या के वर्णन में वात्सल्य और सौन्दर्य की मनमोहक अभिव्यक्ति है। शिशु के प्रति माता के सहज स्नेह की यह अंतरंग अभिव्यक्ति नीलकंठ दीक्षित को मधुर रचना का मर्मज्ञ कवि सिद्ध करती है—

आलिङ्ग्य सकृदनुक्षणं स्पृशन्ती चुम्बन्ती मुखकमलं मुहुर्मुहुश्च।
पश्यन्ती विकसितपक्ष्मभिः कटाक्षैस्तां बालामलभत निर्वृतिं न माता॥

(६/७७)

इस महाकाव्य में विराट् तत्त्व को काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी गयी है। और लौकिकता में अलौकिकता के अवतरण का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। शिवलीलाओं में समस्त सृष्टि को कवि ने लपेट लिया है। जागतिक प्रपंच में शिव की उपस्थिति का वह अनुभव कराता है। शिव राजा में भी प्रवेश करके संग्राम रचाते हैं, और सैनिक के भीतर भी वे रहते हैं, वे वेश्या और मजदूर में भी वास करते हैं। इस प्रकार दार्शनिक तत्त्व को सुंदरकथाओं के माध्यम से कवि ने हृदयंगम बनाया है।

अन्य महाकाव्य (१७वीं से २०वीं शताब्दी)

ईश्वरविलास महाकाव्य के रचयिता देवर्षि कविकलानिधि श्रीकृष्णभट्ट के पूर्वज मूलतः तैलंग प्रदेश के ब्राह्मण थे। बांधवनरेश ने देवर्षि आदि सौ ग्राम इनके वंश के एक प्रमुख पुरुष श्री मंडल दीक्षित को समर्पित किए थे। दिल्ली, बूँदी, आदि की राजसभाओं में भी ये सम्मानित हुए। श्रीकृष्ण भट्ट भी भरतपुर के राजा सूर्यमल्ल, बूँदी के राजा बुधसिंह तथा आमेर के राजा महाराज सवाई जयसिंह (१६९९-१७४३ ई०) तथा उनके पुत्र ईश्वरसिंह के आश्रय में रहे। ईश्वरविलास महाकाव्य वैदर्भी रीति का उत्कृष्ट निदर्शन है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो इसमें अत्यन्त दुर्लभ और भारतीय इतिहास के अज्ञात पक्षों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री प्रचुर रूप में है। राजा सवाई जयसिंह के द्वारा संपादित अश्वमेध यज्ञ का वर्णन उस काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना का सजीव चित्र प्रस्तुत करता है। इस काव्य की रचना महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज ईश्वरसिंह के अनुरोध पर कवि ने की थी। प्रथम सर्ग में पृथ्वीराज, मानसिंह, अकबर आदि के प्रसंग वर्णित हैं। द्वितीय सर्ग में फरुखसियर, सैयद अब्दुल्लाह खान और मुहम्मदखान तथा मुहम्मदशाह के वृत्तांत भी ऐतिहासिक दृष्टि से कम महत्त्व के नहीं हैं। तृतीय सर्ग में जयपुर और चतुर्थ में राजा जयसिंह का विशेष रूप से चित्रण है। पंचम सर्ग का यज्ञवर्णन तथा सप्तम सर्ग का होलिकोत्सववर्णन भारत की उज्ज्वल सांस्कृतिक छवि प्रस्तुत करते हैं। छंदों की विविधता, भाषा की मसृणता तथा वर्णन-कला की विदग्धता में इस काव्य का सौष्ठव चमत्कारपूर्ण है। वीररस की ओजस्वी अभिव्यक्ति तथा फड़कती हुई पदावली के प्रयोग में श्रीकृष्ण भट्ट उस काल के हिन्दी कवि भूषणभट्ट का स्मरण कराते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्य महाकाव्यों में **पतंजलिचरित** उल्लेखनीय है। इसमें आठ सर्गों तथा ५३८ श्लोकों में महाभाष्यकार तथा योगदर्शन के व्याख्याकार पतंजलि का चरित निबन्ध है। शांत रस की प्रधानता तथा प्रेरणाप्रद चरित्रचित्रण के कारण यह महाकाव्य उल्लेख्य है। वेंकटकृष्ण दीक्षित का नटेशविजय दस सर्गों में निबद्ध है। इसमे शिवलीला तथा शिवविषयक आख्यानों को भक्तिभाव से निबद्ध किया गया है।

राजचूडामणि दीक्षित इस शताब्दी के ख्यात रचनाकार हैं, जिन्होंने अनेक विधाओं में विविध कृतियों का प्रणयन किया। दस सर्गों में श्रीकृष्णकथा पर इनका रुक्मिणीकल्याण महाकाव्य एक सुंदर रचना है। तंजौर के राजा रघुनाथ के आश्रय में सरस कविता के प्रणयन से प्रसिद्धि अर्जित करने वाली कवयित्री मधुरवाणी को आश्रय

प्राप्त था। इनके द्वारा विरचित रामायण महाकाव्य हस्तलिखित रूप में उपलब्ध है। मधुरवाणी आशु कवयित्री थी, तथा आधी घड़ी में सौ श्लोक बनाने की उसे सिद्धि प्राप्त थी। रामायण पर आधारित महाकाव्य के अतिरिक्त उसने कुमारसंभव तथा नैषधचरित के आधार पर भी काव्यरचनाएँ कीं। सत्रहवीं शताब्दी के महाकाव्यों में ही मेघविजयगणि का सप्तसंधान महाकाव्य परिगणनीय है, जिसमें विभिन्न तीर्थंकरों का वर्णन है, तथा प्रत्येक श्लोक के सात-सात अर्थ एकसाथ निकलते हैं।

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में केरल के मलाबार प्रांत में जन्मे रामपाणिवाद एक उल्लेखनीय रचनाकार हैं। इन्होंने विविध नाटकों व खंडकाव्यों के अतिरिक्त **राघवीयम्** तथा **विष्णुविलास**—इन दो महाकाव्यों की रचना की। राघवीयम् में बीस सर्ग तथा १५७२ श्लोक हैं। रामायण की संपूर्ण कथा इसमें पूर्वार्ध और उत्तरार्ध—इन दो भागों में प्रस्तुत है। विष्णुविलास महाकाव्य भागवत पर आधृत है। इसमें आठ सर्गों में विष्णु के नौ अवतार चित्रित हैं। साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से रामपाणिवाद की रचना माघ और श्रीहर्ष की कक्षा का आरोहण करती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के महाकवियों में नव्यचंडीदास का जन्म हरियाणा प्रांत के पुंडरीकपुर ग्राम में १८०४ ई० में हुआ। काशी में अध्ययन करने के पश्चात् ये पटियाला, जयपुर और जम्मू में रहे। इनका **रघुनाथगुणोदय** रामायणकथा पर तेरह सर्गों का उत्कृष्ट महाकाव्य है। वर्णनों में नवीनता तथा कल्पनाओं की अभिरामता इस महाकाव्य में प्रशस्य है। राम के गुणों व रूप की प्रशंसा में कवि नैषधकार हर्ष से प्रभावित हुआ है। ग्यारहवें सर्ग में लंकाविजय के पश्चात् राम के पुष्पक विमान से प्रत्यावर्तन में कवि ने मार्ग के नैसर्गिक दृश्यों का वर्णन कालिदास आदि से प्रभावित होकर किया है। बारहवें सर्ग में रामराज्य, मृगया व षड्ऋतुवर्णन के प्रसंग हैं। तेरहवें सर्ग में कवि ने अपने आश्रयदाता महाराज रणवीरसिंह के विद्याप्रेम तथा जम्मू नगर का वर्णन किया है।

बीसवीं शताब्दी में संस्कृत में तीन सौ से अधिक महाकाव्य रचे गये। म०म० गंगाधर शास्त्री का **अलिविलासिसंलापः** खंडकाव्य होते हुए भी एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्यात्मक कृति है। इसमें नौ शतक हैं। शास्त्र और कविता का ऐसा दुर्लभ समागम अन्य किसी भी भाषा में संभव नहीं है। यह समागम श्रीमद्भगवद्गीता या अभिनवगुप्तपादाचार्य के लेखन में मिलता है। अलि० में चिंतन की भूमि पर अलंकार, वक्रोक्तियाँ, गुण, पदशैया की चारुता अहमहमिकया चली आयी है। कविता में वेदांत है या वेदांत में कविता है यह कहना कठिन हो जाता है। कालिदास का तत्त्वान्वेषी भ्रमर यहाँ सचमुच तत्त्वज्ञ हो गया है। वह विलासी से कहता है—

अये विलासिन् नहि विद्यते मे रसालसालेऽभिनिवेशलेशः।
असक्तचेता जनकाननोद्यत्सर्वांगमोत्थं रसमाद्रियेऽहम्॥ (१/२५)
जितेन्द्रियेष्वप्यनुवर्तमानं त्रैगुण्यमेतन्मम पादमूले।
आलोक्य मां धारितकृष्णरूपं सर्वत्रगं ब्रह्म विनिश्चिनु त्वम्॥ (१/३२)

इन महाकाव्यों में नये विषयों का समावेश हुआ है, राष्ट्रीय विभूतियों—गांधी, नेहरू, विवेकानंद, सुभाष, झाँसी की रानी आदि को लेकर महाकाव्यों की रचना हुई है। इस शताब्दी के उल्लेखनीय महाकाव्य हैं—क्षमा राव की 'सत्याग्रहगीता', 'उत्तरसत्याग्रहगीता' तथा 'स्वराज्यविजयम्', वेंकटराघवन् का 'मुत्तुस्वामीदिक्षित-चरितम्', वसंतत्र्यंबक शेवडे का 'शुम्भवधम्' तथा 'विन्ध्यवासिनीविजयम्', श्रीधर भास्कर वर्णेकर का 'शिवराज्योदयम्', उमाशंकर त्रिपाठी का 'क्षत्रपतिचरितम्', परमानंद शास्त्री का जनविजयम् तथा चीरहरणम्, प्रभुदत्त शास्त्री का गणपतिसम्भवम्, पद्म शास्त्री का लेनिनामृतम्, रेवाप्रसाद द्विवेदी का 'सीताचरितम्' तथा 'स्वातन्त्र्यसम्भवम्', रसिकबिहारी जोशी का 'मोहभङ्गम्', राजेन्द्र मिश्र का 'जानकीजीवनम्' तथा 'वामनावतरणम्', सत्यव्रत शास्त्री का रामकीर्तिकौमुदी तथा बोधिसत्त्वचरितम् आदि।

अध्याय १४

मुक्तक, लघुकाव्य तथा स्तोत्रकाव्य की परवर्ती परम्परा

परवर्ती स्तोत्रकारों में सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं—सोलहवीं शताब्दी में हुए मूर्धन्य आचार्य, विचारक, काव्यशास्त्री तथा संत अप्पय दीक्षित (१५२०-१५९२ ई०)। इनके लिखे हुए २६ स्तोत्र प्राप्त होते हैं। हरिहरस्तुति में उन्होंने शिव तथा विष्णु की एकसाथ स्तुति की है। आत्मार्पणस्तुति एक भक्त की मनोदशा का अंतरंग चित्र है।

मधुसूदन सरस्वती भारतीय वाङ्मय की श्रेष्ठ विभूतियों में से एक हैं। ये अकबर (१५५६-१६०३ ई०) और संत तुलसीदास के वरिष्ठ समकालीन थे। इनका मूल नाम कमलनयन था। ये पांडुरंग के पुत्र तथा काश्यप गोत्र के गौड़ीय ब्राह्मण थे। किंवदंती है कि बाल्यकाल में पिता पांडुरंग इन्हें लेकर राजा माधव पाश की सभा में गये, और इनकी विलक्षण प्रतिभा से सभासदों को परिचित कराया। पर राजसभा के संकीर्ण वातावरण के कारण पिता पांडुरंग को एक झोपड़ी बनाने तक के लिए स्थान मिलता न देख कर बालक मधुसूदन के चित्त में वैराग्य जाग्रत हो गया और वे पिता की अनुज्ञा लेकर काशी आ गये। यहाँ आकर इन्होंने विश्वेश्वर सरस्वती से दीक्षा ली। अद्वैतसिद्धि वेदांत दर्शन के क्षेत्र में इनका रचा महान् ग्रंथ है, जिसके कारण इन्हें विश्व के श्रेष्ठ दार्शनिकों तथा विचारकों की प्रथम पंक्ति में स्थान दिया जा सकता है। बंगाल के फरीदपुर में पांडुरंगवाटिका नामक गाँव में इनके पिता का बनाया मंदिर अभी भी है—ऐसा कहा जाता है। अनेक टीकाग्रंथों के अतिरिक्त **आनंदमंदाकिनी** नामक इनका स्तोत्रकाव्य कृष्णभक्तिपरक माधुर्यभाव की अनुत्तम कृति है।

पंडितराज जगन्नाथ के लघुकाव्य

पंडितराज जगन्नाथ वल्लभाचार्य के परनाती तथा आंध्र के तैलंग ब्राह्मण थे। इनका स्थितिकाल १६०५ ई० से १६८० ई० के बीच माना गया है। इनके पिता पेरुभट्ट विविध विधाओं के प्रकांड पंडित थे। इनकी माता का नाम महालक्ष्मी था। बाल्यकाल में पिता से विद्याध्ययन आरम्भ करके काशी के उस समय के श्रेष्ठ पंडित वीरेश्वर तथा अन्य अनेक पंडितों से इन्होंने विभिन्न शास्त्रों का गहन अध्ययन किया। साथ ही ब्रज भाषा, अरबी और फारसी के काव्य में भी गति प्राप्त की। इनके पांडित्य की ख्याति सुन कर शाहजहाँ ने अपने पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाने के लिए इन्हें बुलाया और इन्हें पंडितराज की उपाधि भी दी। अपनी **काव्यमाधुरी** से इन्होंने शाहजहाँ को प्रभावित करके उसके दरबार में सम्मान पाया। **बादशाहनामा** में इन्हें कलावन्त कहा गया है।

पंडितराज ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा, प्रकांड पांडित्य तथा चिंतन और सरस काव्यधारा से संस्कृत साहित्य को सम्पन्न बनाया। मुक्तक काव्यपरम्परा में इनके पाँच लहरी काव्य प्रसिद्ध हैं—**गंगालहरी, अमृतलहरी, करुणालहरी (विष्णुलहरी), लक्ष्मीलहरी** तथा **सुधालहरी**। इनके अतिरिक्त अपने स्फुट सुभाषितों का संग्रह पंडितराज ने स्वयं भामिनीविलास के नाम से किया। इसके अतिरिक्त इनकी रचनाएँ हैं—(१) आसफविलास—गद्यपद्यमिश्रित आख्यायिका, (२) **चित्रमीमांसाखण्डन**—अप्पय दीक्षित कृत **चित्रमीमांसा** नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ की कड़ी आलोचना, (३) **मनोरमाकुचमर्दन**—सिद्धान्तकौमुदी की मनोरमा नामक टीका का खण्डन, (४) **प्राणाभरण**—राजा प्राणसिंह की प्रशस्ति में विरचित काव्य। (५) **जगदाभरणम्**—कुछ विद्वानों के मत से राजा जगत्सिंह की प्रशस्ति में जगदाभरण नाम से पंडितराज ने काव्य लिखा था, अन्य के मत से यह काव्य दाराशिकोह की प्रशस्ति में है। जगदाभरणम् तथा प्राणाभरणम् में कतिपय पद्य समान हैं। (६) **रसगंगाधर**—काव्यशास्त्र का प्रख्यात प्रौढ़ ग्रंथ, जो अपूर्ण प्राप्त है।

इनके अतिरिक्त **काव्यप्रकाश** की एक टीका इनके द्वारा लिखे जाने का उल्लेख मिलता है, जो अप्राप्त है।

गंगालहरी पंडितराज की रचनाओं में सर्वाधिक लोकप्रिय और बहुपठित रचना है। इमसें ५२ पद्य हैं, जिनमें से ४८ शिखरिणी छंद में तथा शेष प्रत्येक में एक-एक पृथ्वी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा और उपजाति में हैं। भक्तिभावना से समन्वित काव्यरूपी गंगा को कवि ने यहाँ गंगा की स्तुति में प्रवाहित कर दिया है। गंगा के आध्यात्मिक तथा प्रतीकात्मक स्वरूप और धार्मिक महत्त्व पर भी यह रचना सुंदर रूप से प्रकाश डालती है। गंगा के दिव्य विग्रह का साक्षात्कार करते हुए कवि ने उसको इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

शरच्चन्द्रश्वेतां शशिशकलशोभालमुकुटां
करैः कुम्भाम्भोजे वरभयनिरासौ च दधतीम्॥
सुधाधाराकाराभरणवसनां शुभ्रमकर-
स्थितां त्वां ये ध्यायन्त्युदयति न तेषां परिभवः॥

सुधालहरी में ३० स्रग्धरा छंदों में सूर्य के तेजस्वी स्वरूप और प्राणदायिनी शक्ति का ओजस्वी चित्रण करते हुए सूर्यस्तुति की गयी है। अमृतलहरी में दस शार्दूलविक्रीडित छंदों में यमुना की स्तुति है तथा अंतिम परिचयात्मक छंद अनुष्टुप् है। यमुना को अमृत के समान मान कर इसका नाम अमृतलहरी रखा गया है। लक्ष्मीलहरी में इक्यावन शिखरिणी छंदों में लक्ष्मी के स्वरूप व आयुध आदि का सुंदर चित्रण किया गया है। करुणालहरी में विष्णु की स्तुति में पचपन पद्य हैं, जो वंशस्थ, सुंदरी, वियोगिनी तथा पुष्पिताग्रा आदि विविध छंदों में निबद्ध हैं। श्रीमद्भागवत तथा वल्लभ के पुष्टिमार्ग का सुस्पष्ट प्रभाव इस कृति पर परिलक्षित होता है।

भामिनीविलास सुभाषितों या मुक्तकों के संग्रहों में सर्वाधिक लोकप्रिय और उत्तम रचनाओं में से एक है। पंडितराज के अनेक मुक्तक संस्कृतरसिकों के कंठ में बसे हुए हैं। इसके चार विलासों में से पहले तथा दूसरे (अन्योक्तिविलास या प्रास्ताविक विलास और शृंगारविलास) में १००-१०० पद्य हैं। तीसरे करुणाविलास में १९ और चौथे शांतिविलास में ३३ पद्य हैं।

पंडितराज कविता में संगीतात्मकता, नादसौन्दर्य, अनुप्रासों की झंकार के साथ कमनीय कल्पनाओं और भावों की लड़ियाँ गूँथते चलते हैं। उक्तिवैचित्र्य और माधुरी के साथ मनस्विता और उदात्तता का भव्य समागम उनकी कविता में हुआ है। लहरी काव्यों में पदावली की कोमलता भावों के साथ एकाकार होकर घुलमिल गयी है। भाषा और भाव का ऐसा अन्वय दुर्लभ ही है। उदाहरणार्थ, गंगालहरी से ये पद्यांश देखें—

अपि प्राज्यं राज्यं तृणमिव परित्यज्य सहसा
विलोलद्वानीरं तव जननि नीरं श्रितवताम्। (गंगालहरी-६)

स्मृतं सद्यः स्वान्तं विरचयति शान्तं सकृदपि
प्रगीतं तत् पापं झटिति भवतापं च हरति।
इदं तद् गङ्गेति श्रवणरमणीयं खलु पदं
मम प्राणप्रान्तर्वदनकमलान्तर्विलसतु॥ (८)

सुरस्त्रीवक्षोजक्षरदगुरुजम्बालजटिलं
जलं ते जम्बालं मम जननजालं जरयतु॥ (वही, २०)

यमुनालहरी में महाकवि की कृष्णभक्ति और वैष्णवी आस्था का अगाध प्रवाह यमुना की लहरी के साथ तरंगित हुआ है। वस्तुतः भारतीय नदियों में दैवी भाव के दर्शन वैदिक काव्यधारा के पश्चात् पंडितराज जगन्नाथ ने जिस प्रकार किये हैं, उस प्रकार अन्य परवर्ती कवियों ने नहीं। मुक्ति की कामना तथा ऐहलौकिकता के ऊपर उठ कर दिव्य चेतना से तदाकार होकर कवि ने ये काव्य रचे हैं। यमुना को आराध्या मान कर कवि उसी को संबोधित करके कहता है—

पायं पायमघापहारि जननि स्वादु त्वदीयं पयो
नायं नायमनायनीमकृतिनां मूर्तिं दृशोः कैतवीम्।
स्मारं स्मारमपारपुण्यविभवं कृष्णेति वर्णद्वयं
चारं चारमितस्ततस्तव तटे मुक्तो भवेयं कदा? (८)

पंडितराज वैदर्भी, गौडी और पांचाली सभी प्रकार की रीतियों के प्रयोग में दक्ष हैं। विषय के अनुरूप गाढबंध और ओजस्वी पदरचना में भी वे अपनी उतनी ही कुशलता प्रदर्शित करते हैं जितनी सुकुमार पदावली के विन्यास में। उदाहरण के लिए, शिव के तांडव का यह वर्णन नृत्यत्प्रायपदावली का अनुपम विन्यास प्रस्तुत करता है—

प्रमोदभरतुन्दिलप्रमथदत्ततालावली
विनोदिनिविनायके डमरुडिम्डिमध्वानिनि।
ललाटतटविस्फुटन्नवकृपीटयोनिच्छटा
हठोद्धतजटोद्भटो गतपटो नटो नृत्यति॥

संस्कृत काव्यधारा में पंडितराज की कविता एक ताजी हवा का झोंका भी लेकर आती है। वे मुगल दरबार में रह कर उर्दू और फारसी की उस समय की शायरी से परिचित हुए और संस्कृत कविता में उन्होंने उसकी सुकुमारता या श्लक्षणता को उतारा। अनुभावों में से किसी एक अनुभाव का सूक्ष्म विशद चित्र वे इस तरह अंकित करते हैं कि एक क्षणांश में उकेरी गयी छवि जीवन के गहन अनुभव के साथ हमारे समक्ष मूर्त हो जाती है—यह विशेषता फारसी काव्य के सम्पर्क से उन्होंने अपनी कविता में विकसित की होगी—यह संभव है। उदाहरण के लिए—

गुरुमध्यगता मया नताङ्गी निहता नीरजकोरकेन मन्दम्।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णिताऽऽसीत्॥

(भामिनीविलास : शृंगारविलास—१८)

गुरुजनों, माता-पिता के बीच बैठी नतांगी उस प्रिया को मैंने कमल की कली से हल्के से मारा। वह तनिक झटके से मुझे देख कर घूम गयी, उसके कानों के झुमके हल्के से झटके से नाच गये, भौंहें थिरक गयीं।

अन्योक्ति के क्षेत्र में पंडितराज का अवदान महत्त्वपूर्ण है। उनकी अन्योक्तियाँ विडंबना, करुणा, उदात्तता तथा विचारों की स्फूर्त सृष्टि उपस्थित करती हैं। उदाहरण के लिए, हंस को लेकर यह अन्योक्ति किसी मनस्वी व्यक्ति के लिए है, जो अनुपयुक्त स्थान में जीवन बिता रहा है।

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्-
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स त्वं पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम्॥

(पहले मानसरोवर के खिलते कमलों के पराग से सुवासित जल में जिसने आयु बितायी, वही हे मरालकुलनायक अब गंदे पोखर के उस कीचड़ में कैसे समय बिताओगे जिसमें मेढक टर्र-टर्र कर रहे हैं।) यदि इस तथ्य को ध्यान में रखा जाये कि पंडितराज ने महाप्रभु वल्लभाचार्य के कुल में जन्म लिया और अपने समय के सर्वश्रेष्ठ गुरुजनों का सान्निध्य पाया, तत्पश्चात् मुगल दरबार के संकीर्ण वातावरण में वे रहे, तो उनके जीवनानुभव की मार्मिक प्रतिच्छवि इस अन्योक्ति में समझी जा सकती है।

इसी प्रकार सूखते सरोवर में तड़पती मछली को लेकर दीन पक्षहीन जनों के प्रति यह हृदयद्रावक उक्ति कितनी मार्मिक है—

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः षतङ्गा
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ति।
सङ्कोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपेतु॥

(पक्षी आकाश में उड़ गये, भौंरे आम के कुंज में शरण ले रहे हैं। हे सरोवर! तुम सिकुड़ते जा रहे हो, तो यह दीन मीन कहाँ जाये?) पंडितराज की अनेक अन्योक्तियाँ उपदेशात्मक हैं, जिनमें युगबोध की अभिव्यक्ति है, इसके साथ ये अन्योक्तियाँ समाज के

संस्खलन और अध:पतन के प्रति चेतावनी भी देती हैं। उदाहरण के लिए, कमल के लिए यह कथन—

अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मञ्जु गुञ्जन्तु भृङ्गाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः॥

(हे खिलते कमल, तुम्हारे बहते पराग को चाट-चाट कर भौंरे कितना ही मधुर गुंजार करें, पर निरपेक्ष होकर दिशा-दिशा में तुम्हारे सुगंध को फैलाने वाला यह पवन तुम्हारा सच्चा बंधु है।)

विचारप्रधान मुक्तक हों, या रसमय भणितियाँ, अथवा भावसांद्र काव्य—सभी में पंडितराज की लेखनी समान रूप से व अबाध गति से चलती है। विद्वानों व मनस्वियों के चरित्र का उनका यह वर्णन उदाहरणीय है—

अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्ति-
रन्यैव कापि रचना वचनावलीनाम्।
लोकोत्तरा च कृतिराकृतिरार्तहृद्या
विद्यावतां सकलमेव गिरा दवीयः॥

(जगत् का हित करने की विलक्षण प्रवृत्ति, वचनों की भी कुछ अनूठी ही रचना, असाधारण कृति और आर्त जनों को आनन्द देने वाली आकृति—विद्वानों का सभी कुछ वाणी से अवर्णनीय होता है।)

पदशैया की मसृणता या लुनाई पंडितराज के मुक्तकों में पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है। इसके साथ ही अर्थ की चारुता का भी उन्होंने निर्वाह किया है। भक्तिभाव की अभिव्यक्ति करने में वे विलक्षण हैं। पदशैया की चारुता, अर्थसौष्ठव और भक्तिभाव की सरस अभिव्यक्ति का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दनगनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी॥

नीलकंठ दीक्षित के लघुकाव्य

नीलकंठ दीक्षित ने स्तोत्र और विचारप्रधान शतकों की रचना के द्वारा संस्कृत साहित्य को सम्पन्न बनाया। इनके लघुकाव्यों में कलिविडम्बनम्, सभारञ्जनशतकम्, शान्तिविलासः (५१ पद्य), वैराग्यशतकम् (१०१ पद्य), आनन्दसागरस्तवः (१०८ पद्य), अन्यापदेशशतकम्, शिवोत्कर्षमञ्जरी (५२ पद्य), चण्डीरहस्यम् (३६ पद्य), रामायणसारसंग्रहः (३३ पद्य), गुरुस्तवमालिका (१८ पद्य) आदि उनकी बहुमुखी प्रतिभा के परिचायक हैं। एक ओर तो उनमें सामाजिक यथार्थ का चित्रण करनेवाली कृतियाँ हैं, दूसरी ओर भावविह्वल होकर देव के आराधन में आत्मविसर्जन के भाव को

व्यक्त करने वाले स्तोत्रकाव्य हैं, तो कुछ काव्यों में उपदेशपरकता तथा विचारप्रधानता है। कलिविडम्बनम् १०२ श्लोकों की व्यंग्यरचना (सेटायर) है। क्षेमेन्द्र के बाद अपने समय पर इतना तीखा व्यंग्य संस्कृत में अन्य किसी रचनाकार ने नहीं लिखा। नीलकंठ ने शास्त्रार्थ करने वाले पंडित, ज्योतिषी, वैद्य, अध्यापक, पुरोहित, गृहिणी, गृहस्थ, संन्यासी, धनी लोग, राजा आदि को अपने प्रखर वाग्बाणों का विषय बनाया है। अत्यन्त सरल अनुष्टुप् छन्दों में अपने समय के समाज पर बहुत सधी हुई टिप्पणियाँ सहज भाव से कवि ने की हैं। अपने समय के शास्त्रार्थों के विषय में उनका मन्तव्य है—

अभ्यास्यं लज्जमानेन तत्त्वं जिज्ञासुना चिरम्।
जिगीषुणा ह्रियं त्यक्त्वा कार्यः कोलाहलो महान्॥ (५)

(यदि तत्त्व की जिज्ञासा है, तो लज्जा के साथ विद्या का अभ्यास करना चाहिये, पर यदि (शास्त्रार्थ में) विजय की इच्छा है, तो लज्जा का त्याग करके महान् कोलाहल करना चाहिए।)

यदि विद्या में बुद्धि काम नहीं करती, तो मान्त्रिक, योगी या यति तो हम हो ही जायेगें (१०)। ज्योतिषी को चाहिये कि जब यजमान अपनी आयु के विषय में प्रश्न करे, तो लम्बी आयु ही बताये, यजमान जीवित रहा, तो उसका बड़ा सम्मान करता रहेगा, यदि मर गया तो ज्योतिषी से जवाबतलब करने आयेगा ही कौन? (१६)। चाटुकार कवियों के विषय में ये कथन बहुत सार्थक हैं—

कातर्यं दुर्विनीतत्वं कार्पण्यमविवेकिताम्।
सर्वं मार्जन्ति कवयः शालीनां मुष्टिकिङ्कराः॥
न कारणमपेक्षन्ते कवयः स्तोतुमुद्यताः।
किञ्चिदस्तुवतां तेषां जिह्वा फुरफुरायते॥ (३३,३४)

(मुट्ठीभर धन के गुलाम बन कर कवि लोग आश्रयदाता की कायरता, ढिठाई, कंजूसी, मूर्खता इन सबकी सफाई कर देते हैं—अर्थात् उसकी केवल प्रशंसा ही करते हैं। स्तुति करने को उद्यत कवियों को स्तुति के कारण की आवश्यकता नहीं होती। कुछ देर बिना स्तुति किये रह जायें, तो किसी की स्तुति के लिए इनकी जीभ खुजाने लगती है।)

सभारञ्जनशतक सुंदर नीतिकाव्य है। राजसभा किन लोगों से किस तरह सुशोभित होती है—यह इसका प्रतिपाद्य है। कवि तथा विद्वान् के माहात्म्य पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

भार्यायाः सुन्दरः स्निग्धो वेश्यायाः सुन्दरो धनी।
श्रीदेव्याः सुन्दरः शूरो भारत्याः सुन्दरः सुधीः॥ (४९)

(भार्या या पत्नी के लिए प्रेम करने वाला पति सुन्दर है, वेश्या के लिए धनी व्यक्ति सुन्दर है, लक्ष्मी के लिए शूरवीर सुन्दर है तथा सरस्वती के लिए बुद्धिमान् व्यक्ति सुन्दर है।)

उपदेशपरकता के साथ यहाँ विचारों की गहनता का समावेश नीलकंठ करने में सफल हुए हैं। काल की अवधारणा पर विमर्श करते हुए वे कहते हैं—

अपि कालस्य यः कालः सोऽपि कालमपेक्षते।
कर्तुं जगन्ति हन्तुं वा कालस्तेन जगत्प्रभुः॥ (६५)

इसी तरह गृहिणी के विषय में इस तरह के कथनों में नीलकंठ ने पूरी परम्परा का निचोड़ प्रस्तुत कर दिया है—

गृहिणा यदि लभ्येत गृहिणी हृदयङ्गमा।
संसार इति को भारस्तं सारमनुपश्यतः॥
आहत्य चिनुमः स्वर्गपगवर्गमपि क्रमात्।
अनुकूले हि दाम्पत्ये प्रतिकूले न किञ्चन॥ (९२, ९३)

(गृहस्थ को यदि मनपसंद गृहिणी मिल जाये, तो संसार उसके लिए भार नहीं सार ही सार बन जाता है। मनुष्य स्वर्ग तथा अपवर्ग (मुक्ति) दोनों इसी संसार में पा सकता है। यदि दाम्पत्य जीवन अनुकूल है, तो सब है, यदि दाम्पत्य प्रतिकूल है, तो कुछ नहीं।)

वैराग्यशतक में संसार के पाखंड और द्वैध का निरूपण विरक्ति भाव के बोध में परिणत हुआ है।

पततु नभः स्फुटतु मही चलन्तु गिरयो मिलन्तु वारिधयः।
अधरोत्तरमस्तु जगत् का हानिर्वीतरागस्य॥ (९२, ९३)

लोगों की दोहरी जिन्दगी को पैनी दृष्टि से कलिविडम्बनम् की तरह यहाँ भी उघाड़ा गया है। विशेषरूप से मध्यमवर्गीय और उच्चवर्गीय समाज की लिप्सा और भोगतृष्णा पर करारा व्यंग्य कवि ने किया है। लोग अपने पिता से झगड़ते हैं, पर अपने बेटों को पितृभक्ति सिखाते हैं। दूसरों की पत्नियों को स्वायत्त कर लेते हैं, और अपनी पत्नियों को शास्त्र सुनाते हैं (२४)। जब तक पत्नी युवा है, उसे बाँझ कहेंगे; उसके बहुत से बेटे हो जाएँ, तो उसे छोड़ देंगे, बेटे कम हुए हों, तो भी उसकी निन्दा करेंगे; फिर कौन सी कामिनी इन पुरुषों के लिए हृद्य है? जिनका ब्याह नहीं हुआ, वे स्त्री न मिलने से दुःखी हैं, जिनका ब्याह हो गया, वे इस बात से दुःखी हैं कि दो पत्नियाँ क्यों न हुईं, जिनके दो-दो पत्नियाँ हैं, वे इस बात से खिन्न हैं कि पराई प्रेमिका नहीं है। स्त्रियों से तृप्त कोई पुरुष नहीं दिखाई देता (४८,४९)।

अन्यापदेशशतक में १०० अन्योक्तियाँ हैं। अन्योक्तियों के विषय में विभिन्न पशु-पक्षी, वृक्ष, समुद्र, वन आदि हैं। इनके माध्यम से कवि ने अपने जीवनदर्शन को व्यक्त करते हुए समकालीन परिस्थितियों का संकेत दिया है।

आत्मपरीक्षण, मन की अन्ध गुहा में प्रवेश, संसार की व्यर्थता, जीवन की निरर्थक भागदौड़ से खीझ तथा देवी के प्रति सम्पूर्ण मन से अन्ततः समर्पण की अभिव्यक्ति शान्तिविलास में की गई है। कवि संसार में अपनी आसक्ति की भर्त्सना करता है, परिवार के लोगों तथा परिचितों की स्वार्थपरायणता से खिन्न होता है।

आनन्दसागरस्तव अपनी भावविह्वलता तथा समर्पण की अटूट श्रद्धा के कारण प्रभावित करता है। कवि ने तल्लीन होकर दास्य भक्ति तथा देवी के प्रति मातृत्वबुद्धि को

अभिव्यक्ति दी है। शिवोत्कर्षमञ्जरी ५२ शार्दूलविक्रीडित छन्दों में निबद्ध है। इसमें शिव के प्रति भक्ति प्रकट की गई है। शंकराचार्यकृत सौन्दर्यलहरी तथा मूककवि की पञ्चशती के समान नीलकंठ के स्तोत्रकाव्यों को उदात्त कल्पना, भावसम्पदा तथा विराट् के बोध ने महत्त्वपूर्ण बना दिया है। गलदश्रु भावुकता के साथ-साथ आन्तरिक समर्पण और मोहभंग की अभिव्यक्ति सटीक रूप में यहाँ हुई है। आनन्दसागरस्तवः में कवि कहता है—

आक्रान्तमन्तररिभिर्मदमत्सराद्यै-
र्गात्रं वलीपलितरोगशतानुविद्धम्।
दारैः सुतैश्च गृहमावृतमुत्तमर्णै-
र्मातः कथं भवतु मे मनसः प्रसादः॥ (२८)

इस आत्मसमर्पण के साथ कल्पना और स्वप्नाविष्ट बिम्बविधान का मणिकांचनयोग हुआ है। देवी कवि-भक्त को खोये हुए बच्चे की तरह देखती हैं। उनका सफेद मोतियों का हार कवि को वात्सल्य के कारण वक्ष से छलकते दूध की बूँदों से बना हुआ लगता है (वही, ७२)। देवी के कटाक्ष वाणी के निकेतन से निकले होने से कपूर की तरह उजले हैं, कमल के संसर्ग के कारण उसके पराग में लिपट कर वे रक्त वर्ण के हो गये हैं और शरणागत लोगों के कलुष दूर करते-करते वे कृष्ण वर्ण के हो गये हैं (वही, ९०)।

चण्डीरहस्यम् देवी को सम्बोधित स्तुति काव्य है। शाक्त दृष्टि तथा दुर्गाविषयक पौराणिक कथाओं के सन्दर्भ इसमें गुम्फित हैं। देवी की विविध नामावली का अनुकीर्तन व्युत्पत्ति के साथ कवि ने किया है—

नन्दात्मजेति ननु वर्षसि हेमराशिं शाकम्भरीति शमयस्युदरोपसर्गान्।
योगीश्वरीति परिहृत्य भयानि भक्तान् मातेव पाययसि कामदुधौ स्तनौ ते॥

(३०)

गुरुतत्त्वमालिका में कवि ने अपने गुरु गीर्वाणेन्द्रयति की भावपूर्ण स्तुति की है। पांडित्य, कल्पना और भाषा पर असाधारण अधिकार का मनोहारी समागम इस छोटे से काव्य में हुआ है।

परवर्ती लघुकाव्य

अठारहवीं शताब्दी के प्रमुख महाकवि रामपाणिवाद ने मुकुन्दशतकम्, शिवशतकम्, सूर्यशतकम्, कल्यवतार, रामभद्रस्तोत्रम् आदि दस स्तोत्र काव्यों की रचना की।

विश्वेश्वर पाण्डेय के काव्य—विश्वेश्वर पाण्डेय का समय १६९४ ई० से १७११ ई० के बीच है। वे अलमोड़ा जिले के पटिया ग्राम के निवासी थे। इनके पूर्वज मूलतः उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जिले के कोर गाँव में रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनमें से श्रीवल्लभ कुमाऊँ आ गये और चंद्रवंश के शासकों के राजगुरु नियुक्त हुए। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। असाधारण प्रतिभा के धनी विश्वेश्वर पाण्डेय का कर्तृत्व बहुमुखी तथा विभिन्न विधाओं में प्रसृत है। अलंकारशास्त्र, काव्य, व्याकरण,

दर्शन, नाटक, धर्मशास्त्र, तंत्र आदि विभिन्न क्षेत्रों में विपुल योगदान के लिए वे अविस्मरणीय हैं। अलंकारप्रदीप, अलंकारकौस्तुभ, अलंकारमुक्तावली, रसचंद्रिका—ये इनके काव्यशास्त्र-विषयक ग्रंथ हैं। **कवींद्रकर्णाभरण** कविशिक्षा पर तथा रससार रसमंजरी की टीका है। **तर्ककुतूहल**, तथा **तत्त्वचिंतामणिदीधितिप्रवेश**—दर्शनशास्त्र से संबद्ध हैं। व्याकरण के क्षेत्र में महाभाष्य पर **'वैयाकरणसिद्धान्तसुधानिधिः'** इनकी व्याख्या है। **अशौचीयदशश्लोकीविवृति** धर्मशास्त्रविषयक ग्रंथ है, व **'अभिधेयार्थचिन्मणिः'** तंत्र विषयक ग्रंथ है।

विश्वेश्वर पांडेय के काव्यों में **आर्यासप्तशती** ७६४ आर्याओं का संकलन है। **रोमावलीशतकम्, षड्ऋतुवर्णनम्, वक्षोजशतकम्, लक्ष्मीविलासः काव्यतिलक** तथा **होलिकाशतकम्** इनके लघुकाव्य हैं।

आधुनिक गीतिकाव्यकारों में भट्ट मथुरानाथ शास्त्री एक युगप्रवर्तक कवि हैं। इनके **साहित्यवैभवम्, जयपुरवैभवम्** तथा **गोविन्दवैभवम्**—ये तीन स्फुटकाव्यसंग्रह प्रकाशित हैं। साहित्यवैभवम् में नौ वीथियाँ हैं—आमुखवीथी, षड्ऋतुवीथी, नवरसवीथी, नीतिवीथी, विनोदवीथी, छन्दोवीथी, गीतिवीथी, नवयुगवीथी तथा उपसंहृतिवीथी। भट्टजी ने संस्कृत मुक्तकों में नये विषयों तथा नयी विधाओं का समारंभ किया। इनकी कविता में पदावली की नूतनता, छंदों की नवीनता तथा अर्थों की नवीन उद्भावनाएँ हैं। वर्षावर्णन में श्रीकृष्ण के प्रति यह सरस उक्ति उदाहरणीय है—

हरिता सम्प्रति तरुलता हरिता भूरपि भाति।
हरिता तर्हि तु तव हरे हरिता सा यदि वाचि॥

जयपुरवैभवम् ८ वीथियों में जयपुरनगर का भूगोलिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक वृत्त प्रस्तुत करता है। कवि ने इस नगरी की पेरिस से तुलना करते हुए कहा है—

प्रावृषि प्रसारि जलवेणी मञ्जुलोपवनी
नन्दनवनीव दिव्यनेत्रैः परिपेयासौ।
भारतीयपेरिसपुरीव परिलोक्या भृशं
जयपुरनगरी मे भूरिभाग्यैरभिधेयाऽसौ॥

गोविन्दवैभवम् भट्टजी की आधुनिक ब्रजभाषा के छंदों में रचित भक्तिभावसमन्वित सरस रचना है।

स्तोत्र तथा रागकाव्य की आधुनिक परम्परा

त्रावणकोर के राजा स्वाति कुलशेखर रामवर्मा (१८१३-१८९७ ई०) के **पद्मनाभशतक, अजामिलोपाख्यान, कुचैलोपाख्यान** तथा **भक्तिमंजरी** आदि रचनाएँ सरस तथा भक्तिभावसमन्वित हैं। केरल वर्मा (१८४५-१९१० ई०) भी त्रावणकोर में रानी लक्ष्मीबाई के आश्रय में रहे। इन्हें **केरल-कालिदास** भी कहा जाता है। **विशाखराजमहाकाव्य** तथा **कंसवधचंपू** के अतिरिक्त इनकी मुक्तक रचनाएँ हैं— **गुरुवायूरस्तोत्र, व्याघ्रालयेश्वरशतक, शोणाद्रीशतक** तथा **क्षमापणसहस्र**।

रीवा नरेश रघुराजसिंह ने जगदीशशतक की रचना १८५६ ई० में की। यह भाव और लालित्य से पूर्ण कृष्णस्तुति-परक रचना है।

रागकाव्य की परम्परा में ही बींसवीं शताब्दी में संस्कृत गीत या गीतिकाव्य की विधा का विकास हुआ। इन गीतों में ध्रुवक या स्थायी तथा अंतरे का प्रयोग तो है, पर रागों का निर्देश नहीं है, तथा इनके रचनाकारों को जयदेव आदि के समान संगीत का अच्छा ज्ञान हो—यह भी आवश्यक नहीं है। विषयों की इन गीतों में विविधता है, तथा आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों में स्वच्छंदतावाद और राष्ट्रीय भावधारा इनमें सविशेष प्रतिफलित हुई है। आधुनिक गीतकारों में रामनाथ पाठक 'प्रणयी', प्रभात शास्त्री, श्री निवासरथ, पुष्पा दीक्षित, 'अभिराज' राजेन्द्र मिश्र, भास्कराचार्य त्रिपाठी, विंध्येश्वरी प्रसाद मिश्र आदि उल्लेखनीय हैं।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में भी बहुसंख्य शतककाव्य, खंडकाव्य तथा लघुकाव्य रचे गये। अप्पाशास्त्री राशिवडेकर, भट्ट मथुरानाथ शास्त्री, वेंकटराघवन्, क्षमा राव, दत्त दीनेश चंद्र, महालिंग शास्त्री, नागार्जुन, जानकीवल्लभ शास्त्री, बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते, वसंत त्र्यंबक शेवडे, रतिनाथ झा, श्रीधर भास्कर वर्णेकर, रामकरण शर्मा, जगन्नाथ पाठक, परमानन्द शास्त्री, रमाकांत शुक्ल, अभिराज राजेंद्र मिश्र, पुष्पा दीक्षित, हर्षदेव माधव, केशवचंद्र दास आदि ने अपने लघुकाव्यों, खंडकाव्यों या गीतिकाव्यों में विषयवस्तु तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से नये प्रयोग किये हैं।

✤

ग्रन्थानुक्रमणिका

रु

रो

ल

ला

लि

ली

ले

लो

व

✤

ग्रन्थकारनुक्रमणिका

✤

प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी की अन्य कृतियाँ

अथर्ववेद का काव्य

अथर्ववेद के चुने हुए सक्तों का अनुवाद

अथर्ववेद में न केवल भारतीय साहित्य की प्राचीनतम निधि सुरक्षित है, भारतीय परम्परा और संस्कृति के विकास की दुर्लभ कड़ियाँ भी इसमें अनुस्यूत हैं। अन्नसिद्धि, मेधाजनन, ब्रह्मचर्य, राष्ट्रसंवर्धन, परिवार का अभ्युदय, समाजकल्याण, राजकर्म, रोगोपचार, संस्कार, अभिचार, तत्त्वमीमांसा विषयक चिन्तन आदि विषयों की जैसी विविधता इस वेद में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। विराट् तत्त्व की अनुभूति, कालचक्र के आवर्तन, विवर्तन, मातृभूमि के प्रति अकुंठ भक्ति तथा जीवनमूल्यों की गहन अभिव्यक्ति कालसूक्त तथा पृथिवीसूक्त में की गयी है, जबकि सूर्या के विवाह का सूक्त भारतीय पारिवारिक जीवन के उन मूलाधारों का निदर्शन है, जो आज भी किसी न किसी रूप में हमारी सामाजिक संरचना में सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं। अथर्ववेद की रसवत्ता और विलक्षण काव्याभिव्यक्ति को गहन अध्ययन और सरल भाषा में उतारने का प्रामाणिक प्रयास अनुवादक ने यहाँ किया है। विद्वान् अनुवाद के द्वारा आरम्भ में दी गई भूमिका में अथर्ववेद की प्राचीनता, वैदिक संहिताओं में इसकी स्थिति, अथर्ववेद के द्रष्टा ऋषि, उसका विषयवैशिष्ट्य आदि विषयों परविस्तार से दी गई विशद टिप्पणियों से यह संकलन वेद के जिज्ञासु पाठकों के साथ ही गम्भीर अध्येताओं के लिये भी उपादेय बन गया है।

भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय काव्यशास्त्र के प्रस्थानप्रवर्तक आचार्यों पर केन्द्रित है। इसमें ऐतरेय महीदास से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक ग्यारह आचार्यों के काव्य और कला से सम्बन्धित विचारों का गहरा विमर्श प्रस्तुत करते हुए इनके बीच पारस्परिक अन्तःसंवाद, आदान-प्रदान तथा इनके माध्यम से हमारे कलाचिन्तन में उठने वाले शास्त्रार्थ या बहस के अनेक बिन्दुओं पर विद्वान् लेखक ने विचार किया है। श्री त्रिपाठी ने यहाँ भारतीय काव्यचिन्तन की तीन हजार वर्षों की सम्पन्न परम्परा को विशद रूप में उजागर किया है। प्रत्येक आचार्य की सांस्कृतिक व दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए लेखक ने उसके समकालीन या पूर्ववर्ती आचार्यों के मन्तव्यों को भी तुलनात्मक आलोक में प्रस्तुत किया है। इन ग्यारह आचार्य परम्परा को उनकी समग्रता में समझने के लिए आधार भी बनाते हैं। स्वभावतः इनकी सांस्कृतिक व दार्शनिक पृष्ठभूमि पर भी यहाँ विचार किया गया है, और इनके समकालीन या पूर्ववर्ती आचार्यों का भी यथाप्रसंग निरूपण किया गया है।

आशा है काव्यशास्त्र में रुचि रखने वाले सुधी पाठकों के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

म०म० रेवाप्रसाद द्विवेदी

ग्रन्थकार ने संस्कृत में लिखित काव्यशास्त्र को भी आगम-मूलक सिद्ध किया है। इस ग्रन्थ के दो स्तम्भ हैं। प्रथम है आगमस्कन्ध जिसे कालातीत माना गया है। दूसरा स्तम्भ है आगमाश्रित काव्यशास्त्र के क्रमिक विकास का। द्वितीय की अन्तिम सीमा है 2005 ई०। आरम्भ है ई०पू० 300 वर्ष अर्थात् मुनि भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर। अन्त है स्वयं ग्रन्थकार के अलं ब्रह्म (2005) ग्रन्थ से। स्मरणीय है कि प्रसिद्ध इतिहासकार काणे तथा डे ने 17वीं शती के पण्डितराज जगन्नाथ को अन्तिम आचार्य माना है। अन्त में अतिरिक्त आचार्यों के रूप में मधुसूदन सरस्वती से लेकर स्वामी करपात्रीजी तक भक्तिरस के आचार्यों का परिचय दिया गया है। ग्रन्थकार का उद्घोष है कि भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास तब पूरा माना जाएगा जब उसमें भारत की सभी बोलियों में निर्मित काव्यशास्त्र का संग्रह हो।

समग्र इतिहास को चार धामों में और पाँच कल्पों में बाँटा गया है। चार धामों में प्रथम धाम ठहरा काञ्चीधाम जहाँ दण्डी (650 ई०) हुए, द्वितीय धाम ठहरता है कश्मीर का शारदाधाम जहाँ भामह (700 ई०) से लेकर मम्मट आदि तक आचार्य हुए, तीसरा धाम ठहरता है धारानगरी का महाकालेश्वरधाम, जिसके प्रमुख आचार्य थे धनञ्जय, धनिक और भोजराज। चतुर्थ धाम माना गया काशी नगरी का विश्वेश्वर धाम जहाँ मधुसूदन सरस्वती, अप्पयदीक्षित पण्डितराज जगन्नाथ, स्वामी करपात्रीजी तथा सनातन (रेवाप्रसाद द्विवेदी) कवि हुए। 5 कल्पों में कविता का विकास दिखलाया गया है। प्रथम कल्प : पूर्णताकल्प, जिसकी उपलब्धि थी दोषाभाव, दूसरा कल्प : माना गया गुणकल्प जिसमें उक्ति के माधुर्य या परुषता को स्थान मिला। द्वितीय कल्प में उक्ति कविता बन गई। तृतीय कल्प को ध्वनिवादियों ने छोड़ रखा था वह था कविता का अपूर्ण अलंकार जिसे भरत मुनि ने 'लक्षण'-तत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया था, अभिनवगुप्त ने जिसे असंख्येय बतलाया था, किन्तु भोजराज ने उसकी 64 संख्या सीमित कर दी थी। चतुर्थ कल्प था पूर्ण विकसित उपमादि विच्छित्तियों का। पाँचवाँ कल्प था 'पूर्णता से विच्छित्तियों' तक के समाहार का कल्प, जिसे प्रसिद्धि मिली 'साहित्यकल्प'। सभी कल्प केवल ज्ञानरूप थे। ध्वनिवाद को अलंकारकल्प में अन्तभूर्त माना गया और प्रौढ़ तर्कों के साथ रस को भी अलंकार कहा गया अनेक आचार्यों के आधार पर।

प्रत्येक क्रान्ति की पृष्ठभूमि भी स्पष्ट की गई तथा उसकी स्वस्थ अर्थात् आग्रहमुक्त समीक्षा भी प्रस्तुत की गयी।

आचार्यों के ग्रन्थों के सही नाम भी निश्चित किए गए यथा दण्डी के काव्यादर्श को 'काव्यलक्षण' नाम दिया गया और वह भामह के ग्रन्थ को भामहाङ्कार आदि आदि।

सौन्दर्यलहरी : तन्त्र-दृष्टि और सौन्दर्य-सृष्टि

प्रभुदयाल मिश्र

शक्तिमान शिव शक्ति से अपृथक हैं, किन्तु उनके सत्य का प्रकटीकरण शिवा के सौन्दर्य निरूपण से ही किया जा सकता है। भारतीय प्रज्ञा का यह एक चमत्कार ही है कि यह अनुष्ठान आदि शंकर के द्वारा सम्पन्न किया गया जो स्वयं अद्वैत मत और निर्गुणोपासना के प्रवर्तक थे।

आदि शंकर की यह बहश्रुत, बहुपठित और सर्वसिद्ध कृति सर्वत्र समादृत है। इसका दार्शनिक और साहित्य पक्ष जहाँ इनकी मुख्य धाराओं के प्रतिमान बनाता है, वहीं इसकी अनुष्ठान क्षमता साधकों के लिये लोक और परलोक का मार्ग प्रशस्त करती है।

श्री प्रभुदयाल मिश्र योग और शक्तिपात में दीक्षित तथा वैदिक साहित्य के अन्वेषक-अध्येता हैं। उनकी 'सौन्दर्यलहरी-काव्यानुवाद' मध्यप्रदेश संस्कृत अकादेमी द्वारा 'व्यास-सम्मान' से अलंकृत है। इस कृति को जहाँ मूर्धन्य विद्वानों ने सराहा है, वहीं यह अनेक साधकों की 'पूजा का पर्याय' बनी हुई है। लेखक ने इस कृति के इस 'विशेष संस्करण' का कलेवर पुस्तक के दर्शन, तंत्र और साहित्य पक्ष को अक्षुण्ण रखते हुए तैयार किया है। पुस्तक में यन्त्र और उनके प्रयोग भी दिये गये हैं।

संस्कृत, भाषा, व्याकरण तथा काव्यशास्त्र
के
प्रमुख ग्रन्थ

प्रौढ-रचनानुवाद कौमुदी	*डॉ० कपिलदेव द्विवेदी*
संस्कृत-व्याकरण एवं लघुसिद्धान्त कौमुदी	*डॉ० कपिलदेव द्विवेदी*
संस्कृत-निबन्ध-शतकम्	*डॉ० कपिलदेव द्विवेदी*
भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र	*डॉ० कपिलदेव द्विवेदी*
अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन	*डॉ० कपिलदेव द्विवेदी*
वैदिक साहित्य एवं संस्कृति	*डॉ० कपिलदेव द्विवेदी*
रसों की संख्या	*डॉ० वी० राघवन, अनुवाद : अभिराज राजेन्द्र मिश्र*
संस्कृत का समीक्षात्मक काव्यशास्त्र	*प्रो० अभिराज राजेन्द्र मिश्र*
भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य-परम्परा	*राधावल्लभ त्रिपाठी*
अभिनव रस सिद्धान्त	*डॉ० दशरथ द्विवेदी*
अभिनव का रस-विवेचन	*नगीनदास पारेख*

राधावल्लभ त्रिपाठी

जन्म : 15 फरवरी 1949 ई०, मध्य प्रदेश के राजगढ़ जिले में।

शिक्षा : एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०।

प्रकाशन : अब तक संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में 107 पुस्तकें। पुस्तकों में आदिकवि वाल्मीकि, संस्कृत कविता की लोकधर्मी परम्परा (दो संस्करण), काव्यशास्त्र और काव्य (संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्यपरम्परा शीर्षक से नया संस्करण), लेक्चर्स ऑन नाट्यशास्त्र, तथा नाट्यशास्त्रविश्वकोश (चार खण्ड) आदि चर्चित हुईं। शोध पत्रिकाओं में 185 शोधपरक, चिंतनपरक लेख तथा पचास से अधिक अन्य समीक्षात्मक लेख प्रकाशित। विगत चालीस वर्षों से संस्कृत तथा हिन्दी में रचनात्मक लेखन। हिन्दी में तीन कहानी-संग्रह व एक उपन्यास तथा दो पूर्णाकार नाटक प्रकाशित। संस्कृत और हिन्दी में लिखी अनेक कहानियाँ और कविताएँ अन्य अनेक भाषाओं में अनूदित।

राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के उन्नीस पुरस्कार व सम्मान। व्याख्यान, अध्यापन, सम्मेलनों में अध्यक्षता आदि के लिये अनेक बार विदेश प्रवास।

सम्प्रति : आचार्य, संस्कृत विभाग, डॉ० हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर। 1970 ई० से विश्वविद्यालय में अध्यापन।

संस्कृत भाषा, साहित्य एवं समीक्षा

Rs. 400.00
ISBN 978-81-7124-569-7

विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : **(0542) 2413741, 2413082**
e-mail : **sales@vvpbooks.com**

www.vvpbooks.com